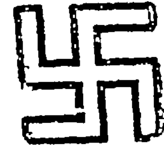
प्रकाशक

अभयराज नाहर

मन्त्री

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

मेवाड़ी बाज़ार, ब्यावर (राजस्थान)



प्राकृत-व्याकरण-प्रथम-भाग पर प्राप्त कुछ एक सम्मतियों का विशिष्ट अंश

Vikas Kumar Jain

(१) कविरत्न, गंभीर विचारक, उपाध्याय श्री अमर मुनिजी महाराज साहब फरमाते हैं कि.-"यह हिन्दी टीका अपने कक्ष पर सर्वोत्तम टीका है। प्रत्येक सूत्र का हिन्दी अर्थ है, सूत्रो में उदाहरण स्वरूप दिये गये समग्र प्रयोगो की विश्लेषणात्मक साधनिका है और यत्र तत्र आवश्यक शका समाधान भी है। मेरे विचार में उक्त हिन्दी टीका के माध्यम से साधारण पाठक भी आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण का सर्वांगीण अध्ययन कर सकता है।" ता १५-११-६६

(२) प्रसिद्धवक्ता, पंडित रत्न, मालव-केसरी श्री सौभाग्यमलजी महाराज साहब लिखाते हैं कि.-"आपने जो प्राकृत व्याकरण भाग पहिला सरल भाषा में तैयार किया है, वह प्राकृत-भाषा के अभ्यासियो के लिये बहुत उपयोगी तथा उपकारक हुआ है।" ता २३-११-६६

(३) स्थानकवासी जैन-अहमदाबाद अपने ता. ५-१-६५ के अक में प्रकाशित करता है कि-"आ ग्रन्थ नु सयोजन करीने प्राकृत भाषा ना अभ्यासिओ माटे खूबज अनुकूलता उभी करी आपी छे ते माटे ग्रन्थ ना योजक, सयोजक अने प्रकाशक नो सेवा सराहनीय छ'

(४) तरुण जैन-जोधपुर अपने ता. ६-७-६५ के अक मे प्राप्ति-स्वीकार करता हुआ लिखता है कि.-"प्राकृत-व्याकरण के ऊपर प्रियोदय हिन्दी-व्याख्या नामक विस्तृत टीका की रचना करके प्राकृत-भाषा के पाठको के हित में अत्यन्त प्रशसनीय कार्य किया है। हिन्दी-व्याख्या प्राकृत-भाषा को समझने समझाने में पूर्ण रूपेण सक्षम है। प्राकृत शब्दो की साधनिका का निर्माण भी सूत्र-सख्या का निर्देश करते हुए किया है; इससे प्राकृत-व्याकरण को पढने पढाने की परिपाटी सदा के लिये भविष्य में भी सुरक्षित हो गई है।"

(५) सुप्रसिद्ध जैन विद्वान, गमीर लेखक और विचारक श्री दलसुख भाई मालवणिया ता २३-१-६७ के पत्र में लिखते हैं कि-"हिन्दो व्याख्या के साथ प्रकाशन जो हुआ है प्राकृत-भाषा के व्याकरण को विना किसी की सहायता के जो जिज्ञासु पढना चाहते हैं उनके लिये सहायक ग्रन्थ के रूप में अवश्य सहायक सिद्ध होगा। व्याकरण में दिये गये प्रत्येक उदाहरण की प्रक्रिया की दृष्टि से सिद्धि करके दिखाई है-उससे अध्येता का मार्ग सरल हो जाता है। इसका विशेष प्रचार हो-यही कामना है।

(६) प्राकृत-भाषा के अद्वितीय विद्वान पं. श्री बेचरदासजी अपने पोस्ट कार्ड ता. २५-९-६४ में लिखते है कि:-"व्याकरण मोकली ने मने आभारी कर्यो छे।"

(७) पं. मुनि श्री जिनेन्द्र विजयजी लीवडी (काठियावाड) से अपने पोस्ट कार्ड ता. १५-१२-६६ में लिखते हैं कि:-"पू. हेमचन्द्र सू. म. ना व्याकरण ने हिन्दी-विवेचन अने समजावट थी सारी रीते प्रगट करायो छे जे प्राथमिक अभ्यासीओं माटे घणुं उपयोगी थशे।"

(८) गुजरात युनीवरसिटी में अर्धमागधी भाषा के विशिष्ट प्रोफेसर डॉ. के. आर चन्द्रा अपने ता. १०-१-६७ व.ले पत्र में लिखते हैं कि:-"सरल भाषा में हिन्दी अनुवाद सब के लिये उपयोगी होगा। हरेक शब्द की सिद्धि व्याकरण के सूत्रों द्वारा समझाई गयी है, काफी परिश्रम किया गया है। विश्व विद्यालययो कें प्राकृत क विद्यार्थियों के लिये यह ग्रन्थ वहुत ही उपयोगी है। वैसे हिन्दी भाषा मे यह ग्रन्थ अपूर्व है।"

(९) पं. श्री अंबालाल प्रेमचन्द शाह व्याकरण तीर्थ, अहमदावाद अपने पत्र ता. २-१-६७ में लिखते हैं कि:-"आपने प्राकृत-व्याकरण का विस्तृत अनुवाद, उदाहरणों की व्युत्पत्ति और शब्द व धातुओं के अर्थ का कोश देकर ग्रन्थ को सुवोध वनाने का प्रयत्न किया है, जिससे विद्यार्थियो को खूव उपयोगी वन पड़ेगा।"

(१०) श्री मूलचन्दजी सा. जैन शास्त्री-श्री महावीरजी-राजस्थान अपने पत्र में लिखते हैं कि:-"इसके वल पर प्राकृत-भाषा का जिज्ञासु अपनी ज्ञान-पिपासा अच्छी तरह से शमित कर सकता है। यह बड़ा ही उपयोगी सुन्दर कार्य सपन्न हुआ है।"

(११) मास्टर सा. श्री शोभालालजी महेता उदयपुर अपने पोस्ट कार्ड ता. १९-५-६६ द्वारा लिखते हैं कि:-"पहिला भाग जो मेरे पास आया, वड़ा सुन्दर एवं प्रशंसनीय है। समझाने की अच्छी शैली है।"—

(१२) "सम्यग्दर्शन" सैलाना के सुयोग्य संपादक श्री रतनलालजी साहब डोशी अपने पत्र "सम्यग्दर्शन" के वर्ष १७ अंक २२ ता. २० नवम्बर ६६ में लिखते है कि:-"प्राकृत-भाषा के अभ्यासियों के लिये यह ग्रन्थ वहुत लाभ दायक होगा।"—

(१३) "गुजरात युनीवरसीटी-अहमदावाद" के भाषा-विज्ञान के सम्मान्य प्रोफेसर "श्री ए. सी. भयाणी" अपने पत्र में ता. ६-२-६७ को लिखते हैं कि:-"प्राकृत-व्याकरण (हिन्दी व्याख्या सहित) मल्युं। ते माटे आपनो आभारी छुं। अत्यन्त श्रम लईने वधां सूत्रो जीणवट थी अने अन्य जे जे सूत्रो लागु पडतां होय तेम नी पूर्ति साथे विशदता थी समझाया छे। प्राकृत अभ्यास नी रुचि के लोक प्रियता ओछी थती जाय छे त्यारे आ प्रकार नी व्याख्या वालुं व्याकरण अभ्यासी ने खूवज उपयोगी थाय तेम छे।"—

सम्पादक-संघवी

आमुख



प्राकृत-भाषा जन-भाषा है। प्राकृत का क्षेत्र संस्कृत से कहीं अधिक व्यापक है। धर्म, दर्शन, संस्कृति, काव्य, कोष, लोक-जीवन, इतिहास, आयुर्वेद एवं ज्योतिष, आदि महत्त्व पूर्ण विषयों के अनेक सहस्र ग्रन्थ प्राकृत और उसकी पुत्री स्थानीय जन-भाषाओं में उपलब्ध है। प्राकृत का मूल बहुत गहरा है, अतीत में बहुत दूर तक गया है। संस्कृत में कहे जाने वाले प्राचीन वेद, उपनिषद् आदि में भी यत्र तत्र प्राकृत-भाषा का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। अष्टावक्र विश्वामित्र, विश्वावसु, हरिश्चन्द्र, सिंह, शाखा आदि वर्णागम और विपर्यय वाले संस्कृत-भाषा में सहस्राधिक शब्द-रूप ऐसे हैं जो मूलतः संस्कृत के नहीं, प्राकृत-भाषा का उत्कृष्ट अध्ययन किये बिना भारतीय जन-जीवन एवं भारतीय-संस्कृति की मूल धारा को ठीक तरह नहीं देखा-परखा जा सकता।

किसी भी भाषा का अध्ययन व्याकरण पर आधारित है। व्याकरण मुख है। **"मुखं व्याकरणम् स्मृतम्"** व्याकरण का अध्ययन किये बिना जो किसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे भूल में हैं। इस प्रकार का पांडित्य मूल-ग्राही न होकर केवल पल्लवग्राही होता है, और पल्लव ग्राही पांडित्य अपने लिये भी विडम्बना का हेतु है और दूसरों के लिये भी। यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने व्याकरण के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया है। यहाँ व्याकरण की एक पूरी की पूरी विद्या शाखा ही बन गई है। एक व्यक्ति यदि व्याकरण साहित्य का अध्ययन करता चला जावे तो अनुश्रुति है कि इसी में बारह वर्ष जितना दीर्घ काल लग जाय।

"द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" विष्णु शर्मा की यह सदुक्ति व्याकरण साहित्य की विपुल समृद्धि की ही परिचायिका है, अस्तु। प्राकृत-भाषा का भी अपना स्वतन्त्र व्याकरण-साहित्य है। चण्ड, त्रिविक्रम, वररुचि आदि अनेक प्राचीन विद्वानों ने प्राकृत व्याकरण की रचना की हैं, वे व्याकरण प्रचारित हैं और उन पर अनेक टीकाएँ और उपटीकाएँ भी लिखी गई हैं परन्तु उक्त समग्र व्याकरणों से नवीन शैली में लिखा गया सरल, सुगम, एवं सुबोध व्याकरण आचार्य हेमचन्द्र का है। **आचार्य हेमचन्द्र विरचित प्राकृत व्याकरण** एक ही ऐसा सर्वांगीण व्याकरण है, जिससे मागधी, अर्ध मागधी, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि प्राकृत की अनेकविध शाखाओं का सम्यग्-परिबोध हो सकता है।

प्रस्तुत व्याकरण के अद्यावधि अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं अतः वे सभी अपनी अपनी भूमिका पर उपयोगी भी हैं। परन्तु प्राकृत-भाषा का साधारण अध्येता भी उक्त व्याकरण से लाभ

उठा सके ऐसा अब तक एक भी संस्करण प्रकाश में नहीं आया है। **श्रद्धेय उपाध्याय श्री प्यारचंदजी महाराज का** इस ओर ध्यान गया और उन्होंने बड़े परिश्रम और अपने गंभीर अध्ययन के बल पर आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण की विस्तृत हिन्दी टीका का निर्माण किया। यह हिन्दी टीका अपने कक्ष पर सर्वोत्तम टीका है। प्रत्येक सूत्र का हिन्दी अर्थ है; सूत्रों के उदाहरण स्वरूप दिये गये समग्र प्रयोगों की विश्लेषणात्मक साधनिका है और यत्र तत्र यथावश्यक शंका समाधान भी है। मेरे विचार में उक्त हिन्दी टीका के माध्यम से साधारण पाठक भी आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण का सर्वांगीण अध्ययन कर सकता है।

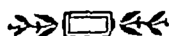
श्रद्धेय उपाध्याय प्यारचन्दजी महाराज से मेरा घनिष्ट परिचय रहा है। एक प्रकार से वे मेरे अभिन्न स्नेही सहयोगी रहे हैं। विभिन्न बिखरी हुई साम्प्रदायिक परम्पराओं का विलीनीकरण के हेतु किये जाने वाले श्रमण-संघ के सगठन म उनका महत्त्व पूर्ण योगदान मैं कभी नहीं भूल सकता हूँ। जब कभी कोई समस्या उलझी, उन्होने अपने को भुला कर भी समाधान का मार्ग प्रस्तुत किया। वे अत्यन्त मृदु, शान्त, एव उदार प्रकृति के सन्त थे। उपाध्याय श्रीजी की साहित्यिक अभिरुचि भी कुछ कम नही थी। साहित्यिक क्षेत्र में उनकी अनेक कृतियाँ आज भी सर्व-साधारण जिज्ञासुओं के हाथो में देखी जाती हैं। उसी साहित्य-निर्माण की स्वर्ण-शृखला में आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रस्तुत प्राकृत-व्याकरण का सपादन वस्तुतः मुक्ता-मणि-कल्प है।

उपाध्याय श्रीजी के सुयोग्य शिष्य-रत्न पं. श्री उदय मुनिजी सहस्रशः धन्यवादार्ह हैं कि जो स्वर्गीय गुरुदेव को प्रशस्त रचनाओं को जन हितार्थ प्रकाश मे ला रहे हैं। यह एक प्रकार का गुरु-ऋण है जिसको श्रद्धा-प्रवण मनीषी शिष्य ही यथोचित रूप से अदा करते हैं एवं युगयुगान्तर के लिये सुचिर यशस्वी बनते हैं।

जैन-भवन
लोहा मंडी आगरा
१५-११-१६६६

उपाध्याय-अमर मुनि

सम्पादकीय



आठ वर्ष तक सतत परिश्रम करने पर आज ग्रन्थ की परिपूर्णता हो रही है; यह सफल अनुभव कर हृदय प्रसन्नता के सागर म हिलोरें ले रहा है।

ग्रन्थ कैसा बन सका है ? इसका अनुमान तो ज्ञाता, विद्वान्, अध्येता ओर प्राकृत-भाषा-प्रेमी सज्जन-वृन्द ही कर सकेगे। प्रथम भाग के प्रति जो अनुराग व्यक्त किया गया है, उसका सामान्य परिचय "स्थाली-पुलाक न्याय" के समान इस द्वितीय भाग में सयोजित एव उद्धृत सम्मतियो से किया जा सकेगा।

प्रात. स्मरणीय, उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी महाराज सा के प्रति, विद्वान् मुनिराज श्री उदय मुनिजी महाराज सा के प्रति और मेरे प्रति जो कृपा-दृष्टि और विवेक पूर्ण अनुराग विद्वान् मुनिराजो ने, पडित भाषा-शास्त्रियो ने और समाचार-पत्र के सपादको ने प्रकट किया है; एतदर्थ मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय व्यावर के सचालक बन्धुओ को भी मैं बार बार धन्यवाद देता हूँ; जिन्होने इसको प्रकाशित करने का सब भार धैर्य-पूर्वक अपने ऊपर ग्रहण किया है।

मित्रवर प श्री बसन्तीलालजो सा. नलवाया को भी अनेकानेक धन्यवाद है, जिन्होंने कि ग्रन्थ को छापने में और प्रूफ देखने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है।

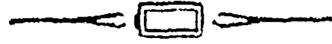
ग्रन्थ में रही हुई त्रुटियो के लिये मै क्षमा-प्रार्थी हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरे इस ग्रन्थ का पठन-पाठन ज्यो ज्यो काल व्यतीत होता जायगा त्यो त्यो अधिकाधिक होता रहेगा।

पुनश्च —कृपालु अध्येता पाठक गण प्रूफ-सबधी अशुद्धियो को सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।

अहमदाबाद
ता. २७-१-६७

विनीत
रतनलाल संघवी
छोटी सादडी (राजस्थान)

संयोजक का वक्तव्य



प्राकृत–साहित्य के प्रेमियों तथा पाठको के हाथ में प्राकृत–व्याकरण का यह दूसरा भाग समर्पित करते हुए परम आनन्द का अनुभव हो रहा है ।

प्रातः वंदनीय पूज्यपाद, गुरुदेव, उपाध्याय श्री १००८ श्री प्यारचन्दजी महाराज श्री की शुभ कृपा से सन् १९५९ के रायचूर चातुर्मास में प्रारभ किया हुआ यह वृहत्–कार्य अब पूर्णतया सम्पन्न होकर पूर्णता को प्राप्त हुआ है; यह महान् सतोष का विषय है ।

प्रथम भाग में प्रथम पाद और द्वितीय पाद का समावेश हुआ है और द्वितीय भाग में तृतीय पाद एवं चतुर्थ पाद के रूप में ग्रन्थ की समाप्ति हुई है ।

प्रथम भाग में रचित हिन्दी–व्याख्या के प्रति श्रद्धेय मुनिराजों ने, प्राकृत–भाषा के विद्वान् महानुभावों ने, अध्येता संत–सतियाँजी महाराज साहब ने तथा प्रेमी पाठकों ने जैसी आदर–भावना और प्रशस्त सम्मितियाँ प्रकट की हैं; उनके लिये मुझ हर्ष का अनुभव हुआ है; साथ ही यह संतुष्टि भी हुई है कि यह व्याख्यात्मक अनुवाद अपने आप मे पूर्णतया ग्रन्थ रूप से सफल हो रहा है ।

श्रद्धेय कवि–रत्न, उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज साहब ने "आमुख" के रूप में जो भूमिका लिखने की कृपा की है; उसके लिये मैं आभारी हूँ !

आशा है कि ज्ञान–प्रेमी पाठक वन्धु इस परिश्रम को ध्यान में रखते हुए इसका सदुपयोग करेंगे और प्राकृत–भाषा के निष्णात पंडित बनने मे परिश्रम–शील बने रहेंगे । यही शुभेच्छा ।

भारतीय गणतंत्र दिवस
सन् १९६७
नगर सेठ का वंडा
अहमदाबाद

विनीत—
उदयमुनि–(सिद्धान्त-शास्त्री)

प्रकाशक का निवेदन



जैन दिवाकर, प्रसिद्ध वक्ता, स्वर्गीय, गुरुदेव श्री १००८ श्री चौथमलजी महाराज सा. की स्मृति में स्थापित की हुई इस सस्था द्वारा प्रात स्मरणीय उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी महाराज सा. द्वारा कृत प्राकृत-व्याकरण की हिन्दी व्याख्या के दो भाग प्रकाशित किये जाने पर सस्था को परम प्रसन्नता अनुभव हो रही है।

प्रकाशन कार्य में काफी व्यय आने पर भी ग्रन्थ के इस रूप में परिपूर्ण रीति से पाठकों के हाथ में पहुँचने पर सब परिश्रम और सब व्यय सफल ही कहा जायगा; क्योकि प्राकृत-भाषा के अध्ययन करने में यह ग्रन्थ पूर्ण रीत्या सहायक सिद्ध होगा; इसमें दो मत नही हो सकते हैं।

पडित श्री उदय-मुनिजी महाराज सा. सिद्धान्त-शास्त्री का सयोजक के रूप में जो सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिये सस्था अपना हार्दिक आभार प्रकट करती है।

सहायता दाताओं ने और अग्रिम रूप से बनने वाले ग्राहको ने जो प्राकृत-भाषा के प्रति अपना सुन्दर अनुराग प्रदर्शित किया है, उसके लिये भी सस्था अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

सपादक के रूप में ग्रन्थ की जो साकार स्थिति प. श्री रतनलालजी सघवी-न्यायतीर्थ-छोटी सादडी वालो ने प्रदान की है और इसके लिये जो गहरा परिश्रम किया है, उसके लिये भी हम अपना धन्यवाद प्रदान करते हैं।

साहित्य रत्न, कविराज श्री केवलचन्दजी महाराज सा., सेवाभावी श्री मन्नालालजी महाराज सा, सिद्धान्त-प्रभाकर श्री मेवराजजी महाराज सा, सिद्धान्त-प्रभाकर श्री गणेशलालजी महाराज सा, तपस्वी श्री पन्नालालजी महाराज सा आदि आदि सत-मुनिराजों के प्रति भी सस्था अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हैं, जिनकी कृपा से यह कार्य सपन्न हो सका है।

साथ में प्रेमी ज्ञान-अभ्यासियो से यही निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ का समुचित उपयोग करें और इस महान् परिश्रम को सफल बनावें-यही विनति है।

समाज-सेवक

अभयराज नाहर

मन्त्री

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

प्राकृत-व्याकरण
की
सूत्रानुसार-विषयानुक्रमणिका

तृतीय-पादः

तृतीय-पाद-विषय-सूची-सार-संग्रह

चतुर्थ-पादः

नोट.—(१) आदेश प्राप्त प्राकृत-धातुओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, जो कि क्रम से इस प्रकार हैं.—

(१) कुछ 'तत्सम" की कोटि की है, (२) कुछ "तद्भव" रूप वाली हैं और (३) कुछ 'देशज" श्रेणी वाली हैं।

(२) मूल प्राकृत-भाषा का नाम "महाराष्ट्री" प्राकृत है और शेष भाषाएँ सहयोगिनी प्राकृत-भाषाएँ कही जा सकती हैं।

(३) जैन-आगमों की भाषा मूलतः "अर्ध-मागधी' है, परन्तु इसका आधार 'महाराष्ट्री-प्राकृत" ही है।

ग्रन्थानुक्रम

विषय	पृष्ठ

प्राकृत-व्याकरण-द्वितीय-भाग के

अग्रिम ग्राहकों की शुभ नामावली

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में निम्नोक्त महानुभावों ने अग्रिम रूप से ग्राहक बनकर हमें उत्साहित किया है; तद्नुसार उनका आभार मानते हुए उनकी शुभ नामावली क्रमशः इस प्रकार है: —

५००) दानवीर कर्मठ स्वर्गीय शेठ श्री माणकलाल भाई श्री नाथालाल भाई हस्ते सेठानी श्रीमती लीलावाई माटुंगा-बम्बई — प्रतियाँ ४५

२७५) श्री जुगराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल सिकन्द्राबाद — प्रतियाँ २५

२५१) श्री गौतम ज्वेलर्स भारत; सिकन्द्राबाद — प्रतियाँ २२

२५०) श्रीमान् शेठ हिम्मतलाल के. डोशी — प्रतियाँ २२

२००) स्वर्गीय शेठ श्री रामजी अंदरजी हस्ते श्री कपूर बहिन तथा श्री नवनीतलाल भाई; माटुंगा-बम्बई — प्रतियाँ १८

११०) स्वर्गीय शेठ श्री चाँदमलजी सा. चाणोदिया रतलाम की पुण्य स्मृति में श्री कचनबाई चाणोदिया द्वारा — प्रतियाँ १०

११०) श्री साहेबचन्दजी हस्तीमलजी — प्रतियाँ १०

११०) श्री लालचन्दजी शातिलालजी, यादगिरी; — प्रतियाँ १०

१००) हस्ते श्रीमान् चादमलजी सा. डांगी, गुप्त भेंट — प्रतियाँ ९

१००) श्रीमान् रूपचन्दजी दीपचन्दजी लोणी वाला द्वारा प्राप्त; श्रीमान् माणकचन्दजी पारख की धर्म पत्नी सौभाग्यवती श्री पुष्पाबाई के सजोड़े तेले की तपस्या के उपलक्ष्य मे; ४०३ डकनरोड़ बम्बई नं. ४ — प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् माणकचंदजी मोतीलालजी गांधी; (के. एम. गांधी) बम्बई — प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् सोहनलालजी धर्मचन्दजी बाजार रोड़, पुनेरी — प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् गाडमलजी तेजमलजी सुगाणा, मेलापुर प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् शभुमलजी जवरचन्दजी मेहता, माटु गा वम्बई प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् प्राण जीवनजी राजपालजी वोहरा; माटु गा वम्बई प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् नथमलजी शुभकरणजी खीवसरा, अमरावती प्रतियाँ ९

१०१) श्रीमान् नदलालजी जोतमलजी, वीजापुर वाला प्रतियाँ ९

१००) श्रीमान् हस्तीमलजी रतनलालजी वोहरा; रतलाम प्रतियाँ ९

८८) श्रीमान् चपालालजी चेतनप्रकाशजी, डूगर वाल वेंगलोर प्रतियाँ ८

५५) श्रीमान् चपालालजी गनपतराजजी डावरिया, सिकन्दरावाद प्रतियाँ ५

५५) श्री गुप्त भेंट, प्रतियाँ ५

५५) श्रीमान् चदनमलजी वोहरा की धर्म-पत्नी श्रीमती ज्ञानवाई-गाँव-पीकोट-
जिला सिकदरावाद प्रतियाँ ५

५५) श्रीमान् के पन्नालालजी सिघवी, गांव-हिमायत नगर, जिला सिकन्दरावाद प्रतियाँ ५

५५) श्रीमान् धर्मचन्दजी कुदनमलजी गाव शोरापुर, प्रतियाँ ५

५५) श्रीमान कन्हैयालालजी चपालालजी गांव शोरापुर, प्रतियाँ ५

५५) श्रीमान् मोहनलालजी अमृतलालजी वोहरा, गांव शोरापुरा प्रतियाँ ५

५५) श्रीमान् नेमिचदजी पारसमलजी, रायचूर, प्रतियाँ ५

३३४०) कुल योग

नोटः—अग्रिम ग्राहकों को ११) रुपया प्रति पुस्तक के हिसाब से भेंट-कर्त्ताओ की सेवा में प्रतियाँ प्रस्तुत की जायगी।

निवेदक—प्रकाशक

ग्रन्थानुक्रम

प्राप्ति; १-१४८ से द्वितीय रूप में 'ऐ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन मे 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त 'म्' का अनुस्वार होकर क्रम से दोनों रूप *एक्कमेक्कं* और *एक्केक्कं* सिद्ध हो जाते हैं।

एकमेकेन:—संस्कृत तृतीयान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप एक्कमेक्केण होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-६८ से दोनों 'क' वर्णों के स्थान पर द्वित्व 'क्क' वर्ण की प्राप्ति; ३-१ से वीप्सा अर्थक पद होने से संस्कृत के समान ही प्राकृत मे भी विभक्ति वाचक प्रत्यय 'टा=इन' के स्थान पर 'म' आदेश की प्राप्ति; १-५ से प्राप्त हलन्त 'म' आदेश के साथ में आगे रहे हुए 'ए' स्वर की संधि; ३-६ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में अकारान्त में 'टा' प्रत्यय के स्थान पर 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१४ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्व में स्थित शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर *एक्कमेक्केण* रूप सिद्ध हो जाता है।

अङ्गे अङ्गे संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप अङ्गमङ्गम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१ से वीप्सा-अर्थक पद होने से प्रथम पद 'अङ्गे' में संस्कृतीय सप्तमी विभक्ति वाचक प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत मे 'म्' आदेश; १-५ से प्राप्त आदेश रूप हलन्त 'म्' में आगे रहे हुए 'अ' स्वर को संधि; और ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन मे अकारान्त में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' (के स्थानीय रूप 'ए') के स्थान पर प्राकृत मे 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अङ्गमङ्गम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है ॥३-१॥

अतः से र्डोः ॥३-२॥

अकारान्तान्नाम्नः परस्य स्यादेः सेः स्थाने डो भवति ॥वच्छो॥

अर्थः—प्राकृतीय पुल्लिंग अकारान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति में संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति वाचक प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'डो' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डो' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से अकारान्त प्राकृत शब्दों में स्थित अन्त्य 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस अन्त्य 'अ' को लोप हो जाता है और तत्पश्चात् प्राप्त हलन्त शब्द में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। जैसेः—वृक्षः=वच्छो ॥

'वच्छो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१७ में की गई है ॥३-२॥

वैतत्तदः ॥३-३॥

एतत्तदोकारात्परस्य स्यादेः से र्डो वा भवति ॥एसो एस। सो णरो। स णरो ॥

अर्थः—संस्कृतीय सर्वनाम रूप 'एतत्' और 'तत्' के पुल्लिंग रूप 'एषः' और 'सः' के प्राकृतीय प्राप्त पुल्लिंग रूप 'एस' और 'स' मे प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो=ओ' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। जैसेः—एषः=एसो अथवा एस। सः नरः=सो णरो अथवा स णरो ॥

'एसो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-११६ में की गई है।
'एस' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३१ में की गई है।
'सो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१७७ में की गई है।
'णरो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२२९ में की गई है।
'स' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१७७ में की गई है ।।३-३।।

जस्-शसोर्लुक् ।।३-४।।

अकारान्तान्नाम्नः परयोः स्यादिसंबन्धिनो र्जस्-शसोर्लुग् भवति ।। वच्छा एए वच्छे पेच्छ ।।

अर्थः—अकारान्त प्राकृत पुल्लिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में क्रम से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' और शस्' का लोप हो जाता है। इस प्रकार प्रथमा विभक्ति में 'जस्' प्रत्यय का लोप हो जाने के पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होती है। जैसेः-वृक्षाः एते=वच्छा एए । इसी प्रकार से द्वितीया विभक्ति में भी 'शस्' प्रत्यय का लोप हो जाने के पश्चात सूत्र संख्या ३-१२ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होती है एव कभी सूत्र-संख्या ३-१४ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होती है। जैसेः—वृक्षान् पश्य=(वच्छा अथवा) वच्छे पेच्छ अर्थात् वृक्षों को देखो ।।

वृक्षाः—संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप वच्छा होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२६ से 'ऋ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-३ से 'क्ष' के स्थान पर 'छ' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'छ' को द्वित्व 'छ्छ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व छ्' के स्थान पर 'च' की प्राप्ति; ३-४ से प्रथमा विभक्ति में, अकारान्त पुल्लिंग के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्' का लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्' प्रत्यय के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति होकर *वच्छा* रूप सिद्ध हो जाता है।

एते—संस्कृत सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप एए होता है, इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त' का लोप होकर 'एए' रूप सिद्ध हो जाता है। अथवा १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतत्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; १-१७७ से द्वितीय 'त्' का लोप, ३-५८ से प्रथमा विभक्ति के बहु-वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे' प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डे' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से प्राप्त रूप 'एअ' में स्थित अन्त्य 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप और तत्पश्चात् प्राप्त रूप 'ए+ए=एए' की सिद्धि हो जाती है।

वृक्षान्—संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप वच्छे होता है। इसमें 'वच्छ' रूप तक की सिद्धि उपरोक्त इसी सूत्र-अनुसार (जानना), ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में प्राप्त प्रत्यय 'शस' का

'एसो' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-११६ में को गई है।
'एस' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-३१ में की गई है।
'सो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१७७ में की गई है।
'णरो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२२९ में की गई है।
'स' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-१७७ में की गई है ॥३-३॥

जस्-शसोर्लुक् ॥३-४॥

अकारान्तान्नाम्नः परयो: स्यादिसंबन्धिनो र्जस्-शसोर्लुग् भवति ॥ वच्छा एए वच्छे पेच्छ ॥

अर्थ:—अकारान्त प्राकृत पुल्लिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में क्रम से सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' और शस्' का लोप हो जाता है। इस प्रकार प्रथमा विभक्ति में 'जस्' प्रत्यय का लोप हो जाने के पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होती है। जैसे--वृक्षा: एते=वच्छा एए । इसी प्रकार से द्वितीया विभक्ति में भी 'शस्' प्रत्यय का लोप हो जाने के पश्चात सूत्र-सख्या ३-१२ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होती है एव कभी सूत्र-सख्या ३-१४ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होती है। जैसे:—वृक्षान् पश्य=(वच्छा अथवा) वच्छे पेच्छ अर्थात् वृक्षों को देखो ॥

वृक्षा:—सस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप वच्छा होता है। इसमें सूत्र-सख्या १-१२६ से 'ऋ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-३ से 'क्ष' के स्थान पर 'छ' की प्राप्ति, २-८९ से प्राप्त 'छ' को द्वित्व 'छ्छ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व छ्' के स्थान पर 'च' की प्राप्ति; ३-४ से प्रथमा विभक्ति में, अकारान्त पुल्लिंग के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्' का लोप और ६-१२ से प्राप्त एव लुप्त 'जस्' प्रत्यय के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति होकर *वच्छा* रूप सिद्ध हो जाता है।

एते—संस्कृत सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप एए होता है, इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त' का लोप होकर 'एए' रूप सिद्ध हो जाता है। अथवा १-११ से मूल सस्कृत शब्द 'एतत्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप, १-१७७ से द्वितीय 'त्' का लोप, ३-५८ से प्रथमा विभक्ति के बहु-वचन में सस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे' प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डे' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से प्राप्त रूप 'एअ' में स्थित अन्त्या 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप और तत्पश्चात् प्राप्त रूप 'ए + ए=एए' की सिद्धि हो जाती है।

वृक्षान्—संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप वच्छे होता है। इसमें 'वच्छ' रूप तक की सिद्धि उपरोक्त इसी सूत्र-अनुसार (जानना), ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में प्राप्त प्रत्यय 'शस' का

लोप और ३-१४ से प्राप्त एवं लुप्त प्रत्यय 'शस्' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर वच्छे रूप सिद्ध हो जाता है।

'पेच्छ':—रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है। ३-४॥

अमोस्य ॥ ३--५ ॥

अतः परस्यामोकारस्य लुग् भवति ॥ वच्छं पेच्छ ॥

अर्थः—अकारान्त में द्वितीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'अम्' में स्थित आदि स्वर 'अ' का प्राकृत में लोप हो जाता है और शेष 'म्' प्रत्यय की ही प्राकृत में प्राप्ति होती है। जैसे:— वृक्षम् पश्य = वच्छं पेच्छ अर्थात् वृक्ष को देखो।

'वच्छं':—रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।
'पेच्छ':—क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है ॥ ३-५॥

टा–आमो र्णः ॥३–६॥

अतः परस्य टा इत्येतस्य षष्ठी–बहुवचनस्य च आमो णो भवति ॥ वच्छेण । वच्छाण ॥

अर्थः—अकारान्त शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की आदेश रूप से प्राप्ति होती है एवं सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होती है। जैसे:-वृक्षेण = वच्छेण। इसी प्रकार से अकारान्त शब्दों में षष्ठी विभक्ति के बहु वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की आदेश रूप से प्राप्ति होती है एवं सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति होती है। जैसे:– वृक्षाणाम्=वच्छाण अर्थात् वृक्षों का अथवा वृक्षों की।

'वच्छेण' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२७ में की गई है।

वृक्षानाम्—संस्कृत षष्ठ्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप वच्छाण होता है। इसमें 'वच्छ' रूप तक की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ के अनुसार (जानना); ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थानीय रूप 'नाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति; और ३-१२ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर दीर्घ-स्वर 'आ' की प्राप्ति होकर *वच्छाण* रूप सिद्ध हो जाता है ॥३–६॥

भिसो हि हिँ हिं ॥३-७॥

अतः परस्य भिसः स्थाने केवलः सानुनासिकः सानुस्वारश्च हि भवति ॥ वच्छेहि । वच्छेहिँ वच्छेहिं कया छाही ॥

अर्थः—अकारान्त शब्दों में तृतीया-विभक्ति के बहु-वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में कभी केवल 'हि' प्रत्यय की आदेश रूप से प्राप्ति होती है; कभी सानुनासिक 'हिँ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है; तो कभी सानुस्वार 'हिं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है; एवं सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्त प्रत्यय 'हि', 'हिँ', 'हिं' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः-वृक्षैः कृता छाया=वच्छेहि अथवा वच्छेहिँ अथवा वच्छेहिं कया छाही अर्थात् वृक्षों द्वारा की हुई छाया ॥

वृक्षैः—संस्कृत तृतीयान्त बहु वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप वच्छेहि, वच्छेहिँ और वच्छेहिं होते हैं। इनमें "वच्छ" रूप तक की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ के अनुसार (जानना), ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहु वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थानीय रूप 'ऐस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से 'हि', हिँ 'हिं' प्रत्ययों की प्राप्ति और ३-१५ से प्राप्त प्रत्यय हि' अथवा 'हिँ' और 'हिं' के पूर्वस्थ 'वच्छ' शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर क्रम से '*वच्छेहि*' '*वच्छेहिँ*' और '*वच्छेहिं*' रूपों की सिद्धि हो जाती है।

'*कया*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१०४ में की गई है। '*छाही*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या-१-२४९ में की गई है ॥ ३-७ ॥

ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ॥३-८॥

अतः परस्य ङसेः त्तो दो दु हि हिन्तो लुक् इत्येते षडादेशा भवन्ति ॥ वच्छत्तो । वच्छाओ । वच्छाउ । वच्छाहि । वच्छाहिन्तो । वच्छा ॥ दकार करणं भाषान्तरार्थम् ॥

अर्थः—अकारान्त शब्दों में पंचमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'आत्' के स्थान पर प्राकृत में 'त्तो', 'दो=ओ; 'दु=उ', 'हि' और 'हिन्तो' प्रत्ययों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होती है और कभी कभी इन प्रत्ययों का लोप भी हो जाता है, ऐसी अवस्था में मूल शब्द रूप के अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-१२ से 'आ' की प्राप्ति होकर प्राप्त रूप पंचमी-विभक्ति के अर्थ को प्रदर्शित कर देता है। यों पंचमी-विभक्ति के एक वचन में अकारान्त में छह रूप हो जाते हैं। पाँच रूप तो प्रत्यय-जनित होते हैं और छट्ठा रूप प्रत्यय-लोप से होता है। इन छह ही रूपों में सूत्र-संख्या ३-१२ से प्रत्ययों की क्रमिक रूप से संयोजना होने के पहले शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर दीर्घ

स्वर 'आ' की प्राप्ति हो जाती है। 'त्तो' प्रत्यय की संयोजना में 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होकर पुनः सूत्र-संख्या १-८४ से 'आ' के स्थान पर 'अ' हो जाया करता है। उदाहरण इस प्रकार है:—वृक्षात् =वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो और वच्छा अर्थात् वृक्ष से। 'दो' और 'दु' प्रत्ययों में स्थित 'दकार' अन्य भाषा 'शौरसेनी' के पंचमी विभक्ति के एक वचन की स्थिति को प्रदर्शित करने के लिये व्यक्त किया गया है; तदनुसार प्राकृत में स्वभावतः अथवा सूत्र संख्या १-१७७ से 'द्' का लोप करके शेष 'ओ' और 'उ' प्रत्ययों की ही प्राकृत-रूपों से संयोजना की जाती है। यह अन्तर अथवा विशेषता ध्यान में रहनी चाहिये।

वृक्षात्:—संस्कृत पञ्चम्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो और वच्छा होते हैं। इनमे वच्छ' रूप तक की साधनिका सूत्र-संख्या ३-४ के अनुसार; ३-१२ से प्राप्त रूप 'वच्छ' मे स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से पंचमी विभक्ति के एक वचन में क्रम से 'त्तो', 'ओ', 'उ', 'हि', 'हिन्तो' और 'प्रत्यय-लोप' की प्राप्ति होकर क्रम से *वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो* और *वच्छा* रूप सिद्ध हो जाते हैं। प्रथम रूप 'वच्छत्तो' में यह विशेषता है कि उपरोक्त रीति से प्राप्तव्य रूप 'वच्छात्तो' से सूत्र-संख्या १-८४ से पुनः दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति होकर 'वच्छत्तो' रूप (ही) सिद्ध होता है ॥३-८॥

भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो ॥३--९॥

अतः परस्य भ्यसः स्थाने त्तो दो, दु, हि, हिन्तो, सुन्तो इत्यादेशा भवन्ति ॥ वृक्षेभ्यः। वच्छत्तो। वच्छाओ। वच्छाउ। वच्छाहि। वच्छेहि। वच्छाहिन्तो। वच्छेहिन्तो वच्छासुन्तो। वच्छेसुन्तो ॥

अर्थः—अकारान्त शब्दों में पंचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भ्यस्=भ्यः' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'त्तो'; 'दो=ओ'; दु=उ'; 'हि'; 'हिन्तो' और 'सुन्तो' प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। सूत्र-संख्या ३-१२ से 'त्तो' प्रत्यय, 'ओ' प्रत्यय और 'उ' प्रत्यय के पूर्व शब्दान्त्य ह्रस्व-स्वर' 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति होती है। 'त्तो' प्रत्यय की संयोजना मे यह विशेषता है कि 'आ' की प्राप्ति होने पर पुनः सूत्र-संख्या १-८४ से 'आ' के स्थान पर 'अ' हो जाता है। इसी प्रकार से 'हि', 'हिन्तो' और 'सुन्तो' प्रत्ययो के सम्बन्ध मे यह विधान है कि सूत्र-संख्या ३-१३ से शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर कभी 'आ' की प्राप्ति होती है तो कभी सूत्र-संख्या ३-१५ से 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति भी हो जाती है। यों 'हि', 'हिन्तो' और 'सुन्तो' प्रत्ययों के योग से अकारान्त शब्द के छह रूप हो जाते हैं। तदनुसार कुल मिलाकर पंचमी विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त में नौ रूप

होते हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—वृक्षेभ्यः=(१) वच्छत्तो, (२) वच्छाओ, (३) वच्छाउ, (४) वच्छाहि, (५) वच्छेहि, (६) वच्छाहिन्तो, (७) वच्छेहिन्तो, (८) वच्छासुन्तो और (९) वच्छेसुन्तो अर्थात् वृक्षों से ॥

वृक्षेभ्यः—संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छेहि, वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो और वच्छेसुन्तो होते हैं। इनमे 'वच्छ' रूप तक की साधनिका सूत्र-संख्या ३-४ के अनुसार, ३-९ से प्रथम रूप मे 'त्तो' की प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्त प्रत्यय 'त्तो' के पूर्वस्थ वच्छ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' को प्राप्ति; १-८४ से प्राप्त 'आ' के स्थान पर पुन. 'अ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *वच्छत्तो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय और तृतीय रूप-(वच्छाओ एवं वच्छाउ) में सूत्र-संख्या ३-१२ से वच्छ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; ३-९ से क्रम से 'दो' और 'दु' प्रत्ययों की प्राप्ति और १-१७७ से प्राप्त प्रत्ययों में स्थित 'द्' का लोप होकर क्रम से *वच्छाओ* और *वच्छाउ* रूपों की सिद्धि हो जाती है।

शेष चौथे रूप से लगाकर नवमें रूप तक में सूत्र-संख्या ३-१३ से तथा ३-१५ से वच्छ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से 'आ' अथवा 'ए' की प्राप्ति और ३-९ से क्रम से 'हि' 'हिन्तो' और 'सुन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर यथा रूप *वच्छाहि, वच्छेहि, वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो वच्छासुन्तो* और *वच्छेसुन्तो* रूपों की सिद्धि हो जाती है ॥३-९॥

ङसः स्सः ॥३-१०॥

अतः परस्य ङसः संयुक्तः सो भवति ॥ पिअस्स । पेम्मस्स । उपकुम्भं शैत्यम् । उव-कुम्भस्स सीअलत्तणं ॥

अर्थः—अकारान्त शब्दों में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'स्य' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे:—प्रियस्स= पिअस्स अर्थात् प्रिय को। प्रेमणः=पेम्मस्स अर्थात् प्रेम का और उपकुम्भ शैत्यम्=उवकुम्भस्स सीअल-त्तण अर्थात् गूगल नामक लघु वृक्ष विशेष की शीतलता को (देखो)।

प्रियस्स—संस्कृत षष्ठ्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप पिअस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप, १-१७७ से 'य्' का लोप और ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'स्य' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर *पिअस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

प्रेमण संस्कृत षष्ठ्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप पेम्मस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र' का लोप, २-९८ से 'म' को द्वित्व 'म्म' की प्राप्ति, १-७८ से मूल संस्कृतीय रूप 'प्रेमन्' में स्थित ('ण्' के पूर्व रूप) 'न' का लोप, और ३-१० से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति वाचक प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय

रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पेम्मस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

उपकुम्भम् संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप उवकुम्भस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति; ३-१३४ से संस्कृतीय द्वितीया विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति तदनुसार ३-१० से संस्कृतीय द्वितीया विभक्ति के प्रत्यय 'अम्=म्' के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी विभक्ति वाचक प्रत्यय 'स्स' की प्राप्ति होकर *उवकुम्भस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

शैत्यम्=शीतलत्वम् संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप साअलत्तणं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से 'श्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; १-१७७ से 'त्' का लोप; २-१५४ से 'त्व' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में 'त्तण' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में 'म' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' का अनुस्वार होकर *सीअलत्तणं* रूप सिद्ध हो जाता है ॥३-१०॥

डे म्मि ङेः ॥३-११॥

अतः परस्य ङेर्डित् एकारः संयुक्तो म्मिश्च भवति ॥ वच्छे । वच्छम्मि ॥ देवम् । देवम्मि । तम् । तम्मि । अत्र द्वितीया–तृतीययोः सप्तमी (३-१३५) इत्यमो ङिः ॥

अर्थः—प्राकृत अकारान्त शब्दों में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर 'डे' और संयुक्त 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डे' में 'ड्' इत्संज्ञक होने से मूल अकारान्त शब्दों में स्थित अन्त्य 'अ' स्वर की इत्संज्ञा होकर उक्त 'अ' का लोप हो जाता है; तत्पश्चात् प्राप्त हलन्त रूप में 'ए' प्रत्यय की संयोजना हो जाती है। जैसे:—वृक्षे=वच्छे और वच्छम्मि अर्थात् वृक्ष मे। सूत्र-संख्या ३-१३७ में ऐसा विधान है कि प्राकृतीय शब्दों में कभी कभी सप्तमी विभक्ति के प्रत्ययों के स्थान पर द्वितीया विभक्ति के प्रत्ययों का विधान होता हुआ भी देखा जाता है एवं उक्त विधानानुसार प्राप्त द्वितीया-विभक्ति के सद्भाव में भी तात्पर्य सप्तमी विभक्ति का ही अभिव्यक्त होता है। जैसे:—देवे=देवम् अथवा देवम्मि अर्थात् देवता में। तस्मिन्=तम् अथवा तम्मि अर्थात् उसमें। कभी कभी ऐसा भी होता है कि शब्द में द्वितीया अथवा तृतीया विभक्ति के अर्थ में सूत्र-संख्या ३-१३५ के अनुसार सप्तमी विभक्ति के प्रत्यय संयोजित होते हुए देखे जाते हैं और तात्पर्य द्वितीया अथवा तृतीया विभक्ति को अभिव्यक्त होता है। तदनुसार सप्तमी-विभक्ति वाचक 'ङि=इ' होने पर भी उसका अर्थ द्वितीया-विभक्ति-वाचक प्रत्यय 'अम्=म्' के अनुसार होता है।

वृक्षे संस्कृत सप्तम्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप वच्छे और वच्छम्मि होते हैं। इनमें 'वच्छ' रूप तक की साधनिका सूत्र-संख्या ३-४ के अनुसार; ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन में क्रम से 'ए' और 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से *वच्छे* और *वच्छम्मि* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

देवे संस्कृत सप्तम्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप देवम् और देवम्मि होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१३७ से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया-विभक्ति का विधान एवं तदनुसार ३-५ से द्वितीया-विभक्ति वाचक प्रत्यय म्' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *देवम्* सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप-(देवे=) देवम्मि में सूत्र-संख्या ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *देवम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

तस्मिन् संस्कृत सर्वनाम सप्तम्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप तम् और तम्मि होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१३७ से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का विधान; तदनुसार ३-५ से संस्कृतीय सप्तमी-विभक्तिबोधक प्रत्यय 'स्मिन' के स्थान पर प्राकृत में द्वितीया विभक्ति वाचक प्रत्यय 'म्' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप '*तम्* सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप-(तस्मिन्=) तम्मि में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत सर्वनाम रूप 'तत् में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप और ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि' के स्थानीय रूप 'स्मिन्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप '*तम्मि*' सिद्ध हो जाता है ॥ ३-११ ॥

जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः ॥३-१२॥

एषु अतो दीर्घो भवति ॥ जसि शसि च । वच्छा ॥ ङसि । वच्छाओ । वच्छाउ । वच्छाहि । वच्छाहिन्तो । वच्छा ॥ त्तो दो दुषु ॥ वृक्षेभ्यः । वच्छत्तो । ह्रस्वः संयोगे (१-८४) इति ह्रस्वः ॥ वच्छाओ । वच्छाउ ॥ आमि । वच्छाण ॥ ङसिनैव सिद्धे त्तो दो दु ग्रहणं भ्यसि एत्वबाधनार्थम् ॥

अर्थः—प्राकृत अकारान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय 'शस' प्राप्त होने पर अन्त्य 'अ' स्वर का दीर्घ स्वर 'आ' हो जाता है। जैसे.—वृक्षाः = वच्छा और वृक्षान्=वच्छा। इसी प्रकार से पंचमी विभक्ति के एक वचन में 'ङसि=अस्' के स्थान पर आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'ओ', 'उ', 'हि', 'हिन्तो' और 'प्रत्यय-लुक्' की प्राप्ति होने पर अन्त्य 'अ' स्वर का दीर्घ स्वर 'आ' हो जाता है। जैसे:—वृक्षात्=वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो और वच्छा। मूल-सूत्र में 'त्तो', 'दो' और 'दु' का जो विशेष उल्लेख किया गया है; उसका तात्पर्य इस प्रकार है कि—पंचमी विभक्ति के एक वचन में और बहुवचन में 'त्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर प्रथम तो अन्त्य 'अ' के स्थान पर दीर्घ 'आ' की प्राप्ति होती है; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या १-८४ से पुन 'आ' को 'अ' की प्राप्ति हो जाती है। जैसे'—वृक्षात् = वच्छत्तो और वृक्षेभ्यः=वच्छत्तो। 'दो=ओ' और 'दु=उ' प्रत्यय पंचमी–विभक्ति के एक वचन में भी होते हैं और बहुवचन में भी होते हैं, तदनुसार दोनों ही वचनों में अन्त्य 'अ' को दीर्घ 'आ' की प्राप्ति होती है। जैसे:—वृक्षेभ्यः=वच्छाओ और वच्छाउ॥ इसी प्रकार से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में भी संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में आदेश

प्राप्त प्रत्यय 'ण' की प्राप्ति होने पर भी अन्त्य 'अ' स्वर को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति हो जाती है। जैसे-वृक्षाणाम्=वच्छाण। मूल-सूत्र में यदि 'ङ सि' इतना ही उल्लेख कर देते तो भी पंचमी विभक्ति के एक वचन में आदेश-प्राप्त प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर 'अ' को 'आ' की प्राप्ति होती है॥ ऐसा अर्थ अभिव्यक्त हो जाता; परन्तु पंचमी विभक्ति के एक वचन में और बहुवचन में 'त्तो, दो, दु, हि और हिन्तो' प्रत्ययों की एक रूपता है, एवं इस प्रकार का एकरूपता होने पर भी जहाँ दोनों वचनों में अन्त्य 'अ' को 'आ' की प्राप्ति होती है वहाँ बहुवचन में 'हि' और 'हिन्तो' प्रत्यय की संयोजना में सूत्र-संख्या ३-१३ एवं ३-१५ से वैकल्पिक रूप से 'अ' का 'आ' की प्राप्ति भी हो जाया करती है। इस प्रकार मूल-सूत्र में 'त्तो' 'दो' और 'दु' ग्रहण करके पञ्चमी--बहुवचन के शेष प्रत्ययों 'हि' 'हिन्तो' और 'सुन्तो' में 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है-ऐसा विशेष अर्थ प्रति-ध्वनित करने के लिये 'त्तो'; 'दो' एवं 'दु' प्रत्ययों को मूल-सूत्र में स्थान दिया गया है। जैसेः—वृक्षेभ्यः = वच्छाहि और वच्छेहि तथा वच्छाहिन्तो और वच्छेहिन्तो। इस प्रकार पंचमी के एक वचन में 'एत्व' का निषेध करने के लिये और बहुवचन में 'एत्व' का विधान करने के लिये 'त्तो', दो और दु' प्रत्ययों का उल्लेख किया है।

'वच्छा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ मे की गई है।

'वच्छाओ', 'वच्छाउ', 'वच्छाहि', 'वच्छाहिन्तो' और *'वच्छा'* रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८ में की गई है।

'वच्छत्तो', 'वच्छाओ' और *'वच्छाउ'* बहुवचनान्त रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-९ में की गई है।

'वच्छाण' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६ में की गई है। ३-१२॥

भ्यसि वा ॥ ३-१३ ॥

भ्यसादेशे परे अतो दीर्घो वा भवति॥ वच्छाहिन्तो । वच्छेहिन्तो । वच्छासुन्तो । वच्छेसुन्तो । वच्छाहि । वच्छेहि ॥

अर्थः—पंचमी बहुवचन के संस्कृतीय प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'हिन्तो', 'सुन्तो' और 'हि' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'आ' की प्राप्ति होती है। एवं सूत्र-संख्या ३-१५ से वैकल्पिक पक्ष होने से 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति भी हुआ करती है। जैसेः—वृक्षेभ्यः=वच्छाहिन्तो अथवा वच्छेहिन्तो; वच्छासुन्तो अथवा वच्छेसुन्तो और वच्छाहि अथवा वच्छेहि॥

वृक्षेभ्यः—संस्कृत पंचम्यन्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो, वच्छेसुन्तो, वच्छाहि और वच्छेहि होते हैं। इनमें 'वच्छ' रूप तक की साधनिका ३-४ के

अनुसार; ३-६ मे पचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर 'हिन्तो' 'सुन्तो' और 'हि' प्रत्ययों की क्रमिक आदेश-प्राप्ति, ३-१३ और ३-१५ से 'वच्छ' शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से तथा क्रम से 'आ' अथवा 'ए' की प्राप्ति होकर *वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो, वच्छेसन्तो, वच्छाहि* और *वच्छेहि* रूपों की सिद्धि हो जाती है।

टाण-शस्येत् ॥ ३-१४ ॥

टादेशे णे शसि च परे अस्य एकारो भवति ॥ टाण। वच्छेण ॥ णेति किम्। अप्पणा अप्पणिआ। अप्पणइआ। शस्। वच्छे पेच्छ ॥

अर्थः-प्राकृतीय अकारान्त शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'ण' की आदेश-प्राप्ति होने पर अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः-वृक्षेन = वच्छेण अर्थात् वृक्ष से। इसी प्रकार से द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में भी संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर नियमानुसार लोप स्थिति' प्राप्त होने पर अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः-वृक्षान् पश्य=वच्छे पेच्छ अर्थात् वृक्षों को देखो।

प्रश्नः-तृतोया विभक्ति के एक वचन में 'ण' आदेश-प्राप्ति होने पर ही अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होती है, ऐसा क्यों उल्लेख किया गया है ?

उत्तरः-'आत्मा=अप्प' आदि शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन में सस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-५५, ३-५६ और ३-५७ से 'णा', 'णिआ' और 'णइआ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है, तदनुसार तृतीया विभक्ति एक वचन में सूत्र-सख्या ३-६ के अनुसार 'टा' के स्थान पर प्राप्तव्य 'ण' का अभाव हो जाता है और ऐसा होने पर शब्द अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये यह भार-पूर्वक कहा गया है कि ण' आदेश-प्राप्ति होने पर ही 'अ' को 'ए' की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। जैसेः-आत्मना=अप्पणा, अप्पणिआ और अप्पणइआ अर्थात् आत्मा से।

'वच्छेण' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या ३-६ में की गई है।

आत्मना सस्कृत तृतीयान्त एकवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप अप्पणा, अप्पणिआ और अप्पणइआ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-सख्या १-८४ से आदि दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; २-५१ से संयुक्त व्यञ्जन 'त्म' के स्थान पर 'प' की आदेश-प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति, ३-५६ से प्राप्त रूप 'अप्प' में 'आण' का सयोग; १-८४ से प्राप्त संयोग रूप 'आण' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति, १-१० से 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' स्वर के आगे 'अण' का 'अ' होने से लोप, और ३-६ से प्राप्त संस्कृतीय

प्रत्यय 'टा' में स्थित 'ट' की इत्संज्ञा होने से 'ट' का लोप होकर शेष प्रत्यय 'आ' की प्राप्ति होकर *अप्पणा* रूप सिद्ध हो जाता है। अथवा ३-५१ से पूर्व सिद्ध 'अप्प' शब्द में ही तृतीया विभक्ति के एक वचन में 'राजन वत् आत्मन शब्दः-सद्भावात्' संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'णा' आदेश की प्राप्ति होकर (*अप्पणा*) रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय और तृतीय रूप (आत्मना=) अप्पणिआ तथा अप्पणइआ में 'अप्प' रूप तक की साधनिका प्रथम रूप वत्; और ३-५७ से तृतीया-विभक्ति के एक वचन में 'टा' प्रत्यय के स्थान पर 'णिआ' और 'णइआ' आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप '*अप्पणिआ*' और '*अप्पणइआ*' सिद्ध हो जाते हैं।

वच्छे रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-४* में की गई है।

पेच्छ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है ॥३-१४॥

भिस्भ्यस्सुपि ॥३-१५॥

एषु अत ए भवति ॥ भिस्। वच्छेहि। वच्छेहिँ। वच्छेहिं ॥ भ्यस्। वच्छेहि। वच्छेहिन्तो। वच्छेसुन्तो ॥ सुप्। वच्छेसु ॥

अर्थः—प्राकृतीय अकारान्त शब्दों में तृतीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'भिस्' के आदेश-प्राप्त 'हि, हिँ और हिं' की प्राप्ति होने पर; पंचमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'भ्यस्' के आदेश-प्राप्त रूप 'हि, हिन्तो और सुन्तो' की प्राप्ति होने पर और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'सुप्' के आदेश-प्राप्त रूप 'सु' की प्राप्ति होने पर शब्द-अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति हो जाती है। जैसे 'भिस्' का उदाहरणः—वृक्षैः=वच्छेहि, वच्छेहिँ और वच्छेहिं अर्थात् वृक्षों से। 'भ्यस्' का उदाहरण वृक्षेभ्यः=वच्छेहि, वच्छेहिन्तो और वच्छेसुन्तो अर्थात वृक्षों से। 'सुप्' का उदाहरणः—वृक्षेषु=वच्छेसु अर्थात वृक्षों पर अथवा वृक्षों में।

'*वच्छेहि*', '*वच्छेहिँ*' और '*वच्छेहिं*' तृतीयान्त बहुवचन वाले रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-७* में की गई है।

'*वच्छेहि*', '*वच्छेहिन्तो*' और '*वच्छेसुन्तो*' पंचम्यन्त बहु वचन वाले रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-९* में की गई है। *वच्छेसु* रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२७* में की गई है ॥३-१५॥

इदुतो दीर्घः ॥३-१६॥

इकारस्य उकारस्य च भिस् भ्यस्सुप्सु परेषु दीर्घो भवति ॥ भिस्। गिरीहिं। बुद्धीहिं। दहीहिं। तरूहिं। धेणूहिं। महूहिं कयं ॥ भ्यस्। गिरीओ। बुद्धीओ। दहीओ। तरूओ।

घेणूओ । महूओ आगओ ॥ एवं गिरीहिन्तो । गिरीसुन्तो आगओ इत्याद्यपि ॥ सुप् । गिरीसु । बुद्धीसु । दहीसु । तरूसु । घेणूसु । महूसु ठिअं ॥ क्वचिन्न भवति । दिअ-भूमिसु दाण-जलोल्लिआइं ॥ इदुत इति किम् । वच्छेहिं । वच्छेसुन्तो । वच्छेसु ॥ भिस्भ्यस्सु पीत्येव । गिरिंतरुं पेच्छ ॥

अर्थः—प्राकृतीय ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त पुल्लिग, नपुंसक लिंग और स्त्रीलिंग शब्दों में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'हि, हिँ और हिं' प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर एव पचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय-प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'ओ, उ, हिंतो और सुन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सुप्' के स्थान पर 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर ह्रस्व अन्त्य स्वर 'इ' का अथवा 'उ' का दीर्घ स्वर 'ई' और 'ऊ' यथा क्रम से हो जाते हैं। जैसे —'भिस्' प्रत्यय से संबंधित उदाहरणः— गिरिभिः=गिरीहिं; बुद्धिभिः=बुद्धीहिं, दधिभिः=दहीहिं; तरुभिः=तरूहिं; धेनुभिः=घेणूहिं और मधुभिः कृतम्=महूहिं कय। इत्यादि।

'भ्यस्' से संबधित उदाहरण —गिरिभ्य=गिरीओ, गिरीहिन्तो और गिरीसुन्तो। बुद्धिभ्य=बुद्धिओ। दधिभ्यः=दहीओ। तरुभ्यः=तरूओ। धेनुभ्य=घेणूओ और मधुभ्यः आगतः=महूओ आगओ। इत्यादि। 'सुप्' से संबधित उदाहरणः—गिरिषु=गिरीसु। बुद्धिषु=बुद्धीसु। दधिषु=दहीसु। तरुषु=तरूसु। धेनुषु=घेणूसु और मधुषु स्थितम्=महूसु ठिअ। इत्यादि। किन्हीं किन्हीं शब्दों में 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर ह्रस्व अन्त्य 'इ' अथवा उ' का दीर्घ 'ई' अथवा 'ऊ' नही भी होता है। जैसेः—द्विज-भूमिषु दान-जलार्द्रीकृतानि=दिअ-भूमिसु दाण-जलोल्लिआइ। इस उदाहरण में 'भूमीसु' के स्थान पर ह्रस्व इकारान्त रूप कायम रह कर 'भूमिसु' रूप ही दृष्टि-गोचर हो रहा है; यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्न—'इकारान्त' 'उकारान्त' शब्दों में ही 'भिस्, भ्यस् और सुप्' प्रत्ययों के प्राप्त होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर हो जाता है ऐसा क्यों लिखा है?

उत्तरः—जो प्राकृत शब्द 'इकारान्त' अथवा 'उकारान्त' नहीं है, उन शब्दों में 'भिस्, भ्यस् और 'सुप्' प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर भी अन्त्य ह्रस्व स्वर का दीर्घ स्वर नहीं होता है, अत. ऐसा विधान केवल इकारान्त और उकारान्त शब्दों के लिये ही करना पड़ा है। जैसे —वृक्षैः=वच्छेहिं, वृक्षेभ्य=वच्छेसुन्तो और वृक्षेषु=वच्छेसु। इन उदाहरणों में 'वच्छ' शब्द के अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीघ स्वर 'आ' की प्राप्ति नहीं हुई है। इस प्रकार 'ह्रस्व से दीर्घता' का विधान केवल इकारान्त और उकारान्त शब्दों के लिये ही है; यह सिद्ध हुआ।

प्रश्नः—'भिस्, भ्यस् और सुप्' प्रत्ययों के प्राप्त होने पर ही ह्रस्व 'इकारान्त' और ह्रस्व 'उकारान्त' के अन्त्य 'स्वर' को दीर्घता होती है, ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है?



उत्तरः—यदि ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों मे 'भिस्' भ्यस् और' सुप्'प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों की प्राप्ति हुई हो तो इन शब्दो के अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे:—गिरिम अथवा तरुम् पश्य=गिरिं अथवा तरु पेच्छ। इन उदाहरणों में द्वितीया-विभक्ति के एक वचन का 'म्' प्रत्यय प्राप्त हुआ; और 'भिस्, भ्यस् अथवा सुप' प्रत्ययों का अभाव है; तदनुसार इनमें ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर की प्राप्ति भी नहीं हुई है। यों अन्यत्र भी विचार कर लेना चाहिये।

गिरिभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरीहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से मूल गिरि शब्दान्त (द्वितीय) ह्रस्व स्वर 'इ' के स्थान पर दीर्घ ई' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस् के स्थान पर प्राकृत में हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गिरीहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

बुद्धिभिः—संस्कृत तृतीयान्त बहु वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धिहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से और ३-७ से 'गिरीहिं' के समान ही साधनिका की प्राप्ति होकर *बुद्धिहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

दधिभिः—संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप दहीहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और शेष-साधनिक सूत्र-संख्या ३-१६ एवं ३-७ से 'गिरीहि' के समान ही होकर *दहीहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

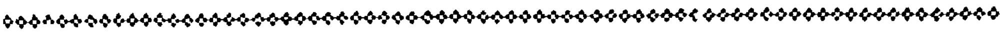
तरुभिः—संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप तरूहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से और ३-७ से 'गिरीहिं' के समान ही साधनिक की प्राप्ति होकर *तरूहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेनुभिः—संस्कृत तृतीयान्त बहु वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणूहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति और शेष साधनिका सूत्र संख्या ३-१६ एवं ३-७ से 'गिरीहिं' के समान ही होकर *धेणूहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुभिः—संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप महूहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति और शेष साधनिको ३-१६ एवं ३-७ से 'गिरीहिं' के समान ही होकर *महूहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

कयं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

गिरिभ्यः—संस्कृत पंचम्यन्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप गिरीओ, गिरीहिन्तो और गिरीसुन्तो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१६ से मूल 'गिरि' शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-९ से पंचमी विभक्ति बोधक प्रत्यय 'ओ, हिन्तो, और सुन्तो' की क्रमिक-प्राप्ति होकर क्रम से *गिरीओ, गिरीहिन्तो* एवं *गिरीसुन्तो* रूपों की सिद्धि हो जाती है।



बुद्धिभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धीओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ और ३-९ से 'गिरीओ' के समान ही साधनिका की प्राप्ति होकर *बुद्धीओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

दधिभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप दहीओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-१६ तथा ३-९ से 'गिरीओ' के समान ही साधनिका की प्राप्ति होकर *दहीओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरुभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप तरूओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ और ३-९ से 'गिरीओ' के समान ही साधुनिका की प्राप्ति होकर *तरूओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेनुभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणूओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और ३-१६ तथा ३-९ से 'गिरीओ' के समान ही शेष साधनिका की प्राप्ति होकर *धेणूओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप महूओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-१६ तथा ३-९ से 'गिरीओ' के समान ही शेष साधनिका की प्राप्ति होकर *महूओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

आगओ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२६८ में की गई है।

गिरिषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरीसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से द्वितीय ह्रस्व स्वर 'इ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति, और १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *गिरीसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

बुद्धिषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धीसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से 'इ' के स्थान पर 'ई' की प्राप्ति और १-२६० से 'ष' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *बुद्धीसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

दधिषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप दहीसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति, ३-१६ से 'इ' के स्थान पर 'ई' की प्राप्ति और १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *दहीसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरुषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप तरूसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से प्रथम 'उ' के स्थान पर दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *तरूसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेनुषु—संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणूसु होता है। इसमें सूत्र-

संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति; ३-१६ से प्रथम 'उ' के स्थान पर दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और १-२६० से 'ष' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *धेणूसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुषु:—संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप महूसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति; ३-१६ से प्रथम 'उ' के स्थान पर दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *महूसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

स्थितम्:—संस्कृत विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप ठिअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१६ से 'स्था' के स्थान पर 'ठा' आदेश; ३-१५६ से प्राप्त रूप 'ठा' में स्थित अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; १-१७७ से कृदन्तीय विशेषणात्मक प्रत्यय 'त्' का लोप; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अकारान्त नपुंसकलिंग में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त 'म्' का अनुस्वार होकर *ठिअं* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्विज-भूमिषु:—संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत-रूप दिअ-भूमिसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'व्' का लोप; १-१७७ से 'ज्' का लोप और १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *दिअ-भूमिसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

दान-जलार्द्रीकृतानि:—संस्कृत विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप दाण-जलोल्लिआइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; १-८२ से 'आर्द्री' में स्थित 'आ' के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति; १-१० से 'जल' के 'ल' में स्थित अन्त्य 'अ' का लोप; २-७९ से रेफ रूप 'र्' का लोप; २-७७ से द्वितीय 'द्' का लोप; १-२५४ से शेष 'र्' के स्थान पर 'ल' आदेश; २-८९ से आदेश प्राप्त 'ल्' को द्वित्व 'ल्ल्' की प्राप्ति; १-८४ से दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति; १-१२६ से 'ऋ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; १-१७७ से 'क्' और 'त' का लोप; १-१० से लुप्त 'क्' में से शेष रहे हुए 'अ' का आगे 'आ' आ जाने से लोप अथवा १-५ से 'अ' के साथ मे 'आ' की संधि होकर दोनों के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; और ३-२६ से प्रथमा अथवा द्वितीयो विभक्ति के बहुवचन के संस्कृतीय प्रत्यय 'नि' के स्थान पर प्राकृत में 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दाण-जलोल्लिआइं* रूप सिद्ध हो जाता है।

वच्छेहिं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७ में की गई है।

वच्छेसुन्तो-रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-९ में की गई है।

वच्छेसु रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१५ में की गई है।

गिरिं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

तरुम् संस्कृत द्वितीयान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप तरुं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त 'म्' का अनुस्वार होकर तरुं रूप सिद्ध हो जाता है।

पेच्छ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२ में की गई है ॥३-१६॥

चतुरो वा ॥३--१७॥

चतुर उदन्तस्य भिस् भ्यस्-सुप्सु परेषु दीर्घो वा भवति ॥ चऊहि । चउहि । चऊओ चउओ । चऊसु चउसु ॥

अर्थः—'चतुर्' संस्कृत शब्द के प्राकृत-रूपान्तर 'चउ' में तृतीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'भिस्' के आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'हि हिँ और हिं' की प्राप्ति होने पर; पंचमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'भ्यस्' के आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'हि' हिन्तो, सुन्तो' आदि की प्राप्ति होने पर और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'सुप्' के आदेश प्राप्त प्रत्यय 'सु' की प्राप्ति होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को वैकल्पिक रूप से दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति होती है। जैसे.—चतुर्भिः=चऊहि अथवा चउहि; चतुर्भ्यः =चऊओ अथवा चउओ और चतुर्षु=चऊसु अथवा चउसु ॥

चतुर्भिः संस्कृत तृतीयान्त संख्या वाचक बहुवचन–विशेषण रूप है। इसके प्राकृत रूप चऊहि और चउहि होते हैं। इनमें सूत्र–संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'चतुर' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'र्' का लोप, १-१७७ से 'त्' का लोप, ३-१७ से शेष 'उ' को वैकल्पिक रूप से दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति; और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर आदेश–प्राप्त 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप चऊहि और चउहि सिद्ध हो जाते हैं।

चतुर्भ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त संख्या वाचक बहुवचन–विशेषण रूप है। इसके प्राकृत रूप चऊओ और चउओ होते हैं। इनमें 'चऊ' और 'चउ' तक की साधनिका इसी सूत्र में कृत उपरोक्त रीति--अनुसार, और ३-९ से पचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय भ्यस्' के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप चऊओ और चउओ सिद्ध हो जाते हैं।

चतुर्षु संस्कृत सप्तम्यन्त संख्या वाचक बहुवचन विशेषण रूप है। इसके प्राकृत रूप चऊसु और चउसु होते हैं। इनमें 'चऊ' और 'चउ' तक की साधनिका इसी सूत्र में उपरोक्त रीति अनुसार और १-२६० से 'ष' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप चऊसु और चउसु सिद्ध हो जाते हैं ॥३–१७॥

लुप्ते शसि ॥३--१८॥

इदुतोः शसि लुप्ते दीर्घो भवति ॥ गिरी । बुद्धी । तरू । धेणू पेच्छ ॥ लुप्त इति किम् ।

गिरिणो । तरुणो पेच्छ ॥ इदुत इत्येव । वच्छे पेच्छ ॥ जस्-शस् (३-१२) इत्यादिना शसि दीर्घस्य लक्ष्यानुरोधार्थो योगः । लुप्त इति तु णवि प्रति प्रसवार्थशङ्कानिवृत्त्यर्थम् ॥

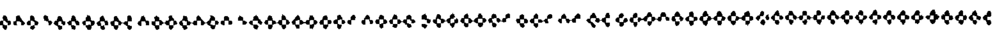
अर्थः—प्राकृतीय इकारान्त और उकारान्त पुल्लिंग और स्त्रीलिंग शब्दों में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर एवं सूत्र-संख्या ३-४ के विधान से प्राप्त प्रत्यय 'शस्' का लोप होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' अथवा 'उ' के स्थान पर दीर्घ 'ई' अथवा दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति यथा क्रम से होती है। जैसेः-गिरीन्=गिरी अर्थात् पहाड़ों को; बुद्धीः=बुद्धी अर्थात् बुद्धियों को; तरून्=तरू अर्थात्, वृक्षों को; धेनूः पश्य=धेणू पेच्छ अर्थात् गायों को देखो। इन उदाहरणों में अन्त्य ह्रस्व स्वर को 'शस्' प्रत्यय का लोप होने से दीर्घता प्राप्त हुई है; यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—'शस्' प्रत्यय का लोप होने पर ही अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता प्राप्त होती है, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—ह्रस्व इकारान्त अथवा उकारान्त पुल्लिंग शब्दों में सूत्र-संख्या ३-२२ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में शस् प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति भी हुआ करती है; तदनुसार यदि 'शस्' प्रत्यय के स्थान पर 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होती है तो ऐसी अवस्था में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' अथवा 'उ' को दीर्घता की प्राप्ति नहीं होगी; इसीलिये 'लुप्त' शब्द का उल्लेख किया गया है सारांश यह है कि दीर्घता की प्राप्ति 'शस्' प्रत्यय की लोपावस्था पर निर्भर है; यदि 'शस्' के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'णो' प्रत्यय प्राप्त हो जाता है तो दीर्घता का भी अभाव हो जाता है। जैसेः— गिरीन् = गिरिणो अर्थात् पहाड़ों को और तरून् पश्य = तरुणो (अर्थात् वृक्षों को;) पेच्छ=देखो ॥

प्रश्नः इकारान्त अथवा उकारान्त शब्दों में ही 'शस्' प्रत्यय का लोप होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में भी द्वितीया-विभक्ति-बोधक प्रत्यय 'शस्' का सूत्र-संख्या ३-४ के विधान से लोप होता है; परन्तु 'शस्' प्रत्यय का लोप होने पर भी अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीर्घ 'आ' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से ही होती है तथा सूत्र-संख्या ३-१४ से अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति भी हुआ करती है; इस प्रकार 'शस्' की लोपावस्था में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को कभी 'आ' की प्राप्ति होती है तो कभी 'ए' की प्राप्ति होती है; यों नित्य 'दीर्घता' का अभाव होने से अकारान्त शब्दों को नहीं लेते हुए इकारान्त अथवा उकारान्त शब्दों के लिए ही यह दीर्घता का विधान 'नित्य रूप से' किया गया है। जैसेः-वृक्षान् पश्य=वच्छे पेच्छ अर्थात् वृक्षों को देखो। इस उदाहरण में 'वच्छ' अकारान्त शब्द में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'शस्' का लोप हुआ है परन्तु अन्त्य 'अ' को 'आ' नहीं होकर 'ए' की प्राप्ति हुई है; परन्तु तदनुसार अकारान्त शब्दों में नित्य 'दीर्घता' का अभाव प्रदर्शित किया गया है। यों इकारान्त और उकारान्त शब्दों में 'शस्' प्रत्यय के लोप होने पर नित्य दीर्घता के विधान की



स्थिति को समझ लेना चाहिये।

सूत्र-संख्या ३-१२ के विधानोनुसार यद्यपि यह सिद्ध हो जाता है कि द्वितीया-विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'शस्' की प्राप्ति होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति होती है; परन्तु पुनः सूत्र संख्या ३-१८ से उसी तात्पर्य की विशेष संपुष्टि करने के लिए और अकारान्त शब्दों में वैकल्पिक रूप से होने वाली दीर्घता का व्यवधान करने के लिये इस सूत्र (३-१८) का निर्माण किया है। 'दीर्घता की नित्यता रूप लक्ष्य-विशेष के योग को प्रदर्शित करने के लिये इस सूत्र का निर्माण करना पड़ा है। दूसरा प्रवल कारण यह है कि सूत्र-संख्या ३-२२ के विधानानुसार 'शस्' प्रत्यय के स्थान पर पुल्लिंग शब्दों में णो' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होती है; तदनुसार यदि द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाती है तो ऐसी अवस्था में 'शस्' प्रत्यय की लोप स्थिति नहीं मानी जायगी एवं लोप-स्थिति का अभाव होने पर अन्त्य ह्रस्वस्वर को भी दीर्घता की प्राप्ति नहीं होगी। इस प्रकार निश्शंक और स्पष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये ही तथा नित्य 'दीर्घता' के संबंध में उत्पन्न होने वाली शंकाओं के निवारण के लिये ही सूत्र-संख्या ३-१२ के अतिरिक्त सूत्र-संख्या ३-१८ का निर्माण करना भी आवश्यक तथा उचित समझा गया है।

गिरीन्:—संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप गिरी और गिरिणो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राप्त प्रत्यय का लोप और ३-१८ से प्राप्त प्रत्यय 'शस्' का लोप होने से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर *गिरी* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप- (गिरीन्=) गिरिणो में सूत्र-संख्या ३-२२ से मूल शब्द 'गिरि' में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय के स्थान पर णो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *गिरिणो* भी सिद्ध हो जाता है।

बुद्धीः—संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राप्त प्रत्यय का लोप और ३-१८ से प्राप्त प्रत्यय 'शस्' का लोप होने से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर *बुद्धी* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरून्:—संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप तरू और तरुणो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राप्त प्रत्यय का लोप ३-१८ से प्राप्त प्रत्यय 'शस्' का लोप होने से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर *तरू* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (तरून्=) तरुणो में सूत्र-संख्या ३-२२ से मूल शब्द 'तरु' में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय के स्थान पर 'णो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *तरुणो* भी सिद्ध हो जाता है।

धेनूः—संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणू होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति; ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राप्त प्रत्यय का लोप और ३-१८ से प्राप्त प्रत्यय 'शस्' का लोप होने से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर धेणू रूप सिद्ध हो जाता है।

'पेच्छ':—रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

'वच्छे':—रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-४ में की गई है। ३-१८॥

अक्लीवे सौ ॥३-१९॥

इदुतोऽक्लीवे नपुंसकादन्यत्र सौ दीर्घो भवति ॥ गिरी। बुद्धी। तरू। धेणू॥ अक्लीब इति किम्। दहिं। महुं॥ साविति किम्। गिरिं। बुद्धिं। तरुं। धेणुं ॥ केचित्तु दीर्घत्वं विकल्प्य तदभावपक्षे सेर्मादेशमपीच्छन्ति। अग्गिं। निहिं। वाउं। विहुं॥

अर्थः—प्राकृतीय इकारान्त और उकारान्त शब्दों में से नपुंसक लिंग वाले शब्दों को छोड़कर शेष रहने वाले पुल्लिंग और स्त्रीलिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्त होने वाले 'सि' प्रत्यय के स्थान पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को अथवा 'उ' को दीर्घ 'ई' की अथवा दीर्घ 'ऊ' की यथा क्रम से प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि इकारान्त उकारान्त पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त्य ह्रस्व स्वर को प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय का लोप होकर दीर्घ स्वर की प्राप्ति होती है। जैसे:—गिरिः=गिरी; बुद्धिः=बुद्धी; तरुः=तरू और धेनुः=धेणू इत्यादि।

प्रश्नः—इकारान्त अथवा उकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों का निषेध क्यों किया गया है?

उत्तरः—इकारान्त अथवा उकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में सूत्र-संख्या ३-२५ के विधान से प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थान पर हलन्त 'म्' की प्राप्ति होती है; अतः ऐसे नपुंसकलिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग में प्राप्त होने वाली दीर्घता का अभाव प्रदर्शित करना पड़ा है। जैसे:—दधिम्=दहिं और मधुम्=महुं इत्यादि।

प्रश्नः—मूल सूत्र में 'सौ' अर्थात् 'सि' प्रत्यय के प्राप्त होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को अथवा 'उ' को दीर्घता की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों लिखा गया है?

उत्तरः—इकारान्त और उकारान्त पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग शब्दों में अन्त्य ह्रस्व स्वर की दीर्घता 'सि' प्रत्यय के प्राप्त होने पर होती है; न कि द्वितीया विभक्ति के एक वचन में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर। जैसे:—गिरिम्=गिरिं अर्थात् पहाड़ को; बुद्धिम्=बुद्धिं अर्थात् बुद्धि को; तरुम्=तरुं अर्थात् वृक्ष को और धेनुम्=धेणुं अर्थात् गाय को; इत्यादि। इन उदाहरणों में द्वितीय-विभक्ति-बोधक 'म्'

प्रत्यय की प्राप्ति होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर ज्यों का त्यों ही बना रहा है, जबकि प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अन्त्य ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है; ऐसा अन्तर प्रदर्शित करने के लिये ही मूल सूत्र में 'सौ' अर्थात 'सि' प्रत्यय के परे रहने पर इस प्रकार का उल्लेख करना पड़ा है।

कोई कोई प्राकृत-भाषा के विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि इकारान्त और उकारान्त पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से हलन्त 'म्' आदेश की प्राप्ति भी होती है। ऐसी स्थिति में अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार 'सि' प्रत्यय के अभाव में दीर्घता की प्राप्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार 'सि' प्रत्यय के अभाव में दीर्घता का भी अभाव करके प्रथमा-विभक्ति बोधक 'म्' प्रत्यय की आदेश रूप कल्पना वैकल्पिक रूप से करते हैं। जैसे.- अग्नि =अग्गिं; निधि =निहिं; वायुः=वाउं और विभुः अथवा विभुः=विहुं। इत्यादि। इन उदाहरणों में प्रथमा विभक्ति बोधक 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' रूप प्रत्ययकी कल्पना की गई है। किन्तु यह ध्यान में रहे कि ऐसे रूपों का प्रचलन अत्यल्प है-गौण है। 'बहुलाधिकार' से ही ऐसे रूपों को कहीं कहीं पर स्थान दिया जाता है। सर्व-सामान्य रूप से इनका प्रचलन नहीं है।

गिरिः-संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरी होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर *गिरी* रूप सिद्ध हो जाता है।

बुद्धिः—संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धी होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' के स्थान पर अन्त्य 'इ' को 'ई' की प्राप्ति होकर *बुद्धी* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरुः संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप तरू होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' के स्थान-पर अन्त्य 'उ' को 'ऊ' की प्राप्ति होकर *तरू* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेनुः संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणू होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' के स्थान पर अन्त्य 'उ' को 'ऊ' की प्राप्ति होकर *धेणू* रूप सिद्ध हो जाता है।

दधिम् संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप दहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त हलन्त प्रत्यय 'म्' अनुस्वार होकर *दहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुम् संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप महुं होता है। इसकी साधनिका 'दहिं' के समान ही होकर *महुं* रूप सिद्ध हो जाता है

'गिरिं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है।

बुद्धिम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन मे 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' का अनुस्वार होकर *बुद्धिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरुम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप तरुं होता है। इसकी साधनिका उपरोक्त 'बुद्धि' के समान ही होकर *तरुं* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेनुम्:—संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणुं होता है। इसमें सूत्र-सख्या १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति और शेष साधनिका का उपरोक्त 'बुद्धि' के समान ही होकर *धेणुं* रूप सिद्ध हो जाता है।

अग्निः-संस्कृत रूप है। इसका आर्ष प्राकृत रूप अग्गिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'न' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'न' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ग्' को द्वित्व 'ग्ग्' की प्राप्ति और ३-१९ की वृत्ति से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' आदेश की प्राप्ति होकर *अग्गिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

निधिः—संस्कृत रूप है। इसका आर्ष प्राकृत रूप निहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-१९ की वृत्ति से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' आदेश की प्राप्ति होकर *निहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

वायु;—संस्कृत रूप है। इसका आर्ष प्राकृत रूप वाउं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' का लोप और ३-१९ की वृत्ति से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' आदेश की प्राप्ति होकर *वाउं* रूप सिद्ध हो जाता है।

विभुः—संस्कृत रूप है। इसका आर्ष प्राकृत रूप विहुं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'भ्' के स्थान पर 'ह्', की प्राप्ति और ३-१९ की वृत्ति से प्रथमा विभक्ति के एक वचन मे सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म' आदेश की प्राप्ति होकर *विहुं* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१९॥

पुंसि जसो डउ डओ वा ॥३-२०॥

इदुत इतीह पञ्चम्यन्तं संबध्यते। इदुतः परस्य जसः पुंसि अउ अओ इत्यादेशौ डितौ वा भवतः॥ अग्गउ अग्गओ। वायउ वायओ चिट्ठन्ति॥ पक्षे। अग्गिणो। वाउणो॥ शेषे अदन्तवत् भावात् अग्गी। वाऊ॥ पुंसीतिकिम्। बुद्धीओ। धेणूओ। दहीइं। महूइं॥ जस इति किम्। अग्गी। अग्गिणो। वाऊ। वाउणो पेच्छइ॥ इदुत इत्येव। वच्छा॥

अर्थः—इस मूल-सूत्र में 'इकारान्त उकारान्त से 'ऐसा उल्लेख नहीं किया गया है; अतः अर्थ-स्पष्टीकरण के उद्देश्य से 'इदुतः'=इकारान्त उकारान्त शब्दों से ऐसा पचमी बोधक संबंध-वाचक अध्याहार कर लेना चाहिये। तदनुसार इकारान्त उकारान्त पुल्लिग प्राकृत-शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहु वचन के प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'डउ' और 'डओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। आदेश प्राप्त प्रत्यय 'डउ' और 'डओ' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से शब्दान्त्य 'इ' और 'उ' की इत्संज्ञा होकर इन 'इ' और 'उ' का लोप हो जाता है तथा आदेश-प्राप्त प्रत्ययों का रूप भी 'अउ और 'अओ' रह जाता है। जैसे–अग्नयः=अग्गउ और अग्गओ। वायवः तिष्ठन्ति=वायउ वायओ चिट्ठन्ति। वैकल्पिक पक्ष होने से सूत्र-संख्या ३-२२ के अनुसार (अग्नयः=) अग्गिणो और (वायवः=) वाउणो रूप भी होते हैं। 'अउ' और 'अओ' तथा 'णो' आदेश-प्राप्ति के अभाव में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिग शब्द-रूप के समान ही सूत्र-संख्या ३-४ से 'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति और लोप-अवस्था प्राप्त होकर तथा सूत्र-संख्या ३-१२ से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' अथवा 'उ' को दीर्घता की प्राप्ति होकर 'अग्गी' और 'वाऊ' रूप भी होते हैं। इस प्रकार इकारान्त और उकारान्त पुल्लिग शब्दों के प्रथमा विभक्ति के बहु वचन में चार चार रूप हो जाते हैं; जोकि इस प्रकार हैं:—अग्नयः= अग्गउ, अग्गओ, अग्गिणो और अग्गी। वायवः=वायउ, वायओ, वाउणो और वाऊ॥

प्रश्नः—इकारान्त उकारान्त पुल्लिग शब्दों में ही 'अऊ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति होती है; ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः—स्त्री लिंग वाचक और नपुंसक लिंग वाचक इकारान्त उकारान्त शब्दों में 'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति का अभाव है; अतः पुल्लिग शब्दों में ही इन 'अउ' और 'अओ' का सद्भाव होने से 'पुंसि' ऐसे शब्द का मूल-सूत्र में उल्लेख करना पड़ा है। जैसेः–बुद्धयः= बुद्धीओ, धेनवः=धेणूओ; दधीनि=दहीइ और मधूनि=महूइ इत्यादि। इन उदाहरणों में पुल्लिगत्व का अभाव होने से और स्त्री लिंगत्व का तथा नपुंसक लिंगत्व का सद्भाव होने से 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्त प्रत्ययों का अभाव प्रदर्शित किया गया है यों सूत्र में लिखित 'पुंसि' शब्द का तात्पर्य-विशेष जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—प्रथमा विभक्ति बोधक 'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर ही 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—प्रथमा विभक्ति बोधक प्रत्यय 'जस्' के अतिरिक्त द्वितीया विभक्ति बोधक 'शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर अथवा अन्य विभक्ति बोधक प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर भी उन प्रत्ययों के स्थान पर 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है। अतः 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति केवल 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर ही होती है; ऐसा तात्पर्य प्रदर्शित करने के लिये ही मूल-सूत्र में 'जसो' ऐसा उल्लेख

करना पड़ा है। जैसेः-अग्नीन् (अथवा) वायून् पश्यति=अग्गि (अथवा) अग्गिणो (और) वाऊ (अथवा) वाउणो पेच्छइ अर्थात् वह अग्नियों को (अथवा) वायुओं को देखता है। इन उदाहरणों में द्वितीया विभक्ति बोधक प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति का अभाव प्रदर्शित करते हुए यह प्रतिबोध कराया गया है कि 'अउ' और 'अओ' आदेश प्राप्ति केवल 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर ही होती है; न कि 'शस्' आदि अन्य प्रत्ययों के स्थान पर।

प्रश्नः इस सूत्र की वृत्ति में आदि में 'इकारान्त' और 'उकारान्त जैसे शब्दों के उल्लेख करने का क्या तात्पर्य--विशेष है ?

उत्तरः—'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति 'इकारान्त' और 'उकारान्त' शब्दों के अतिरिक्त 'अकारान्त' आदि अन्य शब्दों में भी होती है; अतः सूत्र-संख्या ३-२० से 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर होने वाली 'अउ' और 'अओ' आदेश-प्राप्ति केवल इकारान्त और उकारान्त शब्दों में ही होती है। अकारान्त आदि शब्दों में नहीं हुआ करती है। ऐसी विशेषता प्रकट करने के लिये ही वृत्ति के प्रारम्भ में 'इकारान्त' और 'उकारान्त पद की संयोजना करनी पड़ी है। जैसेः-वृक्षाः=वच्छा। इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि जैसे-अग्गउ और अग्गओ तथा वायउ और वायओ रूप बनते हैं; वैसे 'वच्छउ' और वच्छओ' रूप प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नहीं बन सकते हैं। इस प्रकार इस सूत्र में और वृत्ति में लिखित 'पुंसि'; 'जसो' और 'इदुतः' पदों की विशेषता जाननी चाहिये।

अग्नयः संस्कृत प्रथमा रूप है। इसके प्राकृत रूप अग्गउ, अग्गओ और अग्गिणो होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या २-७८ से 'न्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'न्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ग्' को द्वित्व 'ग्ग्' की प्राप्ति; ३-२० से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डउ' और 'डओ' आदेश--प्राप्ति; आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'डउ' और 'डओ' में हलन्त 'ड्' इत्संज्ञक; तदनुसार प्राप्त रूप 'अग्गि' में से अन्त्य स्वर 'इ' की इत्संज्ञा होकर लोप एवं अंत में ३-२० से प्राप्त प्रत्यय 'अउ' और 'अओ' की अग्ग' में संयोजना होकर क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से दोनों रूप *अग्गउ* और *अग्गओ* सिद्ध हो जाते हैं।

अग्गिणो रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-८७ में की गई है।

वायवः—संस्कृत प्रथमान्त रूप है। इसके प्राकृत रूप वायउ, वायओ और वाउणो होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या ३-२० से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति बोधक प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अस' के स्थान पर प्राकृत में 'डउ' और 'डओ' प्रत्ययों की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति; आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'डउ' और 'डओ' में स्थित 'ड' इत्संज्ञक होने से मूल शब्द 'वायु' में स्थित अन्त्य स्वर 'उ' की इत्संज्ञा होकर लोप एवं तत्पश्चात शेष रहे हुए 'वाय्' रूप में क्रम से 'अउ' और 'अओ' प्रत्ययों की

संयोजना होकर प्रथम के दो रूप क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से *'वायउ'* और *'वायओ'* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय रूप (वायवः =) वाउणो में सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' का लोप और ३-२२ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होकर तृतीय रूप *'वाउणो'* सिद्ध हो जाता है।

अग्नयः—संस्कृत प्रथमान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप अग्गी होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'न्' का लोप; २-८९ से शेष 'ग्' को द्वित्व 'ग्ग' की प्राप्ति, ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्' का लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त प्रत्यय 'जस' के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर प्रथमान्त रूप *अग्गी* सिद्ध हो जाता है।

वायवः—संस्कृत प्रथमान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप वाऊ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' का लोप; ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्' का लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त प्रत्यय 'जस' के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथमान्त रूप *वाऊ* सिद्ध हो जाता है।

बुद्धयः— संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धीओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२७ से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घता की प्राप्ति के साथ 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *बुद्धीओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेनवः—संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणूओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' को 'ण्' की प्राप्ति और ३-२७ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति वाचक प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति के साथ 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *धेणूओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

दधीनि संस्कृत प्रथमान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप दहीइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२६ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नपुंसक लिंग में संस्कृत प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप अन्त्य स्वर की दीर्घता पूर्वक 'नि' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य स्वर की दीर्घता के साथ 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दहीइं* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधूनि संस्कृत प्रथमान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप महूइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२६ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नपुंसक लिंग में संस्कृत प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अन्त्य स्वर की दीर्घता पूर्वक 'नि' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य स्वर की दीर्घता के साथ 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *महूइं* रूप सिद्ध हो जाता है।

अग्नीन् संस्कृत द्वितीयान्त रूप है। इसके प्राकृत रूप अग्गी और अग्गिणो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७८ से 'न्' का लोप; २-८९ से शेष 'ग्' को द्वित्व 'ग्ग्' की प्राप्ति; ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' की प्राप्ति होकर लोप; और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त प्रत्यय 'शस्' के कारणों से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर *अग्गी* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(अग्नीन्=) अग्गिणो में 'अग्गि' तक की साधनिका उपरोक्त रूप के समान; और ३-२२ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होकर द्वितीय रूप *अग्गिणो* भी सिद्ध हो जाता है।

वायून् संस्कृत द्वितीयान्त रूप है। इसके प्राकृत रूप वाऊ और वाउणो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या-२-७८ से 'य्' का लोप; ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थानीय रूप 'अन्त्य स्वर की दीर्घता पूर्वक' 'न्' की प्राप्ति होकर लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त प्रत्यय 'शस्' के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *वाऊ* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (वायून्=) वाउणो में २-७८ से 'य्' का लोप और ३-२२ से शेष रूप 'वाउ' में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होकर द्वितीय रूप *वाउणो* भी सिद्ध हो जाता है।

वच्छा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है ॥३-२०॥

वो तो डवो ॥३-२१॥

उदन्तात्परस्य जसः पुंसि डित् अवो इत्यादेशो वा भवति ॥ साहवो । पक्षे । साहओ । साहउ । साहू । साहुणो ॥ उत इति किम् । वच्छा ॥ पुंसीत्येव । धेणू । महूइं ॥ जस इत्येव । साहूणो पेच्छ ॥

अर्थः—प्राकृतीय उकारान्त पुल्लिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'डवो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'डवो' में 'ड्' इत्संज्ञक होने से शेष प्राप्त प्रत्यय 'अवो' के पूर्व में उकारान्त शब्दों में अन्त्य स्वर 'उ' की इत्संज्ञा होकर इस 'उ' का लोप हो जाता है एवं तत्पश्चात् 'अवो' प्रत्यय की संयोजना होती है। जैसेः— साधवः=साहवो। वैकल्पिक पक्ष होने से सूत्र-संख्या ३-२० से (साधवः=) साहओ और साहउ रूप भी होते हैं। सूत्र संख्या ३-४ से (साधवः=) साहू रूप भी होता है; इसी प्रकार से सूत्र संख्या ३-२२ से (साधवः=) साहूणो रूप भी होता है। यों प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'साहु' के पाँच रूप हो जाते हैं जो कि इस प्रकार है —(साधवः=) साहवो, साहओ, साहउ, साहू और साहुणो ॥

प्रश्नः—'उकारान्त' शब्दों में ही प्रथमा बहुवचन में 'अवो' आदेश की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—क्योंकि 'अकारान्त' अथवा 'इकारान्त' में प्रथमा बहुवचन में 'अवो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की उपलब्धि नहीं है एवं केवल 'उकारान्त' में ही 'अवो' प्रत्यय की उपलब्धि है; अतएव ऐसा विधान बनाना पड़ा है कि केवल प्राकृतीय उकारान्त शब्दों में ही प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'अवो' आदेश प्राप्त प्रत्यय विशेष होता है। जैसे.-वृक्षान्=वच्छा। यों वच्छवो' रूप का अभाव सिद्ध होता है।

प्रश्नः—'उकारान्त पुल्लिंग' में ही 'अवो' प्रत्यय अधिक होता है; ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

उत्तर—उकारान्त स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग वाले भी शब्द होते हैं; ऐसे शब्द उकारान्त होते हुए भी इनमें 'पुल्लिंगत्व' का अभाव होने से 'अवो' प्रत्यय का इनके लिये भी अभाव होता है; ऐसा विशेष तात्पर्य बतलाने के लिये ही 'पुल्लिंगत्व' का विशेष विधान किया गया है। जैसे.—धेनवः=धेणू और मधूनि=महूइं। ये उदाहरण उकारान्तात्मक होते हुए भी पुल्लिंगात्मक नहीं होकर क्रम से स्त्रीलिंगात्मक और नपुंसक लिंगात्मक होने से इनमें 'अवो' प्रत्यय का अभाव जानना चाहिये।

प्रश्नः—प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर ही 'अवो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय वैकल्पिक रूप से होता है; ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

क्यों कि 'अवो' आदेश प्राप्त प्रत्यय केवल प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय के ा है; अन्य विभक्तियों के प्रत्ययों के स्थान पर 'अवो' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा प्रदर्शित करने के लिये ही 'जस्' का उल्लेख करना पड़ा है। जैसे.—साधून् पश्य=साहू (अथवा) साहुणो पेच्छ। इस उदाहरण में द्वितीया-विभक्ति के बहुवचन में शस्' प्रत्यय के स्थान पर 'अवो' आदेश प्राप्त प्रत्यय का अभाव प्रदर्शित हो रहा है, क्योंकि ऐसा विधान नहीं है। अतः यह प्रमाणित किया गया है कि 'अवो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय का विधान केवल प्रथमा बहुवचन में ही होता है; वह भी पुल्लिंग में ही और केवल उकारान्त में ही हो सकता है।

साधवः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप साहवो, साहओ, साहउ, साहू और साहुणो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति, तत्पश्चात् प्रथम रूप में सूत्र-संख्या-३-२१ से संस्कृतीय प्रथमान्त बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'डवो' आदेश-प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'डवो' में 'ड् इत्संज्ञक होने से 'साहु' में स्थित अन्त्य स्वर 'उ' की इत्संज्ञा होकर 'उ' का लोप एवं प्राप्त रूप 'साह्' में 'अवो' प्रत्यय की संयोजना होकर प्रथम रूप *साहवो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय और तृतीय रूप 'साहओ' एवं 'साहउ' में सूत्र-संख्या ३-२० से संस्कृतीय प्रथमान्त बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'डओ' और 'डउ' आदेश प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय

'डओ' और 'डउ' मे 'ड' इत्संज्ञक होने से 'साहु' में स्थित अन्त्य स्वर 'उ' की इत्संज्ञा होकर 'उ' का लोप एवं प्राप्त रूप 'साह्' में 'अओ' तथा 'अउ' प्रत्यय की संयोजना होकर द्वितीय और तृतीय रूप *साहओ* तथा *साहउ* भी क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से सिद्ध हो जाते हैं।

चतुर्थ रूप 'साहू' में सूत्र-संख्या ३-४ मे संस्कृतीय प्रथमान्त बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' की प्राप्ति होकर लोप तथा ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्' प्रत्यय के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर चतुर्थ प्रथमान्त बहुवचन रूप *साहू* भी सिद्ध हो जाता है।

पंचम रूप 'साहुणो' में सूत्र-संख्या ३-२२ से संस्कृतीय प्रथमान्त बहुवचन के प्रत्यय 'जस' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'णो' आदेश-प्राप्ति होकर पंचम रूप *साहुणो* भी सिद्ध हो जाता है।

"वच्छा" (प्रथमान्त बहु वचन) रूप की सिद्ध सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है।

धेनवः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप *धेणू* होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से मूल रूप 'धेनु' में स्थित 'न्' का 'ण'; ३-४ से प्रथमा विभक्त के बहु वचन मे प्राप्त संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्' प्रत्यय के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथमान्त बहुवचन रूप *धेणू* सिद्ध हो जाता है।

महूइं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

साधून् संस्कृत द्वितीयान्त रूप है। इसके प्राकृत रूप साहू और साहुणो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल रूप 'साधु' में स्थित 'ध्' के स्थान पर 'ह' को प्राप्ति; तपश्चात् प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' का लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त 'शस्' प्रत्यय के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर द्वितीयान्त बहुवचन रूप 'साहू' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप 'साहुणो' मे सूत्र-संख्या ३-२२ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन मे प्राप्त संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में पुल्लिग वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय को आदेश प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *साहुणो* सिद्ध हो जाता है।

पेच्छ (क्रिया पद के) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है ॥ ३-२१ ॥

जस्-शसोर्णो वा ॥ ३-२२ ॥

इदुतः परयो र्जस्-शसोः पुंसि णो इत्यादेशो भवति ॥ गिरिणो तरुणो रेहन्ति पेच्छ वा। पक्षे। गिरी। तरू ॥ पुंसीत्येव। दहीइं। महूइं ॥ जस्-शसो रिति किम्। गिरिं। तरुं ॥

इदुत इत्येव । वच्छा । वच्छे ॥ जस्-शसोरिति द्वित्वमिदुत इत्यनेन यथासङ्ख्या भावार्थम् । एवमुत्तरसूत्रे पि ॥

अर्थः—प्राकृतीय इकारान्त उकारान्त पुल्लिग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'णो' आदेश की प्राप्ति होती है। जैसे—गिरयः अथवा तरवः राजन्ते= गिरिणो अथवा तरुणो रेहन्ति अर्थात् पर्वत श्रेणियाँ अथवा वृक्ष-समूह सुशोभित होते हैं। इस उदाहरण में संस्कृतीय प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश की प्राप्ति हुई है। द्वितीया विभक्ति का उदाहरण इस प्रकार है—गिरीन् अथवा तरून् पश्य=गिरिणो अथवा तरुणो पेच्छ अर्थात् पर्वत-श्रेणियों को अथवा वृक्षों को देखो। इस उदाहरण में संस्कृतीय द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश की प्राप्ति हुई है। वैकल्पिक पक्ष होने से गिरयः और गिरीन् का प्राकृत रूपान्तर 'गिरी' भी होता है। इसी प्रकार से तरवः और तरून् का प्राकृत रूपान्तर 'तरू' भी होता है।

प्रश्नः—इकारान्त उकारान्त पुल्लिग शब्दों में ही 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—इकारान्त उकारान्त शब्द नपुंसक लिंग वाले और स्त्रीलिंग वाले भी होते हैं; ऐसे शब्दों में 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्ति नहीं हुआ करती है। जैसे—दधीनि=दहीइ और मधूनि=महूइ। इन नपुंसक लिंग वाले उदाहरणों में प्रथमा और द्वितीया में जस् तथा 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्ति नहीं होकर 'इ' आदेश-प्राप्ति हुई है। स्त्रीलिंग के उदाहरणः—बुद्धयः और बुद्धीः=बुद्धी तथा धेनवः और धेनूः=धेणू। इन इकारान्त और उकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों में प्रथमा और द्वितीया में 'जस्' तथा 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्ति नहीं होकर अन्त्य स्वर को ही आदेश रूप से दीर्घता की प्राप्ति हुई है। यों समझ लेना चाहिये कि केवल पुल्लिंग इकारान्त उकारान्त शब्दों में ही 'जस्' तथा 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है।

प्रश्नः—'जस्' और 'शस' ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है?

उत्तरः—इकारान्त उकारान्त पुल्लिग शब्दों के सभी विभक्तीय बहुवचनीय रूपों में से केवल प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचनीय रूपों में ही 'णो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है; अन्य किसी भी विभक्ति के बहुवचन में 'णो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा विशेषता पूर्वक तात्पर्य प्रदर्शित करने के लिये ही 'जस्' और 'शस' का नाम-निर्देश करना पड़ा है। जैसेः—गिरिम् अथवा तरुम्=गिरिं अथवा तरुं याने पहाड़ को अथवा वृक्ष को, इन उदाहरणों में द्वितीया विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय 'म्' प्राप्त हुआ है, न कि 'णो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय, अतएव सूत्र में

उल्लिखित 'जस्' और 'शस्' के उल्लेख का तात्पर्य समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—सूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में 'इकारान्त' और 'उकारान्त' कहने का क्या तात्पर्य है।

उत्तरः—प्राकृत में अकारान्त आदि शब्द भी होते हैं; परन्तु (इकारान्त और उकारान्त शब्दों) के अतिरिक्त) ऐसे शब्दों में 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश प्राप्त प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा विशेष तात्पर्य प्रदर्शित करने के लिये ही वृत्ति के प्रारम्भ में 'इकारान्त' और 'उकारान्त' जैसे शब्द-विशेषों को लिखना पड़ा है। जैसेः—वृक्षाः=वच्छा और वृक्षान्=वच्छे। यह उदाहरण अकारान्तात्मक है; तथा इसमें क्रम से 'जस्' और 'शस्' की प्राप्ति हुई है; परन्तु प्राप्त प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय का अभाव है; तदनुसार यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्राकृत में अकारान्त आदि शब्दों के अतिरिक्त केवल इकारान्त और उकारान्त पुल्लिंग शब्दों में ही 'जस्' तथा 'शस' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है; अन्य किसी भी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है।

मूल-सूत्र में 'जस्-शसो.' ऐसा जो द्वित्व रूपात्मक उल्लेख है; इसको यथा क्रम से 'इकारान्त' और 'उकारान्त' शब्दों मे संयोजित किया जाना चाहिये; दोनों का दोनों में क्रम स्थापित कर देना चाहिये। ऐसा 'यथा-संख्यात्मक' भाव प्रदर्शित करने के लिये ही 'द्वित्व' रूप से 'जस-शसोः' का उल्लेख किया गया है। यही परिपाटी आगे आने वाले सूत्र-संख्या ३-२३ के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये, जैसा कि ग्रंथकार ने वृत्ति में 'उत्तर-सूत्रेपि' पद का निर्माण करके अपने मन्तव्य को प्रदर्शित किया है।

गिरयः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप गिरिणो और गिरी होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-२२ से से प्रथमा-विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में णो' आदेश-प्राप्ति होकर *गिरिणो* रूप सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप में सूत्र-संख्या ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्' प्रत्यय के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *गिरि* भी सिद्ध हो जाता है।

तरवः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप तरुणो और तरू होते है। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-२२ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत मे 'णो' आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तरुणो* सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप में सूत्र-संख्या ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त प्रत्यय 'जस्' के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *तरू* भी सिद्ध हो जाता है।

राजन्ते संस्कृत अकर्मक क्रिया पद का बहुवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप रेहन्ति होता

है। इसमें सूत्र-संख्या-४-१०० से संस्कृतीय 'राज्' धातु के स्थान पर 'रेह्' आदेश; ४-२३९ से प्राकृत हलन्त धातुओं के विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, और ३-१४२ से वर्तमान काल के बहुवचन में प्रथम पुरुष में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रेहन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

गिरिणो (द्वितीयान्त बहुवचनान्त) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१८ में की गई है।

तरुणो (द्वितीयान्त बहुवचनान्त) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१८ में की गई है।

पेच्छ (क्रिया पद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

गिरी (द्वितीयान्त बहुवचनान्त) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१८ में की गई है।

तरू (द्वितीयान्त बहुवचनान्त) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१८ में की गई है।

दहीइं (प्रथमान्त बहुवचनान्त) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

महूइं (प्रथमान्त बहुवचनान्त) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

गिरिं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

तरुं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१६ में की गई है।

पच्छा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है।

पच्छे रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है ॥३-२२॥

ङसि-ङसोः पुं-क्लीवे वा ॥ ३-२३ ॥

पुंसि क्लीवे च वर्तमानादिदुतः परयो ङसि ङसोर्णो वा भवति ॥ गिरिणो । तरुणो । दहिणो । महुणो आगओ विआरो वा । पक्षे । ङसेः । गिरीओ । गिरीउ । गिरीहिन्तो । तरूओ । तरूउ । तरूहिन्तो ॥ हिलुकौ निषेत्स्येते ॥ ङसः । गिरिस्स । तरुस्स ॥ ङसि ङसो रिति किम् । गिरिणा । तरुणा कयं ॥ पुंक्लीव इति किम् ! बुद्धीअ । धेणूअ लद्धं समिद्धि वा ॥ इदुत इत्येव । कमलाओ । कमलस्स ।

अर्थः—प्राकृतीय इकारान्त उकारान्त पुल्लिग और नपुंसक लिंग शब्दों में पंचमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से (प्राकृत में) 'णो' आदेश की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से इन्हीं प्राकृतीय इकारान्त उकारान्त पुल्लिग और नपुंसक लिंग शब्दों में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय-प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर भी वैकल्पिक रूप से (प्राकृत में) 'णो' आदेश की प्राप्ति होती है। पुल्लिग वाले इकारान्त

अथवा उकारान्त के पंचमी विभक्ति के एक वचन का उदाहरणः—गिरेः अथवा तरोः आगतः=गिरिणो अथवा तरुणो आगओ पहाड़ से अथवा वृक्ष से आया हुआ है। इकारान्त अथवा उकारान्त के पुल्लिग में षष्ठी विभक्ति के एक वचन का उदाहरणः—गिरेः अथवा तरोः विकारः=गिरिणो अथवा तरोः विकारः=गिरिणो अथवा तरुणो विआरो अर्थात् पहाड़ का अथवा वृक्ष का विकार है। नपुंसक लिंग वाले इकारान्त अथवा उकारान्त के पंचमी विभक्ति के एक वचन का उदाहरण.—दध्नः अथवा मधुनः आगतः=दहिणो अथवा महुणो आगओ अर्थात् दही से अथवा मधु से आया हुआ (प्राप्त हुआ) है। इसी प्रकार से नपुंसक लिंग वाले इकारान्त अथवा उकारान्त के षष्ठी विभक्ति के एक वचन का उदाहरणः—दध्नः अथवा मधुन. विकारः=दहिणो अथवा महुणो विआरो अर्थात् दही का अथवा मधु का विकार है। इन उदाहरणों में पुल्लिग मे एवं नपुंसक लिंग में पंचमी विभक्ति के एक वचन में और षष्ठी विभक्ति के एक वचन मे 'णो' प्रत्यय की आदेश--प्राप्ति हुई है।

वैकल्पिक पक्ष होने से पंचमी विभक्ति के एक वचन में इकारान्त में सूत्र-संख्या ३-८ से 'गिरीओ, गिरीउ और गिरीहिन्तो' रूप भी होते हैं। उकारान्त में भी पंचमी विभक्ति के एक वचन में सूत्र-संख्या ३-८ से 'तरूओ, तरूउ और तरूहिन्तो' रूप होते हैं। सूत्र संख्या ३-८ से प्राप्त होने वाले प्रत्यय 'हि' और 'लुक्' का सूत्र-संख्या ३-१२६ और ३-१२७ में निषेध किया जायगा; तदनुसार इकारान्त उकारान्त में पंचमी विभक्ति के एक वचन में 'हि' और 'लुक्' प्रत्यय का अभाव जानना।

षष्ठी विभक्ति के एक वचन में भी इकारान्त और उकारान्त में उपरोक्त 'णो' आदेश प्राप्त प्रत्यय की स्थिति वैकल्पिक होने से सूत्र-संख्या ३-१० से संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—गिरेः = गिरिस्स अर्थात् पहाड़ का और तरोः = तरुस्स अर्थात् वृक्ष का।

प्रश्नः—इकारान्त अथवा उकारान्त पुल्लिग और नपुंसक लिंग वाले शब्दों में पंचमी विभक्ति और षष्ठी विभक्ति के एक वचन में क्रम से प्राप्त संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान पर 'णो' प्रत्यय होती है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—इकारान्त अथवा उकारान्त में पंचमी विभक्ति के एक वचन के अतिरिक्त और षष्ठी विभक्ति के एक वचन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विभक्ति के एक वचन में प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं हुआ करती है; इसीलिये 'ङसि' और 'ङस्' का उल्लेख करना पड़ा है। जैसेः—गिरिणा अथवा तरुणा कृतम्=गिरिणा अथवा तरुणा कयं अर्थात् पहाड़ से अथवा वृक्ष से किया हुआ है। इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि पंचमी अथवा षष्ठी विभक्ति के एक वचन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विभक्ति के एक वचन मे इकारान्त और उकारान्त शब्दो में 'णो' प्रत्यय का अभाव ही होता है।

प्रश्नः—पुल्लिग अथवा नपुंसक लिंग वाले इकारान्त और उकारान्त शब्दों मे 'ङसि' और

'ङसे' के स्थान पर 'णो' आदेश प्राप्ति होती है; ऐसे इस विधान में 'पुल्लिंगत्व' का और नपुंसक-लिंगत्व का कथन क्यों किया गया है ?

उत्तरः-इकारान्त और उकारान्त शब्दों में 'स्त्रीलिंग' वाले शब्दों का भी अन्तर्भाव होता है; किन्तु ऐसे 'स्त्रीलिंग' वाले इकारान्त और उकारान्त शब्दों में 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान पर 'णो' की प्राप्ति नहीं होती है; अतएव इन स्त्रीलिंग वाले शब्दों के लिये 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान पर 'णो' आदेश प्राप्त प्रत्यय का अभाव प्रदर्शित करने के लिये 'पुल्लिंग और नपुंसक लिंग' जैसे शब्दों का उल्लेख करना पड़ा है। 'स्त्र लिंग' से संबंधित उदाहरण इस प्रकार हैं:—पंचमी विभक्ति के एक वचन का दृष्टान्तः—बुद्धया· अथवा धेन्वाः लब्धम्=बुद्धीअ अथवा धेणूअ लद्ध अर्थात् बुद्धि से अथवा गाय से प्राप्त हुआ है। षष्ठी विभक्ति के एक वचन का दृष्टान्तः—बुद्धयाः अथवा धेन्वाः समृद्धिः=बुद्धीअ अथवा धेणूअ समिद्धी अर्थात् बुद्धि की अथवा गाय की समृद्धि है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि इकारान्त और उकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों में 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान पर 'णो' आदेश प्राप्त प्रत्यय का अभाव होता है।

प्रश्नः—'इकारान्त' और 'उकारान्त' ऐसे शब्दों का उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः—इकारान्त और उकारान्त के अतिरिक्त आकारान्त तथा अकारान्त शब्द भी होते हैं; इनमें भी 'ङसि' और 'ङस्' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है, परन्तु जैसे इकारान्त और उकारान्त में 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान पर 'णो प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है, वैसी 'णो' आदेश-प्राप्ति 'आकारान्त और 'अकारान्त' में नहीं होती है, ऐसा भेद प्रदर्शित करने के लिये ही वृत्ति में 'इकारान्त' और 'उकारान्त' जैसे शब्दों का उल्लेख करना पड़ा है। जैसे-कमलायाः=कमलाओ अर्थात् लक्ष्मी से और कमलस्य=कमलस्स अर्थात् कमल का। इन उदाहरणों में 'ङसि' और 'ङस्' प्रत्ययों की प्राप्ति हुई है परन्तु ऐसा होने पर भी प्राप्त प्रत्ययों 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्ति नहीं हुई है। इस प्रकार इकारान्त और उकारान्त शब्दों में ही 'ङसि' एवं ङस्' के स्थान पर 'णो' आदेश-प्राप्ति होती है, ऐसा विधान सिद्ध हुआ।

गिरेः संस्कृत एक वचनात्मक पंचम्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरिणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२३ से मूल शब्द 'गिरि' में संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश-प्राप्ति होकर *गिरिणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरोः संस्कृत एक वचनान्त पंचम्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप तरुणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२३ से मूल शब्द 'तरु' में संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश-प्राप्ति होकर *तरुणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

दध्नः संस्कृत एक वचनान्त पंचम्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप दहिणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल शब्द 'दधि' में स्थित 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति; और ३-२३ से प्राप्त रूप 'दहि' मे संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में णो' आदेश-प्राप्ति होकर *दहिणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुनः संस्कृत एक वचनान्त पंचम्यन्त रूप है। इसका प्राकृत रूप महुणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२३ से प्राप्त रूप 'महु' में संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश--प्राप्ति होकर *महुणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

आगओ रूप की सिद्धि सूत्र--संख्या *१-२०९* में की गई है।

विकारः संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप विआरो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'क्' का लोप और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप विसर्ग के स्थान पर 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *विआरो* रूप सिद्ध हो जाता है।

गिरेः संस्कृत एक वचनान्त पंचम्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप गिरीओ, गिरीउ और गिरीहिन्तो होते हैं। इनमे सूत्र-संख्या ३-१२ से मूल शब्द 'गिरि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-८ से संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'दो=ओ', 'दु=उ' और 'हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से तीनों रूप *गिरीओ, गिरीउ* और *गिरीहिन्तो* सिद्ध हो जाते हैं।

तरोः संस्कृत एक वचनान्त पंचम्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप तरूओ, तरूउ और तरूहिन्तो होते हैं। इनमें सूत्र- संख्या ३-१२ से मूल शब्द 'तरु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति और ३-८ से संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत मे क्रम से 'दो=ओ'; 'दु=उ' और 'हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से तीनों रूप *तरूओ, तरूउ* और *तरूहिन्तो* सिद्ध हो जाते हैं।

गिरेः संस्कृत एक वचनान्त षष्ठ्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप गिरिणो और गिरिस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-२३ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस् के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *गिरिणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (गिरेः=) गिरिस्स में सूत्र-संख्या ३-१० से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *गिरिस्स* सिद्ध हो जाता है।

तरो. संस्कृत एकवचनान्त षष्ठ्यन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप तरुणो और तरुस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-२३ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तरुणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(तरोः=) तरुस्स में सूत्र-संख्या ३-१० से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *तरुस्स* सिद्ध हो जाता है।

गिरिणा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप (भी) गिरिणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'णा' के स्थान पर प्राकृत में भी 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गिरिणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरुणा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप (भी) तरुणा ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२४ से संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'णा' के स्थान पर प्राकृत में भी 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *तरुणा* रूप भी सिद्ध हो जाता है।

कय रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है।

बुद्ध्या. संस्कृत पंचमी विभक्ति के एक वचन का और षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप बुद्धीअ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-३-२९ से संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्=आस' के स्थान पर और षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्=आस्' के स्थान पर प्राकृत में मूल रूप 'बुद्धि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ 'ई' की प्राप्ति करते हुए 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर (दोनों विभक्तियों में *बुद्धीअ* रूप सिद्ध हो जाता है।

धेन्वा· संस्कृत पंचमी विभक्ति के एक वचन का और षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणूअ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १--२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति और ३-२९ से संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्'='आस्' के स्थान पर और संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्' आस्' के स्थान पर प्राकृत में मूल रूप धेणु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति करते हुए' 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर (दोनों विभक्तियों) में *धेणूअ* रूप सिद्ध हो जाता है।

लब्धम् संस्कृत विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप लद्धं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'ब्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'ब्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ध्' को द्वित्व 'ध् ध्' की प्राप्ति; २-९० से

प्राप्त पूर्व 'ध' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन मे अकारान्त नपुंसक लिंग में संस्कृतीय-प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'म्' की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त 'म्' का अनुस्वार होकर प्राकृत रूप लद्धं सिद्ध हो जाता है।

समिद्धी रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४४ में की गई है।

कमलायाः संस्कृत पंचमी विभक्ति के एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप कमलाओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-८ से पंचमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'ङसि' के स्थानीय रूप 'अस्=याः' के स्थान पर प्राकृत मे 'दो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *कमलाओ* सिद्ध हो जाता है।

कमलस्य संस्कृत षष्ठयन्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप कमलस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप-'अस्=स्य' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *कमलस्स* सिद्ध हो जाता है॥ ३-२३॥

टो णा ॥३-२४॥

पुंक्लीबे वर्तमानादिदुतः परस्स टा इत्यस्य णा भवति॥ गिरिणा। गामणिणा। खलपुणा। तरुणा। दहिणा। महुणा॥ ट इति किम्। गिरी। तरू। दहिं। महुं॥ पुंक्लीब इत्येव। बुद्धीअ। धेणूअ कयं॥ इदुत इत्येव। कमलेण॥

अर्थः—प्राकृतीय इकारान्त उकारान्त पुल्लिग और नपुंसक लिंग वाचक शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। जैसे:—गिरिणा = गिरिणा अर्थात् पर्वत से; ग्रामण्या = गामणिणा=ग्राम के स्वामी से; अथवा नाई से; खलप्वा=खलपुणा अर्थात् झाडु देने वाले पुरुष से; तरुणा-तरुणा अर्थात् वृक्ष से; दध्ना=दहिणा अर्थात् दही से और मधुना=महुणा अर्थात् मधु से। इन उदाहरणों मे तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है।

प्रश्नः—तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्त संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर ही 'णा' होता है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—तृतीया विभक्ति के एक वचन के अतिरिक्त किसी भी विभक्ति के किसी भी वचन के प्रत्ययों के स्थान पर 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा प्रदर्शित करने के लिये ही लिखा गया है कि 'टा' प्रत्यय के स्थान पर 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। जैसे:—गिरिः=गिरी अर्थात् पहाड़; तरुः= तरू अर्थात् वृक्ष; दधि=दहिं अर्थात् दही और मधु=महुं अर्थात् मधु। इन उदाहरणों में 'णा' प्रत्यय का

अभाव प्रदर्शित करके यह सिद्ध किया गया है कि 'णा' प्रत्यय केवल तृतीया विभक्ति के एक वचन में ही प्राप्त होता है; न कि किसी अन्य विभक्ति में।

प्रश्नः— पुल्लिग और नपुंसक लिंग' ऐसे शब्दों का उल्लेख क्यों किया गया है?

उत्तरः—इकारान्त और उकारान्त शब्द स्त्रीलिंग वाचक भी होते हैं परन्तु उन इकारान्त और उकारान्त स्त्रीलिंग वाचक शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन में'टा'प्रत्यय की प्राप्ति होने पर भी इस प्राप्तव्य 'टा' प्रत्यय के स्थान पर'णा'की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; अतः 'टा' के स्थान पर'णा'आदेश-प्राप्ति केवल पुल्लिग और नपुंसकलिंग वाले शब्दों में ही होती है; यह बतलाने के लिये ही पुल्लिग और नपुंसक लिंग जैसे शब्दों का सूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में प्रयोग किया गया है। जैसे:-बुद्धया=बुद्धीअ बुद्धि से धेन्वा कृतम्=धेणूअ कयं अर्थात् गाय से किया हुआ है। इन उदाहरणों में तृतीया विभक्ति के एक वचन का 'टा' प्रत्यय प्राप्त हुआ है; परन्तु 'टा' के स्थान पर 'णा' नहीं होकर सूत्र-संख्या ३-२९ से 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है; यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—'इकारान्त और उकारान्त' ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है?

उत्तरः—इसमें ऐसा कारण है कि प्राकृत में अकारान्त तथा आकारान्त आदि शब्द भी होते हैं; परन्तु उनमें भी 'टा' के स्थान पर 'णा' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; अतः इकारान्त और उकारान्त जैसे शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। जैसे:—कमलेन=कमलेण अर्थात् कमल से।

गिरिणा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२३ में की गई है।

ग्रामण्या संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप गामणिणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; ३-४३ से मूल शब्द 'ग्रामणी' में स्थित दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर प्राकृत में ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति और ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'आ' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गामणिणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

खलप्वा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत-रूप खलपुणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-४३ से मूल शब्द 'खलपू' में स्थित दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर प्राकृत में ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति और ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'आ' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *खलपुणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

तरुणा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२३ में की गई है।

दध्ना संस्कृत तृतीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत-रूप दहिणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल-शब्द 'दधि' में स्थित 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२४ से तृतीया



विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'आ' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *दहिणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुना संस्कृत तृतीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप महुणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या-१-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एक वचन मे संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'ना' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *महुणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

गिरी रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१९ में की गई है।

तरू रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१९ में की गई है।

दहिं रूप की सिध्दि सूत्र-संख्या ३-१९ में की गई है।

महुं रूप की सिध्दि सूत्र-संख्या ३-१९ में की गई है।

बुद्धया संस्कृत तृतीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप बुध्दीअ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२९ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'आ' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीघ स्वर 'ई' की प्राप्ति करते हुए 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *बुद्धीअ* रूप सिध्द हो जाता है।

धेन्वा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप धेणूअ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से मूल रूप 'धेनु' में स्थित 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति और ३-२९ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थानीय रूप 'आ' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' की दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति करते हुए 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *धेणूअ* रूप सिध्द हो जाता है।

कयं रूप की सिध्दि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है।

कमलेन संस्कृत तृतीयान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप कमलेण होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-६ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१४ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्व में स्थित शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर कमलेण रूप सिध्द हो जाता है ॥३-२४॥

क्लीवे स्वरान्म् सेः ॥ ३-२५ ॥

क्लीबे वर्तमानात् स्वरान्तान्नाम्नः सेः स्थाने म् भवति ॥ वणं। पेम्मं। दहिं। महुं ॥

दहि महु इति तु सिद्धापेक्षया ॥ केचिदनुनासिकमपीच्छन्ति । दहिँ । महुँ ॥ क्लीब इति किम् । बालो । बाला ! स्वरादिति इदुतोऽनिवृत्त्यर्थम् ॥

अर्थ.—प्राकृतीय नपुंसक लिंग वाले स्वरान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। जैसेः—वनम्=वणं। प्रेम=पेम्मं। दधिम्=दहिं। मधु=महुं ॥

संस्कृत इकारान्त उकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'म्' का लोप हो जाता है; तदनुसार प्राकृत में भी इकारान्त उकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में सूत्र-संख्या ३-२५ से प्राप्त होने वाले प्रत्यय 'म' का भी वैकल्पिक रूप से लोप हो जाया करता है। जैसे·—दधि=दहि और मधु=महु। इन रूपों की स्थिति संस्कृत में सिद्ध रूपों की अपेक्षा से जानना। कोई कोई आचार्य प्राकृत में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में नपुंसक लिंग में प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुनासिक की भी प्राप्ति भी स्वीकार करते हैं; तदनुसार उनके मत से 'दधि' का प्राकृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप 'दहिँ' भी होता है। इसी प्रकार से 'मधु' का 'महुँ' जानना।

प्रश्नः—मूल-सूत्र में 'क्लीवे' अर्थात् 'नपुंसक में' ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः—इसका कारण यह है कि प्राकृतीय पुल्लिंग और स्त्रीलिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है; 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति केवल नपुंसक लिंग वाले शब्दों में ही जानना; ऐसा निश्चित विधान करने के लिये ही मूल-सूत्र में 'क्लीवे' पद का उल्लेख करना पड़ा है। जैसेः—बालः=बालो अर्थात् बालक और बाला=बाला अर्थात् लड़की। ये उदाहरण क्रम से पुल्लिंग रूप और स्त्रीलिंग रूप हैं; इनमें प्रथमान्त एक वचन में 'म्' प्रत्यय का अभाव प्रदर्शित करते हुए यह बतलाया गया है कि प्रथमान्त एक वचन में नपुंसक लिंग में ही 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। अन्य लिंगों में नहीं।

प्रश्नः—मूल सूत्र में 'स्वरात्' शब्द के उल्लेख करने का विशेष तात्पर्य क्या है ?

उत्तरः—संस्कृत में अकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों में ही प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है और अन्य इकारान्त उकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों में इस प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप 'म्' का लोप हो जाता है; परन्तु प्राकृत में ऐसा नहीं होता है; अतएव प्राकृतीय अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त सभी शब्दों में नपुंसक लिंगात्मक स्थिति में संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। ऐसी विशेषता बतलाने के लिये ही मूल-सूत्र में 'स्वरात्' पद का उल्लेख किया गया है। जो कि 'अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त' का द्योतक है। यों प्रयुक्त शब्दों की विशेषता जान लेनी चाहिये।

वणं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१७७ में की गई है।

पेम्मं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-९८ में की गई है।

दहिं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१९ में की गई है।

महुं रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१९ में की गई है।

दधि संस्कृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप दहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय रूप वत् प्राप्त प्रत्यय 'सि' का लोप होकर *दहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधु संस्कृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप महु होता है। इसकी साधनिका उपरोक्त 'दहि' के समान ही होकर *महु* रूप सिद्ध हो जाता है।

दधि संस्कृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप है। इसका 'आर्ष' प्राकृत रूप दहिँ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२५ की वृत्ति से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में आर्ष-प्राकृत में 'अनुनासिक' की प्राप्ति होकर 'दहिँ' रूप सिद्ध हो जाता है।

मधु संस्कृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप है। इसका 'आर्ष' प्राकृत रूप महुं होता है। इसकी साधनिका उपरोक्त 'दहिँ' के समान ही होकर *महुँ* रूप सिद्ध हो जाता है।

वालः संस्कृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप बालो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वालो* रूप सिद्ध हो जाता है।

वाला संस्कृत प्रथमान्त एक वचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप भी बाला ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-४४८ से प्रथमा-विभक्ति के एक वचन में स्त्रीलिंग में संस्कृतीय प्रत्यय सि=स्' की प्राप्ति और १-११ से प्राप्त हलन्त व्यञ्जन 'स्' का लोप होकर प्रथमान्त एक वचन रूप स्त्रीलिंग-पद *वाला* सिद्ध हो जाता है॥ ३-२५॥

जस्-शस्-इँ-इं णयः सप्राग्दीर्घाः ॥ ३-२६ ॥

क्लीबे वर्तमानान्नाम्नः परयोर्जस्-शसोः स्थाने सानुनासिक-सानुस्वाराविकारौ णिश्चादेशा भवन्ति सप्राग्दीर्घाः। एषु सत्सु पूर्व स्वरस्य दीर्घत्वं विधीयते इत्यर्थः॥ इँ। जाइँ वयणाइँ अम्हे॥ इं। उम्मीलन्ति पङ्कयाइं चिट्ठन्ति पेच्छ वा। दहीइं हुन्ति जेम वा। महूइं मुञ्च वा॥ णि। फुल्लन्ति पङ्कयाणि गेगह वा। हुन्ति दहीणि जेम वा। एवं महूणि॥ क्लीब इत्येव। वच्छा। वच्छे॥ जस्-शस् इति किम्। सुहं॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा के अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में क्रम से अनुनासिक सहित 'इँ' प्रत्यय अनुस्वार सहित 'इं' प्रत्यय और 'णि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। क्रम से प्राप्त होने वाले इन इँ, इं और 'णि' प्रत्ययों के पूर्वस्थ शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर को नियमित रूप से 'दीर्घत्व' की प्राप्ति होती है। अर्थात् शब्दान्त्य स्वर को दीर्घ करने के पश्चात् ही इन प्राप्त होने वाले प्रत्ययों 'इँ, इं णि' में से कोई सा भी एक प्रत्यय संयोजित कर दिया जाता है और ऐसा कर देने पर प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का अथवा द्वितीया-विभक्ति के बहुवचन का अर्थ प्रकट हो जाता है। जैसे.-'इँ' का उदाहरणः—यानि वचनानि अस्माकम्=जाइँ वयणाइँ अम्हं अर्थात् (प्रथमा में) हमारे जो वचन हैं अथवा (द्वितीया में) हमारे जिन वचनों को। 'इं' का उदाहरणः-उन्मीलन्ति पङ्कजानि=उम्मीलन्ति पङ्कयाइं अर्थात् कमल खिलते हैं; पङ्कजानि तिष्ठन्ति=पङ्कयाइं चिट्ठन्ति अर्थात् कमल विद्यमान हैं। पङ्कजानि पश्य=पङ्कयाइं पेच्छ अर्थात् कमलों को देखो। दधीनि भवन्ति (अथवा सन्ति)=दहीइं हुन्ति अर्थात् दही है। दधीनि भुङ्क्ष्व=दहीइं जेम अर्थात् दही को खाओ। मधूनि मुञ्च अर्थात् शहद को छोड़ दो-(रहने दो-मत खाओ)। 'णि' का उदाहरणः-फुल्लन्ति पङ्कजानि=फुल्लन्ति पङ्कयाणि अर्थात् कमल खिलते हैं। पङ्कजानि गृहाण=पङ्कयाणि गेण्ह अर्थात् कमलों को ग्रहण करो। दधीनि भवन्ति=दहीणि हुन्ति अर्थात् दही है। दधीनि भुङ्क्ष्व=दहीणि जेम अर्थात् दही को खाओ। मधूनि भुङ्क्ष्व=महूणि जेम अर्थात् शहद को खाओ इन उदाहरणों में क्रम से 'इँ, इं और णि' प्रत्ययों का प्रयोग बतलाया गया है।

प्रश्न.—सूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में 'क्लीबे' अर्थात् 'नपुंसक लिंग में' ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है?

उत्तरः जो प्राकृत-शब्द नपुंसक लिंग वाले नहीं होकर पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग वाले हैं; उन शब्दों में 'जस्'-अथवा शस्' के स्थान पर 'इँ, इं और णि' प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् केवल नपुंसक लिंग वाले शब्दों में ही इन 'इँ, इं और णि' प्रत्ययों की प्राप्ति हुआ करती है, यह 'अर्थ-पूर्ण-विधान' प्रस्थापित करने के लिये ही सूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में 'क्लीबे' शब्द का उल्लेख करना पड़ा है। जैसे.—वृक्षाः=वच्छा और वृक्षान्=वच्छे, ये उदाहरण क्रम से प्रथमान्त बहुवचन वाले और द्वितीयान्त बहुवचन वाले हैं; किन्तु इनका लिंग पुल्लिंग है, अतएव इनमें 'इँ, इं और णि' प्रत्ययों का अभाव है। यों इनकी पारस्परिक-विशेषता को जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—सूत्र के प्रारम्भ में 'जस्-शस्' ऐसे शब्दों को प्रयोग करने का क्या तात्पर्य-विशेष है?

उत्तरः—इसमें यह रहस्य रहा हुआ है कि प्राकृत-भाषा के नपुंसक लिंग वाले शब्दों में इँ, इं और णि' प्रत्ययों की प्राप्ति प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में ही और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में ही होती है, अन्य किसी भी विभक्ति के (संबोधन को छोड़कर) किसी भी वचन में इन 'इँ, इं और



णि' प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं होती है। यही तात्पर्य 'जस्-शस्' से प्रकट होता है और इसीलिये इन्हें 'सूत्र के प्रारम्भ में स्थान दिया गया है। जैसेः—सुखं=सुहं। इस उदाहरण में 'नपुंसक लिंगत्व' का सद्भाव है; परन्तु ऐसा होने पर भी इसमें प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का अभाव है और ऐसी 'अभावात्मक-स्थिति' होने से ही 'जस्-शस्' के स्थानीय प्रत्ययो का-याने 'इँ, इं और णि' प्रत्ययों का भी इस उदाहरण में अभाव है। यों यह उदाहरण प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के एक वचन का है; इस प्रकार 'सुखम्=सुहं' पद नपुंसक लिंग वाला है; प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति वाला है; परन्तु एक वचन वाला होने से इसमें 'इँ, इं और णि' प्रत्ययों में से किसी भी प्रत्यय की संयोजना नहीं हो सकती है। यही रहस्य-पूर्ण विशेषता 'जस्-शस्' को जानना।

यानि संस्कृत प्रथमा-द्वितीयान्त के बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप जाइँ होता है। इसमे सूत्र संख्या-१-२४५ से 'य्' के स्थान पर 'ज्' की प्राप्ति और ३-२६ से प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' अथवा 'शस्' के नपुंसक-लिंगात्मक स्थानीय प्रत्यय 'नि' के स्थान पर प्राकृत में 'इँ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *जाइँ* रूप सिद्ध हो जाता है।

वचनानि संस्कृत प्रथमा-द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप वयणाइँ होता है इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'च्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'च्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; १-२२८ से प्रथम 'न' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति और ३-२६ से प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' अथवा शस्' के नपुंसक-लिंगात्मक स्थानीय प्रत्यय 'नि' के स्थान पर प्राकृत मे शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीर्घ 'आ' की प्राप्ति करते हुए 'इँ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वयणाइँ* रूप सिद्ध हो जाता है।

अस्माकम् संस्कृत षष्ठयन्त बहुवचनात्मक सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप अम्हे होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११४ से संस्कृत सर्वनाम 'अस्मद्' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में 'आम्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर प्राप्त रूप 'अस्माकम्' के स्थान पर प्राकृत में 'अम्हे' रूप की आदेश प्राप्ति होकर *अम्हे* रूप सिद्ध हो जाता है।

उन्मीलन्ति संस्कृत अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप उम्मीलन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से प्रथम हलन्त 'न' व्यञ्जन का लोप; २-८९ से लोप हुए 'न्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'म्' को द्वित्व 'म्म्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'उम्मील्' में स्थित अन्त्य 'ल्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१४२ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के बहुवचन मे 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *उम्मीलन्ति* सिद्ध हो जाता है।

पङ्कजानि संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप पङ्कयाइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'आ' के स्थान पर 'या' की प्राप्ति; और

३-२६ से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' के नपुंसक लिंगात्मक स्थानीय रूप 'नि' के स्थान पर प्राकृत में 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पङ्कयाइं* रूप सिद्ध हो जाता है।

चिट्ठन्ति रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

पेच्छ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

वहीइं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

भवन्ति संस्कृत अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप हुन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-६१ से संस्कृत धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हु' आदेश, और ३-१४२ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *हुन्ति* सिद्ध हो जाता है।

भुन्क्ष संस्कृत आज्ञार्थक क्रिया पद का रूप है। इसका प्राकृत रूप जेम होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-११० से संस्कृत मूल धातु 'भुज्' के स्थान पर प्राकृत में 'जेम्' आदेश; ४-२३९ से प्राप्त प्राकृत धातु 'जेम्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१७५ से आज्ञार्थक लकार में द्वितीय पुरुष के एक वचन में प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्यय 'सु' का लोप होकर *जेम* रूप सिद्ध हो जाता है।

महूइं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

मुञ्च संस्कृत आज्ञार्थक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप मुञ्च होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१७५ से आज्ञार्थक लकार में द्वितीय-पुरुष के एक वचन में प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्यय 'सु' का लोप होकर *मुञ्च* रूप सिद्ध होता है।

वा अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६७ में की गई है।

फुल्लन्ति संस्कृत अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप फुल्लन्ति होता है। सूत्र-संख्या ४-२३९ से मूल प्राकृत-धातु 'फुल्ल्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ल्ल्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१४२ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *फुल्लन्ति* सिद्ध हो जाता है।

पङ्कजानि संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप पङ्कयाणि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'ज्' का लोप, १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात शेष रहे हुए 'आ' के स्थान पर 'या' की प्राप्ति और ३-२६ से प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' के नपुंसक लिंगात्मक स्थानीय रूप 'नि' के स्थान पर प्राकृत में 'णि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पङ्कयाणि* रूप सिद्ध हो जाता है।

गेण्ह रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१९७ में की गई है।

दधीनि:—संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप दहीणि होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत रूप 'दधि' में स्थित 'ध्' के स्थान पर प्राकृत में 'ह्' आदेश और ३-२६ से प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' के नपुंसक लिंगात्मक स्थानीय रूप 'नि' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति कराते हुए 'णि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *दहीणि* सिद्ध हो जाता है।

'हुन्ति':—रूप की सिद्धि *इसी सूत्र* में उपर की गई है।

'जेम':—रूप की सिद्धि *इसी सूत्र* में उपर की गई है।

मधूनि:—संस्कृत का रूप है। इसका प्राकृत रूप महूणि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत रूप 'मधु' में स्थित 'ध्' के स्थान पर प्राकृत में 'ह्' आदेश और ३-२६ से प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' के नपुंसक लिंगात्मक स्थानीय रूप 'नि' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति कराते हुए 'णि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *महूणि* सिद्ध हो जाता है।

वच्छा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-४* में की गई है।

वच्छे रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-४* में की गई है।

सुखम् संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप सुहं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ख' के स्थान पर 'ह' आदेश और ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अकारान्त नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' आदेश एवं १-२३ से प्राप्त 'म्' का अनुस्वार होकर सुहं रूप सिध्द जाता है। अथवा सूत्र-संख्या ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' का अनुस्वार होकर द्वितीया-विभक्ति के एक वचन में प्राकृतीय रूप सुहं सिध्द हो जाता है ॥ ३-२६ ॥

स्त्रियामुदोतौ वा ॥ ३-२७ ॥

स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परयोर्जस्-शसोः स्थाने प्रत्येकम् उत् ओत् इत्येतौ सप्राग्दीर्घौ वा भवतः ॥ वचन-भेदो यथा-संख्य निवृत्त्यर्थः ॥ मालाउ मालाओ। बुद्धीउ बुद्धीओ। सहीउ सहीओ। धेणूउ धेणूओ। वहूउ वहूओ। पक्षे। माला। बुद्धी। सही। धेणू। वहू ॥ स्त्रियामिति किम्। वच्छा। जस्-शस इत्येव। मालाए कयं ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा के आकारान्त इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर—वैकल्पिक रूप से 'उत्=उ' और 'ओत्=ओ' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। अर्थात् प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में से प्रत्येक के बहुवचन में क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'उ' और 'ओ' ऐसे दो दो प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। साथ मे यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन 'उ' अथवा 'ओ' प्रत्ययों की प्राप्ति के पूर्व शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घ-स्वर की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् ह्रस्व इकारान्त को दीर्घ ईकारान्त की प्राप्ति होती है एवं ह्रस्व उकारान्त दीर्घ ऊकारान्त में परिणत हो जाता है। वृत्ति में 'प्रत्येकम्' शब्द को लिखने का यह तात्पर्य है कि स्त्रीलिंग वाले सभी शब्दों में और प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में-(दोनों विभक्तियों में) 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होती है। जैसे.—आकारान्त स्त्रीलिंग का उदाहरणः—मालाः=मालाउ और मालाओ; इकारान्त स्त्रीलिंग का उदाहरणः—बुद्धयः और बुद्धी'=बुद्धीउ और बुद्धीओ; ईकारान्त स्त्रीलिंग का उदाहरण'—सख्यः और सखीः=सहीउ और सहीओ; उकारान्त स्त्रीलिंग का उदाहरण—धेनवः और धेनूः=घेणूउ और घेणूओ, एवं ऊकारान्त स्त्रीलिंग का उदाहरणः—वध्वः और वधूः=वहूउ और वहूओ। वैकल्पिक पक्ष होने से इन्हीं उदाहरणों में क्रम से एक एक रूप इस प्रकार भी होता है.—माला, बुद्धी, सही, घेणू और वहू। ये रूप प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के जानना; यों स्त्रीलिंग वाले शब्दों में प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में रूपों की समानता तथा एक रूपता है।

प्रश्नः—सूत्र के प्रारम्भ में 'स्त्रियाम्' अर्थात् स्त्रीलिंग वाले शब्दों में' ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है?

उत्तरः—जो प्राकृत-शब्द स्त्रीलिंग वाले नहीं होकर-पुल्लिग वाले अथवा नपुंसक लिंग वाले हैं, उनमें प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' अथवा शस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की इनके स्थान पर आदेश-प्राप्ति नहीं होती है। 'उ' अथवा 'ओ' की आदेश-प्राप्ति केवल स्त्रीलिंग वाले शब्दों के लिये ही है; ऐसा स्पष्ट-विधान प्रस्थापित करने के लिये ही सूत्र के प्रारम्भ में 'स्त्रियाम्' जैसे शब्द को रखने की आवश्यकता हुई है। जैसे.—वृक्षाः=वच्छा और वृक्षान्=वच्छा। इन उदाहरणों से विदित होता है कि पुलिंग में 'जस् अथवा शस्' के स्थान पर 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है।

प्रश्नः—'जस्' अथवा शस्' ऐसा भी क्यों कहा गया है?

उत्तरः—स्त्रीलिंग वाले शब्दों में 'उ' और 'ओ' आदेश रूप प्रत्ययों की प्राप्ति 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर ही होती है, अन्य किसी भी विभक्ति के प्रत्ययों के स्थान पर 'उ' अथवा 'ओ' की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है। जैसे.-मालायाः कृतम्=मालाए कयं अर्थात् माला का बनाया हुआ है। यहाँ पर षष्ठी विभक्ति के एकवचन का उदाहरण दिया गया है; जिसमें बतलाया गया है कि सूत्र-संख्या ३-२९ से

'ङस्' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति हुई है; न कि 'उ' अथवा 'ओ' की; यों यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि 'जस्-शस्' के स्थान पर ही 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है; अन्यत्र नहीं। इसीलिये वृत्ति में 'जस् और शस्' का उल्लेख करना पड़ा है।

पंचमी विभक्ति के एक वचन में और बहुवचन में स्त्रीलिंग वाले शब्दों में जो 'उ' और 'ओ' प्रत्यय दृष्टि-गोचर होते हैं; उनकी प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-८ और ३-९ में उल्लिखित 'दु' और 'दो' से निष्पन्न होती है; अतएव 'जस्-शस्' के स्थान पर 'उ' और 'ओ' आदेश प्राप्ति बतलाना निष्कलंक है। इसी प्रकार से संबोधन के बहुवचन में स्त्रीलिंग वाले शब्दों में 'उ' और 'ओ' की उपलब्धि भी निष्कलंक ही है; क्यों कि 'संबोधन-रूपों' की प्राप्ति प्रथमावत् होती है और यह सिद्धान्त सर्वमान्य है; अतएव यह सिद्ध हुआ कि 'जस्-शस्' के स्थान पर ही 'उ' 'ओ' की आदेश-प्राप्ति होती है; अन्यत्र नहीं।

माला संस्कृत प्रथमान्त-द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप मालाउ, मालाओ और माला होते हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय रूपों में सूत्र-संख्या ३-२७ से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप रूप से और क्रम से 'उ' तथा 'ओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दो रूप *मालाउ* और *मालाओ* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीया रूप-(मालाः=)माला में सूत्र-संख्या ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का प्राकृत में लोप होकर तृतीय रूप *माला* सिद्ध हो जाता है।

बुद्धयः और *बुद्धीः* संस्कृत प्रथमान्त-द्वितीयान्त बहुवचन के क्रमिक रूप हैं। इन दोनों के (सम्मिलित) प्राकृत रूप बुद्धीउ, बुद्धीओ और बुद्धी होते हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय-रूप में सूत्र-संख्या ३-२७ से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से और क्रम से 'उ' तथा 'ओ' प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होकर शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घ करते हुए क्रम से प्रथम के दो रूप *बुद्धीउ* और *बुद्धीओ* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीया रूप—(बुद्धयः और बुद्धीः=) बुद्धी में सूत्र-संख्या-३-४ से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का प्राकृत में लोप और ३-१२ से तथा ३-१८ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्-शस्' के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *बुद्धी* सिद्ध हो जाता है।

सख्यः और *सखीः* संस्कृत प्रथमान्त-द्वितीयान्त बहुवचन के क्रमिक रूप हैं। इन दोनों के (सम्मिलित) प्राकृत रूप सहीउ, सहीओ और सही होते हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय रूपों में सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत रूप 'सखी' में स्थित 'ख्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२७ से

संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से और क्रम से 'उ' तथा 'ओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम दो रूप *सहीउ* और *सहीओ* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय रूप—(सख्यः और सखीः=) सही में सूत्र-संख्या ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का प्राकृत में लोप होकर तृतीय रूप *सही* सिद्ध हो जाता है।

धेनवः और *धेनूः* संस्कृत प्रथमान्त-द्वितीयान्त बहुवचन के क्रमिक रूप हैं। इन दोनों के सम्मिलित प्राकृत रूप धेणूउ, धेणूओ और धेणू होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-२२८ से मूल संस्कृत रूप 'धेनु' में स्थित 'न्' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या ३-२७से संस्कृतीय प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति कराते हुए वैकल्पिक रूप से और क्रम से 'उ' तथा 'ओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम दो रूप *धेणूउ* और *धेणूओ* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय रूप-(धेनवः और धेनूः=) धेणू में सूत्र-संख्या ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा-विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का प्राकृत में लोप और ३-१२ से तथा ३-१८ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्-शस्' के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ-स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *धेणू* सिद्ध हो जाता है।

वध्वः और *वधूः* संस्कृत प्रथमान्त-द्वितीयान्त बहुवचन के क्रमिक रूप हैं। इन दोनों के (सम्मिलित) प्राकृत रूप वहूउ, वहूओ और वहू होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत-रूप 'वधू' में स्थित 'ध' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति, तत्पश्चात प्रथम दो रूप में सूत्र-संख्या ३-२७-से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से और क्रम से 'उ' तथा 'ओ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम दो रूप *वहूउ* और *वहूओ* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीया रूप-(वध्वः और वधूः=) वहू में सूत्र-संख्या ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का प्राकृत में लोप होकर तृतीया रूप *वहू* सिद्ध हो जाता है।

वच्छा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है।

मालायाः संस्कृत षष्ठ्यन्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप मालाए होता है। इनमें सूत्र-संख्या ३-२९ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङस्' के स्थानीय रूप 'अस्=याः' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *मालाए* सिद्ध हो जाता है।

कयं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है॥ ३-२७॥

ईतः से श्चा वा ॥ ३–२८ ॥

स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेर्जस्-शसोश्चस्थाने आकारो वा भवति ॥ एसा हसन्तीआ । गोरीआ चिट्ठन्ति पेच्छ वा । पक्षे । हसन्ती । गोरीओ ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा मे दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों मे संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'आ' आदेश की प्राप्ति होती है। जैसेः- एषा हसन्ती=एसा हसन्तीआ अर्थात् यह हँसती हुई। वैकल्पिक पक्ष होने से 'हसन्ती' (अर्थात् हँसती हुई) रूप भी प्रथमा विभक्ति के एक वचन में बनता है। इसी प्रकार से इन्हीं ईकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों में संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर भी वैकल्पिक रूप से 'आ' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—'जस्' का उदाहरणः गौर्यः तिष्ठन्ति=गोरीआ चिट्ठन्ति; वैकल्पिक पक्ष में:-गोरीओ चिट्ठन्ति अर्थात् सुन्दर स्त्रियाँ विराजमान हैं। 'शस्' का उदाहरणः-गौरीः पश्य=गोरीआ पेच्छ; वैकल्पिक पक्ष मेः—गोरीओ पेच्छ अर्थात् सुन्दर स्त्रियों को देखो। इन उदाहरणों में यह प्रदर्शित किया गया है किः— 'सि', 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से ईकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों मे 'आ' आदेश हुआ करता है।

एसा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३३ में की गई है।

हसन्ती संस्कृत प्रथमान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हसन्तीआ और हसन्ती होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से मूल प्राकृत हलन्त धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१८१ से वर्तमान कृदन्त रूप के अर्थ में प्राप्त धातु 'हस' में 'न्त' प्रत्यय की प्राप्ति; ३-३१ से प्राप्त रूप 'हसन्त' में स्त्रीलिंगार्थक प्रत्यय 'ङी' की प्राप्ति; तदनुसार प्राप्त प्रत्यय 'ङी' में स्थित 'ङ्' इत्संज्ञक होने से शेष प्रत्यय 'ई' की प्राप्ति के पूर्व 'हसन्त' रूप में से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर 'अ' का लोप एवं प्राप्त हलन्त 'हसन्त्' में उक्त स्त्रीलिंग वाचक प्रत्यय 'ई' की संयोजना होने से 'हसन्ती' रूप की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्राप्त रूप 'हसन्ती' में सूत्र संख्या ३-२८ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'आ' आदेश रूप प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *हसन्तीआ* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप—(हसन्ती=) हसन्ती में सूत्र संख्या ३-१९ से प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर अन्त्य स्वर की दीर्घता की प्राप्ति रूप स्थिति यथावत् रहकर द्वितीय रूप *हसन्ती* सिद्ध हो जाता है।

गौर्यः—संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप गोरीआ और गोरीओ होते हैं। इनमें सूत्र संख्या १-४ से मूल शब्द 'गौरी' में स्थित 'औ' के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति;

तत्पश्चात् प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-२८ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'आ' आदेश रूप प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *'गोरीआ'* सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय रूप-(गौर्यः=) गोरीओ में सूत्र-संख्या ३-२७ से प्रथमा विभक्ति के बहु वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थानीय रूप 'अस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ओ' आदेश रूप प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *गोरीओ* सिद्ध हो जाता है ।

गौरीः—संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन रूप है । इसके प्राकृत रूप गोरीआ और गोरीओ होते हैं । इन दोनों द्वितीयान्त बहुवचन वाले रूपों की सिद्धि उपरोक्त प्रथमान्त बहुवचन वाले रूपों के समान ही होकर क्रम से दोनों रूप *गोरीआ* तथा गोरीओ सिद्ध हो जाते हैं ।

चिट्ठन्ति रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *३-२०* में की गई है ।

पेच्छ रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-२३* में की गई है ।

'*वा*' (अव्यय) रूप की सिद्धि सूत्र संख्या १-६७ में की गई है । ३-२८ ॥

टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः ॥ ३-२९ ॥

स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परेषां टाङस्ङीनां स्थाने प्रत्येकम् अत् आत् इत् एत् इत्येते चत्वार आदेशाः सप्राग्दीर्घा भवन्ति । ङसेः पुनरेते सप्राग्दीर्घा वा भवन्ति ॥ मुद्धाअ । मुद्धाइ । मुद्धाए कयं मुहं ठिअं वा ॥ कप्रत्यये तु मुद्धिआअ । मुद्धिआइ । मुद्धिआए ॥ कमलिआअ । कमलिआइ । कमलिआए ॥ बुद्धीअ । बुद्धीआ । बुध्दीइ । बुध्दीए कयं विहवो ठिअं वा ॥ सहीअ । सहीआ । सहीइ । सहीए कयं वयणं ठिअं वा ॥ धेणूअ । धेणूआ । धेणूइ । धेणूए कयं दुद्धं ठिअं वा ॥ वहूअ । वहूआ । वहूइ । । वहूए कयं भवणं ठिअंवा ॥ ङसेस्तु वा । मुद्धाअ । मुध्दाइ । मुध्दाए । बुध्दीअ । बुध्दीआ । बुध्दीइ । बुध्दीए ॥ सहीअ । सहीआ । सहीइ । सहीए ॥ धेणूअ धेणूआ । धेणूइ । धेणूए ॥ वहूअ । वहूआ । वहूइ । वहूए आगओ । पक्षे ॥ मुद्धाओ । मुध्दाउ । मुध्दाहिन्तो । । रईओ । रईउ । रईहिन्तो ॥ धेणूओ । धेणूउ । धेणूहिन्तो ॥ इत्यादि ॥ शेषे दन्तवत् (३-१२४) अतिदेशात् जस्-शस् ङसि-त्तो-दो-द्वामिदीर्घः (३-१२) इति दीर्घत्वं पक्षे पि भवति ॥ स्त्रियामित्येव । वच्छेण । वच्छस्स । वच्छम्मि । वच्छाओ ॥ टादीनामिति किम् । मुद्धा । बुद्धी । सही । धेणू । वहू ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा के आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों में तृतीया-विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा='आ' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से चार आदेश रूप प्रत्ययों की प्राप्ति होती है; जो कि इस प्रकार है:—'अत्=अ'; 'आत्=आ'; 'इत्=इ' और 'एत्'=ए। इन आदेश-प्राप्त प्रत्ययों के पूर्व ह्रस्व-स्वर का दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार से षष्ठी-विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस् = अस्' के स्थान पर और सप्तमी विभक्ति के एक वचन के संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर भी उपरोक्त प्राकृत स्त्रीलिंग वाले शब्दों में उपरोक्त प्रकार से ही क्रम से चार आदेश रूप प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। आदेश=प्राप्त प्रत्यय भी वे ही हैं जो कि ऊपर इस प्रकार से लिखे गये हैं:-अत्=अ; आत्=आ; इत्=इ और एत्=ए। इन आदेश-प्राप्त प्रत्ययों के पूर्व अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घ-स्वर की प्राप्ति हो जाती है। पंचमी विभक्ति के एक वचन के संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि= अस्' के स्थान पर भी उपरोक्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों में उपरोक्त प्रकार से ही प्रत्ययों की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है; तदनुसार पंचमी विभक्ति के एक वचन में सूत्र-संख्या ३-८ से 'त्तो', 'ओ', 'उ', और 'हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति भी इन प्राकृत स्त्रीलिंग वाले शब्दों में होती है। पंचमी विभक्ति के एकवचन में वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'अ-आ-इ-ए' के पूर्व में शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घ स्वर की प्राप्ति होती है। उपरोक्त विधान में इतनी सो विशेषता जानना कि सूत्र-संख्या ३-३० से आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में 'आ' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है। तृतीया विभक्ति के एक वचन का उदाहरणः—मुग्धया कृतम्=मुद्धाअ-मुद्धाइ-मुद्धाए कयं अर्थात मुग्धा से-(संमोहित स्त्री विशेष से) किया हुआ है। षष्ठी विभक्ति के एक वचन का उदाहरणः—मुग्धायाः मुखम्=मुद्धाअ-मुद्धाइ-मुद्धाए मुहं अर्थात् मुग्धा स्त्री का मुख। सप्तमी विभक्ति के एक वचन का उदाहरणः—मुग्धायाम् स्थितम्=मुध्दाअ-मुध्दाइ-मुध्दाए ठिअं अर्थात् मुग्धा स्त्री में रहा हुआ है। 'स्वार्थ' में प्राप्त होने वाले 'क' प्रत्यय का स्त्रीलिंग रूप में 'का' हो जाता है; तदनुसार वह शब्द 'आकारान्त-स्त्रीलिंग' बन जाता है और ऐसा होने पर उक्त आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द की 'विभक्तयन्त रूपावलि' सर्व-सामान्य आकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों के समान ही बनती है। जैसेः—मुग्धिकया अथवा मुग्धिकायाः अथवा मुग्धिकायाम् = मुध्दिआअ-मुध्दिआइ-मुध्दिआए। तीनों विभक्तियों के एक वचन में एक रूपता होने से सभी रूप साथ साथ में ही लिख दिये हैं। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—कमलिकया अथवा कमलिकायाः एवं कमलिकायाम्=कमलिआअ-कमलिआइ-कमलिआए अर्थात कमलिका से अथवा कमलिका का एवं कमलिका में। यों अन्य आकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों के तृतीया विभक्ति के एक वचन में, षष्ठी विभक्ति के एक वचन में और सप्तमी विभक्ति के एक वचन में होने वाले रूपों को भी जान लेना चाहिये। ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिंग 'बुद्धि' का उदाहरणः—

तृतीया विभक्ति के एक वचन में:—बुद्ध्या कृतम्=बुद्धीअ-बुद्धीआ-बुद्धीइ-बुद्धीए कयं अर्थात् बुद्धि से किया हुआहै।

षष्ठी विभक्ति के एक वचन में:—बुद्धया. विभवः=बुद्धीअ-बुद्धीआ-बुद्धीइ-बुद्धीए विहवो अर्थात् बुद्धि की संपत्ति।

सप्तमी विभक्ति के एक वचन में:-बुद्धीयम् स्थितम्=बुद्धीअ-बुद्धीआ-बुद्धिइ-बुद्धीए ठिअं अर्थात् बुध्दि में स्थित है।

दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिंग-'सखी=सही' का उदाहरणः—

तृतीया-षष्ठी-सप्तमी के एक वचन का क्रमिक उदाहरण:-सख्या कृतम्=सहीअ-सहीआ-सहीइ-सहीए कयं। सखी से किया हुआ है।

सख्या कृतम=सहीअ-सहीआ-सहीइ सहीए कयं। सखी से किया हुआ है।

सख्याः वचनम्=सहीअ-सहीआ-सहीइ-सहीए वयणं=सखी का वचन है।

सख्याम् स्थितम्=सहीअ-सहीआ-सहीइ-सहीए ठिअं=सखी में रहा हुआ है।

तृतीया-षष्ठी-सप्तमी विभक्ति के एक वचन के ह्रस्व उकारान्त स्त्रीलिंग 'धेनु=धेणु' का क्रमिक उदाहरणः—धेन्वा कृतम्=धेणूअ-धेणूआ-धेणूइ-धेणूए कयं=गाय से किया हुआ है।

धेन्वाः दुग्धम्=धेणूअ-धेणूआ-धेणूइ-धेणूए दुध्दं=गाय का दूध है।

धेन्वाम् स्थितम्=धेणूअ-धेणूआ-धेणूइ-धेणूए ठिअं=गाय में स्थित है।

दीर्घ ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'वधू=वहू' के तृतीया-षष्ठी-सप्तमी विभक्ति के एक वचन का क्रमिक उदाहरण:—

वध्वा कृतम्=वहूअ-वहूआ-वहूइ-वहूए कयं=वहू से किया हुआ है।

वध्वाः भवनम्=वहूअ-वहूआ-वहूइ-वहूए भवणं=वहू का भवन है।

वध्वाम् स्थितम्=वहूअ वहूआ-वहूइ-वहूए ठिअं=वहू में रहा हुआ है।

संस्कृत पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'अ-आ-इ-ए' आदेश-प्राप्ति तथा क्रम से 'ओ-उ-त्तो-हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार है.—

आकारान्त स्त्रीलिंग.—मुग्धायाः-मुद्धाअ-मुद्धाइ-मुद्धाए-मुद्धत्तो, मुद्धाओ, मुद्धाउ और मुध्दाहिंतो।

इकारान्त स्त्रीलिंगः बुद्धयाः=बुद्धीअ-बुद्धीआ-बुद्धीइ-बुद्धीए, बुद्धित्तो बुद्धीउ, बुद्धीओ और बुद्धिहिंतो।



ईकारान्त स्त्रीलिंगः—सख्याः=सहीअ सहीआ-सहीइ-सहीए, सहीत्तो-सहीउ-सहीओ और सहीहिंतो।

उकारान्त स्त्रीलिंगः—धेन्वाः=धेणूअ-धेणूआ-धेणूइ--धेणूए, धेणुत्तो, धेणूउ, धेणूओ और धेणूहिंतो।

ऊकारान्त स्त्रीलिंगः—वध्वाः आगतः=वहूअ-वहूआ-वहूइ--वहूए, वहुत्तो, वहूउ, वहूओ और वहूहिंतो आगओ = वहू से आया हुआ है।

इकारान्त स्त्रीलिंग का एक और उदाहरण वृत्ति में इस प्रकार दिया गया हैः—रत्याः=रईओ-रईउ--रईहिन्तो अर्थात् रति से। इन उदाहरणों में यह ध्यान रहे कि ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्दों में प्राप्तव्य प्रत्ययों के पूर्व में स्थित ह्रस्व स्वर को दीर्घ स्वर की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु 'त्तो' प्रत्यय में पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घता को प्राप्त नहीं होकर ह्रस्व का ह्रस्व ही रहता है तथा सूत्र-संख्या १-८४ से अन्त्य दीर्घ स्वर 'त्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर ह्रस्व हो जाता है। जैसेः—मालत्तो, बुद्धित्तो, सहित्तो और वहुत्तो।

प्राकृत-भाषा के स्त्रीलिंग वाले शब्दों की शेष विभक्तियों के रूपों की रचना सूत्र-संख्या ३-१२४ के विधानानुसार अकारान्त शब्दों के समान समझ लेनी चाहिये।

सूत्र-संख्या ३-१२ में कहा गया है कि-प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' प्राप्त होने पर; द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय 'शस्' प्राप्त होने पर; पंचमी विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय 'ओ, उ, हिन्तो' प्राप्त होने पर; पंचमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'ओ, उ, हिंतो, सुन्तो' प्राप्त होने पर ह्रस्व स्वर को दीर्घता प्राप्त होती है; वही विधान स्त्रीलिंग शब्दों के लिये भी इन्हीं विभक्तियों के ये प्रत्यय प्राप्त होने पर जानना; तदनुसार स्त्रीलिंग वाले शब्दों में भी प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में. पंचमी विभक्ति के एक वचन में और बहुवचन में पक्षान्तर में भी ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति होती है।

प्रश्नः—वृत्ति के प्रारम्भ में 'स्त्रीलिंग वाले शब्दों में' ऐसा शब्द क्यों कहा गया है?

उत्तरः—इसमें यह तात्पर्य है कि जब प्राकृत-भाषा के स्त्रीलिंग वाले शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय प्राप्त होता है अथवा पंचमी, षष्ठी, और सप्तमी विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय प्राप्त होता है; तो इन प्रत्ययों के स्थान पर केवल स्त्रीलिंग वाले शब्दों में ही 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। नपुंसकलिंग वाले अथवा पुल्लिंग वाले शब्दों में उक्त विभक्तियों के एक वचन के प्रत्यय प्राप्त होने पर इन प्रत्ययों के स्थान पर 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा विधान प्रदर्शित करने के लिये ही वृत्ति के प्रारम्भ में 'स्त्रीलिंग वाले शब्दों में' ऐसा उल्लेख करना पड़ा है। जैसे पुल्लिंग शब्द का उदाहरण इस प्रकार हैः—तृतीया विभक्ति के एक वचन में—'वच्छेण'; पंचमी विभक्ति के एक वचन में 'वच्छाओ'; षष्ठी विभक्ति के एक वचन में 'वच्छस्स' और सप्तमी विभक्ति के एक वचन में

'वच्छम्मि' होता है। न कि स्त्रीलिंग वाले शब्दों के समान 'वच्छाअ-वच्छाआ-वच्छाइ-वच्छाए' रूपों की रचना होती है। यही रहस्य वृत्ति के प्रारम्भ में उल्लिखित 'स्त्रियां' शब्द से जानना।

प्रश्नः—मूल सूत्र में 'टा-ङस्-ङि-ङसि' ऐसा क्यों लिखा गया है?

उत्तरः—'अ-आ-इ-ए' ऐसा आदेश-प्राप्ति केवल 'टा-ङस्-ङि ङसि' के स्थान पर ही होती है; अन्य प्रत्ययों के स्थान पर 'अ-आ-इ-ए' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा सुनिश्चित विधान प्रदर्शित करने के लिये ही सूत्र में 'टा-ङस् ङि-ङसि' का उल्लेख करना आवश्यक समझा गया है। इसके समर्थन में उदाहरण इस प्रकार हैं—मुग्धा=मुद्धा; बुद्धि=बुद्धी, सखी=सही; धेनु.=धेणू और वधू.=वहू। इन उदाहरणों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय 'सि' प्राप्त हुआ है; और उक्त प्राप्त प्रत्यय 'सि' का सूत्र-संख्या ३-१९ से लोप होकर इसके स्थान पर अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता प्राप्त हुई हैं; न कि 'अ-आ-इ-ए' रूप आदेश-प्राप्ति। अतएव यह सिद्ध करने के लिये कि 'अ-आ-इ-ए' रूप आदेश-प्राप्ति केवल 'टा-ङस्-ङि ङसि' के स्थानों पर ही होती है, न कि अन्यत्र। इसी रहस्य को समझाने के लिये सूत्र में 'टा-ङस्-ङि-ङसि' का उल्लेख करना पड़ा है।

मुग्धया संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप मुद्धाअ-मुद्धाइ और मुद्धाए होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-७७ से मूल संस्कृत रूप मुग्धा में स्थित हलन्त 'ग्' का लोप, २-८९ से 'ध्' को द्वित्व 'ध्ध्' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ध्' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति और ३-२९ से प्राप्त प्राकृत रूप 'मुद्धा' में संस्कृत के तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ', 'इ' और 'ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से तीनों प्राकृत रूप *मुद्धाअ, मुद्धाइ* और *मुद्धाए* सिद्ध हो जाते हैं।

मुग्धायाः संस्कृत पंचम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप मुद्धाअ, मुद्धाइ और मुद्धाए होते हैं। इनमें मूल संस्कृत रूप 'मुग्धा=मुद्धा' की सिद्धि उपरोक्त रीति अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२९ से संस्कृत के षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से तीनों प्राकृत रूप *मुद्धाअ मुद्धाइ* और *मुद्धाए* सिद्ध हो जाते हैं।

मुग्धायाम् संस्कृत सप्तम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप मुद्धाअ, मुद्धाइ और मुद्धाए होते हैं। इन मूल संस्कृत रूप 'मुग्धा'=मुद्धा' की सिद्धि उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-२९ से संस्कृत के सप्तमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से तीनों प्राकृत रूप *मुद्धाअ मुद्धाइ* और *मुद्धाए* सिद्ध हो जाते हैं।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

'सुहं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१८७ में की गई है।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१६ में की गई है।

'वा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६७ मे की गई है।

मुग्धिकया संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप मुद्धिआअ, मुद्धिआइ और मुद्धिआए होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-७७ से मूल संस्कृत रूप 'मुग्धिका' में स्थित 'ग्' का लोप; २-८९ से 'ध्' को द्वित्व 'ध्ध्' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ध्' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति; १-१७७ से 'क' का लोप तत्पश्चात् प्राप्त प्राकृत रूप 'मुद्धिआ' में सूत्र-संख्या ३-२९ से संस्कृत के तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर *मुद्धिआअ, मुद्धिआइ* और *मुद्धिआए* सिद्ध हो जाते हैं।

कमलिकया, कमलिकायाः और *कमलिकायाम्* क्रम से संस्कृत तृतीया षष्ठी सप्तमी विभक्ति के एक वचन के रूप है। इन सभी के प्राकृत रूप कमलिआअ, कमलिआइ और कमलिआए होते हैं। इनमें सूत्र संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत रूप 'कमलिका' में स्थित द्वितीय 'क्' का लोप और ३-२९ से संस्कृत तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर; षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर और सप्तमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर 'अ-इ-ए' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर प्रत्येक के तीन तीन रूप '*कमलिआअ कमलिआइ* और *कमलिआए*' सिद्ध हो जाते हैं।

बुद्ध्या संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप बुद्धीअ, बुद्धीआ बुद्धीइ और बुद्धीए होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-२९ से संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों को क्रम से प्राप्ति एवं इसी सूत्र से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *बुद्धीअ-बुद्धीआ-बुद्धीइ* और *बुद्धीए* सिद्ध हो जाते है।

बुद्ध्याः संस्कृत षष्ठयन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप बुद्धीअ, बुद्धीआ, बुद्धीइ और बुद्धीए होते हैं। इनमे सूत्र संख्या ३-२९ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में 'अ-आ इ-ए' प्रत्ययों को क्रम से प्राप्ति और इसी सूत्र से अन्त्य स्वर 'इ' को 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप बुद्धीअ बुद्धीआ- बुद्धीइ और बुद्धीए सिद्ध हो जाते हैं।

बुद्ध्याम् संस्कृत सप्तम्यन्त एक वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप बुद्धीअ, बुद्धीआ, बुद्धीइ और बुद्धीए होवे हैं। इनकी साधनिका भी सूत्र संख्या ३–२९ से ही उपरोक्त रीति से होकर चारों रूप क्रम से *बुद्धीअ–बुद्धीआ–बुद्धीइ* और *बुद्धीए* सिद्ध हो जाते हैं।

"*कयं*" रूप की सिद्धि सूत्र–संख्या १-१२६ में की गई है।

विभवः संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप विहवो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से "भ" के स्थान पर "ह्" की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय "सि" के स्थान पर अकारान्त पुल्लिग में "ओ" प्रत्यय की प्राप्ति होकर *विहवो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है।

'वा' (अव्यय) रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या *१-६७* में की गई है।

सख्या संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप सहीअ, सहीआ, सहीइ और सहीए होते हैं। इनमें सूत्र-सख्या १-१८७ से मूल संस्कृत रूप 'सखी' में स्थित 'ख्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२९ से संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से—'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *'सहीअ-सहीआ-सहीइ* और *सहीए'* सिद्ध हो जाते हैं।

सख्याः संस्कृत षष्ठयन्त एक वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप सहीअ-सहीआ-सहीइ और सहीए होते हैं। इनमें 'सही' रूप की साधनिका उपरोक्त रीति से और ३-२९ से संस्कृतीय षष्ठयन्त एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *'सहीअ-सहीआ-सहीइ* और *सहीए'* सिद्ध हो जाते हैं।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

'वयणं' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या *१-२२८* में की गई है।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है।

धेन्वा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ और धेणूए होते हैं। इनमें सूत्र-सख्या १-२२८ से मूल संस्कृत शब्द 'धेनु' में स्थित 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति, ३-२९ से संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति और इसी सूत्र से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *'धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ* और *धेणूए* सिद्ध हो जाते हैं।

धेन्वाः संस्कृत षष्ठयन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ और धेणूए होते हैं। इनमें 'धेणू' रूप की साधनिका उपरोक्त रीति से एव सूत्र-सख्या ३-२९ से ही षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में 'अ-आ इ-ए' प्रत्ययों की क्रमिक प्राप्ति और इसी सूत्र से अन्त्य स्वर को दीर्घता की प्राप्ति होकर क्रम चारों रूप *'धेणूअ-धेणूआ-धेणूइ और धेणूए'* सिद्ध हो जाते हैं।



धेन्वास् संस्कृत सप्तम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ और धेणूए होते हैं। इन रूपों की साधनिका उपरोक्त रीति से एवं सूत्र-संख्या ३-२९ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप '*धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ* और *धेणूए* सिद्ध हो जाते हैं।

'*कयं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

'*दुहं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-७७* में की गई है।

'*ठिअं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है।

वध्वा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप वहूअ, वहूआ, वहूइ और वहूए होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत रूप 'वधू' में स्थित 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-२९ से संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप '*वहूअ, वहूआ, वहूइ* और *वहूए*' सिद्ध हो जाते हैं।

वध्वाः संस्कृत षष्ठयन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप वहूअ, वहूआ, वहूइ और वहूए होते हैं: इनमें 'वहू' रूप की प्राप्ति उपरोक्त रीति से एवं ३-२९ से संस्कृतीय षष्ठयन्त एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *वहूअ, वहूआ, वहूइ* और *वहूए* सिद्ध हो जाते हैं।

वध्वाम् संस्कृत सप्तम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप वहूअ, वहूआ, वहूइ और वहूए होते हैं। इन रूपों की साधनिका उपरोक्त रीति से और ३-२९ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *वहूअ, वहूआ, वहूइ* और *वहूए* सिद्ध हो जाते हैं।

'*कयं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

भवनम् संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप भवणं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अकारान्त नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त 'म्' का अनुस्वार होकर *भवणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*ठिअं*':—रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है।

मुग्धायाः—संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप मुद्धाअ, मुद्धाइ, मुद्धाए, मुद्धाओ, मुद्धाउ और मुद्धाहिन्तो होते हैं। इनमें *मुद्धा* रूप तक की सिद्धि *इसी सूत्र* में उपरोक्तवत्;

और ३-२९ से प्रथम-द्वितीय-तृतीय रूपों में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में 'अ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर आदि के तीन रूप *'मुद्धाअ-मुद्धाइ और मुद्धाए'* सिद्ध हो जाते हैं। शेष तीन रूपों में सूत्र-संख्या ३-१२४ के अधिकार से एवं ३-८ से संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ओ-उ-हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर अन्त के तीन रूप *'मुद्धाओ-मुद्धाउ और मुद्धाहिन्तो'* भी सिद्ध हो जाते हैं।

बुद्ध्याः—संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप बुद्धीअ, बुद्धीआ, बुद्धीइ और बुद्धीए होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-२९ से संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर एवं अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को इसी सूत्र से 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *बुद्धीअ-बुद्धीआ-बुद्धीइ* और *बुद्धीए* सिद्ध हो जाते हैं।

सख्याः—संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप सहीअ, सहीआ, सहीइ और सहीए होते हैं। इनमें 'सही' रूप तक की साधनिका इसी सूत्र में वर्णित रीति अनुसार और ३-२९ से संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *'सहीअ-सहीआ-सहीइ और सहीए'* सिद्ध हो जाते हैं।

धेन्वाः—संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए, धेणूओ, धेणूउ और धेणूहिन्तो होते हैं। इनमें 'धेणु' रूप तक की साधनिका ऊपर इसी सूत्र में वर्णित रीति-अनुसार और ३-२९ से आदि के चार रूपों में संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति एवं इसी सूत्र से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर आदि के चार रूप *'धेणूअ-धेणूआ-धेणूइ और धेणूए'* सिद्ध हो जाते हैं।

अन्त के तीन रूपों में सूत्र-संख्या ३-१२४ के अधिकार से एवं ३-८ के विधान से पंचमी विभक्ति के एक वचन में "ओ-उ-हिन्तो" प्रत्ययों की क्रमिक प्राप्ति तथा ३-१२ से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ" को दीर्घ स्वर "ऊ" की प्राप्ति होकर अन्त के तीन रूप *"धेणूओ, धेणूउ और धेणूहिन्तो"* भी सिद्ध हो जाते हैं।

वध्वाः संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप वहूअ, वहूआ, वहूइ और वहूए होते हैं। इनमें "वहू" रूप तक की सिद्धि इसी सूत्र में वर्णित रीति अनुसार और ३-२९ से संस्कृतीय पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "ङसि" के स्थान पर प्राकृत में क्रम से "अ-आ-इ-ए" प्रत्ययों की प्राप्ति होकर चारों रूप क्रम से *"वहूअ-वहूआ-वहूइ और वहूए"* सिद्ध हो जाते हैं।

"आगओ" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

रत्याः संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन का रूप है। इस के प्राकृत रूप रईओ, रईउ और रईहिन्तो

होते हैं। इन में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द "रति" में स्थित "त्" का लोप; ३-८ से संस्कृतीय पञ्चमी विभक्ति के वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "ङसि" के स्थानपर प्राकृत में क्रम से 'ओ, उ और हिन्तो, प्रत्ययों की प्राप्ति और ३-१२ से शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से तीनों रूप '*रईओ, रईउ,* और *रईहिन्तो*' सिद्ध हो जाते हैं।

'*वच्छेण*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२७ में की गई है।

'*वच्छस्स*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२४९ में की गई है।

'*वच्छम्मि*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-११ में की गई है।

'*वच्छाओ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२ में की गई है।

मुग्धा—संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप मुद्धा होता है। इसमें सूत्र संख्या २-७७ से हलन्त 'ग्' का लोप; २-८९ से 'ध्' को द्वित्व 'ध् ध्' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ध्, के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति; ४-४४८ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि ('इ' की इत्संज्ञा होने से) स्' की प्राप्ति, और १-११ से प्राप्त अन्त्य हलन्त 'स्' का लोप होकर प्राकृत रूप मुद्धा सिद्ध हो जाता है।

'*बुद्धी*':—रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१८ में की गई है।

सखी:—संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप सही होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ख्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति; ४-४४८ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि= ('इ' की इत्संज्ञा होने से) = स्' की प्राप्ति और १-११ से प्राप्त अन्त्य हलन्त 'स्' का लोप होकर प्राकृत रूप *सही* सिद्ध हो जाता है।

धेणू- रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१९ में की गई है।

*वधूः*संस्कृत प्रथमान्त एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप वहू होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति; ४-४४८ से संस्कृतीय प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि= ('इ' की इत्संज्ञा होने से) स् की प्राप्ति और १-११ से प्राप्त अन्त्य हलन्त 'स्' का लोप होकर प्राकृत रूप 'वहू' सिद्ध हो जाता है। ३-२९॥

नात आत् ॥३-३०॥

स्त्रियां वर्तमानादादन्तान्नाम्नः परेषां टा ङस् ङि ङसीनामादादेशो न भवति ॥ मालाअ। मालाइ। मालाए कयंसुहं ठिअं आगओ वा ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा में आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में तृतीया-विभक्ति के एक वचन में; पंचमी विभक्ति के एक वचन में, षष्ठी विभक्ति के एक वचन में और सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा–ङसि-ङस् और ङि' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-२६ से जो क्रमिक चार आदेश-प्राप्त प्रत्यय "अ-आ-इ और ए" प्राप्त होते हैं; उनमें से "आ" प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है। किन्तु तीन प्रत्ययों की ही प्राप्ति होती है जो कि इस प्रकार हैं:—"अ-इ और ए। सारांश यह है कि आकारान्त स्त्रीलिंग में 'आ' प्रत्यय नहीं होता है जैसे:–क्रमिक उदाहरणः–तृतीया विभक्ति के एक वचन में.–मालया कृतम्=मालाअ, मालाइ और मालाए कयं; पंचमी विभक्ति के एक वचन में'–मालायाः आगतः=मालाअ, मालाइ और मालाए आगओ। वैकल्पिक पक्ष होने से मालत्तो, मालाओ, मालाउ और मालाहिंतो आगओ भी होते हैं।

षष्ठी वभक्ति के एक वचन में.–मालाया सुखं=मालाअ, मालाइ और मालाए सुहं। सप्तमी विभक्ति के एक वचन में:–मालायाम् स्थितम्=मालाअ, मालाइ, मालाए ठिअ। इस प्रकार से सभी आकारान्त स्त्रीलिंग रूपों में 'अ-इ-ए' प्रत्ययो की ही प्राप्ति जानना और 'आ' प्रत्यय का निषेध समझना।

मालया-मालायाः-मालायाः मालायाम् संस्कृत क्रमिक तृतीयान्त-पञ्चम्यन्त-षष्ठयन्त और सप्तम्यन्त एक वचन रूप हैं। इन सभी के स्थान पर प्राकृत में एक रूपता वाले ये तीन रूप-'मालाअ-मालाइ-और मालाए' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-२६ से संस्कृतीय क्रमिक-प्रत्यय-'टा-ङसि-ङस्-ङि' के स्थान पर आदेश रूप 'अ आ-इ-और ए' प्रत्ययों की क्रमिक प्राप्ति और ३-३० से 'आ' प्रत्यय की निषेध-अवस्था प्राप्त होकर क्रमिक तीनों रूप *'मालाअ मालाइ और मालाए'* उपरोक्त सभी विभक्तियों के एक वचन में सिद्ध हो जाते हैं।

'कय' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है।

'सुहं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२६ में की गई है।

'आगओ' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-२०९ में की गई है।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या ३-१६ में की गई है।

'वा' (अव्यय) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६७ में की गई है ॥३–३०॥

प्रत्यये ङीर्न वा ॥३–३१॥

अणादि सूत्रेण-(हे० २-४) प्रत्यय निमित्तो यो ङीरुक्तः स स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नोः वा भवति ॥ साहणी । कुरुचरी । पक्षे । आत्- (हे०२-४) इत्याप् । साहणा ॥ कुरुचरा ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा के पुल्लिंग अथवा नपुंसक लिंग वाले शब्दों को नियमानुसार स्त्रीलिंग में परिवर्तन करने के लिए हेमचन्द्र व्याकरण के सूत्र-संख्या २८४ से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङी=ई' के स्थान पर (प्राकृत मे) 'ई' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है। जैसेः- (साधन + ई =) साधनी=साहणी अथवा वैकल्पिक पक्ष होने से साहणा। (कुरुचर + ई=) कुरुचरी=कुरुचरी अथवा वैकल्पिक पक्ष होने से कुरुचरा। इन उदाहरणों में 'स्त्रीलिंग प्रत्यय' रूप से दीर्घ 'ई' और 'आ' की क्रमिक रूप से प्राप्ति हुई है। अतः इस सूत्र में यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि प्राकृत-भाषा में 'स्त्रीलिंग रूप' निर्माण करने में नित्य 'ई' की ही प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु 'आ' की प्राप्ति भी हुआ करती है।

(साधन + ई)= साधनी संस्कृत प्रथमान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप साहणी और साहणा होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति; १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति; ३-३१ से 'स्त्रीलिंग रूपार्थक होने से' स्त्री प्रत्यय 'ई' की वैकल्पिक प्राप्ति होने से (साधन में) क्रम से 'ई' और 'आ' प्रत्ययों की प्राप्ति और १.११ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर क्रम से दोनों रूप *साहणी* और *साहणा* सिद्ध हो जाते हैं।

(कुरुचर + ई=) कुरुचरी देशज प्रथमान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप कुरुचरी और कुरुचरा होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-३१ से 'स्त्रीलिंग-रूपार्थक होने से' स्त्री-प्रत्यय 'ई' की वैकल्पिक प्राप्ति होने से -(कुरुचर=में) क्रम से 'ई' और 'आ' प्रत्ययों की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा-विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर क्रम से दोनों रूप *कुरुचरी* और *कुरुचरा* सिद्ध हो जाते हैं। ३-३१॥

अजातेः पुंसः ॥३-३२॥

अजातिवाचिनः पुल्लिङ्गाद् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति ॥ नीली नीला। काली काला। हसमाणी हसमाणा। सुप्पणही सुप्पणहा। इमीए इमाए। इमीणं इमाणं। एईए एआए। एईणं एआणं। अजातेरितिकिम्। करिणी। अया। एलया ॥ अप्राप्ते-विभापेयम्। तेन गोरी कुमारी इत्यादौ संस्कृतवन्नित्यमेव ङीः।

अर्थः—जाति वाचक संज्ञा वालों के अतिरिक्त संज्ञा वाले, विशेषण वाले, और सर्वनाम वाले शब्दों मे पुल्लिंग से स्त्रीलिंग रूप में परिवर्तन करने हेतु 'ङी = ई' प्रत्यय की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। जैसेः—नीला=नीली अथवा नीला, काला = काली अथवा काला; हसमाना = हसमाणी अथवा हसमाणा; शूर्पणखा=सुप्पणही अथवा सुप्पणहा; अनया=इमीए अथवा इमाए अर्थात् इस (स्त्री) के द्वारा; आसाम्=इमीणं अथवा इमाणं अर्थात् इन (स्त्रियों) का; एतया=एईए अथवा एआए अर्थात् इस

(स्त्री) से; एतासाम्=एईणं अथवा एआणं अर्थात् इन (स्त्रियों) का; इन उदाहरणों में ऐसा समझाया गया है कि जिन संस्कृत स्त्रीलिंग शब्दों में स्त्रीलिंग वाचक प्रत्यय 'आ' की प्राप्ति हुई है; उन स्त्रीलिंग वाले शब्दों में प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'ई' प्रत्यय की प्राप्ति भी हुआ करती है। यों आकारान्त स्त्रीलिंग वाले अन्य शब्दों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—जाति वाचक आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में अन्त्य 'आ' प्रत्यय के स्थान पर 'ई' प्रत्यय की प्राप्ति का निषेध क्यों किया गया है?

उत्तरः—जाति वाचक आकारान्त स्त्रीलिंग में अन्त्य 'आ' को 'ई' की प्राप्ति कभी भी नहीं होती है; इसी प्रकार से 'ईकारान्त' को भी 'आकारान्त' की प्राप्ति नहीं होती है। अतएव उसकी प्राप्ति का निषेध ही प्रदर्शित करना आवश्यक होने से 'अजातेः' अर्थात् 'जाति वाचक स्त्रीलिंग शब्दों को छोड़ कर' ऐसा मूल-सूत्र में विधान करना पड़ा है। जैसेः—करिणी = करिणी अर्थात् हथिनी। यह उदाहरण ईकारान्त स्त्रीलिंग का है; इसमें 'आकारान्त' का अभाव प्रदर्शित किया गया है। अजा=अया अर्थात् बकरी और एलका=एलया अर्थात् बड़ी इलायची; इत्यादि इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि आकारान्त जाति वाचक स्त्रीलिंग शब्दों के प्राकृत-रूपान्तर में अन्त्य 'आ' को 'ई' की प्राप्ति नहीं होती है। यों यह सिद्धान्त निर्धारित हुआ कि जाति वाचक स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त्य 'आ' को 'आ' ही रहता है तथा यदि अन्त्य 'ई' हुई तो उस 'ई' को भी 'ई' ही रहती है।

प्राकृत भाषा में अनेक स्त्रीलिंग शब्द ऐसे भी पाये जाते हैं, जो कि जाति वाचक नहीं है; फिर भी उनमें अन्त्य 'आ' का अभाव है और अन्त्य 'ई' का सद्भाव है; ऐसे शब्दों के संबध में वृत्ति में कहा गया है कि 'उन शब्दों को विभाषा वाले—अन्य-भाषा वाले' जानना, अर्थात् ईकारान्त स्त्रीलिंग वाले ऐसे शब्दों को अन्य भाषा से आये हुए एवं प्राकृत-भाषा में 'रूढ़ हुए' जानना। जैसेः—गौरी=गोरी और कुमारी=कुमारी। ऐसे शब्द प्राकृत भाषा में रूढ़ जैसे हो गये है, और इनके वैकल्पिक रूप 'गोरा अथवा कुमारा' जैसे नहीं बनते हैं। ऐसे नित्य ईकारान्त शब्दों में संस्कृत के समान ही 'स्त्रीलिंग-वाचक' प्रत्यय 'ई' की प्राप्ति ही हुआ करती है।

नीलाः—संस्कृत रूप है। इसके प्राकृत रूप नीली और नीला होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ३-३२ से 'स्त्रीलिंग वाचक अर्थ मे' अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *'नीली'* और *'नीला'* सिद्ध हो जाते हैं।

कालाः—संस्कृत रूप है। इसके प्राकृत रूप काली और काला होते है। इनमें सूत्र संख्या ३-३२ से 'स्त्रीलिंग वाचक अर्थ में' अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *'काली'* और काला सिद्ध हो जाते हैं।

हसमानाः—संस्कृत रूप है। इसके प्राकृत रूप हसमाणी और हसमाणा होते हैं। इनमें सूत्र-

संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और ३-३२ से 'स्त्रीलिंग वाचक अर्थ में' अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *'हसमाणी'* और *हसमाणा* सिद्ध हो जाते है।

शूर्पणखा:—संस्कृत रूप है। इसके प्राकृत रूप सुप्पणही और सुप्पणहा होते है। इनमें सूत्र-संख्या १-२६० से 'श्' के स्थान पर स् की प्राप्ति; १-८४ से दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति; २-७६ से र् का लोप; २-८६ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति; १-१८७ से 'ख' के स्थान पर ह् की प्राप्ति और ३-३२ से 'स्त्रीलिंग वाचक अर्थ' में अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *सुप्पणही* और *सुप्पणहा* सिद्ध हो जाते हैं।

अनया संस्कृत तृतीयान्त एक वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप इमीए और इमाए होते हैं। इनमें सूत्र संख्या-३-७२ से "इदम्" सर्वनाम के स्त्रीलिंग रूप "इयम्" के स्थान पर प्राकृत में "इमा" रूप की प्राप्ति; ३-३२ से "स्त्रीलिंग-वाचक-अर्थ" में अन्त्य "आ" के स्थान पर वैकल्पि रूप से "ई" की प्राप्ति और ३-२६ से सस्कृतीय तृतीया-विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "टा" के स्थान पर "ए" की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *इमीए* और *इमाए* सिद्ध हो जाते हैं।

आसाम् संस्कृत षष्ठयन्त बहुवचन सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप इमीणं और इमाणं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-७२ से "इदम्" सर्वनाम के स्त्रीलिंग रूप "इयम्" के स्थान पर प्राकृत में "इमा" रूप की प्राप्ति; ३- २ से "स्त्रीलिंग-वाचक-अर्थ" में अन्त्य "आ" के स्थान पर वैकल्पिक रूप से "ई" की प्राप्ति; ३-६ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्तिय के बहु वचन में प्राप्त प्रत्यय "आम्" के स्थान पर प्राकृत में "ण" प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्रत्यय "ण" पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *इमीणं* और *इमाणं* सिद्ध हो जाते हैं।

एतया संस्कृत तृतीयान्त एक वचन सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप एईए और एआए होते हैं। इनमें सूत्र संख्या १-११ मूल संस्कृत सर्वनाम "एतत्" में स्थित अन्त्य हलन्त "त्" का लोप; १-१७७ से द्वितीय 'त्' का लोप; ३-३१ की वृत्ति से और ३-३२ से "स्त्रीलिंग-वाचक-अर्थ" में क्रम से और वैकल्पिक रूप से शेष अन्त्य "अ" के स्थान पर "आ" एवं "ई" की प्राप्ति और ३-२६ से संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "टा" के स्थान पर "ए" की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप एईए और एआए सिद्ध हो जाते हैं।

आसाम् संस्कृत षष्ठयन्त बहुवचन सर्वनाम स्त्रीलिंग रूप है। इसके प्राकृत रूप एईणं और एआणं होते हैं। इनमें "एई" और "एआ" रूपों की साधनिका उपरोक्त इसी सूत्र में वर्णित रीति अनुसार; ३-६ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के बहु वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "आम्" के स्थान पर प्राकृत

में "ण" प्रत्यय की आदेश प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्रत्यय 'ण" पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *एईणं* और *एआणं* सिद्ध हो जाते हैं।

करिणी संस्कृत स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप (भी) करिणी ही होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-४४८ से यथा रूप वत् स्थिति की प्राप्ति होकर *करिणी* रूप सिद्ध हो जाता है।

अजा संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप अया होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१७७ से "ज्" का लोप और १-१८० से लोप हुए "ज्" के पश्चात् शेष रहे हुए "आ" के स्थान पर "या" की प्राप्ति होकर *अया* रूप सिद्ध हो जाता है।

एलका संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप एलया होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से "क्" के पश्चात् शेष रहे हुए "आ" के स्थान पर "या" की प्राप्ति होकर *एलया* रूप सिद्ध हो जाता है।

गौरी संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप गोरी होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१५९ से "औ" के स्थान पर "ओ" की प्राप्ति होकर *गोरी* रूप सिद्ध हो जाता है।

कुमारी संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप (भी) कुमारी ही होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-४४८ से यथा रूप वत् स्थिति की प्राप्ति होकर *कुमारी* रूप सिद्ध हो जाता है।

किं-यत्तदोस्यमामि ॥ ३-३३ ॥

"सि अम् आम्" वर्जिते स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङी र्वा भवति ॥ कीओ। काओ। कीए। काए। कीसु। कासु। एवं। जीओ। जाओ। तीओ। ताओ। इत्यादि ॥ अस्य मामीति किम्। का। जा। सा। कं। जं। तं। काण। जाण। ताण ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम "किम्", "यत्" और "तत्" के प्राकृत स्त्रीलिंग रूप "का", "जा" और "सा अथवा ता" में प्रथमा विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय "सि", द्वितीया विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय "अम्" और षष्ठी विभक्ति के बहु वचन के प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राप्तव्य प्राकृत प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य विभक्तियों के प्राकृत प्रत्यय प्राप्त होने पर इन आकारान्त 'का-जा-सा अथवा ता' सर्वनामों के अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ई' की प्राप्ति होकर इनका रूप 'की-जी और ती' भी हो जाया करता है। इनके क्रमिक उदाहरण इस प्रकार हैं:—काः=कीओ अथवा काओ, कया=कीए अथवा काए, कासु=कीसु अथवा कासु। याः=जीओ अथवा जाओ और ताः=तीओ अथवा ताओ इत्यादि ॥

प्रश्नः—'सि', 'अम्' और 'आम' प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर इन आकारान्त सर्वनामों में अर्थात् 'का' 'जा' और 'सा अथवा ता' में अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'ई' की प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा

क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—चूँकि प्राकृत-साहित्य में अथवा प्राकृत भाषामें इन आकारान्त सर्वनामों में 'सि'; 'अम्' और 'आम्' प्रत्ययों के प्राप्त होने पर अन्त्य 'आ' की स्थिति ज्यों की त्यों ही बनी रहती है; अतएव ऐसा ही विधान करना पड़ा है कि प्रथमा विभक्ति के एक वचन में, द्वितोया विभक्ति के एक वचन में और षष्ठी विभक्ति के बहु वचन मे इन आकारान्त सर्वनामों के अन्त्य 'आ' को 'ई' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से भी नही होती है। उदाहरण इस प्रकार हैः—का=का; काम्=कं और कासाम्=काण; या=जा; याम्=जं और यासाम्=जाण; सा=सा; ताम् = तं और तासाम्=ताण ॥

काः संस्कृत स्त्रीलिंग प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त सर्वनाम रूप है; इसके प्राकृत रूप कीओ और और काओ होते हैं। इनमें सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्' का लोप; ३-३१ और ३-३३ से शेष रूप 'कि' मे वैकलिपक रूप से तथा क्रम से 'स्त्रीलिंग-अर्थक-प्रत्यय' 'ङी' और 'आप् = आ' की प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'ङी' अथवा 'आप=आ' के पूर्वस्थ 'कि' में स्थित 'इ' की इत्संज्ञा होने से लोप होकर क्रम से 'की' और 'का' रूप की प्राप्ति; और ३-२७ से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *कीओ* और *काओ* सिद्ध हो जाते हैं।

कया सस्कृत तृतीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप कीए और काए होते हैं। इनमें 'की' और 'का' तक रूप की साधनिका उपरोक्त रीति अनुसार और ३-२६ से तृतीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *कीए* और *काए* सिद्ध हो जाते हैं।

कासु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप कीसु और कासु होते हैं। इनमें 'की' और 'का' तक रूप की साधनिका उपरोक्त रीति-अनुसार और ४-४५८ से सप्तमी विभक्ति के बहु वचन में सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के स्थान पर प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *कीसु* और *कासु* सिद्ध हो जाते हैं।

याः संस्कृत स्त्रीलिंग प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप जीआ और जाओ होते हैं। इनमें सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'यत्' में स्थित अन्त्य हलन्त 'त्' का लोप; १-२४५ से 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; ३-३१ और ३-३३ से 'स्त्रीलिंग-अर्थक-प्रत्यय' 'ङी' और 'आप्' की क्रम से प्राप्ति; तदनुसार ङी' और 'आ' प्रत्यय प्राप्त होने पर प्राप्त प्राकृत रूप 'ज' में स्थित अन्त्य 'अ' की इत्संज्ञा होने से लोप होकर क्रम से 'जी' और 'जा' रूप की प्राप्ति एवं ३-२७ से प्रथमा तथा द्वितोया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *जीओ* और *जाओ* सिद्ध हो जाते हैं।

ताः संस्कृत स्त्रीलिंग प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तीओ और ताओ होते है। इनमें सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तत्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन "त्" का लोप, ३-३१ और ३-३२ से "स्त्रीलिंग-अर्थक-प्रत्यय" "ङी" और "आप्=आ" की क्रम से प्राप्ति; तदनुसार "ङी" और "आ" प्रत्यय प्राप्त होने पर प्राप्त प्राकृत रूप "त" में स्थित अन्त्य 'अ' की इत्संज्ञा होने से लोप होकर क्रम से "ती" और "ता" रूपों की प्राप्ति एवं ३-२७ से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्-शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *तीओ* और *ताओ* सिद्ध हो जाते हैं।

"*का*" संस्कृत प्रथमा एक वचनान्त स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी "का" ही होता है। इसमें सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द "किम" में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्" का लोप; ३-३१ से "स्त्रीलिंग-अर्थक प्रत्यय" "आप्=आ" की प्राप्ति; तदनुसार पूर्व प्राप्त प्राकृत रूप "कि" में स्थित अन्त्य स्वर 'इ' की इत्संज्ञा होकर लोप एव शेष हलन्त "क्" में प्राप्त प्रत्यय "आ" की संधि होकर "का" रूप की प्राप्ति; ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय "सि=स्" की प्राप्ति और १-११ से अन्त्य प्राप्त हलन्त प्रत्यय रूप व्यञ्जन "स" का लोप होकर "*का*" रूप सिद्ध हो जाता है।

"*या*" संस्कृत प्रथमा एक वचनान्त स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप "जा" होता है। इसमें सूत्र-संख्या-१-११ से मूल संस्कृत शब्द "यत्" में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन "त्" का लोप, १-२४५ से "य" के स्थान पर "ज" की प्राप्ति; ३-३१ से 'स्त्रीलिंग-अर्थक-प्रत्यय" "आप्"= 'आ' की प्राप्ति, तदनुसार पूर्व प्राप्त प्राकृत रूप "ज" में स्थित अन्त्य स्वर "अ" की इत्संज्ञा होकर लोप एवं शेष हलन्त 'ज्' में प्राप्त प्रत्यय "आ" की संधि होकर "जा' रूप की प्राप्ति, ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय "सि=स् की प्राप्ति और १-११ से अन्त्य प्राप्त हलन्त प्रत्यय रूप व्यञ्जन "स्" का लोप होकर "*जा*" रूप सिद्ध हो जाता है

"*सा*" स्त्रीलिंग सर्व नाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-३३* में की गई है।

'*काम्*' संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग सर्व नाम रूप है। इसका प्राकृत रूप "कं" होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-३६ से मूल संस्कृत स्त्रीलिंग रूप "का" में स्थित "आ" के स्थान पर "अ" की प्राप्ति और ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय "अम्" के स्थान पर "म्" की प्राप्ति एवं १-२३ से प्राप्त 'म्" का अनुस्वार होकर "*कं*" रूप सिद्ध हो जाता है।

"*याम्*" संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप "जं" होता है। इसमें सूत्र संख्या ३-३६ से मूल संस्कृत स्त्रीलिंग रूप "या" में स्थित "आ' के स्थान पर "अ" की प्राप्ति; १-२४५ से प्राप्त "य" के स्थान पर "ज" की प्राप्ति; और शेष साधनिका उपरोक्त 'कं' के समान ही होकर "*जं*" रूप सिद्ध हो जाता है॥

"ताम्" संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप "तं" होता है इसमें सूत्र-संख्या ३-३६ से मूल संस्कृत स्त्रीलिंग रूप 'ता' में स्थित "आ" के स्थान पर "अ" की प्राप्ति और शेष-साधनिका उपरोक्त "कं" के समान ही होकर *"तं"* रूप सिद्ध हो जाता है।

"कासाम्" संस्कृत षष्ठयन्त बहुवचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप "काण" होता है। इसमें सूत्र-संख्या-३-६ से मूल संस्कृत स्त्रीलिंग रूप "का" के प्राकृत रूप "का" में संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के बहु वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "आम्" के संस्कृत विधानानुसार प्राप्त स्थानीय रूप "साम्" के स्थान पर प्राकृत में "ण" प्रत्यय की प्राप्ति होकर *"काण"* रूप सिद्ध हो जाता है।

"यासाम्" संस्कृत षष्ठयन्त बहु वचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'जाण" होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२४५ से "य्" के स्थान पर "ज्" की प्राप्ति और ३-६ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के बहु वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "आम्=साम् के स्थान पर प्राकृत में "ण" प्रत्यय की प्राप्ति होकर *"जाण"* रूप सिद्ध हो जाता है।

"तासाम्" संस्कृत षष्ठयन्त बहु वचन स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप "ताण" होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-६ से संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के बहु वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "आम"= साम् के स्थान पर प्राकृत में "ण" प्रत्यय की प्राप्ति होकर *"ताण"* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-३३॥

छाया-हरिद्रयोः ॥ ३-३४ ॥

अनयो राप्-प्रसङ्गे नाम्नः स्त्रियां ङीर्वा भवति ॥ छाही छाया। हलद्दी हलद्दा ॥

अर्थः—संस्कृत स्त्रीलिंग शब्द 'छाया' और 'हरिद्रा' के प्राकृत रूपान्तर में अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ङी=ई' की प्राप्ति होती है। जैसेः—छाया=छाही और छाया तथा हरिद्रा=हलद्दी और हलद्दा। संस्कृत में 'छाया' और 'हरिद्रा' नित्य रूप से आकारान्त स्त्रीलिंग हैं; जब कि ये शब्द प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'ईकारान्त' हो जाते हैं; इसीलिये ऐसा विधान बनाने की आवश्यकता पड़ी है।

'*छाही*' और '*छाया*' रूपों की सिद्धि सूत्र संख्या *१-२४९* में की गई है।

'*हलद्दी*' और '*हलद्दा*' रूपों की सिद्धि सूत्र संख्या *१-८८* में का गई है। ॥३-३४॥

स्वस्रादेर्डा ॥ ३-३५ ॥

स्वस्रादेः स्त्रियां वर्तमानात् डा प्रत्ययो भवति ॥ ससा। नणन्दा। दुहिआ। दुहिआहिं। दुहिआसु। दुहिआ-सुओ। गउआ ॥

अर्थः—स्वसृ, ननान्द्र और दुहितृ आदि ऋकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के प्राकृत रूपान्तर में अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'डा=आ' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डा' में 'ड्' इत्संज्ञक होने से ऋकारान्त शब्दों के अन्त्य 'ऋ' का लोप होकर तत्पश्चात् उसके स्थान पर 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति होने से ये शब्द प्राकृत में आकारान्त स्त्रीलिंग वाले बन जाते हैं। जैसेः—स्वसृ=ससा, ननान्द्र=नणन्दा दुहितृ=दुहिआ; दुहितृभिः=दुहिआहिं; दुहितृषु=दुहिआसु और दुहितृ-सुतः=दुहिआ-सुओ। इत्यादि।

'गउआ' शब्द 'गउतृ' से नहीं बना है; किन्तु सूत्र-संख्या १-५४ में वर्णित 'गवय' से बनता है अथवा १-१५८ में वर्णित 'गो' से बनता है; इसी प्रकार से अन्य आकारान्त शब्दों के संबंध में भी विचार कर लेना चाहिये, जिससे कि भ्रान्ति न हो। इसी विशेषता को प्रकट करने के लिये ऋकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के प्रसंग में इस 'गऊआ' शब्द को भी लिखना आवश्यक समझा गया है।

स्वसा संस्कृत के स्वसृ शब्द के प्रथमान्त एक वचन का स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'ससा' होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'व्' का लोप, ३-३५ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय 'सि=स्' की प्राप्ति और १-११ से प्राप्त प्रत्यय स का लोप होकर *ससा* रूप सिद्ध हो जाता है।

ननान्दा संस्कृत के 'ननान्द्र' शब्द के प्रथमान्त एक वचन का स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप "नणन्दा" होता है। इसमें सूत्र-संख्या-१-२२८ से द्वितीय "न्" के स्थान पर "ण" की प्राप्ति; १-८४ से "आ" के स्थान पर "अ" की प्राप्ति; ३-३५ से अन्त्य "ऋ" के स्थान पर "आ" की प्राप्ति, और शेष साधनिका उपरोक्त "ससा" के समान ही क्रम से सूत्र-संख्या ४-४४८ से एवं १-११ से होकर *"नणन्दा"* रूप सिद्ध हो जाता है।

"दुहिआ" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१२६ में की गई है।

दुहितृभिः संस्कृत-तृतीयान्त बहुवचन स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप दुहिआहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से "त" का लोप; ३-३५ से लोप हुए "त्" के पश्चात् शेष रहे हुए "ऋ" के स्थान पर "आ" की प्राप्ति और ३-७ से संस्कृतीय तृतीया-विभक्ति के बहु वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "भिः" के स्थान पर प्राकृत में "हिं" प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर *दुहिआहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

दुहितृषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप दुहिआसु होता है। इसमें "दुहिआ" रूप की साधनिका उपरोक्त रीति-अनुसार और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहु वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय "सु" की प्राकृत में भी प्राप्ति होकर *दुहिआसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

दुहितृ सुतः संस्कृत तत्पुरुष समासात्मक प्रथमान्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप

दुहिआ-सुओ होता है। इसमें "दुहिआ" रूप की साधनिका उपरोक्त रीति-अनुसार १-१७७ से द्वितीय "त्" का लोप और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" के स्थान पर "ओ" प्रत्यय की प्राप्ति; "सुअ" के अन्त्य "अ" की इत्संज्ञा होकर लोप एवं तत्पश्चात् "ओ" प्रत्यय की उपस्थिति होकर *दुहिआ-सुओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

"गउआ" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-५४ में की गई है। ३-३५

ह्रस्वो मि ॥ ३-३६ ॥

स्त्रीलिंगस्य नाम्नो मि परे ह्रस्वो भवति ॥ मालं । नइं । वहुं । हसमाणिं । हसमाणं पेच्छ ॥ अमीति किम् ॥ माला । सही । वहू ॥

अर्थः-प्राकृत-भाषा में आकारान्त, दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में द्वितीया विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय "अम् = म्" प्राप्त होने पर दीर्घ स्वर का ह्रस्व स्वर हो जाता है। जैसे;- संस्कृत-मालाम् का प्राकृत में मालं; नदीम्=नइं; वधूम्= वहुं; हसमानीम्= हसमाणिं; हसमानाम् पश्य=हसमाणं पेच्छ। इत्यादि।

प्रश्नः- "दीर्घ स्वरान्त स्त्रीलिंग शब्दों में द्वितीया विभक्ति बोधक एक वचन म्" प्रत्यय प्राप्त होने पर दीर्घ स्वर का ह्रस्व स्वर हो जाता है" ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः-क्योंकि प्रथमा आदि अन्य विभक्ति बोधक प्रत्ययों के प्राप्त होने पर स्त्रीलिंग में दीर्घ स्वर का ह्रस्व स्वर नहीं होता है; किन्तु ह्रस्वता की प्राप्ति केवल द्वितीया विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय की प्राप्ति होने पर ही होती है; अतएव ऐसे विधान का उल्लेख करना पड़ा है। जैसे:- माला = माला; सखी= सही और वधूः=वहू। इन उदाहरणों में प्रथमान्त एक वचन का प्रत्यय प्राप्त हुआ है; किन्तु अन्त्य दीर्घ स्वर को ह्रस्व स्वर की प्राप्ति नहीं हुई है; इससे प्रमाणित होता है कि अन्त्य दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर की प्राप्ति केवल द्वितीया विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय की प्राप्ति होने पर ही होती है; अन्यथा नहीं।

मालाम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत-रूप *मालं* होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-३६ से द्वितीय "आ" के स्थान पर "अ" की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में "म्" प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय की "म्" का अनुस्वार होकर *"मालं"* रूप सिद्ध हो जाता है।

नदीम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत-रूप नइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'द्' का लोप; ३-३६ से दीर्घ ईकार के स्थान पर ह्रस्व "इकार" की प्राप्ति; ३-५ से

द्वितीया विभक्ति के एक वचन में "म्" प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त "म्" का अनुस्वार होकर नइं रूप सिद्ध हो जाता है।

वधूम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन का स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप वहुं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से "ध्" के स्थान पर "ह्" की प्राप्ति; ३-३६ से दीर्घ "ऊकार" के स्थान पर ह्रस्व "उकार" की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में "म्" प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त "म्" का अनुस्वार होकर *वहुं* रूप सिद्ध हो जाता है।

हसन्तीम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग का विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप हसमाणिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१८१ से प्राकृत-धातु 'हस' में संस्कृतीय वर्तमान कृदन्त में प्राप्तव्य प्रत्यय "आनच्" के स्थानीय रूप "मान" के स्थान पर प्राकृत में "माण" आदेश-प्राप्ति, ३-३१ से तथा ३-३२ से प्राप्त प्रत्यय "माण" में स्त्रीलिंग-अर्थक प्रत्यय "ङी=ई" की प्राप्ति; एवं प्राप्त स्त्रीलिंग-अर्थक प्रत्यय "ङी" में "ङ्" इत्संज्ञक होने से प्राप्त प्रत्यय "माण" में अन्त्य "अ" की इत्संज्ञा होकर लोप तथा 'ई' प्रत्यय की हलन्त "माण" में संयोजना होकर "हसमाणी" रूप की प्राप्ति; ३-३६ से दीर्घ 'ईकार' के स्थान पर ह्रस्व 'इकार" की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एक वचन में "म्" प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त "म्" का अनुस्वार होकर *हसमाणिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

हसमानाम् संस्कृत द्वितीयान्त एक वचन स्त्रीलिंग का विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप हसमाणं होता है। इसमें "हसमाण" तक की साधनिका उपरोक्त रीति-अनुसार; ३-३१ की वृत्ति से प्राप्त रूप "हसमाण" में स्त्रीलिंग-अर्थक प्रत्यय "आ" की प्राप्ति; तदनुसार प्राप्त रूप "हसमाणा" में ३-३६ से अन्त्य "आ" के स्थान पर "अ" की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में "म्" प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त "म्" का अनुस्वार होकर "*हसमाणं*" रूप सिद्ध हो जाता है।

'*पेच्छ*' (क्रियापद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

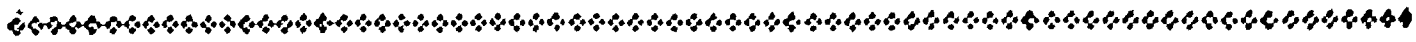
"*माला*" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१८२ में की गई है।

"*सही*" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-२९ में की गई है।

"*वहू*" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२९ में की गई है। ३-३६ ॥

नामन्त्र्यात्सौ मः ॥ ३-३७ ॥

आमन्त्र्यार्थात्परे सौ सति क्लीबे स्वरान्म् सेः (३-२५) इति यो म् उक्तः स न भवति ॥ हे तण। हे दहि। हे महु।



अर्थः—प्रथमा विभक्ति के प्रत्ययों की प्राप्ति संबोधन-अवस्था में भी हुआ करती है; तदनुसार प्राकृत--भाषा के नपुंसक लिंग वाले शब्दों में संबोधन-अवस्था में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" के स्थान पर सूत्र--संख्या ३-२५ के अनुसार (प्राकृत में) प्राप्त होने वाले "म्" आदेश-प्राप्त प्रत्यय का अभाव हो जाता है। अर्थात् नपुंसक लिंग वाले शब्दों में संबोधन के एक-वचन में प्रथमा में प्राप्तव्य प्रत्यय "म्" का अभाव होता है। जैसे.—हे तृण=हे तण; हे दधि=हे दहि और हे मधु=हे महु इत्यादि।

हे *तृण!* संस्कृत संबोधन एकवचनान्त नपुंसक लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप "हे तण!" होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२६ से "ऋ" के स्थान पर "अ" की प्राप्ति और ३-३७ से प्रथमा के समान ही संबोधन के एक वचन मे प्राप्तव्य "सि" के स्थान पर आने वाले "म्" प्रत्यय का अभाव होकर "हे *तण*" रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *दधि!* संस्कृत संबोधन एकवचनान्त नपुंसक लिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'हे दहि!' होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-३७ से प्रथमा के समान ही संबोधन के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर आने वाले 'म्' प्रत्यय का अभाव होकर 'हे *दहि*' रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *मधु!* संस्कृत संबोधन एक वचनान्त नपुंसक लिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप "हे महु!" होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१८७ से "ध" के स्थान पर "ह्" की प्राप्ति और ३-३७ से प्रथमा के समान ही संबोधन के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" के स्थान पर आने वाले "म्" प्रत्यय का अभाव होकर "हे महु!" रूप सिद्ध हो जाता है। ३-३७॥

डो दीर्घो वा ॥ ३--३८ ॥

आमन्त्र्यार्थात्परे सौ सति अतः सेर्डो (३-२) इति यो नित्यं डोः प्राप्तो यश्च अक्लीबे सौ (३-१९) इति इदुतोरकारान्तस्य च प्राप्तो दीर्घः स वा भवति॥ हे देव हे देवो॥ हे खमा-समण हे खमा-खमणो। हे अज्ज हे अज्जो॥ दीर्घः। हे हरी हे हरि। हे गुरू हे गुरु। जाइ-विसुद्धेण पहू। हे प्रभो इत्यर्थः। एवं दोण्णि पहू जिअ-लोए। पक्षे। हे पहु। एषु प्राप्ते विकल्पः॥ इहत्व प्राप्ते हे गोअमा हे गोअम। हे कासवा हे कासव। रे रे चप्फलया! रे रे निग्घिणया॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा के अकारान्त पुल्लिग शब्दों में संबोधन अवस्था में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-२ के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" के स्थान पर आने वाले "ओ"

प्रत्यय की प्राप्ति कभी होती है, और कभी कभी नहीं भी होती है। जैसे—हे देव !=हे देव ! अथवा हे देवो !; हे क्षमा-श्रमण !=हे खमा-समण ! अथवा हे खमा-समणो !, हे आर्य !=हे अज्ज ! अथवा हे अज्जो।

इसी प्रकार से प्राकृत-भाषा के इकारान्त तथा उकारान्त पुल्लिंग शब्दों में संबोधन अवस्था में प्रथमा-विभक्ति के एक वचन में सूत्र-संख्या ३-१९ के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" के स्थान पर प्राप्त होने वाले "अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घत्व" की प्राप्ति कभी होती है और कभी नहीं भी होती है। जैसे—हे हरे !=हे हरी ! अथवा हे हरि !; हे गुरो !=हे गुरू ! अथवा हे गुरु !; जाति-विशुद्धेन हे प्रभो ! =जाइ-विसुद्धेण हे पहू ! इसी प्रकार से दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—हे द्वौ जित लोक ! प्रभो !=हे दोण्णि जिअ-लोए पहू ! अर्थात् हे दोनों लोकों को जीतने वाले ईश्वर ! अथवा वैकल्पिक पक्ष में 'हे प्रभो !' का 'हे पहु' भी होता है। इस प्रकार से इकारान्त और उकारान्त पुल्लिंग शब्दों में संबोधन-अवस्था के एक वचन में अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घत्व की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है।

अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में भी संबोधन-अवस्था के एकवचन में प्रथमा-विभक्ति के एक वचन के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय 'ओ' के अभाव होने पर अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। जैसे—हे गौतम !=हे गोअमा ! अथवा हे गोअम ! हे कश्यप ! हे कासवा ! अथवा हे कासव ! इत्यादि। इस प्रकार उपरोक्त विधि-विधानानुसार संबोधन-अवस्था के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में तीन रूप हो जाते हैं; जो कि इस प्रकार हैं :—(१) 'ओ' प्रत्यय होने पर; (२) वैकल्पिक रूप से 'ओ' प्रत्यय का अभाव होने पर मूल रूप की यथावत् स्थिति और (३) अन्त्य 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से दीर्घत्व की प्राप्ति होकर 'आ' की उपस्थिति। जैसे:—हे देव ! हे देवा ! हे देवो ! हे खमा समण ! हे खमासमणा ! हे खमासमणो ! हे गोअम ! हे गोअमा ! हे गोअमो ! इत्यादि ! विशेष रूप अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में भी संबोधन-अवस्था के एक वचन में "ओ" प्रत्यय के अभाव होने पर अन्त्य "अ" को वैकल्पिक रूप से "आ" की प्राप्ति हुआ करती है। जैसे – रे ! रे ! निष्फलक ! = रे ! रे ! चप्फलया ! अर्थात् अरे ! अरे ! निष्फल प्रवृत्ति करने वाले। रे ! रे ! निर्घृणक ! = रे ! रे ! निग्घिणया ! अर्थात् अरे ! अरे ! दयाहीन निष्ठुर इन उदाहरणों में संबोधन के एक वचन में अन्त्य रूप में "आत्व" की प्राप्ति हुई है। पक्षान्तर में "रे ! चप्फलया ! और रे ! निग्घिणय !" भी होते हैं। यों सम्बोधन के एकवचन में होने वाली विशेषताओं को समझ लेनी चाहिये।

हे देव ! संस्कृत संबोधन एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे देव ! और हे देवो ! होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-३८ से सम्बोधन के एक वचन में प्रथमा-विभक्ति के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय "ओ" की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप-हे देव और हे देवो सिद्ध हो जाते हैं।

हे क्षमा-श्रमण ! संस्कृत संबोधन एक वचन रूप है। इसके प्राकृत रूप हे खमा-समण और हे खमा-समणो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-३ से 'क्ष' के स्थान पर 'ख' की प्राप्ति; २-७९ से 'श्र' में स्थित 'र्' का लोप; १-२६० से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एक वचन में प्रथमा-विभक्ति के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय 'ओ' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप-हे *खमा-समण !* और हे *खमा-समणो* सिद्ध हो जाते हैं।

हे *आर्य* ! संस्कृत संबोधन एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत-रूप हे अज्ज ! और हे अज्जो ! होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या-१-८४ से दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'र्य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ज' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एक वचन में प्रथमा विभक्ति के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय 'ओ' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप हे *अज्ज !* और हे *अज्जो* सिद्ध हो जाते हैं।

हे *हरे* ! संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे हरी ! और हे हरि होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-३८ से संबोधन के एक वचन में प्रथमा विभक्ति के अनुसार मूल संस्कृत रूप 'हरि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को वैकलिपक रूप से दीर्घ 'ई' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप हे *हरी !* और हे *हरि !* सिद्ध हो जाते हैं।

हे *गुरु !* संस्कृत संबोधन के एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे गुरू ! और हे गुरु ! होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-३८ से संबोधन के एकवचन में प्रथमा विभक्ति के अनुसार मूल संस्कृत रूप 'गुरु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को वैकलिपक रूप से दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप हे *गुरू !* और हे *गुरु !* सिद्ध हो जाते हैं।

जाति-विशुद्धेन संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'जाइ-विसुद्धेण' होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप; १-२६० से श् के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' आदेश प्राप्ति और ३-१४ से आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्वस्थ शब्दान्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर *"जाइ-विसुद्धेण"* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *प्रभो !* संस्कृत संबोधन के एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे पहू ! और हे पहु ! होते हैं। इन में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र' का लोप; १-१८७ से 'भ्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एक वचन में प्रथमा विभक्ति के अनुसार मूल संस्कृत रूप 'प्रभु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को वैकलिपक रूप से दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप 'हे पहू' और 'हे पहु' सिद्ध हो जाते हैं।

द्वौ संस्कृत का विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप दोण्णि होता है। इसमें सूत्र-संख्या

३-१२० से प्रथमान्त द्विवचन रूप 'द्वौ' के स्थान पर 'दोण्णि' आदेश-प्राप्ति होकर *'दोण्णि'* रूप सिद्ध हो जाता है।

(हे) जित लोक ! संस्कृत विशेषणात्मक संबोधन के एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत (अथवा मागधी) रूप (हे) जि अ-लोए होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' और 'क्' का लोप और ४-२८७ से संबोधन के एक वचन में-(मागधी-भाषा में) संस्कृतीय-प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' आगे रहने पर अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति एवं ४-४४८ से संस्कृतीय-संबोधन-स्थिति के समान ही प्राकृत में भी प्राप्त प्रत्यय 'सि' का लोप होकर अथवा १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'सि = स्' का लोप होकर प्राकृतीय (अथवा मागधीय) संबोधन के एक वचन में 'हे *जिअ-लोए*' रूप सिद्ध होता है।

हे *गौतम !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे गोअमा और हे गोअम होते हैं। इनमे सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप; १-१५९ से 'औ' के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति, और ३-३८ से संबोधन के एकवचन में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को वैकल्पिक रूप से दीर्घ 'आ' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप हे *गोअमा !* और हे *गोअम !* सिद्ध हो जाते हैं।

हे *कश्यप !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे कासवा ! और हे कासव ! होते हैं। इनमें सूत्र संख्या-१-४३ से 'क' में रहे हुए 'अ' को दीर्घ 'आ' की प्राप्ति; २-७८ से 'य' का लोप, १-२६० से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे 'श' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एकवचन में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को वैकल्पिक रूप से दीर्घ 'आ' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप हे *कासवा !* और हे *कासव !* सिद्ध हो जाते हैं।

रे रे *निष्फलक !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका (आदेश प्राप्त) देशज रूप रे ! रे ! चप्फलया ! होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-१७४ से संस्कृत संपूर्ण शब्द 'निष्फल' के स्थान पर देशज-प्राकृत में 'चप्फल' रूप की आदेश-प्राप्ति, २-१६४ से प्राप्त 'चप्फल' में 'स्व-अर्थक' प्रत्यय 'क' की प्राप्ति, १-१७७ से प्राप्त 'क्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'क' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एकवचन में अन्त्य 'अ' के स्थान पर दीर्घ 'आ' की प्राप्ति होकर रे ! रे ! *चप्फलया !* रूप सिद्ध हो जाता है।

रे ! रे ! *निर्घृणक !* संस्कृत के संबोधन का एक वचन रूप है। इसका प्राकृत-(देशज) रूप रे ! रे ! निग्घिणया होता है ! इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से रेफ रूप 'र्' का लोप; १-१२८ से 'ऋ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; २-८९ से लोप हुए 'र' के पश्चात् शेष रहे हुए 'घ्' को द्वित्व 'घ्घ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'घ्' के स्थान पर 'ग' की प्राप्ति; १-१७७ से 'क्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'क्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एकवचन में अन्त्य 'अ' के स्थान पर दीर्घ 'आ' की प्राप्ति होकर रे ! रे ! *निग्घिणया* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-३८॥

ऋतोद्वा ॥ ३-३९ ॥

ऋकारान्तस्यामन्त्रणे सौ परे अकारोन्तादेशो वा भवति ॥ हे पितः । हे पिअ ॥ हे दातः । हे दाय । पक्षे । हे पिअरं । हे दायार ॥

अर्थः-ऋकारान्त शब्दों के (प्राकृत-रूपान्तर में) संबोधन के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' का विधानानुसार लोप होकर शब्दान्त्य 'स्वर-सहित व्यञ्जन' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'अ' आदेश की प्राप्ति होती है। जैसेः-हे पितः= हे पिअ और वैकल्पिक पक्ष में हे पिअरं । दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:- हे दातः= हे दाय ! और वैकल्पिक पक्ष में हे दायार ! होता है।

हे *पितः !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे पिअ ! और हे पिअरं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या-३-३९ से 'स्वर-सहित व्यञ्जन-त' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति और १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन रूप विसर्ग का लोप होकर "हे *पिअ*" ! रूप सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप में सूत्र-संख्या ३-४० से 'स्वर-सहित व्यञ्जन त' के स्थान पर 'अरं' आदेश की प्राप्ति और १-११ से अन्त्य हलन्त रूप विसर्ग का लोप होकर द्वितीय रूप "हे *पिअरं*" सिद्ध हो जाता है।

हे *दातः !* संस्कृत संबोधन के एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे दाय ! और हे दायार ! होते है। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-३९ से 'स्वर' सहित व्यञ्जन-त के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; १-१८० से प्राप्त हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन रूप विसर्ग का लोप होकर प्रथम रूप 'हे *दाय !*' सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप में सूत्र-संख्या-१-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'दातृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४५ से संबोधन के एक वचन में शेष 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति; और १-१८० से प्राप्त 'आर' में स्थित 'आ' के स्थान पर 'या' की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप 'हे *दायार !*' भी सिद्ध हो जाता है। ३-३९ ॥

नाम्न्यरं वा ॥ ३-४० ॥

ऋदन्तस्यामन्त्रणे सौ परे नाम्नि संज्ञायां विषये अरं इति अन्तादेशो वा भवति ॥ हे पितः । हे पिअरं । पक्षे । हे पिअ ॥ नाम्नीति किम् । हे कर्तः । हे कत्तार ॥

अर्थः-ऋकारान्त शब्दों के (प्राकृत-रूपान्तर में) संबोधन के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' का विधानानुसार लोप होकर अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'अरं' आदेश की प्राप्ति होती है परन्तु इसमें एक शर्त यह है कि ऐसे ऋकारान्त शब्द रूढ़ संज्ञा रूप होने चाहिये; गुणवाचक ऋकारान्त

संज्ञा वाले अथवा क्रियावाचक ऋकारान्त संज्ञा वाले शब्दों के संबोधन के एक वचन में इस सूत्रानुसार प्राप्तव्य 'अरं' आदेश की प्राप्ति नहीं होती । इस प्रकार की विशेषता सूत्र में उल्लिखित 'नाम्नि' पद के आधार से समझनी चाहिये । जैसे: हे पितः=हे पिअरं । वैकल्पिक पक्ष होने से 'हे पिअ' भी होता है ।

प्रश्नः—रूढ़ संज्ञा वाले ऋकारान्त शब्दों के संबोधन के एक वचन में ही 'अर' आदेश की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर—जो रूढ़ संज्ञा वाले नहीं होकर गुण वाचक अथवा क्रिया वाचक ऋकारान्त संज्ञा रूप शब्द हैं; उनमें संबोधन के एकवचन में 'अरं' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; ऐसी विशेषता बतलाने लिये ही 'नाम्नि' पद का उल्लेख किया जाकर संबोधन के एकवचन में 'अरं' आदेश-प्राप्ति का विधान रूढ़-संज्ञा वाले शब्दों के लिये ही निश्चित कर दिया गया है । जैसे कि-क्रिया वाचक संज्ञा के संबोधन के एकवचन का उदाहरण इस प्रकार है:—हे कर्तः=हे कत्तार । 'हे पिअरं' के समान 'हे कअरं' रूप नहीं बनता है यों रूढ़ वाचक संज्ञा में एवं क्रिया वाचक अथवा गुण-वाचक संज्ञा में 'संबोधन एकवचन की विशेषता' समझ लेनी चाहिये ।

"हे *पिअरं*" रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-३९ में की गई है ।

"हे *पिअ*" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-३९ में की गई है ।

हे *कर्तः!* संस्कृत संबोधन के एक वचन का रूप है । इसका प्राकृत रूप हे कत्तार ! होता है । इसमें सूत्र-संख्या-२-७९ से रेफ रूप 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात शेष रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त' की प्राप्ति; ३-४५ से मूल संस्कृत शब्द 'कर्तृ' में स्थित अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर प्राकृत में 'आर' आदेश-प्राप्ति और १-११ से संस्कृतीय संबोधन के एकवचन में प्राप्त अन्त्य हलन्त व्यञ्जन रूप विसर्ग का लोप होकर 'हे *कत्तार !*' रूप सिद्ध हो जाता है । ३-४०॥

वाप ए ॥ ३-४१ ॥

आमन्त्रणे सौ परे आप एत्वं वा भवति ॥ हे माले । हे महिले । अज्जिए । पज्जिए । पक्षे । हे माला । इत्यादि ॥ आप इति किम् । हे पिउच्छा । हे माउच्छा ॥ बहुलाधिकारात् क्वचिदोत्वमपि । अम्मो भणामि भणिए ।

अर्थः—'आप' प्रत्यय वाले आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के प्राकृत-रूपान्तर में संबोधन के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की आदेश प्राप्ति होती है । जैसे:—हे माले=हे माले; हे महिले=हे महिले, हे आर्यिके=(अथवा हे आर्यके !)=हे=अज्जिए; हे प्रार्यिके=हे पज्जिए पक्षान्तर में क्रम से ये रूप होंगे-हे *माला*; हे *महिला*; हे *अज्जिआ* और

हे पज्जिआ। इत्यादि।

प्रश्नः—'आप्' प्रत्यय वाले आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के ही संबोधन के एकवचन में 'ए' की प्राप्ति होती है; ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है?

उत्तरः—जो स्त्रीलिंग शब्द 'आप्' प्रत्यय से रहित होते हुए भी आकारान्त हैं; उनमें संबोधन के एकवचन में अन्त्य रूप से 'ए' की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिये 'आप्' प्रत्ययान्त आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के सम्बन्ध में 'संबोधन के एकवचन में' उपरोक्त विधान सुनिश्चित करना पड़ा है। जैसेः—हे पितृ-स्वसः != हे पिउच्छा! होता है; न कि 'हे पिउच्छे' हे मातृ-स्वसः != हे माउच्छा! होता है; न कि 'हे माउच्छे;' इत्यादि।

'बहुलं' सूत्र के अधिकार से किसी किसी आकारान्त प्राकृत स्त्रीलिंग शब्द के संबोधन के एकवचन में अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति होती हुई भी पाई जाती है। जैसेः—हे अम्ब भणितान् भणामि = हे अम्मो! भणामि भणिए! अर्थात् हे माता! मैं पढ़े हुए को पढ़ता हूँ। यहां पर संस्कृत आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'अम्बा' के प्राकृत रूप 'अम्मा' के संबोधन के एकवचन में अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति हो गई है; यों अन्य किसी किसी आकारान्त स्त्रीलिंग वाले शब्द के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

हे *माले!* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी हे माले! ही होता है। इसमे सूत्र-संख्या ३-४१ से मूल प्राकृत शब्द 'माला' के संबोधन के एकवचन में अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और १-११ से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'स्' का प्राकृत में भी संस्कृत के समान ही लोप होकर 'हे *माले!*' रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *महिले!* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी हे महिले! ही होता है। इसमें भी सूत्र-संख्या ३-४१ से और १-११ से उपरोक्त 'हे माले' के समान ही साधनिका की प्राप्ति होकर हे *महिले!* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *आर्यके!* संस्कृत संबोधन एक वचन रूप है। इसका प्राकृत रूप हे अज्जिए! होता है! इसमें सूत्र-संख्या १-८४ से 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'र्य' के स्थान पर 'ज्' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ज्' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति; १-१७७ से 'क्' का लोप और ३-४१ से मूल संस्कृत शब्द 'आर्यिका' में स्थित अन्त्य 'आ' के स्थान पर संबोधन के एकवचन में संस्कृत के समान ही 'ए' की प्राप्ति होकर हे *अज्जिए* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *आर्यके!* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप हे अज्जिए! होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-८४ से 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'र्य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ज' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति; २-१०७ से प्राप्त 'ज्ज' में आगम रूप 'इ'

की प्राप्ति, १-१७७ से 'क्' का लोप और ३-४१ से मूल संस्कृत शब्द 'आर्यिका' में स्थित अन्त्य 'आ' के स्थान पर संबोधन के एकवचन में संस्कृत के समान ही 'ए' की प्राप्ति होकर 'हे *अज्जिए*' रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *प्रार्यिके* ! संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे पज्जिए ! होता है इससे सूत्र-संख्या-२-७९ से प्रथम 'र्' का लोप; १-८४ से 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'र्य्' के स्थान पर 'ज्' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ज्' को द्वित्व 'ज्ज्' की प्राप्ति; १-१७७ से 'क्' का लोप और ३-४१ से मूल संस्कृत शब्द 'प्रार्यिका' में स्थित अन्त्य 'आ' के स्थान पर संबोधन के एकवचन में संस्कृत के समान ही 'ए' की प्राप्ति होकर "हे *पज्जिए*" रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *माले* ! संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे माला ! होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-४१ से संबोधन के एकवचन में मूल शब्द 'माला' के अन्त्य 'आ' को 'यथा-स्थिति रूप वत्' अर्थात् 'ज्यों की त्यों स्थिति' की प्राप्ति होकर हे *माला* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *पितृ-स्वसः* ! संस्कृत संबोधन एकवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप हे पिउच्छा ! होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७७ से 'त्' का लोप; १-१३१ से 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति, २-१४१ से 'स्वसृ' के स्थान पर 'छा' आदेश-प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'छ' को द्वित्व 'छ् छ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'छ्' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति; और ३-४१ से संबोधन के एकवचन में अन्त्य 'आ' की स्थिति ज्यों की त्यों कायम रह कर हे *पिउच्छा* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *मातृ-स्वसः* ! संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे माउच्छा होता है। इसकी साधनिका उपरोक्त 'हे पिउच्छा'-में प्रयुक्त सूत्रों के अनुसार ही होकर "हे *माउच्छा*" रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *अम्बे* ! संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे अम्मो ! होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'ब्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'ब्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'म' को द्वित्व 'म्म' की प्राप्ति और ३-४१ की वृत्ति से संबोधन के एकवचन में प्राप्त प्राकृत रूप 'अम्मा' के अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति होकर '*हे अम्मो*'! रूप सिद्ध हो जाता है।

भणामि संस्कृत सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी भणामि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से हलन्त धातु 'भण्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५४ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के एकवचन में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर "*भणामि*" रूप सिद्ध हो जाता है।

भणितान् संस्कृत कृदन्तात्मक विशेषण द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भणिए होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से हलन्त धातु भण् में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति;

३-१५९ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' को 'इ' की प्राप्ति; १-१७७ से संस्कृतीय कृदन्तात्मक प्राप्त प्रत्यय 'त्' का-लोप; ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्त संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थानीय रूप 'न्' का प्राकृत में लोप और ३-१४ से प्राप्त रूप 'भणिआ' में स्थित अन्त्य संस्कृतीय कृदन्तात्मक प्रत्यय 'त' में से शेष 'अ' के स्थानीय रूप 'आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर *भणिए* रूप सिद्ध हो जाता है। –३–४१॥

इदूतोर्ह्रस्वः ॥ ३–४२ ॥

आमन्त्रणे सौ परे ईदूदन्तयोर्ह्रस्वो भवति ॥ हे नइ। हे गामणि। हे समणि। हे वहु। हे खलपु ॥

अर्थः—दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त प्राकृत स्त्रीलिंग शब्दों में संबोधन के एकवचन में 'सि' प्रत्यय परे रहने पर विधानानुसार प्राप्त प्रत्यय सि का लोप होकर अन्त्य दीर्घ-स्वर के स्थान पर सजातीय ह्रस्व स्वर की प्राप्ति होती है। जैसेः—हे नदि ! = हे नइ; हे ग्रामणि=हे गामणि; हे श्रमणि ! =हे समणि; हे वधु=हे वहु और हे खलपु=हे खलपु। इत्यादि॥ हे *नदि !!* संस्कृत संबोधन एकवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप हे नइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'द्' का लोप और ३-४२ से संबोधन के एकवचन में अन्त्य दीर्घ-स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति एवं १-११ से प्रथमा-विभक्तिवत् संबोधन के एकवचन में प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप 'स्' का लोप होकर संबोधनात्मक एकवचन में प्राकृतीय रूप हे नइ ! सिद्ध हो जाता है।

हे *ग्रामणि !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे गामणि *!* होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; ३-४२ से संबोधन के एकवचन में मूल-शब्द ग्रामणी=गामणी में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व-स्वर 'इ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के समान ही संबोधन के एकवचन में प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप 'स्' का लोप होकर संबोधनात्मक एकवचन में प्राकृतीय रूप हे *गामणि !* सिद्ध हो जाता है।

हे *श्रमणि !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे समणि ! होता है इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; १-२६० से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; ३-४२ से संबोधन के एकवचन में मूल शब्द 'श्रमणि=समणी' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व 'इ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के समान ही संबोधन के एकवचन में प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप 'स्' का लोप होकर हे *समणि !* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *वधु !* संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे वहु होता है! इसमें

सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति; ३-४२ से संबोधन के एकवचन में मूल शब्द 'वधू=वहू' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के समान ही (संबोधन के एकवचन में) प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप 'स्' का लोप होकर संबोधनात्मक एकवचन में प्राकृतीय रूप 'हे वहु' सिद्ध हो जाता है।

हे खलपु! संस्कृत संबोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी हे खलपु ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-४२ से संबोधन के एकवचन में मूल शब्द 'खलपू' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के समान ही संबोधन के एक वचन में प्राप्त प्रत्यय 'सि' के स्थानीय रूप 'स्' का लोप होकर 'हे खलपु' रूप सिद्ध हो जाता है ३-४२॥

क्विपः ॥ ३-४३ ॥

क्विबन्तस्येदूदन्तस्य ह्रस्वो भवति ॥ गामणिणा। खलपुणा। गामणिणो। खलपुणो॥

अर्थः-ग्रामणी=गामणी अर्थात् गाँव का मुखिया और खलपू अर्थात् दुष्ट पुरुषों को पवित्र करने वाला इत्यादि शब्दों में 'णी' और 'पू' आदि विशेष प्रत्यय लगाये जाकर ऐसे शब्दों का निर्माण किया जाता है; इससे इनमें विशेष-अर्थता प्राप्त हो जाती है और ऐसी स्थिति में ये क्विबन्त प्रत्यय वाले शब्द कहलाते हैं। ऐसे क्विबन्त प्रत्यय वाले शब्दों में जो दीर्घ ईकारान्त वाले और दीर्घ ऊकारान्त वाले शब्द हैं; उनमें विभक्ति-बोधक प्रत्ययों की संयोजना करने वाले अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' अथवा 'ऊ' का ह्रस्व स्वर 'इ' अथवा 'उ' हो जाता है और तत्पश्चात् विभक्ति-बोधक प्रत्यय संयोजित किये जाते हैं जैसे:-ग्रामण्या=गामणिणा, अर्थात् ग्राम-मुखिया द्वारा; खलप्वा=खलपुणा अर्थात् दुष्टों को (अथवा खलिहान को) साफ करने वाले से; ग्रामण्यः=(प्रथमा-द्वितीया बहु वचनान्त)=गामणिणो अर्थात् गाँव मुखिया (पुरुषगण) अथवा गांव मुखियाओं को और खलप्वः=(प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त) =खलपुणो अर्थात् दुष्ट-पुरुषों (या खलिहानों) को साफ करने वाले अथवा साफ करने वालों को। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि विभक्ति बोधक प्रत्यय प्राप्त होने पर क्विबन्त शब्दों के अन्त्य दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाया करते हैं।

'गामणिणा' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३—२४ में की गई है।

'खलपुणा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३—२४ में की गई है।

ग्रामण्यः संस्कृत प्रथमा-द्वितीया के बहु वचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप गामणिणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप, ३-४३ से मूल शब्द 'गामणी' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति और ३-२२ से प्रथमा-द्वितीया के बहु वचन में संस्कृतीय

'जस्'-'शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गामणिणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

खलप्वः संस्कृत प्रथमा-द्वितीया के बहुवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप खलपुणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-४३ से मूल शब्द 'खलपू' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति और ३-२२ से प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय जस्-शस् के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर 'खलपुणो' रूप सिद्ध हो जाता है। ३-४३॥

ऋतामुदस्यमौसु वा ॥ ३-४४ ॥

सि अम् औ वर्जिते अर्थात् स्यादौ परे ऋदन्तानामुदन्तादेशो वा भवति ॥ जस्। भत्तू। भत्तुणो। भत्तउ। भत्तओ। पक्षे। भत्तारा ॥ शस्। भत्तू। भत्तुणो। पक्षे भत्तारे ॥ टा। भत्तुणा। पक्षे। भत्तारेण ॥ भिस्। भत्तूहिं। पक्षे। भत्तारेहिं। ङसि। भत्तुणो। भत्तूओ। भत्तूउ। भत्तूहि। भत्तूहिन्तो। पक्षे। भत्ताराओ। भत्ताराउ। भत्ताराहि। भत्ताराहिन्तो। भत्तारा। ङस्। भत्तुणो। भत्तुस्स। पक्षे भत्तारस्स। सुप्। भत्तूसु। पक्षे। भत्तारेसु ॥ बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वात् यथा दर्शनं नाम्न्यपि उद् व भवति जस् शस्-ङसि-ङस्-सु। पिउणो जामाउणो। भाउणो ॥ टायाम्। पिउणा ॥ भिसि। पिऊहिं ॥ सुपि। पिऊसु। पक्षे। पिअरा। इत्यादि ॥ अस्य मौस्विति किम्। सि। पिआ ॥ अम्। पिअरं ॥ औ। पिअरा ॥

अर्थः—संस्कृत ऋकारान्त शब्दों के प्राकृत-रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'सि' द्विवचन के प्रत्यय 'औ' और द्वितीया विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'अम्' के सिवाय अन्य किसी भी विभक्ति के एकवचन के अथवा बहुवचन के प्रत्ययों की संयोजना होने पर शब्द के अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'उ' की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् उकारान्त के समान ही इन 'तथा कथित-ऋकारान्त=उकारान्त' शब्दों में विभक्ति-बोधक प्रत्ययों की संयोजना हुआ करती है। जैसेः—प्रथमा विभक्ति के बहुवचन मे 'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर-'भर्तृ' के रूप-भर्तारः' के प्राकृत रूपान्तर-भत्तू, 'भत्तुणो, भत्तउ और भत्तओ' होते है। एवं वैकल्पिक पक्ष होने से 'भत्तारा' रूप भी होता है। द्वितीया विभक्ति बहुवचन के शस् प्रत्यय के उदाहरणः-भर्तॄन्=भत्तू, भत्तुणो तथा वैकल्पिक पक्ष में भत्तारे भी होता है। तृतीया विभक्ति के एकवचन के 'टा' प्रत्यय का उदाहरणः-भर्त्रा=भत्तुणा और वैकल्पिक पक्ष मे भत्तारेण होता है। तृतीया बहुवचन के प्रत्यय 'भिस्' का उदाहरणः-भर्तृभिः=भत्तूहि और वैकल्पिक पक्ष में भत्तारेहिं इत्यादि होते है। 'ङसि' पंचमी विभक्ति के एकवचन के उदाहरणः-भर्तुः=भत्तुणो, भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहि, और भत्तूहिन्तो तथा वैकल्पिक पक्ष में भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्ताराहिन्तो और भत्तारा होते है। 'ङस्' षष्ठी विभक्ति

के एकवचन के उदाहरण.--भर्त्तुः-भत्तुणो, भत्तुस्स तथा वैकल्पिक पक्ष में भत्तारस्स रूप होता है। 'सुप' सप्तमी विभक्ति के बहुवचन का उदाहरण -भर्तृषु=भत्तूसु और वैकल्पिक पक्ष में भत्तारेसु होता है।

ऋकारान्त शब्द दो प्रकार के होते हैं; संज्ञा रूप और विशेषण रूप; तदनुसार इस सूत्र की वृत्ति में 'ऋदन्तानाम्' ऐसा बहुवचनात्मक उल्लेख करने का तात्पर्य यही है कि संज्ञारूप और विशेषण रूप दोनों प्रकार के ऋकारान्त शब्दों के अन्त्यस्थ 'ऋ' स्वर के स्थान पर 'सि' और 'अम्' प्रत्ययों को छोड कर शेष सभी प्रत्ययों का योग होने पर वैकल्पिक रूप से 'उ' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः--प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' के उदाहरण -पितृ + जस्=पितरः=पिउणो, जामातृ + ङसि= जामातुः=जामाउणो और भ्रातृ + ङस्=भ्रातुः=भाउणो इत्यादि। इस प्रकार से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन मे 'शस्' प्रत्यय, पंचमी विभक्ति के एक वचन में 'ङसि' प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'ङस्' प्रत्यय और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में 'सुप्' प्रत्यय प्राप्त होने पर ऋकारान्त संज्ञाओं के अन्त्य स्थ 'ऋ' स्वर के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'उ' की प्राप्ति होती है। तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'टा' प्रत्यय का उदाहरण--पितृ + टा = पित्रा = पिउणा; तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय का उदाहरण.-पितृभिः=पिऊहिं और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में 'सुप्' प्रत्यय का उदाहरण.-पितृषु = पिऊसु, यों 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति का विधान समझ लेना चाहिये। वैकल्पिक पक्ष होने से सूत्र-संख्या ३-४७ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'अर' की प्राप्ति भी होती है और ऐसा होने पर इन शब्दों की रूपावलि अकारान्त शब्दों के अनुसार होती है। जैसेः-पितृ + जस् = पितरः = पिअरा, इत्यादि।

प्रश्नः—'सि' 'औ' और 'अम्' प्रत्ययों को प्राप्ति होने पर ऋकारान्त शब्दों में 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति क्यों नहीं होती है?

उत्तरः—'सि' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'पितृ + सि = पिता का प्राकृत रूपान्तर 'पिआ' होता है, 'अम्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'पितृ + अम् = पितरम्' का प्राकृत रूपान्तर पिअरं होता है, तथा प्रथमा विभक्ति और द्वितीय विभक्ति के द्विवचन में 'औ' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'पितृ + औ = पितरौ' का प्राकृत रूपान्तर 'पिअरा' होता है; अतएव 'सि' 'अम्' और 'औ' प्रत्ययों को इस विधान के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है।

भर्त्तारः-संस्कृत रूप है। इसके प्राकृत रूप भत्तू, भत्तुणो, भत्तउ, भत्तओ और भत्तारा होते हैं इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'भर्तृ' में स्थित 'र्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'त' को द्वित्व 'त्त' की प्राप्ति; ३-४४ से अन्त्य 'ऋ' स्वर के स्थान पर 'उ' स्वर की प्राप्ति और ३-४ से तथा ३-२० की वृत्ति से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय का लोप एवं ३-१२ से प्राप्त तथा लुप्त *(जस् प्रत्यय के कारण)* अन्त्य

ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'भत्तू' सिद्ध होता है ।

द्वितीय रूप-(भर्तारः=)भत्तुणो में 'भत्तु' अंग की प्राप्ति प्रथम रूपवत् और ३-२२ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृत-प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *'भत्तुणो'* सिद्ध हो जाता है ।

तृतीय रूप-(भर्तारः=) भत्तउ में 'भत्तु' अंग की प्राप्ति प्रथम रूपवत्; तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-२० से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृत प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत रूप में 'डउ' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'डउ' में 'ड्' इत्संज्ञक होने से 'भत्तु' अंग में स्थित अन्त्य स्वर 'उ' की इत्संज्ञा हो जाने से इस 'उ' का लोप; एवं प्राप्त अंग 'भत्त्' में 'डउ=अउ' प्रत्यय की सयोजना होकर तृतीय रूप *'भत्तउ'* भी सिद्ध हो जाता है ।

चतुर्थ रूप (भर्तारः=) भत्तओ में 'भत्तु' अंग की प्राप्ति प्रथम रूपवत् और शेष साधनिका तृतीय रूप के समान हो सूत्र-संख्या ३-२० से होकर एवं 'डओ=अओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर चतुर्थ रूप-*भत्तओ* भी सिद्ध हो जाता है ।

पंचम रूप—(भर्त्तारः=) भत्तारा में सूत्र संख्या २-७९ से मूल संस्कृत रूप 'भर्तृ' मे स्थित 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त' की प्राप्ति; ३-४५ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति; ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप और ३-१२ से प्राप्त एवं लुप्त 'जस्' प्रत्यय के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति होकर पंचम रूप *भत्तारा* सिद्ध हो जाता है ।

भर्तॄन् संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है । इसके प्राकृत रूप भत्तू, भत्तुणो और भत्तारे होते हैं । इनमें से प्रथम रुप में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र' के पश्चात् रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४४ से मूल संस्कृत शब्द 'भर्तृ' में स्थित अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'उ' आदेश की प्राप्ति; ३-४ से द्वितोया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप और ३-१८ से प्राप्त एवं एवं लुप्त प्रत्यय शस् के कारण से अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *भत्तू* सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय-रूप-(भर्तॄन्=) भत्तुणो में 'भत्तु' रूप अंग की प्राप्ति प्रथम रूपवत् और ३-२२ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप-*भत्तुणो* सिद्ध हो जाता है ।

तृतीय रूप-(भर्तॄन्=) भत्तारे में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आर' की प्राप्ति; ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप और ३-१४

से प्राप्त तथा लुप्त शस् प्रत्यय के कारण से प्राप्तांग 'भत्तार' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर तृतीय रूप भत्तारे सिद्ध हो जाता है।

भर्त्रा संस्कृत तृतीयान्त एक वचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप भत्तुणा और भत्तारेण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र' के पश्चात् रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४४ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति और ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *भत्तुणा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(भर्त्रा=)भत्तारेण में सूत्र संख्या २-७९ से 'र' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'त' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति; ३-' से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय 'टा=आ' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१४ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' के पूर्वस्थ 'भत्तार' अंग के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *भत्तारेण* सिद्ध हो जाता है।

भर्तृभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप भत्तूहिं और भत्तारेहिं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'भर्तृ=भत्तु' अंग की साधनिका इसी सूत्र में ऊपर कृतवत्, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या-३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय भिस् के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१६ से प्राप्त प्रत्यय 'हिं' के पूर्व स्थ 'भत्तु' अंग में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *भत्तूहिं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(भर्तृ भिः=) भत्तारेहिं में 'भर्तृ=भत्तार' अंग की साधनिका इसी सूत्र में ऊपर कृतवत्; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१५ से प्राप्त प्रत्यय हिं' के पूर्व स्थ 'भत्तार' अंग में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *भत्तारेहिं* सिद्ध हो जाता है।

भर्तुः संस्कृत पञ्चम्यन्त एकवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप भत्तुणो, भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहि, भत्तूहिन्तो, तथा भत्ताराओ भत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्ताराहिन्तो और भत्तारा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'भत्तु' अंग की साधनिका इसी सूत्र में ऊपर कृतवत; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२३ से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय 'ङसि' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *भत्तुणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ और पंचम रूपों में-अर्थात् भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहि और भत्तू हिन्तो में 'भत्तु' अंग की प्राप्ति इसी सूत्र में कृत साधनिका के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से मूल प्राप्त-अंग 'भत्तु'में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति और ३-८ से तथा ३-२३ की

वृत्ति से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर क्रम से 'ओ-उ-हि-हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप-(२ से ५ तक) *भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहि,* और *भत्तूहिन्तो* सिद्ध हो जाते हैं।

छट्ठे से दशवे रूपों में अर्थात्- (भर्तुः=)भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्ताराहिन्तो और भत्तारा में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से मूल शब्द 'भर्तृ' मे स्थित अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति; यों प्राप्त-अंग 'भत्तार' मे ३-१२ से अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत मे क्रम से-'ओ-उ-हि-हिन्तो और लुक्' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से *भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्ताराहिन्तो,* एवं *भत्तारा* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

भर्तुः संस्कृत षष्ठयन्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप भत्तुणो, भत्तुस्स और भत्तारस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से 'त्' को द्वित्व 'त्त्' को प्राप्ति; ३-४४ से मूल शब्दस्थ अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'उ' आदेश की प्राप्ति और ३-२३ से प्राप्तांग 'भत्तु' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकलिपक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *भत्तुणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(भर्तुः=)भत्तुस्स में 'भत्तु' अंग की साधनिका ऊपर के समान; और ३-१० से पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'भत्तु' में षठी-विभक्ति के एकवचन मे संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *भत्तुस्स* सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप-(भर्तुः=) भत्तारस्स में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से मूल शब्दस्थ अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति और ३-१० से प्राप्तांग 'भत्तार' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत मे संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *भत्तारस्स* सिद्ध हो जाता है।

भर्तृषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप भत्तूसु और भत्तारेसु होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'भत्तु' अंग की साधनिका ऊपर के समान; ३-१६ से प्राप्तांग 'भत्तु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्' की प्राकृत मे भी प्राप्ति; एवं १-११ से प्राप्त प्रत्यय 'सुप्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'प्' का लोप होकर प्रथम रूप *भत्तूसु* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (भर्तृषु=) भत्तारेसु में 'भत्तार' अंग की साधनिका ऊपर के समान; ३-१५ से प्राप्तांग 'भत्तार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति; और शेष साधनिका की प्राप्ति

प्रथम रूपवत् ४-४४८ तथा १-११ से होकर द्वितीय रूप भत्तारेसु भी सिद्ध हो जाता है।

पितरः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप पिउणो और पिअरा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में मूल-संस्कृत शब्द 'पितृ' में स्थित 'त्' का सूत्र-संख्या १-१७७ से लोप, २-४४ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'उ' आदेश की प्राप्ति; और ३-२२ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *पिउणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(पितरः=) पिअरा में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'पितृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४७ से लोप हुए 'त्' के पश्चात शेष रहे हुए स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति; ३-१२ से 'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति रही हुई होने से प्राप्तांग 'पिअर' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर द्वितीय रूप *पिअरा* सिद्ध हो जाता है।

जामातुः संस्कृत पञ्चम्यन्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप जामाउणो होता है। इसमें मूल संस्कृत शब्द 'जामातृ' में स्थित 'त्' का सूत्र-संख्या १-१७७ से लोप; २-४४ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'उ' आदेश की प्राप्ति और ३-२३ से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में (वैकल्पिक रूप से) 'णो' प्रत्यय की की प्राप्ति होकर *जामाउणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

भ्रातुः संस्कृत षष्ठ्यन्त एक वचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भाउणो होता है। इसमें मूल शब्द भ्रातृ में सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप, २-४४ से लोप हुए 'त' के पश्चात शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'उ' आदेश की प्राप्ति और ३-२३ से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *भाउणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

पित्रा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिउणा होता है। मूल शब्द पितृ में-सूत्र संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप, २-४४ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति और ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत-में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पिउणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

पितृभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप पिऊहिं होता है। इसमें 'पिउ' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; ३-१६ से प्राप्तांग 'पिउ' में स्थित ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ऊ' प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पिऊहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

पितृषु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप पिऊसु होता है। इसमें अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; ३-१६ से प्राप्तांग 'पिउ' में स्थित ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थ दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति; ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सुप्'=सु' के हां प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पिऊसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

पिता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिआ होता है। इ मूल शब्द 'पितृ' में स्थित 'त्' का सूत्र-संख्या १-१७७ से लोप; ३-४८ से लोप हुए 'त्' के शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में स प्राप्तव्य प्रत्यय-'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर *पिआ* रूप सिद्ध हो जाता है।

पितरम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिअरं होता है। इ मूल शब्द 'पितृ' में स्थित त् का सूत्र संख्या १-१७७ से लोप; ३-४७ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् हुए स्वर ऋ' के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'म् की प्राप्ति और १-२३ प्राप्त प्रत्यय में 'म्' का अनुस्वार होकर *पिअरं* रूप सिद्ध हो जाता है।

पितरौ संस्कृत प्रथमान्त-द्वितीयान्त द्विवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिअरा हो इसमें 'पिअर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिकानुसार; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुव प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्तांग 'पिअर' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' प्राप्ति और प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्'-शस्' का प्राकृत में लोप होकर रूप सिद्ध हो जाता है। ॥ ३-४४ ॥—

आरः स्यादौ ॥ ३-४५ ॥

स्यादौ परे ऋत आर इत्यादेशो भवति ॥ भत्तारो। भत्तारा। भत्तारं। भ भत्तारेण। भत्तारेहिं ॥ एवं डस्यादिषूदाहार्यम् ॥ लुप्तस्याद्यपेक्षया। भत्तार-विहिअं ॥

अर्थः—ऋकारान्त शब्दों में और ऋकारान्त विशेषणात्मक शब्दों में विभक्ति-बोधक 'सि आदि प्रत्ययों की संयोजना होने पर इन शब्दों के अन्त्यस्थ 'ऋ' स्वर के स्थान पर 'आर' आ प्राप्ति होती है तत्पश्चात् इनकी विभक्ति-बोधक रूपावली अकारान्त शब्द के समान संचालि है। जैसे:—भर्ता भत्तारो;=भर्तारः=भत्तारा; भर्तारम्=भत्तारं भर्तॄन्=भत्तारे; भर्त्रा=भत्तारेण; भ भत्तारेहि; इसी प्रकार से पंचमी आदि शेष सभी विभक्तियों में स्वयमेव रूप निर्धारित क चाहिये; ऐसा आदेश वृत्ति में दिया हुआ है। समास-गत ऋकारान्त शब्द में भी यदि वह समा वाक्य के प्रारम्भ मे रहा हुआ तो 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति हो जाती है एवं

गत होने से विभक्ति-बोधक प्रत्ययों का लोप होने पर भी 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश प्राप्ति का अभाव नहीं होता है। जैसे:— भर्तृ-विहितम् = भत्तार-विहिअं।

भर्ता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भत्तारो होता है। इसमें-मूल शब्द 'भर्तृ' में स्थित 'र्' का सूत्र-संख्या २-७९ से लोप; २-८९ से 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *भत्तारो* रूप सिद्ध हो जाता है।

भर्तारः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भत्तारा होता है। इसमें 'भत्तार अंग की प्राप्ति उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'भत्तार' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर *भत्तारा* रूप सिद्ध हो जाता है।

भर्तारम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भत्तारं होता है। इसमें 'भत्तार' अंग की प्राप्ति उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५ से द्वितीया-विभक्ति के एकवचन में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से 'म्' का अनुस्वार होकर *भत्तारं* रूप सिद्ध हो जाता है।

भर्तॄन् संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भत्तारे होता है। इसमें 'भत्तार' अंग की प्राप्ति-उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'भत्तार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप होकर *भत्तारे* रूप सिद्ध हो जाता है।

भर्त्रा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप-भत्तारेण होता है। इसमें 'भत्तार' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या-३-१४ से प्राप्तांग 'भत्तार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा'='आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *भत्तारेण* रूप सिद्ध हो जाता है।

भर्तृभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप भत्तारेहिं होता है। इसमें 'भत्तार' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'भत्तार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *भत्तारेहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

भर्तृ-विहितम् संस्कृत विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप भत्तार-विहिअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश की प्राप्ति १-१७७ से द्वितीय 'त्' का लोप; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *भत्तारविहिअं* रूप सिद्ध हो जाता है। ॥ ३ ४५ ॥

आ अरा मातुः ॥ ३-४६ ॥

मातृ संबन्धिन ऋतः स्यादौ परे आ अरा इत्यादेशौ भवतः ॥ माआ ॥ माअरा । माआउ । माआओ । माअराउ । माअराओ । माअं । माअरं इत्यादि ॥ बाहुलकाज्जनन्यर्थस्य आ देवतार्थस्य तु अरा इत्यादेशः । माआए कुच्छीए । नमो माअराण ॥ मातुरिद्वा [१-१३५] इतीत्त्वे माईण इति भवति ॥ ऋतामुद [३-४४] इत्यादिना उत्त्वे तु माउए समन्निअं वन्दे इति । स्यादावित्येव । माइ देवो । माइ-गणो ॥

अर्थः—'मातृ' शब्द में स्थित 'ऋ' के स्थान पर आगे विभक्ति-बोधक 'सि', 'अम्' आदि प्रत्ययों के रहने पर 'आ' और 'अरा' ऐसे दो आदेशों का प्राप्ति यथाक्रम से होती है। जैसेः—माता=माआ अथवा माअरा। मातरः=माआउ और माआओ अथवा माअराउ अथवा माअराओ= माताएं। मातरम्=माअं अथवा माअरं अर्थात माता को। 'मातृ' शब्द दो अर्थों में मुख्यतः व्यवहृत होता है:—(१) जननी अर्थ में और (२) देवता के स्त्रीलिंग रूप देवी-अर्थ में; तदनुसार जहां 'मातृ' शब्द का अर्थ 'जननी' होगा वहां पर प्राकृत-रूपान्तर में अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आ' आदेश की प्राप्ति होगी; एवं जहां 'मातृ' शब्द का अर्थ देवी होगा; वहां पर प्राकृत-रूपान्तर में अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'अरा' आदेश की प्राप्ति होगी। जैसेः—मातुः कुक्षेः=माआए कुच्छीए अर्थात् माता के पेट से। नमो मातृभ्यः=नमो माअराण अर्थात देवी रूप माताओं के लिये नमस्कार हो। प्रथम उदाहरण में "मातृ= जननी" अर्थ होने से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'आ' आदेश किया गया है; जब कि द्वितीय-उदाहरण में 'मातृ=देवी' अर्थ होने से अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'अरा' आदेश किया गया है; यों 'आ' और 'अरा' आदेश-प्राप्ति में रहस्य रहा हुआ है उसे ध्यान में रखना चाहिये। सूत्र-संख्या १-१३५ में कहा गया है कि-जब 'मातृ' शब्द गौण रूप से समास-अवस्था में रहा हुआ हो तो उस 'मातृ' शब्द में स्थित अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर प्राकृत रूपान्तर में वैकल्पिक रूप से 'इ' की प्राप्ति होती है। तदनुसार यहां पर दृष्टान्त दिया जाता है कि- 'मातृभ्यः=माईण' अर्थात् माताओं के लिये; इस प्रकार 'ऋ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति भी होती है। इसी प्रकार से सूत्र-संख्या ३-४४ में विघोषित किया गया है कि

ऋकारान्त शब्दों के अन्त्यस्थ 'ऋ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'उ' की प्राप्ति होती है'; तदनुसार 'मातृ' शब्द में स्थित अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'उ' की प्राप्ति भी होती है; जैसे:— मात्रा समन्वितम् वन्दे=माऊए समन्निअं वन्दे अर्थात् मैं माता के साथ (समुच्चय रूप से) नमस्कार करता हूं। इस 'माऊए' उदाहरण में 'मातृ' शब्द के 'ऋ' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-५४ के अनुसार वैकल्पिक रूप से 'उ' आदेश की प्राप्ति प्रदर्शित की गई है; अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—सूत्र की वृत्ति में ऐसा क्यों कहा गया है कि-'सि' 'अम्' आदि विभक्ति-बोधक प्रत्ययों के आगे रहने पर ही 'मातृ' शब्द में स्थित 'ऋ' के स्थान पर 'आ' अथवा 'अरा' आदेश की प्राप्ति होती है।

उत्तरः—विभक्ति-बोधक प्रत्ययों से रहित होता हुआ समास-अवस्था में गौण रूप से रहा हुआ हो तो 'मातृ' शब्द में स्थित 'ऋ' स्थान पर 'आ' अथवा 'अरा' आदेश प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु सूत्र संख्या १-१३५ अनुसार इस अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'इ' आदेश की प्राप्ति होगी, ऐसा सिद्धान्त प्रदर्शित करने के लिये ही सूत्र की वृत्ति में 'सि' 'अम्' आदि प्रत्ययों के आगे रहने की आवश्यकता का उल्लेख करना सर्वथा उचित है। जैसे:—मातृ-देव' = माइ-देवो और मातृ-गण = माइ-गणो, इत्यादि। इन उदाहरणों में उक्त विधानानुसार 'ऋ' के स्थान पर 'इ' आदेश की प्राप्ति प्रदर्शित की गई है।

माता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप माआ और माअरा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'मातृ' में स्थित 'त्' का लोप, ३-४६ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'आ' आदेश की प्राप्ति; ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि = स्' की प्राकृत में प्राप्त अंग 'माआ' में भी प्राप्ति एवं १-११ से प्राप्त प्रत्यय 'स्' का 'हलन्त होने से' लोप होकर *माआ* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (माता=) माअरा में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'मातृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४६ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'अरा' आदेश की प्राप्ति और शेष साधनिका प्रथम रूपवत् होकर द्वितीय रूप *माअरा* भी सिद्ध हो जाता है।

मातरः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप माआउ, माआओ, माअराउ, और माअराओ होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'मातृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४६ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे 'ऋ' के स्थान पर 'आ' आदेश की प्राप्ति और ३-२७ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में आकारान्त स्त्रीलिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर *माआउ* और *माआओ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय और चतुर्थ रूप-(मातरः =) माअराउ और माअराओ में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल

संस्कृत शब्द मातृ में स्थित 'त्' का लोप; ३-४६ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'अरा' आदेश-की प्राप्ति और ३-२७ से प्रथम दो रूपों के समान ही 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर *माअराउ* और *माअराओ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

मातरम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप माअं और माअरं होते हैं। इनमें 'माआ' और 'माअरा' अंगों की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-३६ से 'अन्त में द्वितीया विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय आने से' मूल-अंग 'माआ तथा माअरा' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'आ के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप-*माअं* और *माअरं* सिद्ध हो जाते हैं।

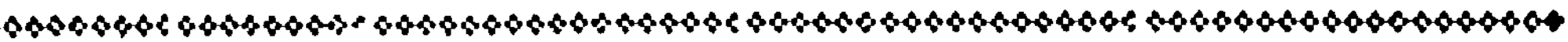
मातुः संस्कृत षष्ठयन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप माआए होता है। इसमें 'माआ' अंग की साधनिका उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२९ से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में आकारान्त स्त्रीलिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस् = अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *माआए* रूप सिद्ध हो जाता है।

कुक्षेः संस्कृत पञ्चम्यन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप कुच्छीए होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-३ से मूल संस्कृत शब्द 'कुक्षि' में स्थित 'क्ष्' के स्थान पर 'छ्' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'छ' को द्वित्व 'छ्छ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'छ्' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति और ३-२९ से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में इकारान्त के स्त्रीलिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि = अस्' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ 'ई' की प्राप्ति कराते हुए 'ए, प्रत्यय की प्राप्ति होकर *कुच्छीए* रूप सिद्ध हो जाता है।

नमः संस्कृत अव्यय है। इसका प्राकृत रूप नमो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-३७ के विसर्ग के स्थान पर 'डो' आदेश की प्राप्ति; तत्पश्चात् 'डो' में 'ड्' इत्संज्ञक होने से मूल अव्यय 'नम' में स्थित अन्त्य 'अ' की इत्संज्ञा होकर लोप एवं तत्पश्चात् प्राप्त हलन्त अंग 'नम्' में पूर्वोक्त 'ओ' आदेश की प्राप्ति संधि-संयोजना होकर प्राकृतीय अव्यय रूप *नमो* सिद्ध हो जाता है।

मातृभ्यः संस्कृत चतुर्थ्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप माअराण होता है। इसमें 'माअरा' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् प्राप्तांग 'माअरा' में सूत्र-संख्या ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का योग-दान एवं तदनुसार ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *माअराण* रूप सिद्ध हो जाता है।

मातृभ्यः संस्कृत चतुर्थ्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप माईण होता है। इसमें



सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त' का लोप; १-१३५ से लोप हुए त' के पश्चात् शेष रहे 'ऋ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'इ' की प्राप्ति, ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का योगदान; ३-१२ से प्राप्तांग 'माइ' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' दीर्घ 'ई' की प्राप्ति और अन्त में ३-६ से षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *माईण* रूप सिद्ध हो जाता है।

मात्रा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप माऊए होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'मातृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४४ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति; और ३-२९ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा = आ' के स्थान पर प्राप्तांग 'माउ' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति कराते हुए 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *माऊए* रूप सिद्ध हो जाता है।

समन्वितम् संस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप समन्निअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'व' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'व्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'न्' को द्वित्व 'न्न्' की प्राप्ति; १-१७७ से 'त्' का लोप; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त नपुंसक लिंग में प्राकृत में 'म' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से 'म्' का अनुस्वार होकर *समन्निअं* रूप सिद्ध हो जाता है।

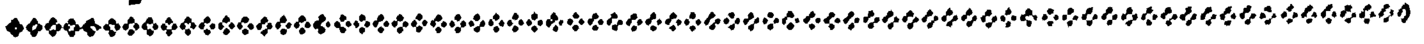
'*वन्दे*' (क्रियापद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२४* में की गई है।

मातृ देवः संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप माइ-देवो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप; १-१३५ से लोप हुए 'त' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'डो = ओ' की प्राप्ति होकर *माइ-देवो* रूप सिद्ध हो जाता है।

मातृ-गणः संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप माइ-गणो होता है। इसमें 'माइ-देवो' में प्रयुक्त सूत्रों से साधनिका की प्राप्ति होकर *माइ-गणो* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-४६॥

नाम्न्यरः ॥ ३-४७ ॥

ऋदन्तस्य नाम्नि संज्ञायां स्यादौ परे अर इत्यन्तादेशो भवति ॥ पिअरा। पिअरं। पिअरे। पिअरेण। पिअरेहिं जामायरा। जामायरं। जामायरे। जामायरेण। जामायरेहिं। मायरा। मायरं। मायरे। मायरेण। मायरेहिं॥



अर्थः—नाम-बोधक ऋकारान्त संज्ञाओं में स्थित अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर, आगे विभक्ति बोधक 'सि' 'अम्' आदि प्रत्ययों के रहने पर, 'अर' आदेश की प्राप्ति होती है। और इस प्रकार ये संस्कृतीय ऋकारान्त संज्ञा-शब्द प्राकृत रूपान्तर में 'अर-आदेश प्राप्ति' होने से अकारान्त हो जाते हैं; एवं तत्पश्चात् इनकी विभक्ति-बोधक-रूपावलि' जिण' आदि अकारान्त शब्दों के अनुसार बनती है। जैसेः—पितरः=पिअरा; पितरम्=पिअरं; पितॄन्=पिअरे; पित्रा=पिअरेण और पितृभिः=पिअरेहिं; इत्यादि। जामातरः=जामायरा; जामातरम्=जामायरं; जामातॄन्=जामायरे; जामात्रा=जामायरेण और जामातृभिः=जामायरेहिं इत्यादि। भ्रातरः=भायरा; भ्रातरम्=भायरं; भ्रातॄन्=भायरे; भ्रात्रा=भायरेण और भ्रातृभिः=भायरेहिं; इत्यादि।

पिअरा और *पिअरं* रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-४४* में की गई है।

पितॄन् संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिअरे होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'पितृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४७ से लोप हुए 'त' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति; ३-१४ से प्राप्तांग 'पिअर में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया बहुवचन बोधक प्रत्यय 'शस्' की प्राप्ति होने से'-'ए' की प्राप्ति और ३-४ से द्वितीयाविभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप होकर *पिअरे* रूप सिद्ध हो जाता है।

पित्रा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिअरेण होता है। इसमें 'पिअर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'पिअर' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति-बोधक प्रत्यय की प्राप्ति होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पिअरेण* रूप सिद्ध हो जाता है।

पितृभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पिअरेहिं होता है। इसमें 'पिअर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'पिअर' में स्थित अन्त्य 'अ' स्थान पर 'आगे तृतीया-विभक्ति के बहुवचन बोधक प्रत्यय की प्राप्ति होने से' 'ए' की प्राप्ति ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पिअरेहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

जामातरः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप जामायरा होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द-'जामातृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४७ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति; १-१८० से आदेश-प्राप्त 'अर' में स्थित 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्तांग 'जामायर' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे

प्रथमा विभक्ति के बहुवचन बोधक प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर *जामायरा* रूप सिद्ध हो जाता है।

जामातरम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप जामायरं होता है। इसमें 'जामायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'अम्=म्' के समान ही प्राकृत में भी 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *जामायरं* रूप सिद्ध हो जाता है।

जामातॄन् संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप जामायरे होता है। इसमें 'जामायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान, तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'जामायर' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रत्यय की प्राप्ति होने से' 'ए' की प्राप्ति, और ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप होकर *जामायरे* रूप सिद्ध हो जाता है।

जामात्रा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप जामायरेण होता है। इसमें 'जामायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'जामायर' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया-विभक्ति के एकवचन प्रत्यय की प्राप्ति होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से तृतीया-विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *जामायरेण* रूप सिद्ध हो जाता है।

जामातृभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत जामायरेहिं होता है। इसमें 'जामायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान, तत्पश्चात् शेष साधनिका सूत्र-संख्या ३-१५ तथा ३-७ से उपरोक्त 'पिअरेहिं' के समान ही होकर *जामायरेहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

भ्रातरः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भायरा होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत-शब्द भ्रातृ में स्थित 'र्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप, ३-४७ से लोप हुए त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति; १-१८० से आदेश प्राप्त 'अर' में स्थित 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति, ३-१२ से प्राप्तांग 'भायर' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन बोधक प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर *भायरा* रूप सिद्ध हो जाता है।

भ्रातरम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भायरं होता है। इसमें 'भायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान; तत्पश्चात् शेष साधनिका सूत्र-संख्या ३-५ तथा १-२३ से 'जामायरं' के समान ही होकर प्राकृत-रूप *भायरं* सिद्ध हो जाता है।

भ्रातृन् संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भायरे होता है। इसमें 'भायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान; तत्पश्चात शेष साधनिका की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-१४ और ३-४ से 'जामायरे' के समान ही होकर प्राकृत रूप *भायरे* सिद्ध हो जाता है।

भ्रात्रा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप भायरेण होता है। इसमें 'भायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान; तत्पश्चात् शेष साधनिका की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-१४ तथा ३-६ से 'जामायरेण' के समान ही होकर प्राकृत-रूप *भायरे* सिद्ध हो जाता है।

भ्रातृभिः तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप भायरेहिं होता है। इसमें 'भायर' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के समान; तत्पश्चात् शेष साधनिका की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-१५ तथा ३-७ से उपरोक्त 'पिअरेहिं' अथवा 'जामायरेहिं' के समान ही होकर प्राकृत रूप *'भायरेहिं'* सिद्ध हो जाता है। ३-४७ ॥

आ सौ न वा ॥ ३-४८ ॥

ऋदन्तस्य सौ परे आकारो वा भवति ॥ पिआ। जामाया। भाया। कत्ता। पक्षे। पिअरो। जामायरो। भायरो। कत्तारो।

अर्थः—संस्कृत ऋकारान्त शब्दों के प्राकृत-रूपान्तर मे प्रथमा-विभक्ति बोधक प्रत्यय 'सि' परे रहने पर शब्दान्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'आ' की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—पिता = पिआ अथवा पिअरो; जामाता = जामाया अथवा जामायरो; भ्राता = भाया अथवा भायरो और कर्ता = कत्ता अथवा कत्तारो; इत्यादि।

"पिआ" रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-४४* में की गई है।

जामाता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप जामाया और जामायरो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत-शब्द 'जामातृ' में स्थित 'त्' का लोप; ३-४८ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'आ' आदेश-प्राप्ति; १-१८० से आदेश-प्राप्त 'आ' स्थान पर 'या' प्राप्ति; ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि'='स्' की प्राकृत में भी प्राप्ति और १-११ से प्राप्त प्रत्यय 'स्' का प्राकृत में लोप होकर प्रथम रूप *जामाया* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*जामायरो*' की सिद्धि सूत्र-सख्या ३-४७ में की गई है।

भ्राता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप भाया और भायरो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र सख्या २-७६ से मूल संस्कृत शब्द 'भ्रातृ' में स्थित 'र्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप; ३-४८ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेप रहे हुए 'ऋ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; १-१८० से प्राप्त 'आ के स्थान पर 'या' की प्राप्ति और शेप साधनिका की प्राप्ति सूत्र-संख्या ४-४४८ तथा १-११ से उपरोक्त 'जामाया' के समान ही होकर प्रथम रूप '*भाया*' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(भ्राता=) भायरो में सूत्र-संख्या २-७६ से मूल संस्कृत-शब्द 'भ्रातृ' से स्थित 'र्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप, ३-४७ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेप रहे हुए 'ऋ' स्वर के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति, १-१८० से आदेश-प्राप्त 'अर' में स्थित प्रथम 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तांग 'भायर' में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *भायरो* सिद्ध हो जाता है।

कर्ता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत-रूप कत्ता और कत्तारो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७६ से मूल संस्कृत शब्द कर्तृ' में स्थित 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'त्' को 'द्वित्व' 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४८ से शब्दान्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'आ' आदेश प्राप्ति, और शेप साधनिका की प्राप्ति सूत्र-संख्या ४-४४८ तथा १-११ से उपरोक्त 'जामाया' के समान ही होकर प्राकृत रूप '*कत्ता*' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप- (कर्ता=)कत्तारो में सूत्र-संख्या २-७६ से मूल संस्कृत शब्द 'कर्तृ' में स्थित 'र्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; ३-४५ से शब्दान्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'आर' आदेश-प्राप्ति; और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तांग 'कत्तार' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *कत्तारो* सिद्ध हो जाता है।

पिता संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप-(पूर्वोक्त पिआ के अतिरिक्त) पिअरो होता है। इसमें सूत्र-सख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'पितृ' में स्थित 'त्' का लोप, ३-४७ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेप रहे हुए स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'अर' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तांग 'पिअर' में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पिअरो* रूप सिद्ध हो जाता है॥ ३-४८॥

राज्ञः ॥ ३-४९ ॥

राज्ञो नलोपेन्त्यस्य आत्वं वा भवति सौ परे । राया । हे राया । पक्षे । आणा । देशे । रायाणो ॥ हे राय । हे रायं इति तु शौरसेन्याम् । एवं हे अप्पं । हे अप्प ॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय 'सि' परे रहने पर सूत्र-संख्या १-११ से 'न्' का लोप होकर अन्त्य 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'आ' की प्राप्ति होती है। जैसेः—राजा=राया; वैकल्पिक पक्ष में सूत्र-संख्या ३-५६ से 'आण' आदेश की प्राप्ति होने पर प्रथमा विभक्ति के एकवचन में राजा=रायाणो रूप भी होता है। संबोधन एकवचन का उदाहरणः— हे राजन्=हे राया ! और हे राय ! शौरसेनी भाषा में सूत्र-संख्या-४-२६४ से संबोधन के एकवचन में 'हे रायं !' रूप भी होता है। इसी प्रकार से 'आत्मन्' शब्द भी 'राजन्' के समान ही नकारान्त होने से इस 'आत्मन्' शब्द के संबोधन के एकवचन में भी दो रूप होते हैं:-जैसे.— हे आत्मन् =हे अप्पं अथवा हे अप्प !" प्रथम रूप शौरसेनी भाषा का है; जब कि द्वितीय रूप प्राकृत भाषा का है !

राजा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राया और रायाणो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त 'न्' का लोप; एवं ३-४९ से शेष शब्द राज के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्तांग 'राजा' में स्थित 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'आ' के स्थान पर 'या' की प्राप्ति; ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि'='स्' की प्राकृत में भी प्राप्ति और १-११ से प्राप्त प्रत्यय हलन्त 'स्' का लोप होकर *राया* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राजा =)रायाणो में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित 'ज्' का लोप १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-५६ से प्राप्तांग 'रायन्' में स्थित अन्त्य 'अन्' के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति; तदनुसार प्राप्तांग 'रायाण' में सूत्र-संख्या ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *रायाणो* भी सिद्ध हो जाता है।

हे राजन् ! संस्कृत संबोधनात्मक एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे राया ! और हे राय ! होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त 'न्' का लोप एवं ३-४९ से शेष शब्द 'राज' के अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्तांग 'राजा' में स्थित 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज' के पश्चात् शेष रहे हुए 'आ' के स्थान पर 'या' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एकवचन में प्राप्तांग 'राया' में अन्त्य 'आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'अ' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप-हे *राया !* और हे *राय !* सिद्ध हो जाते हैं।

हे राजन् ! संस्कृत संबोधनात्मक एकवचन रूप है। इसका शौरसेनी रूप हे राय होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ४-२६४ से संबोधन के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के कारण से शौरसेनी में प्राप्तांग 'रायन्' के अन्त्य 'न्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर शौरसेनी रूप हे रायं ! सिद्ध हो जाता है।

हे *आत्मन् !* संस्कृत संबोधनात्मक एकवचन का रूप है। इसका शौरसेनी रूप हे अप्प ! होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-८४ से दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति २-५१ से संयुक्त व्यञ्जन 'त्म' के स्थान पर 'प' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति ४-२६४ से संबोधन के एकवचन में शौरसेनी में प्राप्तांग 'अप्पन्' में स्थित अन्त्य 'न्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर हे *अप्पं !* रूप सिद्ध हो जाता है।

हे *आत्मन् !* संस्कृत संबोधनात्मक एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हे अप्प ! होता है। इसमें 'अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या १-११ से हलन्त 'न्' का लोप और ३-३८ से संबोधन के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' का प्राकृत में वैकल्पिक रूप से अभाव होकर प्राकृतीय-संबोधनात्मक एकवचन रूप हे *अप्प !* सिद्ध हो जाता है। ३-४९ ॥

जस्-शस्-ङसि-ङसां णो ॥ ३-५० ॥

राजन् शब्दात् परेषामेषां णो इत्यादेशो वा भवति ॥ जस्। रायाणो चिट्ठन्ति। पक्षे। राया ॥ शस्। रायाणो पेच्छ। पक्षे। राया, राए ॥ ङसि। राइणो रण्णो आगओ। पक्षे। रायाओ। रायाउ। रायाहि। रायाहिन्तो। राया ॥ ङस्। राइणो रण्णो धणं। पक्षे। रायस्स ॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर, द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर, पंचमी विभक्ति के एकवचन में प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर और षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—'जस्' प्रत्यय का उदाहरण—राजानः तिष्ठन्ति=रायाणो अथवा राया चिट्ठन्ति। 'शस्' प्रत्यय का उदाहरणः—राज्ञः पश्य=रायाणो अथवा राया अथवा राए पेच्छ, अर्थात् राजाओं को देखो। ङसि' प्रत्यय का उदाहरणः—राज्ञः आगतः=राइणो रण्णो-आगओ, पक्षान्तर में पांच रूप होते हैं:—रायाओ, रायाउ; रायाहि, रायाहिन्तो और राया आगओ अर्थात् राजा से आया हुआ है। 'ङस्' प्रत्यय का उदाहरणः—राज्ञः धनम्=राइणो-रण्णो

अथवा रायस्स धणं अर्थात् राजा का धन, । यों उपरोक्त उदाहरणों से विदित होता है कि 'जस्' 'शस्' 'ङसि और ङस्' प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत मे 'णो' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति हुई है ।

राजानः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है । इसके प्राकृत रूप-रायाणो और राया होते हैं । इनमे से प्रथम रूप में । सूत्र-संख्या १-१७७ से संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; १-११ से हलन्त 'न्' का लोप; ३-१२ से प्राप्तांग 'राय' मे स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय रहा हुआ होने से' 'आ' की प्राप्तिऔर ३-५० से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *रायाणो* सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय रूप-(राजानः=) राया में 'राय' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से उपरोक्त रीति अनुसार ही अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति एवं प्राप्तांग 'राया' में ३-४ से प्रथम विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस' की प्राकृत में प्राप्ति और लोप-स्थिति प्राप्त होकर द्वितीय रूप *राया* भी सिद्ध हो जाता है ।

'चिट्ठन्ति' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-२०* में की गई है ।

राज्ञः संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है । इसके प्राकृत रूप-रायाणो, राया और राए होते हैं । इनमें से प्रथम रूप में 'राय' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'राय' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय रहा हुआ होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-५० से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य 'शस्' के स्थान पर प्राकृत मे 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप-*रायाणो*-सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय रूप-(राज्ञः=) राया में 'राय' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से 'राय में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति एवं ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' की प्राकृत में प्राप्ति एवं लोप-स्थिति प्राप्त होकर द्वितीय रूप *राया* भी सिद्ध हो जाता है ।

तृतीय रूप-(राज्ञः=) राए में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित 'ज्' का लोप; १-११ से अन्त्य हलन्त 'न्' व्यञ्जन का लोप; ३-१४ से प्राप्तांग 'राअ' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' की प्राकृत में प्राप्ति एवं लोप-स्थिति प्राप्त होकर तृतीय रूप 'राए' भी सिद्ध हो जाता है ।

'पेच्छ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है ।

राज्ञः संस्कृत पञ्चम्यन्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राइणो, रण्णो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो और राया होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-५२ से 'ज' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'इ'-की प्राप्ति और ३-५० से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राइणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राज्ञः =) रण्णो में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप, ३-५५ से से शेष रूप 'राज' में स्थित 'आज' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'अण्' की प्राप्ति और ३-५० से प्राप्तांग 'रण्' में पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप '*रण्णो*' सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप से सातवें रूप तक में अर्थात्-(राज्ञः=) रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो और राया में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; १-१७७ से 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्तांग 'राय में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे पंचमी विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय रहे हुए होने से' दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति एवं ३-८ से प्राप्तांग 'राया' में पंचमी विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'ओ-उ हि हिन्तो और लुक्' की क्रम से प्राप्ति होकर क्रम से *रायाओ रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो* और *राया* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'*आगओ*' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या १-२०९ में की गई है।

राज्ञः संस्कृत षष्ठयन्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राइणो, रण्णो और रायस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न' का लोप, ३-५२ से शेष रूप 'राज' में स्थित 'ज' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति और ३-५० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राइणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राज्ञः=) रण्णो में सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप ३-५५ से शेष रूप 'राज' में स्थित 'आज' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'अण् की प्राप्ति और ३-५० से प्राप्तांग 'रण्' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप-*रण्णो* भी सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप-(राज्ञः=) रायस्स में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत-शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य

हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; १-१७७ से 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेप रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *रायस्स* भी सिद्ध हो जाता है।

धनम् संस्कृत प्रथमान्त एकवचन को रूप है। इसका प्राकृत रूप धणं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत मे 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *धणं* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-५० ॥

टा णा ॥ ३-५१ ॥

राजन् शब्दात् परस्य टा इत्यस्य णा इत्यादेशो वा भवति ॥ राइणा । रण्णा पक्षे राएण कयं ॥-

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में तृतीया-विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'णा' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः— राज्ञा कृतम्=राइणा-रण्णा- (अथवा-) राएण कयं; अर्थात् राजा से किया हुआ है। यहां प्रथम दो रूपों में 'णा' आदेश की प्राप्ति हुई है।

राज्ञा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राइणा, रण्णा और राएण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'राइ' अंग प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-५० में वर्णित साधनिका के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५१ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राइणा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राज्ञा=) रण्णा में 'रण्' अंग की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-५० में वर्णित साधनिका के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५१ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में प्रथम रूप के समान ही 'णा' आदेश-प्राप्त प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होकर द्वितीय रूप-*रण्णा* भी सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप-(राज्ञा=) राएण में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; १-१७७ से 'ज्' का लोप; ३-१४ से प्राप्तांग 'राअ' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय रहा हुआ होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'राए' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप राएण सिद्ध हो जाता है।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है। ॥ ३-५१ ॥

इर्जस्य णो-णा-ङौ ॥ ३-५२ ॥

राजन् शब्द संबन्धिनो जकारस्य स्थाने णो-णा-ङिषु परेषु इकारो वा भवति ॥ राइणो चिट्ठन्ति पेच्छ आगओ धणं वा ॥ राइणा कयं । राइम्मि । पक्खे । रायाणो । रण्णो । रायणा । राएण । रायम्मि ॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में (प्रथमा बहुवचन में, द्वितीया बहुवचन में, पचमी एकवचन में और षष्ठी एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय) णो; (तृतीया एकवचन मे प्राप्तव्य प्रत्यय) णा और सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थानीय रूप 'म्मि' परे रहने पर (मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित) 'ज' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'इ' की प्राप्ति होती है। जैसेः— राजानः तिष्ठन्ति=राइणो चिट्ठन्ति अर्थात् राजा गण ठहरे हुए हैं। राज्ञः पश्य=राइणो पेच्छ अर्थात् राजाओं को देखो। राज्ञः आगतः=राइणो आगओ अर्थात् राजा से आया हुआ है। राज्ञः धनम्=राइणो धण अर्थात् राजा का धन। इन उदाहरणों से विदित होता है कि-प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में और पचमी षष्ठी के एकवचन के प्राप्तव्य प्रत्यय 'णो' के पूर्व में राजन्' शब्द में स्थित 'ज' के स्थान पर 'इ' की आदेश प्राप्ति हुई है। 'णा' प्रत्यय का उदाहरण इस प्रकार है:— राज्ञा कृतम्=राइणा कयं अर्थात् राजा से किया हुआ है। इसी प्रकार से 'ङि' प्रत्यय के स्थानीय रूप 'म्मि' का उदाहरण इस प्रकार है:— राज्ञि=अथवा राजनि=राइम्मि अर्थात् राजा में। इस प्रकार तृतीया के एकवचन में और सप्तमी के एकवचन में क्रम से प्राप्त 'णा' प्रत्यय और 'म्मि' प्रत्यय के पूर्व में 'राजन्' शब्द में स्थित 'ज' के स्थान पर 'इ' की आदेश-प्राप्ति हुई है। वैकल्पिक पक्ष होने से जहां प्राप्त प्रत्यय 'णो', 'णा' और म्मि' प्रत्ययों के पूर्व 'राजन्' शब्द मे स्थित 'ज' के स्थान पर 'इ' आदेश-प्राप्ति-नहीं होगी, वहां 'राजन्' शब्द के रूप उपरोक्त विभक्तियों में इस प्रकार होंगे.—

राजानः=रायाणो अर्थात् राजा गण। राज्ञः=रायाणो अर्थात् राजाओं को। राज्ञः=रण्णो अर्थात् राजा से। राज्ञः=रण्णो अर्थात् राजा का। राज्ञा=रायणा अथवा राएण अर्थात् राजा द्वारा या राजा से। राज्ञि या राजनि=रायम्मि अर्थात् राजा में अथवा राजा पर। इन उदाहरणों में यह प्रदर्शित किया गया है कि 'णो', 'णा' और म्मि' प्रत्ययों के प्राप्त होने पर भी वैकल्पिक पक्ष होने से 'राजन्' शब्द में स्थित 'ज' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति नहीं हुई है। यों वृत्ति में वर्णित शब्द 'इकारो वा' का अर्थ जानना।

राजानःसंस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप राइणो होता है। इसमें 'राइ' अग की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-५० में वर्णित साधनिका के अनुसार और तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-२२ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *राइणो* सिद्ध हो जाता है।

राज्ञः संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप राइणो होता है। इसमें उपरोक्त रीति से ही सूत्र-संख्या ३-५० और ३-२२ से साधनिका की प्राप्ति होकर *राइणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

राइणो पंचम्यन्त एकवचन और षष्ठ्यन्त एकवचन रूप है। इसकी सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की जा चुकी है।

चिट्ठन्ति रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

पेच्छ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

आगओ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

धणं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है।

कयं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२६ में की गई है।

राइणा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५१ में गई है।

'*वा*' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६७ में की गई है।

राज्ञि अथवा *राजनि* संस्कृत सप्तम्यन्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राइम्मि और रायम्मि होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'राइ' अंग की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-५० में वर्णित साधनिका के अनुसार और तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राइम्मि* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राज्ञि अथवा राजनि=) रायम्मि में 'राय' अंग की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-५० में वर्णित साधनिका के अनुसार और तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से प्रथम रूप के समान ही 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *रायम्मि* भी सिद्ध हो जाता है।

'*रायाणो*' (प्रथमान्त-द्वितीयान्त रूप) की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है।

रण्णो रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-५० में की गई है।

राज्ञा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप रायणा और राइणा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'राय' अंग की प्राप्ति सूत्र-संख्या ३-५० में वर्णित साधनिका के अनुसार और तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५१ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *रायणा* सिद्ध हो जाता है।

(द्वितीय रूप-)-*राएण*-की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५१ में की गई है। ॥ ३-५२ ॥

इणममामा ॥ ३-५३ ॥

राजन् शब्द संबन्धिनो जकारस्य अमाम्भ्यां सहितस्य स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति ॥ राइणं पेच्छ। राइणं धणं। पक्षे। रायं। राईणं ॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में द्वितीया विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय 'अम्' और षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय 'आम्' प्राप्त होने पर मूल शब्दस्थ 'ज' व्यञ्जन सहित उपरोक्त प्राप्त प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'इणं' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत रूपान्तर में 'ज' और उपरोक्त प्रत्यय इन दोनों के स्थान पर 'इणं' आदेश वैकल्पिक रूप से हुआ करता है। जैसे—राजानम् पश्य=राइणं (अथवा रायं) पेच्छ; यह उपरोक्त विधानानुसार द्वितीया विभक्ति के एकवचन का उदाहरण हुआ। षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का उदाहरण इस प्रकार है—राज्ञाम् धनम्=राइणं (अथवा राईणं या रायाणं) धणं। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में राइणं के स्थान पर रायं जानना चाहिये और षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में राइणं के स्थान पर राईणं अथवा रायाणं जानना चाहिये !

राजानम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राइणं और रायं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप और ३-५३ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'अम्' सहित पूर्वस्थ 'ज' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत में 'इणं' आदेश की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राइणं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राजानम्=) रायं में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप, १-१७७ से 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया-विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय अम् के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *रायं* सिद्ध हो जाता है।

पेच्छ रूप की सिद्धि सूत्र संख्या १-२३ में की गई है।

राज्ञाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त का रूप है। इसके प्राकृत रूप राइणं और राईणं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप और ३-५३ से षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' सहित पूर्वस्थ 'ज' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत में 'इणं' आदेश की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राइणं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राज्ञाम्=) राईणं में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-५४ से 'ज' के स्थान पर 'आगे षष्ठी विभक्ति का बहुवचन-बोधक प्रत्यय 'आम्' रहा हुआ होने से' ई' की प्राप्ति; ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *राईणं* भी सिद्ध हो जाता है।

धण रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है।

ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि ॥ ३--५४ ॥

राजन् शब्द संबन्धिनो जकारस्य भिसादिषु परतो वा ईकारो भवति ॥ भिस् । राईहि ॥ भ्यस् । राईहि । राईहिन्तो । राई-सुन्तो ॥ आम् । राईणं ॥ सुप् । राईसु । पक्षे । रायाणेहि । इत्यादि ।

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत-रूपान्तर में तृतीया-विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय, पंचमी षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय परे रहने पर मूल शब्द 'राजन्' में स्थित 'ज' व्यञ्जन के स्थान पर वैकल्पिक रूप से दीर्घ 'ई' की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—'भिस्' प्रत्यय का उदाहरणः—राजभिः=राईहि अथवा पक्षान्तर में रायाणेहि; भ्यस् प्रत्यय के उदाहरणः—राजभ्यः=राईहि; राईहिन्तो, राईसुन्तो अथवा पक्षान्तर में रायाणाहि, रायाणाहिन्तो, रायाणासुन्तो; इत्यादि। 'आम्' प्रत्यय का उदाहरणः—राज्ञाम्=राईणं अथवा पक्षान्तर में रायाणं और 'सुप्' प्रत्यय का उदाहरणः—राजसु=राईसु अथवा पक्षान्तर में रायाणेसु होता है।

राजभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप राईहि और रायाणेहि होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-५४ से 'ज' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से दीर्घ 'ई' की प्राप्ति; और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *राईहि* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(राजभिः) = रायाणेहि में सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित 'ज्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति ३-५६ से प्राप्तांग 'रायन्' में स्थित अन्त्य अवयव 'अन्' के स्थान पर 'आण' आदेश-प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-१५ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया-बहुवचन-बोधक-प्रत्यय रहा हुआ होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *रायाणेहि* सिद्ध हो जाता है।

राजभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन रूप है। इसके प्राकृत रूप राईहि, राईहिन्तो और राईसुन्तो होते है। इनमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-५४ से 'ज' के स्थान पर-(वैकल्पिक रूप से)-दीर्घ 'ई' की प्राप्ति और ३-९ से पंचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भ्यम्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'हि-हिन्तो-सुन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर राईहि, राईहिन्तो और राईसुन्तो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

राईणं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५३ में की गई है।

राजसु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप राईसु होता है। इसमें 'राई' अंग की प्राप्ति इसी सूत्र में वर्णित उपरोक्त विधि-अनुसार तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' की प्राकृत में भी प्राप्ति होकर *राईसु* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-५४॥

आजस्य टा-ङसि-ङस्सु सणाणोष्वण् ॥ ३-५५ ॥

राजन् शब्द संबन्धिन आज इत्यवयवस्य टाङसिङस्सु णा णो इत्यादेशापन्नेषु परेषु अण् वा भवति॥ रण्णा राइणा कयं। रण्णो राइणो आगओ धणं वा। टा ङसि ङस्स्विति किम्। रायाणो चिट्ठन्ति पेच्छ वा॥ सणाणोष्विति किम्। राएण। रायाओ। रायस्स॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में तृतीया विभक्ति के एकवचनीय संस्कृत प्रत्यय 'टा' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-५१ से प्राप्तव्य 'णा' प्रत्यय परे रहने पर तथा पंचमी विभक्ति के एकवचनीय संस्कृत-प्रत्यय 'ङसि् = अस्' और षष्ठी-विभक्ति के एकवचनीय संस्कृत-प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में सूत्र-संख्या ३-५० से प्राप्तव्य 'णो' प्रत्यय परे रहने पर एवं सूत्र-संख्या १-११ से 'राजन्' के अन्त्य 'न्' का लोप हो जाने पर शेष रहे हुए हुए 'राज' के अन्त्य अवयव रूप 'आज' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'अण्' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है। राज्ञा कृतम्=रण्णा कयं अथवा राइणा कयं अर्थात् राजा से किया गया है। राज्ञः आगतः=रण्णो आगओ अथवा राइणो आगओ अर्थात् राजा से आया हुआ है। षष्ठी विभक्ति के एकवचन का उदाहरण इस प्रकार है'— राज्ञः धनम्=रण्णो धणं अथवा राइणो धणं अर्थात् राजा का धन (है)। यों 'अण्' आदेश-प्राप्ति की वैकल्पिक-स्थिति समझ लेनी चाहिये।

प्रश्न—मूल सूत्र में-'टा-ङसि-ङस्' का उल्लेख क्यों किया गया है?



उत्तरः— संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में 'आज' अवयव के स्थान पर 'अण' (आदेश) की प्राप्ति उसी अवस्था मे होती है, जब कि 'टा' अथवा 'ङसि' अथवा 'ङस्' प्रत्ययों में से कोई एक प्रत्यय रहा हुआ हो; अन्यथा नहीं। जैसेः— राजानः तिष्ठन्ति = रायाणो चिट्ठन्ति; यह उदाहरण प्रथमान्त बहुवचन वाला है और इसमें 'टा' अथवा 'ङसि' अथवा 'ङस्' प्रत्यय का अभाव है; इसी कारण से इसमें 'राजन्' के अवयव 'आज' के स्थान पर 'अण्' आदेश-प्राप्ति का भी अभाव है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार हैः— राज्ञः पश्य = रायाणो पेच्छ अर्थात् राजाओं को देखो; यह उदाहरण द्वितीयान्त बहुवचन वाला है और इसमें भी 'टा' अथवा 'ङसि' अथवा 'ङस्' प्रत्यय का अभाव है। इसी कारण से इसमें 'राजन्' के अवयव 'आज' के स्थान पर 'अण्' आदेश-प्राप्ति का भी अभाव है। इस विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि 'टा' = 'णा'; 'ङसि' = 'णो' और 'ङस्' = 'णो' प्रत्यय को सद्भाव होने पर ही राजन्' के 'आज' अवयव के स्थान पर 'अण' (आदेश)-की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है और इसी लिये मूल-सूत्र में 'टा-ङसि-ङस्' का उल्लेख किया गया है।

प्रश्नः— मूल-सूत्र में 'णा' और 'णो' का उल्लेख क्यों किया गया है।

उत्तरः— संस्कृत शब्द 'राजन्' के प्राकृत रूपान्तर में तृतीया विभक्ति के एकवचन में जब सूत्र-संख्या ३-५१ के अनुसार 'टा' प्रत्यय के स्थान पर 'णा' प्रत्यय की (आदेश)-प्राप्ति होकर सूत्र-संख्या ३-६ के अनुसार 'टा' प्रत्यय के स्थान पर 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होती है; तब 'राजन' शब्द के 'आज' अवयव के स्थान पर 'अण्' आदेश-प्राप्ति नहीं होती। जैसेः— राज्ञा = राएण अर्थात् राजा से। इसी प्रकार से इसी 'राजन्' शब्द के प्राकृत-रूपान्तर में-पंचमी विभक्ति के एकवचन में जब सूत्र-संख्या ३-५० के अनुसार 'ङसि' प्रत्यय के स्थान पर 'णो' प्रत्यय की (आदेश)-प्राप्ति नहीं होकर सूत्र-संख्या ३-८ के अनुसार 'ङसि' प्रत्यय के स्थान पर 'दो = ओ, दु = उ, हि, हिन्तो, लुक् प्रत्यय की प्राप्ति होती है; तब 'राजन्' शब्द के 'आज' अवयव के स्थान पर 'अण्' (आदेश)-की प्राप्ति नहीं होती है। जैसेः— राज्ञः = रायाओ अर्थात् राजा से, इत्यादि। यही सिद्धान्त षष्ठी विभक्ति के एकवचन के लिये भी समझना चाहिये; तदनुसार जब 'राजन्' शब्द के प्राकृत-रूपान्तर में षष्ठी-विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-५० के अनुसार 'ङस्' प्रत्यय के स्थान पर 'णो' प्रत्यय की (आदेश)-प्राप्ति नहीं होकर सूत्र-संख्या ३-१० के अनुसार 'ङस्' प्रत्यय के स्थान पर 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होती है; तब 'राजन्' शब्द के 'आज' अवयव के स्थान पर 'अण्' (आदेश) की प्राप्ति नहीं होती है। जैसेः— राज्ञः = रायस्स अर्थात् राजा का। इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि जब 'टा' के स्थान पर 'णा' और ङसि' अथवा 'ङस' के स्थान पर 'णो' की प्राप्ति होती है; तभी 'राजन्' के 'आज' अवयय के स्थान पर 'अण' आदेश प्राप्ति होती है; अन्यथा नहीं। इसी लिये मूल सूत्र में 'णा' और 'णो' का उल्लेख करना पड़ा है।

'रण्णा' और 'राइणा' रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५१ में की गई है।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है ।

'रण्णो' और 'राइणो' रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है।

'आगओ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

'धणं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है ।

'वा' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६७ में की गई है ।

'रायाणो' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-५० में की गई है ।

'चिट्ठन्ति' (क्रिया-पद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है ।

'पेच्छ' (क्रिया-पद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है ।

'वा' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६७ में की गई है ।

'राएण' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५१ में की गई है ।

'रायाओ' 'रायस्स' रूपों की सिद्धि सूत्र संख्या ३-५० में की गई है ।

पुंस्यन आणो राजवच्च ॥ ३–५६ ॥

पुल्लिङ्गे वर्तमानस्यान्नन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति । पक्षे । यथा दर्शनं । राजवत् कार्यं भवति)। आणादेशे च अतः सेर्डोः (३–२) इत्यादयः प्रवर्तन्ते । पक्षे तु राज्ञः जस्-शस्-ङसि-ङसां णो (३-५०) टो णा (३-२४) इणममामा (३-५३) इति प्रवर्तन्ते ॥ अप्पाणो । अप्पाणा । अप्पाणं । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहि । अप्पाणाओ । अप्पाणा-सुन्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पाणम्मि । अप्पाणेसु । अप्पाण-कयं । पक्षे राजवत् । अप्पा । अप्पो । हे अप्पा । हे अप्प । अप्पाणो चिट्ठन्ति । अप्पाणो पेच्छ ।। अप्पणा । अप्पेहिं । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पाहिं । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो ॥ अप्पणो धणं । अप्पाणं । अप्पे । अप्पेसु ।। रायाणो । रायाणा । रायाणं । रायाणे । रायाणेण । रायाणेहिं । रायाणाहिन्तो । रायाणस्स । रायाणाणं । रायाणम्मि । रायाणेसु । पक्षे । राया इत्यादि । एवं जुवाणो । जुवाण-जणो । जुआ । वम्हाणो । बम्हा ।। अद्धाणो । अद्धा ॥ उक्षन् । उच्छाणो । उच्छा ॥ गावाणो । गावा ॥ पूसाणो । पूसा ॥ तक्खाणो । तक्खा ॥

मुद्धाणो। मुद्धा॥ श्वन्। साणो। सा॥ सुकर्मणः पश्य॥ सुकम्माणे पेच्छ। निएइ कह सो सुकम्माणे। पश्यति कथं स सुकर्मण इत्यर्थः॥ पुंसीति किम्। शर्म। सम्मं॥

अर्थः—जो संस्कृत शब्द पुल्लिंग होते हुए 'अन' अन्त वाले हैं; उनके प्राकृत-रूपान्तर में उस 'अन्' अवयव के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'आण' (आदेश) की प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से जहां अन् के स्थान पर 'आण आदेश की प्राप्ति नहीं होगी; वहां उन शब्दों की विभक्ति-बोधक-रूपावली 'राज' शब्द के समान उपरोक्त सूत्रों में वर्णित विधि-विधानानुसार होगी। 'अन' के स्थान पर 'आण' (आदेश)-प्राप्ति होने पर वे शब्द 'अकारान्त' शब्दों की श्रेणी में प्रविष्ट हो जायगें। और उनकी विभक्ति-बोधक-रूपावली 'जिण' आदि शब्दों के अनुरूप ही निर्मित होगी; तथा उनमें 'अतः से डोः' (३-२) आदि सभी सूत्र वे ही प्रयुक्त होंगे; जो कि 'जिण' आदि अकारान्त शब्दों में प्रयुक्त होते हैं। वैकल्पिक-पक्ष में 'अन्' के स्थान पर 'आण' (आदेश) की प्राप्ति नहीं होने पर 'राज' के समान ही विभक्ति-बोधक-रूपावलि होने के कारण से उनमें-'जस् शस् ङसि-ङसां णो'-(३-५०); 'टो-णा'-(३-२४) और 'इणममामा'-(३-५३) इत्यादि सूत्रों का प्रयोग होगा। इस प्रकार अन् अन्त वाले पुल्लिंग शब्दों की विभक्ति बोधक रूपावलि दो प्रकार से होती है; प्रथम प्रकार में 'अन्' के स्थान पर 'आण' (आदेश) की प्राप्ति होने पर 'अकारान्त' शब्दों के समान ही रूपावलि -निर्मित होगी और द्वितीय प्रकार में 'आण' आदेश प्राप्ति का अभाव होने पर उनकी रूपावलि 'राज' शब्द में प्रयुक्त किये जाने वाले सूत्रों के अनुसार ही होगी। यह सूक्ष्म भेद ध्यान में रखना चाहिये। अब यहां पर सर्व-प्रथम 'अन्' अन्त वाले 'आत्मन्' शब्द में 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश-प्राप्ति का विधान करके इसको 'अकारान्त' स्वरूप प्रदान करते हुए जिण' आदि अकारान्त -शब्दों के समान ही उक्त 'आत्मन् = अप्पाण' की विभक्तिबोधक रूपावलि का उल्लेख किया जाता है।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा—	(आत्मा=) अप्पाणो।	(आत्मानः=) अप्पाणा।
द्वितीया—	(आत्मानम्=) अप्पाणं।	(आत्मनः=) अप्पाणे।
तृतीया—	(आत्मना=) अप्पाणेण।	(आत्मभिः=) अप्पाणेहि।
पञ्चमी—	(आत्मनः=) अप्पाणाओ।	(आत्मभ्यः=) अप्पाणासुन्तो।
षष्ठी—	(आत्मनः=) अप्पाणस्स।	(आत्मनाम्=) अप्पाणाण।
सप्तमी—	(आत्मनि=) अप्पाणम्मि।	(आत्मसु=) अप्पाणेसु।

समास अवस्था में 'आत्मन् = अप्पाण' में रहे हुए विभक्ति-बोधक प्रत्ययों का लोप हो जाता है। जैसे:—आत्म-कृतम् = अप्पाण-कयं अर्थात् खुद से-स्वयं अपने से अथवा आत्मा से किया हुआ

है। उपरोक्त 'आत्मन = अप्पाण' के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि 'अन्' अन्त वाले पुल्लिग शब्दों में 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश-की प्राप्ति होकर वे शब्द अकारान्त पुल्लिंग शब्दों की श्रेणी के अन्तर्गत हो जाते हैं। किन्तु यह स्थिति वैकल्पिक पक्षवाली है; तदनुसार 'आण' आदेश की प्राप्ति के अभाव में 'अन्' अन्त वाले शब्दों की स्थिति सूत्र-संख्या ३-४६ से लगाकर ३-५५ तक के विधि-विधानानुसार निर्मित होती हुई 'राज' शब्द के समान संचारित होती है। इस विधि-विधान को 'आत्मन् = अप्पा' के उदाहरण से नीचे स्पष्ट किया जा रहा है.—

प्रथमा विभक्ति के एकवचन का उदाहरण:—आत्मा = अप्पा और अप्पो। संबोधन के एकवचन का उदाहरण:—हे आत्मन् = हे अप्पा! और हे अप्प! प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का उदाहरण:—आत्मानः तिष्ठन्ति = अप्पाणो चिट्ठन्ति इस उदाहरण में 'आत्मन् = अप्प' अंग में सूत्र-संख्या ३-५० के अनुसार प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है। द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का उदाहरण:—आत्मन पश्य = अप्पाणो पेच्छ अर्थात् अपने आपको (आत्म-गुणों को) देखो। इस उदाहरण में भी 'आत्मन् = अप्प' अंग में सूत्र-संख्या ३-५० के अनुसार ही द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है।

अन्य विभक्तियों में 'आत्मन् = अप्प' के रूप इस प्रकार होते हैं:—

विभक्ति नाम	एकवचन	बहुवचन
तृतीया—	(आत्मना =) अप्पणा।	(आत्मभिः=) अप्पेहिं।
पंचमी—	(आत्मनः =) अप्पाणो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिन्तो, अप्पा।	(आत्मभ्यः=) अप्पासुन्तो इत्यादि।
षष्ठी—	(आत्मनः धनम् =)अप्पणो धण।	(आत्मनाम् =) अप्पाण।
सप्तमी—	(आत्मनि =) अप्पे।	(आत्मसु =) अप्पेसु।

उपरोक्त उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि अन्' अन्त वाले पुल्लिंग शब्दों में 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति के अभाव में विभक्ति-(बोधक)-कार्य की प्रवृत्ति सूत्र-संख्या ३-४६ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या ३-५५ तक में वर्णित विधि-विधान के अनुसार होती है, इसी सिद्धान्त को इसी सूत्र में 'राजवत्' शब्द का सूत्र रूप से उल्लेख करके प्रदर्शित किया गया है।

इसी प्रकार से 'राजन्' शब्द भी पुल्लिंग होता हुआ अन्' अन्त वाला है; तदनुसार सूत्र-संख्या ३-५६ के विधान से 'अन्' अवयव के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर में वैकल्पिक रूप से 'आण' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है और ऐसा होने पर 'राजन् = रायाण' रूप अकारान्त हो जाता है; तथा अकारान्त होने पर इसकी विभक्ति-बोधक-कार्य की प्रवृत्ति 'जिण' आदि-अकारान्त शब्दों के अनुसार होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से जब सूत्र-संख्या ३-५६ के अनुसार प्राप्तव्य 'अन्' के स्थान पर 'आण'

आदेश-प्राप्ति का अभाव होगा; तब इसकी विभक्ति (बोधक)-कार्य की प्रवृत्ति सूत्र-संख्या ३-४६ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या ३-५५ तक में वर्णित विधि-विधान के अनुसार होती है। इस महत्व-पूर्ण स्थिति को सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

अब 'राजन्=रायाण' रूप की विभक्ति-बोधक-कार्य की प्रवृत्ति नीचे लिखी जाती है:—

विभक्ति-नाम	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा—	(राजा =) रायाणो।	(राजानः=) रायाणा।
द्वितीया—	(राजानम् =) रायाणं।	(राज्ञः=) रायाणे।
तृतीया—	(राज्ञा =) रायाणेण।	(राजभिः=) रायाणेहिं।
पंचमी—	(राज्ञः =) रायाणाहिन्तो इत्यादि।	(राजभ्यः=रायाणासुन्तो। इत्यादि।)
षष्ठी—	(राज्ञः =) रायाणस्स।	(राज्ञाम् =) रायाणाणं।
सप्तमी—	(राज्ञि =) रायाणम्मि।	(राजसु =) रायाणेसु।

शेष रूपों की स्थिति 'जिण' आदि अकारान्त शब्दों के अनुसार जानना चाहिये। वैकल्पिक पक्ष होने से 'राजा=राया' आदि रूपों की स्थिति सूत्र-संख्या ३-४६ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या ३-५५ के अनुसार स्वयमेव जान लेना चाहिये। कुछ 'अन्' अन्त वाले पुल्लिंग शब्दों का प्राकृत-रूपान्तर सामान्य-अवबोधन हेतु नीचे लिखा जा रहा है:—

युवन्=जुवाण; तदनुसार प्रथमा विभक्ति के एकवचन का उदाहरण:—युवा=जुवाणो, इत्यादि। समास-अवस्था में विभक्ति (बोधक) प्रत्ययों का लोप हो जाता है; तदनुसार इसका उदाहरण इस प्रकार है:—युवा-जनः=जुवाण-जणो। वैकल्पिक पक्ष होने से 'युवन्' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-४६ के विधान से 'जुआ रूप भी होता है। ब्रह्मन् शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-५६ और ३-४६ के विधान से क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से (ब्रह्मा) बम्हाणो अथवा बम्हा रूप होते हैं।

संस्कृत शब्द 'अध्वन्', 'उक्षन्', 'ग्रावन्', 'पूषन्', 'तक्षन्', मूर्धन्', और 'श्वन्' इत्यादि पुल्लिंग होते हुए 'अन्' अन्त वाले हैं; तदनुसार इन शब्दों के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-५६ और ३-४६ के विधान से क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से दो दो रूप निम्न प्रकार से होते हैं:—

अध्वा=अद्धाणो और अद्धा। उक्षा=उच्छाणो और उच्छा। ग्रावा=गावाणो और गावा। पूषा=पूसाणो और पूसा। तक्षा=तक्खाणो और तक्खा। मूर्धा=मुद्धाणो और मुद्धा। श्वा=साणो और सा। शेष विभक्तियों के रूपों की स्थिति 'आत्मा=अप्पाण के समान जान लेना चाहिये। इस प्रकार यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि 'अन्' अन्त वाले पुल्लिंग शब्दों के अन्तिम अवयव 'अन्' के

स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति होकर ये शब्द अकारान्त हो जाते हैं और इनकी विभक्ति (बोधक) कार्य की प्रवृत्ति 'जिण' अथवा 'वच्छ' अथवा 'अप्पाण' के अनुसार होती है। उपरोक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये दो उदाहरण और दिये जाते हैं:—

सुकर्मणः पश्य = सुकम्माणे पेच्छ अर्थात् अच्छे कार्यों को देखो। इस उदाहरण में 'सुकर्मन्' शब्द 'अन्' 'अन्त वाला है और इसके अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति करके प्राकृत-रूपान्तर 'सुकम्माण' रूप का निर्माण करके द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'वच्छे' के समान सूत्र संख्या ३-४ और ३-१४ के विधान से 'सुकम्माणे' रूप का निर्धारण किया गया हैं; जो कि स्पष्टतः अकारान्त-स्थिति का सूचक है।

दूसरा उदाहरण इस प्रकार है :—

पश्यति कथं स सुकर्मण = निएइ कह सो सुकम्माणे अर्थात् वह अच्छे कार्यों को किस प्रकार देखता है ? इस उदाहरण में भी प्रथम उदाहरण के समान ही 'सुकर्मन्' शब्द की स्थिति को द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त शब्द की स्थिति के समान ही समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—मूल सूत्रों में सर्व प्रथम 'पुंसि' अर्थात् 'पुल्लिग में' ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः—'अन्' अन्त वाले शब्द पुल्लिग भी होते हैं और नपुंसक लिंग भी होते हैं; तदनुसार इस 'अन्' अवयव के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर में केवल पुल्लिग शब्दों में ही 'आण' आदेश प्राप्ति होती है, नपुंसक लिंग वाले शब्द चाहे 'अन्' अन्त वाले भले ही हों; किन्तु उनमें 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; इस विशेष तात्पर्य को बतलाने के लिये तथा संपुष्ट करने के लिये ही मूल सूत्र में सर्व-प्रथम 'पुंसि' अर्थात् 'पुल्लिग में' ऐसा शब्दोल्लेख करना पड़ा है। नपुंसक लिंगात्मक उदाहरण इस प्रकार है.—जैसे शर्मन् शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृत रूप 'शर्म, का प्राकृत रूपान्तर 'सम्मं' होता है। तदनुसार यह प्रतिभासित होता है कि संस्कृत रूप 'शर्म का प्राकृत-रूपान्तर 'सम्माणो' नहीं होता है। अतएव 'पुंसि शब्द का उल्लेख करना सर्वथा न्यायोचित एवं प्रसंगोचित है।

आत्मा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या-१-८४ से आदि 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-५१ से संयुक्त व्यञ्जन 'त्म्' के स्थान पर 'प्' आदेश की प्राप्ति, २-८९ से आदेश प्राप्त 'प' को द्वित्व 'प्प्' की प्राप्ति; ३-५६ से मूल संस्कृत शब्द 'आत्मन्' में स्थित अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर-(वैकल्पिक रूप से)-'आण' आदेश की प्राप्ति; यों 'आत्मन्' के प्राकृत रूपान्तर में 'अप्पाण' अंग की प्राप्ति होकर तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *'अप्पाणो'* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मानः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणा होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' को 'आगे प्रथमा-बहुवचन-बोधक प्रत्यय की स्थिति होने से' 'आ' की प्राप्ति एवं ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर-*अप्पाणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मानम्: संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणं होता है। इसमे 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्=म्' के समान ही प्राकृत में भी 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *अप्पाणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनः संस्कृत द्वितोयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणे होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' को 'आगे द्वितीया-बहुवचन-प्रत्यय की स्थिति होने से' 'ए' की प्राप्ति एवं ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप होकर *अप्पाणे* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मना संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप-अप्पाणेण होता है। इसमें 'आत्मन=अप्पाण' अंग की प्राप्ति-उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' को 'आगे तृतीया-एक-वचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणेण* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप-अप्पाणेहि होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे तृतीया बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन मे अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणेहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनः संस्कृत पञ्चम्यन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणाओ होता है। इसमें 'आत्मन=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे पंचमी-एकवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणाओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप-अप्पाणासुन्तो होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१३ से प्राप्तांग 'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे पंचमी बहुवचन-बोधक-प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-९ से पञ्चमी-विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में 'सुन्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणासुन्तो* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनः संस्कृत षष्ठयन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणस्स होता है। इसमें 'आत्मन=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि के अनुसार; तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनाम् संस्कृत षष्ठयन्त बहुवचनरूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणाण होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग-'अप्पाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे षष्ठी-विभक्ति-बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणाण* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनि संस्कृत सप्तम्यन्त एकवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणम्मि होता है। इसमें 'आत्मन=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मसु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणेसु होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्पाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'अप्पाण में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे सप्तमी-विभक्ति के बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्म-कृतम् संस्कृत-(आत्मना कृतम् का समास-अवस्था प्राप्त) विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाण-कयं होता है। इसमें 'अप्पाण' अवयव रूप अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार और 'कयं' रूप उत्तरार्ध अवयव की साधनिका का सूत्र-संख्या १-१२६ के अनुसार प्राप्त होकर *अप्पाण-कयं* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप अप्पा और अप्पो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप '*अप्पा*' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५१ में की गई है। द्वितीय रूप-'अप्पो' में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'आत्मन्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप, ३-५१ से 'त्म' अवयव के स्थान पर 'प' की आदेश-प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में (प्राप्त रूप-) अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *अप्पो* सिद्ध हो जाता है।

हे *आत्मन्!* संस्कृत संबोधनात्मक एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप हे अप्पा! और हे अप्प! होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-८४ से मूल संस्कृत शब्द 'आत्मन्' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति ३-५१ से संयुक्त व्यञ्जन 'त्म' के स्थान पर 'प' की आदेश की प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; और ३-४९ से (तथा ३-५६ के निर्देश से)-संबोधन के एकवचन में-संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राप्तांग 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' को 'आ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप ह *अप्पा!* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-हे *अप्प!* की सिद्धि सूत्र संख्या ३-४९ में की गई है।

आत्मानः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणो होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे प्रथमा बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-५० से (तथा ३-५६ के निर्देश से-) प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में-प्राप्तांग 'आत्मन् से अप्पा' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*चिट्ठन्ति*' क्रियापद की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

आत्मनः संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाणो होता है। इसमें 'अप्पा' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५० से (तथा ३-५६ के निर्देश से) द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'अप्पा' में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पाणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'पेच्छ' क्रियापद की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

आत्मना संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पणा होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५१ से (तथा ३-५६ के निर्देश से) तृतीया विभक्ति के एकवचन में-संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा = आ' के स्थान पर

प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मभि संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पेहिं होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे तृतीया-बहुवचन-(बोधक-प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में हिं प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पेहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनः संस्कृत पञ्चम्यन्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत-रूप अप्पाणो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि अप्पाहिन्तो और अप्पा होते हैं। इनमें 'अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे पंचमी-एकवचन-(बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति; और ३-५० से (तथा ३-५६ के निर्देश से)-प्राप्तांग 'अप्पा' के प्रथम रूप में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होकर प्रथम रूप '*अप्पाणो*' सिद्ध हो जाता है।

शेष पाँच रूपों में-प्राप्तांग 'अप्पा' में सूत्र संख्या ३-८ से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि=अस' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से दो=ओ, दु=उ, हि, हिन्तो और (प्रत्यय-) लुक' प्रत्ययों की की प्राप्ति होकर क्रम से शेष पाँच रूप-'*अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि अप्पाहिन्तो* और *अप्पा* सिद्ध हो जाते हैं।

आत्मभ्यः संस्कृत पञ्चम्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पा-सुन्तो होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१३ से प्राप्तांग के 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' के आगे पंचमी-बहुवचन-(बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-९ से प्राप्तांग 'अप्पा' में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में 'सुन्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पासुन्तो* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनः संस्कृत षष्ठयन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पणो होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५० से (तथा ३-५६ के निर्देश से)-षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'धण' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-५० में की गई है।

आत्मनाम् संस्कृत षष्ठयन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पाण होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग

'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे षष्ठी-बहुवचन- बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'अप्पा' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति; एवं १-२७ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' पर आगम रूप अनुस्वार की प्राप्ति होकर *अप्पाणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मनि संस्कृत सप्तम्यन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पे होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति-उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से प्राप्तांग 'अप्प' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'डे' प्रत्यय की (आदेश-) प्राप्ति; 'डे' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से प्राप्तांग 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' की इत्संज्ञा होकर लोप एवं तत्पश्चात् प्राप्तांग हलन्त 'अप्प' में पूर्वोक्त 'डे=ए' प्रत्यय को प्राप्ति होकर *अप्पे* रूप सिद्ध हो जाता है।

आत्मसु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप अप्पेसु होता है। इसमें 'आत्मन्=अप्प' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'अप्प' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे सप्ती-बहुवचन (बोधक-प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सु' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अप्पेसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

राजा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'राजन्' में स्थित 'ज्' व्यञ्जन का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ज्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-५६ से प्राप्त रूप 'रायन्' में स्थित अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति; और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तांग अकारान्त रूप 'रायाण' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

राजानः संस्कृत प्रथमान्त बहुवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप-रायाणा होता है। इसमें 'रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे प्रथमा-बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर *रायाणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

राजानम् संस्कृत द्वितीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणं होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-५ से प्राप्तांग-रायाण में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्=म्' के समान ही प्राकृत में भी 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *रायाणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

राज्ञः संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणे होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे द्वितीया-बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप होकर *रायाणे* रूप सिद्ध हो जाता है।

राज्ञा संस्कृत तृतीयान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणेण होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे तृतीया-एकवचन-(बोधक-प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणेण* रूप सिद्ध हो जाता है।

राजभिः संस्कृत तृतीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणेहिं होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त-विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे तृतीया-बहुवचन-(बोधक-प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणेहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

राज्ञः संस्कृत पञ्चम्यन्त एकवचन रूप है। इसका प्राकृत-रूप-रायाणाहिन्तो होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे पंचमी एकवचन-(बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिन्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणाहिन्तो* रूप सिद्ध हो जाता है।

राज्ञः संस्कृत षष्ठ्यन्त एकवचन रूप है। इसका प्राकृत रूप-रायाणस्स होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति-उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१० से षष्ठी-विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

राज्ञाम् संस्कृत षष्ठ्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप रायाणाण होता है। इसमें 'राजन्=रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित-अन्त्य 'अ' के 'आगे षष्ठी- बहुवचन-(बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति; ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *रायाणाणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

राज्ञि संस्कृत सप्तम्यन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणम्मि होता है। इसमें 'रायाण' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

राजसु संस्कृत सप्तम्यन्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप रायाणेसु होता है। इसमें 'राजन्=रायाण अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'रायाण' में स्थित अन्त्य 'अ' के आगे सप्तमी-बहुवचन-(बोधक-प्रत्यय) का सद्भाव होने से 'ए' की प्राप्ति और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रायाणेसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*राया*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४९ में की गई है।

युवा संस्कृत रूप है। इसके प्राकृत रूप जुवाणो और जुआ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२४५ से 'य्' के स्थान पर 'ज्' की प्राप्ति; ३-५६ से मूल संस्कृत शब्द 'युवन्' में स्थित अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति; और और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्त अकारान्त अंग 'जुवाण' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *जुवाणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(युवन्=)जुआ में सूत्र-संख्या १-१७७ से 'व' का लोप; १-२४५ से 'य्' के स्थान पर 'ज्' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप और और ३-४९ से (तथा ३-५६ के निर्देश से)-प्राप्तांग अकारान्त 'जुअ' में' प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' का सद्भाव होने से प्राकृत में अन्त्य 'अ' को 'आ' की प्राप्ति; एवं १-११ से प्राप्त उक्त प्रत्यय 'सि=स्' का लोप होकर प्रथमान्त एकवचन रूप *जुआ* सिद्ध हो जाता है।

युवा-जनः संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप जुवाण-जणो होता है। इसमें 'जुवाण' रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या १-२२८ से अन्त्य 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *जुवाण-जणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप बम्हाणो और बम्हा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'ब्रह्मन्' में स्थित 'र्' का लोप; २-७४ से 'ह्म' के स्थान पर 'म्ह' की प्राप्ति, ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप 'बम्हाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय

प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *बम्हाणो* सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय रूप-'बम्हा' की सिद्धि सूत्र संख्या २-७४ में की गई है ।

अध्वा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप अद्धाणो और अद्धा होते है। इनमें से प्रथम रूप में से सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'अध्वन्' में स्थित 'व्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'व्' के पश्चात शेष रहे हुए 'ध्' को द्वित्व 'ध्ध' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त हुए पूर्व 'ध्' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति, ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति, और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप 'अद्धाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *अद्धाणो* सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय रूप-(अध्वन्=अध्वा= अद्धा में सूत्र-संख्या २-७९ से 'व्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'व्' के पश्चात शेष रहे हुए 'ध' को द्वित्व 'ध्ध' की प्राप्ति २-९० से प्राप्त पूर्व 'ध्' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-४९ से (तथा ३-५६ के निर्देश से) प्राप्तांग अकारान्त रूप 'अद्ध' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे प्रथमा-एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ४-४४८ के अनुसार प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर द्वितीय रूप *अद्धा* भी सिद्ध हो जाता है।

उक्षा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप उच्छाणो और उच्छा होते है। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-३ के अनुसार अथवा २-१७ से मूल संस्कृत शब्द 'उक्षन्' में स्थित 'क्ष' के स्थान पर 'छ' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'छ' को द्वित्व 'छ्छ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'छ्' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति; ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप 'उच्छाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *उच्छाणो* सिद्ध हो जाता है ।

उच्छा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१७ में की गई है।

ग्रावा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप गावाणो और गावा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में से सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'ग्रावन्' में स्थित 'र्' का लोप; ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश-प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप गावाण में प्रथमा-विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम-रूप *गावाणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(ग्रावन्=) गावा में सूत्र-संख्या २-७६ से 'र्' का लोप; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-४६ से (तथा ३-५६ के निर्देश से) प्राप्तांग अकारान्त रूप 'गाव' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे प्रथमा एकवचन (बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ४-४४८ के अनुसार संस्कृतीय प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर द्वितीय रूप *गावा* भी सिद्ध हो जाता है।

पूषा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप पूसाणो और पूसा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२६० से मूल संस्कृत शब्द 'पूषन्' में स्थित 'ष' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप-'पूसाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *पूसाणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (पूषन्=) पूसा में सूत्र-संख्या १-२६० से 'ष' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-४६ से (तथा ३-५६ के निर्देश से) प्राप्तांग अकारान्त रूप 'पूस' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे प्रथमा एकवचन (बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ४-४४८ के अनुसार संस्कृतीय प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर द्वितीय रूप *पूसा* भी सिद्ध हो जाता है।

तक्षा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप तक्खाणो और तक्खा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-३ से मूल संस्कृत शब्द 'तक्षन्' में स्थित 'क्ष्' के स्थान पर 'ख्' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ख्' को द्वित्व 'ख्ख्' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ख्' के स्थान पर 'क्' की प्राप्ति; ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप 'तक्खाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तक्खाणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(तक्षन्=तक्षा=) तक्खा में सूत्र संख्या २-३ से मूल संस्कृत शब्द 'तक्षन्' में स्थित 'क्ष' के स्थान पर 'ख' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ख' को द्वित्व 'ख्ख' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ख्' के स्थान पर 'क्' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'न्' का लोप; ३-४६ से (तथा ३-५६ के निर्देश से) प्राप्तांग अकारान्त रूप 'तक्ख' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे प्रथमा एकवचन (बोधक प्रत्यय) का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ४-४४८ के अनुसार संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर द्वितीय रूप *तक्खा* भी सिद्ध हो जाता है।

मूर्धा संस्कृत प्रथमान्त एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप-मुद्धाणो और मुद्धा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-८४ से मूल संस्कृत शब्द 'मूर्धन' में स्थित दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति; २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ध्' को द्वित्व 'ध्ध्' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ध्' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति उपरोक्त; ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग अकारान्त रूप 'मुद्धाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *मुद्धाणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*मुद्धा*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *२-४१* में की गई है।

'*साणो*' और '*सा*' रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या १-५२ में की गई है।

सुकर्मणः संस्कृत द्वितीयान्त बहुवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप सुकम्माणे होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'सुकर्मन्' में स्थित 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'क्' को द्वित्व 'क्क्' की प्राप्ति, ३-५६ से अन्त्य 'अन्' अवयव के स्थान पर 'आण' आदेश की प्राप्ति; ३-१४ से प्राप्तांग अकारान्त रूप 'सुकम्माण' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे द्वितीया बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'शस' का प्राकृत में लोप होकर प्राकृतीय द्वितीयान्त बहुवचन का रूप सुकम्माणे सिद्ध हो जाता है।

'*पेच्छ*' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-२३* में की गई है।

पश्यति संस्कृत सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका (आदेश-प्राप्त) प्राकृत रूप निएइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१८१ से संस्कृतीय मूल धातु 'दृश्=पश्य्' के स्थान पर प्राकृत में 'निअ' रूप की आदेश-प्राप्ति, ३-१५८ से प्राप्त प्राकृतीय धातु 'निअ' में स्थित अन्त्य 'अ' के 'आगे वर्तमान काल प्रथम पुरुष के एकवचनीय प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *निएइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*कह*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२९* में की गई है।

'*सो*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-९७* में की गई है।

'*सुकम्माणे*' रूप की सिद्धि इसी सूत्र में-(*३-५६* में) ऊपर की गई है।

'*सम्मं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या-*१-३२* में की गई है। ३-५६ ॥

आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥ ३-५७ ॥

आत्मनः परस्याष्टायाः स्थाने णिआ णइआ इत्यादेशौ वा भवतः। अप्पणिआ पाउसे उवगयम्मि। अप्पणिआ य विअड्डि खाणिआ। अप्पणइआ। पक्षे। अप्पाणेण॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'आत्मन्' के प्राकृत रूपान्तर में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से एवं क्रम से 'णिआ' और 'णइआ' प्रत्ययों की (आदेश) प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—आत्मना प्रावृषि उपगतायाम्=अप्पणिआ पाउसे उवगयम्मि= अर्थात् वर्षा ऋतु के व्यतीत हो जाने पर अपने द्वारा। इस उदाहरण में तृतीया के एकवचन में 'आत्मन्' शब्द में 'टा' के स्थान पर 'णिआ' प्रत्यय की प्राप्ति प्रदर्शित की गई है।

दूसरा उदाहरण इस प्रकार हैः—आत्मना च वितर्दिः खानिता अर्थात् वेदिका अपनेद्वारा खुदवाई गई है। इस उदाहरण में भी तृतीया के एकवचन में 'आत्मन्' शब्द मे 'टा' प्रत्यय के स्थान पर 'णिआ' प्रत्यय की संयोजना की गई है। 'णइआ' प्रत्यय का उदाहरणः—आत्मना=अप्पणइआ अर्थात् आत्मा से। वैकल्पिक पक्ष होने से आत्मा=अप्पाणेण' रूप भी बनता है। यों 'आत्मना' के तीन रूप इस सूत्र में बतलाये गये हैं; जो कि क्रम से इस प्रकार हैं :—अप्पणिआ, अप्पणइआ और अप्पाणेण अर्थात् आत्मा के द्वारा अथवा आत्मा से; इत्यादि।

'*अप्पणिआ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१४* में की गई है।

प्रावृषि संस्कृत सप्तम्यन्त एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप पाउसे होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-३१ से मूल संस्कृत शब्द 'प्रावृट्' के स्त्रीलिंगत्व से प्राकृत में 'पुल्लिंगत्व' का निर्धारण; २-७९ से 'र्' का लोप; १-१७७ से 'व्' का लोप; १-१३१ से लोप हुए 'व्' के पश्चात् शेष रहे हुए स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्तिः १-१९ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ट् अथवा ष्' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; ३-११ से प्राप्तांग 'पाउष' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर डे प्रत्यय की प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'डे' में 'ड्' इत् संज्ञक होने से 'पाउस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर लोप; तत्पश्चात् प्राप्तांग हलन्त 'पाउस' में पूर्वोक्त 'ए' प्रत्यय की संयोजना होकर *पाउसे* रूप सिद्ध हो जाता है।

उपगतायाम् संस्कृत सप्तम्यन्त स्त्रीलिंगात्मक एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप-(प्रावृट् के प्राकृत में पुल्लिंग हो जाने के कारण से एवं प्रावृट के साथ इसका विशेषणात्मक संबंध होने के कारण से) उवगयम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति १-१७७ से 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; और ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *उवगयम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

अप्पाणिआ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१४ में की गई है।

'य' अव्यय की सिद्धि सूत्र-सख्या १-१८४ में की गई है।

'थिअद्दिड' (अथवा प्रथमान्त एकवचन रूप थिअई) की सिद्धि सूत्र-सख्या २-३६ में की गई है। *खानिता* सस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप खाणिआ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और १-१७७ से 'त्' का लोप होकर *खाणिआ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'अप्पणइआ' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या ३-१४ में की गई है।

'अप्पाणण' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या ३-५६ में की गई है। ३-५७ ॥

अतः सर्वादे र्डे जसः ॥ ३-५८ ॥-

सर्वादेरदन्तात् परस्य जसः डित् ए इत्यादेशो भवति ॥ सव्वे। अन्ने। जे। ते। के। एक्के। कयरे। इयरे। एए ॥ अत इति किम्। सव्वाओ रिद्धीओ ॥ जस इति किम् सव्वस्स ॥

अर्थः—(सर्व=सव्व) आदि अकारान्त सर्वनामों के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर 'डे' प्रत्यय की (आदेश) प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डे' में 'ड्' इत्संज्ञक है; तदनुसार अकारान्त सर्वनामों के अंग रूप में स्थित अन्त्य 'अ' स्वर की इत्संज्ञा होकर उक्त अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है एवं तत्पश्चात् प्राप्तांग हलन्त रूप में उक्त प्रथमा बहुवचन (बोधक) प्रत्यय 'ए' की सयोजना होती है। उदाहरण इस प्रकार हैं—सर्वे=सव्वे। अन्ये = अन्ने। ये = जे। ते=ते। के = के। एके=एक्के। कतरे=कयरे। इतरे=इअरे और एते=एए, इत्यादि ॥

प्रश्न,—मूल सूत्र में 'अकारान्त' ऐसा विशेषण क्यों दिया गया है?

उत्तरः—सर्वनाम अकारान्त होते हैं एवं आकारान्त भी होते हैं; तदनुसार प्रथमा बहुवचन में प्राप्तव्य 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर 'डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति केवल अकारान्त सर्वनामों में ही होती हैं; आकारान्त सर्वनामों में नहीं; इस विधि-विधान को व्यक्त करने के लिये तथा संपुष्ट करने के लिये ही 'अकारान्त' ऐसा विशेषण मूल सूत्र में संयोजित किया गया है। जैसे-सर्वाः ऋद्धयः=सव्वाओ रिद्धीओ; इस उदाहरण में प्रयुक्त 'सव्वा' सर्वनाम अकारान्त नहीं होकर आकारान्त है, तदनुसार इसमें अधिकृत सूत्र-सख्या ३-५८ के विधान से प्रथमा बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर 'डे=ए' प्रत्यय की सयोजना नहीं होती है। 'जस' के स्थान पर डे=ए प्रत्यय की संयोजना केवल अकारान्त सर्वनामों में ही होती है; अन्य में नहीं, इस सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये ही मूल सूत्र में 'अकारान्त' विशेषण का प्रयोग करना पड़ा है।

प्रश्नः—'जस्' ऐसा प्रत्ययात्मक उल्लेख करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर:—अकारान्त सर्वनामों में केवल प्रथमा विभक्ति के बहु वचन में ही संस्कृतीय प्राप्त प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर ही प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की संयोजना होती है; अन्य किसी भी प्रत्यय स्थान पर 'डे=ए' प्रत्यय की संयोजना नहीं होती है; इस विशेषता पूर्ण तात्पर्य को समझाने के लिये मूल-सूत्र में 'जस्' प्रत्यय का उल्लेख करना पड़ा है। जैसे:--सर्वस्य=सव्वस्स। इस उदाहरण में षष्ठी-विभ के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में (सूत्र-संख्या ३-१० के अनुस 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है और 'जस्' प्रत्यय का अभाव है; तदनुसार 'जस्' प्रत्यय का अभाव-स्थि होने से तद्-स्थानीय 'डे=ए' आदेश-प्राप्त प्रत्यय का भी अभाव है। यों यह सिद्धान्तात्मक निष्कर्ष नि लता है कि केवल 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर ही प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती अन्यत्र नहीं। ऐसी भावनात्मक स्थिति को प्रकट करने के लिये ही मूल-सूत्र में 'जस्' प्रत्यय का उल करना ग्रन्थकर्त्ता ने आवश्यक समझा है; जो कि युक्ति-संगत है एवं न्यायोचित है।

सर्वे संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत-रूप सव्वे होता है। इ सूत्र-संख्या-२-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्र और ३-५८ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे= प्रत्यय की प्राप्ति होकर सव्वे रूप सिद्ध हो जाता है।

अन्ये संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप अन्ने होता है। इ सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'य्' के पश्चात् रहे हुए 'न' को द्वित्व 'न्न' की प्र और ३-५८ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे= प्रत्यय की प्राप्ति होकर अन्ने रूप सिद्ध हो जाता है।

'जे' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२१७ में की गई है।

'ते' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या १-२६९ में की गई है।

'के' संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'के' होता है। इ सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर 'क' रूप की प्राप्ति और ३-५८ से प्रथ विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति हो 'के' रूप सिद्ध हो जाता है।

'एके' संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप एक्के होता है। इ सूत्र-संख्या २-९८ से 'क' को द्वित्व 'क्क' की प्राप्ति और ३-५८ से प्रथमा विभक्ति के बहुवच संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर 'एक्के' रूप सिद्ध जाता है।

कतरे संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप कयरे होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप, १-१८० से लोप हुए त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-५८ से प्राप्तांग 'कयर' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर कयरे रूप सिद्ध हो जाता है।

इतरे संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप इयरे होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-५८ से प्राप्तांग 'इयर' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय जस् के स्थान पर प्राकृत में डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर इयरे रूप सिद्ध हो जाता है।

'एए' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है।

सर्वाः संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त स्त्रीलिंगात्मक सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप सव्वाओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७६ से मूल संस्कृत शब्द 'सर्व' में स्थित 'र्' का लोप; २-८६ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति; ३-३२ से और ४-४४८ के निर्देश से पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व, के निर्माणार्थ प्राप्तांग 'सव्व' में 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२७ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *सव्वाओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

ऋद्धयः संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप रिद्धीओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१४० से मूल संस्कृत शब्द 'ऋद्धि' में स्थित 'ऋ' के स्थान पर 'रि' की प्राप्ति और ३-२७ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति कराते हुए 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रिद्धीओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

सर्वस्य संस्कृत षष्ठी-एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप सव्वस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७६ से 'र्' का लोप, २-८६ से लोप हुए 'र' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति और ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस=अस्' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *सव्वस्स* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-५८॥

ङेः स्सिं-म्मि-त्थाः ॥ ३-५९ ॥

सर्वादेरकारात् परस्य ङेः स्थाने स्सिं म्मि त्थ एते आदेशा भवन्ति ॥ सव्वस्सिं। सव्वम्मि। सव्वत्थ ॥ अन्नस्सिं। अन्नम्मि। अन्नत्थ ॥ एवं सर्वत्र ॥ अत इत्येव। अमुम्मि ॥

अर्थः—सर्व (=सव्व) आदि अकारान्त सर्वनामों के प्राकृत रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर क्रम से-(एवं वैकल्पिक रूप से)-'स्सिं'-म्मि-त्थ ये आदेश प्राप्त रूप प्रत्यय प्राप्त होते हैं। जैसे:-सर्वस्मिन=सव्वस्सिं अथवा सव्वम्मि अथवा सव्वत्थ। अन्यस्मिन्=अन्नस्सिं-अथवा अन्नम्मि अथवा अन्नत्थ। इसी प्रकार से अन्य अकारान्त सर्वनामों के संबंध में भी जानकारी कर लेना चाहिये।

प्रश्नः—'अकारान्त' सर्वनामों में ही 'ङि=इ' के स्थान पर 'स्सि-म्मि-त्थ' आदेश-प्राप्ति हुआ करती है, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—अकारान्त सर्वनामों के अतिरिक्त उकारान्त आदि अवस्था प्राप्त सर्वनामों में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर 'स्सि-म्मि-त्थ' आदेश प्राप्त-प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं होती है; किन्तु केवल 'ङि=इ' के स्थान पर 'म्मि' प्रत्यय की ही आदेश-प्राप्ति होती है; इस विधि-विधान को प्रकट करने के लिये ही 'अकारान्त सर्वनाम' ऐसा उल्लेख करना पड़ा है। जैसे:—अमुष्मिन्=अमुम्मि; इत्यादि।

सर्वस्मिन् संस्कृत सप्तमी-एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप-'सव्वस्सिं' सव्वम्मि और सव्वत्थ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति और ३-५९ से प्राप्तांग 'सव्व' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर क्रम से (एवं वैकल्पिक रूप से-)'स्सिं-म्मि-त्थ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से तीन रूप-*सव्वस्सिं*, *सव्वम्मि* और *सव्वत्थ* सिद्ध हो जाते है।

अन्यस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का रूप हैं। इसके प्राकृत रूप-अन्नस्सिं, अन्नम्मि और अन्नत्थ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'न' को द्वित्व 'न्न' की प्राप्ति और ३-५९ से प्राप्तांग 'अन्न' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर क्रम से-(एवं वैकल्पिक रूप से-) 'स्सिं-म्मि-त्थ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से तीनों रूप- *अन्नस्सिं*, *अन्नम्मि* और *अन्नत्थ* सिद्ध हो जाते हैं।

अमुष्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप अमुम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'अदस्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स्' का लोप; ३-८८ से 'द्' के स्थान पर 'मु' आदेश की प्राप्ति और ३-११ से प्राप्तांग 'अमु' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अमुम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-५९ ॥—

न वानिदमेतदो हिं ॥ ३-६० ॥-

इदम् एतद्वर्जितात्सर्वादेरदन्तात्परस्य ङेः हिंमादेशो वा भवति ॥ सव्वहिं । अन्नहिं । कहिं । जहिं । तहिं ॥ बहुलाधिकारात् किंयत्तद्भ्यः स्त्रियामपि । काहिं । जाहिं । ताहिं ॥ बाहुलकादेव किंयत्तदोस्य-मामि (३-३३) इति ङीर्नास्ति ॥ पक्षे । सव्वस्सिं । सव्वम्मि । सव्वत्थ । इत्यादि ॥ स्त्रियां तु पक्षे । काए । कीए । जाए । जीए । ताए । तीए ॥ इदमेतद्वर्जनं किम् । इमस्सिं । एअस्सिं ॥

अर्थः—इदम्=इम और एतत्=एअ सर्वनामों के अतिरिक्त अन्य सर्व=सव्व आदि अकारान्त सर्वनामों के प्राकृत रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'हिं' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—सर्वस्मिन्=सव्वहिं । अन्यस्मिन्=अन्नहिं । कस्मिन्=कहिं । यस्मिन्=जहिं और तस्मिन्=तहिं । 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से 'किम्' 'यत्' और 'तत्' सर्वनामों के स्त्रीलिंग रूपों में भी सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है। जैसे—कस्याम्=काहिं; यस्याम्=जाहिं और तस्याम्=ताहिं । 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से ही 'किम्', 'यत्' और 'तत्' सर्वनामों के स्त्रीलिंगत्व के निर्माण में सूत्र-संख्या ३-३३ के विधान से प्राप्तव्य स्त्रीलिंग बोधक प्रत्यय 'ङी=ई' की प्राप्ति उपरोक्त 'काहिं-जाहिं-ताहिं' उदाहरणों में नहीं हुई है। अर्थात् प्राप्तव्य रूप-'की, जी, ती, के स्थान पर 'का, जा, ता 'रूपों की प्राप्ति 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से जानना; ऐसा तात्पर्य ग्रंथ कर्त्ता का है।

उपरोक्त सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्रत्यय 'हिं' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से बतलाई गई है, तदनुसार जहां पर 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होगी वहां पर सूत्र-संख्या ३-५९ के विधानानुसार 'स्सिं-म्मि-त्थ' प्रत्यय की प्राप्ति होगी। जैसे—सर्वस्मिन्=सव्वस्सिं, सव्वम्मि और सव्वत्थ; यों अन्य उदाहरणों की भी कल्पना कर लेना चाहिये। स्त्रीलिंग वाले सर्वनामों में भी जहां सप्तमी विभक्ति के एकवचन में 'हिं' प्रत्यय की वैकल्पिक पक्ष होने से प्राप्ति नहीं होगी; वहां पर सूत्र-संख्या ३-२९ के अनुसार 'अ, (आ). इ और 'ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। जैसे—कस्याम्=काए अथवा कीए, यस्याम्=जाए अथवा जीए और तस्याम्=ताए अथवा तीए इत्यादि।

प्रश्नः—इदम्=इम और एतत्=एअ सर्वनामों को 'अकारान्त होने पर भी' उपरोक्त 'हिं' प्रत्यय के विधान से पृथक् क्यों रक्खा गया है ?

उत्तरः—चूंकि प्राकृत-भाषा के परम्परात्मक प्रवाह में उपरोक्त 'इम' और 'एअ' सर्वनामों में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर 'हिं' (आदेश)-

प्राप्ति का अभाव दृष्टि-गोचर होता है; अतएव अभावात्मक स्थिति में 'हिं' प्रत्यय का निषेध किया जाना न्यायोचित और व्याकरणीय-विधान के अनुकूल ही है। जैसे:—अस्मिन् = इमंसि और एतस्मिन् = एअंसि इत्यादि। यों सप्तमी विभक्ति के एकवचन में सर्वनामों में प्राप्तव्य प्रत्यय 'हिं' की स्थिति को समझ लेना चाहिये,

सर्वस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप सव्वहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति और ३-६० से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *सव्वहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

अन्यस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप अन्नहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' का लोप; होकर २-८९ से लोप हुए य' के पश्चात् रहे हुए 'न' को द्वित्व 'न्न' की प्राप्ति और ३-६० से प्राप्तांग 'अन्न' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अन्नहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

कस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत-रूप कहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर 'क' अंग की प्राप्ति और ३-६० से प्राप्तांग 'क' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *कहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

यस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत-रूप जहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यत्' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप और ३-६० से प्राप्तांग 'ज' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की (आदेश) प्राप्ति होकर *जहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

तस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत-रूप तहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तत्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप और ३-६० से प्राप्तांग 'त' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *तहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

कस्याम् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम का स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप काहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर 'क' की प्राप्ति; ३-३१ एवं २-४ से प्राप्तांग 'क' में स्त्रीलिंग-प्रबोधक 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६० से प्राप्तांग 'का'

में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *काहिं* रूप सिद्ध हो जाता है ।

यस्याम् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप जाहिं होता है। इसमें सूत्र संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यत' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति, १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-३१ एवं २-४ से प्राप्तांग 'ज' में स्त्रीलिंग-प्रबोधक 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६० से प्राप्तांग 'जा' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *जाहिं* रूप सिद्ध हो जाता है ।

तस्याम् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप ताहिं होता है। इसमें सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तत्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-३१ एवं २-४ से प्राप्तांग 'त' में स्त्रीलिंग-प्रबोधक 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६० से प्राप्तांग 'ता' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर ताहिं रूप सिद्ध हो जाता है ।

'सव्वस्सिं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५९ में की गई है ।

'सव्वम्मि' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५९ में की गई है ।

'सव्वत्थ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५९ में की गई है ।

कस्याम् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम स्त्रीलिंग का रूप है। इसके प्राकृत रूप काए और कीए होते हैं। इनमें उपरोक्त विधि अनुसार प्राप्तांग 'का' में सूत्र-संख्या ३-३१ से और ३-३२ से स्त्रीलिंग-प्रबोधक 'आ' प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ङी=ई' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२९ से क्रम से प्राप्तांग 'का' और 'की' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *काए* और *कीए* सिद्ध हो जाते हैं।

यस्याम् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप जाए और जीए होते हैं। इनमें उपरोक्त विधि-अनुसार प्राप्तांग 'जा' में सूत्र-संख्या ३-३१ से एवं ३-३२ से स्त्रीलिंग-बोधक 'आ' प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ङी=ई' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२९ से क्रम से प्राप्तांग 'जा' और 'जी' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *जाए* और *जीए* सिद्ध हो जाते हैं।

तस्याम् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त सर्वनाम स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप ताए और तीए होते हैं। इनमें उपरोक्त विधि-अनुसार प्राप्तांग 'ता' में सूत्र-संख्या ३-३१ से एवं ३-३२ से स्त्रीलिंग-प्रबोधक 'आ' प्रत्यय के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ङी=ई' प्रत्यय की प्राप्ति और



३-२९ से क्रम से प्राप्तांग 'ता' और 'ती' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में-संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *ताए* और *तीए* सिद्ध हो जाते हैं।

अस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप इमस्सि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७२ से संस्कृतीय सर्वनाम रूप 'इदम्' के स्थान पर 'इम' आदेश-प्राप्ति और ३-५६ से प्राप्तांग 'इम' में विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत मे 'स्सि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *इमस्सि* रूप सिद्ध हो जाता है।

एतस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप एअस्सि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत-सर्वनाम 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप और ३-५६ से प्राप्तांग 'एअ' मे सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'स्सि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *एअस्सि* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-६० ॥-

आमो डेसिं ॥ ३-६१ ॥—

सर्वादेरकारान्तात्परस्यामो डेसिमित्यादेशो वा भवति ॥ सव्वेसिं । अन्नेसिं । अवरेसिं । इमेसिं । एएसिं । जेसिं । तेसिं । केसिं । पक्षे । सव्वाण । अन्नाण । अवराण । इमाण । एआण । जाण । ताण । काण ॥ बाहुलकात् स्त्रियामपि । सर्वासाम् । सव्वेसिं ॥ एवम् अन्नेसिं । तेसिं ॥

अर्थः—सर्व (=सव्व) आदि अकारान्त सर्वनामों के प्राकृत-रूपान्तर में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'डेसि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। प्राकृत में आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक है; तदनुसार अंग रूप प्राकृत सर्वनाम-शब्दों में स्थित अन्त्य 'अ' स्वर की इत्संज्ञा होने से इस अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है एवं तत्पश्चात् शेष रहे हुए हलन्त सर्वनाम रूप अंग में उक्त षष्ठी-बहुवचन-बोधक प्रत्यय 'डेसिं=एसिं' की संयोजना होती है। जैसे:—सर्वेषाम्=सव्वेसिं अथवा पक्षान्तर में सव्वाण। अन्येषाम्=अन्नेसिं अथवा पक्षान्तर मे अन्नाण। अपरेषाम्=अवरेसिं अथवा पक्षान्तर में अवराण। एषाम्=इमेसिं अथवा पक्षान्तर मे इमाण। एतेषाम्=एएसिं अथवा पक्षान्तर में एआण। येषाम्=जेसिं अथवा पक्षान्तर मे जाण। तेषाम्=तेसिं अथवा पक्षान्तर मे ताण। केषाम्=केसिं अथवा पक्षान्तर में काण। 'बहुल' सूत्र-के अधिकार से अकारान्त सर्वनामों के अतिरिक्त आकारान्त स्त्रीलिंग वाले सर्वनामों में भी षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर (प्राकृत में) 'डेसि=एसिं' प्रत्यय

की प्राप्ति देखी जाती है। जैसे.—सर्वासाम्=सव्वेसिं अर्थात सभी (स्त्रियों) के। अन्यासाम्=अन्नेसिं अर्थात अन्य (स्त्रियों) के। तासाम्=तेसिं अर्थात् उन (स्त्रियों) के। इस प्रकार 'बहुल' सूत्र के आदेश से आकारान्त स्त्रीलिंग वाले सर्वनामों में भी 'एसिं' प्रत्यय की प्राप्ति हो सकती है।

सर्वेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप सव्वेसिं और सव्वाण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'सर्व' में स्थित 'र' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति और ३-६१ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डेसिं=एसिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप सव्वेसिं सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (सर्वेषाम्=) सव्वाण में 'सव्व' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् प्राप्तांग 'सव्व' में सूत्र-संख्या ३-१२ से अन्त्य 'अ' को आगे षष्ठी बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर (प्राकृत में) 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *सव्वाण* भी सिद्ध हो जाता है।

अन्येषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिगके सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप अन्नेसिं और अन्नाण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-७८ से मूल संस्कृत शब्द 'अन्य' में स्थित 'य' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'य्' के पश्चात् रहे हुए 'न' को द्वित्व 'न्न' की प्राप्ति और ३-६१ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डेसिं=एसिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *अन्नेसिं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(अन्येषाम्=) अन्नाण में 'अन्न' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात प्राप्तांग 'अन्न' में सूत्र संख्या ३-१२ से अन्त्य 'अ' को 'आगे षष्ठी बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप-*अन्नाण* भी सिद्ध हो जाता है।

अपरेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप अवरेसिं और अवराण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र संख्या १-२३१ से मूल संस्कृत शब्द 'अपर' में स्थित 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति और ३-६१ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डेसिं=एसिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *अवरेसिं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(अपरेषाम्=) अवराण में 'अवर' अंग की-प्राप्ति उपरोक्त विधि के अनुसार तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-१२ और ३-६ से उपरोक्त 'अन्नाण' के समान ही साधनिका की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *अवराण* भी सिद्ध हो जाता है।

एषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप इमेसिं और इमाण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७२ से मूल संस्कृत शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत में 'इम' रूप की प्राप्ति और ३-६१ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डेसिं=एसिं प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *इमेसिं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(एषाम्=)इमाण में 'इम' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'इम' में स्थित अन्त्य 'अ' के आगे षष्ठी-बहुवचन-प्रत्यय का सद्भाव होने से 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'इमा' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *इमाण* भी सिद्ध हो जाता है।

एतेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप एएसिं और एआण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप और ३-६१ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से डेसिं' प्रत्यय की प्राप्ति; तत्पश्चात् 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से 'एअ' में स्थित अन्त्य 'अ' स्वर की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' स्वर का लोप; तत्पश्चात् शेष अंग 'ए' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर *एएसिं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (एतेषाम्=) एआण में 'एअ' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'एअ' में स्थित अन्त्य 'अ' के आगे षष्ठी बहुवचन प्रत्यय का सद्भाव होने से 'आ' की प्राप्ति ३-६ से प्राप्तांग 'एआ' (में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन) में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *एआण* भी सिद्ध हो जाता है।

येषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप जेसिं और जाण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यद्' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप, ३-६१ से प्राप्तांग 'ज' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत मे 'डेसिं' प्रत्यय की प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से 'ज' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप एवं हलन्त 'ज्' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर प्राप्त प्रथम रूप *जेसिं* सिद्ध हो जाता है।

जाण की सिद्धि सूत्र-संख्या *3-33* में की गई है।

तेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तेसिं और ताण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६१ से प्राप्तांग 'त' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'डेसिं' प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से 'त' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप एवं हलन्त 'त्' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर प्रथम रूप *तेसिं* सिद्ध हो जाता है।

ताण की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-३३* में की गई है।

केषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप केसिं और काण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग की प्राप्ति और ३-६१ से 'क' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'डेसिं' प्रत्यय की प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से 'क' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप एवं हलन्त 'क्' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर प्रथम रूप *केसिं* सिद्ध हो जाता है।

'काण' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *३-३३* में की गई है।

सर्वासाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप सव्वेसिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'सर्व' में स्थित हलन्त 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति; ३-३२ और २-४ के विधान से 'सव्व' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माणार्थ 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६१ से 'सव्वा' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'डेसिं प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से 'सव्वा' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' की इत्संज्ञा होकर इस 'आ' का लोप एवं हलन्त 'सव्व्' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर (पुल्लिंग रूप के समान प्रतीत होने वाला यह स्त्रीलिंग रूप) *सव्वेसिं* सिद्ध हो जाता है।

अन्यासाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप अन्नेसिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से मूल संस्कृत शब्द 'अन्य' में स्थित 'य्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'य्' के पश्चात् रहे हुए 'न' को द्वित्व 'न्न' की प्राप्ति ३-३२ और २-४ के विधान से 'अन्न' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माणार्थ 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६१से 'अन्ना' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'डेसिं' प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से प्राप्तांग 'अन्ना' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' की इत्संज्ञा होकर इस 'आ' का लोप एवं हलन्त 'अन्न्' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर (पुल्लिंग रूप के समान प्रतीत होने वाला यह स्त्रीलिंग रूप) *अन्नेसिं* सिद्ध हो जाता है।

तासाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप तेसिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-३२ और २-४ के विधान से 'त' मे पुल्लिगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माणार्थ 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६१ से 'ता' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत मे 'डेसिं' प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डेसिं' मे स्थित 'ड' इत्संज्ञक होने से प्राप्तांग 'ता' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' की इत्संज्ञा होकर इस 'आ' का लोप एवं हलन्त 'त्' में उपरोक्त 'एसिं' प्रत्यय की संयोजना होकर (पुल्लिग रूप के समान प्रतीत होने वाला यह स्त्रीलिंग रूप) *तेसिं* सिद्ध हो जाता है। ३-६१ ॥-

किंतद्भ्यां डासः ॥ ३-६२ ॥-

किंतद्भ्यां परस्यामः स्थाने डास इत्यादेशो वा भवति ॥ कास । तास । पक्षे । केसिं । तेसिं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'किम्' के प्राकृत रूपान्तर 'क' में और संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के प्राकृत रूपान्तर 'त' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास' (प्रत्यय) की प्राप्ति हुआ करती है। प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास' (प्रत्यय) की प्राप्ति हुआ करती है। प्राकृत में प्राप्त प्रत्यय 'डास' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक है, तदनुसार प्राकृत सर्वनाम रूप "क" और "त" में स्थित अन्त्य स्वर "अ" की इत्संज्ञा होने से इस अन्त्य स्वर "अ" का लोप हो जाता है एवं तत्पश्चात् शेष रहे हुए हलन्त सर्वनाम रूप "क्" और 'त्" अंग में उक्त षष्ठी के बहुवचन का प्रत्यय "डास=आस" की संयोजना होती है। जैसे:-केषाम्=कास और तेषाम्=तास। वैकल्पिक पक्ष होने से (केषाम्=) केसिं और (तेषाम्=) तेसिं रूप भी बनते हैं।

केषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है इस के प्राकृत रूप कास और केसिं होते हैं। इन में से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द "किम्" के स्थान पर प्राकृत में "क" रूप की प्राप्ति, ३-६२ से प्राकृतीय "क" में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय-प्रत्यय "आम्" के स्थान पर प्राकृत में "डास" प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय "डास्" में स्थित "ड्" इत्संज्ञक होने से "क" में स्थित अन्त्य स्वर "अ" की इत्संज्ञा होकर इस "अ" का लोप एवं हलन्त 'क्" में उपरोक्त "आस" प्रत्यय की संयोजना होकर प्रथम रूप *कास* सिद्ध हो जाता है।

केसिं की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६१* में की गई है।

तेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम का रूप है। इस के प्राकृत रूप तास और तेसिं होते हैं। इन में से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द "तद्" मे स्थित अन्त्य

हलन्त व्यञ्जन "द्" का लोप, ३-६२ से प्राकृतीय-प्राप्तांग "त" में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्रत्यय "आम्" के स्थान पर प्राकृत में "डास" प्रत्यय की प्राप्ति, प्राप्त प्रत्यय 'डास" में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक होने से "त" में स्थित अन्त्य स्वर "अ" की इत्संज्ञा होकर इस "अ" का लोप एवं हलन्त "त्" में उपरोक्त "डास=आस" प्रत्यय की संयोजना होकर प्रथम रूप *तास* सिद्ध हो जाता है।

तेसिं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६१* में की गई है। ३-६२ ॥-

किंयत्तद्भ्योङसः ॥ ३-६३ ॥

एभ्यः परस्य ङसः स्थाने डास इत्यादेशो वा भवति। ङसः स्सः (३-१०) इत्यस्यापवादः। पक्षे सोपि भवति॥ कास। कस्स। जास। जस्स। तास। तस्स। बहुलाधिकारात्। किंतद्भ्यामाकारान्ताभ्यामपि डासादेशो वा। कस्या धनम्। कास धणं॥ तस्या धनम्। तास धणं। पक्षे। काए। ताए॥

अर्थः—संस्कृतीय सर्वनाम किम्, यद् और तद् के क्रम से प्राप्त प्राकृत रूप "क", "ज" और "त" में षष्ठी विभक्ति के वचन में संस्कृतीय प्रत्यय "ङस्=अस्" के स्थान पर प्राकृत में "डास" का आदेश वैकल्पिक रूप से हुआ करता है। प्राकृत में आदेश रूप "डास" में स्थित "ड्" इत्संज्ञक है; तदनुसार प्राकृत सर्वनाम रूप 'क', 'ज' और 'त' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होने से इस अन्त्य स्वर 'अ' का लोप हो जाता है। एवं तत्पश्चात् शेष रहे हुए हलन्त सर्वनाम रूप 'क्', 'ज्' और 'त्' में उक्त षष्ठी एकवचन का प्रत्यय 'डास=आस' की संयोजना होती है। जैसे:- कस्य=कास; यस्य=जास और तस्य=तास। इसी तृतीय पाद के दशवें सूत्र में यह विधान निश्चित किया गया है कि 'संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' का आदेश होता है। तदनुसार उक्त सूत्र-संख्या ३-१० के प्रति इस सूत्र (३-६३) को अपवाद रूप सूत्र समझना चाहिये। इस प्रकार इस अपवाद रूप स्थिति को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ-कर्त्ता ने 'वैकल्पिक-स्थिति' का उल्लेख किया है; तदनुसार वैकल्पिक-स्थिति का सद्भाव होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ३-१० के आदेश से 'क', 'ज' और 'त' सर्वनामों में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिये। इस विषयक उदाहरण इस प्रकार हैं:— कस्य=कस्स; यस्य=जस्स और तस्य=तस्स।

'बहुल' सूत्र का अधिकार होने से 'क' के स्त्रीलिंग रूप 'का' में और 'त' के स्त्रीलिंग रूप 'ता' में भी षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास' आदेश हुआ करता है। प्राकृत में आदेश 'डास' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक है, तदनुसार प्राकृत सर्वनाम-स्त्रीलिंग रूप 'का' और 'ता' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' की इत्संज्ञा होने से इस अन्त्य

स्वर 'आ' का लोप हो जाता है एवं तत्पश्चात् शेष रहे हुए हलन्त सर्वनाम रूप-'क्' और 'त्' में उक्त षष्ठी विभक्ति एकवचन-(बोधक-प्रत्यय) डास=आस' की संयोजना होती है। जैसे:— कस्या धनम्=कास धणं? और तस्या धनम्=तास धणं वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में 'कस्या' का 'काए' रूप भी बनता है और 'तस्या' का 'ताए' रूप भी होता है।

कस्य संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त सर्वनाम पुल्लिंग का रूप है। इसके प्राकृत रूप कास और कस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' रूप की प्राप्ति और ३-६३ से 'क' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास=आस' प्रत्यय की (आदेश) प्राप्ति होकर प्रथम रूप *कास* सिद्ध हो जाता है।

कस्स रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-२०४ में की गई है।

यस्य संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त सर्वनाम पुल्लिंग का रूप है। इसके प्राकृत रूप जास और जस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यद्' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६३ से प्राप्तांग 'ज' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से डास=आस प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *जास* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(यस्य=) जस्स में पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'ज' मे सूत्र-संख्या ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत मे 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *जस्स* भी सिद्ध हो जाता है।

तस्य संस्कृत षष्ठी एक वचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तास और तस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप, और ३-६३ से 'त' में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास=आस' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तास* सिद्ध हो जाता है।

तस्स रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१८६ में की गई है।

कस्याः संस्कृत षष्ठी एक वचनान्त स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है इसके प्राकृत रूप कास और काए होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र- संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर 'क' रूप की प्राप्ति ३-३२ और २-४ के निर्देश से 'क' में पुल्लिगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण हेतु 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६३ की वृत्ति से प्राप्तांग 'का' में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास=आस' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *कास* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(कस्या=) काए में सूत्र-संख्या ३-२६ से उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'का' में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप काए सिद्ध हो जाता है।

'धणं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-५० में की गई है।

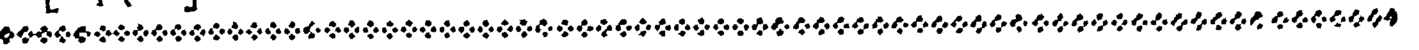
तस्याः संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तास और ताए होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-३२ और २-४ के निर्देश से 'त' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण हेतु 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-६३ की वृत्ति से 'ता' में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डास = आस' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तास* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(तस्या =) ताए में सूत्र-संख्या ३-२९ से उपरोक्त रीति से 'ता' में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में-संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *ताए* सिद्ध हो जाता है। ३-६३॥-

ईद्भ्यः स्सा से ॥ ३-६४ ॥-

किमादिभ्य ईदन्तेभ्यः परस्य ङसः स्थाने स्सा से इत्यादेशौ वा भवतः। टा-ङस्-ङे रदादिदेद्वा तु ङसेः (३-२९) इत्य स्यापवादः। पक्षे अदादयोपि॥ किस्सा। कीसे। कीअ। कीआ। कीइ। कीए॥ जिस्सा। जिसे। जीअ। जीआ। जीइ। जीए॥ तिस्सा। तीसे। तीअ। तीआ। तीइ। तीए॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'किम्'-यद्-तद् के प्राकृतीय ईकारान्त स्त्रीलिंग रूप-'की-जी-ती' में में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से एवं क्रम से 'स्सा' और 'से' प्रत्ययों की प्राप्ति हुआ करती है। इसी तृतीय पाद के उन्नतीसवें सूत्र में यह विधान निश्चित किया गया है कि 'संस्कृतीय षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में स्त्रीलिंग वाले शब्दों में 'अत्=अ; आत्=आ; इत्=इ और एत्=ए' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होती है। तदनुसार उक्त सूत्र-संख्या ३-२९ के प्रति इस सूत्र (३-६४) को अपवाद रूप सूत्र समझना चाहिये। इस प्रकार इस अपवाद रूप स्थिति को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ-कर्त्ता ने 'वैकल्पिक स्थिति का उल्लेख किया है; तदनुसार वैकल्पिक-स्थिति का सद्भाव होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ३-२९ के आदेश से स्त्रीलिंग वाले सर्वनाम रूप 'की-जी-ती' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में (प्राकृत में) 'अत्=अ; आत्=आ; इत्=इ और एत्=ए' प्रत्ययों का भी



क्रम से अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये। क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—कस्याः=(३-६४ के विधान से) किस्सा और कीसे एवं (३-२९ के विधान से) पचान्तर में कीअ, कीआ, कीइ और कीए। यस्याः=जिस्सा और जीसे; पचान्तर में जीअ, जीआ, जीइ और जीए। तस्याः=तिस्सा और तीसे; पचान्तर में तीअ, तीआ, तीइ और तीए।

कस्याः संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप किस्सा, कीसे, कीअ, कीआ, कीइ और कीए होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग की प्राप्ति; ३-३२ से 'क' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण हेतु 'ङी=ई' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति ३-६४ से 'की' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर (प्राकृत में) 'स्सा' प्रत्यय की प्राप्ति और १-८४ से प्राप्त प्रत्यय 'स्सा' संयोगात्मक होने से अंग रूप 'की' में स्थित दीर्घस्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *किस्सा* सिद्ध हो जाते हैं।

द्वितीय-रूप-(कस्याः)=कीसे में 'की' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति से एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-६४ से प्राप्तांग 'की' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'से' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप कीसे सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप से छट्ठे रूप तक-(कस्याः=) कीअ, कीआ, कीई और कीए में 'की' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति से एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२९ से प्राप्तांग 'की' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम-से-'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से *कीअ, कीआ, कीइ* और *कीए* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

यस्याः संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप जिस्सा, जीसे, जीअ, जीआ, जीइ और जीए होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यद्' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-३२ से प्राप्तांग 'ज' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण-हेतु-'ङी=ई' प्रत्यय की प्राप्ति; ३-६४ से प्राप्तांग 'जी' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्सा' प्रत्यय की प्राप्ति और १-८४ से प्राप्त प्रत्यय 'स्सा' संयोगात्मक होने से अंग रूप 'जी' में स्थित दीर्घस्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *जिस्सा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (यस्याः=) जीसे में 'जी' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति से एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-६४ से प्राप्तांग 'जी' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'से' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *जीसे* सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप से छट्ठे रूप तक-(यस्याः=) जीअ, जीआ, जीइ और जीए में 'जी' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति से एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२९ से प्राप्तांग 'जी' में षष्ठी विभक्ति के

एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस् = अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से तृतीय रूप से छठे रूप तक अर्थात् *जीअ, जीआ, जीइ* और *जीए* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

तस्याः संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तिस्सा, तीसे, तीअ, तीआ, तीइ और तीए होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में से सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द तद् में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-३२ से प्राप्तांग 'त' पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण-हेतु 'ङी=ई' प्रत्यय की प्राप्ति, ३-६४ से प्राप्तांग 'ती' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्सा' प्रत्यय की प्राप्ति और १-८४ से प्राप्त प्रत्यय 'स्सा' संयोगात्मक होने से अंग रूप 'ती' स्थित दीर्घ 'ई' के स्थान पर ह्रस्व 'इ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तिस्सा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(तस्याः=) तीसे में 'ती' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति से एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-६४ से प्राप्तांग 'ती' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'से' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *तीसे* सिद्ध हो जाता है।

तृतीय रूप से छट्ठे रूप तक-(तस्याः=) तीअ, तीआ, तीइ और तीए में 'ती' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति से एवं तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-२९ से प्राप्तांग 'ती' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'अ-आ-इ-ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से *तीअ, तीआ, तीइ* और *तीए* रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३-६४ ॥

ङेर्डाहे डाला इआ काले ॥ ३-६५ ॥

किंयत्तद्भ्यः कालेभिधेये ङेः स्थाने आहे आला इति डितौ इआ इति च आदेशा वा भवन्ति। हिं स्सिं म्मित्थानामपवादः। पक्षे ते पि भवन्ति ॥ काहे। काला। कइया ॥ जाहे। जाला। जाइया ॥ ताहे। ताला। तइया ॥

ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिअएहिँ घेप्पन्ति। पक्षे। कहिं। कस्सिं। कम्मि। कत्थ ॥

अर्थ.—जब 'किम्, यद् और तद्' शब्द किसी काल वाचक शब्द के विशेषण रूप हों; तो इनके प्राकृत-रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से और क्रम से डाहे, डाला और इआ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। प्राप्त-प्रत्यय 'डाहे और डाला' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक है; अतएव प्राकृत में प्राप्तांग 'क, ज और त' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप हो जाता है; एवं तत्पश्चात् शेषांग हलन्त 'क्, ज् और त्' में उक्त प्रत्यय

के रूप में 'आहे और आला' (प्रत्ययों की संयोजना होती है। इसी तृतीय पाद के सूत्र-संख्या ३-६० और ३-५६ में क्रम से यह विधान निश्चित किया गया है कि 'संस्कृतीय सप्तमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय' 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं, स्सिं, म्मि और त्थ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है'; तदनुसार उक्त सूत्र-संख्या ३-६० और ३-५६ के प्रति इस सूत्र (३-६५) को अपवाद रूप सूत्र समझना चाहिये। पक्षान्तर में हिं, स्सिं, म्मि और त्थ' प्रत्ययों का अस्तित्व भी है; ऐसा ध्यान में रखना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार हैं:—

कस्मिन् = (किस समय में) = काहे, कला, कइआ और पक्षान्तर से कहिं, कस्सिं, कम्मि और कत्थ। यस्मिन् = (जिस समय में) = जाहे, जाला और जइआ; पक्षान्तर में जहिं, जस्सिं, जम्मि और जत्थ (भी होते हैं)। तस्मिन = (उस समय में) = ताहे, ताला और तइआ एवं पक्षान्तर में तहिं, तस्सिं, तम्मि और तत्थ (भी होते हैं)।

किसी ग्रन्थ-विशेष से ग्रन्थ-कर्त्ता ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिये निम्नोक्त छन्दांश को वृत्ति में उद्धृत किया है:—

संस्कृतः—तस्मिन् जायन्ते गुणाः यस्मिन् ते सहृदयैः गृह्यं ते।

प्राकृत रूपान्तरः—ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिअएहिं घेप्पन्ति।

हिन्दी-भावार्थः—उस समय में गुण (वास्तव मे गुण रूप) होते हैं; जिस समय में वे (गुण) सहृदय पुरुषों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। (अथवा स्वीकार किये जाते हैं)।

इस दृष्टान्त में 'त' और 'ज' शब्द समय-वाचक-स्थिति के द्योतक हैं; इसीलिये इनमें सूत्र-संख्या ३-६५ के विधानानुसार 'डाला = आला' प्रत्यय की संयोजना की गई है; यों अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

कस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त (समय स्थिति-बोधक) विशेषण रूप है। इसके प्राकृत रूप काहे, काला, कइआ, कहिं, कस्सिं, कम्मि और कत्थ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग की प्राप्ति और ३-६५ से प्राप्तांग 'क' में (समय-स्थित-बोधकता के कारण से) सप्तमी-विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'डाहे=आहे' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होकर प्रथम रूप काहे सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय और तृतीय रूप 'काला एवं कइआ' में मूल 'क' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-६५ से प्रथम रूप के समान ही क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'डाला=आला और इआ' प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होकर काला और कइआ रूप सिद्ध हो जाते है।

चतुर्थ रूप '*काहिं*' की सिद्धि सूत्र संख्या ३-६० में की गई है। '*कहिंत*' में 'क' अङ्ग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति अनुसार एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५६ से सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'हिंत' प्रत्यय की प्राप्ति होकर पंचम रूप *कहिंत* सिद्ध हो जाता है।

'*कम्मि*' में भी उपरोक्त पंचम रूप के समान ही सूत्र-संख्या ३-५६ के विधान से 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर छट्ठा रूप *कम्मि* सिद्ध हो जाता है।

'*कत्थ*' में भी उपरोक्त पंचम रूप के समान ही सूत्र-संख्या ३-५६ के विधान से 'त्थ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर सप्तम रूप *कत्थ* सिद्ध हो जाता है।

यस्मिन् संस्कृत सप्तमी एक वचनान्त (समय-स्थिति-बोधक) विशेषण रूप है इसके प्राकृत रूप जाहे, जाला और जइआ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यद्' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६५ से प्राप्तांग 'ज' में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'डाहे=आहे' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *जाहे* सिद्ध हो जाता है।

जाला में 'ज' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-विधान के अनुसार एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-६४ से प्रथम रूप के समान ही 'आला' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *जाला* सिद्ध हो जाता है।

जइआ में 'ज' अंग की प्राप्ति का विधान उपरोक्त रीति-अनुसार एवं तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-६५ से प्रथम-द्वितीय रूपों के समान ही 'इआ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *जइआ* भी सिद्ध हो जाता है।

तस्मिन् संस्कृत सप्तमी एक वचनान्त (समय-स्थिति-बोधक) विशेषण रूप है। इसके प्राकृत रूप ताहे, ताला और तइआ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६५ से प्राप्तांग 'त' में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर क्रम से 'डाहे=आहे; डाला=आला और इआ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर तीनों रूप *ताहे, ताला* और *तइआ* सिद्ध हो जाते हैं।

'*ताला*' रूप की सिद्धि *इसी सूत्र में* ऊपर की गई है।

जायन्ते संस्कृत अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप जाअन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'य्' का लोप और ३-१४२ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के बहु वचन में संस्कृतीय आत्मनेपदीय प्रत्यय 'न्ते' के स्थान पर प्राकृत में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *जाअन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*गुणा*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-११ में की गई है।

'*जाला*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२६९ में की गई है!

'ते' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२६९ में की गई है।

'साहिअएहिं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२६९ में की गई है।

'घेप्पन्ति' रूप की सिद्धि सत्र-सख्या १-२६९ मे की गई है।

ङसे म्हा ॥ ३-६६ ॥-

किंयत्तद्भयः परस्य ङसेः स्थाने म्हा इत्यादेशो वा भवति ॥ कम्हा । जम्हा । तम्हा । पक्षे । काओ । जाओ । ताओ ।

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'किम्-यद्-तद्' के प्राकृत रूपान्तर 'क ज-त' में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि = अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'म्हा' आदेश की प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—कस्मात् = कम्हा; यस्मात् = जम्हा और तस्मात् = तम्हा। वैकल्पिक पक्ष का विधान होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ३-८ के विधान से उपरोक्त 'क-ज-त' सर्वनामों में 'त्तो; दो = ओ; दु = उ; हि, हिन्तो और लुक्' प्रत्ययों की भी प्राप्ति क्रम से हुआ करती है। जैसेः—कस्मात् = काओ, (कुत्तो, काउ, काहि, काहिन्तो और का आदि)। यस्मात् = जाओ, जत्तो, जाउ, जाहि, जाहिन्तो और जा) एवं तस्मात् = ताओ, (तत्तो, ताउ, ताहि, ताहिन्तो और ता)।

कस्मात् संस्कृत पञ्चमी एक वचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप कम्हा और काओ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर 'क' रूप को आदेश-प्राप्ति और ३-६६ से प्राप्तांग 'क' में पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि = अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'म्हा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *कम्हा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(कस्मात् =) काओ में 'क' अंग की प्राप्ति उपरोक्त सोधनिका के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'क' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे पञ्चमी विभक्ति एकवचन-बोधक प्रत्यय 'ओ' का सद्भाव होने से' दीर्घ 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से प्राप्तांग 'का' में पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि = अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *काओ* भी सिद्ध हो जाता है।

यस्मात् संस्कृत पञ्चमी एक वचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप जम्हा और जाओ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२४५ से मूल संस्कृत शब्द 'यद्' में स्थित 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६६ से प्राप्तांग 'ज' में पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि = अस्' के स्थान पर प्राकृत मे वैकल्पिक रूप से 'म्हा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *जम्हा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(यस्मात् =) जाओ में 'ज' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'ज' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और -८ से प्राप्तांग 'जा' में उपरोक्त रीति से पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय-रूप *जाओ* भी सिद्ध हो जाता है।

तस्मात् संस्कृत पञ्चमी एक वचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तम्हा और ताओ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६६ से प्राप्तांग 'त' में पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृत प्रत्यय 'ङसि = अस' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'म्हा' प्रत्यय की (आदेश) प्राप्ति होकर प्रथम रूप *तम्हा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(तस्मात्=) ताओ में 'त' अंग की प्राप्ति उपरोक्त साधनिका के अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'त' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से प्राप्तांग 'ता' में उपरोक्त रीति से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में 'दो= ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *ताओ* भी सिद्ध हो जाता है। ३-६६ ॥-

तदो डोः ॥ ३-६७ ॥

तदः परस्य ङसेर्डो इत्यादेशो वा भवति ॥ तो । तम्हा ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के प्राकृत रूपान्तर 'त' में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि = अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक है; तदनुसार उक्त सर्वनाम 'त' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' स्वर का लोप हो जाता है; एवं तत्पश्चात् शेषांग हलन्त 'त्' सर्वनाम में उक्त प्रत्यय 'ओ' की संयोजना होती है। जैसे—*तस्मात्=तो*। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ३-६६ के विधान से (तस्मात =) तम्हा रूप की प्राप्ति होती है। 'तम्हा' रूप में भी वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव है अतएव सूत्र-संख्या ३-८ के विधान से (तस्मात्=) 'त्तो, ताओ, ताउ, ताहि, ताहिन्तो और ता' रूपों का भी सद्भाव जानना चाहिये।

तस्मात् संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप 'तो' और 'तम्हा' होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत-शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप और ३-६७ से प्राप्तांग 'त' में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डो=ओ' प्रत्यय की (आदेश) प्राप्ति होकर प्रथम रूप '*तो*' सिद्ध हो जाता है।

'*तम्हा*' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६६ में की गई है। ३-६७ ॥

किमो डिणो-डीसौ ॥ ३-६८ ॥

किमः परस्य ङसेर्डिणो डीस इत्यादेशौ वा भवतः ॥ किणो । कीस । कम्हा ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'किम्' के प्राकृत रूपान्तर 'क' मे पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डिणो और डीस प्रत्ययो की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। आदेश प्राप्त प्रत्यय 'डिणो और डोस' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक हैं; तदनुसार प्राकृतीय अंग-प्राप्त रूप 'क' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप हो जाता है एवं तत्पश्चात् शेषांग हलन्त 'क्' में आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'इणो और ईस' की क्रम से और वैकल्पिक रूप से संयोजना होती है। जैसे:— कस्मात्=किणो और कीस। वैकल्पिक पक्ष होने से (कस्मात्=) कम्हा रूप का भी सद्भाव जानना चाहिये।

कस्मात् संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप किणो, कीस और कम्हा होते हैं। इनमें से प्रथम के दो रूपों में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग की प्राप्ति और ३-६८ से प्राप्तांग 'क' में पंचमी विभक्ति के एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से 'डिणो=इणो' और 'डीस=ईस' प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होकर क्रम से और वैकल्पिक रूप से प्रथम दोनों रूप-*किणो* और *कीस* सिद्ध हो जाते है।

कम्हा की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६६ में की गई है।

इदमेतर्त्कि-यत्तद्भ्य ष्टो डिणा ॥ ३-६९ ॥—

एभ्यः सर्वादिभ्योकारान्तेभ्यः परस्याष्टायाः स्थाने डित् इणा इत्यादेशो वा भवति ॥ इमिणा । इमेण ॥ एदिणा । एदेण ॥ किणा । केण ॥ जिणा । जेण । तिणा । तेण ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'इदम् एतद्, किम, यद् और तद् के क्रम से प्राप्त प्राकृतीय अकारान्त रूप 'इम. एद (शौरसेनी रूप), क, ज, और त' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में पुल्लिग मे संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत मे वैकल्पिक रूप से 'डिणा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। आदेश प्राप्त प्रत्यय 'डिणा' में स्थित 'ड्' इत्संज्ञक है; तदनुसार प्राकृतीय प्राप्तांग 'इम, एद, क, ज और त' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' की इत्संज्ञा होकर इस 'अ' का लोप हो जाता है और तत्पश्चात क्रम से प्राप्तांग हलन्त शब्द 'इम्, एद्, क्, ज्, और त्' में उपरोक्त 'डिणा=इणा' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से संयोजना हुआ करती है। उपरोक्त सर्वनामों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—अनेन=

इमिणा और पक्षान्तर में इमेण, एतेन=एदिणा और पक्षान्तर में एदेण; केन=किणा और पक्षान्तर में केण, येन=जिणा और पक्षान्तर में जेण, तेन=तिणा और पक्षान्तर में तेण रूप होते हैं।

अनेन संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप इमिणा और इमेण होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-७२ से मूल संस्कृत शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत में 'इम' आदेश की प्राप्ति; और ३-६९ से प्रथम रूप में प्राप्तांग 'इम' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डिणा=इणा' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर प्रथम रूप *इमिणा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप इमेण में उपरोक्त ३-७२ के अनुसार प्राप्तांग 'इम' में सूत्र-संख्या ३-१४ से अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'इमे' में तृतीया विभक्ति के वचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'ण' प्रत्यय का आदेश प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *इमेण* भी सिद्ध हो जाता है।

एतेन संस्कृत तृतीया एकवचनांत पुल्लिंग सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप एदिणा और एदेण होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप, ४-२६० से 'त' के स्थान पर 'द' की प्राप्ति; और ३-६९ से प्रथम रूप में 'एद' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डिणा=इणा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *एदिणा* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(एतेन=) एदेण में उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'एद' में सूत्र-संख्या ३-१४ से अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से 'एदे' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'ण' प्रत्यय की (आदेश) प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *एदेण* सिद्ध हो जाता है

केन संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप किणा और केण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग की आदेश-प्राप्ति; और ३-६९ से प्राप्तांग 'क' में तृतीया विभक्ति के एकवचन पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डिणा=इणा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *किणा* सिद्ध हो जाता है।

'*केण*' की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४१ में की गई है।

येन संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप जिणा और जेण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'यद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप, १-२४५ से 'य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति और ३-६९ से प्राप्तांग 'ज' में तृतीया



विभक्ति के एकवचन मे पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से, डिणा इणा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *जिणा* सिद्ध हो जाता है।

जेण की सिद्धि सूत्र-संख्या *1-36* में की गई है।

तेन संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप तिणा और तेण होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; और ३-६९ से प्राप्तांग 'त' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में पुल्लिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'डिणा = इणा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'तिणा' सिद्ध हो जाता है।

तेण की सिद्धि सूत्र-संख्या *1-33* में की गई है। ३-६९ ॥

तदो णः स्यादौ क्वचित् ॥ ३-७० ॥

तदः स्थाने स्यादौ परे 'ण' आदेशो भवति क्वचित् लक्ष्यानुसारेण। णं पेच्छ। तं पश्येत्यर्थः॥ सोअइ अ णं रहुवई। तमित्यर्थः॥ स्त्रियामपि। हत्थुन्नामिअ-मुही णं तिअडा। तां त्रिजटेत्यर्थः॥ णेण भणिअं। तेन भणितमित्यर्थः॥ तो णेण कर-यल-ट्ठिआ। तेनेत्यर्थः॥ भणिअं च णाए। तयेत्यर्थः॥ णेहिं कयं। तैः कृतमित्यर्थः॥ णाहिं कयं। ताभिः कृतमित्यर्थः॥

अर्थः—कभी कभी लक्ष्य के अनुसार से अर्थात् संकेतित पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण विशेष से संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर प्राकृत रूपान्तर में विभक्ति-बोधक प्रत्ययों के परे रहने पर 'ण' अंग रूप आदेश की प्राप्ति (वैकल्पिक रूप से) हुआ करती है। जैसेः—तम् पश्य=णं पेच्छ अर्थात् उसको देखो। शोचति च तम् रघुपतिः=सोअइ अ णं रघुवई अर्थात् रघुपति उसकी चिन्ता करते हैं-शोक करते हैं। 'स्त्रीलिंग' में भी 'तद्' सर्वनाम के स्थान पर 'ण' अथवा 'णा' अंग रूप आदेश की प्राप्ति पाई जाती है। जैसे हस्तोन्नामित-मुखो ताम् त्रिजटा=हत्थुन्नामिअ-मुही णं तिअडा अर्थात् हाथ द्वारा ऊंचा कर रखा मुँह को जिसने ऐसी त्रिजटा नामक राक्षसिनी ने उस (स्त्री) को .... (वाक्य अधूरा है)। तेन भणितम्=णेण भणिअं अर्थात् उसके द्वारा कहा गया है। तस्मात् तेन कर-तल-स्थिता = तो णेण कर-यल-ट्ठिआ अर्थात् उस कारण से उसके द्वारा हथेली पर रखी हुई ... .(वाक्य अधूरा है)। भणितम् च तया = भणिअं च णाए अर्थात् उसके द्वारा-(उस स्त्री के द्वारा)-कहा गया है। तैः कृतम् = णेहिं कयं अर्थात् उनके द्वारा किया गया है। ताभिः कृतम् = णाहिं कयं अर्थात् उन (स्त्रियों) के द्वारा किया गया है। इन उदाहरणों में यह समझाया गया है कि पुल्लिंग अवस्था में अथवा स्त्रीलिंग अवस्था में (भी) अनेक विभक्तियों में तथा एकवचन में अथवा बहुवचन में (भी) संस्कृतीय सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' अंग रूप (अथवा स्त्रीलिंग में 'णा' अंग रूप) आदेश-प्राप्ति कभी कभी पाई

जाती है यह उपलब्धि प्रासंगिक है। और ऐसी स्थिति को 'वृत्ति' में 'लक्ष्यानुसारेण' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

तम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूपान्तर (कभी कभी) णं होता है। इसमें सूत्र संख्या ३-७० से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' अंग की आदेश-प्राप्ति; ३-५ द्वितीया विभक्ति के एकवचन में पुल्लिंग में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *णं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'पेच्छ' (क्रियापद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है।

शोचति संस्कृत सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप सोअइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति, १-१७७ से 'च्' का लोप और ३-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर *सोअइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*अ*' (अव्यय) की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१७७* में की गई है।

'*णं*' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि *इसी सूत्र* में ऊपर की गई है।

रघुपति संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप रहुवई होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'घ्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति, १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति १-१७७ से 'त्' का लोप और ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में इकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'स्' के स्थान पर प्राकृत में अंग के अन्त में स्थित ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ 'ई' की प्राप्ति होकर रहुवई रूप सिद्ध हो जाता है।

हस्तोन्नामित-मुखी संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप हत्थुन्नामिअ-मुही होता है। इस में सूत्र-संख्या २-४५ से संयुक्त व्यञ्जन 'स्त्' के स्थान पर 'थ्' की प्राप्ति, २-८९ से प्राप्त 'थ' को द्वित्व 'थ्थ्' की प्राप्ति, २-९० से प्राप्त पूर्व 'थ्' के स्थान पर 'त्' की प्राप्ति; १-८४ से दीर्घ स्वर 'ओ' के स्थान पर 'आगे संयुक्त व्यञ्जन 'न्न' का सद्भाव होने से' ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति, १-१७७ से द्वितीय 'त्' का लोप और १-१८७ से 'ख' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *हत्थुन्नामिअ-मुही* सिद्ध हो जाता है।

ताम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'णं' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७० से मूल संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर प्राकृत में स्त्रीलिंग में 'णा' अंग रूप की आदेश प्राप्ति; ३-३६ से प्राप्तांग 'णा' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' ह्रस्व 'अ' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में

प्राप्तांग 'ण' में संस्कृतीय प्रत्यय 'म्' के समान ही प्राकृत में भी 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय स्त्रीलिंग रूप 'णं' सिद्ध हो जाता है।

त्रिजटा संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप तिअडा होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७६ से 'त्रि' में स्थित 'र्' का लोप; १-१७७ से 'ज्' का लोप; १-१९५ से 'ट्' के स्थान पर 'ड्' की प्राप्ति और १-११ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'सि = स्' का प्राकृत में लोप होकर *तिअडा* रूप सिद्ध हो जाता है।

तेन संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप णेण होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७० से मूल संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर 'ण' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति ३-१४ से प्रप्तांग 'ण, में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' को प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'णे' में तृतीया विभक्ति एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' आदेश की प्राप्ति होकर प्राकृतीयरूप *णेण*' सिद्ध हो जाता है।

'*भणिअं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *२-१९३* मे की गई है।

'*तो*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६७* में की गई है।

'*णेण*' रूप की सिद्धि *इसी सूत्र में ऊपर* की गई है।

कर-तल स्थिता संस्कृत विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप कर-यल-ट्ठिआ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से प्रथम 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ४-१६ से 'स्थ्' के स्थान पर 'ठ्' की आदेश-प्राप्ति, २-८९ से प्राप्त 'ठ्' को द्वित्व 'ठ्ठ्' की प्राप्ति २-९० से प्राप्त पूर्व 'ठ्' के स्थान पर 'ट्' की प्राप्ति और १-१७७ से द्वितीय 'त्' का लोप होकर *कर-यल-ट्ठिआ* रूप सिद्ध हो जाता है।

भणिअ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *२-१९३* मे की गई है।

'च' अव्यय की सिद्धि सूत्र संख्या *१-२४* में की गई है।

तया संस्कृत तृतीया एकवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप णाए होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७० से मूल संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर स्त्रीलिंग-अवस्था में प्राकृत में 'णा' अंग की आदेश-प्राप्ति और ३-२९ से प्राप्तांग 'णा' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में आकारान्त स्त्रीलिंग में संस्कृतीय प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *णाए* रूप सिद्ध हो जाता है।

तैः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त पुल्लिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप *णेहिं* होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७० से मूल संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' अंग रूप की प्राप्ति; ३-१५ से प्राप्तांग 'ण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से प्राप्तांग 'णे' में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *णेहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

ताभिः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त स्त्रीलिंग के सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप णाहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७० से मूल संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्थान पर प्राकृत में पुल्लिंग में 'ण' अंग रूप की प्राप्ति; ३-३२ से एवं २-४ के निर्देश से पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण-हेतु 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'णा' अंग का सद्भाव; और ३-७ से प्राप्तांग 'णा' में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *णाहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*कयं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है। ३-७० ॥

किमः कस्त्र-तसोश्च ॥ ३-७१ ॥

किमः को भवति स्यादौ त्र तसोश्च परयोः। को। के। कं। के। केण ॥ त्र। कत्थ ॥ तस्। कओ। कत्तो। कदो ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'किम्' में संस्कृतीय प्राप्तव्य विभक्ति बोधक प्रत्ययों के स्थानीय प्राकृतीय विभक्ति बोधक प्रत्ययों के परे रहने पर अथवा स्थान वाचक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'त्रप्' के स्थानीय प्राकृतीय प्रत्यय 'हि-ह-त्थ' प्रत्ययों के परे रहने पर अथवा सम्बन्ध-सूचक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'तस्' के स्थानीय प्राकृतीय प्रत्यय 'त्तो अथवा दो' प्रत्ययों के परे रहने पर 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग रूप की आदेश प्राप्ति होती है। विभक्ति-बोधक प्रत्ययों से संबंधित उदाहरण इस प्रकार हैं—कः=को, के=के, कम्=कं, कान्=के और केन=केण इत्यादि।

'त्रप्' प्रत्यय से संबंधित उदाहरण यों हैं:—कुत्र=कत्थ अथवा कहि और कह। 'तस्' प्रत्यय के उदाहरणः—कुतः=कओ, कत्तो और कदो।

'को' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-१९८* में की गई है।

'के' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-५८* में की गई है।

'*कं*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-३३ में की गई है।

कान् संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप के होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति; ३-१४ से प्राप्तांग 'क' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से प्राप्तांग 'के' में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर 'के' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*केण*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४१ में की गई है।

'*कत्थ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१६१ मे की गई है।

कुतः संस्कृत (अव्ययात्मक) रूप है। इसके प्राकृत रूप कओ, कत्तो और कदो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७१ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'किम्' के स्थान पर प्राकृत में 'क' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति; १-१७७ से 'त्' का लोप और १-३७ से लोप हुए 'त' के पश्चात् शेष रहे हुए विसर्ग के स्थान पर 'ओ' की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *कओ* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*कत्तो*' और तृतीय रूप '*कदो*' की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१६० में की गई है। ३-७१॥

इदम इमः ॥ ३-७२ ॥

इदमः स्यादौ परे इम आदेशो भवति ॥ इमो । इमे । इमं । इमे । इमेण ॥ स्त्रियामपि ॥ इमा ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के प्राकृत रूपान्तर मे विभक्ति बोधक प्रत्यय परे रहने पर 'इम' अंग रूप आदेश की प्राप्ति होती है। जैसे.—अयम् = इमो; इमे = इमे; इमम्=इमं; इमान् = इमे अनेन=इमेण इत्यादि। स्त्रीलिंग-अवस्था में भी 'इदम्' शब्द के स्थान पर प्राकृत में 'इमा' अंग रूप आदेश की प्राप्ति होती है। जैसेः—इयम् = इमा इत्यादि।

अयम् संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप इमो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७२ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत में 'इम' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग 'इम' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *इमो* रूप सिद्ध हो जाता है।

इमे संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप इमे होता है। इसमें 'इम' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त (३-७२ के) विधान के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-५८

से प्राप्तांग 'इम' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर 'डे = ए' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *इमे* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*इमं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१८१ में की गई है।

इमान् संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप इमे होता है। इसमें 'इम' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त (३-७२ के) विधान के अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'इम' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से प्राप्तांग 'इमे' में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर *इमे* सिद्ध हो जाता है।

'*इमेण*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६९ में की गई है।

इयम् संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप इमा होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७२ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के स्थान पर 'इम' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति ३-४ के निर्देश से प्राप्तांग 'इम' में पुल्लिगत्व से स्त्री-लिंगत्व के निर्माण हेतु 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और १-११ से प्राप्तांग 'इमा' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स्' का प्राकृत में लोप होकर *इमा* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-७२ ॥

पुं-स्त्रियोर्न वायमिमिआ सौ ॥ ३-७३ ॥

इदम् शब्दस्य सौ परे अयमिति पुल्लिगे इमिआ इति स्त्रीलिङ्गे आदेशौ वा भवतः ॥ अहवायं कय-कज्जो। इमिया वाणिअ-धूआ। पक्षे। इमो। इमा ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'इदम्' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की प्राप्ति होने पर इदम् + सि' के स्थान पर पुल्लिग में 'अयं' रूप की और स्त्रीलिंग में 'इमिआ' रूप की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जैसे'— अथवा अयम् कृत-कार्य. = अहवा अयं कयकज्जो; यह पुल्लिग का उदाहरण हुआ। स्त्रीलिंग का उदाहरण इस प्रकार है'—इयम् वाणिज्य-दुहिता = इमिया वाणिअ धूआ। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पुल्लिग में 'इदम् + सि' का 'इमो' रूप भी प्राकृत में बनेगा और स्त्रीलिंग में 'इयम्' का 'इमा' रूप भी बनता है।

'*अहवा*' अव्यय की सिद्धि सूत्र संख्या १-६७ में की गई है।

अयम् संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अयम् और इमो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७३ के विधान से संस्कृत के समान ही 'अयम्' रूप की आदेश प्राप्ति और १-२३ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *अयं* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*इमो*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-७२* में की गई है।

कृत-कार्यः संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिंग विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप कय-कज्जो होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-१२६ से आदि स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; १-७७ से 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; १-८४ से दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'र्य' के स्थान पर 'ज' की प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'ज' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *कय-कज्जो* रूप सिद्ध हो जाता है।

इयम् संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग सर्वनाम का रूप है। इसके प्राकृत रूप इमिआ और इमा होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७३ से सम्पूर्ण संस्कृत रूप 'इयम्' के स्थान पर प्राकृत में 'इमिआ' रूप की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होकर प्रथम रूप 'इमिआ' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*इमा*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-७२* में की गई है।

वाणिक्य-दुहिता संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप वाणिअ-धूआ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७७ से हलन्त व्यञ्जन 'क्' का लोप; १-१७७ से 'य्' का लोप; २-१२६ से सम्पूर्ण शब्द 'दुहिता' के स्थान पर प्राकृत में धूआ' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-४४८ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य 'सि=स्' की प्राप्ति और १-११ से प्राप्त हलन्त प्रत्यय 'स्' का लोप होकर *वाणिअ-धूआ* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-७३ ॥

स्सिं-स्सयोरत् ॥ ३-७४ ॥

इदमः स्सिं स्स इत्येतयोः परयोरद् भवति वा ॥ अस्सिं । अस्स । पक्षे इमादेशोपि । इमस्सिं । इमस्स । बहुलाधिकारादन्यत्रापि भवति । एहि । एसु । आहि । एभिः । एषु । आभिरित्यर्थः ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के प्राकृत रूपान्तर मे सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्यय स्सिं' और षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्यय 'स्स' के प्राप्त होने पर सम्पूर्ण सर्वनाम 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत मे 'अ' अंग रूप की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—'स्सिं' प्रत्यय का उदाहरण—अस्मिन्=अस्सिं अर्थात् इसमें और 'स्स' प्रत्यय का उदाहरण—अस्य=अस्स अर्थात् इसका। वैकल्पिक पक्ष का उल्लेख होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ३-७२ के विधान से 'इदम्' के स्थान पर 'इम' अंग रूप की प्राप्ति भी होती है। जैसेः—अस्मिन्=इमस्सिं अर्थात् इसमें और अस्य=इमस्स अर्थात् इसका। बहुलाधिकार से 'इदम्' के स्थान पर पुल्लिंग में 'ए' अंग रूप की

और स्त्रीलिंग में 'आ' अंग रूप की भी प्राप्ति देखी जाती है। जैसे.—एभि.=एहि अर्थात् इनके द्वारा। स्त्रीलिंग का उदाहरण:—आभि:= आहि अर्थात् इन (स्त्रियों से) एषु=एसु अर्थात् इनमें। इन उदाहरणों मे 'इदम् के स्थान पर प्राकृत में 'ए' अंग रूप को और 'आ' अंग रूप का उपलब्धि दृष्टि गोचर हो रही है, इसका कारण 'बहुल' सूत्र ही जानना।

अस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अस्सिं और इमस्सिं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७४ से 'इदम्' शब्द के स्थान पर प्राकृत में 'अ' अंग रूप की प्राप्ति और ३-५९ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर प्राकृतीय अंग रूप 'अ' में 'स्सिं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *अस्सिं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप *इमस्सिं* की सिद्धि सूत्र संख्या ३-६० में की गई है।

अस्य संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अस्स और इमस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७४ से 'इदम्' शब्द के स्थान पर प्राकृत में 'अ' अंग रूप की प्राप्ति और ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृतीय अंग रूप 'अ' में 'स्स' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप *अस्स* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(अस्य=) इमस्स में सूत्र संख्या ३-७२ से संस्कृतीय शब्द 'इदम्' के स्थान पर 'इम' अंग रूप की प्राप्ति और ३-१० से प्रथम रूप के समान ही 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *इमस्स* भी सिद्ध हो जाता है।

एभिः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप एहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७४ की वृत्ति से संस्कृत शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' अंग रूप की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *एहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

एषु संस्कृत सप्तमी बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है इसका प्राकृत रूप एसु होता है। इसमें ३-७४ की वृत्ति से 'इदम्' के स्थान पर 'ए' अंग रूप की प्राप्ति और १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होकर *एसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

आभिः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त स्त्रीलिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप आहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७४ की वृत्ति से मूल संस्कृत शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत में पुल्लिंग में 'अ' अंग रूप की प्राप्ति, ३-३२ और २-४ से पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माणार्थ प्राप्तांग 'अ' में 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *आहि* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-७४ ॥

ङे र्मेन हः ॥ ३-७५ ॥

इदमः कृते मादेशात् परस्य ङे स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति ॥ इह । पक्षे । इमस्सि । इमम्मि ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के प्राकृत रूपान्तर में सूत्र-संख्या ३-७२ से प्राप्तांग 'इम' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के प्राप्त होने पर मूलांग 'इम' में स्थित 'म' और 'ङि' प्रत्यय इन दोनों के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ह' की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—अस्मिन्=इह अर्थात् इसमें अथवा इस पर। वैकल्पिक-पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में 'अस्मिन = इमस्सि और इमम्मि' रूपों का अस्तित्व भी जानना चाहिए।

अस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप इह, इमस्सि और इमम्मि होते है। इनमे से प्रथम रूप मे सूत्र-संख्या ३-७२ से मूल संस्कृत शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत में 'इम' अंग रूप की प्राप्ति और ३-७५ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' की प्राप्ति होने पर मूलांग 'इम' में स्थित 'म' और प्राप्त प्रत्यय 'ङि' इन दोनों के स्थान पर 'ह' की आदेश प्राप्ति होकर प्रथम रूप *इह* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप *इमस्सि*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६०* में की गई है।

तृतीय रूप (अस्मिन्=) इमम्मि मे 'इम' अंग की प्राप्ति उपरोक्त विधि-विधानानुसार एवं तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-११ से प्राप्तांग 'इम' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर प्राकृत मे 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *इमम्मि* भी सिद्ध हो जाता है। ३-७५ ॥

न त्थः ॥ ३-७६ ॥

इदमः परस्य ङेः स्सिं म्मि त्थाः (३-५९) इति प्राप्तः त्थो न भवति ॥ इह । इमस्सिं । इमम्मि ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ३-५९ मे ऐसा विधान किया गया है कि अकारान्त सर्व = सव्व आदि सर्वनामों में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में पुल्लिग मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर 'स्सि-म्मि-त्थ' ऐसे तीन प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होती है; तदनुसार प्राप्तव्य इन तीनों प्रत्ययों में से अंतिम तृतीय प्रत्यय 'त्थ' की इस 'इदम्' सर्वनाम के प्राकृतीय प्राप्तांग 'इम' मे प्राप्ति नहीं होती है। अर्थात् 'इम' में केवल उक्त तीनों प्रत्ययों में से प्रथम और द्वितीय प्रत्यय 'स्सि' और 'म्मि' की ही प्राप्ति होती है। जैसेः—अस्मिन् = इमस्सि और इमम्मि। सूत्र-संख्या ३-७५ के विधान से 'इम + ङि' = इह, ऐसे तृतीया रूप का अस्तित्व भी ध्यान में रखना चाहिए।

'इह' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७५ में की गई है।

'इमस्सि' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८० में की गई है।

'इमम्मि' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७५ में की गई है। ३-७६ ॥

णोम्-शस्टा भिसि ॥ ३-७७ ॥

इदमः स्थाने अम् शस्टा भिस्सु परेषु ण आदेशो वा भवति ॥ णं पेच्छ। णे पेच्छ। णेण। णेहि कयं। पक्षे। इमं। इमे। इमेण। इमेहि ॥

अर्थ—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के प्राकृत रूपान्तर में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्'; द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्'; तृतीया विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' और तृतीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थानीय प्राकृतीय प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर वैकल्पिक रूप से 'ण' अंग रूप की प्राप्ति हुआ करती है। यों सपूर्ण 'इदम्' शब्द के स्थान पर 'ण' अंग रूप की प्राप्ति होकर तत्पश्चात् प्राकृतीय उक्त विभक्तियों स्थानीय प्रत्ययों की संयोजना होता है। जैसे — इमम् पश्य=णं पेच्छ अर्थात् इसको देखो। इमान् पश्य=णे पेच्छ अर्थात् इनको देखो। अनेन=णेण अर्थात् इसके द्वारा। एभिः कृतम्=णेहि कयं अर्थात् इनके द्वारा किया गया है। ये उदाहरण क्रम से द्वितीया और तृतीया विभक्तियों के एकवचन के तथा बहुवचन के हैं। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में 'णं' के साथ 'इमं'; 'णे' के साथ 'इमे', 'णेण' के साथ 'इमेण' और 'णेहि' के साथ 'इमेहि' रूपों का सद्भाव भी ध्यान में रखना चाहिये।

इमम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'णं' और इमं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र संख्या ३-७७ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के स्थान पर 'ण' अंग रूप की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'णं' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप 'इमं' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७२ में की गई है।

'पेच्छ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

इमान् संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'णे' और इमे होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'ण' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त रीति अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'ण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे द्वितीया विभक्ति बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-४ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' का प्राकृत में लोप होकर प्रथम रूप 'णे' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप 'इमे' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७२ में की गई है।

'पेच्छ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

अनेन संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप णेण' और 'इमेण' होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'ण' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४ से प्राप्तांग 'ण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति एकवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' को प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग णे' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत मे 'ण' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप '*णेण*' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*इमेण*' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७२ में की गई है।

एभिः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है इसके प्राकृत रूप णेहि और 'इमेहि' होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में 'ण' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त रीति-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग 'ण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-७ से प्राप्तांग 'णे' में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप '*णेहि*' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(एभिः=) इमेहि में सूत्र-संख्या ३-७२ से मूल संस्कृत शब्द 'इदम्' के स्थान पर प्राकृत मे 'इम' अंग रूप की प्राप्ति और शेष साधनिका प्रथम रूप के समान ही सूत्र-संख्या ३-१५ एवं ३-७ से प्राप्त होकर द्वितीय रूप 'इमेहि' भी सिद्ध हो जाता है।

कयं क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ मे की गई है। ३-७७॥

अमेणम् ॥ ३-७८ ॥

इदमोमा सहितस्य स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति ॥ इणं पेच्छ। पक्षे। इमं।

अर्थः— संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्' के द्वितीया विभक्ति के एकवचन में पुल्लिंग प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'इमम्' के स्थान पर प्राकृत मे 'इणम्' रूप की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। इसमें यह स्थिति बतलाई गई है कि- 'इदम् शब्द और अम् प्रत्यय' इन दोनों के स्थान पर 'इणम्' रूप की आदेश प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। जैसेः-इमम् पश्य= इणं पेच्छ अर्थात् इसको देखो। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में इमम् का प्राकृत रूप 'इमं' भी होता है।

इमम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप इणं और इमं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-७८ से सम्पूर्ण संस्कृत रूप 'इमम्' के स्थान पर प्राकृत में 'इणं' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप इणं सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप इमं की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७२ में की गई है।

'पेच्छ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।३-७८॥

क्लीवे स्यमेदमिणमो च ॥ ३-७९ ॥

नपुंसक लिङ्गे वर्तमानस्येदमः स्यमम्भ्यां सहितस्य इदम् इणमो इणम् च नित्यमादेशा भवन्ति ॥ इदं इणमो इणं धणं चिट्ठइ पेच्छ वा ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम नपुंसकलिंग शब्द 'इदम्' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय प्राप्त होने पर और द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय प्राप्त होने पर मूल शब्द 'इदम्' और उक्त प्रत्यय, इन दोनों के स्थान पर नित्यमेव क्रम से 'इदम्, इणमो और इण' ये तीन आदेश रूप हुआ करते हैं। यों प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति दोनों के एकवचन में समान रूप से 'इदम्' के नपुंसकलिंग में उक्त तीन तीन रूप होते हैं। ये नित्यमेव होते हैं; वैकल्पिक रूप से नहीं। उदाहरण इस प्रकार हैः—इदं अथवा इणमो अथवा इणं धणं चिट्ठइ = इदम् धनम् तिष्ठति अर्थात् यह धन विद्यमान है। इदं अथवा इणमो अथवा इणं धनम् पश्य अर्थात् इस धन को देखो। उक्त उदाहरण क्रम से प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के एकवचन के द्योतक हैं।

इदम् संस्कृत प्रथमा-द्वितीया एकवचनान्त नपुंसकलिंग सर्वनाम रूप है। इसके (दोनों विभक्तियों में समान रूप से) प्राकृत रूप इदं, इणमो और इणं होते हैं। इन तीनों रूपों मे सूत्र-संख्या ३-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'इदम्' और प्रथमा द्वितीया के एकवचन में क्रम से प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' और 'अम्' सहित दोनों के स्थान पर क्रम से नित्यमेव 'इद, इणमो और इण' रूपों की (प्रत्यय सहित) आदेश-प्राप्ति होकर ये तीनों रूप इदं, *इणमो* और इणं सिद्ध हो जाते हैं।

'धणं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है।

'चिट्ठइ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१९९ में की गई है।

'पेच्छ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है। ३-७९॥

किमः किं ॥ ३-८० ॥

किमः क्लीबे वर्तमानस्य स्यमम्भ्यां सह किं भवति ॥ किं कुलं तुह। किं किं ते पडिहाइ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम नपुंसकलिंग शब्द 'किम्' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय प्राप्त होने पर और द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय प्राप्त होने पर मूल शब्द 'किम्' और उक्त प्रत्यय, इन दोनों के स्थान पर नित्यमेव 'किं' आदेश रूप की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि 'किम्+सि' का प्राकृत रूपान्तर 'किं' होता है। और 'किम्+अम्' का प्राकृत रूपान्तर भी 'किं' ही होता है। प्रथमा-द्वितीया दोनों विभक्तियों के एकवचन में समान रूप से ही प्रत्यय सहित मूल शब्द 'किम्' के स्थान पर 'किं' रूप की प्राकृत मे नित्यमेव आदेश-प्राप्ति होती है। जैसेः- किम् कुलम् तव=किं कुलं तुह अर्थात् तुम्हारा क्या कुल है? (तुम कौन से कुल में उत्पन्न हुए हो?) यह उदाहरण प्रथमा एकवचन वाला है। किम् किम् ते प्रति भाति=किं किं ते पडिहाइ? तुम्हें क्या क्या मालूम होता है? यह उदाहरण द्वितीया के एकवचन का है।

किम् संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त नपुंसक लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'किं' होता है। इसमे सूत्र संख्या ३-८० से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'किम्' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय की संयोजना होने पर शब्द सहित प्रत्यय के स्थान पर 'किं' रूप की नित्यमेव आदेश प्राप्ति होकर *किं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'कुलं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-३३* में की गई है।

'*तव*' संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'तुह' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-९९ से मूल संस्कृत शब्द 'युष्मद्' में संयोजित षष्ठी एकवचन बोधक संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस=अस्' के कारण से प्राप्त रूप 'तव' के स्थान पर प्राकृत में 'तुह' रूप की आदेश प्राप्ति होकर 'तुह' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*किम्*' संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त नपुंसक लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'किं' होता है। इसमें सूत्र-सख्या ३-८० से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'किम्' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय को संयोजना होने पर शब्द सहित प्रत्यय के स्थान पर 'किं' रूप की नित्यमेव आदेश प्राप्ति होकर *किं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'ते' संस्कृत चतुर्थी एकवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप भी 'ते' ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-९९ से मूल संस्कृत शब्द 'युष्मद्' में संयोजित चतुर्थी एकवचन बोधक संस्कृतीय प्रत्यय 'ङे' के कारण से संस्कृतीय आदेश प्राप्त रूप 'ते' के स्थान पर प्राकृत में भी 'ते' रूप की आदेश प्राप्ति और ३-१३१ चतुर्थी-षष्ठी की एक रूपता प्राप्त होकर प्राकृतीय रूप 'ते' सिद्ध हो हो जाता है।

प्रतिभाति संस्कृत क्रियापद रूप है। इसका प्राकृत रूप पडिहाइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; १-२०६ से प्रथम 'त' के स्थान पर 'ड्' की प्राप्तिः १-१८७ से भ्' के स्थान पर

'ह' की प्राप्ति और ३-१३६ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय का प्राप्ति होकर पहिहाइ रूप सिद्ध हो जाता है। ३-८० ॥

वेदं-तदे तदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ॥ ३-८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येतेषां स्थाने ङस् आम् इत्येताभ्यां सह यथासंख्यं से सिम् इत्यादेशौ वा भवतः ॥ इदम्। से सीलम्। से गुणा। अस्य शीलं गुणा वेत्यर्थः ॥ सिं उच्छा-हो। एषाम् उत्साह इत्यर्थः। तद्। से सीलं। तस्य तस्या वेत्यर्थः ॥ सिं गुणा। तेषा तासां वेत्यर्थः ॥ एतद्। से अहिअं। एतस्याहितमित्यर्थः ॥ सिं गुणा। सिं सीलं। एतेषां गुणा! शीलं वेत्यर्थः। पक्षे। इमस्स। इमेसिं। इमाण ॥ तस्स। तेसिं। ताण ॥ एअस्स। एएसिं। एआण। इदं तदोरामापि से आदेशं कश्चिदिच्छति ॥

अर्थ:—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'इदम्, तद् और एतद्' के प्राकृत रूपान्तर में षष्ठी-विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' और षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' की संयोजना होने पर मूल उक्त शब्दों और प्रत्ययों, दोनों के स्थान पर वैकल्पिक रूप से एवं क्रम से 'से' रूप की तथा 'सिम्' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है। विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) इदम् + ङस्	=	(अस्य)	का प्राकृत	आदेश-प्राप्त	रूप		'से'।
(२) इदम् + आम्	=	(एषाम्)	,,	,,	,,	,,	'सिं'।
(३) तद् + ङस्	=	(तस्य)	,,	,,	,,	,,	'से'।
(४) तद् + ङस्	=	(स्त्रीलिंग में तस्या.)	,,	,,	,,	,,	'से'।
(५) तद् + आम्	=	(तेषाम्)	,,	,,	,,	,,	'सिं'।
(६) तद् + आम्	=	(स्त्रीलिंग में तासाम्)	,,	,,	,,	,,	'से'।
(७) एतद् + ङस्	=	(एतस्य=)	,,	,,	,,	,,	'से'।
(८) एतद् + आम्	=	(एतेषां=)	,,	,,	,,	,,	'सिं'।

इस प्रकार शब्द और प्रत्यय दोनों के स्थान पर उक्त रूप से 'से' अथवा 'सिं' रूपों की षष्ठी विभक्ति एकवचन में एवं बहुवचन में क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वाक्यात्मक उदाहरण इस प्रकार हैं:—'इदम्' से संबंधितः—अस्य शीलम् = से सील अर्थात् इसका शील-धर्म, अस्य गुणाः=से गुणा अर्थात् इसके गुण-धर्म; एषाम् उत्साहः=सिं उच्छाहो अर्थात् इनका उत्साह। 'तद्' से संबंधितः—तस्य शीलम् = से सीलं अर्थात् उसका शील-धर्म; तस्या. शील=से सील अर्थात् उस (स्त्री) का शील-धर्म, तेषाम् गुणाः=सिं गुणा=उनके गुण-धर्म, तासाम् गुणाः=सिं गुणा अर्थात् उन (स्त्रियों) के गुण-धर्म। 'एतद्' से संबंधितः—एतस्य अहितम् = से अहिअं अर्थात् इसकी हानि अर्थात्

अहित; एतेषाम् गुणा=सिं गुणा अर्थात् इनके गुण-धर्म और एतेषाम् शीलम्= सिं सीलं अर्थात् इनका शील-धर्म। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'इदम्, तद् और एतद्' सर्वनामों के षष्ठी विभक्ति के एकवचन में समान रूप से 'से' और षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में भी समान रूप से 'सिं' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है।

वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में 'इदम्, तद् और एतद्' के जो दूसरे रूप होते है; वे एकवचन और बहुवचन में क्रम से इस प्रकार हैं:—इदम् के (अस्य=) इमस्स और (एषाम्) इमेसिं और इमाण। तद् के (तस्य=) तस्स और (तेषाम्=) तेसिं और ताण। एतद् के (एतस्य=) एअस्स और (एतेषाम्=)एएसिं और एआण। कोई कोई व्याकरण-कार 'इदम्' और 'तद्' सर्वनामों के प्राकृत रूपान्तर में षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में भी एकवचन के समान ही 'मूल शब्द और आम्' प्रत्यय के स्थान पर 'से' आदेश-प्राप्ति मानते है। इन व्याकरण-कारों की ऐसी मान्यता के कारण से षष्ठी विभक्ति के दोनों वचनों में 'शब्द और प्रत्यय के स्थान पर' 'से' रूप की प्राप्ति होकर 'एक रूपता' का सद्-भाव होता है।

अस्य संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त सर्वनाम पुल्लिग रूप है। इसके प्राकृत रूप से और इमस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-८१ से सम्पूर्ण रूप 'अस्य' के स्थान पर प्राकृत में 'से' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप से सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*इमस्स*' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-७४ में की गई हैं।

शीलम् संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप सीलं होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-२६० से 'श्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर '*सील*' रूप सिद्ध हो जाता है।

गुणाः संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप गुणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१२ से मूल अंग 'गुण' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर '*गुणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

एषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'सिं', 'इमेसिं' और 'इमाण' होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-८१ से सम्पूर्ण रूप 'एषाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'सिं' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप '*सिं*' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय और तृतीय रूप '*इमेसिं* तथा *इमाण*' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६१ में की गई है।

'*उच्छाहो* रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-११४ में की गई है।

तस्य संस्कृत पुल्लिंग षष्ठी एकवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'से' और तस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-८१ से सम्पूर्ण रूप 'तस्य' के स्थान पर प्राकृत में 'से' रूप को आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'से' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*तस्स*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *२-१८६* में की गई है।

'*सीलं*' रूप की सिद्धि *इसी सूत्र में ऊपर* की गई है।

तेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'सिं', 'तेसिं' और 'ताण' होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-८१ से सम्पूर्ण रूप 'तेषाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'सिं' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'सिं' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप *तेसिं* की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६१* में की गई है।

तृतीय रूप '*ताण*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-३३* में की गई है।

'*गुणा*' रूप की सिद्धि *इसी सूत्र मे ऊपर* की गई है।

'*एतस्य*' संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'से' और 'एअस्स होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-८१ से सपूर्ण रूप 'एतस्य' के स्थान पर प्राकृत में 'से' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'से' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (एतस्य=) एअस्स में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप, १-१७७ से 'त्' का लोप और ३-१० से प्राप्तांग 'एअ' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस् = अस् = स्य' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप 'एअस्स' की सिद्धि हो जाती है।

अहितम् संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप अहिअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप, ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त नपुंसकलिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *अहिअं* सिद्ध हो जाता है।

एतेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'सिं' और 'एएसिं' तथा 'एआण' होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-८१ से सपूर्ण रूप 'एतेषाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'सिं' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम रूप 'सिं' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप '*एएसिं*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६१* में की गई है।

तृतीय रूप '*एआण*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६१* में की गई है।

गुणा रूप की सिद्धि इसी सूत्र में ऊपर की गई है।

'सीलं' रूप की सिद्धि इसी सूत्र में ऊपर की गई है।

वैतदो ङसे स्त्तो त्ताहे ॥ ३-८२ ॥

एतदः परस्य ङसेः स्थाने त्तो त्ताहे इत्येतावादेशौ वा भवतः ॥ एत्तो । एत्ताहे । पक्षे । एआओ । एआउ । एआहि । एआहिन्तो । एआ ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'एतद्' के प्राकृत रूपान्तर में पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि् = अस्' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से (एवं क्रम से) 'त्तो और त्ताहे' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जैसे:—एतस्मात्=एत्तो और एत्ताहे। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में निम्नोक्त पाँच रूपों का सद्भाव और जानना:—(एतस्मात्=) एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो और एआ अर्थात् इससे।

एतस्मात् संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'एत्तो, एत्ताहे, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो और एआ होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या १-११ मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-८३ से 'त' का लोप और ३-८२ से प्राप्तांग 'ए' में पचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से ' त्तो और त्ताहे' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम दोनों रूप-'*एत्तो* और *एत्ताहे*' सिद्ध हो जाते हैं।

शेष पांच रूपों में (एतस्मात्=) 'एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो और एआ' में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप; ३-१२ से प्राप्तांग 'एअ' मे स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे पंचमी-विभक्ति के एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-८ से प्राप्तांग 'एआ' में पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ओ, उ, हि, हिन्तो और लुक्' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से पांचों रूप *एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो* और *एआ*' रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३-८२ ॥

त्थे च तस्य लुक् ॥ ३-८३ ॥

एतद स्त्थे परं चकारात् त्तो त्ताहे इत्येतयोश्च परयोस्तस्य लुग् भवति ॥ एत्थ । एत्तो । एत्ताहे ॥

अर्थ:—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'एतद्' में स्थित सपूर्ण व्यञ्जन 'त' का 'त्थ' प्रत्यय और 'त्तो, त्ताहे' प्रत्यय परे रहने पर नित्यमेव लोप हो जाता है। जैसेः—एतस्मिन्=एत्थ। एतस्मात्=एत्तो और एत्ताहे।

एतस्मिन् सस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप *एत्थ* होता है। इसमें सूत्र-सख्या १-११ से मूल सस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-८३ से 'त' का लोप और ३-५६ से प्राप्तांग 'ए' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'त्थ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृत रूप '*एत्थ*' सिद्ध हो जाता है।

एत्तो और *एत्ताहे* रूपों की सिद्धि सूत्र सख्या ३-८२ में की गई है। ३-८३ ॥

एरदीतौ म्मौ वा ॥ ३-८४ ॥

एतद एकारस्य ङ्यादेशे म्मौ परे अदीतौ वा भवतः ॥ अयम्मि । ईयम्मि । पक्षे । एअम्मि ॥

अर्थः—सस्कृत सर्वनाम शब्द 'एतद्' के प्राकृत-रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के प्राकृतीय स्थानीय प्रत्यय 'म्मि' परे रहने पर मूल शब्द 'एतद्' में स्थित 'ए' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से तथा क्रम से 'अ' और 'ई' की प्राप्ति हुआ करती है। जैसे:—एतस्मिन्=अयम्मि अथवा ईयम्मि। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में एअम्मि रूप का भी सद्भाव ध्यान में रखना चाहिये।

एतस्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अयम्मि, ईयम्मि और एअम्मि होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप, १-१८० से लोप हुये 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुये 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति, ३-८४ से आदि 'ए' के स्थान पर क्रम से और वैकल्पिक रूप से 'अ' अथवा 'ई' की प्राप्ति; और ३-११ से क्रम से प्राप्तांग 'अय' और 'ईय' से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से प्रथम दोनों रूप *अयम्मि* और *ईयम्मि* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय रूप-(एतस्मिन्=) एअम्मि में सूत्र-सख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; १-१७७ से 'त्' का लोप और ३-११ से प्राप्तांग 'एअ' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर तृतीय रूप *एअम्मि* भी सिद्ध हो जाता है।

वै सेण मिणमो सिना ।। ३-८५ ।।

एतदः सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति ।। सव्वस्स वि एस गई ।। सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही ।। एस सहाओ च्चिअ ससहरस्स ।। एस सिरं । इणं । इणमो । पक्षे । एअं । एसा । एसो ।।

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'एतद्' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की संयोजना होने पर मूल शब्द 'एतद्' और प्रत्यय 'सि' दोनों के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से (एवं क्रम से) 'एस, इणं और इणमो' इन तीन रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। एतद् + सि = (प्राकृत में) एस अथवा इणं अथवा इणमो; इस प्रकार इन तीन रूपों की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—सर्वस्यापि एषा गतिः=सव्वस्स वि एस गई अर्थात् सभी की यह गति है। सर्वेषामपि पार्थिवानाम् एषा मही = सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही=अर्थात् सभी औदारिक शरीर धारी जीवों की यह पृथ्वी है। एषः एव स्वभावो शशधरस्य = एस सहाओ च्चिअ ससहरस्स अर्थात् चन्द्रमा का यही स्वभाव है। एतद् शिरः=एस सिरं अर्थात् यह शिर है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि प्राकृत मे 'एस' प्रथमा एकवचनान्त सर्वनाम रूप तीनों लिंगों में समान रूप से एवं वैकल्पिक रूप से प्रयुक्त हुआ करता है। यही स्थिति 'एतद् + सि = इणं और इणमो रूपों की भी समझ लेना चाहिये। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर मे 'एतद्' शब्द के तीनों लिंगों में 'सि' प्रत्यय की संयोजना होने पर इस प्रकार रूप बनते हैं:—

नपुंसक लिंग में:—एतद् + सि=एतद् = एअं ।

स्त्रीलिंग में:—एतद् + सि = एषा = एसा ।

पुल्लिग में:—एतद् + सि = एषः = एसो ।

'*सव्वस्स*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-५८* मे की गई है।

'*वि*' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-६* में की गई है।

'*एस*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-३१* में की गई है।

'*गई*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१९५* में की गई है।

सर्वेषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप *सव्वाण* होता होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'सर्व' में स्थित 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुये 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुये 'व' को द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्तांग 'सव्व' में स्थित अन्त्य

ह्रस्व स्वर 'अ' के 'आगे पष्ठी बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'सव्वा में पष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *'सव्वाण'* सिद्ध हो जाता है।

'वि' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६ में की गई है।

पार्थिवानाम् संस्कृत पष्ठी बहुवचनान्त विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप पत्थिवाण होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-८४ से 'पा' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; २-७६ से 'र्' का लोप; २-८६ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'थ' को द्वित्व 'थ्थ्' की प्राप्ति; २-६० से प्राप्त पूर्व 'थ्' के स्थान पर 'त्' की प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्तांग 'पत्थिव' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के 'आगे पष्ठी बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'पत्थिवा' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *'पत्थिवाण'* सिद्ध हो जाता है।

एषा संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप एस (भी) होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-८५ से सम्पूर्ण रूप 'एषा' के स्थान पर 'एस' की (वैकल्पिक रूप से) आदेश-प्राप्ति होकर 'एस' रूप सिद्ध हो जाता है।

महिः संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप मही होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति होकर *मही* रूप सिद्ध हो जाता है।

'एस' की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-३१* में की गई है।

स्वभावः संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिंग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप सहाओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७६ से प्रथम 'व्' का लोप; १-१८७ से 'भ्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति; १-१७७ से द्वितीय 'व्' का लोप और ३-२ से प्राप्तांग 'सहा अ' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *सहाओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'च्चिअ' अव्यय की सिद्धि सूत्र संख्या *१-८* में की गई है।

शशधरस्य संस्कृत पष्ठी एकवचनान्त पुल्लिंग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप ससहरस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से दोनों 'शकारों' के स्थान पर दोनों 'सस' की प्राप्ति; १-१८७ से 'ध' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति और ३-१० से प्राप्तांग 'ससहर' में पष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्=स्य' के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त 'स्स' की प्राप्ति होकर ससहरस्स रूप की सिद्धि हो जाती है।

'एस' विशेषण रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३१ में की गई है।

'सिरं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३२ में की गई है।

'इणं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-२०४ में की गई है।

एष: संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप इणमो' भी होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-८५ से 'एष' के स्थान पर 'इणमो की आदेश-प्राप्ति (वैकल्पिक रूप से) होकर इणमो रूप सिद्ध हो जाता है।

'एअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

'एसा' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-३३ में की गई है।

'एसो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-११६ में की गई है। ३-८५॥

तदश्च तः सोऽक्लीबे ॥ ३-८६ ॥

तद एतदश्च तकारस्य सो परे अक्लीबे सो भवति। सो पुरिसो। सा महिला। एसो पिओ। एसा मुद्धा॥ सावित्येव। ते एए धन्ना। ताओ एआओ महिलाओ॥ अक्लीब इति किम्। तं एअं वणं॥

अर्थ:—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'तद्' और 'एतद्' के पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थानीय प्राकृत प्रत्यय परे रहने पर प्राकृत-रूपान्तर में इन दोनों शब्दों में स्थित पूर्ण व्यञ्जन 'त' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार है:—(तद् + सि =) सः पुरुषः=सो पुरिसो और (तद् + सि=) सा महिला = सा महिला। (एतद् + सि =) एष: प्रियः = एसो पिओ और (एतद् + सि =) एषा मुग्धा=एसा मुद्धा। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि 'तद्' और 'एतद्' के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राकृत में पुल्लिग और स्त्रीलिंग में 'त' के स्थान पर 'स' की आदेश-प्राप्ति हुई है।

प्रश्न:—'सि' प्रत्यय परे रहेने पर ही 'तद्' और 'एतद्' के 'त' व्यञ्जन के स्थान पर 'स' की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तर:—'सि' प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर 'तद्' और 'एतद्' में स्थित 'त' व्यञ्जन के स्थान पर 'स' की प्राप्ति नहीं होती है; इसीलिये 'सि' प्रत्यय का उल्लेख किया गया है। उदाहरण इस प्रकार है:—ते एते धन्याः=ते एए धन्ना और ताः एताः महिलाः=ताओ एआओ महिलाओ। इन उदाहरणों से विदित होता है कि 'तद्' और 'एतद्' शब्दों में 'सि' प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय परे रहे हुए हों तो इनमें स्थित 'त' व्यञ्जन के स्थान पर 'स' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है।

प्रश्न.—सूत्र में वर्णित-विधान में 'नपुंसकलिंग' का निषेध क्यों किया गया है ?

उत्तरः—नपुंसकलिंग में 'तद्' और 'एतद्' शब्द में 'सि' प्रत्यय परे रहने पर भी प्राकृत रूपान्तर में 'त' व्यञ्जन के स्थान पर 'स' व्यञ्जन की आदेश प्राप्ति नहीं होती है; इसलिये 'नपुंसकलिंग' का निषेध किया गया है। उदाहरण इस प्रकार है—तत् एतत् वनम् = त एअ वणं अर्थात् यह वही वन है। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि केवल पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ही 'तद्' और 'एतद्' के प्राकृत रूपान्तर में 'त' के स्थान पर 'सि' प्रत्यय परे रहने पर 'स' की प्राप्ति होती है; अन्यथा नहीं।

'सो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-९७ में की गई है।

'पुरिसो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४२ में की गई है।

'सा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३३ में की गई है।

'महिला' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१४६ में की गई है।

'एसो' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या २-११६ में की गई है।

'पिओ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४२ में की गई है।

'एसा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३३ में की गई है।

'मुद्धा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-७९ में की गई है।

'ते' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५८ में की गई है।

'एए' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४ में की गई है।

'धन्ना' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१८४ में की गई है।

'ताः' संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप ताओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-३२ और २-४ के निर्देश से प्राप्तांग 'त' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण हेतु 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२७ से प्राप्तांग 'ता' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *'ताओ'* रूप सिद्ध हो जाता है।

एताः संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप एआओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'एतद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप, १-१७७ से 'त्' का लोप, ३-३२ और २-४ के निर्देश से प्राप्तांग 'एअ' में पुल्लिंगत्व से स्त्रीलिंगत्व के

निर्माण हेतु 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२७ से प्राप्तांग 'एआ' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *एआओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

महिलाः संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त स्त्रीलिंग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप महिलाओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२७ से मूल रूप 'महिला' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में स्त्रीलिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *महिलाओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'तं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-४१* में की गई है।

'एअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२०९* में की गई है।

'वणं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१७२* में की गई है। ---३-८६ ॥

वादसो दस्य होनोदाम् ॥ ३-८७ ॥

अदसो दकारस्य सौ परे ह आदेशो वा भवति तस्मिंश्च कृते अतः सेर्डोः (३ ३) इत्योत्वं शेषं संस्कृत वत् (४-४४८) इत्यतिदेशात् आत् हे० २-४) इत्याप् क्लीबे स्वरान्म् सेः (३-२५) इतिमश्च न भवति ॥ अह पुरिसो । अह महिला । अह वणं। अह मोहो पर-गुण-लहुअयाइ । । अह णे हिअएण हसइ मारुय-तणओ । असावस्मान् हसतीत्यर्थः । अह कमल-मुही । पक्षे । उत्तरेण मुरादेशः । अमू पुरिसो । अमू महिला । अमुं वणं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अदस्' के तीनों लिंगों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' परे रहने पर प्राकृत रूपान्तर में प्राप्त प्रत्यय सि' का लोप उस समय में हो जाता है जब कि मूल शब्द 'अदस्' में स्थित 'द' के स्थान पर 'ह' आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है; इस प्रकार तीनों लिंगों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे समान रूप से अदस् का प्राकृत में 'अह' रूप वैकल्पिक रूप से हुआ करता है। इस विधान से पुल्लिंग में सूत्र संख्या ३-३ से प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो=ओ' की प्राप्ति भी नहीं होती है; ४-४४८ और २-४ के निर्देश से पुल्लिगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण-हेतु 'अदस्' में 'आ' प्रत्यय का सद्भाव भी नहीं होता है एवं ३-२५ से नपुंसकलिंग में प्राप्त प्रत्यय 'म्' की संयोजना भी नहीं होती है; यों तीनों लिंगों में प्रथमा के एकवचन में समान रूप से 'अदस्' का 'अह' रूप ही जानना। उदाहरण इस प्रकार है:—असौ पुरुषः=अह पुरिसो अर्थात् वह पुरुष; असौ महिला = अह महिला अर्थात वह स्त्री और अदः वनम्=अह वणं अर्थात वह जंगल। यों यह ज्ञात होता है कि 'अदस्' के तीनों लिंगो में प्रथमा के एकवचन में समान रूप से 'ओ, आ

और म् प्रत्ययों की 'अदर्शन-स्थिति' होकर एक ही रूप 'अह' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। इस विषयक अन्य उदाहरण इस प्रकार है.—असौ मोहः पर-गुण लघयाते=अह मोहो पर-गुण-लहुअयाइ=वह मोह दूसरों के गुणों को लघु कर देता है (अर्थात् मोह के कारण से अन्य गुणवान् पुरुष के गुण भी हीन प्रतीत होने लगते हैं।) असौ अस्मान् हृदयेन हसति मारुत-तनय ॥ अह णे हिअएण हसइ मारुय-तणओ = वह मारुत-पुत्र हृदय से हमारी हँसी करता है; (हमें हीन-दृष्टि से देखकर हमारा मजाक करता है)। असौ कमल-मुखी=अह कमल-मुही अर्थात् वह (स्त्री) कमल के समान मुखवाली है।

वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में सूत्र सख्या ३-८८ के विधान से 'अदस' में स्थित 'द' व्यञ्जन के स्थान पर 'सि' आदि प्रत्ययों के परे रहने पर 'मु' आदेश की प्राप्ति होती है। तदनुसार 'अदस्' शब्द के स्थान पर प्राकृत मे अंगरूप से 'अमु' का सद्भाव भी होता है। जैसे.—असौ पुरुष.=अमू पुरिसो; असौ महिला=अमू महिला और अद. वनम्=अमु वण।

असौ सस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिग विशेषण और सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अह और अमू होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-सख्या १-११ से मूल सस्कृत शब्द 'अदस्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स्' का लोप और ३-८७ से 'द' के स्थान पर 'ह' व्यञ्जन की आदेश प्राप्ति एव इसी सूत्र से प्रथमा एकवचन बोधक प्रत्यय 'सि=स्' के स्थानीय प्राकृतीय प्रत्यय 'डो=ओ' का लोप होकर प्रथम रूप अह सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (अदस्+सि=असौ=) अमू में सूत्र-संख्या १-११ से मूल शब्द 'अदस्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स' का लोप; ३-८८ से 'द' के स्थान पर 'मु' की आदेश-प्राप्ति और ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में उकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिग द्वितीय रूप *अमू* सिद्ध हो जाता है।

'पुरिसो' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या *१-४२* मे की गई है।

असौ सस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण (और सर्वनाम) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'अह' और 'अमू' होते हैं। दोनों रूपों की साधनिका उपरोक्त पुल्लिग रूपों के समान होकर *'अह'* और *'अमू'* सिद्ध हो जाते हैं।

'महिला' रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या *१-१४६* मे की गई है।

अदः सस्कृत प्रथमा एकवचनान्त नपुंसक लिग विशेषण (और सर्वनाम) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'अह' और 'अमु' होते हैं। इनमे से प्रथम रूप की साधनिका उपरोक्त पुल्लिग रूप के समान ही होकर प्रथम रूप *'अह'* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप (अदः)=अमुं में 'अमु' अंग की प्राप्ति उपरोक्त पुल्लिग रूप में वर्णित विधि-अनुसार और तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति एवं १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *अमुं* सिद्ध हो जाता है।

'*वणे*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१७२* में की गई है।

'अह' पुल्लिग रूप की सिद्धि *इसी सूत्र में* ऊपर की गई है।

'*मोहः*' संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप मोहो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स्' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मोहो* रूप सिद्ध हो जाता है।

पर-गुण-लघ्वयाते संस्कृत क्रियापद रूप है इसका प्राकृत रूप पर-गुण-लहु-अयाइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से (लघु + अयाते में स्थित) 'घ्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति और ३-१३६ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य आत्मनेपदीय प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पर-गुण लहुअयाइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'अह' पुल्लिग रूप की सिद्धि *इसी* सूत्र में ऊपर की गई है।

अस्मान् संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'णे' (भी) होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१०८ से मूल संस्कृत शब्द 'अस्मद्' के द्वितीया बहुवचन बोधक रूप 'अस्मान्' के स्थान पर प्राकृत में 'णे' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर '*णे*' रूप सिद्ध हो जाता है।

हृदयेण संस्कृत तृतीया एकवचनान्त संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप हिअएण होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२८ से 'ऋ' के स्थान 'इ' की प्राप्ति; १-१७७ से 'द्' और 'य्' का लोप; ३-१४ से प्राप्तांग 'हृदय से हिअअ' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'आगे तृतीया विभक्ति के एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'हिअए' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *हिअएण* रूप सिद्ध हो जाता है।

'हसइ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१९८* में की गई है।

मारुत-तनयः संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त पुल्लिग संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप मारुय-तणओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से प्रथम 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुये 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; १-१७७ से 'य्' का लोप और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग मे प्राप्तांग 'मारुय-तणअ' में

संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मारुय-तणओ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'अह' रूप की सिद्धि ऊपर इसी-सूत्र में की गई है।

कमल-मुखी संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप कमल-मुही होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ख्' के स्थान पर 'ह' का प्राप्ति और ३-१९ से प्रथमाविभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' को यथावत् स्थिति प्राप्त होकर *कमल-मुही* रूप सिद्ध हो जाता है।

पुरिसो रूप की सिद्धि-सूत्र संख्या १-४२ में की गई है।

महिला रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१४६ में की गई है।

वणं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१७२ में की गई है। ३-८७ ॥

मुः स्यादौ ३—८८ ॥

अदसो दस्य स्यादौ परे मुरादेशो भवति ॥ अमू पुरिसो । अमुणो पुरिसा । अमुं वणं । अमूइं वणाइं । अमूणि वणाणि । अमू माला । अमूउ अमूओ मालाओ । अमुणा । अमूहि ॥ ङसि । अमूओ । अमूउ । अमूहिन्तो ॥ भ्यस् । अमूहिन्तो । अमूसुन्तो ॥ ङस् । अमुणो । अमुस्स । आम् । अमूण ॥ ङि । अमुम्मि ॥ सुप् । अमूसु ॥

अर्थ—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अदस्' के प्राकृत रूपान्तर में विभक्ति बोधक प्रत्यय 'सि' आदि परे रहने पर मूल शब्द 'अदस' में स्थित 'द' व्यञ्जन के स्थान पर (प्राकृत में) 'मु' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार है—असौ पुरुषः = अमू पुरिसो। अमी पुरुषाः = अमुणो पुरिसा। अदः वनम् = अमुं वणं। अमूनि वनानि = अमूइं वणाइं अथवा अमूणि वणाणि। असौ माला = अमू माला। अमूः माला॥ अमूउ अथवा अमूओ मालाओ। अन्य विभक्तियों के रूप इस प्रकार है—

विभक्ति नाम	एकवचन	बहुवचन
तृतीया (अमुना=)	अमुणा।	(अमीभिः=) अमूहिं ॥
पंचमी (अमुष्मात् =)	अमूओ, अमूउ अमूहिन्तो।	(अमीभ्यः=) अमूहिन्तो अमूसुन्तो।
षष्ठी (अमुष्य=)	अमुणो अमुस्स।	(अमीषाम्=) अमूण।
सप्तमी (अमुष्मिन्=)	अमुम्मि।	(अमीषु =) अमूसु।

उपरोक्त विभक्तियों में इन वर्णित रूपों के अतिरिक्त अन्य रूपों का सद्भाव 'गुरु' आदि उकारान्त शब्दों के रूपों के समान ही जानना चाहिये।

स्त्रीलिंग में 'अम' सर्वनाम शब्द के रूप 'वहू' आदि दीर्घ ऊकारान्त शब्दों के रूपों के समान ही समझ लेना चाहिये।

'*अमू*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८७ मे की गई है।

'*पुरिसो* रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४२ में की गई है।

अमी संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त पुल्लिग विशेषण (और सर्वनाम) रूप है। इसका प्राकृत रूप अमुणो होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'अदस्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स्' का लोप; ३-८८ से 'द्' के स्थान पर 'मु' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति और ३-२२ से प्राप्तांग 'अमु' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन मे (उकारान्त-पुल्लिग में) संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अमुणो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*पुरिसा* रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४२ में की गई है।

'*अमुं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८७ में की गई है।

'*वणं*' रूप की सिद्धि-सूत्र-संख्या १-१७२ मे की गई है।

अमूनि संस्कृत प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त नपुंसक लिग विशेषण (और सर्वनाम) रूप है। इसके प्राकृत रूप अमूइं और अमूणि होते हैं। इनमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२६ से प्राप्तांग 'अमु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति कराते हुए क्रम से 'इं' और 'णि' प्रत्यय की प्रथमा-द्वितीया बहुवचन में एव नपुंसक लिंगार्थ में प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *अमूइं* और *अमूणि* सिद्ध हो जाते है।

वनानि संस्कृत प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त संज्ञा रूप है। इसका प्राकृत रूप वणाणि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से मूल संस्कृत शब्द 'वन' मे स्थित 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और ३-२६ से प्राप्तांग 'वण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति कराते हुए नपुंसक लिंगार्थ मे प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में प्राकृत मे 'णि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वणाणि* रूप सिद्ध हो जाता है।

असौ संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण (और सर्वनाम) रूप है। इसका प्राकृत रूप अमू होता है। इसमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में स्त्रीलिंग मे उकारान्त मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर *अमू* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*माला* रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१८२ में की गई है।

अमू संस्कृत प्रथमा-द्वितीया बहुवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण (और सर्वनाम) रूप है। इसके प्राकृत रूप अमूउ और अमूओ होते हैं। इनमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२७ से प्राप्तांग 'अमु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति कराते हुए प्रथमा द्वितीया के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस' और 'शस्' के स्थान पर दोनों विभक्तियों में समान रूप से 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर दोनों रूप *अमूउ* और *अमुओ* सिद्ध हो जाते हैं।

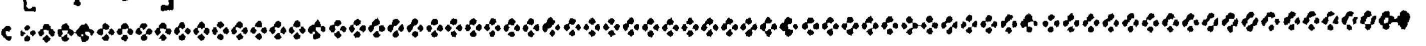
'*मालाओ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२७ में की गई है।

अमुना संस्कृत तृतीया एकवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप अमुणा होता है। इसमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२४ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर प्राकृत में 'णा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अमुणा* रूप सिद्ध हो जाता है।

अमीभिः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप अमूहिं होता है। इसमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१६ से प्राप्तांग 'अमु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को आगे तृतीया बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर अमूहिं रूप सि हो जाता है।

अमुष्मात् संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अमूओ, अमूउ और अमूहिन्तो होते हैं। इनमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'अमू' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के 'आगे पञ्चमी एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और ३-८ से प्राप्तांग 'अमू' में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ओ-उ-हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से '*अमूओ, अमूउ* और *अमूहिन्तो*' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

अमीभ्य संस्कृत पञ्चमी बहुवचनान्त पुल्लिग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अमूहिन्तो और अमूसुन्तो होत हैं। इनमें 'अमू' अग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१६ से प्राप्तांग 'अमु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व 'उ' के 'आगे पञ्चमी बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'अमू' में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'हिन्तो' और 'सुन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर *अमूहिन्तो* और *अमूसुन्तो* रूप सिद्ध हो जाते हैं।



अमुष्य संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अमुणो और अमुस्स होते हैं। इनमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-२३ से प्रथम रूप मे षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'णो' प्रत्यय की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होकर प्रथम रूप *अमुणो* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप 'अमुस्स' में सूत्र-संख्या ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *अमुस्स* भी सिद्ध हो जाता है।

अमीषाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप अमूण होता है। इसमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-१२ से प्राप्तांग 'अमु' मे स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के 'आगे 'षष्ठी बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्तांग 'अमु' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अमूण* रूप सिद्ध हो जाता है।

अमुष्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप अमुम्मि होता है। इसमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से प्राप्तांग 'अमु' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर अमुम्मि रूप सिद्ध हो जाता है।

अमीषु संस्कृत सप्तमी बहुवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप अमूसु होता है। इसमें 'अमु' अंग रूप की प्राप्ति उपरोक्त विधि-अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१६ से प्राप्तांग 'अमु' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के 'आगे सप्तमी विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय होने से' दीर्घ 'ऊ' की प्राप्ति और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'अमू' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर अमूसु रूप सिद्ध हो जाता है। ३८८॥

म्मावये औ वा ॥ ३–८९ ॥

अदसोन्त्यव्यञ्जन लुकि दकारान्तस्य स्थाने ङ्यादेशे म्मौ परतः अय इअ इत्यादेशौ वा भवतः॥ अयम्मि। इयम्मि। पक्षे। अमुम्मि॥

अर्थ.—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अदस्' के प्राकृत-रूपान्तर मे सूत्र-संख्या १-११ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स्' का लोप होने के पश्चात् शेष रूप 'अद' में स्थित अन्त्य सम्पूर्ण व्यञ्जन 'द' सहित

'अद' के स्थान पर सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'म्मि' परे रहने पर वैकल्पिक रूप से (और क्रम से) 'अय और इय' अंग रूपों की प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—अमुष्मिन् = अयम्मि और इयम्मि अर्थात् उसमें। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में (अमुष्मिन्=) अमुम्मि रूप का भी सद्भाव होता है।

अमुष्मिन् संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त पुल्लिंग सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अयम्मि, इयम्मि और अमुम्मि होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र संख्या १-११ से मूल संस्कृत शब्द 'अदस्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स्' का लोप; ३-८९ से शेष सम्पूर्ण रूप 'अद' के स्थान पर 'आगे सप्तमी एकवचन बोधक प्रत्यय 'म्मि' का सद्भाव होने से' क्रम से 'अय' और 'इय' अंग रूपों की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से प्रथम और द्वितीय रूप *अयम्मि* और *इयम्मि* सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय रूप-(अमुष्मिन् =)*अमुम्मि* की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८८ में की गई है। ३-८९ ॥

युष्मदः स्तं तुं तुवं तुह तुमं सिना ॥ ३–९० ॥

युष्मदः सिना सह तं तुं तुवं तुह तुमं इत्येते पञ्चादेशा भवन्ति ॥ तं तुं तुवं तुह तुमं दिट्ठो ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'त्वम्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से पाँच रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे पाँच रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—(त्वम्=) तं, तुं, तुवं, तुह और तुमं। उदाहरण इस प्रकार है.—त्वम् दृष्टः = तं, (अथवा) तुं (अथवा तुवं, (अथवा) तुह (अथवा) तुमं दिट्ठो अर्थात् तू देखा गया।

त्वम् संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनामरूप है। इसके प्राकृत रूप 'तं, तुं, तुवं, तुह और तुमं' होते हैं। इन पाँचों में सूत्र-संख्या ३-९० से 'त्वम्' के स्थान पर इन पाँचों रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर ये पाँच रूप क्रम से *तं*, *तुं*, *तुवं*, *तुह* और *तुमं* सिद्ध हो जाते हैं।

दृष्टः संस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप दिट्ठो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२८ से 'ऋ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; २-३४ से 'ष्ट' के स्थान पर 'ठ' की प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'ठ' को द्वित्व 'ठ्ठ' की प्राप्ति; २-९० से आदेश-प्राप्त पूर्व 'ठ्' के स्थान पर 'ट्' की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्तांग 'दिट्ठ' में अकारान्त पुल्लिंग में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *दिट्ठो* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-९० ॥

भे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुय्हे उय्हे जसा ।। ३-६१ ।।

युष्मदो जसा सह भे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुय्हे उय्हे इत्येते षडादेशा भवन्ति ।। भे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुय्हे उय्हे चिट्ठह । ब्भो म्हज्झौ वा (३-१०४) इति वचनात् तुम्हे । तुज्झे एवं चाष्टरूप्यम् ।।

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'यूयम्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से छह रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती हैं। वे छह रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—भे, तुब्भे, तुज्झ, तुम्ह, तुय्हे और उय्हे । उदाहरण इस प्रकार हैं:—यूयम् तिष्ठथ=भे, (अथवा) तुब्भे, (अथवा) तुज्झ, (अथवा) तुम्ह, (अथवा) तुय्हे और (अथवा) उय्हे चिट्ठह अर्थात् तुम खड़े होते हो । सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से आदेश-प्राप्त द्वितीय रूप 'तुब्भे' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' की क्रम से आदेश-प्राप्ति हुआ करती है; तदनुसार उक्त छह रूपों के अतिरिक्त दो रूप और इस प्रकार होते है:—'तुम्हे और तुज्झे'; यों 'यूयम्' के स्थान पर प्राकृत में कुल आठ रूपों की क्रम से (एवं वैकल्पिक रूप से) आदेश-प्राप्ति हुआ करती है ।

यूयम् संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है । इसके प्राकृत रूप आठ होते हैं:—भे, तुब्भे, तुज्झ, तुम्ह, तुय्हे, उय्हे, तुम्हे, और तुज्झे । इनमें से प्रथम छह रूपों में सूत्र-संख्या ३-६१ से सम्पूर्ण संस्कृत रूप 'यूयम्' के स्थान पर इन छह रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर ये छह रूप-'*भे, तुब्भे, तुज्झ. तुम्हे, तुय्हे, और उय्हे*' सिद्ध हो जाते है ।

शेष दो रूपों में-(याने यूयम् =) तुम्हे और तुज्झे मे सूत्र-संख्या ३-१०४ से आदेश-प्राप्त द्वितीय रूप 'तुब्भे' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर 'म्ह और 'ज्झ' अंश रूप की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से सातवां और आठवां रूप '*तुम्हे एवं तुज्झे*' भी सिद्ध हो जाते हैं ।

तिष्ठथ संस्कृत अकर्मक क्रियापद का रूप है । इसका प्राकृत रूप चिट्ठह होता है । इसमे सूत्र-संख्या ४-१६ से संस्कृतीय आदेश-प्राप्त रूप 'तिष्ठ' की मूल धातु 'स्था' के स्थान पर प्राकृत में 'चिट्ठ' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१४३ से वर्तमान काल के द्वितीय पुरुष के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य परस्मैपदीय प्रत्यय 'थ' के स्थान पर प्राकृत में 'ह' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *चिट्ठह* रूप सिद्ध हो जाता है । ३-६१ ।।

तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुए अमा ।। ३-६२ ।।

युष्मदोमा सह एते सप्तादेशा भवन्ति ।। तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुए वन्दामि ।।

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्=म्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'त्वाम्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से सात रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे सात रूप क्रम से इस प्रकार हैः—तं, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे और तुए। उदाहरण इस प्रकार है—(अहम्) त्वाम् वन्दामि=(अहं) तं, (अथवा) तुं, (अथवा) तुमं, (अथवा) तुवं, (अथवा) तुह, (अथवा) तुमे और (अथवा) तुए वन्दामि=अर्थात् (मैं) तुझे वन्दना करता हूँ।

त्वाम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप सात होते हैं। तं, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे और तुए। इन सातों रूपों में सूत्र-संख्या ३-९२ से संस्कृत रूप 'त्वाम्' के स्थान पर क्रम से इन सातों रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर ये सातों रूप क्रम से '*तं, तुं, तुमं तुवं, तुह, तुमे* और *तुए* सिद्ध हो जाते हैं।

'*वन्दामि*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-६* में की गई है। ३-९२॥

वो तुज्झ तुब्भे तुय्हे उय्हे भे शसा ॥ ३—९३ ॥

युष्मदः शसा सह एते षडादेशा भवन्ति ॥ वो तुज्झ तुब्भे। ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्हे तुज्झे तुय्हे उय्हे भे पेच्छामि ॥

अर्थ.—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्=अस्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'युष्मान्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से छह रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती हैं। वे छह रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—वो, तुज्झ, तुब्भे, तुय्हे, उय्हे और भे। सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से आदेश-प्राप्त तृतीय रूप 'तुब्भे' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश रूप की क्रम से आदेश-प्राप्ति हुआ करती है, तदनुसार उक्त छह रूपों के अतिरिक्त दो रूप और इस प्रकार होते हैं:—'तुम्हे और तुज्झे' यों 'युष्मान्' के स्थान पर प्राकृत में कुल आठ रूपों की क्रम से (एवं वैकल्पिक रूप से) आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार है:—(अहम्) युष्मान् प्रेक्षे=वो, (अथवा) तुज्झ, (अथवा) तुब्भे, (अथवा) तुम्हे, (अथवा) तुज्झे (अथवा) तुय्हे, (अथवा) उय्हे और (अथवा) भे पेच्छामि अर्थात् (मैं) आप (सभी) को देखता हूं।

युष्मान् संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप आठ होते हैं.—वो, तुज्झ, तुब्भे, तुम्हे, तुज्झे, तुय्हे, उय्हे, और भे। इन आठों रूपों में सूत्र-संख्या ३-९३ से संस्कृत रूप 'युष्मान्' के स्थान पर क्रम से इन आठों रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर ये आठों रूप क्रम से '*वो, तुज्झ तुब्भे, तुम्हे, तुज्झे, तुय्हे, उय्हे,* और *भे*' सिद्ध हो जाते हैं।



प्रेक्षे संस्कृत आत्मनेपदीय सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप पेच्छामि होता है। इसमे सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत धातु 'प्रेक्ष्' में स्थित 'र्' का लोप; ३-३ से 'क्ष्' के स्थान पर 'छ्' की प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'छ्' को द्वित्व 'छ्छ्' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'छ्' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त प्राकृत धातु 'पेच्छ्' में हलन्त होने से विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५४ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' को 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से प्राप्तांग 'पेच्छा' में वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय आत्मनेपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' के स्थान पर प्राकृत में 'मि प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पेच्छामि* क्रियापदीय रूप सिद्ध हो जाता है। ३-९३ ॥

भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा ॥ ३-९४ ॥

युष्मदष्टा इत्यनेन सह एते एकादशादेशा भवन्ति ॥ भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ जम्पिअं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा = आ' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'त्वया' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से ग्यारह रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे ग्यारह रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—(त्वया=) भे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे और तुमाइ। उदाहरण इस प्रकार है:—त्वया कथितम् = भे, दि, दे, ते, तइ, तए; तुमं, तुमइ तुमए, तुमे और तुमाइ जम्पिअं अर्थात् तेरे द्वारा (या तुझ से) कहा गया है।

त्वया संस्कृत तृतीया एकवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप ग्यारह होते हैं। भे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे और तुमाइ। इनमें सूत्र संख्या ३-९४ से संस्कृत रूप 'त्वया' के स्थान पर क्रम से इन्हीं ग्यारह रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से ये ग्यारह रूप '*भे, दि, दे, ते, तइ, तए; तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे* और *तुमाइ* सिद्ध हो जाते हैं।

कथितम् संस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप जम्पिअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२ से मूल संस्कृत धातु 'कथ्' के स्थान पर प्राकृत में 'जम्प्' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त प्राकृत-धातु 'जम्प' में हलन्त होने से विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से संस्कृतीय भूतकालीन भाव-वाच्य क्रियापदीय प्रत्यय 'क्त=त' की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त उक्त प्रत्ययात्मक 'त' का लोप;; ३-२५ से पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'जम्पिअ' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त नपुंसक लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *जम्पिअं* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-९४ ॥

भे तुब्भेहि उज्झेहिं उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्हेहिं भिसा ॥ ३–९५ ॥

युष्मदो भिसा सह एते षडादेशा भवन्ति ॥ भे। तुब्भेहिं । ब्भो म्ह-ज्झौ वेति वचनात् तुम्हेहिं तुज्झेहिं उज्झेहिं उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्येहिं भुत्तं। एवं चाष्टरूप्यम् ॥

अर्थ:—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप युष्माभि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से छह रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे छह रूप क्रम से इस प्रकार है:—भे तुब्भेहिं, उज्झेहि, उम्हेहिं, तुय्येहिं और उय्येहिं। सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से आदेश-प्राप्त द्वितीय रूप 'तुब्भेहिं' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' की क्रम से और वैकल्पिक रूप से आदेश प्राप्ति हुआ करती है; तदनुसार उक्त छह रूपों के अतिरिक्त दो रूप और इस प्रकार होते हैं:—'तुम्हेहिं और तुज्झेहिं'; यों 'युष्माभि:' के स्थान पर प्राकृत में कुल आठ रूपों की क्रम से (एवं वैकल्पिक रूप से) आदेश प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार है—युष्माभि: भुक्तम्=भे, (अथवा) तुब्भेहिं, (अथवा) उज्झेहिं, (अथवा) उम्हेहिं (अथवा) तुय्हेहिं, (अथवा) उय्हेहिं, (अथवा) तुम्हेहिं और (अथवा) तुज्झेहि भुत्त अर्थात् तुम सभी द्वारा (अथवा तुम सभी से) खाया गया है।

युष्माभि संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप आठ होते हैं—भे, तुब्भेहिं, उज्झेहिं, उम्हेहिं, तुय्हेहिं, उय्हेहिं, तुम्हेहिं, और तुज्झेहिं। इनमें से प्रथम छः रूपों में सूत्र-संख्या ३-९५ से सम्पूर्ण संस्कृत रूप 'युष्माभि:' के स्थान पर इन छह रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर ये छह रूप '*भे तुब्भेहिं, उज्झेहिं, उम्हेहिं, तुय्येहिं,* और *उय्येहिं*, सिद्ध हो जाते हैं।

शेष दो रूपों में (याने युष्माभि:=तुम्हेहिं और तुज्झेहिं में) सूत्र-संख्या ३-१०४ से पूर्वोक्त द्वितीय रूप आदेश-प्राप्त रूप 'तुब्भेहिं, में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर 'म्ह' और 'ज्झ' अंश रूप की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से सातवां और आठवां रूप '*तुम्हेहिं* और *तुज्झेहिं*' सिद्ध हो जाता है।

'भुत्त' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या २-७७ में की गई है। ३-९५ ॥

तइ–तुव–तुम–तुह–तुब्भा ङसौ ॥ ३–९६ ॥

युष्मदो ङसौ पञ्चम्येकवचने परत एते पंचादेशा भवन्ति। ङसेस्तु त्तो दो दु हि हिन्तो लुको यथाप्राप्तमेव ॥ तइत्तो । तुवत्तो। तुमत्तो ॥ तुहत्तो। तुब्भत्तो। ब्भो म्ह-ज्झौ वेति वचनात् तुम्हत्तो। तुज्झत्तो॥ एवं दो दु हि हिन्तो लुक्ष्वप्युदाहार्यम् ॥ तत्तो इति तु त्वत्त इत्यस्य व लोपे सति ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के प्राकृत-रूपान्तर में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि = अस्' के प्राकृतीय स्थानीय प्रत्यय 'त्तो, दो=ओ, दु=उ, हि. हिन्तो और लुक्' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण मूल संस्कृत शब्द 'युष्मद्' के स्थान पर प्राकृत रूपान्तर में क्रम से पाँच अंग रूपों की प्राप्ति होती है; जो कि क्रम से इस प्रकार हैः—तइ, तुव, तुम तुह और तुब्भ। सूत्र-संख्या ३-१०४ के निर्देश से प्राप्तांग पाँचवे रूप 'तुब्भ' मे स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से 'म्ह और ज्झ' अंश रूप की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। यों 'युष्मद्' के उक्त पाँच अंग रूपों के अतिरिक्त ये दो रूप 'तुम्ह और तुज्झ' और होते हैं। इस प्रकार 'युष्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में प्रत्ययों के संयोजनार्थ सात अंग रूपों की क्रम से प्राप्ति होती है; तत्पश्चात् सातों प्राप्तांगो में से प्रत्येक अंग में क्रम से (एवं वैकल्पिक रूप से) छह छह प्रत्ययों की अर्थात् 'त्तो, ओ, उ, हि, हिन्तो और लुक्' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'युष्मद्' के पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में प्राकृत मे बयालीस (=४२) रूप होते हैं; जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—'तइ' अंग के रूपः—तइत्तो, तईओ, तईउ, तईहि, तईहिन्तो और तई (=त्वत्=) अर्थात तेरे से। 'तुव' अंग के रूपः— तुवत्तो, तुवाओ, तुवाउ, तुवाहि, तुवाहिन्तो और तुवा (=त्वत्=) अर्थात् तेरे से। 'तुम' अंग के रूपः—तुमत्तो, तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि, तुमाहिन्तो और तुमा (=त्वत्=) अर्थात् तेरे से। यों शेषांग 'तुह, तुब्भ, तुम्ह, और तुज्झ' के रूप भी समझ लेना चाहिये।

प्राकृत में प्राप्त रूप 'तत्तो' की प्राप्ति 'त्वत्तः' से हुई है। इसमें सूत्र-सख्या २-७६ से 'व्' का लोप हुआ है और १-३७ से विसर्ग के स्थान पर 'डो=ओ' की प्राप्ति होकर 'तत्तो' प्राकृत रूप निर्मित हुआ है। अतः इस रूप 'तत्तो' को उक्त ४२ रूपों से भिन्न ही जानना।

नीचे साधनिका उन्हीं रूपों की की जा रही है; जो कि वृत्ति मे उल्लिखित है; अत. प्राप्तव्य शेष रूपों की साधनिका स्वयमेव कर लेनी चाहिये।

त्वत् (अथवा 'त्वद्') संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप तइत्तो, तुवत्तो, तुमत्तो, तुहत्तो, तुब्भत्तो, तुम्हत्तो और तुज्झत्तो होते है। इनमें से प्रथम पाँच रूपों में सूत्र-संख्या ३-९६ से मूल संस्कृत शब्द 'युष्मद्' के स्थान पर क्रम से पाँच अंगो की आदेश--प्राप्ति; छट्ठे और सातवें रूपों में सूत्र-संख्या ३-१०४ के निर्देश से छट्ठे और सातवें अंग रूप की प्राप्ति तत्पश्चात् क्रम से सातों अंग-रूपों में सूत्र-संख्या ३-८ से पंचमी विभक्ति के एकवचनार्थ मे 'त्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से सातों रूप-*तइत्तो, तुवत्तो, तमत्तो, तुहत्तो, तुब्भत्तो, तुम्हत्तो* और *तुज्झत्तो* सिद्ध हो जाते हैं।

त्वत्तः संस्कृत तद्धित-रूपक शब्द है। इसका रूप तत्तो होता है। इसमे सूत्र-संख्या २-७६ से 'व' का लोप और १-३७ से विसर्ग के स्थान पर 'डो = ओ' की प्राप्ति होकर प्राकृत तद्धित रूप 'तत्तो' सिद्ध हो जाता है। ३-९६ ॥

तुय्ह तुब्भ तहिन्तो ङसिना ॥ ३-९७ ॥

युष्मदो ङसिना सहितस्य एते त्रय आदेशा भवन्ति ॥ तुय्ह तुब्भ तहिन्तो आगओ । ब्भो म्ह ज्झौ वेति वचनात् तुम्ह । तुज्झ । एवं च पञ्च रूपाणि ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि = अस्' की संयोजना होने पर प्राप्त संस्कृतीय रूप 'त्वत्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से (एवं वैकल्पिक रूप से) तीन रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है । ये आदेश-प्राप्त रूप ये हैं:— 'तुय्ह, तुब्भ और तहिन्तो' । उदाहरण इस प्रकार हैं:—त्वत् आगतः=तुय्ह अथवा तुब्भ अथवा तहिन्तो आगओ अर्थात् तुम्हारे से- (तेरे से) आया हुआ है । सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से उपरोक्त आदेश-प्राप्त द्वितीय रूप 'तुब्भ' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर 'म्ह' और 'ज्झ' की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति हुआ करती है, तदनुसार 'त्वत्' के स्थान पर दो और आदेश प्राप्त रूपों का सद्भाव पाया जाता है । जो कि इस प्रकार है —'तुम्ह और तुज्झ' । यों पञ्चमी एकवचनान्त (में) 'युष्मद्' के प्राप्त रूप 'त्वत्' के उपरोक्त रीति से आदेश-प्राप्त पाँच रूप जानना ।

त्वत् (=त्वद्) संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है । इसके प्राकृत रूप पाँच होते हैं:—तुय्ह, तुब्भ, तहिन्तो, तुम्ह और तुज्झ । इनमें सूत्र-संख्या ३-९७ से 'त्वत्' रूप के स्थान पर इन पाँचों रूपों की आदेश-प्राप्ति क्रम से (तथा वैकल्पिक रूप से) होकर क्रम से ये पाँचों रूप '*तुय्ह, तुब्भ तहिन्तो, तुम्ह* और *तुज्झ*' सिद्ध हो जाते हैं ।

'*आगओ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है । ३-९७ ॥

तुब्भ-तुय्होय्होम्हा भ्यसि ॥ ३-९८ ॥

युष्मदो भ्यसि परत एते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ भ्यसस्तु यथाप्राप्तमेव ॥ तुब्भत्तो । तुय्हत्तो । उय्हत्तो । उम्हत्तो । ब्भो म्ह-ज्झौ वेति वचनात् तुम्हत्तो । तुज्झत्तो ॥ एवं दो-दु-हि-हिन्तो-सुन्तोष्वप्युदाहार्यम् ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्यय 'भ्यस्' के प्राकृतीय स्थानीय प्रत्यय 'त्तो, दो=ओ, दु = उ, हि, हिन्तो और सुन्तो' प्राप्त होने पर 'युष्मद्' के स्थान पर चार आदेश अंगों की क्रम से प्राप्ति हुआ करती है । तत्पश्चात् प्रत्येक आदेश-प्राप्त अंग में उक्त पंचमी बहुवचन बोधक प्रत्ययों की संयोजना होती है । ये चारों अंग रूप इस प्रकार हैं —'तुब्भ तुय्ह, उय्ह और उम्ह' । सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से

उक्त आदेश-प्राप्त प्रथम अंग 'तुब्भ' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश रूप की प्राप्ति हुआ करती है; तदनुसार उक्त चार अंग रूपों के अतिरिक्त दो अंग रूपों की प्राप्ति और होती है; जो कि इस प्रकार है:—'तुम्ह' और 'तुज्झ'। यों पंचमी बहुवचन के प्रत्ययों के संयोजनार्थ कुल छह अंग रूपों की प्राप्ति होती है। पंचमी बहुवचन मे 'भ्यस्' प्रत्यय के स्थान पर 'त्तो' दो=ओ, दु=उ, हि, हिन्तो और सुन्तो' यों छह प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति का विधान है। ये छह ही प्रत्यय क्रम से उक्त छह अंगों में से प्रत्येक अंग में संयोजित होते हैं; तदनुसार पंचमी बहुवचन में संस्कृतीय रूप-'युष्मत्' के प्राकृतीय रूप छत्तीस होते है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—

त्तो—प्रत्यय=तुब्भत्तो, तुय्हत्तो, उय्हत्तो, उम्हत्तो, तुम्हत्तो, तुज्झत्तो।

ओ—प्रत्यय=तुब्भाओ, तुय्हाओ, उय्याहो, उम्हाओ, तुम्हाओ, तुज्झाओ।

उ—प्रत्यय=तुब्भाउ तुय्याहु, उय्हाउ, उम्हाउ, तुम्हाउ, तुज्झाउ,। यों शेष प्रत्यय 'हि-हिन्तो' और सुन्तो' की संयोजना करके स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

युष्मत् संस्कृत पञ्चमी बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप-तुब्भत्तो, तुय्हत्तो, उय्हत्तो, उम्हत्तो, तुम्हत्तो और तुज्झत्तो होते हैं। इनमे से प्रथम चार रूपों में सूत्र-संख्या ३-९८ से मूल संस्कृत शब्द 'युष्मद्' के स्थान पर प्राकृत में चार अंग रूप 'तुब्भ-तुय्ह-उय्ह-उम्ह' की आदेश-प्राप्ति; शेष दो रूपों में सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से पूर्वोक्त प्राप्त प्रथम अंग 'तुब्भ' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से 'म्ह और ज्झ' की प्राप्ति होने से उक्त पञ्चम और षष्ठ अंग रूप की प्राप्ति; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-९ से उक्त प्राप्तांग छहों में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'त्तो, ओ, उ, हि, हिन्तो, सुन्तो' में से प्रथम प्रत्यय 'त्तो' की प्राप्ति होकर उक्त छह ही प्राकृत रूप '*तुब्भत्तो, तुय्हत्तो, उय्हत्तो, उम्हत्तो, तुम्हत्तो* और *तुज्झत्तो*' सिद्ध हो जाते हैं। ३-९८ ॥

तइ-तु-ते-तुम्हं,-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुमे-तुमो-तुमाइ-दि-दे-इ-ए-तुब्भोब्भोय्हा ङसा ॥ ३-९९ ॥

युष्मदो ङसा षष्ठ्येक वचनेनसहितस्य एते अष्टादशादेशा भवन्ति ॥ तइ। तु। ते तुम्हं। तुह। तुहं। तुव। तुम। तुमे। तुमो। तुमाइ। दि। दे। इ। ए। तुब्भ। उब्भ। उय्ह धणं। ब्भो म्ह-ज्झौ वेति वचनात् तुम्ह। तुज्झ। उम्ह। उज्झ। एवं च द्वाविंशति रूपाणि ॥

अर्थ:—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस' की संयोजना होने पर प्राप्त संस्कृतीय रूप 'तव' अथवा ते के प्राकृत रूपान्तर मे संपूर्ण उक्त 'तव' अथवा ते रूप के स्थान पर क्रम से अठारह रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण

इस प्रकार है:—तव (अथवा ते) धनम् = तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुमे-तुमो-तुमाइ-दि-दे-इ-ए-तुब्भ-उब्भ-उय्ह धणं अर्थात् तेरा धन। सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से उक्त प्राप्त अठारह रूपों में से सोलहवें और सतरहवें रूपों में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' की प्राप्ति क्रम से हुआ करती है; तदनुसार संस्कृत रूप 'तव' के स्थान पर चार रूपों की और आदेश-प्राप्ति क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से हुआ करती है; जो कि इस प्रकार है:—(तव=) तुम्ह, तुज्झ, उम्ह और उज्झ। यों संस्कृत शब्द 'युष्मद्' के षष्ठी, एकवचन में प्राप्त रूप 'तव' (अथवा ते) के स्थान पर प्राकृत में कुल बाईस रूपों की आदेश-प्राप्ति क्रम से जानना चाहिये।

'*तव*' अथवा '*ते*' संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप हैं। इसके प्राकृत रूप (२२) होते हैं:—तइ, तु, ते, तुम्ह, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो, तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुब्भ, उब्भ, उय्ह, तुम्ह, तुज्झ, उम्ह और उज्झ। इनमें से प्रथम अठारह रूपों में सूत्र-संख्या ३-९९ से संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस् = अस' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'तव' अथवा 'ते' के स्थान पर उक्त प्रथम अठारह रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर प्रथम अठारह रूप '*तइ, तु, ते, तुम्ह, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो, तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुब्भ, उब्भ* और *उय्ह*' सिद्ध हो जाते हैं।

शेष १९ वें से २२ वें तक के चार रूपों में सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से उक्त सोलहवें और सतरहवें रूप में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश की आदेश-प्राप्ति होकर उक्त शेष चार रूप '*तुम्ह, तुज्झ, उम्ह* और *उज्झ*' भी सिद्ध हो जाते हैं।

'*धणं*' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-५० में की गई है। ३-९९॥

तु वो भे तुब्भं तुब्भाण तुवाण तुमाण तुहाण उम्हाण आमा॥ ३-१००॥

युष्मद आमा सहितस्य एते दशादेशा भवन्ति॥ तु। वो। भे। तुब्भ। तुब्भं। तुब्भाण। तुवाण। तुमाण। तुहाण। उम्हाण। क्त्वा-स्यादे र्णस्वोर्वा (१-२७) इत्यनुस्वारे तुब्भाणं। तुवाणं। तुमाणं। तुहाणं। उम्हाणं॥ ब्भो म्ह-ज्झौ वेति। वचनात् तुम्ह। तुज्झ। तुम्हं। तुज्झं। तुम्हाण। तुम्हाणं तुज्झाण। तुज्झाणं। धणं। एवं च त्रयो विंशति रूपाणि॥

अर्थ:—संस्कृत-सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' की संयोजना होने पर प्राप्त संस्कृत रूप-'युष्माकम्' अथवा वः के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर में सर्व प्रथम ये दश रूप 'तु, वो, भे, तुब्भ, तुब्भं, तुब्भाण, तुवाण, तुमाण, तुहाण और

उम्हाण' आदेश-रूप से प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात्-सूत्र-संख्या १-२७ के विधान से उपरोक्त प्राप्त दश रूपों में से छट्ठे रूप से लगाकर दशवें रूप के अन्त में आगम रूप अनुस्वार की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति हुआ करती है; तदनुसार पांच रूपों का निर्माण और इस प्रकार होता है:—तुब्भाणं, तुवाणं, तुमाणं, तुहाणं, और उम्हाणं। सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से उपरोक्त प्रथम दश रूपों मे से चौथे, पांचवें और छट्ठे रूपों मे स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है; तदनुसार छह आदेश-प्राप्त रूपों का निर्माण और इस प्रकार होता है:—तुम्ह और तुज्झ; तुम्हं और तुज्झं; तुम्हाण और तुज्झाण। सूत्र-संख्या १-२७ के विधान से पुनः उपरोक्त 'तुम्हाण और तुज्झाण' में आगम रूप अनुस्वार की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति होने से दो और रूपों का निर्माण होता हैं; जोकि इस प्रकार है:—तुम्हाणं और तुज्झाणं। इस प्रकार 'युष्माकम्' अथवा वः के प्राकृत रूपान्तर मे क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्त ये कुल तेईस रूप जानना।

उदाहरण इस प्रकार है:—युष्माकम् अथवा वः धनम्=तु, वो .... इत्यादि २३ वाँ रूप तुज्झाणं धणं अर्थात् तुम सभी का धन।

युष्माकम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'तु, वो भे ... ...से लगाकर तुज्झाण' तक २३ होते है। इनमे से प्रथम दश रूपों मे सूत्र-संख्या ३-१०० की प्राप्ति; ११ वें से १५ वें तक के रूपों में सूत्र-संख्या १-२७ की प्राप्ति; १६ वे से २१ वें तक के रूपों में सूत्र-संख्या ३-१०४ की प्राप्ति और २२ वें तथा २३ वें में सूत्र-संख्या १-२७ की प्राप्ति होकर प्रथम रूप से लगाकर २३ वें रूप तक की अर्थात् 'तु, *वो, भे, तुब्भ, तुब्भं, तुब्भाण तुवाण, तुमाण, तुहाण, उम्हाण, तुब्भाणं, तुवाणं, तुमाणं, तुहाणं, उम्हाणं, तुम्ह, तुज्झ तुम्हं, तुज्झं तुम्हाण, तुज्झाण, तुम्हाण* और *तुज्झाणं* रूपों की सिद्धि हो जाती है।

'*धणं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है। ३-१०० ॥

तुमे तुमए तुमाइ तइ तए ङिना ॥ ३—१०१ ॥

युष्मदो ङिना सप्तम्येक वचनेन सहितस्स एते पञ्चादेशा भवन्ति ॥ तुमे तुमए तुमाइ तइ तए ठिअं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' की संयोजना होने प्राप्त संस्कृत रूप-'त्वयि' के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर में प्रत्यय सहित अवस्था में क्रम से पांच रूपों की आदेश-प्राप्ति होती है। वे पांचों रूप क्रम से इस प्रकार हैं:— (त्वयि=) तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ, और तए। उदाहरण इस प्रकार है:—त्वयि स्थितम्=तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ और तए ठिअं अर्थात् तुझ में अथवा तुझ पर स्थित है।

'त्वयि' संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम है। इसके प्राकृत में पांच रूप होते हैं। तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ और तए, इनमें सूत्र-संख्या ३-१०१ से संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' से सप्तमी एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'त्वयि' के स्थान पर उक्त पाँचों रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से ये पाँचों रूप 'तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ और तए' सिद्ध हो जाते हैं।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१६ में की गई है। ३-१०१ ॥

तु-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङौ ॥ ३-१०२ ॥

युष्मदो ङौ परत एते पञ्चादेशा भवन्ति। ङेस्तु यथा प्राप्तमेव ॥ तुम्मि। तुवम्मि। तुमम्मि। तुहम्मि। तुब्भम्मि। ब्भो म्ह-ज्झौ वेति वचनात् तुम्हम्मि। तुज्झम्मि। इत्यादि ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द "युष्मद्" के प्राकृत रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय "ङि,=इ" के प्राकृतीय स्थानीय प्रत्यय "म्मि" (और "ङे=ए") प्रत्यय प्राप्त होने पर "युष्मद्" के स्थान पर प्राकृत में पाँच अंग रूपों की क्रम से प्राप्ति होती है, जो कि इस प्रकार हैं:— युष्मद्=तु, तुव, तुम, तुह और तुब्भ। उदाहरण यों हैं.—'त्वयि' = तुम्मि, तुवम्मि, तुमम्मि तुहम्मि और तुब्भम्मि। सूत्र संख्या ३-१०४ के विधान से उपरोक्त पञ्चम अंग रूप 'तुब्भ' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश रूप की प्राप्ति हुआ करती है; तदनुसार दो और अंग रूपों की इस प्रकार प्राप्ति होती है —'तुम्ह' और 'तुज्झ'। ऐसी स्थिति में 'म्मि' प्रत्यय की संयोजना होने पर दो और रूपों का निर्माण होता है —तुम्हम्मि और तुज्झम्मि।

वृत्ति में इत्यादि' शब्द का उल्लेख किया हुआ है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि उपरोक्त प्राप्त सात अंगों में से प्रथम अंग के अतिरिक्त शेष छह अंग रूपों में सूत्र-संख्या ३-११ के विधान से संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर ङे=ए' प्रत्यय की संयोजना भी होना चाहिये, तदनुसार छह रूपों की प्राप्ति की संभावना होती है; जो कि इस प्रकार है —तुवे, तुमे, तुहे तुब्भे, तुम्हे और तुज्झे, यों वृत्ति के अन्त में उल्लिखित 'इत्यादि' शब्द के संकेत से प्रमाणित होता है।

त्वयि संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत तुम्मि, तुवम्मि, तुमम्मि, तुहम्मि, तुब्भम्मि, तुम्हम्मि और तुज्झम्मि होते हैं। इनमें से प्रथम पांच रूपों में सूत्र-संख्या ३-१०२ से मूल संस्कृत शब्द 'युष्मद्' के स्थान पर क्रम से पांच अंग रूपों की प्राप्ति और छट्ठे तथा सातवें रूप में सूत्र-संख्या ३-१०४ से पूर्व में प्राप्तांग पांचवें 'तुब्भ' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश की प्राप्ति, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से उपरोक्त रीति से सातों प्राप्तांगों में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत से

'म्मि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से सातों रूप 'तुम्मि, तुवम्मि, तुमम्मि, तुहम्मि, तुब्भम्मि, तुम्हम्मि और तुज्झम्मि' सिद्ध हो जाते हैं। ३-१०२ ॥

सुपि ॥ ३-१०३ ॥

युष्मदः सुपि परतः तु-तुव तुम-तुह-तुब्भा भवन्ति ॥ तुसु । तुवेसु । तुमेसु । तुहेसु । तुब्भेसु ॥ ब्भो म्ह-ज्झौ वेति वचनात् तुम्हेसु । तुज्झेसु ॥ केचितु सुप्येत्व विकल्पमिच्छन्ति । तन्मते तुवसु । तुमसु । तुहसु । तुब्भसु । तुम्हसु । तुज्झसु ॥ तुब्भस्यात्वमपीच्छत्यन्यः । तुब्भासु । तुम्हासु तुज्झासु ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द "युष्मद्" के प्राकृत रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में "सुप=सु" प्रत्यय परे रहने पर "युष्मद्" के स्थान पर प्राकृत में पाँच अंग रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जो कि इस प्रकार हैं:—युष्मद्=तु, तुव, तुम, तुह और तुब्भ। उदाहरण यों हैं:—युष्मासु=तुसु, तुवेसु, तुमेसु, । तुहेसु, और तुब्भेसु । सूत्र-संख्या ३-१०४ के विधान से पंचम-अंग रूप 'तुब्भ' में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से और वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश की प्राप्ति हुआ करती है, तदनुसार दो अंग रूपों की प्राप्ति और होती हैः—तुम्ह तथा तुज्झ। यों प्राप्तांग 'तुम्ह' और तुज्झ' में 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर 'तुम्हेसु' तथा 'तुज्झेसु' रूपों की संयोजना होती है ।

कोई कोई व्याकरणाचार्य 'सु' प्रत्यय परे रहने पर उपरोक्त रीति से प्राप्तांग अकारान्त रूपों में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर ऊपर-वर्णित एवं सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तव्य 'ए' की प्राप्ति का विधान वैकल्पिक रूप से ही मानते हैं; तदनुसार 'युष्मासु' के छह प्राकृत रूपान्तर और बनते हैं; जो कि इस प्रकार हैं:— युष्मासु= तुवसु, तुमसु, तुहसु तुब्भसु, तुम्हसु और तुज्झसु। ऊपर-वाले रूपों में और इन रूपों में परस्पर में 'सु' प्रत्यय के पूर्व में स्थित प्राप्तांग के अन्त में रहे हुए अथवा प्राप्त हुए 'ए' और 'अ' स्वरों की उपस्थिति का अथवा अभाव रूप का ही अन्तर जानना।

कोई कोई प्राकृत-भाषा-तत्त्वज्ञ प्राप्तांग तुब्भ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'सु' प्रत्यय परे रहने पर 'आ' का सद्भाव भी वैकल्पिक रूप से मानते हैं। इनके मत से 'युष्मासु' के तीन और प्राकृत रूपान्तरों का निर्माण होता है; जो कि इस प्रकार हैं:—'युष्मासु'=तुब्भासु, तुम्हासु और तुज्झासु। इनका अर्थ होता है:—आप सभी में। 'युष्मासु' संस्कृत सप्तमी बहुवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप १६ होते हैं। जो कि इस प्रकार हैं:—तुसु, तुवेसु, तुमेसु, तुहेसु तुब्भेसु, तुम्हेसु, तुज्झेसु, तुवसु, तुमसु, तुहसु, तुब्भसु, तुम्हसु, तुज्झसु, तुब्भासु, तुम्हासु और तुज्झासु। इन में से प्रथम पांच रूपों में से सूत्र-संख्या ३-१०३ से संस्कृत मूल शब्द 'युष्मद्' के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी-विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय की संयोजना होने पर 'तु, तुव, तुम, तुह, तुब्भ' इन पांच अंग रूपों की

क्रम से प्राप्ति, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ४-४४८ से प्राप्तांग इन पांचों क्रम से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्=सु' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति; एवं द्वितीय से पंचम रूपों में सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांग में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे सप्तमी बहुवचन बोधक प्रत्यय 'सु' का सद्भाव होने से' 'ए' की प्राप्ति होकर क्रम से पांच रूप तुसु, तुवेसु, तुमेसु, तुहेसु, और तुब्भेसु सिद्ध हो जाते हैं।

छट्ठे और सातवें रूपों में सूत्र संख्या ३-१०४ के विधान से उपरोक्त पांचवें प्राप्तांग में स्थित 'ब्भ' अंश के स्थान पर क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश की प्राप्ति होने से 'तुम्ह और तुज्झ' अंग रूपों की प्राप्ति एवं शेष साधनिका की प्राप्ति उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-१५ तथा ४-४४८ से होकर छट्ठा तथा सातवां रूप तुम्हेसु और तुज्झेसु भी सिद्ध हो जाते हैं।

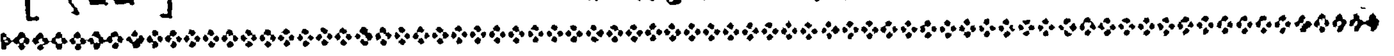
आठवें रूप से लगाकर तेरहवें रूप तक में सूत्र संख्या ३-१०३ की वृत्ति से पूर्वोक्त सातों अंग रूपों में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तव्य 'ए' की निषेध-स्थिति, एवं यथा-प्राप्त अंग रूपों में ही सूत्र-संख्या ४-४४८ से सप्तमी के बहुवचनार्थ में 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर आठवें रूप से तेरहवें रूप तक की अर्थात् 'तुवसु, तुमसु, तुहसु, तुब्भसु, तुम्हसु, और तुज्झसु' रूपों की सिद्धि हो जाती है।

शेष चौदहवें रूप से लगाकर सोलहवें रूप में सूत्र-संख्या ३-१०३ की वृत्ति से पूर्वोक्त प्राप्तांग 'तुब्भ, तुम्ह और तुज्झ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; यों प्राप्तांग आकारान्त रूपों में सूत्र संख्या ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचनार्थ में 'सु प्रत्यय की संप्राप्ति होकर चौदहवां पन्द्रहवां और सोलहवां रूप 'तुब्भासु' 'तुम्हासु और तुज्झासु' भी सिद्ध हो जाते हैं। ३-१०३ ॥

ब्भो म्ह-ज्झौ वा ॥ ३-१०४ ॥

युष्मदादेशेषु यो द्विरुक्तो भस्तस्य म्ह ज्झ इत्येतावादेशौ वा भवतः ॥ पक्षे स एवास्ते। तथैव चोदाहृतम् ॥

अर्थ—उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-९१ ३-९३, ३-९५, ३-९६, ३-९७, ३-९८, ३-९९, ३-१००, ३-१०२ और ३-१०३ में ऐसा कथन किया गया है कि संस्कृत सर्वनाम शब्द 'युष्मद्' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'तुब्भ' अंग रूप की आदेश प्राप्ति हुआ करती है, यों प्राप्तांग 'तुब्भ' में स्थित संयुक्त व्यञ्जन 'ब्भ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से एवं क्रम से 'म्ह' और 'ज्झ' अंश रूप की प्राप्ति इस सूत्र ३-१०४ से हुआ करती है। तदनुसार 'तुब्भ' अंग रूप के स्थान पर 'तुम्ह' और 'तुज्झ' अंग रूपों की भी क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से संप्राप्ति जानना चाहिये। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने से पक्षान्तर में 'युष्मद्' के-स्थान पर 'तुब्भ' अंग रूप का अस्तित्व भी कायम रहता ही है। इस विषयक



उदाहरण उपरोक्त सूत्रों में यथावसर रूप से प्रदर्शित कर दिये गये हैं; अतः यहां पर उनकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है; इस प्रकार वृत्ति और सूत्र का ऐसा तात्पर्य है। ३-१०४ ॥

अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना ॥ ३-१०५ ॥

अस्मदः सिना सह एते षडादेशा भवन्ति ॥ अज्ज म्मि हासिया मामि तेण ॥ उन्नम न अम्मि कुविआ। अम्हि करेमि। जेण हं विद्धा। किं पम्हुट्ठम्मि अहं। अहयं कयप्पणामो ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'अहम्' के स्थान पर प्राकृत में (प्रत्यय सहित मूल शब्द के स्थान पर) क्रम से (तथा वैकल्पिक रूप से) छह रूपों का आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे आदेश प्राप्त छह रूप इस प्रकार हैं:—(अस्मद्+सि) अहम्='म्मि, अम्मि, अम्हि, हं, अहं और अहयं' अर्थात् मैं। इन आदेश-प्राप्त छह रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—अद्य अहम् हासिता हे सखि! तेन=अज्ज म्मि हासिआ मामि तेण अर्थात् हे सखि! आज मैं उससे हसाई गई याने उसने आज मुझे हँसाया। यहां पर 'अहम्' के प्राकृत रूपान्तर में 'म्मि' का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग प्रेरणार्थक भाव रूप है। उन्नम! न अहम् कुपिता=उन्नम! न अम्मि कुविआ अर्थात् उठ बैठो! (याने अनुनय-विनय-प्रणाम आदि मत करो; क्योंकि) मैं (तुम्हारे पर) कोपित (गुस्सेवाली) नहीं हूं। यहां पर 'अहम् के स्थान पर प्राकृत में 'अम्मि' रूप का प्रदर्शन कराया गया है।

अहम् करोमि=अम्हि करेमि=मैं करता हूँ अथवा मैं करती हूँ।

येन अहम् वृद्धा=जेण हं विद्धा=जिस (कारण) से मैं वृद्ध हूँ।

किम् प्रमृष्टोऽस्मि (प्रमृष्टः अस्मि) अहम्=किं पम्हुट्ठम्मि अहं अर्थात् क्या मैं भूला हुआ हूं याने क्या मैं भूल गया हूं।

अहम् कृत-प्रणामः=अहयं कय प्पणामो अर्थात मैं कृत-प्रणाम (याने कर लिया है प्रणाम जिसने ऐसा) हूँ। यों उपरोक्त छह उदाहरणों में संस्कृतीय रूप 'अहम् (=मैं)' के आदेश प्राप्त छह प्राकृतीय रूपों का दिग्दर्शन कराया गया है।

'*अज्ज*' अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-३३* में की गई है।

'*अहम्*' संस्कृत प्रथमा एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'म्मि' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१०५ से 'अहम्' के स्थान पर 'म्मि' आदेश प्राप्ति होकर '*म्मि*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*हासिता*' संस्कृत प्रेरणार्थक तद्धित विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप हासिआ होता है।

इसमें सूत्र-संख्या ३-१५२ और ३-१५३ से मूल संस्कृत धातु के समान ही प्राकृतीय हलन्त धातु 'हस्' में स्थित आदि 'अ' को प्रेरणार्थक-अवस्था होने से 'आ' की प्राप्ति, ४-२३९ से प्राप्त हल प्रेरणार्थक धातु 'हास्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे 'क्त' वाचक प्रत्यय का सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति ४-४४८ से प्राप्तांग प्रेरणार्थक रूप 'हासि' में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी भूत कृदन्त वाचक 'क्त' प्रत्यय सूचक 'त' की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त-प्रत्यय 'त' मे स्थित हलन्त 'त्' का लोप और ३-३२ एवं २-४ के निर्देश से प्राप्त रूप 'हासिअ' को पुल्लिगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण हेतु स्त्रीलिंग-सूचक 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति एव १-५ से पूर्व-प्राप्त 'हासिअ' में प्राप्त स्त्रीलिंग-अर्थक 'आ' प्रत्यय की सन्धि होकर *हासिआ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*मामि*' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या २-१९५ मे की गई है।

'*तेण*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-३३ में की गई है।

उन्नम संस्कृत आज्ञार्थक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी उन्नम ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-२३९ से मूल प्राकृत हलन्त धातु 'उन्नम्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१७५ से आज्ञार्थक लकार में द्वितीय पुरुष के एक वचन में 'लुक' रूप अर्थात प्राप्तव्य प्रत्यय की लोपावस्था प्राप्त होकर '*उन्नम*' क्रियापद की सिद्धि हो जाती है।

'*न*' अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६ में की गई है।

'*अहम्*' संस्कृत प्रथमा एक वचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'अम्मि' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१०५ से 'अहम्' के स्थान पर 'अम्मि' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर '*अम्मि*' रूप सिद्ध हो जाता है।

कुपिता संस्कृत तद्धित विशेषणात्मक स्त्रीलिंग रूप है। इस का प्राकृत रूप 'कुविआ' होता है। इसमें सूत्र सख्या १-२३१ से मूल सस्कृत धातु 'कुप्' में स्थित 'प्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'कुव्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के आगे भूत कृदन्त वाचक 'क्त=त' प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'इ' की प्राप्ति, ४-४४८ से भूत कृदन्त अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत मे भी 'क्त=त' प्रत्यय की प्राप्ति, १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से 'हलन्त त' का लोप; ३-३२ एव २-४ के निर्देश से प्राप्त रूप 'कुविअ' को पुल्लिगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण-हेतु स्त्रीलिंग-सूचक 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति और १-५ से पूर्व-प्राप्त 'कुविअ' में प्राप्त स्त्रीलिंग-अर्थक 'आ' प्रत्यय की संधि होकर *कुविआ* रूप सिद्ध हो जाता है।

'अहम्' सस्कृत प्रथमा एक वचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'अम्हि' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१०५ से 'अहम्' के स्थान पर 'अम्हि' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर '*अम्हि*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'करोमि' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२९ मे की गई है।

'जेण' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३६ में की गई है।

'अहम्' संस्कृत प्रथमा एक वचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसका प्राकृत रूप 'हं' होता है। इसमे सूत्र-संख्या ३-१०५ से 'अहम्' के स्थान पर 'हं' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर 'हं' रूप सिद्ध हो जाता है।

वृद्धा संस्कृत विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप विद्धा होता है। इसमे सूत्र संख्या १-१२८ से 'ऋ' के स्थान पर 'इ' को प्राप्ति; २-३२ एवं २-४ के निर्देश से प्राप्त रूप 'वृद्ध से विद्ध' में पुल्लिगत्व से स्त्रीलिंगत्व के निर्माण-हेतु स्त्रीलिंग-सूचक 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति; ४-४४८ से प्राप्तांग 'विद्धा' में आकारान्त स्त्रीलिंग रूप में संस्कृत प्रथमा विभक्ति के एक वचन में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स' की प्राप्ति और १-११ से प्राप्त प्रत्यय 'स्' हलन्त होने से इस 'स्' प्रत्यय का लोप होकर प्रथमा-एक वचनार्थक स्त्रीलिंग रूप 'विद्धा' सिद्ध हो जाता है।

'किं' अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र संख्या १-२९ में की गई है।

प्रमृष्टः संस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप पम्हुट्ठ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; ४-२५८ से 'मृ' को 'म्ह' रूप से निपात-प्राप्ति अर्थात् नियम का अभाव होने से आर्ष-स्थिति की प्राप्ति; १-१३१ से 'ऋ' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति; २-३४ से 'ष्ट' के स्थान पर 'ठ' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ठ' को द्वित्व 'ठ्ठ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ठ' के स्थान पर 'ट' की प्राप्ति और १-११ से अन्त्य विसर्ग-रूप हलन्त व्यञ्जन का लोप होकर पम्हुट्ठ रूप सिद्ध हो जाता है।

अस्मि संस्कृत क्रियापद रूप है। इसका प्राकृत रूप 'म्मि' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१४७ से मूल संस्कृत धातु 'अस्' मे वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के एकवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' की संयोजना होने पर प्राप्त संस्कृतीय रूप 'अस्मि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्हि=म्मि' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर 'म्मि' रूप सिद्ध हो जाता है।

'अहं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४० में की गई है।

'अहयं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१९९ में की गई है।

कृत-प्रणामः संस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप कय-प्पणामो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२६ से 'ऋ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; १-१७७ से 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; २-७९ से 'र्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तांग 'कय-प्पणाम मे अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि=स्' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ प्रत्यय की सम्प्राप्ति होकर कय-प्पणामो रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१०५॥

अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा ॥ ३-१०६ ॥

अस्मदो जसा सह एते षडादेशा भवन्ति ॥ अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे भणामो ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'वयम्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से छह रूपों की आदेश प्राप्ति हुआ करती है। ये छह रूप क्रम से इस प्रकार हैं—(वयम्=) अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वय और भे। उदाहरण इस प्रकार हैं—वयम् भणामः = अम्ह, अम्हे अम्हो, मो वय भे भणामो अर्थात् हम अध्ययन करते हैं।

वयम्' संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अम्ह, अम्हे अम्हो, मो, वय और भे होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ३-१०६ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्रथमा बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' की सम्प्राप्ति होने पर प्राप्त रूप 'वयम्' के स्थान पर प्राकृत में उक्त छह रूपों की क्रम से आदेश प्राप्ति होकर क्रम से छह रूप '*अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं* और *भे*'' सिद्ध हो जाते हैं।

भणामः संस्कृत क्रियापद रूप है। इसका प्राकृत रूप भणामो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से प्राकृत हलन्त धातु 'भण्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५५ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१४४ से वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मः' के स्थान पर प्राकृत में 'मो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*भणामो*' रूप सिद्ध होजाता है। ३-१०६ ॥

णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ॥ ३-१०७ ॥

अस्मदोमा सह एते दशादेशा भवन्ति ॥ णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं पेच्छ ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'माम्' अथवा मा के स्थान पर प्राकृत में क्रम से दस रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती हैं। ये दस रूप क्रम से इस प्रकार हैं—(माम्=) णे, णं मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं, और अहं। उदाहरण इस प्रकार है—माम् पश्य = णे, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं अहं पेच्छ अर्थात् मुझे देखो।

माम् अथवा मा संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'णे, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं, और अहं' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१०७ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' की

संप्राप्ति होने पर प्राप्त रूप 'माम् अथवा मा के स्थान पर प्राकृत में उक्त दश रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से ये दश रूप—णे, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं और अहं सिद्ध हो जाते हैं।

पेच्छ क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है। ३-१०७ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा ॥ ३–१०८ ॥

अस्मदः शसा सह एते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ अम्हे अम्हो अम्ह णे पेच्छ ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस् = अस्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'अस्मान् अथवा नः' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से चार रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे आदेश-प्राप्त चार रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—अस्मान् अथवा नः-अम्हे, अम्हो, अम्ह और णे। उदाहरण इस प्रकार हैं:—अस्मान् अथवा नः पश्य = अम्हे, अम्हो, अम्ह णे पेच्छ अर्थात् हमें अथवा हम को देखो।

अस्मान् अथवा नः संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक के सर्वनाम रूप हैं। इसके प्राकृत रूप अम्हे, अम्हो, अम्ह और णे होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१०८ से संस्कृत मूल सर्वनाम शब्द हैं। 'अस्मद्' में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्=अस्' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'अस्मान् अथवा नः' के स्थान पर प्राकृत मे उक्त चार रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप 'अम्हे, अम्हो, अम्ह और णे' सिद्ध हो जाते हैं।

'पेच्छ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है। ३-१०८ ॥

मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा ॥ ३–१०९ ॥

अस्मदष्टा सह एते नवादेशा भवन्ति ॥ मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे कयं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा = आ' की संयोजना होने पर मूल शब्द और प्रत्यय 'दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'मया' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से नव रूपों की आदेश प्राप्ति हुआ करती है। वे आदेश-प्राप्त नव रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—(मया=) मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ और णे उदाहरण इस प्रकार हैं:—मया कृतम् = मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ, णे, कयं = अर्थात् मुझ से अथवा मेरे से किया हुआ है।

'मया' संस्कृत तृतीया एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'मि, मे, मम, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ और णे होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१०९ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा = आ' की संप्राप्ति होने पर प्राप्त रूप 'मया' के स्थान पर प्राकृत में उक्त नव रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर ये नव ही रूप '*मि, मे, ममं, ममए, ममाइ मइ, मए, मयाइ* और *णे*' सिद्ध हो जाते है।

कयं क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-१२६* में की गई है। ३-१०९ ॥

अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे भिसा ॥ ३–११० ॥

अस्मदो भिसा सह एते पञ्चादेशा भवन्ति ॥ अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे कयं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत-रूप-'अस्माभिः' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से पाँच रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। ये आदेश-प्राप्त पाँच रूप क्रम से इस प्रकार हैं:—(अस्माभि =) अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे और णे। उदाहरण इस प्रकार है.—अस्माभि. कृतम्=अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे, णे कयं अर्थात् हम सभी से अथवा हमारे से किया गया है।

अस्माभि संस्कृत तृतीया बहु वचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह अम्हे और 'णे' होते हैं। इनमे सूत्र संख्या ३-११० से संस्कृत-सर्वनाम शब्द अस्मद्, मे तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'अस्माभि' के स्थान पर प्राकृत में उक्त पाँचों रूपों की क्रम से आदेश प्राप्ति होकर क्रम से ये पाँचों रूप '*अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे* और *णे*' सिद्ध हो जाते हैं।

'कयं' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-१२६* में की गई है। ३-११०,

मइ-मम-मह-मज्झ ङसौ ॥ ३–१११ ॥

अस्मदो ङसौ पञ्चम्येकवचने परत एते चत्वार आदेशा भवन्ति। ङसेस्तु यथा प्राप्तमेव ॥ मइत्तो-ममत्तो- महत्तो मज्झत्तो आगओ ॥ मत्तो इति तु मत्त इत्यस्य ॥ एवं दो-दु-हि- हिन्तो लुक्ष्वप्युदाहार्यम् ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम 'अस्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में पंचमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-८ के अनुसार प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'त्तो,

दो=ओ, दु=उ, हि, हिन्तो और लुक्' की क्रम से प्राप्ति होने पर 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से चार अंग रूपों की प्राप्ति होती है। ये चारों अंग रूप क्रम से इस प्रकार है:—(अस्मद्=) मइ, मम, मह और मज्झ। इन प्राप्तांग चारों रूपों में से प्रत्येक रूप में पंचमी विभक्ति के एक वचनार्थ में क्रम से 'त्तो, दो=ओ, दु=उ, हि, हिन्तो और लुक्' प्रत्ययों की प्राप्ति होने से पञ्चमी एक वचनार्थक रूपों की संख्या चौवीस होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—

'मइ' के रूप:—(अस्मद् के मत् अथवा मद्=) मइत्तो, मईओ, मईउ मईहि, मईहिन्तो और मई। (अर्थात् मुझ से)

'मम' के रूप—(सं.—मत् अथवा मद्=) ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि ममाहिन्तो और ममा। (अर्थात मुझ से)।

'मह' के रूप—(सं.—मत् अथवा मद्=) महत्तो, महाओ, महाउ, महाहि, महाहिन्तो और महा। (अर्थात् मुझ से)

'मज्झ' के रूप—(सं—मत् अथवा मद्=) मज्झत्तो, मज्झाओ, मज्झाउ, मज्झाहि, मज्झाहिन्तो और मज्झा। (अर्थात मुझ से)

वृत्ति में प्रदर्शित उदाहरण इस प्रकार है:—

मत् (मद्) आगतः=मइत्तो-ममत्तो-महत्तो-मज्झत्तो आगओ अर्थात् मेरे से—(मुझ से) आया हुआ है।

संस्कृत में 'मत्त' विशेषणात्मक एक शब्द है; जिसका अर्थ होता है—मस्त, पागल अथवा नशा किया हुआ; इस शब्द का प्राकत-रूपान्तर भी 'मत्त' ही होता है; तदनुसार प्रथमा विभक्ति के एकवचन में पुल्लिग में सूत्र-संख्या ३-२ के अनुसार इसका रूप 'मत्तो' बनता है; इसलिये ग्रंथकार वृत्ति में लिखते हैं कि संस्कृत से पंचमी विभक्ति के एकवचन में 'अस्मद्' के प्राप्त रूप 'मत्' को प्राकृत-अंगरूप की अवस्था मानकर 'त्तो' प्रत्यय लगाकर 'मत्तो' रूप बनाने की भूल नहीं कर देना चाहिये। बल्कि यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्राकृतीय प्राप्त रूप 'मत्तो' की प्राप्ति अंगरूप 'मत्त' से प्राप्त हुई है।

'मत् अथवा मद्' संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप मइत्तो, ममत्तो, महत्तो और मज्झत्तो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१११ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर पञ्चमी के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्ययों की संयोजना होने पर प्राकृत में उक्त चारों अंग रूपों की क्रम से प्राप्ति एवं ३-८ से प्राप्तांग चारों में पंचमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'त्तो' आदि प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर उक्त चारों रूप *'मइत्तो, ममत्तो, महत्तो और मज्झत्तो'* क्रम से सिद्ध हो जाते हैं।

'आगओ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

मत्तः संस्कृत विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप मत्तो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप मत्तो सिद्ध हो जाता है। ३-१११ ॥

ममाम्हौ भ्यसि ॥ ३-११२ ॥

अस्मदो भ्यसि परतो मम अम्ह इत्यादेशौ भवतः। भ्यसस्तु यथा प्राप्तम् ॥ ममत्तो। अम्हत्तो। ममाहिन्तो। अम्हाहिन्तो। ममासुन्तो। अम्हासुन्तो। ममेसुन्तो। अम्हेसुन्तो ॥

अर्थ:—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय त्तो, दो, दु हि, हिन्तो और सुन्तो' प्राप्त होने पर मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से दो अंग रूपों की आदेश प्राप्ति हुआ करती है। वे प्राप्तव्य अंग रूप इस प्रकार हैं:—'मम और अम्ह'। इस प्रकार आदेश प्राप्त इन दोनों अंगों में से प्रत्येक अंग में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में सूत्र-संख्या ३-९ के अनुसार छह छह प्रत्यय क्रम से संयोजित होते हैं, यों 'अस्मद्' के पञ्चमी बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्त रूप अस्मत्' के प्राकृत-रूपान्तर में बारह रूप होते हैं, जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—

संस्कृत अस्मत् =(मम के रूप =) ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममाहिन्तो और ममासुन्तो।

(अम्ह के रूप) = अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ, अम्हाहि, अम्हाहिन्तो और अम्हासुन्तो।

सूत्र संख्या ३-१५ से उपरोक्त प्राप्तांग 'मम' और 'अम्ह' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से 'हि, हिन्तो और सुन्तो' प्रत्यय प्राप्त होने पर हुआ करती है, तदनुसार प्रत्येक अंग रूप के तीन तीन रूप और होते हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—मम के रूप = ममेहि, ममेहिन्तो और ममेसुन्तो। अम्ह के रूप = अम्हेहि, अम्हेहिन्तो, और अम्हेसुन्तो। यों उपरोक्त बारह रूपों में इन छह रूपों को और जोड़ने से पञ्चमी बहुवचन में संस्कृत रूप 'अस्मत्' के प्राकृत में कुल अठारह रूप होते हैं। ग्रंथकार ने वृत्ति में 'अस्मत्' के केवल आठ प्राकृत रूप ही लिखे हैं, अतएव इन आठों रूपों की साधनिका निम्न प्रकार से है:—

अस्मत् संस्कृत पञ्चमी बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत आठ रूप इस प्रकार हैं:-ममत्तो, अम्हत्तो, ममाहिन्तो, अम्हाहिन्तो, ममासुन्तो, अम्हासुन्तो, ममेसुन्तो और अम्हेसुन्तो। इनमें सूत्र संख्या ३-११२ से पंचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में दो अंग रूप 'मम और अम्ह' की प्राप्ति, तत्पश्चात् तीसरे रूप से प्रारम्भ कर के छट्ठे

रूप तक दोनों अंगों में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर सूत्र संख्या ३-१३ से वैकल्पिक रूप से 'आ' की प्राप्ति एवं सातवें तथा आठवें दोनों अंगों में स्थित अन्त्य स्वर, 'अ' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-१५ से (वैकल्पिक रूप से) 'ए' की प्राप्ति और ३-९ से उपरोक्त आठों अंग रूपों में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में क्रम से 'त्तो, हिन्तो और सुन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर आठों ही रूप- *ममत्तो, अम्हत्तो, ममाहिन्तो, अम्हाहिन्तो, ममासुन्तो, अम्हासुन्तो, ममेसुन्तो* और *अम्हेसुन्तो*' सिद्ध हो जाते हैं। ३-११२ ॥

मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा ॥ ३-११३ ॥

अस्मदो ङसा षष्ठ्येक वचनेन सहितस्य एते नवादेशा भवन्ति ॥ मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं धणं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के प्राकृतीय स्थानीय प्रत्यय 'स्स' प्राप्त होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के ही आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'मम' अथवा 'मे' के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी एकवचनार्थ में नव रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जो कि इस प्रकार हैं:—मम अथवा मे=मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झ, मज्झं, अम्ह और अम्हं अर्थात् मेरा । उदाहरणः— मम अथवा मे धनम्=मे मइ-मम-मह-महं-मज्झ-मज्झं-अम्ह अम्हं धणं अर्थात् मेरा धन ।

मम अथवा *मे* संस्कृत षष्ठी एकवचनान्त (त्रिलिंगात्मक) सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप नव होते हैं। मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झ, मज्झं अम्ह और अम्हं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११३ से मूल संस्कृत शब्द 'अस्मद्' के षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राप्त रूप मम अथवा मे के स्थान पर प्राकृत में उपरोक्त नव ही रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से ये नव ही रूप '*मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झ, मज्झं, अम्ह* और *अम्हं*' सिद्ध हो जाते है ।

'*धणं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है। ३-११३ ॥

णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा ॥ ३-११४ ॥

अस्मद् आमा सहितस्य एते एकादशादेशा भवन्ति ॥ णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण धणं ॥ क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा (१-२७) इत्यनुस्वारे । अम्हाणं । ममाणं । महाणं । मज्झाणं । एवं च पञ्चदश रूपाणि ॥

अर्थ—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप 'अस्माकम् अथवा नः' के स्थान पर प्राकृत में अर्थात् प्राकृत मूल शब्द और प्राप्त प्रत्यय 'ण' दोनों के ही स्थान पर क्रम से ग्यारह रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। ये ग्यारह ही रूप इस प्रकार हैं:— अस्माकम् अथवा नः=णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाण, ममाण, महाण, और मज्झाण। उदाहरण इस प्रकार है—अस्माकम् अथवा नः धनम्=णे-णो-मज्झ-अम्ह-अम्हं-अम्हे-अम्हो-अम्हाण-ममाण-महाण-मज्झाण धणं अर्थात् हम सभी का (अथवा हमारा) धन (है)। सूत्र-संख्या १-२७ में ऐसा विधान प्रदर्शित किया गया है कि-षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्यय 'ण' के ऊपर अर्थात् अन्त में वैकल्पिक रूप से अनुस्वार की प्राप्ति हुआ करती है', तदनुसार उपरोक्त ग्यारह रूपों में से आठवें रूप से प्रारम्भ करके ग्यारहवें रूप तक अर्थात् इन चार रूपों के अन्त में स्थित एवं षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन के अर्थ में सद्भावित प्रत्यय 'ण' पर वैकल्पिक रूप से अनुस्वार की प्राप्ति होती है; जो कि इस प्रकार है—अम्हाणं, ममाणं, महाणं और मज्झाणं। यों अस्माकम् अथवा नः' के प्राकृत रूपान्तर में उपरोक्त ग्यारह रूपों में इन चार रूपों की और संयोजना करने पर प्राकृत में षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में कुल पन्द्रह रूप होते हैं।

अस्माकम् अथवा नः संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप पन्द्रह होते हैं। णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हमाण, ममाण, महाण, मज्झाण, अम्हाणं, ममाणं महाणं और मज्झाणं। इनमें से प्रथम ग्यारह रूपों में सूत्र-संख्या ३-११४ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृत मूल शब्द 'अस्मद्' में प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के योग से प्राप्त रूप 'अस्माकम् अथवा नः के स्थान पर उक्त प्रथम ग्यारह रूपों की आदेश प्राप्ति होकर '*णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाण, ममाण, महाण* और *मज्झाण* इस प्रकार प्रथम ग्यारह रूप सिद्ध हो जाते हैं।

शेष चार रूपों में सूत्र-संख्या १-२७ से (बारहवें रूप से प्रारंभ करके पन्द्रहवें रूप तक में) षष्ठी विभक्ति बहुवचन बोधक प्रत्यय 'ण' का सद्भाव होने से इस प्रत्यय रूप 'ण' के अन्त में आगम रूप अनुस्वार की प्राप्ति होकर शेष चार '*अम्हाणं, ममाणं, महाणं* और *मज्झाणं*' भी सिद्ध हो जाते हैं। ३-११४॥

मि मइ ममाइ मए मे ङिना॥ ३-११५॥

अस्मदो ङिना सहितस्य एते पञ्चादेशा भवन्ति॥ मि मइ ममाइ मए मे ठिअं॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' की संयोजना होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर आदेश-प्राप्त संस्कृत रूप-'मयि' के स्थान पर प्राकृत में (प्राकृतीय मूल शब्द और प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्यय दोनों के ही स्थान

पर) क्रम से पाँच रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। वे आदेश-प्राप्त पांचों ही रूप क्रम से इसप्रकार हैं:—(मयि =) मि, मइ, ममाइ मए और मे अर्थात् मुझ पर अथवा मेरे में। उदाहरण इस प्रकार है:— मयि स्थितम् = मि-मइ-ममाइ-मए-मे ठिअं अर्थात् मुझपर अथवा मेरे में स्थित है।

'मयि' संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप मि, मइ, ममाइ, मए और मे होते हैं। इसमें सूत्र-संख्या ३-११५ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृत-शब्द 'अस्मद्' में संप्राप्त प्रत्यय 'ङि=इ' की संयोजना होने पर प्राप्त रूप 'मयि' के स्थान पर उक्त पाँचों रूपों को क्रम से प्राकृत में आदेश-प्राप्ति होकर ये पाँचो रूप *'मि, मइ, ममाइ, मए और मे'* सिद्ध हो जाते हैं।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है। ३-११५ ॥

अम्ह-मम-मह-मज्झा ङौ ॥ ३—११६ ॥

अस्मदो ङौ परत एते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ ङेस्तु यथा प्राप्तम् ॥ अम्हम्मि ममम्मि महम्मि मज्झम्मि ठिअं ॥

अर्थः—संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के प्राकृतीय स्थानीय प्रत्यय सूत्र-संख्या ३-११ से प्राप्तव्य 'म्मि' प्रत्यय की संयोजना होने पर संस्कृत शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में चार अंग रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है एवं तत्पश्चात् सप्तमी एकवचनार्थ में उन आदेश-प्राप्त अंग रूपों में 'म्मि' प्रत्यय की संयोजना हुआ करती है। उक्त विधानानुसार 'अस्मद्' के प्राकृतीय प्राप्तव्य चार अंग रूप इस प्रकार हैं:—अस्मद्= अम्ह, मम, मह और मज्झ। उदाहरण इस प्रकार है:—मयि स्थितम्=अम्हम्मि-ममम्मि-महम्मि-मज्झम्मि ठिअं अर्थात् मुझ पर अथवा मेरे में स्थित है।

'मयि' संस्कृत सप्तमी एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'अम्हम्मि, ममम्मि, महम्मि और मज्झम्मि' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११६ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृत-शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में उक्त चार 'अम्ह, मम, मह और मज्झ' अंग रूपों की आदेश-प्राप्ति एवं तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-११ से इन चारों प्राप्तांगों में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *'अम्हम्मि, ममम्मि महम्मि और मज्झम्मि'* सिद्ध हो जाते हैं।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है। ३-११६ ॥

सुपि ॥ ३-११७ ॥

अस्मदः सुपि परे अम्हादय श्चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ अम्हेसु । ममेसु । महेसु । मज्झेसु । एत्व विकल्पमते तु । अम्हसु । ममसु । महसु । मज्झसु ॥ अम्हस्यात्व मपीच्छत्यन्यः । अम्हासु ॥

अर्थ —संस्कृत सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के प्राकृत रूपान्तर में सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय सुप्=सु के समान ही प्राकृत में भी प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' की संयोजना होने पर संस्कृत शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में चार अंग रूपों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है एवं तत्पश्चात् सप्तमी बहुवचनार्थ में इन आदेश-प्राप्त चारों अंग रूपों में 'सु' प्रत्यय की संयोजना होती है। उक्त विधानानुसार 'अस्मद्' के प्राकृतीय प्राप्तव्य चार अंगरूप इस प्रकार हैं.—अस्मद्=अम्ह, मम, मह और मज्झ। इन अंगरूपों की प्रत्यय सहित स्थिति इस प्रकार है:—अस्मासु = अम्हेसु, ममेसु, महेसु और मज्झेसु अर्थात् हम सभी पर अथवा हमारे पर, हम सभी में अथवा हमारे में।

किन्हीं किन्हीं की मान्यता है कि सप्तमी बहुवचनार्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' की संप्राप्ति होने पर उक्त चारों प्राप्तांगों में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है। तदनुसार उक्त आदेश-प्राप्त चारों अंगों में 'सु' प्रत्यय प्राप्त होने पर इस प्रकार रूप-स्थिति बनती है:— अम्हसु, ममसु, महसु और मज्झसु। इनमें अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर प्राप्तव्य 'ए' का अभाव प्रदर्शित किया गया है। कोई एक ऐसा भी मानता है कि संस्कृत शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर सर्व प्रथम आदेश-प्राप्तांग 'अम्ह' में 'सु' प्रत्यय की संप्राप्ति होने पर 'अम्ह' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होती है। इसके मत से 'अम्ह' में 'सु' प्रत्यय की संयोजना होने पर सप्तमी बहुवचनार्थ में 'अम्हासु' रूप की भी संप्राप्ति होती है। इस प्रकार 'अस्मासु' के प्राकृत में उक्त नव रूप होते हैं।

अस्मासु' संस्कृत सप्तमी बहुवचनान्त त्रिलिंगात्मक सर्वनाम रूप है। इसके प्राकृत रूप 'अम्हेसु, ममेसु, महेसु मज्झेसु, अम्हसु, ममसु, महसु, मज्झसु और अम्हासु' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११७ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में 'सुप्=सु' प्रत्यय की संयोजना होने पर संस्कृत मूल शब्द 'अस्मद्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से चार अम्ह, मम, मह और मज्झ' अंगरूपों की संप्राप्ति; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१५ से प्राप्तांगों के अंत में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर प्रथम चार रूपों में आगे सप्तमी बहु-वचन बोधक प्रत्यय 'सु' का सद्भाव होने से 'ए' की प्राप्ति; ३-११७ की वृत्ति से पांचवें रूप से प्रारम्भ करके आठवें रूप तक में उक्त अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर प्राप्तव्य 'ए' का अभाव प्रदर्शित करके अन्त्य स्वर 'अ' की यथा पूर्व स्थिति का ही सद्भाव, जबकि नवबें रूप में ३-११७ की वृत्ति से प्राप्त प्रथमांग 'अम्ह' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और सूत्र-संख्या ४-४४८ से

उपरोक्त रीति से प्राप्त नव ही अंगों में सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में 'सु' प्रत्यय की संप्राप्ति होकर क्रम से ये नव ही रूप '*अम्हेसु, ममेसु, महेसु, मज्झेसु, अम्हसु, ममसु, महसु, मज्झसु*, और *अम्हासु* सिद्ध हो जाते हैं। ३-११७ ॥

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ३-११८ ॥

त्रेः स्थाने ती इत्यादेशो भवति तृतीयादौ ॥ तीहिं कयं। तीहिन्त आगओ। तिण्हं धणं। तीसु ठिअं ॥

अर्थः—संस्कृत संख्या वाचक शब्द 'त्रि' अर्थात् 'तीन' नित्य बहुवचनात्मक है; इस 'त्रि' शब्द के एकवचन और द्विवचन में रूपों का निर्माण नहीं होता है। क्योंकि यह 'त्रि' शब्द उस संख्या का वाचक है; जो कि 'एक' और 'दो' से नित्य ही अधिक होते हैं। तृतीया विभक्ति पञ्चमी विभक्ति षष्ठी विभक्ति और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में क्रम से प्रत्ययों की संप्राप्ति होने पर इस संस्कृत शब्द 'त्रि' के स्थान पर प्राकृत में 'ती' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति होती है; तत्पश्चात् प्राकृतीय प्राप्तांग 'ती' में उक्त विभक्तियों के बहुवचन-बोधक प्रत्ययों की संयोजना की जाती है। उदाहरण इस प्रकार हैः—

तृतीया विभक्ति बहुवचनः—त्रिभिः कृतम् = तीहि कयं अर्थात् तीन द्वारा किया गया है। पञ्चमी बहुवचनः—त्रिभ्यः आगतः = तीहिन्तो आगओ अर्थात् तीनों (के पास) से आया हुआ है। षष्ठी बहुवचनः—त्रयाणाम् धनम् = तिण्ह धण अर्थात् तीनों का धन और सप्तमी बहुवचनः—त्रिषु स्थितम् = तीसु ठिअ अर्थात् तीनों पर स्थित है।

त्रिभिः संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप तीहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११८ से मूल संस्कृत शब्द 'त्रि' के स्थान पर प्राकृत में 'ती' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'ती' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *तीहिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

कयं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

त्रिभ्यः संस्कृत पञ्चमी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप तीहिन्तो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११८ से मूल संस्कृत शब्द 'त्रि' के स्थान पर प्राकृत में 'ती' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-९ से पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'ती' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हिन्तो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *'तीहिन्तो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'आगओ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२०९* में की गई है।

त्रयाणाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप तिण्हं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३ ११८ से मूल संस्कृत शब्द 'त्रि' के स्थान पर प्राकृत में 'ती' अंग रूप की आदेश प्राप्ति; ३-१२३ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'ती' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्हं' प्रत्यय का आदेश और १-८४ से प्राप्त प्रत्यय 'ण्हं' संयुक्त व्यञ्जनात्मक होने से अंग रूप 'ती' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप '*तिण्हं*' सिद्ध हो जाता है।

'*धणं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३ ५० में की गई है।

त्रिषु संस्कृत सप्तमी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप तीसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११८ से मूल संस्कृत शब्द 'त्रि' के स्थान पर प्राकृत में 'ती' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'ती' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्=सु' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *तीसु* सिद्ध हो जाता है।

'*ठिअं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१६ में की गई है। ३-१८ ॥

द्वेर्दो वे ॥ ३-११९ ॥

द्वि शब्दस्य तृतीयादौ दो वे इत्यादेशौ भवतः ॥ दोहि वेहि कयं। दोहिन्तो वेहिन्तो आगओ। दोण्हं वेण्हं धणं। दोसु वेसु ठिअं।

अर्थ—संस्कृत संख्या वाचक शब्द 'द्वि' अर्थात् 'दो' नित्य प्राकृत में (न कि संस्कृत में) बहुवचनात्मक है, इस 'द्वि' शब्द के एकवचन में रूपों का निर्माण नहीं होता है; क्योंकि यह 'द्वि' शब्द उस संख्या का वाचक है; जो कि नित्य ही 'एक' से अधिक है। तृतीया विभक्ति, पंचमी विभक्ति, षष्ठी विभक्ति और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में क्रम से प्रत्ययों की संप्राप्ति होने पर इस संस्कृत शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'दो' और 'वे' अंग रूपों की आदेश प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् प्राकृतीय इन दोनों प्राप्तांगों में यानि 'दो' और 'वे' में क्रम से उक्त विभक्तियों के बहुवचन बोधक प्रत्ययों की संयोजना की जाती है। उदाहरण इस प्रकार हैं—तृतीया विभक्ति बहुवचन—द्वाभ्याम् कृतम्=दोहि अथवा वेहि कयं अर्थात् दो से किया गया है। पंचमी बहुवचन—द्वाभ्याम् आगतः=दोहिन्तो अथवा वेहिन्तो आगओ अर्थात् दो (के पास) से आया हुआ है। षष्ठी बहुवचन—द्वयोः धनम्=दोण्हं अथवा वेण्ह धण अर्थात् दोनों का धन और सप्तमी बहुवचन—द्वयोः स्थितम्=दोसु अथवा वेसु ठिअं अर्थात् दोनों पर स्थित है।

द्वाभ्याम् संस्कृत तृतीया द्विवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'दोहि' और 'वेहि' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११९ से मूल संस्कृत शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'दो' और 'वे' अंग रूपों की आदेश-प्राप्ति; ३-१३० से संस्कृतीय द्विवचनात्मक पद से प्राकृत में बहुवचनात्मक पद की (पर्याय अवस्था की) प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'दो' और 'वे' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्याम्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *दोहि* और *वेहि* सिद्ध हो जाते हैं।।

कयं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१२६* में की गई है।

द्वाभ्याम् संस्कृत पञ्चमी द्विवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'दोहिन्तो' और 'वेहिन्तो' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११९ से मूल संस्कृत शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'दो' और 'वे' अंगरूपों की आदेश-प्राप्ति; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के रूप का सद्भाव और ३-९ से पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'दो' और 'वे' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्याम' के स्थान पर प्राकृत में 'हिन्तो' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप '*दोहिन्तो*' और '*वेहिन्तो*' सिद्ध हो जाते हैं।

'*आगओ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२०९* में की गई है।

द्वयोः संस्कृत षष्ठी द्विवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'दोण्ह' और 'वेण्ह' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११९ से मूल संस्कृत शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'दो' और 'वे' अंगरूपों की आदेश-प्राप्ति; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के रूप का सद्भाव और ३-१२३ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तांग 'दो' और 'वे' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दोनो रूप '*दोण्हं*' और '*वेण्हं*' सिद्ध हो जाते हैं

'*धणं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-५०* में की गई है।

द्वयोः संस्कृत सप्तमी द्विवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप दोसु और वेसु होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११९ से 'द्वि' के स्थान पर 'दो' और 'वे' अंग-रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का सद्भाव और ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्=सु' के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनो रूप '*दोसु*' और '*वेसु*' सिद्ध हो जाते हैं।

'*ठिअं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६* में की गई है। ३-११९ ॥

दुवे दोण्णि वेण्णि च जस्-शसा ॥ ३-१२० ॥

जस् शस्भ्यां सहितस्य द्वेः स्थाने दुवे दोण्णि वेण्णि इत्येते दो वे इत्येतौ च आदेशा च भवन्ति ॥ दुवे दोण्णि वेण्णि दो वे ठिआ पेच्छ वा । ह्रस्वः संयोगे (१-८४) इति ह्रस्वत्वे दुण्णि विण्णि ॥

अर्थ—संस्कृत संख्या-वाचक शब्द 'द्वि' के प्राकृत-रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'शस्' की प्राप्ति होने पर मूल शब्द 'द्वि' और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर दोनों ही विभक्तियों में समान रूप से और क्रम से पाँच आदेश-रूपों की प्राप्ति होती है। ये आदेश-प्राप्त पाँचों रूप क्रम से इस प्रकार हैं.—(प्रथमा) द्वौ=दुवे, दोण्णि, वेण्णि, दो और वे। (द्वितीया) द्वौ=दुवे, दोण्णि, वेण्णि, दो और वे। प्रथमा का उदाहरण इस प्रकार है:—द्वौ स्थितौ=दुवे, दोण्णि, वेण्णि, दो, वे ठिआ अर्थात् दो ठहरे हुए हैं। द्वितीया विभक्ति का उदाहरण—द्वौ पश्य=दुवे, दोण्णि वेण्णि, दो, वे पेच्छ अर्थात् दो को देखो। सूत्र संख्या १-८४ में ऐसा विधान प्रदर्शित किया गया है कि 'संस्कृत से प्राप्त प्राकृत-रूपान्तर में यदि दीर्घ स्वर के आगे संयुक्त व्यञ्जन की प्राप्ति हो जाय तो वह दीर्घ स्वर ह्रस्वस्वर में परिणत हो जाया करता है;' तदनुसार इस सूत्र में प्राप्त दोण्णि और वेण्णि' में दीर्घ-स्वर 'ओ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति तथा दीर्घ स्वर 'ए' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होकर उक्त पाँच आदेश-प्राप्त रूपों के अतिरिक्त 'द्वौ' के प्राकृत रूपान्तर दो और बन जाते हैं; जो कि इस प्रकार हैं—(द्वौ=) दुण्णि और विण्णि। यों प्रथमा और द्वितीया में 'द्वौ' के कुल सात प्राकृत रूप हो जाते हैं।

द्वौ संस्कृत प्रथमा द्विवचनान्त और द्वितीया द्विवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप सात होते हैं—दुवे, दोण्णि, वेण्णि, दो, वे, दुण्णि और विण्णि। इन में से प्रथम पाँच रूपों में सूत्र-संख्या ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन की प्राप्ति और ३-१२० से प्रथमा द्वितीया के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' की प्राप्ति होने पर 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनो के ही स्थान पर उक्त पाँचों रूपों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से इन पाँचों रूपों '*दुवे, दोण्णि, वेण्णि दो और वे*' की सिद्धि हो जाती है। शेष दो रूपों में सूत्र-संख्या १-८४ से पूर्वोक्त द्वितीय-तृतीय रूपों में स्थित 'ओ' और 'ए' स्वरों के स्थान पर क्रम से ह्रस्वस्वर 'उ' और 'इ' की प्राप्ति होकर छट्ठे-सातवें रूप '*दुण्णि*' और '*विण्णि*' की भी सिद्धि हो जाती है।

स्थितौ संस्कृत रूप है। इसका प्राकृत रूप ठिआ होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-१६ से मूल संस्कृत धातु 'स्था=तिष्ठ्' के स्थान पर प्राकृत में 'ठा' अंग रूप की आदेश-प्राप्ति, ३-१५६ से प्राप्त धातु 'ठा' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' के स्थान पर 'आगे भूत कृदन्त से सम्बन्धित प्रत्यय 'क्त=त' का

सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से भूत कृदन्त के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'क्त=त' की प्राकृत में भी इसी अर्थ में 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से उक्त प्राप्त प्रत्यय 'त' में स्थित हलन्त 'त्' का लोप; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का सद्भाव और ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप एवं ३-१२ से उक्त प्राप्त एवं लुप्त जस्' प्रत्यय के कारण से पूर्वोक्त 'ठिअ' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति होकर '*ठिआ*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*पेच्छ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-२३* में की गई है। ३-१२० ॥

त्रेस्तिण्णिः ॥ ३-१२१ ॥

जस्-शस्भ्यां सहितस्य त्रेः तिण्णि इत्यादेशो भवति ॥ तिण्णि ठिआ पेच्छ वा ॥

अर्थः—संस्कृत संख्या वाचक शब्द 'त्रि' के प्राकृत रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय परे रहने पर तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय परे रहने पर दोनों दोनों विभक्तियों में समान रूप से 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के ही स्थान पर 'तिण्णि' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे प्रथमा के बहुवचन में 'त्रयः' का रूपान्तर 'तिण्णि' और द्वितीया के बहुवचन में 'त्रीन्' का रूपान्तर भी 'तिण्णि' ही होता है। वाक्यात्मक उदाहरण इस प्रकार हैः—त्रयः स्थिताः=तिण्णि ठिआ अर्थात् तीन (व्यक्ति) ठहरे हुए हैं। त्रीन् पश्य=तिण्णि पेच्छ अर्थात् तीन को देखो। यों प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में प्राकृत में एक ही रूप 'तिण्णि' होता है।

त्रयः संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप 'तिण्णि' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१२१ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' की प्राकृत में प्राप्ति होकर 'मूल शब्द 'त्रि' और 'जस्' प्रत्यय' दोनों के स्थान पर 'तिण्णि' रूप की आदेश-प्राप्ति होकर '*तिण्णि*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*ठिआ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२० में की गई है। जिसमें सूत्र संख्या ३-१३० का इस शब्द साधनिका में अभाव जानना; क्योंकि वहां पर द्विवचन का रूपान्तर सिद्ध करना पड़ा है; जबकि यहां पर 'बहुवचन' का ही सद्भाव है। शेष साधनिका में उक्त सभी सूत्रों का प्रयोग जानना। त्रीन्=तिण्णि की साधनिका भी 'त्रयः=तिण्णि' के समान ही सूत्र-संख्या ३-१२१ के विधान से उपरोक्त रीति से समझ लेनी चाहिये।

'*पेच्छ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है। ३-१२१ ॥

चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥ ३-१२२ ॥

चतुर् शब्दस्य जस्-शस्भ्यां सह चत्तारो चउरो चत्तारि इत्येते आदेशा भवंति ॥ चत्तारो । चउरो । चत्तारि चिट्ठन्ति पेच्छ वा ॥

अर्थः—संस्कृत संख्या वाचक शब्द 'चतुर्'=(चार) के प्राकृत-रूपान्तर में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय परे रहने पर तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' परे रहने पर दोनों विभक्तियों में समान रूप से 'मूल शब्द और प्रत्यय' दोनों के ही स्थान पर तीन रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार हैं—प्रथमा के बहुवचन में संस्कृतीय रूप चत्वारः के प्राकृत रूपान्तर 'चत्तारो, चउरो और चत्तारि तथा द्वितीया के बहुवचन में संस्कृतीय रूप 'चतुरः के प्राकृत रूपान्तर भी 'चत्तारो, चउरो और चत्तारि' ही होते हैं। यों प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में रूपों की समानता ही जानना चाहिये। वाक्यात्मक उदाहरण इस प्रकार है—चत्वारः तिष्ठन्ति=चत्तारो, चउरो, चत्तारि चिट्ठन्ति अर्थात् चार (व्यक्ति) स्थित हैं। चतुरः पश्य=चत्तारो, चउरो, चत्तारि पेच्छ अर्थात् चार (व्यक्तियों) को देखो।

चत्वारः संस्कृत प्रथमा बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप चत्तारो, चउरो और चत्तारि होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१२२ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' परे रहने पर मूल शब्द 'चतुर और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर उक्त तीनों रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर (क्रम से) तीनों रूप *चत्तारो*, *चउरो* और *चत्तारि* सिद्ध हो जाते हैं।

चतुरः संस्कृत द्वितीया बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप चत्तारो, चउरो और चत्तारि होते हैं। इनमें भी सूत्र-संख्या ३-१२२ से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' परे रहने पर मूल शब्द 'चतुर और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर उक्त तीनों रूपों की आदेश-प्राप्ति होकर (क्रम से) तीनों रूप *चत्तारो*, *चउरो* और *चत्तारि* सिद्ध हो जाते हैं।

चिट्ठन्ति क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-२०* में की गई है।

'*पेच्छ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है। ३-१२२ ॥

संख्याया आमो ण्ह ण्हं ॥ ३-१२३ ॥

संख्या शब्दात्परस्यामो ण्ह ण्हं इत्यादेशौ भवतः ॥ दोण्ह । तिण्ह । चउण्ह । पञ्चण्ह । छण्ह । सत्तण्ह । अट्ठण्ह ॥ एवं दोण्हं । तिण्हं । चउण्हं । पञ्चण्हं । छण्हं । सत्तण्हं । अट्ठण्हं ॥

नवण्हं। दसण्हं। पण्णरसण्हं दिवसाणं। अट्ठारसण्हं समणसाहस्सीणं ॥ कतीनाम्। कइण्हं ॥ बहुलाधिकाराद् विंशत्यादे र्न भवति ॥

अर्थः—संस्कृत संख्या वाचक शब्दों के प्राकृत रूपान्तर में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर क्रम से 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—द्वयोः = दोण्ह और दोण्हं अर्थात् दो का; त्रयाणाम् = तिण्ह और तिण्हं अर्थात् तीन का; चतुर्णाम् = चउण्ह और चउण्हं अर्थात् चार का; पञ्चानाम् = पञ्चण्ह और पञ्चण्हं अर्थात् पाँच का; षण्णाम् = छण्ह और छण्हं अर्थात् छह का; सप्तानाम् = सत्तण्ह और सत्तण्हं अर्थात् सात का; अष्टानाम् = अट्ठण्ह और अट्ठण्हं अर्थात् आठ का; नवानाम् = नवण्ह और नवण्हं अर्थात् नव का; दशानाम् = दसण्ह और दसण्हं अर्थात् दश का; पञ्चदशानाम् दिवसानाम् = पण्णरसण्हं दिवसाण अर्थात् पन्द्रह दिनों का; अष्टादशानाम् श्रमण-साहस्रीणाम् = अट्ठारसण्हं समण-साहस्सीणं अर्थात् अठारह हजार साधुओं का। कतीनाम् = कइण्ह अर्थात् कितनों का; इत्यादि। 'बहुल' सूत्र के अधिकार से 'विंशति' अर्थात् 'बीस' आदि संख्या वाचक शब्दों में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' परे रहने पर प्राकृत-रूपान्तर में 'ण्ह' अथवा 'ण्हं' आदेश प्राप्ति नहीं भी होती है।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'द्वि त्रि और चतुर्' संख्या वाचक शब्दों के प्राकृत रूपान्तर में तीनों लिंगों में विभक्ति बोधक अवस्था में समान रूप ही होते हैं। अर्थात् इनमें लिंग भेद नहीं पाया जाता है।

द्वयोः संस्कृत षष्ठी द्विवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप दोण्ह और दोण्हं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११९ से मूल संस्कृत शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में अंग रूप 'दो' की आदेश-प्राप्ति, ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का सद्भाव और ३-१२३ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति (क्रम से) होकर दोनों रूप 'दोण्ह' एवं 'दोण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

त्रयाणाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'तिण्ह' और तिण्हं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-११८ से मूल संस्कृत शब्द 'त्रि' के स्थान पर प्राकृत में 'ती' अंगरूप की आदेश-प्राप्ति; ३-१२३ से प्राप्तांग 'ती' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की (क्रम से) आदेश-प्राप्ति और १-८४ से प्राप्त रूप 'तीण्ह' 'तीण्हं' में दीर्घस्वर 'ई' के आगे संयुक्त व्यञ्जन 'ण्ह' और 'ण्हं' का सद्भाव होने से उक्त दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप 'तिण्ह' और 'तिण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

चतुर्णाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'चउण्ह' और 'चउण्हं' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप; २-७९ से 'र्' का लोप और ३-१२३ से प्राप्तांग 'चउ' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की क्रम से आदेश प्राप्ति होकर दोनों रूप 'चउण्ह' और 'चउण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

पञ्चानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप पञ्चण्ह और पञ्चण्हं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१२३ से संस्कृत के समान ही प्राकृतीय अंग रूप 'पञ्च' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर दोनों रूप 'पञ्चण्ह' और 'पञ्चण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

षण्णाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'छण्ह' और 'छण्हं' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-२६५ से मूल संस्कृत शब्द 'षट्' में स्थित 'ष' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत में 'छ'-व्यञ्जन की आदेश प्राप्ति; १-११ से (अथवा २-७७ से) अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ट' का लोप और ३-१२३ से प्राप्तांग 'छ' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की क्रम से आदेश प्राप्ति होकर दोनों रूप 'छण्ह' और 'छण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

सप्तानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप 'सत्तण्ह' और 'सत्तण्हं' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-७७ से मूल संस्कृत शब्द 'सप्त' में स्थित हलन्त 'प' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'प' के पश्चात् शेष रहे हुए 'त' को द्वित्व 'त्त' की प्राप्ति और ३-१२३ से प्राप्तांग 'सत्त' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की क्रम से आदेश-प्राप्ति होकर दोनों रूप 'सत्तण्ह' और 'सत्तण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

अष्टानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसके प्राकृत रूप अट्ठण्ह और अट्ठण्हं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-३४ से मूल संस्कृत शब्द 'अष्ट' में स्थित संयुक्त व्यञ्जन 'ष्ट' के स्थान पर 'ठ' की प्राप्ति, २-८९ से प्राप्त 'ठ' को द्वित्व 'ठठ्' की प्राप्ति, २-९० से प्राप्त पूर्व 'ठ्' के स्थान पर 'ट्' की प्राप्ति और ३-१२३ से प्राप्तांग 'अट्ठ' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ण्ह' और 'ण्हं' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर दोनों रूप 'अट्ठण्ह' और 'अट्ठण्हं' सिद्ध हो जाते हैं।

नवानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप 'नवण्ह' होता है। इसमें सूत्र संख्या ३-१२३ से मूल संस्कृत के समान ही प्राकृतीय अंग रूप 'नव'

मे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर '*नवण्हं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

दशानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप दसण्हं होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; १-८४ से प्रथम दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति और ३-१२३ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत मे 'ण्हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर '*दसण्हं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

पञ्चदशानाम् संस्कृत षष्ठी-बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप पण्णरसण्हं होता है। इसमे सूत्र-संख्या २-४३ से संयुक्त व्यञ्जन 'ञ्च' के स्थान पर 'ण' वर्ण की आदेश-प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'ण' को द्वित्व 'ण्ण' की प्राप्ति; १-२१९ से 'द' वर्ण के स्थान पर 'र' वर्ण की आदेश-प्राप्ति; १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; १-८४ से प्रथम दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति और ३-१२३ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थानीय रूप 'नाम्' के स्थान पर 'ण्हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर '*पण्णरसण्हं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

दिवसानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप दिवसाणं होता है। इसमे सूत्र-संख्या ३-१२ से मूल संस्कृत के समान ही प्राकृतीय अंग रूप 'दिवस' मे स्थित अन्त्य ह्रस्वस्वर 'अ' के स्थान पर 'आगे षष्ठी बहुवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से' 'आ' की प्राप्ति; ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थानीय रूप 'नाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति और १-२७ से आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'ण' के अन्त मे आगम रूप 'अनुस्वार' की प्राप्ति होकर *दिवसाणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

अष्टादशानाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक विशेषण रूप है। इसका प्राकृत रूप अट्ठारसण्हं होता है। इसमें सूत्र संख्या २-३४ से संयुक्त व्यञ्जन 'ष्ट' के स्थान पर प्राकृत मे 'ठ' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ठ' को द्वित्व 'ठ्ठ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ठ्' के स्थान 'ट्' की प्राप्ति; १-२१९ से 'द' के स्थान पर 'र' को आदेश-प्राप्ति; १-२६० से 'शा' के स्थान पर 'सा' की प्राप्ति; १-८४ से प्राप्त 'सा' मे स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति और ३-१२३ से प्राप्तांग 'अट्ठारस' मे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थानीय रूप 'नाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप '*अट्ठारसण्हं*' सिद्ध हो जाता है।

श्रमण-साहस्रीणाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप समण-साहस्सीण होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'श्र' मे स्थित 'र्' का लोप; १-२६० से लोप; हुए 'र्' के पश्चात

शेष रहे हुए 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; २-७६ से 'स्री' में स्थित 'र्' का लोप, २-८६ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'सी' में स्थित 'स्' को द्वित्व 'स्स' की प्राप्ति ३-६ से षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थानीय रूप 'णाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति और १-२७ से आदेश-प्राप्त प्रत्यय ण के अन्त में आगम रूप अनुस्वार' की प्राप्ति होकर '*समण-साहस्सीणं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

कतीनाम् संस्कृत षष्ठी बहुवचनान्त संख्यात्मक सर्वनाम (और विशेषण) रूप है। इसका प्राकृत रूप कइण्हं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त' का लोप, १-८४ से लोप हुए 'त' के पश्चात् शेष रहे हुए दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर 'आगे षष्ठी बहुवचन बोधक संयुक्त व्यञ्जनात्मक प्रत्यय का सद्भाव होने से' ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति और ३-१२३ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थानीय रूप 'नाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण्हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप '*कइण्हं*' सिद्ध हो जाता है। ३-१२३ ॥

शेषे ऽदन्तवत् ॥ ३-१२४ ॥

उपर्युक्तादन्यः शेषस्तत्र स्यादिविधिरदन्तवदति दिश्यते। येष्वाकाराद्यन्तेषु पूर्वं कार्याणि नोक्तानि तेषु जस् शसो लुक् (३-४) इत्यादिनि अदन्ताधिकार-विहितानि कार्याणि भवन्तीत्यर्थः॥ तत्र जस् शसो लुक् इत्येतत् कार्यातिदेशः। माला गिरी गुरू सही वहू रेहन्ति पेच्छ वा॥ अमोस्य (३-५) इत्येतत् कार्यातिदेशः। गिरिं गुरुं सहिं वहुंगामणिं खलपुं पेच्छ॥ टा-आमोर्णः (३-६) इत्येतत् कार्यातिदेशः। हाहाण कयं। मालाण गिरीण गुरूण सहीण वहूण धणं। टायास्तु। टो णा (३-२४) टा-ङस् ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः (३-२९) इति विधिरुक्तः॥ भिसो हि हिँ हिं (३-७) इत्येतत् कार्यातिदेशः। मालाहि गिरीहि गुरूहि सहीहि वहूहि कयं। एवं सानुनासिकानुस्वारयोरपि॥ ङसेस् त्तो-दो-दु हि-हिन्तो लुकः (३-८) इत्येतत् कार्यातिदेशः। मालाओ। मालाउ। मालाहिन्तो॥ बुद्धीओ। बुद्धीउ। बुद्धिहिन्तो॥ धेणूओ। धेणूउ। धेणू-हिन्तो आगओ। हि लुकौ तु प्रतिषेत्स्येते (३-१२७, १२६)। भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो (३-९) इत्येतत् कार्यातिदेशः। मालाहिन्तो। मालासुन्तो। हिस्तुनिषेत्स्यते (३-१२७) एवं गिरीहिन्तो इत्यादि॥ ङसः स्स (३-१०) इत्येतत् कार्यातिदेशः। गिरिस्स। गुरुस्स। दहिस्स। महुस्स॥ स्त्रियां तु टा-ङस-ङेः (३-२९) इत्याद्युक्तम्॥ ङे म्मि ङेः (३-११) इत्येतत् कार्यातिदेशः। गिरिम्मि। गुरुम्मि। दहिम्मि। महुम्मि। ङेस्तुनिषेत्स्यते (३-१२८)

स्त्रियां तु टा-ङस्-ङेः (३-२९) इत्याद्युक्तम् ॥ जस्-शस्-ङसि त्तो-दो-द्वामि दीर्घः (३-१२) इत्येतत कार्यातिदेशः । गिरी गुरू चिट्ठन्ति । गिरीओ गुरूओ आगओ । गिरीण गुरूण धणं ॥ भ्यसि वा (३-१३) इत्येतत कार्यातिदेशो न प्रवर्तते । इदुतो दीर्घः (३-१६) इति नित्यं विधानात ॥ टाण-शस्येत (३-१४) ॥ भिस्भ्यस सुपि (३-१५) इत्येतत् कार्यातिदेशस्तु निपेत्स्यते (३- २९) ॥

अर्थः—इस सूत्र में अकारान्त शब्दों के अतिरिक्त आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त आदि षड-लिंग वाले शब्दों के लिये विभक्ति-बोधक प्रत्ययों से संबंधित ऐसी विधि का उल्लेख किया गया है जो कि पहले नहीं कही गई है । तदनुसार सर्व प्रथम इस 'सर्व-सामान्य-विधि' की उद्घोषणा की गई है कि 'जिन आकारान्त आदि शब्दों के लिये पहले जो प्रत्यय विधि नहीं बतलाई गई है; उसको 'अकारान्त शब्द' के लिये कही गई प्रत्यय-विधि' के समान हो इन आकारान्त आदि शब्दों के लिये भी समझ लेना चाहिये । इस व्यापक अर्थवाली घोषणा के अनुसार 'जस्, अम्, शस्' आदि विभक्ति-बोधक प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत भाषा में अकारान्त शब्दों में जुड़ने वाले प्रत्ययों की कार्य-विधि और प्रभाव-शीलता इन आकारान्त आदि शब्दों के लिये भी जान लेना चाहिये । इस व्यापक विधि-सूचना को यहां पर 'कार्यातिदेश' शब्द से उल्लिखित की गई है । सर्व-प्रथम सूत्र संख्या ३-४ 'जस्-शसो लुक्' की कार्यातिदेशता का उदाहरण देते हैं:—प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के उदाहरणः—मालाः, गिरयः, गुरवः, सख्यः, वध्वः राजन्ते = माला, गिरी, गुरु, सही, वहू रेहन्ति=मालाएँ, पहाड़, गुरुजन, सखियां और बहुएं सुशोभित हो रही है । इसी प्रकार से द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के उदाहरण यों हैं:—

मालाः, गिरीन्, गुरून्, सखीः वधूः प्रेक्ष = माला, गुरू, सही, वहू पेच्छ=मालाओं को, पहाड़ों को, गुरू-जनों को, सखियों को और बहुओं को देखो । इन प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के उदाहरणों में आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग के शब्दों में अकारान्त शब्द की प्रत्यय-विधि भी कार्य-शील होती है; ऐसा ज्ञान कराया गया है ।

'अमोऽस्य' (३-५) सूत्र की कार्य-अतिदेशना के उदाहरण इस प्रकार हैं:—गिरिम्, गुरुम्, सखीम्; वधूम्, ग्रामण्यम् खलप्वम् प्रेक्ष = गिरिं, गुरुं, सहिं, वहुं, गामणिं खलपुं पेच्छ=पहाड़ को गुरू को, सखी को, वधू को, ग्राम-मुखिया को और खलिहान साफ करने वाले को देखो । इन उदाहरणों में भी अकारान्त शब्द के समान ही द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय की कार्यशीलता प्रदर्शित की गई है ।

'टा-आमोर्णः' (३-६) सूत्र की कार्य-अतिदेशना का स्वरूप प्रदर्शक उदाहरण इस प्रकार है:—हाहा-कृतम=हाहाण कयं=गन्धर्व से, अथवा देव से किया गया है । यह तृतीया विभक्ति के एकवचन का उदाहरण हुआ; षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में होने वाले कार्यातिदेश के उदाहरण निम्न प्रकार से हैं:—

मालानाम्, गुरूणाम्, गिरीणाम्, सखीनाम्, वधूनाम् धनम्=मालाण, गिरीण, गुरूण, सहीण, वहूण धणं=मालाओं का, पहाड़ों का, गुरु जनों का, सखियों का, वहुओं का धन। तृतीया विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'टा' से सम्बन्धित दो सूत्र पहले कहे गये हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—टो णा, (३-२४) और 'टा-ङस-ङे रदादिदेद्वा तु ङसेः' (३-२९)'; इनकी कार्य-विधि इनकी वृत्ति में बतलाये गये विधान के अनुसार ही समझ लेना चाहिये। तृतीया विभक्ति के बहुवचन के रूपों के निर्माण हेतु जो सूत्र 'भिसो हि हिँ हिं', (३-७) कहा गया है; उसका कार्यातिदेश इन आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग वाले शब्दों के लिए भी प्राप्त होता है, यह ध्यान में रहे। उदाहरण इस प्रकार हैं -मालाभिः, गिरिभिः, गुरुभिः, सखीभिः, वधूभिः कृतम् = मालाहि, गिरीहि, गुरूहि, सहीहि, वहूहि कयं = मालाओं से, पहाड़ों से, गुरु-जनों से, सखियों से, वधुओं से किया गया है। इसी प्रकार से इन शब्दों में 'हिँ' और 'हिं' प्रत्ययों की संप्राप्ति भी तृतीया विभक्ति के बहुवचन के निर्माण हेतु की जाती है। जैसे कि मालाहिँ, मालाहिं, गुरूहिँ, गुरूहिं इत्यादि।

पञ्चमी विभक्ति के एकवचन के रूपों के निर्माण हेतु जो सूत्र—ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः (३-८) कहा गया है, उसका कार्यातिदेश इन आकारान्त, इकारान्त उकारान्त आदि स्त्रीलिंग वाले शब्दों के लिए भी होता है। उदाहरण इस प्रकार है:—मालायाः, बुद्ध्याः, बुद्धेः, धेन्वाः, धेनोः आगतः=मालाओ, मालाउ, मालाहिन्तो बुद्धीओ, बुद्धीउ बुद्धीहिन्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो आगओ=माला से, गाय से, बुद्धि से आया हुआ है। इस सम्बन्ध में सूत्र-संख्या ३-१२६ और ३-१२७ में उल्लिखित नियम का भी ध्यान रखना चाहिये, जैसा कि आगे बतलाया जाने वाला है। तदनुसार 'लुक् प्रत्यय का और हि प्रत्यय का' इन शब्दों के लिये अभाव होता है। सूत्र-संख्या ३-३० के अनुसार आकारान्त शब्दों के लिये पञ्चमी विभक्ति में प्राप्तव्य प्रत्यय 'आ' का भी निषेध होता है।

पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन के रूपों के निर्माण हेतु जो सूत्र—'भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो (३-९)' कहा गया है; उसका कार्यातिदेश इन आकारान्त आदि शब्दों के लिये भी होता है। उदाहरण इस प्रकार है.—मालाभ्यः=मालाहिन्तो, मालासुन्तो, 'मालत्तो मालाओ मालाउ' रूप वृत्ति में प्रदान नहीं किये गये हैं; किन्तु इनका सद्भाव है। केवल 'हि' प्रत्यय का अभाव जानना, जैसा कि सूत्र-संख्या ३-१२७ में इसका निषेध किया जाने वाला है। इसी प्रकार से 'गिरीहिन्तो' आदि रूपों की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिये; ऐसा तात्पर्य प्रतिध्वनित होता है।

षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूपों के निर्माण हेतु जो सूत्र—'ङसः स्सः (३-१०)' कहा गया है; उसका कार्यातिदेश पुल्लिंग और नपुंसकलिंग वाले इकारान्त, उकारान्त आदि शब्दों के लिये भी होता है। उदाहरण इस प्रकार हैं.—गिरेः=गिरिस्स=गिरि का; पहाड़ का; गुरोः=गुरुस्स=गुरुजन का, दध्नः=दहिस्स = दही का; मधुनः=महुस्स = मधु का, इत्यादि। स्त्रीलिंग वाले शब्दों के लिये इस सूत्र-संख्या ३-१०

की कार्यातिदेश की प्राप्ति नहीं होती है; क्योंकि स्त्रीलिंग वाले शब्दों के लिये षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूपों के निर्माण हेतु अलग ही एक अन्य सूत्र-संख्या ३-२६ का विधान किया गया है। जो कि इस प्रकार है:—'टा-ङस्-ङे रदादि देद्वा तु ङसेः।

सप्तमी विभक्ति के एकवचन के रूपों के निर्माण हेतु जो सूत्र 'ङे म्मि' ङे (३-११) का विधान किया गया है; उसका कार्यातिदेश पुल्लिग और नपुंसक लिंग वाले इकारान्त, उकारान्त आदि शब्दों के लिये भी होता है। किन्तु इसमें यह विशेषता रही हुई है कि 'ङे=ए' प्रत्यय का सद्भाव इन शब्दों के लिये नहीं होता है; जैसा कि सूत्र-संख्या ३-१२८ में ऐसा निषेध कर दिया गया है। उक्त सूत्र इस प्रकार है:—'ङे र्डे'। इसी प्रकार से स्त्रीलिंग वाले आकारान्त, इकारान्त उकारान्त आदि शब्दों के लिये भी सप्तमी विभक्ति के एकवचन के रूपों के निर्माण में उक्त सूत्र-संख्या ३-११ का कार्यातिदेश नहीं होता है; किन्तु सूत्र-संख्या ३-२९ की ही कार्य-शीलता उक्त स्त्रीलिंग वाले शब्दों के लिये होती है। पुल्लिग और नपुंसक लिंग वाले शब्दों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—गिरौ=गिरिम्मि=पहाड़ पर अथवा पहाड़ में; गुरौ=गुरुम्मि=गुरुजनों में अथवा गुरुजन पर; दधिन अथवा दधनि=दहिम्मि=दही में अथवा दही पर; मधुनि=महुम्मि=मधु पर अथवा मधु में इत्यादि।

सूत्र-संख्या ३-१२-जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः' के अनुसार प्राप्तव्य ह्रस्व स्वर की दीर्घता का विधान उपरोक्त संबंधित सभी रूपों में होता है; ऐसा जानना चाहिये। क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का दृष्टान्त—गिरयः अथवा गुरवः तिष्ठन्ति=गिरी गुरू चिट्ठन्ति=अनेक पहाड़ अथवा गुरुजन हैं। द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का दृष्टान्त—गिरीन् अथवा गुरून् पश्य=गिरी अथवा गुरू पेच्छ=पहाड़ों को अथवा गुरुजनों को देखो। पंचमी विभक्ति के एकवचन और बहुवचन का दृष्टान्त—गिरेः, गिरिभ्यः, गुरोः, गुरुभ्यः आगतः=गिरीओ गुरूओ आगओ=पहाड़ से, पहाड़ों से, गुरु से, गुरुओं से आया हुआ है। षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का दृष्टान्त—गिरीणाम् गुरूणाम् धनम्=गिरीण, गुरूण धणं=पहाड़ों का गुरुजनों का धन।

सूत्र-संख्या ३-१३ भ्यसि वा' की कार्यातिदेशता की प्राप्ति उपरोक्त आकारान्त, इकारान्त उकारान्त आदि शब्दों के संबंध में नहीं होती है; किन्तु सूत्र संख्या ३-१६ 'इदुतो दीर्घः' को कार्यातिदेशता की प्राप्ति इकारान्त और उकारान्त शब्दों के लिये नित्य होती है; ऐसा विधान वृत्ति में 'नित्यं विधानात' शब्दों द्वारा ग्रन्थकार ने प्रकट किया है। इसी प्रकार से 'टाण-शस्येत् (३-१४)' और 'भिस्भ्यस्सुपि (३-१५)' सूत्रों की कार्यातिदेशता का निषेध आगे सूत्र-संख्या ३-१२६ में प्रकट करके वृत्तिकार यह बतलाते हैं कि आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त आदि शब्दों के अन्त्य स्वर को उपरोक्त विभक्तियों के प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर 'ए' की प्राप्ति नहीं होती है। इस विषयक उदाहरण आगे सूत्र-संख्या ३-१२६ में प्रदान किये गये हैं।

माला संस्कृत प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप माला होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-४ से संस्कृत प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय जस् और शस् का प्राकृत में लोप होकर प्राकृत रूप *माला* सिद्ध हो जाता है।

गिरयः और *गिरीन्* संस्कृत में क्रम से प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के बहुवचनीय पुल्लिंग रूप हैं। इन दोनों का प्राकृत समान रूप गिरी होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१२ से और ३-१८ से मूल प्राकृत रूप गिरि में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय जस् और शस् का प्राकृत में लोप होकर दोनों विभक्तियों के बहुवचन में प्राकृत रूप *गिरी* सिद्ध हो जाता है।

गुरवः और गुरून संस्कृत में क्रम से प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के बहुवचनीय पुल्लिंग रूप हैं। इन दोनों का प्राकृत रूप गुरू होता है। इस में सूत्र-संख्या ३-१२ से और ३-१८ से मूल प्राकृत रूप गुरु में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-४ से संस्कृतीय प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय जस् और शस् का प्राकृत में लोप होकर दोनों विभक्तियों के बहुवचन में प्राकृत रूप *गुरू* सिद्ध हो जाता है।

'*सही*' प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचनान्त रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-२७* में की गई है।

'*वहू*' प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचनान्त रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-२७* में की गई है।

'*रेहन्ति*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-२२* में की गई है।

'*पेच्छ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२३* में की गई है।

'*वा*' अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-६७* में की गई है।

'*गिरिं*' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *१-२३* में की गई है।

गुरुम् संस्कृत द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गुरु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-५ से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम' में स्थित 'अ' का लोप होकर प्राकृत में म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप गुरुं सिद्ध हो जाता है।

सखीम् संस्कृत द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप सहिं होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१८७ से 'ख्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति, ३-३६ से प्राप्त रूप 'सही' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप सहिं सिद्ध हो जाता है।

'वहुं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-३६ मे की गई है।

ग्रामण्यम् संस्कृत द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त विशेषणात्मक पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गामणिं होता है। इसमे सूत्र-संख्या २-७६ से मूल संस्कृत रूप ग्रामणी में स्थित 'र्' व्यञ्जन का लोप; ३-४३ से प्राप्त रूप गामणी मे स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *गामणिं* सिद्ध हो जाता है।

खलप्वम् संस्कृत द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त विशेषणात्मक पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप खलपुं होता है। इसमे सूत्र-संख्या ३-४३ से मूल रूप खलपू में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्राकृत मे 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *खलपुं* सिद्ध हो जाता है।

'पेच्छ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

हाहा संस्कृत तृतीया विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप हाहाण होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा = आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *हाहाण* सिद्ध हो जाता है।

'कयं' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है।

मालानाम् संस्कृत षष्ठी विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप मालाण होता है इसमें सूत्र-संख्या ३-६ से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' (=नाम्) के स्थान पर प्राकृत मे 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *मालाण* सिद्ध हो जाता है।

गिरीणाम् संस्कृत षष्ठी विभक्ति का बहुवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरीण होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१२ से मूल प्राकृत शब्द गिरि में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे षष्ठी बहुवचनात्मक प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्त रूप गिरि मे षष्ठी विभक्ति के बहुवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम् = णाम्' के स्थान पर प्राकृत 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गिरीण* रूप सिद्ध हो जाता है।

गुरूणाम् संस्कृत षष्ठी विभक्ति का बहुवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गुरूण होता है। इसमें भी उपरोक्त गिरीण रूप के समान ही सूत्र-संख्या ३-१२ और ३-६ से क्रम से अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति एवं षष्ठी बहुवचनार्थ में प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गुरूण* रूप सिद्ध हो जाता है।

सखीनाम् संस्कृत षष्ठी विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप सहीण होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ख्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्त रूप सही में षष्ठी विभक्ति के बहुवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम् = नाम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *सहीण* सिद्ध हो जाता है।

वधूनाम् संस्कृत षष्ठी विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप वहूण होता है। इसमें भी उपरोक्त सहीण रूप के समान ही सूत्र-संख्या १-१८७ और ३-६ से क्रम से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और षष्ठी बहुवचनार्थ में प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वहूण* रूप सिद्ध हो जाता है।

'धणं' संज्ञा रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है।

मालाभिः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप मालाहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय भिस् के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *मालाहि* सिद्ध हो जाता है।

गिरिभिः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरीहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से मूल प्राकृत शब्द गिरि में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे तृतीया बहुवचनान्त प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय भिस् के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *गिरीहि* सिद्ध हो जाता है।

गुरुभिः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गुरूहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६ से मूल शब्द गुरु में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के आगे तृतीया बहुवचनान्त प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गुरूहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

सखीभिः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप सहीहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ख्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *सहीहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

वधूभिः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप वहूहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति और ३-७ से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वहूहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१७६ मे की गई है ।

मालायाः संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का एकवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसके प्राकृत रूप मालाओ, मालाउ, मालाहिन्तो होते हैं। इनमे सूत्र-संख्या ३-८ से और ३-१२४ के निर्देश से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस=याः' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ओ, उ, हिन्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से प्राकृतीय रूप *मालाओ, मालाउ, मालाहिन्तो* सिद्ध हो जाते हैं।

बुद्धयाः संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का एकवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसके प्राकृत रूप बुद्धीओ बुद्धीउ, बुद्धीहिन्तो होते हैं। इनमे सूत्र-संख्या ३-१२ से मूल शब्द बुद्धि में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे पञ्चमी विभक्ति के एकवचनान्त प्रत्ययो का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-८ से और ३-१२४ के निर्देश से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्=अस्=आस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ओ, उ, हिन्तो' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से प्राकृतीय रूप *बुद्धीओ, बुद्धीउ बुद्धीहिन्तो*, सिद्ध हो जाते हैं।

'*धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो*' रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२९ में की गई है।

'*आगओ*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है ।

मालाभ्यः संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसके प्राकृत रूप मालाहिन्तो, मालासुन्तो होते है। इनमें सूत्र-संख्या ३-९ से पंचमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय भ्यस् के स्थान पर प्राकृत मे क्रम से हिन्तो, सुन्तो प्रत्ययों की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *मालाहिन्तो, माला सुन्तो* क्रम से सिद्ध हो जाते है।

गिरिभ्यः संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का बहुवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरीहिन्तो होता है। इनमें सूत्र-संख्या ३-१६ से मूल रूप गिरि में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' को दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-९ से पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय भ्यस् के स्थान पर प्राकृत में हिन्तो प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *गिरीहिन्तो* सिद्ध हो जाता है।

'*गिरिस्स*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२३ मे की गई है।

गुरोः संस्कृत षष्ठी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गुरुस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१० से और ३-१२४ के निर्देश से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गुरुस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

दध्नः संस्कृत षष्ठी विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप दहिस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत रूप दधि मे स्थित 'ध' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१० से और ३-१२४ के निर्देश से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय

प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस' के स्थान पर प्राप्त प्राकृत रूप दहि में स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दहिस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

मुखस्य संस्कृत षष्ठी विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप मुहस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ख' के स्थान पर 'ह' प्राप्ति तत्पश्चात् ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मुहस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

गिरौ संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गिरिम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११ से और ३-१२४ के निर्देश से मूल प्राकृत रूप गिरि में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यक 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूत *गिरिम्मि* सिद्ध हो जाता है।

गुरौ संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप गुरुम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११ से और ३-१२४ के निर्देश से उपरोक्त गिरिम्मि रूप के समान ही 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गुरुम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

दध्नि अथवा दधनि संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप *दहिम्मि* होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत शब्द दधि में स्थित 'ध्' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत में 'ह् व्यञ्जन की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-११ से और ३-१२४ के निर्देश से प्राप्त प्राकृत रूप दहि में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दहिम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

मधुनि संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप महुम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत शब्द मधु में स्थित 'ध्' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत में ह्' व्यञ्जन की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-११ से और ३-१२४ के निर्देश से उपरोक्त प्राकृत रूप दहिम्मि के समान ही 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *महुम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*गिरी*' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१९ में की गई है।

गुरू प्रथमा बहुवचनान्त रूप की सिद्धि इसी सूत्र ३-१२४ में ऊपर की गई है।

चिट्ठन्ति क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० की गई है।

गिरीओ रूप की सिद्धि एकवचनान्त अवस्था में तो सूत्र-संख्या ३-१२ में की गई है; तथा बहुवचनान्त अवस्था में सूत्र-संख्या ३-१६ में की गई है।

गुरोः और *गुरुभ्यः* क्रम से संस्कृत पञ्चमी विभक्ति के एकवचनान्त और बहुवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इन दोनों का प्राकृत रूपान्तर एक जैसा ही—(समान रूप ही) गुरूओ होता है। इसमें सूत्र-

संख्या ३-१२ से और ३-१६ से क्रम से एकवचन में और बहुवचन में मूल शब्द गुरु में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति; तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-८ से और ३-६ से तथा ३-१२४ के निर्देश से प्राप्त प्राकृत रूप 'गुरु' में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'दो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति एवं इसी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर भी 'दो = ओ' प्रत्यय को प्राप्ति होकर दोनों वचनों में समान स्थिति वाला प्राकृतीय रूप गुरूओ सिद्ध हो जाता है।

आगओ क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

'*गिरीण*' रूप की सिद्धि इसी सूत्र ३-१२४ में ऊपर की गई है।

'*गुरूण*' रूप की सिद्धि इसी सूत्र ३-१२४ में ऊपर की गई है।

'*धणं*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५० में की गई है। १२४॥

न दीर्घो णो ॥ ३–१२५ ॥

इदुदन्तयोरर्थाज्जस्-शस् ङस्यादेशे णो इत्यस्मिन् परतो दीर्घो न भवति ॥ अग्गिणो। वाउणो ॥ णो इति किम् अग्गी। अग्गीओ ॥

अर्थः—इकारान्त उकारान्त शब्दों में सूत्र संख्या ३-२२ के अनुसार प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में संस्कृती प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर प्राकृत में 'नो' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर इन शब्दों में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' अथवा 'उ' को दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार से सूत्र-संख्या ३-२३ के अनुसार इन्हीं इकारान्त और उकारान्त शब्दों में पंचमी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'नो' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' अथवा 'उ' को दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं होती है। उदाहरण इस प्रकार है:- अग्नयः= अग्गिणो; अग्नीन् = अग्गिणो। वायवः= वाउणो; वायून = वाउणो पंचमी विभक्ति के एक वचन के उदाहरण इस प्रकार है:- अग्नेः = अग्गिणो और वायोः = वाउणो; इत्यादि।

प्रश्नः— उक्त विभक्तियों में और उक्त शब्दों में 'नो' प्रत्यय का सद्भाव होने पर अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति नही होती; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः— क्योंकि यदि उक्त विभक्तियों मे 'नो' प्रत्यय का सद्भाव नहीं होकर अन्य प्रत्ययों का का सद्भाव होगा ऐसी दशा में इकारान्त और उकारान्त शब्दों में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घता की प्राप्ति हो जाती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:- अग्नयः= अग्गी; अग्नीन्; = अग्गी; अग्नेः = अग्गीओ 'वायवः= वाऊ; वायून् = वाऊ; वायोः = वाऊओ; आदि।

'*अग्गिणो*' *वाउणो*' और '*अग्गी*, रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है।

अग्नेः संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का एक वचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप अग्गिओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से मूल शब्द 'अग्नि' में स्थित 'न्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'न्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ग्' को द्वित्व 'ग्ग्' की प्राप्ति; ३-१२ से और ३-१२४ के निर्देश से प्राप्त रूप 'अग्गि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे पचमी विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ 'ई' की प्राप्ति और ३-८ से तथा ३-१२४ से प्राप्त प्राकृत रूप 'अग्गी' में पचमी विभक्तिके एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'दो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अग्गीओ* रूप सिद्ध हो जाता है। १२५ ॥

ङसे लुंक् ॥ ३-१२६ ॥

आकारान्तादिभ्योदन्तवत् प्राप्तो ङसेर्लुग् न भवति ॥ मालत्तो। मालाओ। मालाउ। मालाहिन्तो आगओ। एवं अग्गीओ। वाउओ। इत्यादि ॥

अर्थः—प्राकृत में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में अकारान्त शब्दों के समान ही सूत्र-संख्या ३-१२४ के निर्देश से आकारान्त, इकारान्त उकारान्त पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग शब्दों में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में सूत्र-संख्या ३-८ से प्राप्तव्य प्रत्यय 'त्तो, दो, दु, हिन्तो' का लोप नहीं हुआ करता है। उदाहरण इस प्रकार है.—मालया' आगतः=मालत्तो, मालाओ, मालाउ माला हिन्तो आगओ। इसी प्रकार से इकारान्त, उकारान्त शब्दों के उदाहरण यों हैं.—अग्नेः=अग्गीओ=अग्नि से इत्यादि। वायो.=वाऊओ=वायु से इत्यादि।

मालायाः संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त स्त्रीलिंग रूप। इसके प्राकृत रूप मालत्तो, मालाओ, मालाउ, मालाहिन्तो होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र संख्या १-८४ से मूल शब्द माला में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-८ से और ३-१२४ के निर्देश से तथा ३-१२६ के विधान से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में त्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *मालत्तो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'मालाओ, मालाउ, मालाहिन्तो' रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२४ में की गई है।

'आगओ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

'अग्गीओ' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१२५ में की गई है।

वायो' संस्कृत पञ्चमी एकवचनान्त पुल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप वाऊओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल शब्द 'वायु' में स्थित 'य्' व्यञ्जन का लोप; ३-१२ से प्राप्त रूप 'वाउ' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थान पर पञ्चमी एकवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति, तत्पश्चात् ३-८ से प्राप्त रूप वाऊ में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'दो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वाऊओ* रूप सिद्ध हो जाता है। १२६ ॥

भ्यसश्च हिः ॥ ३–१२७ ॥

आकारान्तादिभ्यो दन्तवत् प्राप्तो भ्यसो ङसेश्च हिर्न भवति ॥ मालाहिन्तो । मालासुन्तो । एवं अग्गीहिन्तो । इत्यादि ॥ मालाओ । मालाउ । मालाहिन्तो ॥ एवं अग्गीओ । इत्यादि ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा के पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में और बहुवचन में अकारान्त शब्दों के समान ही सूत्र-संख्या ३-१२४ के निर्देश से आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग शब्दों में क्रम से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि = अस्' और 'भ्यस्' के स्थान पर प्राकृत में सूत्र-संख्या ३ ८ से प्राप्तव्य प्रत्यय 'त्तो, दो, दु, हि हिन्तो' और ३-९ से 'त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो, सुन्तो' में से 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है। उदाहरण इस प्रकार है:—मालायाः=मालाओ, मालाउ, मालाहिन्तो= माला से; इत्यादि। मालाभ्यः=मालाहिन्तो, मालासुन्तो = मालाओं से; इत्यादि। अग्निभ्यः=अग्गीहिन्तो =अग्नियों से; इत्यादि। अग्नेः = अग्गीओ = अग्नि से; इत्यादि ॥

'मालाहिन्तो' और *मालासुन्तो* रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२४ में की गई है।

अग्निभ्यः संस्कृत पञ्चमी बहुवचनान्त पुंलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप अग्गीहिन्तो होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से मूल शब्द 'अग्नि' में स्थित 'न्' व्यञ्जन का लोप; २-८९ से लोप हुए 'न्' व्यञ्जन के पश्चात शेष रहे हुए 'ग' को द्वित्व 'ग्ग्' की प्राप्ति; ३-१६ से प्राप्त रूप 'अग्गि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-९ से तथा ३-१२४ के निर्देश से प्राप्त रूप अग्गी में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में प्राकृत में 'हिन्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अग्गीहिन्तो* रूप सिद्ध हो जाता है

'मालाओ' *'मालाउ'* और *'मालाहिन्तो'* रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२४ में की गई है।

अग्गीओ रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२५ मे की गई है। ॥ १२७ ॥

ङे र्डेः ॥ ३–१२८ ॥

आकारान्तादिभ्यो दन्तवत् प्राप्तो ङेर्डे न भवति ॥ अग्गिम्मि । वाउम्मि । दहिम्मि । महुम्मि ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा के सप्तमी विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-११ के अनुसार अकारान्त शब्दों में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्त होने वाले 'डे=ए' की प्राप्ति आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त शब्दों में नहीं हुआ करती है। इन आकारान्तादि शब्दों में सूत्र-संख्या ३-१२४ के निर्देश से केवल एक प्रत्यय 'म्मि' की ही सप्तमी विभक्ति के एकवचन मे प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार है:—अग्नौ=अग्गिम्मि=अग्नि में; वायौ=वाउम्मि; दध्नि अथवा दधनि=दहिम्मि=दही में और मधुनि=महुम्मि =मधु में; इत्यादि।

अग्नौ संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप अग्गिम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से मूल शब्द अग्नि में स्थित 'न्' व्यञ्जन का लोप; २-८९ से लोप हुए 'न्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ग्' व्यञ्जन को द्वित्व 'ग्ग्' की प्राप्ति; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-११ से और ३-१२४ के निर्देश से प्राप्त रूप अग्गि में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अग्गिम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

वायौ संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप वाउम्मि होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल शब्द वायु में स्थित 'य्' व्यञ्जन का लोप; तत्पश्चात् प्राप्त रूप वाउ में सूत्र-संख्या ३-११ से और ३-१२४ के निर्देश से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'म्मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वाउम्मि* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*दहिम्मि*' और '*महुम्मि*' रूपों की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१२४ में की गई है। १२८।

एत् ॥ ३-१२९ ॥

आकारान्तादीनामर्थात् टा-शस्-भिस्-भ्यस्-सुप्सु परतो दन्तवत् एत्वं न भवति ॥ हाहाण कयं ॥ मालाओ पेच्छ ॥ मालाहि कयं ॥ मालाहिन्तो । मालासुन्तो आगओ ॥ मालासु ठिअं ॥ एवं अग्गिणो । वाउणो । इत्यादि ॥

अर्थः—अकारान्त शब्दों में तृतीया विभक्ति के एकवचन में, द्वितीया विभक्ति के एकवचन में, तृतीया विभक्ति के बहुवचन में, पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में सूत्र-संख्या ३-१४ से तथा ३-१५ से उक्त विभक्तियों से संबंधित प्रत्ययों की प्राप्ति के पूर्व अकारान्त शब्दों में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर जैसे 'ए' स्वर की प्राप्ति हो जाती है, वैसी 'ए' की प्राप्ति इन आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त आदि पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग शब्दों में स्थित अन्त्य स्वर 'आ, इ, उ' आदि के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-१२४ के निर्देश से उक्त विभक्तियों के प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर नहीं हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैं—हाहा कृतम्=हाहाण कयं = गन्धर्व से अथवा देव से किया गया है, इस उदाहरण में आकारान्त शब्द हाहा में तृतीया विभक्ति से संबंधित 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर भी अकारान्त शब्द 'वच्छ + ण = वच्छेण' के समान शब्दान्त्य स्वर 'आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति नहीं हुई है। माला पश्य = मालाओ पेच्छ=मालाओं को देखो, इस उदाहरण में आकारान्त शब्द 'माला' में द्वितीया विभक्ति से संबंधित 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर भी अकारान्त शब्द 'वच्छ + (शस्=) लुक्'=वच्छे के समान शब्दान्त्य स्वर 'आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति नहीं हुई है। मालाभिः कृतम्=मालाहि कयं = मालाओं से किया हुआ है, इस दृष्टान्त में भी 'अन्त्य स्वर आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति नहीं हुई है। मालाभ्यः आगतः=मालाहिन्तो, मालासुन्तो



आगओ=मालाओं से आया हुआ है। इस पञ्चमी बहुवचनान्त उदाहरण में भी 'वच्छेहिन्तो, वच्छेसुन्तो' के समान अन्त्य स्वर 'आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति नहीं हुई है। मालासु स्थितम्=मालासु ठिअं =मालाओं पर रक्खा हुआ है। इसमें भी वच्छेसु के समान अन्त्य स्वर 'आ' स्थान पर 'ए' प्राप्ति नहीं हुई है। इसी प्रकार से इकारान्त, उकारान्त शब्दों का एक एक उदाहरण इस प्रकार है:— अग्नीन्=अग्गिणो=अग्नियों को; इस उदाहरण में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'वच्छे' के समान अग्नि=अग्गि-शब्दान्त्य स्वर 'इ' के स्थान पर 'ए' का सद्भाव नहीं हुआ है। वायून=वाउणो= वायुओं को; इसमें भी 'वच्छे' के समान द्वितीया बहुवचनात्मक प्रत्यय का सद्भाव होने पर भी वायु=वाउ-शब्दान्त्य स्वर 'उ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति नहीं हुई है। यों अन्य उदाहरणों की कल्पना स्वयमेव कर लेना चाहिये; ऐसा संकेत वृत्तिकार ने वृत्ति में प्रदत्त शब्द 'इत्यादि' से किया है।

'हाहाण' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२४ में की गई है।

'कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है।

'मालाओ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२७ में की गई है।

'पेच्छ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२३ में की गई है।

'मालाभि' संस्कृत तृतीया बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप मालाहि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-७ से तथा ३-१२४ के निर्देश से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर प्राकृत में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मालाहि* रूप सिद्ध हो जाता है।

कयं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१२६ में की गई है।

'मालाहिन्तो और *मालासुन्तो'* रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२७ में की गई है।

'आगओ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०९ में की गई है।

मालासु संस्कृत सप्तमी बहुवचनान्त स्त्रीलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप भी मालासु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्=सु के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मालासु* रूप सिद्ध हो जाता है।

'ठिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१६ में की गई है।

'अग्गिणो और *वाउणो'* रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-२० में की गई है। ३-१२९॥

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ ३-१३० ॥

सर्वासां विभक्तीनां स्यादीनां त्यादीनां च द्विवचनस्य स्थाने बहुवचनं भवति ॥ दोण्णि कुणन्ति। दुवे कुणन्ति। दोहिं। दोहिन्तो। दोसुन्तो। दोसु। हत्था। पाया। थणया। नयणा।

अर्थः—सभी प्रकार के शब्दों में सभी विभक्तियों के प्रत्ययों की संयोजना होने पर संस्कृतीय प्राप्तव्य द्विवचन के प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में बहुवचन के प्रत्ययों की प्राप्ति हुआ करती है। इसी प्रकार से सभी धातुओं में सभी प्रकारों के अथवा काल के प्रत्ययों की संयोजना होने पर संस्कृतीय प्राप्तव्य द्विवचन-बोधक प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में बहुवचन के प्रत्ययों की प्राप्ति हुआ करती है। प्राकृत-भाषा में संस्कृत-भाषा के समान द्विवचन-बोधक प्रत्ययों का अभाव है; तदनुसार द्विवचन के स्थान पर प्राकृत में बहुवचन का ही प्रयोग हुआ करता है। यह सर्व सामान्य नियम सभी शब्दों के लिये तथा सभी धातुओं के लिये समझना चाहिये। इस सिद्धान्तानुसार प्राकृत में केवल दो ही वचन हैं: एकवचन और बहुवचन के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—द्वौ अथवा द्वे कुरुत = दोण्णि कुणन्ति = दो करते हैं। इस उदाहरण में यह प्रदर्शित किया गया है कि संस्कृत में कुरुतः क्रियापद रूप द्विवचनात्मक है; जबकि प्राकृत में कुणन्ति क्रिया पद रूप बहुवचनात्मक है; यह स्थिति बतलाती है कि प्राकृत में द्विवचन का अभाव होकर उसके स्थान पर बहुवचन की ही प्राप्ति होती है। द्वौ अथवा द्वे कुरुतः = दुवे कुणन्ति = वे दो दो (कामों) को करते है। इस उदाहरण में 'द्वौ अथवा द्वे' पद द्वि वचनात्मक एवं द्वितीया विभक्ति वाले हैं; जबकि इनका प्राकृत रूपान्तर 'दुवे' पद बहुवचनात्मक और द्वितीया विभक्ति वाला है। कुरुत क्रिया पद संस्कृत में द्विवचनात्मक है; जबकि प्राकृत में इसका रूपान्तर बहुवचनात्मक है। अन्य दृष्टान्त इस प्रकार हैं:—

विभक्ति-संस्कृत द्विवचनात्मक		*प्राकृत बहुवचनात्मक*
तृतीया-द्वाभ्याम्		दोहिं = दो से।
पंचमी-द्वाभ्याम्	=	दोहिन्तो; दो सुन्तो = दो से।
सप्तमी द्वयो	=	दोसु = दो में, दो पर।
प्रथमा-हस्तौ	=	हत्था = दो हाथ।
द्वितीया-हस्तौ	=	हत्था = दो हाथों को।
प्रथमा-पादौ	=	पाया = दो पैर।
द्वितीया-पादौ	=	पाया = दो पैरों को।
प्रथमा-स्तनकौ	=	थणया = दो स्तन।
द्वितीया-स्तनकौ	=	थणया = दोनों स्तनों को।
प्रथमा-नयने (नपुं)	=	नयणा (पुं०) = दो आंखे।
द्वितीया-नयने (नपुं)	=	नयणा (पु ०) = दोनों आंखों को।

यों संस्कृत भाषा की अपेक्षा से प्राकृत-भाषा में रहे हुए वचन-संबंधी अन्तर को समझ लेना चाहिये।

'*दोण्णि*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१२०* में की गई है।

कुरुतः संस्कृत वर्तमानकालीन द्विवचनात्मक प्रथम-पुरुष का क्रियापद रूप है। इसका प्राकृत रूपान्तर कुणन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६५ से संस्कृतीय मूल धातु डुकृञ्‌=कृ के स्थान पर प्राकृत में 'कुण' आदेश की प्राप्ति; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग की प्राप्ति और ३-१४२ से वर्तमान काल में प्रथम पुरुष के बहुवचनार्थ में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *कुणन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*दुवे*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२० में की गई है।

'*कुणन्ति*' क्रियापद रूप की सिद्धि इसी सूत्र में ऊपर की गई है।

द्वाभ्याम् संस्कृत तृतीया विभक्ति का द्विवचनात्मक संख्या रूप विशेषण-पद है। इसका प्राकृत रूप दोहिं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११९ से संस्कृत के मूल शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में 'दो' रूप की आदेश-प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-७ से और ३-१२४ के निर्देश से तथा ३-१३० के विधान से प्राकृतीय प्राप्त रूप 'दो' में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्याम्' के स्थान पर 'हिं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*दोहिं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*दोहिन्तो*' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३.११९ में की गई है।

द्वाभ्याम् संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का द्विवचनात्मक संख्या रूप विशेषण-पद है। इसका प्राकृत रूप दोसुन्तो है। इसमें सूत्र-संख्या ३-११९ से संस्कृत के मूल शब्द 'द्वि' के स्थान पर प्राकृत में 'दो' रूप की आदेश-प्राप्ति; तत्पश्चात ३-९ से और ३-१२४ के निर्देश से तथा ३-१३० के विधान से प्राकृतीय प्राप्त रूप 'दो' में पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्याम्' के स्थान पर 'सुन्तो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*दोसुन्तो*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*दोसु*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-११९ में की गई है।

हस्तौ संस्कृत की प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का पुंल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप हत्था होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-४५ से 'स्त' के स्थान पर 'थ' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'थ' को द्वित्व 'थ्थ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'थ्' के स्थान पर 'त्' की प्राप्ति; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग की आदेश प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्त शब्द 'हत्था' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में क्रम से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'औ' तथा 'औट्' के स्थान पर प्राकृत में ३-१३० से आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का लोप होकर *हत्था* रूप सिद्ध हो जाता है।

पादौ संस्कृत की प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का पुंल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप पाया होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल शब्द पाद में स्थित 'द्' व्यञ्जन का लोप; १-१८०

से लोप हुए द् व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' स्वर के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग की आदेश-प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्त शब्द 'पाय' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर प्रथमा-द्वितीया-विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में क्रम से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'औ' तथा 'औट्' के स्थान पर प्राकृत में ३-१३० के निर्देश से आदेश प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का लोप होकर *पाया* रूप सिद्ध हो जाता है।

स्तनकौ संस्कृत की प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप थणया होता है। इसमें सूत्र संख्या-२-४५ से 'स्त' के स्थान पर 'थ' की प्राप्ति; १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति, १-१७७ से स्वार्थक प्रत्यय 'क' का लोप, १-१८० से लोप हुए 'क्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'औ' में स्थित 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति, ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग की आदेश प्राप्ति; ३-१२ से मूल संस्कृत शब्द 'स्तनक' से प्राप्त प्राकृत शब्द 'थणय' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में क्रम से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'औ' एवं 'औट्' के स्थान पर प्राकृत में ३-१३० के निर्देश से आदेश प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का लोप होकर *थणया* रूप सिद्ध हो जाता है।

नयने संस्कृत की प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप नयणा होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से मूल संस्कृत शब्द 'नयन' में स्थित द्वितीय 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति, १-३३ से प्राकृत में प्राप्त शब्द 'नयण' को नपुंसकलिंगत्व से पुल्लिंगत्व की प्राप्ति, ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग की आदेश-प्राप्ति, ३-१२ से प्राप्त प्राकृत शब्द 'नयण' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्ययों का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में क्रम से प्राप्तव्य नपुंसकलिंग बोधक प्रत्यय 'ई' के स्थान पर प्राकृत में ३-१३० के निर्देश से तथा १-३३ के विधान से आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'जस्-शस्' का लोप होकर *नयणा* रूप सिद्ध हो जाता है। १३०॥

चतुर्थ्याः षष्ठी ॥ ३-१३१ ॥

चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति ॥ मुणिस्स । मुणीण देइ ॥ नमो देवस्स । देवाण ॥

अर्थ—प्राकृत-भाषा में चतुर्थी विभक्ति बोधक प्रत्ययों का अभाव होने से चतुर्थी विभक्ति की संयोजना के लिये षष्ठी विभक्ति में प्रयुज्यमान प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। तदनुसार चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का सद्भाव होकर संदर्भ के अनुसार चतुर्थी का अर्थ निकाल लिया जाता है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—मुनये=मुणिस्स = मुनि के लिये। मुनिभ्यः ददते = मुणीण देइ = मुनियों के लिये



देता है। नमो देवाय = नमो देवस्स=देवता के लिये नमस्कार हो। देवेभ्यः = देवाण=देवताओं के लिये। इन दृष्टान्तों से प्रतीत होता है कि षष्ठी विभक्ति के एकवचन के अथवा बहुवचन के प्रत्यय का प्रयोग प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में और बहुवचन मे क्रम से होता है।

मुनये संस्कृत चतुर्थी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप मुणिस्स होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-२२८ से मूल संस्कृत शब्द मुनि में स्थित 'न्' व्यञ्जन के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति की आदेश-प्राप्ति; ३-१० से प्राकृत में प्राप्त रूप मुणि में चतुर्थी विभक्ति के स्थानीय षष्ठी विभक्ति-बोधक प्रत्यय 'स्स' की प्राप्ति होकर *मुणिस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

मुनिभ्यः संस्कृत चतुर्थी विभक्ति का बहुवचनान्त पुंल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप मुणीण होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से मुनि में स्थित 'न्' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति की आदेश-प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्त प्राकृत रूप मुणि में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के स्थान पर आगे चतुर्थी विभक्ति के स्थानीय षष्ठी विभक्ति-बोधक बहुवचनात्मक प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-६ से प्राप्त प्राकृतीय रूप मुणी में चतुर्थी विभक्ति के स्थानीय षष्ठी विभक्ति बोधक बहुवचनात्मक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मुणीण* रूप सिद्ध हो जाता है।

'देइ' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१०६ मे की गई है।

'*नमो*' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४६ में की गई है।

देवाय संस्कृत चतुर्थी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप देवस्स होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; ३-१० से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *देवस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

देवेभ्यः संस्कृत चतुर्थी विभक्ति का बहुवचनान्त पुंल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप देवाण होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; ३-१२ से देव शब्द में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर चतुर्थी विभक्ति के स्थानीय षष्ठी विभक्ति-बोधक बहुवचनात्मक प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-६ से प्राप्त प्राकृत रूप देवा में चतुर्थी विभक्ति के स्थानीय षष्ठी विभक्ति बोधक बहुवचनात्मक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *देवाण* रूप सिद्ध हो जाता है। १३१ ॥

तादर्थ्य ङे र्वा ॥ ३–१३२ ॥

तादर्थ्यविहितस्य ङेश्चतुर्थ्येकवचनस्य स्थाने षष्ठी वा भवति ॥ देवस्स । देवाय । देवार्थमित्यर्थः ॥ ङेरिति किम् । देवाण ॥

अर्थः—तादर्थ्य अथात् उसके लिये अथवा उपकार्य उपकारक अर्थ में प्रयुक्त की जाने वाली चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङे=ए' के स्थानीय संस्कृतीय रूप 'आय' की प्राप्ति प्राकृत शब्दों में वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। तदनुसार प्राकृत-शब्दों में चतुर्थी विभक्ति एकवचन में कभी षष्ठी विभक्ति के एकवचन की प्राप्ति होती है तो कभी संस्कृतीय चतुर्थी विभक्ति के समान ही 'आय' प्रत्यय की प्राप्ति भी हुआ करती है। परन्तु मुख्यतः और अधिकांशतः प्राकृत-शब्दों में चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय की ही प्राप्ति होती है। उदाहरण यों हैः—देवार्थम्=देवाय अथवा देवस्स अर्थात् देवता के लिये।

प्रश्नः—मूल सूत्र में चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में प्रत्यय 'ङे' का उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः—क्योंकि चतुर्थी विभक्ति में दो वचन होते हैं। एकवचन और बहुवचन, तदनुसार प्राकृत शब्दों में केवल चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में ही वैकल्पिक रूप से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आय' की प्राप्ति होती है; न कि संस्कृतीय बहुवचनात्मक प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' की; बहुवचन में तो षष्ठी विभक्ति में प्राप्तव्य प्राकृत प्रत्यय की ही प्राप्ति होती है। इस अन्तर को प्रदर्शित करने के लिये ही 'ङे' प्रत्यय की सूचना मूल-सूत्र में प्रदान की गई है। उदाहरण इस प्रकार है-देवेभ्यः=देवाण अर्थात् देवताओं के लिये। यहाँ पर 'देवाण' में 'ण' प्रत्यय षष्ठी बहुवचन का है; जोकि चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यों यह विधान निर्धारित किया गया है कि प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन में और षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में समान रूप से ही प्राकृत प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है। अन्तर है तो केवल एकवचन में ही है और वह भी वैकल्पिक रूप से है। नित्य रूप से नहीं।

देवार्थम् संस्कृत तादर्थ्य-सूचक चतुर्थी विभक्ति का एकवचनान्त रूप है। इसके प्राकृत रूप देवस्स और देवाय होते हैं। इनमें से प्रथम रूप *देवस्स* की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१३१ में की गई है। द्वितीय रूप में सूत्र-संख्या ३-१३२ से संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङे=ए=आय' की प्राप्ति होकर *देवाय* रूप सिद्ध हो जाता है।

देवाण' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१३१ में की गई है। १३२ ॥

वधाड्डाइश्च वा ॥ ३–१३३ ॥

वध शब्दात् परस्य तादर्थ्यङे र्डिद् आइः षष्ठी च वा भवति ॥ वहाइ वहस्स वहाय। वधार्थमित्यर्थः ॥

अर्थः—संस्कृत में 'वध' एक शब्द है; जिसका प्राकृत रूप 'वह' होता है। इस 'वह' शब्द के लिये चतुर्थी के एकवचन में 'तादर्थ्य' = 'उसके लिये' इस अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आय' की प्राप्ति के अतिरिक्त षष्ठी विभक्ति के एकवचन मे प्राकृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'स्स' के साथ साथ एक और प्रत्यय 'आइ' की प्राप्ति भी वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। यों 'वधार्थम्' के तीन रूप प्राकृत भाषा में बन जाया करता हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—वधार्थम्=वहाइ, वहस्स, वहाय अर्थात् वध के लिये; मारने के लिये। यह ध्यान में रहे कि इन रूपों की यह स्थिति वैकल्पिक है; जैसा कि सूत्र म और वृत्ति में 'वा' अव्यय का उल्लेख करके सूचित किया गया है।

वधार्थम् संस्कृत तादर्थ्य-सूचक चतुर्थी विभक्ति का एक वचनान्त रूप है। इसके प्राकृत रूप वहाइ, वहस्स और वहाय होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत शब्द 'वध' में स्थित 'ध' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति; ३-१३३ से चतुर्थी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङे' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'आइ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति; १-१० से प्राकृतीय प्राप्त शब्द 'वह' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे 'आइ' प्रत्यय का 'आ' रहने से लोप; तत्पश्चात् १-५ से प्राप्त रूप 'वह + आइ' में संधि होकर प्रथम रूप वहाइ सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप 'वहस्स' मे सूत्र-संख्या ३-१३१ से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश प्राप्ति तदनुसार ३-१० से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय "ङस् = अस्" के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *वहस्स* की सिद्धि हो जाती है। तृतीय रूप वहाय मे सूत्र-संख्या ३-१३२ से चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङे = ए = आय' को प्राकृत में वैकल्पिक रूप से प्राप्ति; तत्पश्चात १-५ से संधि होकर तृतीय रूप *वहाय* सिद्ध हो जाता है। १३३ ॥

क्वचिद् द्वितीयादेः ॥ ३-१३४ ॥

द्वितीयादीनां विभक्तीनां स्थाने षष्ठी भवति क्वचित् ॥ सीमा-धरस्स वन्दे। तिस्सा मुहस्स भरिमो। अत्र द्वितीयायाः षष्ठी ॥ धणस्स लद्धो। धनेन लब्ध इत्यर्थः। चिरस्स मुक्का। चिरेण मुक्तेत्यर्थः। तेसिमेअमणाइण्णं। तैरेतदनाचरितम्। अत्र तृतीयायाः ॥ चोरस्स बीहइ। चोराद्बिभेतीत्यर्थः। इअराइं जाण लहु अक्खराइं पायन्ति मिल्ल सहिआण। पादान्तेन सहितेभ्य इतराणीति। अत्र पञ्चम्याः ॥ पिट्ठीए केस-भारो। अत्र सप्तम्याः ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा में कभी कभी अनियमित रूप से उपयुक्त विभक्तियों के स्थान पर किसी अन्य विभक्ति का प्रयोग भी हो जाया करता है। तदनुसार द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी और सप्तमी विभक्ति

के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता हुआ देखा जाता है। ऐसी स्थिति कभी कभी और कहीं कहीं पर ही होती है; नित्य और सर्वत्र ऐसा नहीं होता है। द्वितीया के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग के उदाहरण यों हैं:—सीमाधरं वन्दे=सीमाधरस्स वन्दे=मैं सीमाधर को वंदना करता हूं; तस्याः मुखम् स्मरामः=तिस्सा मुहस्स भरिमो=हम उसके मुख को स्मरण करते हैं। तृतीया के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग के दृष्टान्त इस प्रकार हैं—धनेन लब्धः=धणस्स लद्धो=धन से वह प्राप्त हुआ है; चिरेण मुक्ता=चिरस्स मुक्का=चिर काल से वह मुक्त हुई है; तैः एतत् अनाचरितम्=तेसिं एअम् अणाइण्णं=उनके द्वारा यह आचरित नहीं हुआ है, इन उदाहरणों में धनेन के स्थान पर धणस्स का, चिरेण के स्थान पर चिरस्स का और तैः के स्थान पर तेसिं का प्रयोग यह बतलाता है कि तृतीया के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। पञ्चमी के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग के उदाहरण निम्न प्रकार से हैं:—चोरात् बिभेति=चोरस्स बीहइ=वह चोर से डरता है; इतराणि लघु अक्षराणि येभ्यः पादान्तेन सहितेभ्यः=इअराइं लहुअक्खराइं जाण पायन्ति-मिल्ल-सहिआण; इन उदाहरणों में चोरात् के स्थान पर चोरस्स का, येभ्यः के स्थान पर जाण का और सहितेभ्यः के स्थान पर सहिआण का प्रयोग यह बतलाता है कि पञ्चमी के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। अन्तिम उदाहरण अधूरा होने से हिन्दी अर्थ नहीं लिखा जा सका है। इसी प्रकार से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग का नमूना यों है:—पृष्ठे केश-भारः=पिट्ठीए केस-भारो=पीठ पर केशों का भार याने समूह है। इस उदाहरण में पृष्ठे के स्थान पर पिट्ठीए का प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि सप्तमी के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी का प्रयोग किया गया है।

सीमाधरम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप सीमाधरस्स (किया गया) है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३४ से द्वितीया के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग हुआ है; तदनुसार सूत्र-संख्या ३-१० से प्राकृत रूप सीमाधर में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ङस्=अस् के स्थान पर 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *सीमाधरस्स* रूप की सिद्धि हो जाती है।

वन्दे रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-२४* में की गई है।

'तिस्सा' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६४* में की गई है।

मुखम् संस्कृत द्वितीया एकवचनान्त नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप मुहस्स है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३४ से द्वितीया के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग हुआ है; १-१८७ से 'ख' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति और ३-१० से प्राप्त प्राकृत रूप मुह में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मुहस्स* रूप सिद्ध हो जाता है।

स्मरामः संस्कृत वर्तमान कालीन तृतीया पुरुष का बहुवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप भरिमो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-७४ से संस्कृतीय मूल धातु 'स्मृ=स्मर्' के स्थान पर 'भर्' की आदेश-प्राप्ति; ४-२३९ से हलन्त व्यञ्जनान्त धातु 'भर्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५५

से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे तृतीया पुरुष-बोधक बहुवचनान्त प्रत्यय का सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति और ३-१४४ से प्राप्त धातु रूप 'भरि' में वर्तमान कालीन तृतीय पुरुष-बोधक बहुवचनान्त प्रत्यय 'मो' की प्राप्ति होकर *भरिमो* रूप सिद्ध हो जाता है।

धनेन संस्कृत तृतीया विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसक लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप धणस्स है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३४ से तृतीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी-विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; १-२२८ से मूल संस्कृत शब्द 'धन' में स्थित 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति और ३-१० से प्राप्त प्राकृत रूप धण में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *धणस्स* रूप की सिद्धि हो जाती है।

लब्धः संस्कृत प्रथमा विभक्ति के एकवचनान्त विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत रूप लद्धो होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से हलन्त व्यञ्जन 'ब्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'ब्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ध' को द्वित्व 'धध' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ध' के स्थान पर 'द्' की प्राप्ति और ३-२ से प्राप्त प्राकृत रूप 'लद्ध' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति एवं प्राप्त प्रत्यय 'डो' में 'ड्' की इत्संज्ञा होने से प्राप्त प्राकृत शब्द 'लद्ध' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' का इत्संज्ञात्मक लोप होकर तत्पश्चात् शेष प्रत्यय रूप 'ओ' का प्राप्त हलन्त शब्द 'लद्ध्' में संध्यात्मक समावेश होकर प्राकृत रूप *लद्धो* सिद्ध हो जाता है।

चिरेण संस्कृत तृतीया विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप चिरस्स है। इसमें सूत्र संख्या ३-१३४ से तृतीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-१० से मूल शब्द 'चिर' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *चिरस्स* सिद्ध हो जाता है।

मुक्ता संस्कृत प्रथमा विभक्ति का एकवचनान्त स्त्रीलिंग विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत रूप मुक्का होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७७ से 'त्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'क्' को द्वित्व 'क्क्' की प्राप्ति और ३-१९ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत शब्दान्त्य स्वर को दीर्घता की प्राप्ति होने से मूल प्राकृत शब्द 'मुक्का' में स्थित अन्त्य दीर्घ स्वर 'आ' को यथा-स्थिति की प्राप्ति होकर *मुक्का* रूप सिद्ध हो जाता है।

'तेसिं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८१ में की गई है।

'एअं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८५ में की गई है।

अनाचारितम्=अनाचीर्णम् संस्कृत प्रथमा विभक्ति का एकवचनान्त विशेषणात्मक नपुंसकलिंग ा रूप है। इसका प्राकृत रूप अणाइण्णं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की ाप्ति; १-१७७ से 'च्' का लोप; १-८४ से लोप हुए 'च्' के पश्चात् शेष रहे हुए दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान र संयुक्त व्यञ्जन 'र्ण=ण्ण' का सद्भाव होने से ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति, २-७९ से रेफ रूप हलन्त यञ्जन 'र्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ण' को द्वित्व 'ण्ण' की प्राप्ति और -२५ से प्राप्त रूप 'अणाइण्ण, में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में नपुंसकलिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य त्यय 'सि' के स्थानीय संस्कृतीय प्रत्यय 'म्' के स्थान पर प्राकृत में भी 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *णाइण्णं* रूप सिद्ध हो जाता है।

चोरात् संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप चोरस्स । इसमें सूत्र संख्या ३-१३४ से पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश ाप्ति; तदनुसार ३-१० से मूल शब्द 'चोर' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ङस्=अस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *चोरस्स* सिद्ध हो जाता है।

बिभेति संस्कृत वर्तमानकालीन प्रथम पुरुष बोधक एकवचनान्त अकर्मक क्रियापद का रूप । इसका प्राकृत रूप बीहइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-५३ से संस्कृतीय मूल धातु 'बिभ्' के स्थान र प्राकृत में 'बीह्' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-२३९ से हलन्त व्यञ्जनान्त धातु 'बीह्' में विकरण प्रत्यय अ' की प्राप्ति और ३-१३९ से वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *बीहइ* सिद्ध हो जाता है।

इतराणि संस्कृत प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति का बहुवचनान्त विशेषणात्मक नपुंसकलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप इअराइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' का लोप; तत्पश्चात् ३-२६ से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आनि' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्त शब्द 'इअर' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति पूर्वक 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *इअराइं* सिद्ध हो जाता है।

'जाण' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६१ में की गई है।

लघु *अक्षराणि* संस्कृत प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति का बहुवचनान्त नपुंसकलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप लहु अक्खराइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'घ्' के स्थान पर 'ह्' की प्राप्ति; २-३ से 'क्ष' के स्थान पर 'ख' की प्राप्ति, २-८९ से प्राप्त 'ख' को द्वित्व 'ख्ख' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ख्' के स्थान पर 'क्' की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-२६ से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आनि' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्त शब्द 'लहु-अक्खर' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति-पूर्वक 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *लहु-अक्खराइं* सिद्ध हो जाता है।

पादान्तिमत्-सहितेभ्यः संस्कृत पञ्चमी विभक्ति का बहुवचनान्त विशेषणात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप पायन्तिमिल्ल सहिआण है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'द्' व्यञ्जन का लोप; १-१८० से लोप हुए 'द्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'आ' को 'या' की प्राप्ति; १-८४ से प्राप्त 'या' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन 'न्ति' का सद्भाव होने से ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; २-१५९ से संस्कृतीय प्रत्यय 'मत्' के स्थान पर प्राकृत में 'इल्ल' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१० से प्राप्त प्राकृत रूप 'पायन्तिम' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के आगे प्राप्त प्रत्यय 'इल्ल' में स्थित स्वर 'इ' का सद्भाव होने से लोप; १-५ से प्राप्त प्राकृत रूप 'पायन्तिम् + इल्ल' में संधि होकर प्राकृतीय रूप पायन्तिमिल्ल की प्राप्ति; १-१७७ से 'सहित' में स्थित 'त्' व्यञ्जन का लोप; ३-१३४ से पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; ३-१२ से प्राकृतीय प्राप्त रूप 'पायन्तिमिल्ल-सहिअ' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-६ से प्राप्त प्राकृत रूप 'पायन्तिमिल्ल-सहिआ' में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-पद *पायान्तिमिल्ल-सहिआण* की सिद्धि हो जाती है।

पृष्ठे संस्कृत सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसक लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप पिट्ठीए है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२८ से 'ऋ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति २-७७ से 'ष' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'ष्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ठ' को द्वित्व 'ठठ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'ठ्' के स्थान पर 'ट्' की प्राप्ति; १-३५ की वृत्ति से मूल संस्कृत शब्द पृष्ठ को नपुंसकलिंगत्व से प्राकृत में स्त्रीलिंगत्व की प्राप्ति; तदनुसार ३-३१ और २-४ से प्राकृत में प्राप्त शब्द 'पिट्ठ' मे स्त्रीलिंगत्व-द्योतक प्रत्यय 'ङी=ई' की प्राप्ति; ३-१३४ से संस्कृतीय सप्तमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-२९ से प्राप्त प्राकृत स्त्रीलिंग रूप पिट्ठी में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस् = अस्' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *पिट्ठीए* सिद्ध हो जाता है।

केश-भार: संस्कृत प्रथमा विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप केश-भारो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *केश-भारो* सिद्ध हो जाता है। १३४ ॥

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ ३-१३५

द्वितीया तृतीययोः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवति ॥ गामे वसामि । नयरे न जामि । अत्र द्वितीयायाः ॥ मइ वेविरीए मलिआइं ॥ तिसु तेसु अलंकिया पुहवी । अत्र तृतीयायाः ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में कभी कभी द्वितीया विभक्ति और तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। उदाहरण इस प्रकार हैः—ग्रामम् वसामि=गामे वसामि अर्थात् मैं ग्राम में बसता हूँ, नगरम् न यामि=नयरे न जामि अर्थात् मैं नगर को नहीं जाता हूं, इन उदाहरणों में संस्कृत में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी का प्रयोग किया गया है। तृतीया के स्थान पर सप्तमी के प्रयोग के दृष्टान्त इस प्रकार हैः– मया वेपित्रा मृदितानि=मइ वेविरीए मलीआइं =कांपती हुई मेरे द्वारा वे मृदित किये गये हैं। त्रिभिः तैः अलंकृता पृथ्वी=उन तीनों द्वारा पृथ्वी अलंकृत हुई है। इन दृष्टान्तों में संस्कृतीय तृतीया विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग दृष्टिगोचर हो रहा है। यों प्राकृत में कभी कभी और कहीं कहीं पर विभक्तियों के प्रयोग में अनियमितता पाई जाती है।

ग्रामम् संस्कृत द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त रूप है। इसका प्राकृत रूप गामे है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; ३-१३५ से द्वितीया के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति, ३-११ से प्राप्त प्राकृत शब्द 'गाम' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'ङे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गामे* रूप सिद्ध हो जाता है।

वसामि संस्कृत के वर्तमानकालीन तृतीय पुरुष का एकवचनान्त अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी वसामि ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से मूल प्राकृत हलन्त धातु 'वस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५४ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से प्राप्त धातु 'वसा' में वर्तमानकालीन तृतीय पुरुष के एकवचन में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वसामि* रूप सिद्ध हो जाता है।

नगरं संस्कृत के द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप नयरे (प्रदान किया गया) है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'ग्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ग्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-१३५ से द्वितीया के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति और ३-११ से प्राप्त प्राकृत शब्द 'नयर' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'ङे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *नयरे* रूप सिद्ध हो जाता है।

'न' अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र संख्या १-६ में की गई है।

'जामि' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२०४ में की गई है।

मया संस्कृत की तृतीया विभक्ति का एकवचनान्त अस्मद् सर्वनाम का रूप है। इसका प्राकृत रूप मइ है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३५ से तृतीया के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग

करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार संस्कृतीय सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि=इ' की प्राप्ति होने पर ३-११५ से 'अस्मद् + इ' के स्थान पर 'मइ' की आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृत रूप '*मइ*' सिद्ध हो जाता है।

वैचित्र्या संस्कृत मे तृतीया विभक्ति के एकवचनान्त स्त्रीलिंगात्मक विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत रूप वेविरीए होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२३१ से मूल संस्कृत शब्द वेपितृ में स्थित 'प्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति; १-१७७ से 'त्' का लोप; १-१४२ से लोप हुए 'त्' के पश्चात शेष रहे हुए स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'रि' की प्राप्ति; ३-३२ और २-४ से प्राप्त रूप वेविरि में स्त्रीलिंगात्मक प्रत्यय 'ङी=ई' की प्राप्ति; १-५ से प्राप्त रूप 'वेविरि + ई' में संधि होकर 'वेविरी' की प्राप्ति; ३-१३५ से तृतीय विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-२९ से प्राप्त स्त्रीलिंगात्मक विशेषण रूप वेविरी मे सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत विशेषणात्मक स्त्रीलिंग रूप *वेविरीए* सिद्ध हो जाता है।

मृदितानि संस्कृत प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त विशेषणात्मक नपुंसकलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप मलिआइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१२६ से मूल संस्कृत धातु 'मृद्' के स्थान पर प्राकृत में 'मल्' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-४४८ से संस्कृत के समान ही प्राकृत मे भी विशेषण-निर्माण-अर्थ में 'मल्' धातु में 'इत' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त रूप 'मलित' में स्थित 'त्' व्यञ्जन का लोप; और ३-२६ से प्राप्त रूप मलिअ' में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नपुंसकलिंग में अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति पूर्वक 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *मलिआइं* रूप सिद्ध हो जाता है।

त्रिभिः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त संख्यात्मक विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत रूप तिसु है। इसमे सूत्र संख्या २-७९ से 'र्' का लोप; ३-१३५ से तृतीया विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ४-४४८ से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृत के समान ही प्राकृत मे भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *तिसु* विशेषणात्मक रूप सिद्ध हो जाता है।

तैः संस्कृत तृतीया विभक्ति का बहुवचनान्त तद् सर्वनाम का पुल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप तेसु है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से मूल संस्कृत सर्वनाम शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-१३५ से तृतीया विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; ३-१५ से प्राकृत में प्राप्त सर्वनाम शब्द 'त' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर सप्तमी विभक्ति के बहुवचन-बोधक प्रत्यय 'सु' का सद्भाव होने से 'ए' की प्राप्ति और ४-४४८ से प्राप्त रूप 'ते' में सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-सर्वनाम-रूप *तेसु* सिद्ध हो जाता है।

अलंकृता संस्कृत प्रथमा विभक्ति का एकवचनान्त स्त्रीलिंगात्मक विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत रूप अलंकिआ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१२८ से 'ऋ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति, १-१७७ से 'त' व्यञ्जन का लोप; तत्पश्चात् ४-४४८ से संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी अलंकिआ पद आकारान्त स्त्रीलिंगात्मक होने से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' का लोप होकर 'अलंकिआ' प्राकृत-रूप सिद्ध हो जाता है।

'पुहवी' पद की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२१६ में की गई है। १३५॥

पंचम्यास्तृतीया च ॥ ३-१३६ ॥

पञ्चम्याः स्थाने क्वचित् तृतीयासप्तम्यौ भवतः॥ चोरेण बीहइ । चोराद्बिभेतीत्यर्थः॥ अन्तेउरे रमिउमागओ राया। अन्तः पुराद् रन्त्वागत इत्यार्थः॥

अर्थ.—कभी कभी संस्कृत भाषा में प्रयुक्त पंचमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत भाषा में तृतीया अथवा सप्तमी विभक्ति का प्रयोग भी हो जाया करता है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—चोरात् बिभेति=चोरेण बीहइ=वह चोर से डरता है; इस उदाहरण में संस्कृतीय पंचमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है—अन्तः पुराद् रन्त्वा आगतः राजा=अन्तेउरे रमिउ आगओ राया=अन्तपुर में रमण करके राजा आगया है; इस दृष्टान्त में 'अन्तःपुराद्=अन्तेउरे' शब्दों में संस्कृतीय पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग देखा जा रहा है। यों अन्यत्र भी पंचमी के स्थान पर तृतीया अथवा सप्तमी विभक्ति का प्रयोग पाया जाय तो वह प्राकृत भाषा में अशुद्ध नहीं माना जायगा।

चोरात् संस्कृत पंचमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप चोरेण है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३६ से संस्कृतीय पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में तृतीया विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति और शेष साधनिका सूत्र-संख्या ३-१३४ के अनुसार होकर चोरेण रूप सिद्ध हो जाता है।

बीहइ क्रियापद की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१३४ में की गई है।

अन्तःपुरात् (द्) संस्कृत की पञ्चमी विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसक लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप अन्तेउरे होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-६० से 'त' में स्थित 'अ' स्वर के स्थान पर 'ए' स्वर की प्राप्ति, २-७७ से 'विसर्ग=स्' हलन्त व्यञ्जन का लोप, १-१७७ से 'प्' व्यञ्जन का लोप, ३-१३६ से संस्कृतीय पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति, तदनुसार ३-११ से प्राप्त प्राकृत शब्द 'अन्तेउर' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि=इ' के स्थान पर प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर अन्तेउरे पद सिद्ध हो जाता है।

रन्त्वा संस्कृत का संबन्धात्मक भूत कृदन्त का रूप है। इसका प्राकृत रूप रमित होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३६ से मूल प्राकृतीय हलन्त धातु 'रम्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५७ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'इ' को प्राप्ति; २-१४६ से प्राप्त धातु रूप 'रमि' में संबन्धात्मक भूत-कृदन्तार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'त्वा' के स्थान पर प्राकृत मे 'तुम्' प्रत्यय को आदेश-प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'तुम्' में स्थित 'त्' व्यञ्जन का लोप; १-२३ से प्राप्त रूप रमिउम् मे स्थित अन्त्य हलन्त 'म्' के स्थान पर पूर्व में स्थित स्वर 'उ' पर अनुस्वार को प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *रमिउं* सिद्ध हो जाता है।

आगतः संस्कृत प्रथमा विभक्ति का एकवचनान्त विशेषणात्मक पुल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप आगओ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से 'त्' व्यञ्जन का लोप और ३-२ से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में डो=ओ प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत पद *आगओ* सिद्ध हो जाता है।

राया पद की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४९ मे की गई है। १३६ ॥

सप्तम्या द्वितीया ॥ ३–१३७ ॥

सप्तम्याः स्थाने क्वचिद् द्वितीया भवति ॥ विज्जुज्जोयं भरइ रत्तिं ॥ आर्षे तृतीयापि दृश्यते। तेणं कालेणं। तेणं समएणं। तस्मिन् काले तस्मिन् समये इत्यर्थः ॥ प्रथमाया अपि द्वितीया दृश्यते चउवीसंपि जिणवरा। चतुर्विंशतिरपि जिनवरा इत्यर्थः ॥

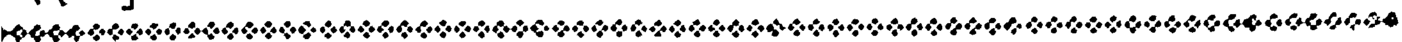
अर्थः—संस्कृत भाषा मे प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कभी कभी प्राकृत भाषा मे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग भी हुआ करता है। उदाहरण इस प्रकार है:—विद्युत्द्योतम् स्मरति रात्रौ=वह रात्रि में विद्युत प्रकाश को याद करता है; इस उदाहरण में सप्तम्यन्त पद 'रात्रौ' का प्राकृत रूपान्तर द्वितीयान्त पद 'रत्तिं' के रूप में किया गया है। यों सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। आर्ष प्राकृत में सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग भी देखा जाता है। इस विषयक दृष्टान्त इस प्रकार है:—तस्मिन् काले तस्मिन् समये=तेणं कालेणं तेणं समएण=उस काल में (और) उस समय में; यहां पर स्पष्ट रूप से सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग हुआ है। कभी कभी आर्ष प्राकृत के प्रयोगों में प्रथमा के स्थान पर द्वितीया का सद्भाव भी पाया जाता है। उदाहरण इस प्रकार है:—चतुर्विंशतिरपि जिनवराः=चउवीसंपि जिणवरा=चौवीस तीर्थङ्कर भी। यहां पर चतुर्विंशतिः प्रथमान्त पद है; जिसका प्राकृत रूपान्तर द्वितीयान्त मे करके 'चउवीसं' प्रदान किया गया है। यों प्राकृत भाषा मे विभक्तियों की अनियमितता पाई जाती है। इससे पता चलता है कि आर्ष प्राकृत का प्रभाव उत्तर वर्ती प्राकृत भाषा पर अवश्यमेव पड़ा है; जो कि प्राचीनता का सूचक है।

विद्युज्ज्योतम् संस्कृत का द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त नपुंसकलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप विज्जुज्जोयं होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'द्य्' के स्थान पर 'ज्' की प्राप्ति, २-८९ से आदेश-प्राप्त व्यञ्जन 'ज्' को द्वित्व 'ज्ज्' की प्राप्ति; २-७७ से प्रथम हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; २-७८ से द्वितीय 'य्' व्यञ्जन का लोप, २-८९ से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे हुए व्यञ्जन 'ज्' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति; १-१७७ से द्वितीय 'त्' व्यञ्जन का लोप, १-१८० से लोप हुए 'त्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' स्वर के स्थान पर 'य' वर्ण की प्राप्ति; ३-५ से प्राप्त प्राकृत शब्द 'विज्जुज्जोय' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म् के स्थान पर पूर्वस्थ व्यञ्जन 'य' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृत-पद-*विज्जुज्जोयं*' सिद्ध हो जाता है।

स्मरति संस्कृत का वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष का एकवचनान्त क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप भरइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-७४ से मूल संस्कृत-धातु 'स्मृ=स्मर्' के स्थान पर प्राकृत में 'भर्' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'भर्' में विकरण-प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्राकृत धातु 'भर' में वर्तमानकालीन प्रथम पुरुष के एकवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप '*भरइ*' सिद्ध हो जाता है।

रात्रौ संस्कृत की सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप रत्तिं है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत शब्द 'रात्रि' में स्थित द्वितीय 'र्' व्यञ्जन का लोप २-८९ से लोप हुए 'र्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'त्' को द्वित्व 'त्त्' की प्राप्ति; १-८४ से आदि वर्ण 'रा' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन 'त्ति' का सद्भाव होने से ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; ३-१३७ से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति, तदनुसार ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर शब्दस्थ पूर्व वर्ण 'त्ति' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *रत्तिं* रूप सिद्ध हो जाता है।

तस्मिन् संस्कृत का सप्तमी विभक्ति एकवचनान्त सर्वनाम पुल्लिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप तेणं है। इसमें सूत्र-संख्या २-७७ से मूल संस्कृतीय सर्वनाम शब्द 'तद्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'द्' का लोप; ३-१३७ की वृत्ति से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति, तदनुसार ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति, ३-१४ से तृतीया विभक्ति प्राप्त प्रत्यय 'ण' के कारण से पूर्वोक्त प्राप्त प्राकृत शब्द 'त' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' स्वर की प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्राकृत रूप 'तेण' में स्थित अन्त्य वर्ण 'ण' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *तेणं* रूप सिद्ध हो जाता है।



काले संस्कृत का सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिग का रूप है। इसका प्राकृत रूप कालेणं है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३७ की वृत्ति से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा = आ' के स्थान पर प्राकृत मे 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति; ३-१४ से तृतीया विभक्ति का प्रत्यय 'ण' प्राप्त होने से मूल प्राकृत शब्द 'काल' में स्थित अन्त्य वर्ण 'ल' के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्राकृत रूप कालेण में स्थित अन्त्य वर्ण 'ण' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *कालेणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'तेणं' सर्वनाम रूप की सिद्धि ऊपर इसी सूत्र में की गई है।

समये संस्कृत का सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिग का रूप है। इसका प्राकृत रूप समएणं है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत शब्द 'समय' में स्थित 'य्' व्यञ्जन का लोप; ३-१३७ की वृत्ति से सप्तमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में तृतीया विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-६ से तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा=आ' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति; ३-१४ से तृतीया विभक्ति का प्रत्यय 'ण' प्राप्त होने से मूल प्राकृत शब्द 'समअ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और १-२७ से प्राप्त प्राकृत रूप समएण में स्थित अन्त्य वर्ण 'ण' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *समएणं* रूप सिद्ध हो जाता है।

चतुर्विंशतिः संस्कृत का प्रथमान्त संख्यात्मक विशेषण का रूप है इसका प्राकृत रूप चउवीसं है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से प्रथम 'त्' व्यञ्जन का लोप; २-७९ से रेफ रूप 'र्' व्यञ्जन का लोप; १-९२ से 'वि' वर्ण में स्थित ह्रस्व इ के स्थान पर इसी सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण 'ति' का लोप करते हुए दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति; १-२८ से 'विं' पर स्थित अनुस्वार का लोप; १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; ३-१३७ की वृत्ति से प्रथमा-विभक्ति के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-५ से द्वितीया-विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर प्राप्त प्राकृत शब्द 'चउवीस' में स्थित अन्त्य वर्ण 'स' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *चउवीसं* सिद्ध हो जाता है।

'पि' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-४१* में की गई है।

जिनवराः संस्कृत का प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त पुल्लिग का रूप है। इसका प्राकृत रूप जिणवरा होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ३-१२ से प्राप्त प्राकृत शब्द-'जिणवर में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर प्रथमा विभक्ति का बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-४ से प्राप्त प्राकृत शब्द जिणवरा

में प्रथमा-विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' का प्राकृत में लोप होकर प्रथमा-बहुवचनान्त प्राकृत पद जिणवरा सिद्ध हो जाता है। ३-१३७॥

क्यङोर्य लुक् ॥ ३-१३८ ॥

क्यङन्तस्य क्यङ्षन्तस्य वा संबन्धिनो यस्य लुग् भवति ॥ गरुआइ । गरुआअइ । अगुरु गुरु भवति गुरुरिवाचरति वेत्यर्थः । क्यङ्ष् । दमदमाइ । दमदमाअइ ॥ लोहिआइ । लोहिआअइ ।

अर्थ—संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में संज्ञाओं पर से धातुओं अर्थात् क्रियाओं के बनाने का विधान पाया जाता है, तदनुसार वे नाम-धातु कहलाते हैं और इसी रीति से प्राप्त धातुओं में अन्य सर्व-सामान्य धातुओं के समान ही काल-वाचक एवं पुरुष-बोधक प्रत्ययों की संयोजना की जाती है। जब संस्कृत संज्ञाओं में 'क्यङ्' और 'क्यङ्ष' = 'य' और 'इ' प्रत्ययों की संयोजना की जाती है; तब वे शब्द नामार्थक नहीं रहकर धातु-अर्थक बन जाते हैं, यों धातु-अंग की प्राप्ति होने पर तत्पश्चात् उनमें काल-वाचक तथा पुरुष-बोधक प्रत्यय जोड़े जाते हैं। ऐसे धातु-रूपों से तब 'इच्छा, आचरण, अभ्यास' आदि बहुत से अर्थ प्रस्फुटित होते हैं। जहां अपने लिये किसी वस्तु की इच्छा की जाय वहां 'इच्छा अर्थ में' उस वस्तु के बोधक नाम के आगे 'क्यच्=य' प्रत्यय लगाकर तत्पश्चात् काल-वाचक प्रत्यय जोड़े जाते हैं। उदाहरण इस प्रकार हैं.—पुत्रीयति = (पुत्र् + ई + य + ति)=वह अपने पुत्र होने की इच्छा करता है। कवीयति=(कवि + ई + य + ति)=अपने आप कवि बनना चाहता है। कर्त्रीयति =खुद कर्त्ता बनना चाहता है। राजीयति आप राजा बनना चाहता है, इत्यादि। कभी कभी 'क्यच्=य' 'व्यवहार करना अथवा समझना' के अर्थ में भी आ जाता है। जैसे.—पुत्रीयति छात्रम् गुरुः= गुरु अपने छात्र के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता है। प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः=भिखारी अपनी झोपड़ी को महल जैसा समझता है।

जहां एक पदार्थ किसी दूसरे जैसा व्यवहार करे; वहां जिसके सदृश व्यवहार करता हो, उसके वाचक-नाम के आगे 'क्यङ्=य' प्रत्यय लगाया जाता है एवं तत्पश्चात् काल बोधक प्रत्ययों की संयोजना होती है। जैसे.—शिष्यः पुत्रायते=शिष्य पुत्र के समान व्यवहार करता है; गोपः कृष्णायते=गोप कृष्ण के समान व्यवहार करता है। विद्वायते=वह विद्वान् के सदृश व्यवहार करता है। प्रश्नयति=वह प्रश्न करता है, मिश्रयति=मिलावट करता है, लवणयति=वह खारा जैसा करता है। वह लवण रूप बनाता है। पुत्राति=वह पुत्र जैसा व्यवहार करता है, पितरति=वह पिता जैसा व्यवहार करता है। इसी प्रकार से 'गुणायन्ते, लोपायन्ते, द्रुमायते, दुःखायते, सुखायते' इत्यादि सैकड़ों नाम धातु रूप हैं। उक्त 'क्यङ्' और क्यङ्ष्' के स्थानीय प्रत्यय 'य' का प्राकृत में लोप हो जाता है और तत्पश्चात् प्राकृतीय काल-

बोधक प्रत्यय जोड़ दिये जाते हैं। उदाहरण इस प्रकार हैं:—अगुरुः गुरुः भवति=गुरूयति=गरुआइ=वह गुरु नहीं होते हुए भी गुरु बनता है; यह 'क्यङ्' का उदाहरण हुआ। 'क्यङ्ष्' का उदाहरण यों है:— गुरुः इव आचरति = गुर्वायते=गुरुआअइ=(वह गुरु नहीं होता हुआ भी) गुरु जैसा आचरण करता है। वृत्तिकार ने दो उदाहरण और दिये है; जो कि इस प्रकार है:—दमदमीयति=दमदमाइ=वह नगारा रूप बनता है; दमदमायते=दमदमाअइ=वह नगारा जैसा शब्द करता है। लोहितीयति=लोहिआइ=वह रक्त वर्ण वाला बनता है। लोहितायते=लोहिआअइ=वह रक्त वर्णीय बनने की इच्छा करता है। इसी प्रकार से अन्य संज्ञाओं पर से बनने वाले धातुओं के रूपों को भी समझ लेना चाहिये। अंग्रेजी-भाषा में इसको 'Denominative' प्रक्रिया अथवा Nominal-Verbal प्रक्रिया कहते है।

गुरूयति संस्कृत का वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष का एकवचनान्त नाम-धातु रूप से निर्मित क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप गरुआइ होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-१०७ से पद में रहे हुए आदि वर्ण 'गु' के 'उ' को 'अ' की प्राप्ति; १-४ से 'रू में स्थित दीर्घ स्वर 'ऊ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति; ३-१३८ से नाम-धातु-द्योतक प्रत्यय 'य्' का लोप; ३-१५८ की वृत्ति से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' प्रत्यय के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गुरुआइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

गुर्वायते=(गुरु + आयते) संस्कृत का वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष का एकवचनान्त नाम-धातु रूप से निर्मित क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप गरुआअइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१०७ से पद में रहे हुए आदि वर्ण 'गु' के 'उ' को 'अ' की प्राप्ति; तत्पश्चात् उत्तरार्ध प्रत्ययात्मक पद 'आयते' में स्थित 'य्' प्रत्यय का ३-१३८ से लोप और १-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय आत्मनेपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत मे 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *गुरुआअइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

दमदमीयति=संस्कृत का वर्तमानकालीन प्रथम पुरुष का एकवचनान्त नाम-धातु रूप से निर्मित क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप दमदमाइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३८ से नाम-धातु द्योतक प्रत्यय 'य्' का लोप; ३-१५८ की वृत्ति से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' प्रत्यय के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति; १-१० से पदस्थ वर्ण 'मी' में स्थित दीर्घ स्वर 'ई' का आगे प्रत्ययात्मक स्वर 'आ' का सद्भाव होने से लोप; १-५ से लोप हुए स्वर 'ई' के पश्चात् शेष रहे हुए हलन्त व्यञ्जन 'म्' में आगे स्थित प्रत्ययात्मक दीर्घ स्वर 'आ' की संधि; यों प्राप्त नाम-धातु रूप दमदमा में ३-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय परस्मैपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दमदमाइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

दमदमायते संस्कृत का वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष का एक वचनान्त नाम-धातु रूप से निर्मित क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप दमदमाअइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३८ से नाम-धातु द्योतक प्रत्यय "य्" का लोप और ३-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एक वचन में संस्कृतीय-आत्मनेपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय "ते" के स्थान पर प्राकृत में "इ" प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दमदमाअइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

लोहितीयाति संस्कृत का वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष का एक वचनान्त नाम-धातु रूप से निर्मित क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप लोहिआइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१३८ से नाम-धातु द्योतक प्रत्यय "य्" का लोप; ३-१५८ की वृत्ति से लोप हुए "य" के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' प्रत्यय के स्थान पर "आ" की प्राप्ति; १-१७७ से "त्" व्यञ्जन का लोप; १-१० से लोप हुए "त्" व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए दीर्घस्वर "ई" का आगे नाम-धातु-द्योतक प्रत्यय "अ" का सद्भाव होने से लोप; एवं प्राप्त रूप "लोहिआ" में ३-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय परस्मैपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय "ति" के स्थान पर प्राकृत में "इ" प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *लोहिआइ* सिद्ध हो जाता है।

लोहितायते संस्कृत का वर्तमानकालीन प्रथम पुरुष का एकवचनान्त नाम-धातु-रूप से निर्मित क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूप लोहिआअइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से "त्" का लोप, ३-१३८ से नाम-धातु-द्योतक प्रत्यय "य्" का लोप, और ३-१३९ से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एक वचन में संस्कृतीय आत्मने पदीय प्राप्तव्य प्रत्यय "ते" के स्थान पर प्राकृत में "इ" प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *लोहिआअइ* सिद्ध हो जाता है। ३-१३८॥

त्यादिनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ॥ ३-१३९ ॥

त्यादीनां विभक्तीनां परस्मैपदानामात्मनेपदानां च सम्बन्धिनः, प्रथमत्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्य स्थाने इच् एच इत्येतावादेशौ भवतः॥ हसइ। हसए। वेवइ। वेवए। चकारौ इचेचः (४-३१८) इत्यत्र विशेषणार्थौ।

अर्थः—संस्कृत-भाषा में धातुएँ दश प्रकार की होती है, जो कि 'गण' रूप से बोली जाती है, वैसा गण-भेद प्राकृत-भाषा में नहीं पाया जाता है। प्राकृत-भाषा में तो सभी धातुएँ एक ही प्रकार की पाई जाती है; जो कि मुख्यतः स्वरान्त ही होती है; थोड़ी सी जो भी व्यञ्जनान्त है; उन में भी सूत्र-संख्या ४-२३९ से अन्त्य हलन्त व्यञ्जन में विकरण प्रत्यय "अ" की संयोजना करके उन्हें अकारान्त रूप में परिणत कर दिया जाता है। इस प्रकार प्राकृत-भाषा में सभी धातुएँ स्वरान्त ही एवं एक ही प्रकार की पाई जाती है। संस्कृत-भाषा में "परस्मै पद और आत्मने पद" रूप से प्रत्ययों में तथा धातुओं में जैसा

भेद पाया जाता है, प्राकृत भाषा मे वैसा नही है; तदनुसार प्राकृत-भाषा में काल-बोधक एवं पुरुष-बोधक प्रत्ययों की श्रेणी एक ही प्रकार की है; संस्कृत के समान "परस्मैपदीय और आत्मनेपदीय" प्रत्ययों की भिन्न भिन्न श्रेणी का प्राकृत में अभाव ही जानना। इसी प्रकार से संस्कृत में जैसे दश प्रकार के लकार होते हैं; वैसे प्रकार के लकारों का भी प्राकृत में अभाव है; किन्तु प्राकृत-भाषा में वर्तमान-काल, भूतकाल, भविष्यकाल आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और क्रियातिपत्ति अर्थात् लृङ्-लकार यों कुल छह लकारों के प्रत्यय ही प्राकृत मे पाये जाते हैं। सूत्र-संख्या ३-१७८ में अज्ञार्थक लकार के लिए 'पञ्चमी' शब्द का प्रयोग किया गया है और ३-१६५ में विधिलिङ् के लिए सप्तमी शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस सूत्र मे वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एक वचन के प्रत्ययों का निर्देश किया गया है; तदनुसार संस्कृत भाषा में परस्मैपदीय और आत्मने पदीय रूप से प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय ति' और 'ते' के स्थान पर प्राकृत मे "इच = इ" और "एच्=ए" प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार है:— हसति = हसइ और हसए=वह हंसता है अथवा वह हंसती है। वेपते=वेवइ और वेवए=वह काँपता है अथवा वह काँपती है। उपरोक्त "इच् और एच्" प्रत्ययों में जो हलन्त चकार लगाया गया है; उसका यह तात्पर्य है कि आगे सूत्र-संख्या ४-३१८ में इनके सम्बन्ध में पैशाची भाषा की दृष्टि से विशेष-स्थिति बतलाई जाने वाली है; इसीलिए हलन्त चकार की योजना अन्त्य रूप से करने की आवश्यकता पड़ी है।

"हसइ" क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-१९८ में की गई है। *हसति* संस्कृत का वर्तमान काल का प्रथम पुरुष का एकवचनान्त क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप हसए होता है। इस में सूत्र-संख्या ३-१३९ से संस्कृतीय प्रत्यय "ति" के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर हसए रूप सिद्ध हो जाता है।

वेपते संस्कृत का वर्तमानकाल का प्रथम पुरुष का एकवचनान्त आत्मने पदीय क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप वेवइ और वेवए होते हैं। इनमें सूत्र संख्या १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति और ३-१३९ से संस्कृतीय प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'इ' और 'ए' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृतीय क्रियापदों के रूप वेवइ और वेवए सिद्ध हो जाते हैं। ३-१३९॥

द्वितीयस्य सि से ॥ ३-१४०॥

त्यादीनां परस्मैपदानामात्मनेपदानां च द्वितीयस्य त्रयस्य संबन्धिन आद्य वचनस्य स्थाने सि से इत्येतावादेशौ भवतः॥ हससि। हससे। वेवसि। वेवसे॥

अर्थः— संस्कृत-भाषा में द्वितीय पुरुष के एक वचन में वर्तमान काल में प्रयुक्त होने वाले परस्मैपदीय और आत्मने पदीय प्रत्यय 'सि', तथा 'से के' स्थान पर प्राकृत में 'सि' और 'से' प्रत्ययोंकी आदेश प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—हससि=हससि और हससे=तू हंसता है अथवा तू हंसती है। वेपसे=वेवसि और वेवसे = तू काँपता है अथवा तू काँपती है।

हसासि संस्कृत का वर्तमान काल का द्वितीय पुरुष का एकवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रिया-पद का रूप है। इसके प्राकृत रूप हससि और हससे होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१४० से 'हस' धातु में वर्तमानकाल के द्वितीय-पुरुष के एक वचनार्थ में प्राकृत में क्रमसे 'सि' और 'से' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर हससि तथा हससे रूप सिद्ध हो जाते हैं।

वेपसे संस्कृत का वर्तमानकालका द्वितीय पुरुष का एकवचनान्त आत्मनेपदीय अकर्मक क्रिया-पद का रूप है। इसके प्राकृत रूप वेवसि और वेवसे होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति और ३-१४० से प्राप्त 'वेव' धातु में वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के एकवचनार्थ में क्रमसे 'सि' और 'से' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर वेवसि और वेवसे रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३-१४०॥

तृतीयस्य मिः ॥ ३-१४१॥

त्यादीनां परस्मैपदानामात्मनेपदानां च तृतीयस्य त्रयस्याद्यस्य वचनस्य स्थाने मिरादेशो भवति। हसामि। वेवामि॥ बहुलाधिकाराद् मिवेः स्थानीयस्य मेरिकार लोपश्च॥ बहु-जाणय रूसिउं सक्कं। शक्नोमीत्यर्थः॥ न मरं। न म्रिये इत्यर्थः॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में तृतीय पुरुष के (उत्तम-पुरुष के) एक वचन में वर्तमानकाल में प्रयुक्त होने वाले परस्मैपदीय और आत्मनेपदीय प्रत्यय 'मि' और 'इ' के स्थान पर प्राकृत में 'मि' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैः—हसामि=हसामि=मैं हसता हूँ अथवा मैं हसती हूँ। वेपे=वेवामि=मैं काँपता हूं अथवा मैं कांपती हूँ। 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से प्राकृतीय प्राप्त प्रत्यय 'मि' में स्थित 'इ' स्वर का कहीं कहीं पर लोप भी हो जाया करता है; तदनुसार लोप हुए स्वर 'इ' के पश्चात् शेष रहे हुए प्रत्यय रूप हलन्त 'म्' का सूत्र-संख्या १-२३ के अनुसार अनुस्वार हो जाता है। उदाहरण इस प्रकार हैः—हे बहु-ज्ञानक ! रोषितुम् शक्नोमि=हे बहु जाणय ! रूसिउं सक्कं=हे बहु-ज्ञानी ! मैं रोष करने के लिए समर्थ हूँ। इस उदाहरण में सक्कामि के स्थान पर सक्कं की प्राप्ति हुई है; जो यह प्रदर्शित करता है कि प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के स्थान पर प्रत्ययस्थ 'इ' स्वर का लोप होकर शेष प्रत्यय रूप हलन्त 'म्' का अनुस्वार हो गया है। आत्मनेपदीय धातु का उदाहरण इस प्रकार हैः—न म्रिये=न मरं=मैं नहीं मरता हूं अथवा मैं नहीं मरती हूँ; यहां पर प्राकृत में मरामि के स्थान पर प्राप्त रूप 'मरं' यह निर्देश करता है कि 'मि' प्रत्यय के स्थान पर उपरोक्त विधानानुसार हलन्त 'म्' की ही प्रत्यय रूप से प्राप्ति हुई है। यों अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

हसामि संस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का एक वचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रिया-पद का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी हसामि ही होता है। इसमें सूत्र-संख्या-३-१५४ से मूल प्राकृत धातु 'हस' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' को 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से प्राप्त प्राकृतीय धातु 'हसा'

में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एक वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के समान ही प्राकृत में भी 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *हसामि* सिद्ध हो जाता है।

वेपे संस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का एकवचनान्त आत्मनेपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप वेवामि होता है। इसमें सूत्र संख्या १-२३१ से मूल संस्कृत धातु वेप में स्थित 'प्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'वे व्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति;३-१५४ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से प्राप्त प्राकृतीय धातु 'वेवा' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय आत्मनेपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय'इ'के स्थान पर प्राकृत में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *वेवामि* सिद्ध हो जाता है।

हे *बहु-ज्ञानक !* संस्कृत का संबोधन का एक वचनान्त पुंल्लिग विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत-रूप हे बहु-जाणय ! होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-८३ से 'ज्ञ, = ज् + ञ्' में स्थित 'ञ्' व्यंजन का लोप होने से 'ज्ञा' के स्थान पर प्राकृत में 'जा' की प्राप्ति; १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; १-१७७ से 'क्' व्यंजन का लोप, १-१८० से लोप हुए व्यंजन 'क्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति और ३-३८ से संबोधन के एक वचन में प्रथमा विभक्ति के समान ही ३-२ के अनुसार प्राकृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो=ओ' का अभाव होकर प्राकृतीय रूप हे *बहु-जाणय !* सिद्ध हो जाता है।

रोषितुम् संस्कृत का हेत्वर्थ कृदन्त का रूप है। इसका प्राकृत रूप रूसिउं होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-२३६ से मूल सस्कृत-धातु 'रुष्' में स्थित ह्रस्व स्वर 'उ' को प्राकृत में दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति, १-२६० से 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति, १-१७७ से 'त' व्यञ्जन का लोप और १-२३ से अन्तिम हलन्त 'म' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय रूप *रूसिउं* सिद्ध हो जाता है।

शक्नोमि संस्कृत का वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष का एकवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप सक्कं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स' की प्राप्ति; ४-२३० से 'क' को द्वित्व 'क्क' की प्राप्ति; प्राकृत में गण भेद का अभाव होने से संस्कृत धातु 'शक्' मे पंचम-गण-द्योतक प्राप्त विकरण प्रत्यय 'नो=श्नु=नु' का प्राकृत में अभाव; तदनुसार शेष-रूप से प्राप्त धातु 'सक्क' में ३-१४१ की वृत्ति से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' में स्थित ह्रस्व स्वर 'इ' का लोप होकर हलन्त रूप से प्राप्त 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त हलन्त प्रत्यय 'म्' को अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृत क्रियापद का रूप *सक्कं* सिद्ध हो जाता है।

'न' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६ की गई है।

म्रिये संस्कृत का वर्ततमान काल का तृतीय पुरुष का एक वचनान्त आत्मनेपदीय षष्ठ-गणीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप मरं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३४ से मूल संस्कृत

धातु 'मृ' में स्थित 'ऋ' के स्थान पर प्राकृत में 'अर' की प्राप्ति होकर प्राकृत में 'मर' अंग रूप की प्राप्ति; तत्पश्चात् ३-१४१ की वृत्ति से वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृत में प्राप्तव्य आत्मनेपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' में स्थित ह्रस्व स्वर 'इ' का लोप होकर हलन्त रूप से प्राप्त 'म्' प्रत्यय की अनुस्वार की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त हलन्त प्रत्यय 'म्' को अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृत क्रिया पद का रूप मरं सिद्ध हो जाता है। ३-१४१ ॥

बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ ३-१४२ ॥

त्यादीनां परस्मैपदात्मनेपदानामाद्यत्रय संबन्धिनो बहुषु वर्तमानस्य वचनस्य स्थाने न्ति न्ते इरे इत्यादेशा भवन्ति ॥ हसन्ति । वेवन्ति । हसिज्जन्ति । रमिज्जन्ति । गज्जन्ते खे मेहा ॥ बीहन्ते रक्खसाणं च ॥ उप्पज्जन्ते कइ-हिअय-सायरे कव्व-रयणाइं ॥ दोण्णि वि न पहुप्पिरे बाहू । न प्रभवत इत्यर्थः ॥ विच्छुहिरे । विक्षुभ्यन्तीत्यर्थः ॥ क्वचिद् इरे एकत्वेपि । सूसइरे गामचिक्खल्लो । शुष्यतीत्यर्थः ॥

अर्थ.—संस्कृत भाषा में प्रथम (पुरुष अन्य पुरुष) के बहुवचन में वर्तमान-काल में प्रयुक्त होने वाले परस्मैपदीय और आत्मनेपदीय प्रत्यय 'अन्ति' और 'अन्ते' के स्थान पर प्राकृत में 'न्ति, न्ते और इरे' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसन्ति=हसन्ति=वे हँसते हैं अथवा हँसती हैं। वेपन्ते=वेवन्ति=वे काँपते हैं अथवा वे कांपती हैं। हासयन्ति=हसिज्जन्ति=वे हँसाये जाते अथवा वे हँसाई जाती हैं। रमयन्ति=रमिज्जन्ति=वे खेलाये जाते हैं अथवा खेलायी जाती हैं। गर्जन्ति खे मेघाः=गज्जन्ते खे मेहा=बादल आकाश में गर्जना करते हैं। बिभ्यति राक्षसेभ्यः=बीहन्ते रक्खसाणं=वे राक्षसों से डरते हैं अथवा डरती हैं। उत्पद्यन्ते कवि हृदय सागरे काव्य-रत्नानि=उप्पज्जन्ते-कइ-हिअय-सायरे कव्व-रयणाइं कवियों के हृदय रूप समुद्र में काव्य रूप रत्न उत्पन्न होते रहते हैं। द्वौ अपि न प्रभवत बाहू=दोण्णि वि न पहुप्पिरे बाहू=दोनों ही भुजाऐं प्रभावित नहीं होती हैं। विक्षुभ्यन्ति=विच्छुहिरे=वे घबराते हैं अथवा वे घबड़ाती हैं। वे चंचल होती हैं। इन उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि संस्कृतीय परस्मैपदीय अथवा आत्मनेपदीय प्रत्ययों के स्थान पर वर्तमान काल प्रथम पुरुष के बहुवचन में प्राकृत में 'न्ति, न्ते और इरे' प्रत्ययों की प्राप्ति हुआ करती है। कहीं कहीं पर वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के बहुवचन में प्राकृत में बहुवचनीय प्रत्यय 'इरे' की प्राप्ति भी देखी जाती है। उदाहरण इस प्रकार है:—शुष्यति ग्राम-कर्दम=सूसइरे गाम-चिक्खल्लो=गाँव का कीचड़ सूखता है। इस उदाहरण में संस्कृतीय क्रियापद 'शुष्यति' एकवचनात्मक है तदनुसार इसका प्राकृत रूपान्तर सूसइ अथवा सूसए होना चाहिये था, किन्तु 'सूसइरे' ऐसा रूपान्तर करके प्राकृतीय बहुवचनात्मक प्रत्यय 'इरे' की संयोजना की गई है। ऐसा प्रसंग कभी कभी ही देखा जाता है, सर्वत्र नहीं। इसे 'बहुलम्' सूत्र के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।



हसन्ति संस्कृत का वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष का वहुवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप भी हसन्ति ही होता है। इसमें सूत्र संख्या ३-१४२ से प्राकृत-धातु 'हस' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *हसन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

वेपन्ते संस्कृत का वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष का बहुवचनान्त आत्मनेपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूप वेवन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२३१ से मूल धातु 'वेप' में स्थित 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्राप्तांग 'वेव' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचन मे संस्कृत में आत्मनेपदीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अन्ते=न्ते' के स्थान पर प्राकृत में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *वेवन्ति* सिद्ध हो जाता है।

हासयन्ति संस्कृत का वर्तमान काल का प्रथम पुरुष रूप बहुवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप हसिज्जन्ति होता है। इसमें सूत्र संख्या ३-१६० से मूल धातु हस में भाव-विधि अर्थ में 'इज्ज' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१० से 'हस' धातु में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की 'इ' होने से लोप; १-५ से हलन्त 'हस्' के साथ में आगे रहे हुए प्रत्यय रूप 'इज्ज' की संधि होकर 'हसिज्ज' अंग की प्राप्ति और ३-१४२ से प्राप्तांग 'हसिज्ज' मे वर्तमान काल के वहुवचनात्मक प्रथम पुरुष मे 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *हसिज्जन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

रमयन्ति संस्कृत का वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष का बहुवचनान्त भाव-विधि द्योतक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप रमिज्जन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६० से मूल-धातु 'रम' में भाव-विधि द्योतक 'इज्ज' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१० से 'रम' धातु में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की 'इ' होने से लोप; १-५ से हलन्त 'रम्' के साथ में आगे रहे हुए प्रत्यय रूप 'इज्ज' की संधि होकर 'रमिज्ज' अंग की प्राप्ति और ३-१४२ से प्राप्तांग 'रमिज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के वहुवचन मे 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *रमिज्जन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

'गज्जन्ते' 'खे' और *'मेहा'* तीनों रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१८७* मे की गई है।

बिभ्यति संस्कृत का वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचनात्मक अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप वीहन्ते होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-५३ से भय-अर्थक संस्कृत-धातु 'भी' के स्थान पर प्राकृत में 'वीह' धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१४२ से प्राप्तांग 'वीह' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के वहुवचन में 'न्ते' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *वीहन्ते* रूप सिद्ध हो जाता है।

राक्षसेभ्यः संस्कृत का पञ्चमी विभक्ति का बहुवचनान्त पुँल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप रक्खसाणं है। इसमें सूत्र-संख्या १-८४ से 'रा' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; २-३ से 'क्ष' के स्थान पर 'ख' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ख' को द्वित्व 'ख् ख' की प्राप्ति; २-९० से

प्राप्त पूर्व 'ख' के स्थान पर 'क्' की प्राप्ति; ३-१३४ की वृत्ति से संस्कृतीय पद में स्थित पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति; तदनुसार ३-१२ से प्राप्तांग 'रक्खस' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के आगे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति; यों प्राप्तांग 'रक्खसा' में ३-६ से उपरोक्त विधानानुसार षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर प्राकृत में 'ण' प्रत्यय की प्राप्ति; और १-२७ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *रक्खसाणं* सिद्ध हो जाता है।

उत्पद्यन्ते संस्कृत का वर्तमानकाल का प्रथम पुरुष का बहुवचनान्त अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप उप्पज्जन्ते होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७७ से प्रथम हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप, २-८९ से लोप हुए हलन्त व्यञ्जन 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'प' को द्वित्व 'प्प' की प्राप्ति २-२४ से संयुक्त व्यञ्जन 'द्य' को 'ज' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'ज' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति और ३-१४२ से प्राप्तांग 'उप्पज्ज' में वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'न्ते' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत क्रियापद का रूप *उप्पज्जन्ते* सिद्ध हो जाता है।

कवि-हृदय-सागरे संस्कृत का समासात्मक सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पुल्लिंग रूप है। इसका प्राकृत रूप 'कइ-हिअय-सायरे' होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१७७ से 'व्' का लोप, १-१२८ से 'ऋ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति, १-१७७ से 'द्' का लोप, १-१७७ से 'ग्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'ग' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; यों प्राप्तांग 'कइ हिअय-सायर' में ३-११ से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'डे' प्रत्यय की प्राप्ति; प्राप्त प्रत्यय 'डे' में हलन्त 'ड' इत्संज्ञक होने से प्राप्तांग मूल शब्द 'कइ-हिअय-सायर' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' का लोप होकर शेष हलन्त अंग में उपरोक्त 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत सप्तम्यन्त रूप *कइ-हिअय-सायरे* सिद्ध हो जाता है।

काव्य-रत्नानि संस्कृत का समासात्मक प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त नपुंसक लिंगात्मक संज्ञा का रूप है। इसका प्राकृत रूप कव्व-रयणाइं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-८४ से 'का' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; २-७८ से 'य्' का लोप; २-८९ से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'व' को द्वित्व 'व्व' की; २-७७ से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; २-१०१ से लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'न' के पूर्व में 'अ' की आगम रूप प्राप्ति; १-१८० से आगम-रूप से प्राप्त 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति, १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; यों प्राप्तांग-'कव्व-रयण' में ३-२६ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नपुंसक लिंग में अन्त्य ह्रस्व स्वर को दीर्घ स्वर की प्राप्ति होते हुए संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर प्राकृत में 'इं' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-पद *कव्व-रयणाइं* सिद्ध हो जाता है।

'दोण्णि' संख्यात्मक विशेषण-पद की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१२० में की गई है।

'वि' और 'न' दोनों अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६ में की गई है।

प्रभवतः संस्कृत का वर्तमानकाल का प्रथम पुरुष का द्विवचनान्त अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूप पहुप्पिरे होता है। इसमें सूत्र-संख्या-२-७९ से 'र्' का लोप; ४-६३ से धातु-अंश 'भू'='भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हुप्प' आदेश की प्राप्ति; १-१० से प्राप्त धातु-अंग 'पहुप्प्' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्रत्ययात्मक 'इरे' की 'इ' होने से लोप; तत्पश्चात् ३-१३० से प्राप्त हलन्त धातु 'पहुप्प्' में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन को प्राप्ति और ३-१४२ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचन में प्राकृत में 'इरे' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *पहुप्पिरे* सिद्ध हो जाता है।

बाहू संस्कृत का प्रथमा विभक्ति का द्विवचनात्मक पुँल्लिग रूप है। इसका प्राकृत रूप भी बाहू ही होता है। इस में सूत्र-संख्या ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन की प्राप्ति; ३-१२४ के निर्देश से उकारान्त शब्दों में भी अकारान्त शब्दों के समान ही विभक्ति-बोधक-प्रत्ययों की प्राप्ति; तदनुसार ३-४ से प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य-प्रत्यय 'जस्' को प्राकृत-शब्द 'बाहु' में प्राप्ति होकर लोप; और ३-१२ से प्रथमा के बहुवचन के प्रत्यय 'जस्' का सद्भाव होने से बाहु' शब्दान्त्य ह्रस्व स्वर 'उ' को दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति होकर *बाहू* रूप सिद्ध हो जाता है।

विक्षुभ्यन्ति संस्कृत का वर्तमानकाल का प्रथम पुरुष का बहुवचनान्त अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप विच्छुहिरे होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-३ से मूल संस्कृत धातु 'विक्षुभ' में स्थित 'क्ष' के स्थान पर 'छ्' की प्राप्ति; २-८९ से प्राप्त 'छ' की द्वित्व 'छ्छ' की प्राप्ति; २-९० से प्राप्त पूर्व 'छ' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति; १-१८७ से 'भ्' के स्थान पर 'ह' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'विच्छुह' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; १-१० से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' का पुनः आगे प्रत्ययात्मक 'इरे' की 'इ' होने से लोप; तत्पश्चात् ३-१४२ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचन से उपरोक्त रीति से प्राप्त 'विच्छुह' धातु मे 'इरे' प्रत्यय का प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *विच्छुहिरे* सिद्ध हो जाता है।

शुष्यति संस्कृत का वर्तमानकाल का प्रथम पुरुप का एकवचनान्त-अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप सूसइरे है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से संस्कृतीय मूल धातु 'शुष्' में स्थित दोनों प्रकार के 'श' और 'ष्' के स्थान पर क्रम से दो दन्त्य 'स्' की प्राप्ति; ४-२३६ से आदि ह्रस्व स्वर 'उ' के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ऊ' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'सूस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१४२ की वृत्ति से एक वचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग करने को मान्यता का निर्देश; तदनुसार ३-१४२ से प्राकृत धातु 'सूस' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के अर्थ में एकवचन के स्थान पर बहुवचनात्मक प्रत्यय 'इरे' की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *सूसइरे* सिद्ध हो जाता है।

ग्राम-कर्दमः संस्कृत का प्रथमा विभक्ति का एक वचनान्त पुँल्लिग का रूप है। इसका देशज प्राकृत का रूप गाम-चिक्खल्लो होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'ग्राम' में स्थित 'र्' व्यञ्जन का

लोप; ३-१४२ की वृत्ति के आधार से मूल-संस्कृत-शब्द 'कर्दम' के स्थान पर देशज भाषामें 'चिक्खल्ल' शब्द की आदेश-प्राप्ति; ३-२ से प्राप्त देशज शब्द गाम-चिक्खल्ल'में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुँल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर देशज-प्राकृत पद *'गाम-चिक्खल्लो'* सिद्ध हो जाता है। ३-१४२ ॥

मध्यमस्येत्था-हचौ ॥ ३-१४३ ॥

त्यादीनां परस्मैपदात्मनेपदानां मध्यमस्य त्रयस्य बहुषु वर्तमानस्य स्थाने इत्था हच् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ हसित्था । हसह । वेवित्था । वेवह । बाहुलकादित्थान्यत्रापि । यद्यत्ते रोचते । जं जं ते रोइत्था । हच् इति चकारः इह-हचोर्हस्य (४-२६८) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥

अर्थ—संस्कृत-धातुओं में वर्तमान-काल के द्वितीय पुरुष के द्विवचनार्थ में तथा बहुवचनार्थ में परस्मैपदीय-धातुओं में क्रम से संयोजित होने वाले प्रत्यय 'थस्' तथा 'थ' के स्थान पर और आत्मनेपदीय धातुओं में क्रम से संयोजित होने वाले प्रत्यय 'इथे' और 'ध्वे' के स्थान पर प्राकृत में 'इत्था' और 'हच्=ह' प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसथः=हसित्था और हसह=तुम दोनों हँसते हो, अथवा तुम दोनों हँसती हो। हसथ=हसित्था और हसह=तुम हँसते हो अथवा तुम हँसती हो। वेपेथे=वेवित्था और वेवह=तुम दोनों कांपते हो अथवा तुम दोनों कांपती हो। वेपध्वे=वेवित्था और वेवह=तुम (सब) कांपते हो अथवा तुम (सब) कांपती हो। 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से 'इत्था' प्रत्यय का प्रयोग द्वितीय पुरुष के अतिरिक्त अन्य पुरुष के अर्थ में भी प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है। जैसे—यत् यत् ते रोचते=जं जं ते रोइत्था=जो जो तुझे रुचता है; इत्यादि। यहां पर संस्कृतीय क्रियापद रोचते में वर्तमान कालीन प्रथम पुरुष का एकवचन उपस्थित है, जबकि इसी के प्राकृत रूपान्तर रोइत्था में द्वितीय पुरुष के बहुवचन का प्रत्यय 'इत्था' प्रदान किया गया है। यों वर्तमान-कालीन द्वितीय पुरुष के बहुवचन में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय 'इत्था' के प्रयोग की अनियमितता कभी कभी एवं कहीं कहीं पर पाई जाती है। उपरोक्त 'ह' प्रत्यय के साथ में जो 'चकार' जोड़ा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि आगे सूत्र-संख्या ४-२६८ से इह-हचोर्हस्य 'सूत्र का निर्माण किया जाकर इस 'ह' प्रत्यय के संबंध में शौरसेनी-भाषा में होने वाले परिवर्तन को प्रदर्शित किया जायगा। अतएव 'सूत्र-रचना' करने की दृष्टि से 'ह' प्रत्यय के अन्त में हलन्त 'च्' की संयोजना की गई है।

हसथः तथा *हसथ* संस्कृत के वर्तमान काल के द्वितीय पुरुष के क्रम से द्विवचन और बहुवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप दोनों वचनों में समान रूप से ही हसित्था एवं हसह होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र संख्या ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग करने की आदेश प्राप्ति, १-१० से हस धातु के अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त प्रत्यय 'इत्था' की 'इ' का सद्भाव

होने से लोप; तत्पश्चात प्राप्तांग-धातु 'हस्' में ३-१४३ से वर्तमान काल के द्वितीय पुरुष के द्विवचन और बहुवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'थस्' तथा 'थ' के स्थान पर प्राकृत में 'इत्था' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *हसित्था* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप हसह में सूत्र संख्या ३-१४३ से हस धातु मे वर्तमान काल के द्वितीय पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'थस्' और 'थ' के स्थान पर प्राकृत में 'ह' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप हसह भी सिद्ध हो जाता है।

वेपेथे और *वेपध्वे* संस्कृत के वर्तमान काल के द्वितीय पुरुष के क्रम से द्विवचन और बहुवचन के आत्मनेपदीय अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन प्राकृत रूप दोनों वचनों में समान रूप से ही वेवित्था और वेवह होते हैं। इनमे सूत्र संख्या १-२३१ से 'प्' व्यञ्जन के स्थान पर व्' की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग करने की आदेश प्राप्तिः १-१० से प्राप्त प्राकृत-धातु 'वेव' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्तव्य प्रत्यय 'इत्था' की 'इ' का सद्भाव होने से लोप; तत्पश्चात प्राप्तांग-धातु 'वेव्' मे ३-१४३ से वर्तमान काल के द्वितीय पुरुष के द्विवचन में तथा बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'इथे' और 'ध्वे' के स्थान पर प्राकृत में 'इत्था' प्रत्यय प्राप्ति होकर प्रथम रूप *वेवित्था* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप वेवह में सूत्र-संख्या ३-१४३ से प्राकृत में प्राप्त धातु वेव मे वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के द्विवचन में और बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'इथे' और 'ध्वे' के स्थान पर प्राकृत में 'ह' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप वेवह भी सिद्ध हो जाता है।

'जं' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२४ में की गई है।

'ते' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-९९ में की गई है।

रोचते संस्कृत का वर्तमान काल का प्रथम पुरुष का एकवचनान्त आत्मनेपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका (आर्ष) प्राकृत रूप रोइत्था है। इसमें सूत्र संख्या १-१७७ से 'च्' का लोप; १-१० से लोप हुए 'च्' के पश्चात् शेष रहे हुए स्वर 'अ' के आगे प्रत्ययात्मक 'इत्था' की 'इ' का सद्भाव होने से लोप; ३-१-४३ की वृत्ति से वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के एकवचन मे संस्कृत में प्राप्तव्य आत्मनेपदीय प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में द्वितीय पुरुष-बोधक बहुवचनीय प्रत्यय 'इत्था' की प्राप्ति होकर (आर्ष) प्राकृतीय रूप *रोइत्था* सिद्ध हो जाता है। ३-१४३ ॥

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ ३-१४४ ॥

त्यादीनां परस्मैपदात्मनेपदानां तृतीयस्य त्रयस्य संबन्धिनो बहुषु वर्तमानस्य

वचनस्य स्थाने मो मु म इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ हसामो । हसामु । हसाम । तुवरामो । तुवरामु । तुवराम ॥

अर्थः—संस्कृत-धातुओं में वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के द्विवचनार्थ में तथा बहुवचनार्थ में परस्मैपदीय धातुओं में क्रम से संयोजित होने वाले प्रत्यय 'वस्' और 'मस्' के स्थान पर तथा आत्मनेपदीय-धातुओं मे क्रम से संयोजित होने वाले प्रत्यय 'वहे' एवं 'महे' के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से 'मो, मु, और म' में से किसी भी एक प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार हैः—हसावः और हसामः=हसामो अथवा हसामु अथवा हसाम=हम दोनों अथवा हम (सब) हँसते हैं या हँसती हैं। त्वरावहे और त्वरामहे=तुवरामो अथवा तुवरामु अथवा तुवराम=हम दोनों अथवा हम (सब) शीघ्रता करते हैं या शीघ्रता करती हैं।

हसावः और *हसामः* संस्कृत के वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के क्रम से द्विवचन के और बहु वचन के परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप दोनों वचनों में समान रूप से ही हसामो, हसामु और हसाम होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५५ से प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति, ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग करने की आदेश-प्राप्ति, यों प्राप्तांग 'हसा' में ३-१४४ से वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के द्विवचनार्थ में एवं बहुवचनार्थ में संस्कृत में क्रम से प्राप्तव्य प्रत्यय 'वस्' और 'मस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'मो मु, म' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से द्विवचनीय अथवा बहुवचनीय प्राकृत रूप *हसामो*, *हसामु* और *हसाम* सिद्ध हो जाते हैं।

त्वरावहे और *त्वरामहे* संस्कृत के वर्तमान काल के तृतीय पुरुष के क्रम से द्विवचन और बहु-वचन के आत्मनेपदीय अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप दोनों वचनों में समान रूप से ही तुवरामो, तुवरामु और तुवराम होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ४-१७० से संस्कृतीय मूल धातु 'त्वर' के स्थान पर प्राकृत में 'तुवर' रूप की आदेश-प्राप्ति, ४-२३९ से प्राप्त प्राकृत हलन्त धातु 'तुवर' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५५ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति, ३-१३० से द्विवचन के स्थान पर बहु वचन का प्रयोग करने की आदेश प्राप्ति, यों प्राप्तांग-धातु 'तुवरा' में ३-१४४ से वर्तमानकाल तृतीय पुरुष के द्विवचार्थ एवं बहुवचनार्थ में संस्कृत में क्रम से प्राप्तव्य प्रत्यय 'वहे' और 'महे' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'मो मु, म' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से द्विवचनीय अथवा बहुवचनीय प्राकृत-रूप *तुवरामो*, *तुवरामु*, और *तुवराम* सिद्ध हो जाते हैं। ३-१४४॥

अत एवैच् से ॥ ३-१४५ ॥

त्यादेः स्थाने यौ एच् से इत्येतावादेशौ उक्तौ तावकारान्तादेव भवतो नान्यस्मात् ॥

हसए । हससे ॥ तुवरए । तुवरसे ॥ करए करसे ॥ अत इति किम् । ठाइ । ठासि ॥ वसुआइ वसुआसि ॥ होइ । होसि ॥ एवकारोकारान्ताद् एच से एव भवत इति विपरीतावधारण-निषेधार्थः । तेनाकारान्ताद् इच् सि इत्येतावपि सिद्धौ ॥ हसइ । हससि ॥ वेवइ । वेवसि ॥

अर्थः—सूत्र संख्या ३-१३९ में और ३-१४० में वर्तमान काल के एक वचन में प्रथम-पुरुष के अर्थ में तथा द्वितीय पुरुष के अर्थ में क्रम से जो 'एच्=ए' एवं 'से' प्रत्यय का उल्लेख किया गया है, वे दोनों प्रत्यय केवल अकारान्त धातुओं में प्रयुक्त किये जा सकते है, इनका प्रयोग आकारान्त, ओकारान्त आदि धातुओं में नहीं किया जा सकता है । उदाहरण इस प्रकार है:- हसति=हसए= वह हंसता है अथवा वह हंसती है । हससि=हससे= तू हंसता है अथवा तू हंसती है । त्वरते=तुवरए= वह जल्दी करता है अथवा वह जल्दी करती है । त्वरसे=तुवरसे= तू जल्दी करता है अथवा तू जल्दी करती है । करोति=करए= वह करता है अथवा वह करती है । करोषि=करसे= तू करता है अथवा तू करती है । इत्यादि ।

प्रश्नः-अकारान्त धातुओं में ही 'ए' तथा 'से' का प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः-अकारान्त धातुओं के अतिरिक्त आकारान्त, ओकारान्त धातुओं में इन 'ए' तथा 'से' प्रत्ययों का प्रयोग कभी भी नहीं होता है और अकारान्त धातुओं के अतिरिक्त शेष धातुओं में केवल 'इ' तथा 'सि' का ही प्रयोग होता है, ऐसी निश्चयात्मक स्थिति होने से ही 'अकारान्त' जैसे विशेषणात्मक शब्द की संयोजना करनी पड़ी है । उदाहरण इस प्रकार है:- तिष्ठति=ठाइ= वह ठहरता है अथवा वह ठहरती है । तिष्ठसि=ठासि=तू ठहरता है अथवा तू ठहरती है । उद्वाति=वसुआइ=वह सूखता है अथवा वह सूखती है । उद्वासि=वसुआसि=तू सूखता है अथवा तू सूखती है । भवति=होइ=वह होता है अथवा वह होती है । भवसि=होसि=तू होता है अथवा तू होती है, इत्यादि ।

मूल सूत्र में उपर जो 'एव' जोड़ा गया है; उसका तात्पर्य यह भी है कि कोई व्यक्ति यह नहीं समझ ले कि 'अकारान्त धातुओं में केवल 'ए' और 'से' प्रत्यय ही जोड़े जाते हैं और 'इ' तथा 'सि' प्रत्यय नहीं जोड़े जाते हैं'; ऐसा विपरीत और निश्चयात्मक अर्थ का निषेध करने के लिए ही 'एव' अव्यय को सूत्र में स्थान दिया गया है; तदनुसार पाठक-गण यह अच्छी तरह से समझ ले कि अकारान्त धातुओं में तो 'ए' और 'से' के समान ही 'इ' तथा 'सि' की भी प्राप्ति अवश्यमेव होती है; किन्तु अकारान्त के सिवाय आकारान्त, ओकारान्त आदि धातुओं में केवल 'इ' तथा 'सि' की प्राप्ति होकर 'ए' एवं 'से' की प्राप्ति का निश्चयात्मक रूप से निषेध है । इस प्रकार से आकारान्त, ओकारान्त धातुओं के समान ही अकारान्त धातुओं में भी 'इ' तथा 'सि' प्रत्ययो की प्राप्ति अवश्यमेव होती है । इस विवेचना से यह प्रमाणित होता है कि अकारान्त धातुओं में तो 'इ, ए, सि, से' इन चारों प्रकार के प्रत्ययों की प्राप्ति होती है; परन्तु आकारान्त, ओकारान्त आदि धातुओं में केवल 'इ और सि' इन दो

त्वम् संस्कृत का युष्मद् सर्वनाम का प्रथमाविभक्ति का एकवचनान्त त्रिलिंगात्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप तुमं होता है इसमें सूत्र संख्या ३-९० से प्रथमाविभक्ति के एकवचन में तथा तीनों लिंगों में समान रूप से ही प्रथमा-विभक्ति-बोधक प्रत्यय 'सि' की संयोजना होने पर सम्पूर्ण संस्कृत पद 'त्वम्' के स्थान पर प्राकृत में 'तुमं' रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१४६ ॥

मि-मो-मैः-म्हि-म्हो-म्हा वा ॥ ३-१४७

अस्तेर्धातोः स्थाने मि मो म इत्यादेशैः सह यथासंख्यं म्हि म्हो म्ह इत्यादेशा वा भवन्ति ॥ एस म्हि । एषो स्मीत्यर्थः ॥ गय म्हो । गय म्ह । मुकारस्याग्रहणादप्रयोग एव तस्येत्यवसीयते । पक्षे अत्थि अहं । अत्थि अम्हे । अत्थि अम्हो ॥ ननु च सिद्धावस्थायां पक्ष्म श्म-ष्म-स्मह्मां म्हः (२-७४) इत्यनेन म्हादेशे म्हो इति सिध्यति । सत्यम् । किंतु विभक्ति-विधौ प्रायः साध्यमानावस्थाङ्गीक्रियते । अन्यथा वच्छेण । वच्छेसु । सव्वे । जे । ते । के । इत्याद्यर्थं सूत्राण्यनारम्भणीयानि स्युः ॥

अर्थः—'अस्' धातु के साथ में जब सूत्र-संख्या ३-१४१ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचनात्मक प्रत्यय 'मि' की संयोजना की जाय तो वैकल्पिक रूप से धातु 'अस्' और प्रत्यय 'मि' दोनों ही के स्थान पर 'म्हि' पद की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जैसेः—एषोऽस्मि=एस म्हि = मैं हूं। वैकल्पिक पक्ष होने से जहाँ पर 'म्हि' नहीं किया जायगा वहाँ पर सूत्र-संख्या ३-१४८ के आदेश से संस्कृतीय रूप 'अस्मि' के स्थान पर 'अत्थि' पद की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार से इसी 'अस्' धातु के साथ में जब सूत्र-संख्या ३-१४४ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचनात्मक प्रत्यय 'मो' एवम् 'म' की संयोजना की जाय तो वैकल्पिक रूप से धातु 'अस्' और प्रत्यय 'मो' एवं 'म' दोनों ही के स्थान पर क्रम से 'म्हो' तथा 'म्ह' पद की आदेश प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:— गताः स्मः=गय म्हो=हम गये हुए हैं। गताः स्मः = हम गये हुए हैं। यों वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में संस्कृतीय धातु 'अस्' से 'मस्' प्रत्यय की संयोजना होने पर प्राप्त संस्कृतीय पद 'स्मः' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से 'मो और म' प्रत्ययों के सद्भाव में 'म्हो तथा म्ह' पद की आदेश-प्राप्ति जानना। वैकल्पिक पक्ष होने से जहाँ पर 'म्हो तथा म्ह' रूपों की प्राप्ति नहीं होगी; वहाँ पर सूत्र-संख्या ३-१४८ के आदेश से संस्कृतीय रूप 'स्मः' के स्थान पर 'अत्थि' आदेश प्राप्त पद की प्राप्ति होगी।

सूत्र-संख्या ३-१४४ में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचनार्थ में धातुओं में जोड़ने योग्य तीन प्रत्यय 'मो, मु और म' बतलाये गये हैं; जिनमें से इस सूत्र में 'अस्' धातु के साथ में जुड़ने योग्य केवल दो प्रत्यय 'मो तथा म' का ही उल्लेख किया है और शेष तृतीय प्रत्यय मु' को छोड़ दिया है; इस पर से निश्चयात्मक रूप से यही जानना चाहिए कि 'अस्' धातु के साथ में 'मु' प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जाता है।

अहम् अस्मि=अह अत्थि=मैं हूं; वयम् स्म:=अम्हे अत्थि=हम हैं; वयम् स्म=अम्हो अत्थि=हम हैं। यों अस्मि और स्मः' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-१४८ के आदेशानुसार 'अत्थि' पद की आदेश-प्राप्ति का सद्भाव होता है।

शंका—पहले सूत्र-संख्या २-७४ में आपने बतलाया है कि 'पद्म शब्द के संयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर तथा 'श्म, ष्म, स्म और ह्म' के स्थान पर प्राकृत में 'म्ह' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है' तद्‌नुसार 'अस्मि' कियापद में और 'स्म' क्रियापद में स्थित पदांश 'स्म' के स्थान पर 'म्ह' आदेश प्राप्ति होकर इष्ट पदांश म्ह' की प्राप्ति हो जाती है; तो ऐसी अवस्था में इस सूत्र-संख्या ३-१४७ को निर्माण करने की कौन सी आवश्यकता रह जाती है?

उत्तर:—यह सत्य है; परन्तु जहाँ विभक्तियों के संबंध में विधि-विधानों का निर्माण किया जा रहा हो, वहाँ पर प्राय साध्यमान अवस्था ही (सिद्ध की जाने वाली अवस्था हो) अंगीकृत की जाती है। यदि विभक्तियों से सम्बन्धित विधि-विधानों का निश्चयात्मक विधान निर्माण नहीं करके केवल व्यञ्जन एवं स्वर वर्णों के विकार से तथा परिवर्तन से सम्बन्धित नियमों पर ही अवलम्बित रह जायेंगे तो प्राकृत भाषा में जो विभक्ति बोधक स्वरूप संस्कृत के समान ही पाये जाते हैं; उनके विषय में में अव्यवस्था जैसी स्थिति उत्पन्न हो जायगी; जैसे कि कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—वृक्षेण=वच्छेण, वृक्षेषु=वच्छेसु, सर्वे=सव्वे: ये=जे, ते=ते, के=के, इत्यादि; इन विभक्तियुक्त पदों की साधनिका प्रथम एवम् द्वितीय पादों में वर्णित वर्ण-विकार से सम्बन्धित नियमों द्वारा भली भांति की जा सकती है; परन्तु ऐसी स्थिति में भी तृतीय पाद में इन पदों में पाये जाने वाले प्रत्ययों के लिये स्वतन्त्र रूप से विधि-विधानों का निर्माण किया गया है; जैसे वच्छेण पद में सूत्र-संख्या ३-६ और ३-१४ का प्रयोग किया जाता है, वच्छेसु पद में सूत्र-संख्या ३-१५ का प्रयोग होता है, 'सव्वे, जे, ते, के' पदों में सूत्र-संख्या ३-५८ का आधार है; यों यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल वर्ण-विकार एव वर्ण-परिवर्तन से सम्बन्धित नियमोपनियमों पर ही अवलम्बित नहीं रहकर विभक्ति से सम्बन्धित विधियों के सम्बन्ध में सर्वथा नूतन तथा पृथक नियमों का ही निर्माण किया जाना चाहिये, अतएव आपकी उपरोक्त शंका अर्थ शून्य ही है। यदि आपकी शंका को सत्य माने तो विभक्ति-स्वरूप-बोधक सूत्रों का निर्माण 'अनारम्भणीय' रूप हो जायगा; जो कि अनिष्टकर एव विघातक प्रमाणित होगा। ग्रन्थकार द्वारा वृत्ति में प्रदर्शित मन्तव्य का ऐसा तात्पर्य है।

'एस' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-३१ में की गई है।

अस्मि संस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का एकवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप म्हि होता है। इस में सूत्र-संख्या ३-१४१ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में 'अस्‌ धातु में प्राकृतीय प्रत्यय 'मि' की प्राप्ति और ३-१४७ से प्राप्त रूप 'अस्+मि' के स्थान पर 'म्हि' रूप की सिद्धि हो जाती है।

गताः संस्कृत का पुँल्लिंग विशेषण का रूप है। इसका प्राकृत रूप गय है। इसमें सूत्र-संख्या १-११ से पदान्त विसर्ग रूप व्यञ्जन का लोप; १-१७७ से 'त्' व्यञ्जन का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'आ' स्वर के स्थान पर 'या' की प्राप्ति और १-८४ से प्राप्त वर्ण 'या' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन 'म्हो' का सद्भाव होने से ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति होकर '*गय*' रूप की सिद्धि हो जाती है।

स्मः सस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का बहुवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'म्हो' दिया गया है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१४४ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में 'अस्' धातु में प्राकृतीय प्रत्यय 'मो' की प्राप्ति और ३-१४७ से प्राप्त रूप 'अस् + मो' के स्थान पर 'म्हो' रूप की सिद्धि हो जाती है।

'*गय*' (विशेषणात्मक) रूप को सिद्धि *इसी सूत्र में* ऊपर की गई है।

स्मः संस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का बहुवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'म्ह' होता है। इसमें सूत्र संख्या ३-१४४ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में 'अस्' धातु में प्राकृतीय प्रत्यय 'म' की प्राप्ति और ३-१४७ से प्राप्त रूप अस् + म' के स्थान पर म्ह' रूप की सिद्धि हो जाती है।

अस्मि संस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का एकवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'अत्थि' भी होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१४१ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में 'अस्' धातु में प्राकृतीय प्रत्यय 'मि' की प्राप्ति और ३-१४८ से प्राप्त रूप 'अस् + मि' के स्थान पर '*अत्थि*' रूप की सिद्धि हो जाती है।

'अहं' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१०५* में की गई है।

स्मः संस्कृत का वर्तमानकाल का तृतीय पुरुष का बहुवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप 'अत्थि' भी होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१४४ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में 'अस' धातु में प्राकृतीय प्रत्यय 'मो-मु-म' की प्राप्ति और ३-१४८ से प्राप्त रूप 'अस् + मो-मु-म' के स्थान पर 'अत्थि' रूप की सिद्धि हो जाती है।

'अम्हे' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१०६* में की गई है।

'*स्मः = अत्थि*' रूप की सिद्धि *इसी सूत्र में* ऊपर की गई है।

'अम्हो' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१०६* मे की गई है।

'वच्छेण' (प्राकृत पद) की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-६* में की गई है।

'पच्छेत्तु' (प्राकृत-पद) की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१५ में की गई है।

'सव्वे' 'जे' 'ते' और के चारों रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५८ में की गई है। ३-१४७॥

अत्थिस्त्यादिना ॥ ३-१४८ ॥

अस्तेः स्थाने त्यादिभिः सह अत्थि इत्यादेशो भवति ॥ अत्थि सो। अत्थि ते। अत्थि तुमं। अत्थि तुम्हे। अत्थि अहं। अत्थि अम्हे ॥

अर्थ.—संस्कृत-धातु 'अस' के प्राकृत-रूपान्तर में वर्तमानकाल के एकवचन के और बहुवचन के तीनो पुरुषों के प्रत्ययों की संयोजना होने पर तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में उक्त धातु 'अस्' तथा प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर समान रूप से एक ही रूप 'अत्थि' की आदेश-प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—(१) सः अस्ति=सो अत्थि=वह है, (२) तौ स्तः अथवा ते सन्ति=ते अत्थि = वे दोनो अथवा वे (सब) है, (३) त्वमसि=तुमं अत्थि = तू है; (४) युवाम् स्थः अथवा यूयम् स्थ = तुम्हे अत्थि = तुम दोनों अथवा तुम (सब) हो; (५) अहम् अस्मि = अहं अत्थि = मैं हूँ और (६) आवाम् स्वः अथवा वयम् स्म = अम्हे अत्थि = हम दोनों अथवा हम (सब) है। यों 'अस्' धातु के वर्तमानकाल के तीनों पुरुषों में और दोनों वचनों में सूत्र-संख्या ३-१४६,-१४७-१४८ के अनुसार प्राकृत-भाषा में निम्न प्रकार से रूप होते हैं —

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	अत्थि	अत्थि
द्वितीय	सि और अत्थि	अत्थि
तृतीय	म्हि और अत्थि	म्हो; म्ह और अत्थि

इस प्रकार 'अस्' धातु के प्राकृत-भाषा में आदेश-प्राप्त रूप पाये जाते हैं, और केवल आदेश-प्राप्त एक रूप 'अत्थि' ही तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में समान रूप से प्रयुक्त होकर इष्ट-तात्पर्य को प्रदर्शित कर देता है।

'*अस्ति = अत्थि*' (क्रियापद) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-४५ में की गई है।

'*सो*' (सर्वनाम-पद) की सिद्धि सूत्र-संख्या-३-८६ में की गई है।

सन्ति (और *स्तः*) संस्कृत के वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचनान्त (और द्विवचनान्त क्रम से)-परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद के रूप है। इन दोनों का प्राकृत रूप अत्थि ही होता है। इनमें सूत्र-संख्या ३-१४८ से दोनो रूपों के स्थान पर 'अत्थि' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*असि = अत्थि*' (क्रियापद) रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१४६ में की गई है।

ते (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-५८ में की गई है।

'तुमं' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१४६ में की गई है।

'स्थ: और स्थ' संस्कृत के वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के क्रम से द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त परस्मैपदीय अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनका प्राकृत रूप 'अत्थि' होता है। इनमें सूत्र-संख्या ३-१४८ से दोनों रूपों के स्थान पर 'अत्थि' रूप सिद्ध हो जाता है।

'तुम्हे' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-९१ में की गई है।

'अस्मि = अत्थि' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१४७ में की गई है।

'अहं' (सर्वनाम) रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१०५ में की गई है।

'स्मः (और स्वः) = 'अत्थि' रूप की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१४७ में की गई है।

'अम्हे' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१०६ में की गई है। ३-१४८॥

णेरदेदावावे ॥ ३–१४९ ॥

णेः स्थाने अत् एत् आव आवे एते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ दरिसइ। कारेइ। करावइ। करावेइ ॥ हासेइ। हसावइ। हसावेइ ॥ उवसामेइ। उवसमावइ। उवसमावेइ ॥ बहुलाधिकारात् क्वचिदेन्नास्ति। जाणावेइ ॥ क्वचिद् आवे नास्ति। पाएइ। भावेइ ॥

अर्थः—इस सूत्र से प्रारम्भ करके आगे १५३ वे सूत्र तक प्रेरणार्थक क्रिया का विवेचन किया जा रहा है। जहाँ पर किसी की प्रेरणा से कोई काम हुआ हो वहाँ, प्रेरणा करने वाले की क्रिया को बताने के लिए प्रेरणार्थक क्रिया का प्रयोग होता है। संस्कृत भाषा में प्रेरणा अर्थ में धातु से परे 'णिच् = अय' प्रत्यय जोड़ा जाता है; इसलिये इस क्रिया को 'णिजन्त' भी कहते हैं। प्राकृत-भाषा में प्रेरणार्थक क्रिया का रूप बनाना हो तो प्राकृत धातु के मूल रूप में सर्व प्रथम संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'अत्, एत्, आव और आवे' प्रत्ययों में से कोई भी एक प्रत्यय जोड़ने से वह धातु प्रेरणार्थ क्रियावाली बन जायगी; तत्पश्चात् प्राप्तांग रूप धातु में जिस काल का प्रत्यय जोड़ना चाहें उस काल का प्रत्यय जोड़ा जा सकता है। आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'अत् और एत्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त्' की इत्संज्ञा होकर यह लोप हो जाता है। इस प्रकार किसी भी धातु मे काल बोधक प्रत्ययों के पूर्व मे 'अ, ए, आव और आवे' में से कोई भी एक णिजन्त बोधक अर्थात् प्रेरणार्थक प्रत्यय जोड़ने से उस धातु का अंग प्रेरक-अर्थ में तैयार हो जाता है। इस सम्बन्ध में विविध नियमों की

विवेचना आगे के सूत्रों में की जावेगी। प्रेरणार्थक क्रियाओं के कुछ सामान्य उदाहरण इस प्रकार हैं:— दर्शयति=दरिसई=वह दिखलाता है। कारयति = कारेइ, करावई, करावेइ = वह कराता है। हासयति = हासेइ, हसावइ, हसावेइ = वह हँसाता है। उपशामयते = उवसामेइ, उवसमावइ, उवसमावेइ = वह शांत कराता है। 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से किसी किसी समय में और किसी किसी धातु में उपरोक्त 'एत्=ए' प्रत्यय की सयोजना नहीं भी होती है। जैसे —ज्ञापयति=जाणावेइ = वह बतलाता है। यहाँ पर 'ज्ञापयति' के स्थान पर 'जाणेइ' रूप का प्रेरणार्थक में निषेध कर दिया गया है। कहीं कहीं पर 'आवे' प्रत्यय की भी प्राप्ति नहीं होती है। जैसे—पाययति=पाएइ = वह पिलाता है। यहाँ पर 'पाययति' के स्थान पर 'पावेइ' रूप का निषेध ही जानना। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है.—भावयति = भावेइ वह चिंतन करता है। यहाँ पर सस्कृत रूप 'भावयति' के स्थान पर प्राकृत में 'भावावेइ' रूप के निर्माण का अभाव ही जानना चाहिये। इसी प्रकार से प्रेरणार्थक क्रियाओं की विशेष विशेषताएँ आगे के सूत्रों में और भी अधिक बतलाई जाने वाली है।

दर्शयति सस्कृत प्रेरणार्थक क्रिया का रूप है। इसका प्राकृत रूप दरिसइ होता है। इसमें सूत्र-सख्या-२-१०५ से रेफ रूप हलन्त व्यञ्जन 'र्' में आगम रूप 'इ' की प्राप्ति; १-२६० से 'श' के स्थान पर स' की प्राप्ति; ३-१४९ से प्रेरणार्थक-क्रिया-बोधक सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में 'अत् = अ' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक प्राकृत-धातु दरिस' में वर्तमान-काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रेरणार्थक-क्रिया बोधक प्राकृतीय धातु रूप दरिसइ सिद्ध हो जाता है।

कारयति सस्कृत प्रेरणार्थक क्रिया का रूप है। इसके प्राकृत रूप कारेइ, करावइ, और करावेइ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-सख्या-३-१५३ से मूल प्राकृत-धातु 'कर' में स्थित आदि ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-क्रिया-बोधक-प्रत्यय 'अत' अथवा 'एत' का लोप होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति; ३-१५८ से प्राप्त प्रेरणार्थक-धातु-अंग 'कार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे वर्तमानकाल बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से 'ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक प्राकृत धातु 'कारे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप कारेइ सिद्ध हो जाता है।

करावइ एव करावेइ मे सूत्र-सख्या ३-१४९ से मूल प्राकृत धातु 'कर' में णिजन्त अर्थात प्रेरणार्थक-भाव में सस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'आव और आवे' प्रत्यय की प्राप्ति; १-५ से मूल धातु 'कर' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के साथ में आगत प्रत्यय 'आव एवं आवे' में स्थित आदि दीर्घ स्वर 'आ' की सधि होकर अंगरूप 'कराव और करावे' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक प्राकृत धातु अगों में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय और तृतीय रूप क्रम से करावइ और करावेइ दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं।

हासयति संस्कृत प्रेरणार्थक-क्रिया का रूप है। इसके प्राकृत रूप हासेइ, हसावइ और हसावेइ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल प्राकृत धातु 'हस' में स्थित आदि ह्रस्व स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-क्रिया-बोधक-प्रत्यय 'अत्' अथवा 'एत्' का लोप होने से दीर्घ स्वर 'आ' की प्राप्ति; ३-१५८ से प्राप्त प्रेरणार्थक-धातु-अंग 'हास' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे वर्तमानकाल-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से 'ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक प्राकृत-धातु-अंग 'हासे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत मे 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *हासेइ* सिद्ध हो जाता है।

हसावइ और हसावेइ में सूत्र संख्या ३-१४९ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में णिजन्त अर्थात प्रेरणार्थक-भाव में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'आव और आवे' प्रत्यय की प्राप्ति; १-५ से मूल-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'अ' के साथ में आगत प्रत्यय 'आव एवं आवे' में स्थित आदि दीर्घ स्वर 'आ' की संधि होकर अंग-रूप 'हसाव और हसावे' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक प्राकृत-धातु-अंगों में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय और तृतीय रूप क्रम से *हसावइ* और *हसावेइ* दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं।

उपशामयति संस्कृत प्रेरणार्थक-क्रिया का रूप है। इसके प्राकृत-रूप उवसामेइ, उवसमावइ और उवसमावेइ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या-१-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति; १-२६० से 'श्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; ३-१४९ से णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक भाव में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक प्राकृत-धातु-अंग 'उवसामे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *उवसामेइ* सिद्ध हो जाता है।

उवसमावइ और उवसमावेइ में सूत्र-संख्या १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति; १-२६० से 'श' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; ३-१४९ से प्राप्त प्राकृत धातु 'उवसम्' में णिजन्त अर्थात प्रेरणार्थक भाव में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से दोनों रूपों मे 'आव और आवे' प्रत्ययो की प्राप्ति; यों प्राप्त प्रेरणार्थक रूप उवसमाव और उवसमावे में सूत्र-संख्या ३-१३९ से वर्तमान-काल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में दोनों रूपों में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनो रूप *उवसमावइ और उवसमावेइ* सिद्ध हो जाते हैं।

ज्ञापयति संस्कृत प्रेरणार्थक क्रिया का रूप है। इसको प्राकृत रूप जाणावेइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-७ से मूल संस्कृत धातु 'ज्ञा' के स्थान पर प्राकृत में 'जाण' रूप की आदेश-प्राप्ति; ३-१४९ से प्राप्त रूप 'जाण्' में णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक-भाव में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में 'आवे' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक क्रिया रूप जाणावे में वर्त-

मानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय प्रेरणार्थक क्रिया का रूप *जाणावेइ* सिद्ध हो जाता है।

पाययाति संस्कृत प्रेरणार्थक क्रिया का रूप है। इसका प्राकृत-रूप पाएइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१४९ से मूल प्राकृत-धातु 'पा' में णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक-भाव में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक क्रिया रूप 'पाए' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय प्रेरणार्थक क्रिया का रूप *पाएइ* सिद्ध हो जाता है।

भावयाति संस्कृत प्रेरणार्थक क्रिया का रूप है। इसका प्राकृत रूप भावेइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-१-१० से मूल प्राकृत धातु भाव में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' का आगे णिजन्त बोधक प्रत्ययात्मक स्वर 'ए' का सद्भाव होने से लोप; ३-१४९ से प्राप्त हलन्त प्रेरणार्थक-क्रिया 'भाव्' में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्त प्रेरणार्थक क्रिया रूप 'भावे' में वर्त्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय प्रेरणार्थक क्रिया का रूप *भावेइ* सिद्ध हो जाता है। ३-१४९॥

गुर्वादेरविर्वा ॥ ३-१५० ॥

गुर्वादेर्णः स्थाने अवि इत्यादेशो वा भवति ॥ शोषितम्। सोसविअं। सोसिअं॥ तोषितम्। तोसविअं। तोसिअं॥

अर्थः—जिन धातुओं में आदि-स्वर गुरु अर्थात् दीर्घ होता है, उन धातुओं में णिजन्त-अर्थ में अर्थात् प्रेरणार्थक-भाव के निर्माण में उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-१४९ में वर्णित णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'अत, 'एत्' आव और आवे' में से कोई भी प्रत्यय नहीं जोड़ा जाता है; किन्तु केवल एक ही प्रत्यय 'अवि' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। तदनुसार आदि-स्वर दीर्घ वाली धातुओं में णिजन्त-अर्थ में कभी 'अवि' प्रत्यय जुड़ता भी है और कभी किसी भी प्रकार के प्रत्यय को नहीं जोड़ करके णिजन्त अर्थ प्रदर्शित कर दिया जाता है। उदाहरण इस प्रकार है:—शोषितम्=सोसविअं अथवा सोसिअं=सुखाया हुआ; तोषितम्=तोसविअं अथवा तोसिअं=संतुष्ट कराया हुआ। इन उदाहरणों में अर्थात् सोसविअं और तोसविअं में तो णिजन्त अर्थ में 'अवि' प्रत्यय जोड़ा गया है, जबकि द्वितीय क्रम वाले 'सोसिअं और तोसिअं' में णिजन्त अर्थ में 'अवि' प्रत्यय की वैकल्पिक स्थिति बतलाते हुए एव अभाव-स्थिति प्रदर्शित करते हुए किसी भी प्रकार के णिजन्त-बोधक प्रत्यय की संयोजना नहीं करके

भी इन क्रियाओं का रूप णिजन्त-अर्थ सहित प्रदर्शित कर दिया गया है; यों अन्य आदि-स्वर-दीर्घ वाली धातुओं के सम्बन्ध में भी णिजन्त-अर्थ के सद्भाव में 'अवि' प्रत्यय की वैकल्पिक-स्थिति को समझ लेना चाहिये तथा णिजन्त-अर्थ-बोधक-प्रत्य का अभाव होने पर भी ऐसी धातुओं में णिजन्त-अर्थ का सद्भाव जान लेना चाहिये।

शोषितम् संस्कृत प्रेरणार्थक-क्रिया का रूप है। इसके प्राकृत रूप *सोसविअं* और *सोसिअं* होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२६० से मूल संस्कृत धातु 'शोप्' में स्थित दोनों प्रकार के 'श' और 'ष्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्' की प्राप्ति; ३-१५० से प्राप्त रूप 'सोस्' में आदि स्वर दीर्घ होने से प्रेरणार्थक-भाव में प्राकृत से 'अवि' प्रत्यय की प्राप्ति; ४-४४८ से भूत-कृदन्त अर्थ मे संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी प्राप्त रूप 'सोसवि' में 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त 'त्' व्यञ्जन का लोप; ३-२५ से प्राप्त रूप सोसविअ में प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे अकारान्त नपुंसकलिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत मे 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय भूतकृदंतीय एकवचनान्त प्रेरणार्थक-क्रिया का प्रथम रूप *सोसविअं* सिद्ध हो जाता है।

सोसिअं में सूत्र-संख्या १-२६० से मूल संस्कृत रूप शोप् में स्थित 'श और ष' के स्थान पर स' की प्राप्ति; ३-१५० से प्रेरणार्थक भाव का सद्भाव होने पर भी प्रेरणार्थक प्रत्यय 'अवि' का वैकल्पिक रूप से अभाव; ४-२३९ से प्राकृतीय प्राप्त हलन्त रूप 'सोस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे भूत-कृन्दत-अर्थक प्रत्यय 'त' का सद्भाव होने से 'इ' प्राप्ति; ४-४४८ से भूत-कृन्दत अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त त' वर्ण में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; यों प्राप्त रूप 'सोसिअ' मे शेष साधनिका प्रथम रूप के समान ही सूत्र संख्या ३-२५ और १ २३ से प्राप्त होकर द्वितीय रूप *सोसिअं* भी सिद्ध हो जाता है।

तोषितम् संस्कृत प्रेरणार्थक क्रिया का रूप है। इसके प्राकृत रूप तोसविअं और तोसिअं होते हैं। इनमे से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या १-२६० से मूल संस्कृत धातु 'तोष्' मे स्थित मूर्धन्य 'ष' के स्थान पर प्राकृत मे 'स्' की प्राप्ति; ३-१५० से प्राप्त रूप 'तोस्' में आदि स्वर दीर्घ होने से प्रेरणार्थक-भाव में प्राकृत मे 'अवि' प्रत्यय की प्राप्ति; ४ ४४८ से भूत-कृदन्त अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी प्राप्त रूप 'तोसवि' में 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त वर्ण 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-२५ से प्राप्त रूप तोसविअ में प्रथमा-विभक्ति के एकवचन मे अकारान्त नपुंसकलिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतीय भूत-कृदन्तीय एकवचनान्त प्रेरणार्थक क्रिया का प्रथम रूप *तोसविअं* सिद्ध हो जाता है।

तोसिअं में सूत्र-संख्या १-२६० से मूल संस्कृत धातु तोष् में स्थित 'ष्' के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति; ३-१५० से प्रेरणार्थक-भाव का सद्भाव होने पर भी प्रेरणार्थक-प्रत्यय 'अवि' का वैकल्पिक रूप से अभाव, ४-२३६ से प्राकृतीय प्राप्त हलन्त रूप 'तोस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे भूत-कृदन्त अर्थक प्रत्यय 'त' का सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति, ४-४४८ से भूत-कृदन्त-अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त 'त' वर्ण में से हलन्त-व्यञ्जन 'त्' का लोप; यों प्राप्त रूप 'तोसिअ' में शेष साधनिका प्रथम रूप के समान ही सूत्र-संख्या ३-२५ और १-२३ से प्राप्त होकर द्वितीय रूप *तोसिअं* भी सिद्ध हो जाता है। ३-१५०॥

भ्रमे राडो वा ॥ ३-१५१॥

भ्रमेः परस्य णेराड आदेशो वा भवति ॥ भमाडइ । भमाडेइ । पक्षे । भामेइ । भमावइ । भमावेइ ॥

अर्थ.—संस्कृत-भाषा की धातु भ्रम् के प्राकृत रूप भम् में णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक-भाव के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रेरणार्थक प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'आड' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैं.—भ्रामयति=भमाडइ अथवा भमाडेइ=वह घुमाता है। वैकल्पिक-पक्ष का सद्भाव होने से प्रेरणार्थक-भाव में जहां भम् धातु में 'आड' प्रत्यय का अभाव होगा वहाँ पर सूत्र-संख्या ३-१४९ के अनुसार प्रेरणार्थक-भाव में 'अत, एत, आव और आवे प्रत्ययों में से किसी भी एक प्रत्यय का सद्भाव होगा। जैसे-भ्रामयति=भामइ, भामेइ, भमावइ और भमा-वेइ=वह घुमाता है। यों प्राकृत धातु 'भम्' के प्रेरणार्थक-भाव में छह रूपों का सद्भाव होता है। तत्पश्चात् इष्ट काल-बोधक प्रत्ययों की संयोजना होती है।

भ्रामयति संस्कृत प्रेरणार्थक-क्रिया का रूप है। इसके प्राकृत रूप *भमाडइ, भमाडेइ, भामइ, भामेइ, भमावइ* और *भमावेइ* होते हैं। इनमें से प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या २-७९ से मूल संस्कृत-धातु 'भ्रम्' में स्थित 'र्' व्यञ्जन का लोप; ३-१५१ से प्राप्तांग 'भम्' में प्रेरणार्थक-भाव में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत में 'आड' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति; ३-१५८ से द्वितीय रूप में प्राप्त प्रत्यय 'आड' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति; यों प्राप्तांग 'भमाड और भमाडे' में सूत्र संख्या ३-१३९ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' की प्राप्ति होकर *भमाडइ* और *भमाडेइ* प्रेरणार्थक रूप सिद्ध हो जाते हैं।

भामइ मे सूत्र-संख्या २-७६ से संस्कृत धातु 'भ्रम्' में स्थित 'र्' व्यञ्जन का लोप; ३-१५३ से प्राप्तांग 'भम्' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-बोधक-प्रत्यय का वैकल्पिक रूप से लोप कर देने से 'आ' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्तांग; भाम्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'भाम' मे वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *भामइ* भी सिद्ध हो जाता है।

भामेइ मे 'भाम' अंग की प्राप्ति उपरोक्त तृतीय रूप मे वर्णित साधनिका के समान ही होकर सूत्र-संख्या ३-१५८ से अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से तृतीय रूप के समान ही 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर चतुर्थ रूप *भामेइ* सिद्ध हो जाता है।

भमावइ और भमावेइ में सूत्र-संख्या ३-१४९ से पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'भम्' में प्रेरणार्थक-भाव में वैकल्पिक रूप से संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अय' के स्थान पर प्राकृत मे 'आव और आवे' प्रत्यय की क्रम से प्राप्ति और ३-१३९ से दोनों प्राप्तांगो 'भमाव और भमावे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रेरणार्थक-भाव में अन्तिम दोनों रूप '*भमावइ* और *भमावेइ*' क्रम से सिद्ध हो जाते हैं। ३-१५१॥

लुगावी-क्त-भाव-कर्मसु ॥ ३-१५२॥

णेः स्थाने लुक् आवि इत्यादेशौ भवतः क्ते भाव कर्मविहिते च प्रत्यये परतः॥ कारिअं। कराविअं। हासिअं। हसाविअं॥ खामिअं। खमाविअं॥ भाव कर्मणोः। कारीअइ। करावीअइ। कारिज्जइ। कराविज्जइ। हासीअइ। हसावीअइ। हासिज्जइ। हसाविज्जइ॥

अर्थः—जिस समय में प्राकृत-धातुओं में भूत कृदन्त सम्बन्धी प्रत्यय 'त' लगा हुआ हो अथवा भाव-वाच्य एवं कर्मणिवाच्य सम्बन्धी प्रत्यय लगे हुए हों तो उन धातुओं में प्रेरणार्थक-भाव की निर्माण-अवस्था में सूत्र-संख्या ३-१४९ में वर्णित प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक प्रत्यय 'अत्, एत्, आव और आवे' का या तो लोप हो जायगा अथवा इन प्रत्ययों के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'आवि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हो जायगी और उन धातुओं का भूत कृदन्त अर्थ सहित अथवा भाव-वाच्य-कर्मणिवाच्य अर्थ सहित प्रेरणार्थक-रूप का निर्माण हो जायगा। उदाहरण इस प्रकार हैं:—कारितम्=कारिअं अथवा कराविअं=कराया हुआ; हासितम् = हासिअं अथवा हसाविअं=हँसाया हुआ और क्षामितम्=खामिअं अथवा खमाविअं=क्षमाया हुआ; ये उदाहरण भूत-कृदन्त सम्बन्धी हैं; इनमे से प्रथम रूपों में प्रेरणार्थक-क्रिया का सद्भाव प्रदर्शित किया जाता हुआ होने पर भी इनमें सूत्र-संख्या ३-१४९ के अनुसार प्राकृत में प्राप्तव्य णिजन्त-अर्थ-बोधक प्रत्यय 'अत् एत् आव और आवे' का लोप प्रदर्शित किया गया है।

जबकि द्वितीय द्वितीय रूपों में प्रेरणार्थक-भाव में प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'आवि' का सद्-भाव प्रदर्शित किया गया है। भाव-वाचक और कर्मणिवाचक उदाहरण इस प्रकार हैं:—कार्यते=कारीअइ, करावीअइ, कारिज्जइ और कराविज्जइ=उससे कराया जाता है; हास्यते=हासीअइ हसावीअइ, हासिज्जइ और हसाविज्जइ=उससे हसाया जाता है। इन उदाहरणों में भी अर्थात् 'कारीअइ, कारिज्जइ, हासीअइ और हासिज्जइ' मे तो प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक-प्रत्ययों का अभाव प्रदर्शित करते हुए भी प्रेरणार्थक-भाव का सद्भाव प्रदर्शित किया गया है। जबकि शेष उदाहरणों में अर्थात् 'करावीअइ, कराविज्जइ, हसावीअइ और हसाविज्जइ' में प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक-प्रत्यय 'अत् एत्, आव और आवे' के स्थान पर 'आवि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति प्रदर्शित करते हुए प्रेरणार्थक-भाव का सद्भाव प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार अन्यत्र भी यह समझ लेना चाहिये कि प्राकृत-भाषा में धातुओं से भूत-कृदन्त-सम्बन्धी प्रत्यय 'त' और भाव-वाच्य-कर्मणिवाच्य प्रत्ययों के परे रहने पर णिजन्त-बोधक प्रत्ययो का या तो लोप हो जायगा अथवा इन प्रत्ययो के स्थान पर 'आवि' प्रत्यय की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति हो जायगी।

कारितम् संस्कृत का भूत-कृदन्तीय रूप है। इसके प्राकृत रूप कारिअं और कराविअं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप मे सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल प्राकृत-धातु 'कर' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भूत कृदन्तीय प्रत्यय का सद्भाव होने से ३-१५२ द्वारा प्रेरणार्थक-भाव प्रदर्शक-प्रत्यय का लोप हो जाने से 'आ' की प्राप्ति; ३-१५६ से प्राप्तांग 'कार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भूत-कृदन्त वाचक प्रत्यय 'त' का सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से प्राप्तांग 'कारि' में भूत कृदन्त-वाचक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय त' के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति, १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-२५ से प्राप्तांग 'कारिअ' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' को पूर्व वर्ण पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर भूत कृदन्तीय प्रेरणार्थक-भाव-सूचक प्रथमान्त एकवचनीय प्राकृत-पद *कारिअं* सिद्ध हो जाता है।

कराविअं में सूत्र-संख्या ३-१५२ से मूल प्राकृत-धातु-'कर' में प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति; और शेष साधनिका प्रथम रूप के समान ही प्राप्त होकर द्वितीय रूप *कराविअं* भी सिद्ध हो जाता है।

हासितम् संस्कृत कृदन्त का रूप है। इसके प्राकृत रूप हासिअं और हसाविअं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप हासिअं मे सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भूत-कृदन्तीय प्रत्यय का सद्भाव होने से ३-१५२ द्वारा प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक-प्रत्यय का लोप हो जाने से 'आ' की प्राप्ति, ३-१५६ से प्राप्तांग 'हास' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भूत-कृदन्त-वाचक प्रत्यय 'त' का सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से प्राप्तांग 'हासि' में भूत-कृदन्त-

वाचक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'त' के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति, १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-२५ से प्राप्तांग 'हासिअ' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर भूत-कृदन्तीय प्रेरणार्थक-भाव-सूचक प्रथमान्त एकवचनीय प्राकृत-पद *हासिअं* सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप-(हासितम्=) हसाविअं में सूत्र-संख्या-३-१५२ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में प्रेरणार्थक भाव प्रदर्शक प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति; प्राप्तांग 'हसावि' मे शेष-साधनिका प्रथम रूप के समान ह सूत्र-संख्या ४-४४८;१-१७७,३-२५ और १-२३ द्वारा होकर द्वितीय रूप *हसाविअं* भी सिद्ध हो जाता है।

क्षामितम् संस्कृत का भूत-कृदन्तीय रूप है। इसके प्राकृत-रूप खामिअं और खमाविअं होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या २-३ से मूल संस्कृत-धातु 'क्षम्' में स्थित 'क्ष' व्यञ्जन के स्थान पर 'ख' की प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्तांग 'खम्' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भूत कृदन्तीय प्रत्यय का सद्भाव होने से ३-१५२ द्वारा प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक प्रत्यय का लोप हो जाने से 'आ' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्तांग हलन्त 'खाम्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्' मे विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५६ से प्राप्तांग 'खाम' में उक्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे भूत कृदन्तवाचक प्रत्यय 'त' का सद्भाव होने से 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से प्राप्तांग 'खामि' मे भूत-कृदन्तवाचक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'त' के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-२५ से प्राप्तांग 'खामिअ' मे प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त नपुंसकलिंग मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत मे 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर भूत कृदन्तीय प्रेरणार्थक-भाव-सूचक प्रथमान्त एकवचनीय प्राकृतीय प्रथम पद *खामिअं* सिद्ध हो जाता है।

खमाविअं में मूल प्राकृत अंग 'खम्' की प्राप्ति उपरोक्त प्रथम रूप के समान और ३-१५२ से मूल-प्राकृत-धातु 'खम्' में प्रेरणार्थक-भाव-प्रदर्शक प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति; इइ प्रकार प्रेरणार्थक-रूप से प्राप्तांग 'खमावि' में शेष साधनिका प्रथम रूप के समान ही सूत्र-संख्या ४-४४८; १-१७७; ३-२५ और १-२३ द्वारा होकर द्वितीय रूप *खमाविअं* भी सिद्ध हो जाता है।

कार्यते संस्कृत प्रेरणार्थक रूप है। इसके प्राकृत रूप कारीअइ, करावीअइ, कारिज्जइ और कराविज्जइ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल-प्राकृत-धातु 'कर' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-भाव-सूचक प्रत्यय के सद्भाव का ३-१५२ द्वारा लोप कर देने से 'आ' की प्राप्ति; १-१० से प्राप्तांग 'कार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' का आगे प्राप्त कर्मणि-वाचक-प्रत्यय 'ईअ' में स्थित दीर्घ स्वर 'ई' का सद्भाव होने से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त 'कार्' में कर्मणि-प्रयोग

वाचक प्रत्यय 'ईअ' की प्राप्ति; १-५ से हलन्त 'कार' के साथ में उक्त प्राप्त प्रत्यय 'ईअ' की संधि हो जाने से 'कारीअ' अंग की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'कारीअ' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *कारीअइ* सिद्ध हो जाता है।

करावीअइ में सूत्र-संख्या ३-१५२ से मूल प्राकृत-धातु 'कर' में प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति; १-५ से 'कर' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के साथ में आगे रहे हुए 'आवि' प्रत्यय के आदि स्वर 'आ' की संधि, ३-१६० से प्राप्तांग 'करावि' में कर्मणि-प्रयोग-वाचक प्रत्यय 'ईअ' की प्राप्ति; १-५ से 'करावि' मे स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के साथ मे आगे प्राप्त प्रत्यय 'ईअ' में स्थित आदि दीर्घ स्वर 'ई' की संधि होकर दोनों स्वरों के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'करावीअ' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *करावीअइ* सिद्ध हो जाता है।

कारिज्जइ में सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल प्राकृत धातु 'कर' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-भाव सूचक-प्रत्यय के सद्भाव का ३-१५२ द्वारा लोप कर देने से 'आ' की प्राप्ति; १-१० से प्राप्तांग 'कार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' का आगे प्राप्त कर्मणि-प्रयोग-वाचक प्रत्यय इज्ज' में स्थित ह्रस्व स्वर 'इ' का सद्भाव होने से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त 'कार्' में कर्मणि-प्रयोग वाचक प्रत्यय 'इज्ज' की प्राप्ति, १-५ से हलन्त 'कार्' के साथ में उक्त प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की संधि हो जाने से 'कारिज्ज' अंग की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'कारिज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *कारिज्जइ* सिद्ध हो जाता है।

कराविज्जइ में सूत्र-संख्या ३-१५२ से मूल प्राकृत-धातु 'कर' में प्रेरणार्थक-प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति, १-५ से 'कर' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के साथ में आगे रहे हुए 'आवि' प्रत्यय के आदि स्वर 'आ' की संधि होकर 'करावि' अंग की प्राप्ति, १-१० से प्राप्तांग 'करावि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' का आगे कर्मणि-प्रयोग-सूचक प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' में स्थित आदि ह्रस्व स्वर 'इ' का सद्भाव होने से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त 'कराव्' में कर्मणि-प्रयोगवाचक प्रत्यय 'इज्ज' की प्राप्ति, १-५ से हलन्त 'कराव्' के साथ में उक्त प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की संधि होकर कराविज्ज' अंग की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'कराविज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर चतुर्थ रूप *कराविज्जइ* सिद्ध हो जाता है।

हास्यते संस्कृत का कर्मणि-वाचक रूप है। इसके प्राकृत रूप हासीअइ, हसावीअइ, हासिज्जइ, और हसाविज्जइ। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-भाव-सूचक प्रत्यय के सद्भाव का ३-१५२ द्वारा लोप कर देने से

'आ' की प्राप्ति; १-१० से प्राप्तांग 'हास' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त कर्मणि-वाचक प्रत्यय 'ईअ' में स्थित दीर्घस्वर 'ई' का सद्भाव होने से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त 'हास्' में कर्मणि-प्रयोग वाचक-प्रत्यय 'ईअ' की प्राप्ति; १-५ से हलन्त 'हास्' के साथमे उक्त प्राप्त प्रत्यय 'ईअ' की संधि हो जाने से 'हासीअ' अंग की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'हासीअ' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्ययकी प्राप्ति होकर प्रथम रूप *हासीअइ* सिद्ध हो जाता है।

हसावीअइ में सूत्र संख्या ३-१५२ से मूल प्राकृत धातु 'हस' में प्रेरणार्थक-प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति; १-५ से 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के साथ में आगे रहे हुए 'आवि' प्रत्यय के आदि स्वर 'आ' की संधि; ३ १६० से प्राप्तांग 'हसावि' में कर्मणि-प्रयोगवाचक प्रत्यय 'ईअ' की प्राप्ति; १-५ से प्राप्तांग 'हसावि' मे स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के साथ में आगे प्राप्त प्रत्यय 'ईअ' में स्थित आदि दीर्घ स्वर 'ई' की संधि होकर दोनों स्वरों के स्थान पर दीर्घ स्वर 'ई' की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'हसावीअ' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *हसावीअइ* सिद्ध हो जाता है।

हासिज्जइ में सूत्र-संख्या ३-१५३ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक-भाव-सूचक-प्रत्यय के सद्भाव का ३-१५२ द्वारा लोप कर देने से 'आ' की प्राप्ति; १-१० से प्राप्तांग 'हास' मे स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त कर्माण-प्रयोग-वाचक प्रत्यय 'इज्ज' मे स्थित ह्रस्व स्वर 'इ' का सद्भाव होने से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त हास्' में कर्मणि-प्रयोग-वाचक प्रत्यय 'इज्ज' की प्राप्ति; १-५ से हलन्त 'हास्' के साथ में उक्त प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की संधि हो जाने से 'हासिज्ज' अंग की प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'हासिज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एक-वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तृतीय रूप *हासिज्जइ* सिद्ध हो जाता है।

हसाविज्जइ मे सूत्र-सख्या-३-१५२ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में प्रेरणार्थक-प्रत्यय 'आवि' की प्राप्ति; १-५ से 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के साथ में आगे रहे हुए प्रत्यय 'आवि' के आदि स्वर 'आ' की संधि होकर 'हसावि' अंग की प्राप्ति; १-१० से प्राप्तांग 'हसावि' में स्थित अन्त्य ह्रस्व स्वर 'इ' के आगे कर्मणि-प्रयोग-सूचक प्रत्यय 'इज्ज' में स्थित आदि ह्रस्व स्वर 'इ' का सद्भाव होने से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त 'हसाव्' मे कर्मणि-प्रयोग-वाचक प्रत्यय 'इज्ज' की प्राप्ति; १-५ से हलन्त 'हसाव्' के साथ में उक्त प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की संधि होकर 'हसाविज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर चतुर्थ रूप *हसाविज्जइ* सिद्ध हो जाता है। ३-१५२॥

अदेल्लुक्यादेरत आः ॥ ३-१५३॥

णेरदेल्लोपेषु कृतेषु आदेरकारस्य आ भवति ॥ अति। पाडइ। मारइ ॥ एति। कारेइ। खामेइ। लुकि। कारिअं। खामिअं। कारीअइ। खामीअइ। कारिज्जइ। खामिज्जइ ॥ अदेल्लुकीतिकिम्। कराविअं। करावीअइ ॥ कराविज्जइ ॥ आदेरितिकिम्। संगामेइ। इह व्यहितस्य मा भूत् ॥ कारिअं। इहान्त्यस्य मा भूत् ॥ अत इति किम् ॥ दूसेइ ॥ केचित्तु आवे आव्यादेशयोरप्यादेरत आत्वमिच्छन्ति। कारावेइ। हासाविओ जणो सामलीए ॥

अर्थः—प्राकृत-धातुओं में णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक भाव में सूत्र-संख्या ३-१४९ के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय 'अत् अथवा एत्' की प्राप्ति होने पर यदि उन प्राकृत-धातुओं के आदि में 'अ' स्वर रहा हुआ हो तो उस आदि 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति हो जाया करती है। इसी प्रकार से सूत्र-संख्या ३-१५२ के अनुसार प्रेरणार्थक-भाव के साथ में भूत-कृदन्तीय प्रत्यय 'त' के कारण से और कर्मणि-वाचक-भाव-वाचक प्रत्ययों के सयोग से लुप्त हुए प्रेरणार्थक-भाव-सूचक-प्रत्ययों के अभाव में प्राकृत-धातुओं के आदि में स्थित 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'अत् एत' के सद्भाव में अथवा णिजन्त-बोधक-प्रत्ययों की लोप-अवस्था में धातु के आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति हुआ करती है। 'अत्' से सम्बन्धित उदाहरण इस प्रकार हैं—पातयति=पाडइ=वह गिराता है। मारयते=मारइ=वह मारता है। इन 'पड और मर' धातुओं में काल बोधक प्रत्यय 'इ' के पूर्व में णिजन्त-बोधक 'अत्' प्रत्यय का सद्भाव होने से इनमें स्थित आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति हो गई है। इसी प्रकार से 'एत्' प्रत्यय से सम्बन्धित उदाहरण निम्न प्रकार से हैं—कारयति=कारेइ=वह कराता है; क्षामयति=खामेइ=वह क्षमा कराता है, इन 'कर और खम' धातुओं में काल-बोधक प्रत्यय 'इ' के पूर्व में णिजन्त-बोधक 'एत्' प्रत्यय का सद्भाव होने से इनमें स्थित आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति हो गई है। भूत कृदन्त प्रत्यय 'त' के सद्भाव में णिजन्त-बोधक प्रत्ययों के लोप हो जाने पर धातुओं के आदि 'अकार' को आकार की प्राप्ति होने के उदाहरण इस प्रकार हैं—कारितम्=कारिअं=कराया हुआ, क्षामितम्=खामिअं=क्षमाया हुआ, इन 'कर और खम' धातुओं में भूत-कृदन्त बोधक प्रत्यय 'त=अ' के पूर्व में णिजन्त-बोधक-प्रत्यय का लोप हो जाने से इनमें स्थित आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति हो गई है। कर्मणि प्रयोग और भावे-प्रयोग का सद्भाव होने पर णिजन्त-बोधक-प्रत्ययों के लोप हो जाने पर धातुओं के आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति होने के उदाहरण इस प्रकार जानना:—कार्यते=कारीअइ अथवा कारिज्जइ=उससे कराया जाता है, क्षाम्यते=खामीअइ अथवा खामिज्जइ=उससे क्षमाया जाता है। इन 'कर और खम' धातुओं में प्रयुक्त कर्मणि-प्रयोग एवं भावे-प्रयोग-द्योतक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' के पूर्व में णिजन्त-बोधक-प्रत्ययों के लोप हो जाने पर इन धातुओं में स्थित आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति हो गई है। अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्न:—णिजन्त-बोधक 'अत् और एत्' होने पर अथवा णिजन्त बोधक-प्रत्ययों के लोप होने पर ही धातुओं के आदि में रहे हुए 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति होती है; एसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर:—णिजन्त बोधक-प्रत्यय चार अथवा पाँच हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—अत्, एत्, आव, आवे और पाँचवां (सूत्र-संख्या ३-१५२ के विधानानुसार) आवि है। इनमें से यदि 'आव, आवे और आवि' प्रत्ययों का सद्भाव धातुओं में हो तो ऐसी अवस्था में धातुओं में आदि में रहे हुए 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे उदाहरण इस प्रकार है:—कारितम् = कराविअं=कराया हुआ; कार्यते=करावीअइ अथवा कराविज्जइ=उससे कराया जाता है; इन उदाहरणों में न तो णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'अत् अथवा एत्' की प्राप्ति हुई और न णिजन्त बोधक प्रत्ययों का लोप ही हुआ है; अतएव 'कर' धातु में स्थित आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति भी नहीं हुई है; इसीलिये कहा गया है कि णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'अत् अथवा एत्' का सद्भाव होने पर ही या णिजन्त बोधक प्रत्ययों का लोप होने पर ही धातुओं मे रहे हुए आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति होती है; अन्यथा नहीं।

प्रश्न:—धातु में रहे हुए आदि 'अकार' को ही आकार की प्राप्ति होती है; ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—धातु में रहा हुआ आदि 'अकार' यदि किसी भी प्रकार से अस्पष्ट हो अथवा व्य-वधान-ग्रस्त हो अथवा शब्द के मध्य में स्थित हो तो उस 'अकार' को भी 'आकार' की प्राप्ति नहीं होगी; तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से और व्यवधान रहित रूप से अवस्थित 'अकार' को ही आकार की प्राप्ति होती है; अन्यथा नहीं जैसे:—संग्रामयति=संगामेइ = वह लड़ाई कराता है। इस उदाहरण में 'संगाम' धातु में आदि 'अकार' अनुस्वार सहित होकर अस्पष्ट एवं व्यवधान वाला हो गया है अतएव इस आदि 'अकार' को 'आकार' की प्राप्ति नहीं हुई है। तदनुसार व्यवधान रहित तथा स्पष्ट रूप से रहे हुए आदि 'अकार' को ही 'आकार' की प्राप्ति होती है; यह तात्पर्य ही सूत्र में रहे हुए 'आदि' शब्द से प्रतिध्वनित होता है।

यदि कोई 'अकार' धातु के अन्त में आ जाय तो इस अकार को भी 'आकार' की प्राप्ति नहीं होवे इसलिये भी 'आदि' शब्द का उल्लेख किया गया है। जैसे:—कारितम् = कारिअं = कराया हुआ; इस उदाहरण में अन्त में 'अकार' आया हुआ है; परन्तु इसको 'आकार' की प्राप्ति नहीं हो सकती है; इन सभी उपरोक्त कारणों से सूत्र में 'आदि' शब्द के उल्लेख करने की आवश्यकता पड़ी है। जो कि मनन करने योग्य है।

प्रश्नः—'अकार' को ही 'आकार' की प्राप्ति होती है; ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—यदि धातु के आदि में 'अकार' स्वर नहीं होकर कोई दूसरा ही स्वर हो तो उस स्वर को 'आकार' की प्राप्ति नहीं होगी। 'आकार' की प्राप्ति का सौभाग्य केवल 'अकार' के लिये ही है; अन्य

किसी भी स्वर के लिये नहीं है; ऐसा प्रदर्शित करने के लिये ही 'अकार' स्वर का उल्लेख मूल-सूत्र में करना ग्रन्थकार ने आवश्यक समझा है। जैसे:—दोषयति=दूसेइ=वह दोष दिखाता है; इस उदाहरण में 'दूस' धातु में आदि में 'अकार' नहीं होकर 'उकार' का सद्भाव है; तदनुसार णिजन्त-बोधक रूप का सद्भाव होने पर भी एवं णिजन्त-बोधक-प्रत्यय 'एत्' का सद्भाव होने पर भी इस धातु में आदि-रूप से स्थित 'उकार' को 'आकार' की प्राप्ति नहीं हुई है, इस पर से यही निष्कर्ष निकलता है कि धातु में यदि 'अकार' ही आदि रूप से तथा स्पष्ट रूप से और अव्यवधान रूप से स्थित हो तो उसी को 'आकार' की प्राप्ति होती है; अन्य किसी भी स्वर को 'आकार' की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्राकृत भाषा के कोई कोई व्याकरणाचार्य ऐसा भी कहते हैं कि यदि धातु में णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'आवे और आवि' का सद्भाव हो तथा उस अवस्था में धातु के आदि में 'अकार' स्वर रहा हुआ हो तो उस 'अकार' स्वर को 'आकार' की प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—कारयति = कारावेइ=वह कराता है। हासितः जनः श्यामलया = हासाविओ जणो सामलीए=श्यामा (स्त्री) से (वह) पुरुष हँसाया गया है। इन उदाहरणों में मूल प्राकृत-धातु 'कर और हस' में णिजन्त बोधक प्रत्यय 'आवे और आवि' का सद्भाव होने पर इन धातु में स्थित आदि 'अकार' स्वर को 'आकार' में परिणत कर दिया गया है। इस प्रकार 'आवे और आवि' णिजन्त-बोधक प्रत्ययों के सद्भाव में धातुस्थ आदि 'अकार' को 'आकार' में परिणत कर देने का वैकल्पिक रूप अथवा आर्षरूप अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

पातयति संस्कृत का प्रेरणार्थक रूप है। इसका प्राकृत रूप पाडइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-२१९ से मूल संस्कृत-धातु 'पत्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन 'त्' के स्थान पर 'ड्' की प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्तांग 'पड्' में स्थित आदि 'अकार' को आगे णिजन्त-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से 'आकार' की प्राप्ति; ३-१४९ से प्राप्तांग 'पाड्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ड्' में णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'अत्= अ' की प्राप्ति और ३-१३९ से णिजन्त-भाव वाले प्राप्तांग 'पाड' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एक-वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-क्रियापद का रूप *पाडइ* सिद्ध हो जाता है।

मारयति संस्कृत का प्रेरणार्थक-रूप है। इसका प्राकृत रूप मारइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-२३४ से मूल संस्कृत-धातु 'मृ' में स्थित अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'अर' की प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्तांग 'मर' में स्थित आदि 'अकार' के स्थान पर आगे णिजन्त बोधक प्रत्यय 'अत्=अ' का सद्भाव होने से 'आकार' की प्राप्ति, १-१० से प्राप्तांग 'मार' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे णिजन्तबोधक-प्रत्यय 'अत्=अ' की प्राप्ति होने से लोप; ३-१४९ से प्राप्तांग हलन्त 'मार्' में णिजन्त बोधक प्रत्यय 'अत्=अ' की प्राप्ति और ३-१३९ से णिजन्त-भाव वाले प्राप्तांग 'मार' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर णिजन्त-अर्थक वर्तमान-कालीन प्राकृत-क्रियापद का रूप *मारइ* सिद्ध हो जाता है।

'कारेइ' प्रेरणार्थक-रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१४९ में की गई है।

क्षामयति संस्कृत का प्रेरणार्थक-रूप है। इसका प्राकृत रूप खामेइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-३ से मूल संस्कृत धातु 'क्षम्' में स्थित आदि व्यञ्जन 'क्ष' के स्थान पर प्राकृत में 'ख' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्तांग 'खम्' में स्थित आदि स्वर 'अ' के आगे णिजन्त-बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने से 'आ' की प्राप्ति; ३-१४९ से प्राप्तांग 'खाम्' में णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'एत्=ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से णिजन्त रूप से प्राप्तांग 'खामे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर णिजन्त अर्थक वर्तमानकालीन प्राकृत-क्रियापद का रूप *खामेइ* सिद्ध हो जाता है।

कारिअं खामिअं और *कारिअइ* रूपों की सिद्धि सूत्र संख्या ३-१५२ में की गई है।

क्षाम्यते संस्कृत का णिजन्त-का रूप है। इसका प्राकृत रूप *खामीअइ* होता है। इसमें सूत्र-संख्या २ ३ से मूल संस्कृत-धातु 'क्षम्' स्थित आदि व्यञ्जन 'क्ष' के स्थान पर प्राकृत में 'ख' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्तांग 'खम्' में स्थित आदि स्वर 'अ' के आगे सूत्र-संख्या ३-१४९ से प्राप्तव्य णिजन्त-बोधक प्रत्यय की सूत्र-संख्या ३-१५२ से लोप-व्यवस्था प्राप्त हो जाने से 'आ' की प्राप्ति; ३-१६० से णिजन्त अर्थ सहित प्राप्तांग 'खाम्' में कर्मणि-भावे प्रयोग-द्योतक प्रत्यय 'ईअ' की प्राप्ति; १-५ से प्राप्तांग खाम्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्' के साथ में आगे प्राप्त प्रत्यय 'ईअ' की संधि और ३-१३९ से णिजन्त-अर्थ सहित कर्मणि-भावे प्रयोग रूप से प्राप्तांग 'खामीअ' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *खामीअइ* सिद्ध हो जाता है।

कारिज्जइ' क्रियापद की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१५२ में की गई है।

क्षाम्यते संस्कृत का रूप है। इसका प्राकृत रूप खामिज्जइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-२-३ से मूल-संस्कृत-धातु 'क्षम्' में स्थित आदि व्यञ्जन 'क्ष' के स्थान पर प्राकृत में 'ख' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्तांग 'खम्' मे स्थित आदि स्वर 'अ' के आगे सूत्र-संख्या ३-१४९ से प्राप्तव्य णिजन्त-बोधक-प्रत्यय की सूत्र-संख्या ३-१५२ के निर्देश से लोपावस्था-प्राप्त हो जाने से 'आ' की प्राप्ति; ३ १६० से णिजन्त-अर्थ-सहित प्राप्तांग 'खाम्' में कर्मणि-भावे-प्रयोग-द्योतक प्रत्यय 'इज्ज' की प्राप्ति; १-५ से प्राप्तांग 'खाम्' मे स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'म्' के साथ में आगे प्राप्त प्रत्यय 'इज्ज' की संधि और ३-१३९ से णिजन्त-अर्थ-सहित कर्मणि-भावे-प्रयोग रूप से प्राप्तांग 'खामिज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *खामिज्जइ* सिद्ध हो जाता है।

'कराविअं' करावीअइ और कराविज्जइ तीनों रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१५२ में की गई है।

संग्रामयाति संस्कृत का णिजन्त रूप है। इसका प्राकृत-रूप संगामेइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या-२-७९ से मूल संस्कृत-धातु सग्राम् में स्थित 'र्' व्यञ्जन का लोप; ३-१५३ की वृत्ति से प्राप्तांग 'संगाम्' में आदि रूप से स्थित अनुस्वार सहित 'अ' के स्थान पर आगे णिजन्त-बोधक-प्रत्यय का सद्भाव होने पर भी 'आ' की प्राप्ति का अभाव; ३-१४९ से प्राप्तांग 'सगाम्' में णिजन्त बोधक प्रत्यय 'एत्=ए' की प्राप्ति; और ३-१३९ से णिजन्त-अर्थक रूप से प्राप्तांग 'संगामे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एक-वचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-क्रियापद का रूप 'संगामेइ' सिद्ध हो जाता है।

'कारिअं' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१५२ में की गई है।

दूषयति संस्कृत का प्रेरणार्थक रूप है। इसका प्राकृत-रूप दूसेइ होता है। इसमें सूत्र संख्या-१-२६० से मूल संस्कृत-धातु 'दू ष्' में स्थित मूर्धन्य 'ष' के स्थान पर दन्त्य स्' की प्राप्ति; ३-१४९ से प्राप्तांग 'दूस्' में णिजन्त अर्थक प्रत्यय 'एत्=ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से णिजन्त-अर्थक रूप से प्राप्तांग 'दूसे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत क्रियापद का रूप दूसेइ सिद्ध हो जाता है।

कारयति संस्कृत का प्रेरणार्थक रूप है। इसका प्राकृत-रूप कारावेइ (किया गया) है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३४ से मूल संस्कृत धातु कृ' में स्थित अन्त्य 'ऋ' के स्थान पर 'अर' की प्राप्ति; ३-१५३ की वृत्ति से प्राप्तांग 'कर' में स्थित आदि 'अ' के आगे णिजन्त बोधक प्रत्यय 'आवे' का सद्भाव होने के कारण से 'आ' की प्राप्ति; ३-१४९ से प्राप्तांग 'कार' में णिजन्त-बोधक प्रत्यय 'आवे' की प्राप्ति, १-५ से प्राप्तांग 'कार' में स्थित अन्त्य 'अ' के साथ में आगे आये हुए प्रत्यय 'आवे' की संधि होकर दीर्घ आकार की प्राप्ति के साथ णिजन्त-अर्थक-अंग 'कारावे' की प्राप्ति और ३-१३९ से णिजन्त-अर्थक-रूप से प्राप्तांग 'कारावे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतीय प्रेरणार्थक वर्तमान-कालीन क्रियापद का रूप कारावेइ सिद्ध हो जाता है।

हासित' संस्कृत का भूत कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत रूप हासाविओ (किया गया) है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१५३ की वृत्ति से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित आदि 'अकार' के आगे प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आवि' का सद्भाव होने के कारण से 'आकार' की प्राप्ति; ३-१५२ से प्राप्तांग 'हास' में आगे भूत कृदन्तीय प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से प्रेरणार्थक-भाव निर्माण में सूत्र-संख्या ३-१४९ के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय 'अत्, एत्, आव और आवे' के स्थान पर 'आवि' प्रत्यय की प्राप्ति, ४-४४८ से

णिजन्त-अर्थक रूप से प्राप्तांग 'हासावि' में कृदन्त अर्थक प्रत्यय 'त' की प्राप्ति; १-१७७ से कृदन्त-अर्थक प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-२ से णिजन्त-अर्थ सहित भूत कृदन्तीय विशेषणात्मक रूप से प्राप्तांग अकारान्त पुंल्लिग 'हासाविअ' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत पद *हासाविओ* सिद्ध हो जाता है।

'जणो' रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१८१* में की गई है।

श्यामलया संस्कृत आकारान्त स्त्रीलिंग का रूप है। इसका प्राकृत रूप सामलीए होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७८ से 'य्' व्यञ्जन का लोप; १-२६० से लोप हुए 'य्' के पश्चात् शेष रहे हुए मूर्धन्य 'शा' के स्थान पर दन्त्य 'सा' की प्राप्ति; ३-३२ से प्राप्तांग 'सामला' में स्थित अन्त्य स्त्रीलिंग वाचक प्रत्यय 'आ' को 'ई' की प्राप्ति; और ३-२९ से प्राप्तांग दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिंग 'सामली' में तृतीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा=या' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिंग की तृतीया विभक्ति के एकवचन के रूप से प्राप्त *सामलीए* रूप की सिद्धि हो जाती है। ३-१५३॥

मौ वा ॥ ३-१५४॥

अत आ इति वर्तते। आदन्ताद्धातो मौं परे अत आत्वं वा भवति ॥ हसामि हसमि। जाणामि जाणमि। लिहामि लिहमि ॥ अत इत्येव। होमि ॥

अर्थः—जो प्राकृत-धातु अकारान्त हैं; उनमें स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे 'म्' व्यञ्जन से प्रारम्भ होने वाले काल-बोधक-प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर 'आ' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुआ करती है। इस प्रकार इस सूत्र का भी विधान धातुस्थ अन्त्य 'अ' को 'आ' रूप में परिणत करने के लिये ही किया गया है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसामि = हसामि अथवा हसमि=मैं हँसता हूं; जानामि = जाणामि अथवा जाणमि = मैं जानता हूं; लिखामि = लिहामि अथवा लिहमि=मैं लिखता हूं; इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि अकारान्त धातुओं में स्थित अन्त्य 'अ' के परे 'म्' से प्रारंभ होने वाले प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'आ' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से हुई है। यों अन्यत्र भी जानना चाहिये।

प्रश्न:—'अकारान्त-धातुओं' के लिये ही ऐसा विधान क्यों किया गया है?

उत्तर:—जो धातु अकारान्त नहीं होकर अन्य स्वरान्त हैं; उनमें स्थित उस अन्त्य स्वर को 'आ' की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिये केवल 'अकारान्त' धातुओं के लिये ही ऐसा विधान जानना चाहिये! जैसे:—भवामि=होमि = मैं होता हूँ। इस उदाहरण में प्राकृत-धातु 'हो' के अन्त में 'ओ' स्वर

है; तदनुसार आगे 'म्' से प्रारम्भ होने वाले काल-बोधक-प्रत्यय का सद्भाव होने पर भी उस अन्त्य स्वर 'ओ' को 'आ' की प्राप्ति नहीं हुई है, यों यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है कि केवल 'अन्त्य अ' को ही 'आ' की प्राप्ति होती है; अन्य अन्त्य स्वर को नहीं।

'*हसामि*' क्रियापद की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१४१* में की गई है।

हसामि संस्कृत वर्तमानकाल का रूप है। इसका प्राकृत रूप हसमि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१४१ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के समान ही प्राकृत में भी 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *हसमि* सिद्ध हो जाता है।

जानामि संस्कृत का वर्तमानकाल का रूप है। इसके प्राकृत-रूप जाणामि और जाणमि होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या-४-७ से संस्कृतीय मूल-धातु 'ज्ञा' के स्थानीय रूप 'जान्' के स्थान पर प्राकृत में 'जाण' रूप की आदेश-प्राप्ति, ३-१५४ से प्राप्त प्राकृत-धातु 'जाण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे 'म्' से प्रारम्भ होने वाले काल-बोधक-प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से वैकल्पिक रूप से 'आ' की प्राप्ति; और ३-१४१ से प्राप्तांग 'जाणा और जाण' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के समान ही प्राकृत में भी 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों क्रियापद-रूप-'*जाणामि* और *जाणमि*' सिद्ध हो जाते हैं।

लिखामि संस्कृत वर्तमानकाल का रूप है। इसके प्राकृत-रूप लिहामि और लिहमि होते हैं। में सूत्र-संख्या-१-१८७ से मूल संस्कृत-धातु 'लिख्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन 'ख्' के स्थान पर प्राकृत में 'ह्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त धातु 'लिह्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५४ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के आगे 'म्' से प्रारम्भ होने वाले काल-बोधक-प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से वैकल्पिक रूप से 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से प्राप्तांग 'लिहा और लिह' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के समान ही प्राकृत में भी 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों क्रियापद-रूप *लिहामि* और *लिहमि*' सिद्ध हो जाते हैं।

भवामि संस्कृत वर्तमानकाल का रूप है। इसका प्राकृत रूप होमि होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' रूप की आदेश प्राप्ति और ३-१४१ से प्राप्त प्राकृत धातु 'हो' में वर्तमानकाल के तृतीयपुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के समान ही प्राकृत में भी 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-क्रियापद का रूप *होमि* सिद्ध हो जाता है। ३-१५४॥

इच्च मो-मु-मे वा ॥ ३-१५५॥

अकारान्ताद्धातोः परेषु मो-मु-मेषु अत इत्वं चकारात् आत्वं च वा भवतः ॥

भणिमो भणामो। भणिमु भणामु। भणिम भणाम। पक्षे। भणमो। भणमु। भणम॥ वर्तमाना-मञ्चमी-शतृषु वा (३-१५८) इत्येत्वे तु भणेमो। भणेमु। भणेम॥ अत इत्येव। ठामो। होमो॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा की अकारान्त धातुओं में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे वर्तमान-काल के तृतीय पुरुष के बहुवचन के प्रत्यय 'मो-मु-म' परे रहने पर वैकल्पिक रूप से 'इ' को प्राप्ति हुआ करती है तथा मूल-सूत्र में चकार होने से उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-१५४ के अनुसार उस अन्त्य 'अ' के स्थान पर इन्हीं 'मो-मु-म' प्रत्ययों के परे रहने पर वैकल्पिक रूप से 'आ' की प्राप्ति भी हुआ करती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—भणामः=भणिमो भणामो; भणिमु भणामु; भणिम भणाम; वैकल्पिक पक्ष होने से जहाँ पर अन्त्य 'अ' को 'इ' अथवा 'आ' को प्राप्ति नहीं होगी वहाँ पर 'भणमो, भणमु और भणम' रूप भी बनेंगे। इसी प्रकार से सूत्र-संख्या ३-१५८ में ऐसा विधान निश्चित किया गया है कि—'वर्तमानकाल के, आज्ञार्थक-विधि-अर्थक लकारों के और वर्तमान-कृदन्त के' प्रत्ययों के परे रहने पर अकारान्त-धातुओं के अन्त्य 'अकार' को वैकल्पिक रूप से 'एकार' की प्राप्ति भी हुआ करती है; तदनुसार वर्तमानकाल के प्रत्ययों के परे रहने पर अकारान्त धातुओं के अन्त्यस्थ 'अकार' को वैकल्पिक रूप से 'एकार' की प्राप्ति होने का विधान होने से 'भण' धातु के उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त ये तीन रूप और बनते हैं:— भणेमो, भणेमु और भणेम; इन बारह ही रूपों का एक ही अर्थ होता है और वह यह है कि—हम (सब) स्पष्ट रूप से बोलते हैं—स्पष्ट रूप से कहते है। 'इस प्रकार से अन्य अकारान्त-धातुओं के भी अन्त्यस्थ 'अकार' को वैकल्पिक रूप से 'आ अथवा इ अथवा ए' की प्राप्ति होने के कारण से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन के प्रत्यय 'मो-मु-म' परे रहने पर बारह बारह रूप बनते हैं।

प्रश्नः—अकारान्त-धातुओं के लिये ही ऐसा विधान क्यों किया गया है? अन्य स्वरान्त धातुओं के अन्त्यस्थ स्वर के सम्बन्ध में ऐसा विधान क्यों नहीं बतलाया गया है?

उत्तरः—अन्य स्वरान्त धातुओं के अन्त्यस्थ स्वर को आगे वर्तमानकाल के प्रत्ययों के परे रहने पर किसी भी प्रकार की स्वरात्मक-आदेश-प्राप्ति नहीं पाई जाती है; अतएव प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल विधान कैसे बनाया जा सकता है? जैसे कि:—तिष्ठामः=ठामो=हम ठहरते हैं; भवामः=होमो=हम होते हैं; इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि 'ठा और हो' धातु क्रम से आकारान्त और ओकारान्त हैं; अतएव इन अथवा ऐसी ही अन्य धातुओं के अन्त्यस्थ स्वर 'आ अथवा ओ अथवा अन्य स्वर' को आगे पुरुष बोधक प्रत्ययों के परे रहने पर भी 'अकार' के समान 'आ अथवा इ अथवा ए अथवा अन्य स्वर' आत्मक वैकल्पिक आदेश-प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये केवल धातु स्थ अन्त्य 'अकार' के संबंध में ही ग्रन्थकार ने उक्त विधि-विधान बनाना उचित समझा है और अन्य अन्त्यस्थ स्वरों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विधि विधान की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया है।

भणामः संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसके प्राकृत रूप बारह होते हैं भणमो, भणमु, भणम, भणामो, भणामु, भणाम, भणिमो, भणिमु, भणिम, भणेमो, भणेमु और भणेम। इनमें से प्रथम तीन रूपों में सूत्र-संख्या ३-१४४ से मूल प्राकृत-धातु 'भण' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मस' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'मो-मु-म' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से '*भणमो, भणमु* और *भणम* सिद्ध हो जाते हैं।

भणामो, भणामु और *भणाम* में सूत्र-संख्या ३-१५४ से मूल प्राकृत-धातु 'भण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अकार' के स्थान पर 'आकार' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति और ३-१४४ से प्रथम तीन रूपों के समान ही 'मो-मु-म' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर चौथा, पाँचवा और छट्ठा रूप *भणामो, भणामु* और *भणाम* सिद्ध हो जाते हैं।

भणिमो, भणिमु और भणिम में सूत्र संख्या ३-१५५ से मूल प्राकृत-धातु 'भण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अकार' के स्थान पर 'इकार' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति और ३-१४४ से प्रथम तीन रूपों के समान ही 'मो-मु-म' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर सातवा, आठवां और नववां रूप *भणिमो, भणिमु* और *भणिम* सिद्ध हो जाते हैं।

भणेमो, भणेमु और भणेम में सूत्र-संख्या ३-१५८ से मूल प्राकृत-धातु 'भण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति और ३-१४४ से प्रथम तीन रूपों के समान ही 'मो-मु-म' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर दशवां, ग्यारहवां और बारहवां रूप *भणेमो, भणेमु* और *भणेम* सिद्ध हो जाता है।

तिष्ठामः संस्कृत का क्रियापद रूप है। इसका प्राकृत रूप ठामो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१६ से मूल संस्कृत धातु 'स्था' के आदेश-प्राप्त रूप 'तिष्ठ्' के स्थान पर प्राकृत में 'ठा' रूप की आदेश प्राप्ति और ३-१४४ से आदेश प्राप्त प्राकृत धातु 'ठा' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मस्' के स्थान पर प्राकृत में 'मो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-क्रियापद का रूप '*ठामो*' सिद्ध हो जाता है।

भवामः संस्कृत क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप होमो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१४४ से आदेश-प्राप्त प्राकृत-धातु 'हो' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मस्' के स्थान पर प्राकृत में 'मो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत क्रियापद का रूप *होमो* सिद्ध हो जाता है। ३-१५५ ॥

क्ते ॥ ३-१५६ ॥

क्ते परतोत इत्त्वं भवति॥ हसिअं। पढिअं। नविअं। हासिअं। पाढिअं॥ गयं नयमित्यादि तु सिद्धावस्थापेक्षणात्॥ अत इत्येव। झायं। लुअं। हूअं॥

अर्थः—अकारान्त धातुओं में यदि भूत-कृदन्त का प्रत्यय 'त=अ' लगा हुआ हो तो उन अकारान्त धातुओं के अन्त्य 'अ' के स्थान पर निश्चित रूप से 'इ' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः—हसितम्=हसिअं=हँसा हुआ; अथवा हँसे हुए को; पठितम्=पढिअं=पढ़ा हुआ; अथवा पढ़े हुए को; नमितम्=नविअं=नमा हुआ; अथवा नमे हुए को; हासितम्=हासिअं=हँसाया हुआ; पाठितम्=पाढिअं=पढ़ाया हुआ; इत्यादि। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि धातुओं में भूत-कृदन्त-वाचक प्रत्यय 'त=अ' का सद्भाव होने के कारण से मूल धातुओं के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति हो गई है। प्राकृत-भाषा में कुछ धातुओं के भूत कृदन्तीय-रूप ऐसे भी पाये जाते हैं जो कि उपरोक्त-नियम से स्वतन्त्र होते हैं। जैसेः—गतम्=गयं=गया हुआ; नतम्=नयम्=नमा हुआ; अथवा जिसको नमस्कार किया गया हो-उसको; इन उदाहरणों में भूत कृदन्तीय-अर्थ का सद्भाव होने पर भी 'गम और नम' में स्थित अन्त्य 'अ' को 'इ' की प्राप्ति नहीं हुई है; इसका कारण यही है कि इनकी प्रक्रिया-संस्कृतीय रूपों के आधार से बनी हुई है और तत्पश्चात् प्राकृतीय वर्ण-विकार-गत-नियमों से इन्हें प्राकृत-रूपों की प्राप्ति हो गई है। सारांश यह है कि संस्कृतीय-सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से इन प्राकृत-रूपों का निर्माण हुआ है और इसीलिये ऐसे रूप इस सूत्र-संख्या ३-१५६ से स्वतन्त्र हैं; इस सूत्र का अधिकार ऐसे रूपों पर नहीं समझना चाहिये।

प्रश्नः—अकारान्त धातुओं में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति हो जाती है; ऐसा ही क्यों कहा गया है? और अन्य स्वरान्त धातुओं में स्थित अन्त्य स्वर के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति क्यों नहीं होती है?

उत्तरः—चूंकि अकारान्त धातुस्थ अन्त्य 'अ' के स्थान पर ही भूत-कृदन्तीय प्रत्यय के परे रहने पर 'इ' की प्राप्ति होती है तथा दूसरी धातुओं में स्थित अन्य किसी भी अन्त्य स्वर के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति नहीं होती है; इसीलिये ऐसा निश्चयात्मक विधान प्रदर्शित किया गया है। इसके समर्थन में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—ध्यातम्=झायं=ध्यान किया हुआ; लूनम्=लुअं=कतरा हुआ अथवा चीरा हुआ, और भूतम्=हूअं=गुजरा हुआ; इत्यादि। इन उदाहरणों में 'झा, लु और हू' में क्रम से स्थित स्वर 'आ, उ, और ऊ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति नहीं हुई है। अतएव जैसी परम्परा भाषा में प्रचलित होती है उसीके अनुसार नियमों का निर्माण किया जाता है; तदनुसार केवल अकारान्त-धातुओं में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर ही आगे भूत-कृदन्तीय-प्रत्यय का सद्भाव होने पर 'इ' की प्राप्ति होती है अन्य स्वर के स्थान पर नहीं; ऐसा सिद्धान्त निश्चित हुआ।

हासितम् संस्कृत कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत रूप हसिअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से हलन्त-व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त-प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व-वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *हसिअं* रूप सिद्ध हो जाता है।

पठितम् संस्कृत भूत-कृदन्तीय रूप का प्राकृत रूप पढिअं होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१९९ से 'ठ्' व्यञ्जन के स्थान पर 'ढ्' की प्राप्ति; १-१७७ से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *पढिअं* रूप सिद्ध हो जाता है।

नामितम् संस्कृत का भूत-कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत रूप नविअं होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-२२६ से मूल संस्कृत धातु 'नम्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन म्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्तांग 'नव्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से भूत-कृदन्त-अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त 'त्' का लोप, ३-५ से प्राप्तांग 'नविअ' में द्वितीय विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *नविअं* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*हासिअं*' प्रेरणार्थक रूप की सिद्धि सूत्र संख्या *३-१५२* में की गई है।

पाठितम् संस्कृत का प्रेरणार्थक रूप है। इसका प्राकृत रूप पाढिअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१९९ से मूल संस्कृत-धातु 'पठ' में स्थित हलन्त व्यञ्जन 'ठ्' के स्थान पर 'ढ्' की प्राप्ति; ३-१५३ से प्राप्त 'पढ्' में स्थित आदि स्वर 'अ' के स्थान पर आगे प्रेरणार्थक प्रत्यय का सद्भाव होकर भूत-कृदन्तीय-अर्थक प्रत्यय का योग होने से उस प्रेरणार्थक प्रत्यय का लोप होने के कारण से 'आ' की प्राप्ति, ४-२३९ से प्राप्तांग हलन्त 'पाढ' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५६ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे भूत-कृदन्तीय प्रत्यय का योग होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से संस्कृत में प्राप्तव्य भूत-कृदन्त-अर्थक प्रत्यय 'त' के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति' १-१७७ से भूत-कृदन्तीय प्रत्यय 'त' में हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप, ३-५ प्राप्तांग 'पाढिअ' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्रेरणार्थक *पाढिअं* रूप सिद्ध हो जाता है।

गयं रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-९७ में की गई है।

नतम् संस्कृत का भूत-कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत रूप नयं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-५ से प्राप्तांग नय में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'य' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर *नयं* रूप सिद्ध हो जाता है।

ध्यातम् संस्कृत भूत-कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत रूप झायं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६ से मूल संस्कृत-धातु 'ध्यै' के स्थान पर प्राकृत में 'झा' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-४४८ से भूत-कृदन्तीय-अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त भूत-कृदन्तीय प्रत्यय 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप; १-१८० से लोप हुए 'त्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति; ३-५ से प्राप्तांग 'झाय' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय-प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'य' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर भूत-कृदन्तीय द्वितीया-विभक्ति के एकवचन का प्राकृत-रूप *झायं* सिद्ध हो जाता है।

लूनम् संस्कृत भूत-कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत-रूप लुअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२५८ से सम्पूर्ण संस्कृत-शब्द 'लून' के स्थान पर प्राकृत में 'लुअ' रूप की आदेश-प्राप्ति; ३-५ से आदेश रूप से प्राप्तांग 'लुअ' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' क स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर भूत-कृदन्तीय द्वितीया-विभक्ति के एकवचन का प्राकृत-रूप *लुअं* सिद्ध हो जाता है।

भूतम् संस्कृत का भूत-कृदन्तीय रूप है। इसका प्राकृत-रूप हूअं होता है। इसमें सूत्र-संख्या-४-६४ से भूत-कृदन्तीय-प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण के मूल-संस्कृत धातु 'भू' के स्थान पर प्राकृत में 'हू' रूप की आदेश-प्राप्ति; ४-४४८ से भूत-कृदन्त-अर्थ में संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी 'त' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'त' में से हलन्त व्यञ्जन 'त' का लोप; ३-५ से प्राप्तांग हूअ' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'अम्' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'अ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर भूत-कृदन्तीय द्वितीया विभक्ति के एकवचन का प्राकृत-रूप *हूअं* सिद्ध हो जाता है। ॥ ३-१५६॥

एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥३-१५७॥

क्त्वा तुम् तव्येषु भविष्यत्कालविहिते च प्रत्यये परतोत एकारश्चकारादिकारश्च भवति ॥

क्त्वा । हसेऊण । हसिऊण ॥ तुम् । हसेउं । हसिउं ॥ तव्य । हसेअव्वं । हसिअव्वं ॥ भविष्यत् । हसेहिइ । हसिहिइ ॥ अत इत्येव । काऊण ॥

अर्थ.—प्राकृत-भाषा की अकारान्त धातुओं में सम्बन्धक भूतकृदन्त द्योतक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'क्त्वा=त्वा' के प्राकृत में स्थानीय प्रत्यय 'ऊण, उआण' आदि होने पर अथवा हेत्वर्थक-कृदन्त द्योतक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'तुम्' के प्राकृत में स्थानीय प्रत्यय 'उ' आदि होने पर अथवा विधि-कृदन्त द्योतक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'तव्य' के प्राकृत में स्थानीय प्रत्यय 'अव्व' होने पर अथवा भविष्यत्-काल-बोधक पुरुष-वाचक प्रत्यय होने पर उन अकारान्त-धातुओं के अन्त में स्थित 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होती है एवं मूल-सूत्र में 'चकार' का सद्भाव होने के कारण से कभी-कभी उन अकारान्त धातुओं के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति भी हो जाया करती है। सम्बन्धक भूत-कृदन्त-द्योतक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'क्त्वा' से सम्बन्धित उदाहरण इस प्रकार है:—हसित्वा=हसेऊण अथवा हसिऊण=हँस करके, हेत्वर्थक-कृदन्त-द्योतक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'तुम्' से सम्बन्धित उदाहरण इस प्रकार है.—हसितुम्=हसेउं अथवा हसिउं=हँसने के लिये; विधिकृदन्त-द्योतक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'तव्य' से सम्बन्धित उदाहरण इस प्रकार है.—हसितव्यम्=हसेअव्वं अथवा हसिअव्वं=हँसना चाहिये अथवा हँसी के योग्य है, भविष्यत्-काल बोधक प्रत्ययों से सम्बन्धित उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसिष्यति=हसेहिइ अथवा हसिहिइ=वह हँसेगा; इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि उपरोक्त कृदन्तों में अथवा भविष्यत्-काल के प्रयोग में अकारान्त धातुओं के अन्त्यस्थ स्वर 'अ' के स्थान पर या तो 'ए' की प्राप्ति होगी अथवा 'इ' की प्राप्ति होगी।

प्रश्नः—अकारान्त धातुओं के सम्बन्ध में ही ऐसा विधान क्यों बताया गया है? अन्य स्वरान्त धातुओं के सम्बन्ध में ऐसे विधान की प्राप्ति क्यों नहीं होती है?

उत्तर—चूँकि अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर ही 'ए' अथवा 'इ' की आदेश-प्राप्ति पाई जाती है और अन्य किसी भी अन्त्य स्वर के स्थान पर 'ए' अथवा 'इ' की आदेश प्राप्ति नहीं पाई जाती है; इसलिये केवल अन्त्य 'अ' के लिये ही ऐसा विधान निश्चित किया गया है। जैसे—कृत्वा=काऊण=करके, इस उदाहरण में सम्बन्धक-भूत-कृदन्त द्योतक प्रत्यय 'ऊण' का सद्भाव होने पर भी धातु आकारान्त होने से इस धातु के अन्त्यस्थ स्वर 'आ' के स्थान पर किसी भी प्रकार के अन्य स्वर की आदेश-प्राप्ति नहीं हुई है, इस प्रकार यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि केवल अकारान्त-धातुओं के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर ही 'क्त्वा', तुम-तव्य और भविष्यत् काल-वाचक-प्रत्ययों के परे रहने पर 'ए' अथवा 'इ' की आदेश-प्राप्ति होती है, अन्य अन्त्यस्थ स्वरों के स्थान पर उपरोक्त प्रत्ययों के परे रहने पर भी किसी भी अन्य स्वर की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है।

हसित्वा संस्कृत भूत-कृदन्त का रूप है। इसके प्राकृत-रूप हसेऊण और हसिऊण होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर क्रम से 'ए' और 'इ'

प्राप्ति; ३-१४६ से संबन्ध-भूत-कृदन्त-अर्थक प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्यय 'क्त्वा = त्वा' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत मे 'तूण' प्रत्यय की प्राप्ति और १-१७७ से प्राकृत में प्राकृत प्रत्यय 'तूण' में स्थित त्' का लोप होकर शेष रूप से प्राप्त 'ऊण' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत रूप *हसेऊण* और *हसिऊण* सिद्ध हो जाते हैं।

हासितुम् संस्कृत का हेत्वर्थक-कृदन्त का रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेउं और हसिउं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत धातु 'हस' म स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर क्रम से ए और इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से हेत्वर्थ कृदन्त के अर्थ में संस्कृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'तुम्' के समान ही प्राकृत में भी 'तुम्' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय तुम्' में स्थित 'त्' व्यञ्जन का लोप और १-२३ से 'त्' व्यञ्जन के लोप होने के पश्चात् शेष रहे हुए प्रत्यय रूप 'उम्' में स्थित अन्त्य हलन्त म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'उ' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत रूप हसेउं और *हसिउं* सिद्ध हो जाते हैं।

हासितव्यम् संस्कृत का विधि कृदन्त का रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेअव्वं और हसिअव्वं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर क्रम से 'ए' और 'इ' की प्राप्ति; ४-४४८ से विधि-कृदन्त के अर्थ में संस्कृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'तव्य' के समान ही प्राकृत में भी 'तव्य' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१७७ से प्राप्त प्रत्यय 'तव्य' में स्थित 'त्' व्यञ्जन का लोप; ३-२५ से प्राप्तांग 'हसेअव्व और हसिअव्व' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'व्व' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत रूप *हसेअव्वं* और *हसिअव्वं* सिद्ध हो जाते हैं।

हासिष्यति संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेहिइ और हसिहिइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत्काल बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से क्रम 'ए और इ' की प्राप्ति; ३-१६६ से क्रम से प्राप्तांग 'हसे और हसि' में भविष्यत्-काल-अर्थक रूप के निर्माण के लिए 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१३९ से भविष्यत्-काल-अर्थक रूप से निर्मित एवं प्राप्तांग 'हसेहि और हसिहि' में प्रथम पुरुष के एकवचन में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर भविष्यत्काल का प्राकृत रूप *हसेहिइ* और *हसिहिइ* सिद्ध हो जाते हैं।

'*काऊण*' कृदन्त रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या १-२७ में की गई है। ३-१५७॥

वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ॥ ३-१५८॥

वर्तमाना पञ्चमी शतृषु परत अकारस्य स्थाने एकारो वा भवति ॥ वर्तमाना। हसेइ

हसइ। हसेम हसिम। हसेमु हसिमु॥ पञ्चमी। हसेउ हसउ। सुणेउ सुणउ॥ शतृ। हसेन्तो हसन्तो॥ क्वचिन्न भवति। जयइ॥ क्वचिदात्वमपि। सुणाउ॥

अर्थः— प्राकृत-भाषा की अकारान्त धातुओं में वर्तमानकाल के पुरुष बोधक-प्रत्ययों का सद्‌भाव होने पर अथवा अथवा आज्ञार्थक या विधि अर्थक लकारों के प्रत्ययों का सद्‌भाव होने पर अथवा शतृ-बोधक याने वर्तमान-कृदन्त द्योतक-प्रत्ययों का सद्‌भाव होने पर उन अकारान्त धातुओं में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति हुआ करती है। वर्तमानकाल से सम्बन्धित उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसति=हसेइ अथवा हसइ = वह हँसता है। हसाम:=हसेम अथवा हसिम और हसेमु अथवा हसिमु=हम हसते हैं। इन उदाहरणों में यह बतलाया गया है कि 'हस' धातु अकारान्त है और इसमें वर्तमान-काल द्योतक प्रत्यय 'इ' और 'म' की प्राप्ति होने पर इस 'हस' धातु के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार से आज्ञार्थक और विधि-अर्थक लकारो के उदाहरण भी इस प्रकार हैं:—हसतु=हसेउ अथवा हसउ=वह हँसे; श्रृणोतु (शृणोतु)=सुणेउ अथवा सुणउ=वह सुने; इन आज्ञार्थक-बोधक उदाहरणों से भी यही प्रतीत होता है कि अकारान्त धातु 'हस और सुण' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे आज्ञार्थक-प्रत्यय का सद्‌भाव होने के कारण से वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति हुई है। वर्तमान-कृदन्त के उदाहरण यों हैं:—हसत् अथवा हसन् = हसेन्तो हसन्तो=हँसता हुआ, इस वर्तमान कृदन्त-द्योतक उदाहरण में भी यही प्रदर्शित किया गया है कि प्राकृत-धातु 'हस' के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर आगे वर्तमान-कृदन्त द्योतक प्रत्यय 'न्त' का सद्‌भाव होने के कारण से वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति हुई है। इस प्रकार इस सूत्र में यह विधान निश्चित किया गया है कि वर्तमानकाल के, आज्ञार्थ-विध्यर्थक लकार के और वर्तमानकाल कृदन्त के प्रत्यय परे रहने पर अकारान्त धातुओं के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति होती है।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि अकारान्त-धातु के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर उपरोक्त प्रत्ययों का सद्‌भाव होने पर भी 'ए' की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे:—जयति=जयइ=वह जीतता है। यहाँ पर प्राकृत में 'जयेइ' रूप नहीं बनेगा। कभी कभी अकारान्त धातु के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर उपरोक्त प्रत्ययों का सद्‌भाव होने पर 'आ' की प्राप्ति भी देखी जाती है। जैसे:—श्रृणोतु=सुणाउ = वह श्रवण करे। इस उदाहरण में अकारान्त प्राकृत धातु 'सुण' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे आज्ञार्थक-लकार के प्रत्यय का सद्‌भाव होकर 'आ' की प्राप्ति हो गई है।

हसति संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेइ और हसइ होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१५८ से मूल प्राकृत अकारान्त धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति और ३-१३९ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप हसेइ सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप हसइ की सिद्धि सूत्र-संख्या ?-१९८ में की गई है।

हसामः संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेम, हसिम, हसेमु और हसिमु होते हैं। इनमें से प्रथम और तृतीय रूपों मे सूत्र-संख्या ३-१५८ से मूल प्राकृत अकारान्त धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति और ३-१४४ से क्रम से प्राप्तांग 'हसे और हसे' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मस्' के स्थान पर प्राकृत मे म से 'म और मु' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर प्रथम और तृतीय रूप 'हसेम और हसेमु' सिद्ध हो जाते हैं।

हसिम तथा हसिमु में सूत्र-संख्या ३-१५५ से मूल-प्राकृत अकारान्त धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'इ' की प्राप्ति और ३-१४४ से क्रम से प्राप्तांग 'हसि और हसि' में वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के बहुवचनार्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'मस्' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'म और मु' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर द्वितीय और चतुर्थ रूप 'हसिम और हसिमु' सिद्ध हो जाते हैं।

हसतु संस्कृत का आज्ञार्थक रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेउ और हसउ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५८ से मूल प्राकृत अकारान्त धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति और ३-१७३ से क्रम से प्राप्तांग 'हसे और हस' में आज्ञार्थक लकारार्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृत मे प्राप्तव्य प्रत्यय 'तु' के स्थान पर प्राकृत में 'दु=उ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत रूप 'हसेउ और हसउ' सिद्ध हो जाते है।

शृणोतु संस्कृत का आज्ञार्थक रूप है। अथवा शृणुयात् संस्कृत का विधिलिङ् का। (अर्थात आज्ञा-निमन्त्रण-आमन्त्रण सत्कार पूर्वक निवेदन-विचार और प्रार्थना अर्थक) रूप है। इसके प्राकृत रूप सुणेउ और सुणउ तथा सुणाउ होते हैं। इनमें सूत्र संख्या-२-७९ से संस्कृत में प्राप्त धातु-अंग 'श्रुनु' में स्थित 'श्रू' के 'र' व्यञ्जन का लोप; १-२६० से लोप हुए 'र्' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए शु' में स्थित तालव्य 'श्' के स्थान पर प्राकृत में दन्त्य 'स्' की प्राप्ति; १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ४-२३८ से प्राप्त 'णु' में स्थित अन्त्य 'उ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; ३-१५८ से प्राप्तांग 'सुण' मे स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर क्रम से एव वैकल्पिक रूप से 'ए' और 'आ' की प्राप्ति; और १-१७३ से क्रम से प्राप्तांग 'सुणे, सुण और सुणा' में लोट् लकार और विधिलिङ् के अर्थ में है प्राकृत में 'दु=उ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर सुणेउ, सुणउ और सुणाउ प्राकृत रूप सिद्ध हो जाते हैं।

हसत=हसन् संस्कृत का कृदन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप हसेन्तो और हसन्तो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५८ से मूल प्राकृत अकारान्त धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे वर्तमान कृदन्त अर्थक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से वैकल्पिक रूप से 'ए' की प्राप्ति; ३-१८१ से क्रम से

प्राकृत में प्राप्तांग 'हसे और हस' में वर्तमान कृदन्त के अर्थ में संस्कृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'शतृ' के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२ से प्राकृत में क्रम से प्राप्तांग 'हसेन्त और हसन्त' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत-पद *हसेन्तो* और *हसन्तो* सिद्ध हो जाते हैं।

जयति संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप *जयइ* होता है। इसमें सूत्र-संख्या-३-१३९ से संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी प्राप्त धातु 'जय' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *जयइ* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१५८॥

ज्जा-ज्जे ॥३-१५९॥

ज्जा ज्ज इत्यादेशयोः परयोरकारस्य एकारो भवति ॥ हसेज्जा । हसेज्ज ॥ अत इत्येव । होज्जा । होज्ज ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ३-१७७ के निर्देश से धातुओं के अन्त में प्राप्त होने वाले वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, आज्ञार्थक के और विध्यर्थक के सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर आदेश रूप से प्राप्त होने वाले प्रत्यय 'ज्जा और ज्ज' के परे रहने पर अकारान्त-धातुओं के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर नित्यमेव 'ए' की प्राप्ति होती है। जैसेः—हसन्ति-हसिष्यन्ति-हसन्तु-हसेयुः = हसेज्जा अथवा हसेज्ज = वे हँसते हैं-वे हँसेगे-वे हँसे; इत्यादि। यहाँ पर 'हस' धातु अकारान्त है और इसमें वर्तमान आदि लकारों में प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्ययों के स्थान पर आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'ज्जा-ज्ज' की प्राप्ति होने से 'हस' के अन्त्यस्थ 'अकार' के स्थान पर 'एकार' की विना किसी वैकल्पिक रूप से प्राप्ति हो गई है। यों आदेश-प्राप्त 'ज्जा-ज्ज' प्रत्ययों का सद्भाव होने पर अन्य अकारान्त धातुओं में भी अन्त्य 'अ' के स्थान पर नित्यमेव 'एकार' की प्राप्ति का विधान ध्यान में रखना चाहिये।

प्रश्नः—'अकारान्त-धातुओं' के लिये ही ऐसा विधान क्यों बनाया गया है?

उत्तरः—जो प्राकृत-धातु अकारान्त नहीं होकर अन्य स्वरान्त हैं उनमें आदेश-प्राप्त 'ज्जा-ज्ज' प्रत्ययों का सद्भाव होने पर भी उन अन्त्य स्वरों के स्थान पर अन्य किसी भी स्वर की आदेश-प्राप्ति नहीं पाई जाती है, इसलिये केवल अकारान्त धातुओं के लिये ही ऐसा विधान बनाने की आवश्यकता पड़ी है। जैसेः—भवन्ति-भविष्यन्ति-भवन्तु-भवेयुः = होज्जा अथवा होज्ज=वे होते हैं-वे होंगे-वे होवें, इस उदाहरण में 'हो' धातु ओकारान्त है, इसी लिये आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'ज्जा-ज्ज' का सद्भाव होने पर भी अकारान्त धातुओं के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति के समान इस 'हो' धातु के अन्त्यस्थ 'ओकार' के स्थान पर 'एकार' की प्राप्ति नहीं हुई है। यही अन्तर-भेद यह प्रदर्शित

करता है कि केवल 'अकारान्त-धातुओं' के अन्त्यस्थ 'अकार' के स्थान पर ही आगे आदेश-प्राप्त-प्रत्यय 'ज्जा-ज्ज' का सद्भाव होने पर 'एकार' की प्राप्ति होती है; अन्य स्वरान्त धातुओं में स्थित अन्त्य स्वरों के स्थान पर 'एकार' की प्राप्ति का विधान नहीं है।

हसन्ति, हसिष्यन्ति, हसन्तु, और *हसेयुः* संस्कृत के क्रम से वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, लोट् लकार के और लिङ् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से हसेज्जा और हसेज्ज रूप होते हैं। इन दोनों प्राकृत-रूपों में सूत्र-संख्या ३-१५९ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-१७७ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हसे' में वर्तमालकाल के भविष्यत्काल के, लोट् लकार के और लिङ् लकार के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर 'ज्जा और ज्ज' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत क्रियापद के रूप *हसेज्जा* और *हसेज्ज* सिद्ध हो जाते हैं।

भवन्ति, भविष्यन्ति, भवन्तु और *भवेयुः* संस्कृत के क्रम से वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, लोट् लकार के और लिङ् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से होज्जा और होज्ज रूप होते है। इन दोनों प्राकृत रूपों में सूत्र-संख्या ४-६० से संस्कृत-धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१७७ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हो' में वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, लोट् लकार के और लिङ् लकार के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर 'ज्जा और ज्ज' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से दोनों प्राकृत-क्रियापद के रूप *होज्जा* और *होज्ज* सिद्ध हो जाते हैं। ३-१५९॥

ईअ-इज्जौ क्यस्य ॥३-१६०॥

चिजि प्रभृतीनां भाव-कर्म-विधिं वक्ष्यामः। येषां तु न वक्ष्यते तेषां संस्कृतातिदेशात् प्राप्तस्य क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्येतावादेशौ भवतः॥ हसीअइ। हसिज्जइ। हसीअन्तो। हसिज्जन्तो। हसीअमाणो। हसिज्जमाणो। पढीअइ। पढिज्जइ। होईअइ। होइज्जइ॥ बहुलाधिकारात् क्वचित् क्योपि विकल्पेन भवति। मए नवेज्ज। मए नविज्जेज्ज। तेण लहेज्ज। तेण लहिज्जेज्ज। तेण अच्छेज्ज। तेण अच्छिज्जेज्ज। तेण अच्छीअइ॥

अर्थः—संस्कृत के समान ही प्राकृत-भाषा में भी क्रिया तीन प्रकार की होती है; जो कि इस प्रकार है:—(१) कर्तृवाचक, (२) कर्मवाचक और (३) भाववाचक। इसी पाद में पहले कर्तृवाच्य प्रयोग के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है; अब कर्मणि प्रयोग और भावे प्रयोग का स्वरूप बतलाया

जाता है। कर्मणि प्रयोग और भावे प्रयोग की रचना पद्धति एक जैसी ही अर्थात् समान ही होती है, इन दोनों में इतना सा नाम मात्र का ही अन्तर है कि कर्मणि प्रयोग मुख्यतः सकर्मक-धातुओं से ही बनाया जाता है जबकि भावे प्रयोग अकर्मक-धातुओं से ही बनता है; प्रत्यय आदि की दृष्टि से दोनों की रचनाएँ परस्पर में समान ही होती है। भावे-प्रयोग में कर्म का अभाव होने से सदा प्रथम पुरुष और एकवचन ही प्रयुक्त होता है जबकि कर्मणि प्रयोग में कर्म का सद्भाव होने से तीनों पुरुषों के साथ साथ बहुवचन का प्रयोग भी होता है। इन दोनों प्रयोगों में कर्ता तृतीयान्त होता है और कर्म प्रथमान्त होता है। क्रिया के पुरुष और वचन प्रथमान्त कर्म के अनुसार होते हैं। जैसेः—अस्माभिः त्वम् आहूयसे = हमारे द्वारा तू बुलाया जाता है, यहाँ कर्ता 'अस्माभिः' बहुवचनान्त होने पर भी कर्म 'त्वम्' एकवचनान्त होने से 'आहूय से' क्रिया कर्म के अनुसार एकवचनात्मक और द्वितीय पुरुषात्मक प्रदर्शित की गई है। इस प्रकार यदि किसी कर्तृवाच्य प्रयोग को कर्म-वाच्य में बदलना हो तो प्रथमान्त कर्ता को तृतीयान्त कर देना चाहिये और द्वितीयान्त कर्म को प्रथमान्त में बदल देना चाहिये। जैसे.—पुरुषः स्तेनं प्रहरति = पुरुषेण स्तेनः प्रह्रियते = पुरुष से चोर मारा जाता है।

'चि, जि' इत्यादि कुछ प्राकृत-धातुओं के बनने वाले कर्मणि-प्रयोग भावे प्रयोग का वर्णन आगे बतलाया जायगा; यहाँ पर तो सर्व-सामान्य रूप से बनने वाले कर्मणि-प्रयोग-भावे-प्रयोग की पद्धति का परिचय कराया जा रहा है; तदनुसार जैसे संस्कृत-भाषा में मूल धातु और आत्मनपदीय पुरुष बोधक-प्रत्ययों के मध्य में कर्मणि-भावे प्रयोग द्योतक प्रत्यय 'क्य=य' जोड़ा जाता है वैसे ही प्राकृत-भाषा में भी मूल-धातु और कर्तरि प्रयोग के लिये कहे गये पुरुष-बोधक प्रत्ययों के बीच में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'क्य=य' के स्थान पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय की संयोजना कर देने से वह क्रियापद का रूप कर्मणि-प्रयोग द्योतक अथवा भावे-प्रयोग द्योतक बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी भी प्राकृत-धातु का अमुक काल में कर्मणि प्रयोग अथवा भावे प्रयोग बनाना हो तो उस काल के कर्तरि प्रयोग के लिये कहे गये पुरुष बोधक प्रत्यय जोड़ने के पहले मूल धातु में 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय लगाया जाना चाहिये और तदनन्तर जिस काल का कर्मणि भावे प्रयोग बनाना हो उस काल के कर्तरि प्रयोग के लिये कहे गये प्रत्यय लगा देने से कर्मणि-भावे-प्रयोग के रूप सिद्ध हो जाते हैं। जैसेः—हस्यते=हसीअइ अथवा हसिज्जइ =उससे हँसा जाता है। हस्यत = हस्यन्=हसीअन्तो अथवा हसिज्जन्तो और हसीअमाणो अथवा हसिज्जमाणो=हँसा जाता हुआ, यह उदाहरण वर्तमान कृदन्त पूर्वक भावे-प्रयोग वाला है। चूँकि प्राकृत में वर्तमान कृदन्त में सूत्र-संख्या ३-१८१ के निर्देश से संस्कृतीय प्राप्तव्य वर्तमान-कृदन्त-बोधक प्रत्यय शतृ= अत के स्थान पर 'न्त और माण' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है, इसलिये संस्कृतीय वर्तमान-कृदन्तीय क्रियापद 'हस्यत्=हस्यन्' के प्राकृत में उपरोक्त रीति से चार रूप होते है। सूत्र की वृत्ति में दो उदाहरण और दिये गये हैं; जो कि इस प्रकार हैं.—पठ्यते=पढीअइ अथवा पढिज्जइ=उससे पढ़ा जाता है। भूयते=होईअइ अथवा होइज्जइ=उससे हुआ जाता है। 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से कभी कभी कर्मणि-भावे-प्रयोग के अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ईअ' अथवा इज्ज' की प्राप्ति नहीं होकर भी उक्त कर्मणि-भावे

प्रयोग के रूप बन जाया करते हैं; जैसे:—मया नम्यते=मए नवेज्ज अथवा मए नविज्जेज्ज=मुझ से नमस्कार किया जाता है अथवा मुझ से नमा जाता है-झुका जाता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं:—तेन लभ्यते=तेण लहेज्ज अथवा तेण लहिज्जेज्ज=उससे प्राप्त किया जाता है। तेन आस्यते=तेण अच्छेज्ज अथवा तेण अच्छिज्जेज्ज और तेण अच्छीअइ=उससे बैठा जाता है। इन उदाहरणों में यह बतलाया गया है कि प्राकृत मे कर्मणि-भावे-प्रयोग-द्योतक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' की प्राप्ति कभी कभी वैकल्पिक रूप से भी होती है। इसका कारण 'बहुलम्' सूत्र है। इस प्रकार संस्कृत में कर्मणि-भावे-प्रयोग के अर्थ मे 'य' के स्थान पर प्राकृत मे 'इज्ज' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। यही तात्पर्य इस सूत्र का है।

हस्यते संस्कृत का भावे प्रयोग अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप हसीअइ और हसिज्जइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१० से मूल प्राकृत धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त भावे-प्रयोग-अर्थक 'ईअ और इज्ज' प्रत्ययों में क्रम से आदि में स्थित दीर्घ और ह्रस्व स्वर 'ई तथा इ' का सद्भाव होने के कारण से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त धातु 'हस्' में भावे-प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की क्रम से प्राप्ति और १-५ से हलन्त धातु 'हस्' के साथ में उपरोक्त रीति से प्राप्त प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की क्रम से संधि एवं ३-१३९ से प्राप्तांग भावे-प्रयोग-अर्थ रूप हसीअ और हसिज्ज में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *हसीअइ* और *हसिज्जइ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

हस्यन् संस्कृत का वर्तमान कृदन्त रूप है। इसके प्राकृत रूप:-हसीअन्तो हसिज्जन्तो, हसीअमाणो और हसिज्जमाणो। इनमें सूत्र-संख्या १-१० से मूल प्राकृत धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्त भावे-प्रयोग-अर्थक 'ईअ और इज्ज' प्रत्ययों में क्रम से आदि में स्थित दीर्घ और ह्रस्व स्वर 'ई तथा इ' का सद्भाव होने के कारण से लोप; ३-१६० से प्राप्तांग हलन्त धातु 'हस्' में भावे-प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की (चारों रूपों में) क्रम से प्राप्ति; १-५ से हलन्त धातु 'हस्' के साथ में उपरोक्त रीति से प्राप्त प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की क्रम से (चारों रूपों में) संधि; ३-१८१ से क्रम से प्राप्तांग 'हसीअ और हसिज्ज' तथा हसीअ और हसिज्ज' में वर्तमान कृदन्त-अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शतृ = अत्' के स्थान पर प्राकृत में 'न्त और माण' प्रत्ययों की (चारों रूपों में) क्रम से प्राप्ति; और ३-२ से क्रम से चारों प्राप्तांग 'हसीअन्त, हसिज्जन्त, हसीअमाण तथा हसिज्जमाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुँल्लिंग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *हसीअन्तो, हसिज्जन्तो, हसीअमाणो* तथा *हसिज्जमाणो* सिद्ध हो जाते हैं।

पठ्यते संस्कृत का कर्मणि-रूप है। इसके प्राकृत रूप पढीअइ और पढिज्जइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१९९ से मूल संस्कृत-धातु 'पठ्' में स्थित 'ठ्' के स्थान पर प्राकृत में 'ढ' की प्राप्ति; ३-१६०

से प्राप्तांग 'पढ्' में कर्मणि-प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की क्रम से प्राप्ति; १-५ से हलन्त धातु पढ् के साथ में उपरोक्त रीति से प्राप्त प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की क्रम से संधि और ३-१३९ से प्राप्तांग कर्मणि-प्रयोग-अर्थक रूप 'पढीअ और पढिज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर पढीअइ और पढिज्जइ रूप सिद्ध हो जाते हैं।

भूयते संस्कृत का भावे-प्रयोग रूप है। इसके प्राकृत रूप होईअइ और होइज्जइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत धातु 'भू' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' रूप की आदेश-प्राप्ति; ३-१६० से प्राप्तांग 'हो' में भावे-प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की क्रम से प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग भावे-प्रयोग-अर्थक रूप 'होईअ और होइज्ज' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होईअइ* और *होइज्जइ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'*मए*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१०९* में की गई है।

नम्यते संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसके प्राकृत रूप नवेज्ज और नविज्जेज्ज होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-२२६ से मूल संस्कृत धातु 'नम्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन 'म्' के स्थान पर प्राकृत में 'व्' की आदेश-प्राप्ति; ३-१६० की वृत्ति से भावे प्रयोग के अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इज्ज' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति; ४-२३९ से प्रथम रूप में हलन्त धातु 'नव्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५९ से क्रम से प्राप्त भावे प्रयोग-अर्थकांग 'नव और नविज्ज' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर नित्य रूप से 'ए' की प्राप्ति और ३-१७७ से क्रम से प्राप्त भावे-प्रयोग-अर्थक-अंग 'नवे और नविज्जे' में वर्तमान-काल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' के स्थान पर 'ज्ज' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होकर *नवेज्ज* और *नविज्जेज्ज* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'*तेण*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या-*३-६९* में की गई है।

लभ्यते संस्कृत का कर्मणि रूप है। इसके प्राकृत रूप लहेज्ज और लहिज्जेज्ज होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१८७ से मूल संस्कृत धातु 'लभ्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन 'भ्' के स्थान पर प्राकृत में 'ह' व्यञ्जन की आदेश-प्राप्ति, ३-१६० की वृत्ति से भावे-प्रयोग के अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इज्ज' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति, ४-२३९ से प्रथम रूप में हलन्त धातु 'लह' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५९ से क्रम से प्राप्त भावे प्रयोग-अर्थक अंग 'लह और लहिज्ज' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर नित्य रूप से 'ए' की प्राप्ति और ३-१७७ से क्रम से प्राप्त भावे-प्रयोग-अर्थक अंग 'लहे और लहिज्जे' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत

में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' के स्थान पर 'ज्ज' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *लहेज्ज* और *लहिज्जेज्ज* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'*तेण*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-६९ में की गई है।

आस्यते संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसके प्राकृत रूप अच्छेज्ज अच्छिज्जेज्ज और अच्छीअइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४ २१५ से मूल संस्कृत धातु 'आस्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन 'स्' के स्थान पर 'छ्' की आदेश-प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त व्यञ्जन 'छ्' को द्वित्व 'छ्छ्' की प्राप्ति; २-९० से द्वित्व प्राप्त 'छ्छ्' में से प्रथम 'छ्' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति; १-८४ से मूल धातु 'आस्' में स्थित आदि दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर आगे 'स्' के स्थान पर उपरोक्त रीति से संयुक्त व्यञ्जन 'च्छ' की प्राप्ति हो जाने से ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति होकर प्राकृत मे धातु रूप 'अच्छ' की प्राप्ति; ३-१६० की वृत्ति से प्राप्त प्राकृत-धातु 'अच्छ्' में भाव-प्रयोग-अर्थ मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'य' के स्थान पर प्राकृत मे वैकल्पिक रूप से 'इज्ज और ईअ' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर भाव-प्रयोग-अर्थक-अंग 'अच्छ, अच्छिज्ज, अच्छीअ की प्राप्ति; ४-२३९ से प्रथम रूप 'अच्छ' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५९ से प्राप्त प्रथम रूप 'अच्छ' और द्वितीय रूप 'अच्छिज्ज' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे 'ज्ज' प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'ए' की नित्यमेव प्राप्ति; ३-१७७ से प्रथम और द्वितीय भाव-प्रयोग-अर्थक अंगों में अर्थात् 'अच्छे और अच्छिज्जे' मे वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' के स्थान पर 'ज्ज' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर '*अच्छेज्ज* तथा *अच्छिज्जेज्ज*' रूप सिद्ध हो जाते हैं; जबकि तृतीय रूप में भावे-प्रयोग अर्थक अंग 'अच्छीअ' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन मे संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ते' के स्थान पर प्राकृत मे 'इ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर '*अच्छीअइ*' रूप भी सिद्ध हो जाता है। ॥३-१६०॥

दृशि-वचेर्डीस-डुच्चं ॥३-१६१॥

दृशेर्वचेश्च परस्य क्यस्य स्थाने यथासंख्यं डीस डुच इत्यादेशौ भवतः ॥ ईअइज्जा-पवादः ॥ दीसइ । वुचइ ॥

अर्थः—दृश् और वच् धातु का जब प्राकृत में कर्मणि-भावे-प्रयोग का रूप बनाना हो तो इन धातुओं के प्राकृत-रूपान्तर में कर्मणि-भावे-प्रयोग-अर्थक संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'य' के स्थान पर प्राकृत मे सूत्र-संख्या ३-१६० के अनुसार प्राप्तव्य प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु इन कर्मणि भावे-प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' के स्थान पर क्रम से 'दृश्' धातु में तो 'डीस' प्रत्यय की प्राप्ति होती है और 'वच्' धातु में 'डुच्च प्रत्यय की प्राप्ति होती है; इस प्रकार से इन दोनों धातुओं के कर्मणि भावे-प्रयोग-अर्थ मे मूल-अंगों का निर्माण होता है। प्राप्त प्रत्यय 'डीस और डुच्च मे' स्थित आदि 'डकार' इत्संज्ञक होने से पूर्वोक्त धातु 'दृश्' में स्थित अन्त्य 'श्' का और 'वच्' में स्थित अन्त्य 'च'

का लोप हो जाता है। तत्पश्चात् प्राकृत-भाषा के अन्य-नियमों के अनुसार शेष रहे हुए धातु-अंश 'द' और 'व' में कर्मणि-भावे-प्रयोग-अर्थक प्राप्त प्रत्यय 'ईस' तथा 'उच्च' की प्राप्ति होकर इष्ट काल संबंधित पुरुष-बोधक प्रत्ययों की संप्राप्ति होती है। इस नियम को अर्थात् सूत्र-संख्या ३-१६१ को पूर्वोक्त सूत्र-संख्या ३-१६० का अपवाद ही समझना चाहिये। तदनुसार इस सूत्र में वर्णित विधान पूर्वोक्त कर्मणि-भावे प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' के लिये अपवाद-स्वरूप ही हैं; ऐसा ग्रन्थकार का मन्तव्य है। उपरोक्त धातुओं के कर्मणि भावे-प्रयोग के अर्थ में उदाहरण इस प्रकार हैं:—दृश्यते=दीसइ=(उससे) देखा जाता है; उच्यते=वुच्चइ=(उससे) कहा जाता है।

दृश्यते संस्कृत का कर्मणि-रूप है। इसका प्राकृत रूप दीसइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६१ से मूल संस्कृत-धातु 'दृश' में स्थित अन्त्य 'श' के आगे कर्मणि प्रयोग-अर्थक प्रत्यय 'डीस' का संप्राप्ति होने से तथा प्राप्त प्रत्यय डीस' में स्थित आदि 'डकार' इत्संज्ञक होने से लोप, १-१० से शेष धातु-अंश 'द' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' का आगे कर्मणि-प्रयोग अर्थक प्रत्यय 'ईस' की संप्राप्ति होने से इसमें स्थित आदि स्वर 'ई' का सद्भाव होने के कारण से लोप; १-५ से शेष हलन्त-धातु-अंश 'द्' के साथ में आगे प्राप्त प्रत्यय 'ईस' की संधि होकर मूल संस्कृतीय कर्मणि प्रायोगिक रूप 'दृश्य' के स्थान पर प्राकृत में कर्मणि प्रयोग-अर्थक-अंग 'दीस' की संप्राप्ति और ३-१३९ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर दीसइ रूप सिद्ध हो जाता है।

उच्यते संस्कृत का अकर्मक रूप है। इसका प्राकृत रूप वुच्चइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१६१ से मूल संस्कृत धातु 'वच्' में स्थित अन्त्य च्' के आगे भावे प्रयोग-अर्थक प्रत्यय डुच्च' की संप्राप्ति होने से तथा प्राप्त प्रत्यय 'डुच्च' में स्थित आदि 'डकार' इत्संज्ञक होने से लोप, १-१० से शेष धातु अंश 'व' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे भावे-प्रयोग अर्थक प्रत्यय 'उच्च' की संप्राप्ति होने से इसमें स्थित आदि स्वर 'उ' का सद्भाव होने के कारण से लोप; १-५ से शेष हलन्त धातु-अंश 'व्' के साथ में आगे प्राप्त प्रत्यय 'उच्च' की संधि होकर मूल संस्कृतीय भावे-प्रायोगिक रूप 'उच्य' के स्थान पर प्राकृत में भावे-प्रयोग-अर्थक अंग 'वुच्च' की संप्राप्ति और ३-१३९ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय ते' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर वुच्चइ रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१६१ ॥

सी ही हीअ भूतार्थस्य ॥ ३-१६२ ॥

भूतेर्थे विहितोद्यतन्यादिः प्रत्ययो भूतार्थः तस्य स्थाने सी ही हीअ इत्यादेशा भवन्ति ॥ उत्तरत्र व्यञ्जनादीअविधानात् स्वरान्तादेवायं विधिः ॥ कासी । काही । काहीअ । अकार्षीत् । अकरोत् । चकार वेत्यर्थः । एवं ठासी । ठाही । ठाहीअ । आर्षे । देविन्दो इणमब्ववी इत्यादौ सिद्धावस्थाश्रयणात् ह्यस्तन्याः प्रयोगः ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में भूतकाल के तीन भेद किये गये हैं; जिनके नाम इस प्रकार हैं:— [१] सामान्य-भूत; इसका अपर नाम अद्यतन-भूतकाल भी है और इसको लुङ् लकार कहते हैं; [२] ह्यस्तन-भूत; इसका अपर नाम अनद्यतन-भूतकाल भी है और इसको लङ् लकार कहते हैं; [३] परोक्ष-भूत; इसको लिट् लकार कहते हैं। संस्कृत भाषा में इस प्रकार तीन भूत-कालिक लकार हैं; प्राचीनकाल में इन के अर्थों में भेद किया जाकर तदनुसार इनका प्रयोग किया जाता था; परन्तु आजकल की प्रचलित संस्कृत-भाषा में बिना भेद के इनका प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में कोई दृढ़ नियम नहीं माना जाता है।। आधुनिक समय में लकारों का भूतकाल के अर्थ में बिना किसी भी प्रकार का भेद किये प्रयोग कर लिया जाता है। इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है:—

(१) अति निकट रूप से व्यतीत हुए काल में अथवा गत कुछ दिनों में की गई क्रिया के लिए अथवा उत्पन्न हुई क्रिया के लिये सामान्य भूतकाल का अथवा *अद्यतन-भूतकाल* का प्रयोग किया जाता है।

(२) अति निकट के काल की अपेक्षा से कुछ दूर के काल में अथवा कुछ वर्षों पहिले की गई क्रिया के लिये अथवा उत्पन्न हुई क्रिया के लिये ह्यस्तन-भूतकाल का अथवा *अनद्यतन-भूतकाल* का प्रयोग किया जाता है।

(३) अत्यन्त दूर के काल में अथवा अनेकानेक वर्षों पहिले की गई क्रिया के लिये अथवा उत्पन्न हुई क्रिया के लिये *परोक्ष-भूतकाल* का प्रयोग किया जाता है। जो क्रिया अपने प्रत्यक्ष में हुई हो, उसके लिये परोक्ष-भूतकाल का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। अन्य-भाषाओं की व्याकरण में जैसे पूर्ण भूत, अपूर्ण भूत और संदिग्ध भूत के नियम और रूप पाये जाते हैं; वैसे रूप और नियम संस्कृत भाषा में नहीं पाये जाते हैं, इन सभी के स्थान पर संस्कृत भाषा में केवल या तो सामान्य भूत का प्रयोग किया जायगा अथवा परोक्ष-भूत का; यही परम्परा प्राकृत भाषा के लिये भी जानना चाहिये।

प्राकृत भाषा में संस्कृत भाषा के समान भूतकाल अर्थक उपरोक्त तीनों लकरों का अभाव है; इसमें तो सभी भूत-कालिक-लकरों के लिये और इनसे सम्बन्धित प्रथम-द्वितीय-तृतीय पुरुषों के लिये तथा एकवचन एवं बहुवचन के लिये एक जैसे ही समान रूप के भूतकाल-अर्थक प्रत्यय पाये जाते हैं; धातुओं के साथ में इनकी संयोजना करने से प्रत्येक प्रकार का भूत-कालिक-लकार बन जाया करता है। अन्तर है तो इतना सा है कि व्यञ्जनान्त धातुओं के लिये और स्वरान्त धातुओं के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के भूतकाल-अर्थक प्रत्यय है। इस प्रकार प्राकृत भाषा में सर्व-सामान्य-सुलभता की बात यह है कि व्यञ्जनान्त धातु के लिये अथवा स्वरान्त धातु के लिये तीनों पुरुषों में एवं दोनों वचनों में तथा सभी भूत-कालिक लकारों में एक जैसे ही प्रत्यय पाये जाते हैं। इस सूत्र-संख्या ३-१६२ में स्वरान्त धातुओं में जोड़े जाने वाले भूतकाल-अर्थक प्रत्ययों का निर्देश किया गया है; व्यञ्जनान्त धातुओं में जोड़े जाने वाले भूतकाल-अर्थक प्रत्ययों का उल्लेख इससे आगे आने वाले सूत्र-संख्या ३-१६३ में किया जाने वाला

है। इस प्रकार इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि:—यदि प्राकृत-भाषा में किसी भी स्वरान्त धातु का किसी भी भूत कालिक लकार में, किसी भी पुरुष का और किसी भी वचन का कैसा ही रूप बनाना हो तो प्राकृत भाषा की उस स्वरान्त धातु के मूल रूप के साथ में 'सी अथवा ही अथवा हीअ' प्रत्यय की संयोजना कर देने से भूतकाल के अर्थ में इष्ट पुरुष वाचक और इष्ट वचन बोधक रूप का निर्माण हो जायगा। इस विवेचना से यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत-भाषा में भूतकाल-बोधक लकारों में प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर सभी पुरुष-बोधक-अर्थों में तथा सभी वचनों के अर्थों में प्राकृत में 'सी, ही और हीअ' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। सूत्र-संख्या ३-१६३ में 'व्यञ्जनादीअः' के उल्लेख से यही समझना चाहिये कि सूत्र संख्या ३-१६२ में वर्णित भूतकाल-द्योतक प्रत्यय 'सी, ही, हीअ' केवल स्वरान्त धातुओं के लिये ही है। इस विषयक स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

भूतकाल बोधक प्रत्यय

केवल स्वरान्त धातुओं	प्रथम पुरुष—सी, ही, हीअ
के लिये तथा एकवचन	द्वितीय ,, — ,, ,, ,,
एवं बहुवचन के लिये	तृतीय ,, — ,, ,, ,,

सूत्र की वृत्ति में दो उदाहरण इस प्रकार दिये गये हैं:—

संस्कृत रूप	*प्राकृत रूपान्तर*	*हिन्दी-अर्थ*
१ *अकार्षीत* (आदि नव रूप तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में लुङ् लकार में)	*कासी* अथवा *काही*	मैं अथवा हमने तूने अथवा तुमने उसने अथवा उन्होंने
२ *अकरोत* (आदि नव रूप लङ् लकार में)	अथवा *काहीअ*	किया अथवा किया था अथवा
३ *चकार* (आदि नव रूप लिट् लकार में)		कर चुके थे।
१ *अस्थात्* (आदि नव रूप-तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में लुङ् लकार में)	*ठासी* अथवा *ठाही*	मैं अथवा हम; तू अथवा तुम; वह अथवा वे ठहरे; या ठहरे थे अथवा ठहर
२ *अतिष्ठत्* (आदि नव रूप लङ् लकार में)	अथवा *ठाहीअ*	चुके थे।
३ *तस्थौ* (आदि नव रूप लिट् लकार में)		

इस प्रकार तीनों लकारों में; इनके तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों (अथवा दोनों वचनों में) प्राकृत-भाषा में रूपों की तथा प्रत्ययों की एक जैसी ही समानता होती है। इस प्रकार की रूप-रचना प्राकृत-भाषा मे जानना चाहिये।

आर्ष-प्राकृत में कुछ अन्तर कहीं कहीं पर पाया जाता है; उसका उदाहरण इस प्रकार है:— देवेन्द्रः एषः अब्रवीत् = देविन्दो इणमब्ववी=देवराज इन्द्र ऐसा बोला; इस उदाहरण में संस्कृतीय भूत-कालिक क्रियापद के रूप 'अब्रवीत्' के स्थान पर प्राकृत में 'अब्ववी' रूप प्रदान किया गया है; यह ह्यस्तन-भूतकाल का अर्थात् लङ् लकार का रूप है और संस्कृतीय रूप के आधार (पर) से ही प्राकृत-भाषा के वर्ण-परिवर्तन सम्बन्धित नियमों द्वारा इसकी प्राप्ति हुई है। अतएव ऐसे भूत कालिक-क्रियापदों के रूपों को आर्ष-प्राकृत के रूप मान लिये है।

अकार्षीत्, *अकरोत्* और *चकार* संस्कृत के भूत कालिक लकारों के प्रथम पुरुष के एकवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप है। इन सभी लकारों के सभी पुरुषों के और सभी वचनों के प्राकृत-रूपान्तर समुच्चय रूप से तीन होते हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—कासी, काही और काहीअ। इनमें सूत्र-संख्या-४-२१४ से मूल संस्कृत-धातु *'कृ' में स्थित अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और* ३-१६२ से भूतकाल के रूपों के निर्माण-हेतु प्राप्तांग 'का' में संस्कृतीय भूत कालिक-लकारों के अर्थों में प्राप्तव्य सभी पुरुषों के एकवचनों के द्योतक सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'सी, ही और हीअ' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर *कासी*, *काही* और *काहीअ* रूप सिद्ध हो जाते है।

अस्थात्, *आतिष्ठत्* और *तस्थौ* संस्कृत के अकर्मक रूप हैं। इन सभी लकारों के सभी पुरुषों के और सभी वचनों के प्राकृत-रूपान्तर समुच्चय रूप से तीन होते हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—ठासी, ठाही और ठाहीअ। इनमें सूत्र-संख्या ४ १६ से मूल संस्कृत-धातु 'स्था' के स्थानापन्न रूप 'तिष्ठ' के स्थान पर प्राकृत में 'ठा' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१६२ से भूतकाल के रूपों के *निर्माण हेतु प्राप्तांग 'ठा'* में संस्कृतीय भूत-कालिक-लकारों के अर्थों में प्राप्तव्य सभी पुरुषों के एवं वचनों के द्योतक सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'सी, ही और हीअ' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर प्राकृत में 'ठा' धातु के भूतकाल वाचक रूप *ठासी*, *ठाही* और *ठाहीअ* सिद्ध हो जाते हैं।

देवेन्द्रः = देव + इन्द्रः संस्कृत का रूप है। इसका प्राकृत रूप देविन्दो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१० से तत्पुरुष समासात्मक शब्द देवेन्द्र की संधि भेद करने से प्राप्त स्वतंत्र शब्द 'देव' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे रहे हुए शब्द 'इन्द्र' में स्थित आदि स्वर 'इ' का सद्भाव होने के कारण से लोप; १-५ से प्राप्त हलन्त शब्द 'देव्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'व्' के साथ में आगे रहे हुए शब्द 'इन्द्र' में स्थित आदि स्वर 'इ' की संधि; २-७९ से 'द्र' में स्थित व्यञ्जन 'र्' का लोप और ३-२ से प्राप्तांग 'देविन्द' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ मे अकारान्त पुँल्लिंग मे संस्कृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत मे डो = ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत पद *देविन्दो* सिद्ध हो जाता है।

'इणं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-८५ में की गई है।

अब्रवीत् संस्कृत का सकर्मक रूप है। इसका आर्ष-प्राकृत-रूप अब्बवी होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से 'ब्र' में स्थित व्यञ्जन 'र्' का लोप, २-८९ से लोप हुए 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए व्यञ्जन वर्ण 'ब' को द्वित्व 'ब्ब' की प्राप्ति और १-११ से पदान्त हलन्त व्यञ्जन 'त्' का लोप होकर *अब्बवी* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१६२ ॥

व्यञ्जनादीअः ॥ ३-१६३ ॥

व्यञ्जनान्ताद्धातोः परस्य भूतार्थस्याद्यतन्यादि प्रत्ययस्य ईअ इत्यादेशो भवति ॥ हुवीअ। अभूत्। अभवत्। बभूवेत्यर्थः ॥ एवं अच्छीअ। आसिष्ट। आस्त। आसाचक्रे वा ॥ गेण्हीअ। अग्रहीत्। अगृह्णत्। जग्राह वा ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा में पाई जाने वाली धातुओं में संस्कृत के समान गण-भेद नहीं होता है; परन्तु फिर भी प्राकृत-धातुएँ दो भेदों में विभाजित हैं, कुछ व्यञ्जनान्त होती हैं तो कुछ स्वरान्त होती है; तदनुसार भूतकाल के अर्थ में प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्ययों में भेद पाया जाता है। इस प्रकार के विधि-विधान से स्वरान्त-धातुओं में भूत-काल के अर्थ में प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्ययों का सूत्र-संख्या ३-१६२ में वर्णन किया जा चुका है; अब व्यञ्जनान्त धातुओं के लिये भूत-काल के अर्थ में प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्यय का उल्लेख इस सूत्र में किया जा रहा है। यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि संस्कृत-भाषा में भूतकाल के अर्थ में जिस तरह से तीन लकारों का-'लुङ्-लङ्-लिट' अर्थात् 'अद्यतन, ह्यस्तन अथवा अनद्यतन और परोक्ष' का विधान है, वैसा विधान प्राकृत भाषा में नहीं पाया जाता है; एवं इन लकारों के तीनों पुरुषों के तीनों वचनों में जिस प्रकार से भिन्न भिन्न प्रत्यय पाये जाते हैं वैसी सभी प्रकार की विभिन्नताओं का तथा प्रत्ययों का भेद प्राकृत-भाषा में नहीं पाया जाता है, अतएव संक्षिप्त रूप से इस सूत्र में यही बतलाया गया है कि प्राकृत-भाषा में पाई जाने वाली व्यञ्जनान्त धातुओं में उनके मूल रूप के साथ में ही किसी भी प्रकार के भूत-काल के अर्थ में और किसी भी पुरुष के किसी भी वचन के अर्थ में केवल एक ही प्रत्यय 'ईअ' की संयोजना कर देने से इष्ट-भूत-काल-अर्थक और इष्ट पुरुष के इष्ट वचन-अर्थक प्राकृत-क्रियापद का रूप बन जाता है। प्राकृत में भूत-काल के अर्थ में व्यञ्जनान्त धातुओं में इस प्राप्तव्य प्रत्यय 'ईअ' को संस्कृत में भूतकाल के अर्थ में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर आदेश प्राप्त प्रत्यय समझना चाहिये। इस विषयक उदाहरण इस प्रकार हैं —

संस्कृत-रूप-	*प्राकृत-रूपान्तर*	*हिन्दी-अर्थ*
१ *अभूत्* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लुङ् लकार में) २ *अभवत्* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों मे; लङ् लकार में) ३ *बभूव* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लिट् लकार में)	*हुवीअ*	मैं अथवा हम; तू अथवा तुम और वह अथवा वे हुए; हुए थे और हो चुके थे।
१ *आसिष्ठ* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लुङ् लकार में) २ *आस्त* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लङ् लकार में) ३ *आसांचक्रे* (आदि नवरूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लिट् लकार में)	*अच्छीअ*	मैं अथवा हम; तू अथवा तुम और वह अथवा वे बैठे; बैठे थे और बैठ चुके थे।
१ *अग्रहीत्* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लुङ् लकार में) २ *अगृह्णात्* (आदि नवरूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लङ् लकार में) ३ *जग्राह* (आदि नव रूप; तीनों पुरुषों में और तीनों वचनों में; लिट् लकार मे)	*गेण्हीअ*	मैं ने अथवा हमने; तू ने अथवा तुमने; उसने अथवा उन्होंने; लिया; लिया था अथवा ले चुके थे या स्वीकार किया; स्वीकार किया था अथवा स्वीकार कर चुके थे।

इस प्रकार प्राकृत भाषा में व्यञ्जनान्त धातुओं में भूतकाल के अर्थ में संस्कृत में प्राप्तव्य तीनों लकारों के सभी पुरुषों के सभी वचनों के अर्थ में प्राप्तव्य सभी प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक ही प्रत्यय 'ईअ' की आदेश-प्राप्ति होती है। तदनुसार वाक्य-रचना में पाये जाने वाले सम्बन्ध विशेष को देख करके

पुरुष विशेष का और वचन-विशेष का ज्ञान कर लिया जाता है अथवा स्वरूप पहिचान लिया जाता है।

अभूत्, अभवत् और *बभूव* संस्कृत के भूत-कालिक लकारों के प्रथम पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी लकारों का सभी-पुरुषों का और सभी वचनों का प्राकृत-रूपान्तर समुच्चय रूप से एक ही *हुवीअ* होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हुव्' अंग की आदेश-प्राप्ति और ३-१६३ से आदेश-प्राप्त अंग 'हुव्' में भूत-कालिक-लकारों में सभी पुरुषों के सभी वचनों में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल एक ही प्रत्यय 'ईअ' की आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *हुवीअ* सिद्ध हो जाता है।

आसिष्ठ, आस्त और *आसांचक्रे* संस्कृत के भूत-कालिक लकारों के प्रथम पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी लकारों का, सभी पुरुषों का और सभी वचनों का प्राकृत-रूपान्तर समुच्चय रूप से एक ही *अच्छीअ* होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-२१५ से मूल संस्कृत-धातु 'आस्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'स्' के स्थान पर 'छ्' की प्राप्ति, २-८६ से आदेश-प्राप्त 'छ्' को द्वित्व 'छ् छ्' की प्राप्ति; २-६० से द्वित्व-प्राप्त 'छ् छ्' में से प्रथम 'छ्' के स्थान पर 'च्' की प्राप्ति, १-८४ से प्राप्तांग 'आच्छ' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन 'च्छ' का सद्भाव होने के कारण से ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति; और ३-१६३ से उपरोक्त रीति से प्राकृत में प्राप्तांग धातु रूप 'अच्छ' में भूत-कालिक लकारों में सभी पुरुषों के सभी वचनों में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल एक ही प्रत्यय 'ईअ' की आदेश प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *अच्छीअ* सिद्ध हो जाता है।

अग्रहीत्, अगृह्णात् और *जग्राह* संस्कृत के भूत-कालिक लकारों के प्रथम पुरुष के एकवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी लकारों का, सभी पुरुषों का और सभी वचनों का प्राकृत-रूपान्तर समुच्चय रूप से केवल एक ही गेण्हीअ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२०८ से मूल संस्कृत-धातु 'ग्रह्' के स्थान पर प्राकृत में 'गेण्ह' अंग-रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१६३ से प्राकृत में प्राप्तांग धातु रूप 'गेण्ह' में भूत-कालिक लकारों में सभी पुरुषों के सभी वचनों में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल एक ही प्रत्यय 'ईअ' की आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *गेण्हीअ* सिद्ध हो जाता है। ३-१६४॥

तेनास्तेरास्यहेसी ॥ ३-१६४॥

अस्तेर्धातोस्तेन भूतार्थेन प्रत्ययेन सह आसि अहेसि इत्यादेशौ भवतः। आसि सो तुमं अहं वा। जे आसि। ये आसन्नित्यर्थः। एवं अहेसि॥

अर्थः—संस्कृत धातु 'अस्' के प्राकृत रूपान्तर में भूतकालिक तीनों लकारों के सभी पुरुषों में तथा इनके सभी वचनों में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में आदेश-प्राप्त प्रत्ययों की

संयोजना होने पर 'अस् धातु+पुरुष बोधक प्रत्यय' के स्थान पर केवल दो रूपों की आदेश-प्राप्ति हो जाती है। वे रूप इस प्रकार हैं:—आसि और अहेसि। इन आदेश-प्राप्त दोनों रूपों में से प्रत्येक रूप द्वारा भूतकालिक लकार के सभी पुरुषों के सभी वचनों का अर्थ प्रतिध्वनित हो जाता है। सारांश रूप से तात्पर्य यह है कि भूतकाल में 'अस्' धातु के केवल दो रूप होते हैं; १ आसि और २ अहेसि; ये ही रूप सभी पुरुषों में तथा सभी वचनों में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण इस प्रकार हैं:—सः आसीत्, त्वम् आसीः, अथवा अहम् आसम् = सो, तुमं अहं वा आसि अथवा अहेसि = वह था अथवा तू था अथवा मैं था; इस उदाहरण में यह बतलाया गया है कि 'आसीत्, आसीः और आसम्' प्रथम द्वितीय तृतीय पुरुष के एकवचन के क्रियापद के रूपों के स्थान पर प्राकृत में केवल एक ही क्रियापद का 'आसि अथवा अहेसि' का प्रयोग होता है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—ये आसन्=जे आसि अथवा अहेसि=जो थे; यह उदाहरण बहुवचनात्मक है; फिर भी इसमें एकवचन के समान ही किसी भी प्रकार के पुरुष भेद का विचार किये विना ही 'आसन्' संस्कृत रूप के स्थान पर 'आसि अथवा अहेसि' का प्रयोग कर दिया गया है। यों वचन का अथवा पुरुष का और प्रत्यय भेद का विचार नहीं करते हुए समुच्चय रूप से संस्कृतीय तीनों लकारों के अर्थ में प्राकृत में आदेश-प्राप्त रूप 'आसि अथवा अहेसि' का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से प्राकृत में भूतकाल के अर्थ में लकारों की दृष्टि से मर्यादा-भेद की अत्यधिक न्यूनता पाई जाती है; जो कि ध्यान देने योग्य है।

आसीत्, आसीः और *आसम्* संस्कृत के भूतकाल के प्रथम-द्वितीय-तृतीय पुरुष के एकवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूपान्तर आसि और अहेसि होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१६४ से मूल संस्कृत धातु 'अस्' के साथ में भूतकाल वाचक प्राकृत प्रत्ययों को संयोजना होने पर दोनों के ही स्थान पर 'आसि अथवा अहेसि' रूपों को आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृत के रूप *'आसि और अहेसि'* सिद्ध हो जाते हैं।

'सो' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-८६* में की गई है।

'तुमं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-९०* में की गई है।

अहं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१०५* में की गई है।

'वा' अव्यय रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-६७* में की गई है।

'जे' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-५८* में की गई है।

आसन् संस्कृत के भूतकाल वाचक लङ् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन का रूप है। इसके प्राकृत-रूपान्तर आसि और अहेसि होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१६४ से मूल संस्कृत-धातु 'अस्' के साथ में भूतकाल-वाचक प्राकृत-प्रत्ययों की संयोजना होने पर दोनों के ही स्थान पर 'आसि और अहेसि' रूपों को आदेश प्राप्ति होकर प्राकृत-रूप *'आसि और अहेसि'* सिद्ध हो जाते हैं। ३-१६४॥

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष—	हिइ, हिए	हिन्ति हिन्ते, हिइरे
द्वितीय "	हिसि, हिसे	हित्था, हिह।
तृतीय "	हिमि	हिमो, हिमु, हिम।

तृतीय पुरुष के एकवचन में तथा बहुवचन में वैकल्पिक रूप से अन्य प्रत्यय भी होते हैं; उनका वर्णन आगे सूत्र-संख्या ३-१६७; ३ १६८ और ३-१६६ आदि में किया जाने वाला है। इस प्रकार ग्रथकार का तात्पर्य यही है कि भविष्यत्-काल के अर्थ में धातु में सर्व प्रथम 'हि' का प्रयोग किया जाना चाहिये; तत्पश्चात् वर्तमान-काल-बोधक प्रत्ययों की संयोजना की जानी चाहिये। जैसे:—भविष्यति अथवा भविता = होहिइ=होगा अथवा होने वाला होगा। भविष्यन्ति अथवा भवितार:=होहिन्ति = होंगे अथवा होने वाले होंगे। भविष्यसि अथवा भवितासि = होहिसि = तू होगा अथवा तू होने वाला होगा। भविष्यथ अथवा भवितास्थ = होहित्था = तुम होंगे अथवा तुम होने वाले होंगे। हसिष्यति अथवा हसिता= हसिहिइ=वह हँसेगा अथवा हँसने वाला होगा। करिष्यति अथवा कर्ता = काहिइ=वह करेगा अथवा करने वाला होगा। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि संस्कृत मे प्राप्तव्य भविष्यत्-काल वाचक लुट् लकार और लृट् लकार के स्थान पर प्राकृत मे केवल एक ही लकार होता है तथा इसी सामान्य लकार के आधार से ही भविष्यत्-काल वाचक दोनों लकारों का अर्थ प्रतिध्वनित हो जाता है।

भविष्यति अथवा *भविता* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन के रूप हैं। इनका प्राकृत रूप होहिइ होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू = भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अग-रूप की प्राप्ति; ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ मे प्राप्तांग 'हो' में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१३९ से भविष्यत् काल के अर्थ में प्राप्तांग 'होहि' मे प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप '*होहिइ*' सिद्ध हो जाता है।

भविष्यन्ति, भवितार: संस्कृत के भविष्यतकालवाचक लृट लकार और लुट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन के रूप हैं। इनका प्राकृत रूप (एक ही) होहिन्ति होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अङ्ग रूप की प्राप्ति; ३-१६६ से भविष्यतकाल के अर्थ में प्राप्तांग 'हो' में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१४२ से भविष्यतकाल के अर्थ में प्राप्तांग 'होहि' में प्रथम पुरुष के बहुवचन के अर्थ में 'न्ति' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होहिन्ति* रूप सिद्ध हो जाता है।

भविष्यसि अथवा *भवितासि* संस्कृत के क्रमशः भविष्यतकालवाचक लृट् लकार और लुट् लकार के द्वितीय पुरुष के एकवचन के रूप है। इनका प्राकृत रूप (समान रूप से) होहिसि होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत धातु भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत मे 'हो' अङ्ग रूप की प्राप्ति;

३-१६६ से भविष्यत्काल के अर्थ में प्राप्तांग 'हो' में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१४० से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राप्तांग होहि' में द्वितीय पुरुप के एकवचन के अर्थ में 'सि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होहिसि* रूप सिद्ध हो जाता है।

भविष्यथ अथवा *भवितास्थ* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत-काल-वाचक लट् लकार और लुट्-लकार के द्वितीय पुरुप के बहुवचन क रूप हैं। इनका प्राकृत-रूप (समान-रूप से) होहित्था होता है। इसमें सूत्र सख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अग-रूप की प्राप्ति; ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ मे प्राप्तांग 'हो' में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति; १-१० से भविष्यत काल-अर्थक प्राप्तांग 'होहि' मे स्थित अन्त्य स्वर 'इ' का आगे प्राप्त पुरुष-बोधक प्रत्यय इत्था' में स्थित आदि स्वर 'इ' का सद्भाव होने के कारण से लोप, ३-१४३ से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राप्त हलन्त-अग 'होह्' में द्वितीय पुरुप के बहुवचन के अर्थ में 'इत्था' प्रत्यय की प्राप्ति और १ ५ से प्राप्त रूप 'होह् और इत्था की संधि होकर *होहित्था* रूप सिद्ध हो जाता है।

हासिष्यति अथवा *हसिता* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार और लुट्-लकार के प्रथम पुरुप के एकवचन के रूप हैं। इनका प्राकृत-रूप (समान-रूप से) हसिहिइ होता है। इसमें सूत्र-सख्या-३-१५७ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत् काल-वाचक प्रत्यय 'हि' का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति; ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ मे प्राप्तांग 'हसि' में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति; और ३-१३९ से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राप्तांग 'हसिहि' में प्रथम पुरुप के एकवचन के अर्थ में 'इ प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*हासिहिइ*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*काहिइ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-सख्या १-५ में की गई है। ३-१६६ ॥

मि-मो-मु-मे स्सा हा न वा ॥ ३-१६७ ॥

भविष्यत्यर्थे मिमोमुमेषु तृतीय त्रिकादेशेषु परेषु तेषामेवादी स्सा हा इत्येतौ वा प्रयोक्तव्यौ । हेरपवादौ । पक्षे हिरपि ॥ होस्सामि होहामि । होस्सामो होहामो । होस्सामु होहामु । होस्साम होहाम ॥ पक्षे । होहिमि ॥ होहिमु । होहिम ॥ क्वचित्तु हा न भवति । हसिस्सामो । हसिहिमो ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा में भविष्यत्काल के अर्थ में तृतीयपुरुप के एकवचन में अथवा बहुवचन के धातुओं में जब क्रमशः 'मि' प्रत्यय अथवा मो-मु-म प्रत्यय की संयोजना की जा रही हो तब सूत्र-सख्या ३-१६६ के अनुसार भविष्यत्-काल-द्योतक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'स्सा' अथवा 'हा' प्रत्यय की भी प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार से तृतीय पुरुप के एकवचन में अथवा

बहुवचन में भविष्यत्-काल-द्योतक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'स्सा' अथवा 'हा' की प्राप्ति का पूर्वोल्लेखित भविष्यत्-काल-द्योतक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' के लिये अपवाद रूप विधान ही समझना चाहिये। चूँकि यह अपवाद रूप प्राप्ति भी वैकल्पिक-स्थिति वाली ही है इसलिये पक्षान्तर में तृतीय पुरुष के एकवचन के अथवा बहुवचन के प्रत्ययों का सद्भाव होने पर भविष्यत्-काल-द्योतक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति का सद्भाव भी (वैकल्पिक रूप से) होता ही है। उक्त वैकल्पिक-स्थिति-सूचक-विधान को स्पष्ट करने वाले उदाहरण इस प्रकार हैं—भविष्यामि अथवा भवितास्मि=होस्सामि और होहामि अथवा पक्षान्तर में होहिमि भी होता है। इसका हिन्दी-अर्थ यह है कि—मैं होऊँगा अथवा होने वाला होऊँगा। बहुवचन-द्योतक उदाहरण इस प्रकार से हैं:—भविष्यामः अथवा भवितास्मः= होस्सामो होहामो; होस्सामु होहामु; होस्साम होहाम; अथवा पक्षान्तर में होहिमो, होहिमु, होहिम; इन सभी का हिन्दी-अर्थ यह है कि—'हम होंगे अथवा हम होने वाले होंगे'। पाठक गण इन उदाहरणों में यह देख सकेंगे कि भविष्यत्-काल-द्योतक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' के अतिरिक्त वैकल्पिक रूप से 'स्सा' और 'हा' प्रत्ययों की भी प्राप्ति हुई है। ऐसी प्राप्ति केवल तृतीय पुरुष के एकवचन में अथवा बहुवचन में ही होती है; प्रथम-पुरुष में अथवा द्वितीय पुरुष में ऐसी प्राप्ति का अभाव ही जानना चाहिये।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि उपरोक्त प्राप्तव्य प्रत्यय 'स्सा' और 'हा' में से केवल एक ही प्रत्यय 'स्सा' की प्राप्ति होती है और 'हा' की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे:—हसिष्यामः=हसिस्सामो और हसिहिमो। यहाँ पर 'हसिहामो' रूप का अभाव प्रदर्शित कर दिया गया है। परन्तु इस स्थिति को वैकल्पिक-भाव वाली ही जानना; जैसा कि वृत्ति में 'क्वचिद्' शब्द देकर स्पष्टीकरण किया गया है।

भविस्यामि अथवा *भवितास्मि* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार और लुट् के तृतीय पुरुष के एकवचन के रूप है। इनके प्राकृत रूप (समान रूप से) होस्सामि, होहामि और होहिमि होते है। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अङ्ग रूप की प्राप्ति; ३-१६७ और ३-१६६ से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रमशः 'स्सा, हा और हि' प्रत्यय की मूल प्राप्तांग 'हो' में प्राप्ति और ३-१४१ से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रमशः प्राप्तांग 'होस्सा, होहा और होहि' में तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत रूप *होस्सामि होहामि* और *होहिमि* सिद्ध हो जाते हैं।

भविष्यामः और *भवितास्मः* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष के बहुवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप (समान-रूप से) होस्सामो, होहामो, होस्सामु, होहामु, होहिमु, होस्साम, होहाम, होहिम होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अंग रूप की प्राप्ति; ३-१६७ और ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ मे क्रमशः 'स्सा, हा और हि' प्रत्यय की मूल प्राप्तांग 'हो' में प्राप्ति और ३-१४४ से भविष्यत्-काल के

अर्थ में क्रमशः प्राप्तांग 'होस्सा, होहा और होहि' में तृतीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में क्रमशः 'मो, मु और म' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर *होस्सामो, होहामो, होस्सामु, होहामु, होहिमु, होस्साम, होहाम* और *होहिम* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

हसिष्यामः और *हसितास्म* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष के बहुवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप (समान-रूप से) हसिस्सामो और हसिहिमो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत्-काल-वाचक प्रत्यय 'स्सा' और 'हि' का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति; ३-१६७ और ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राप्तांग 'हसि' में क्रमशः 'स्सा' और 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१४४ से भविष्यत्-काल के अर्थ में क्रमशः प्राप्तांग 'हसिस्सा' और 'हसिहि' में तृतीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में 'मो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *'हसिस्सामो'* और *'हसिहिमो'* रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३-१६७॥

मो-मु-मानां हिस्सा हित्था ॥३-१६८॥

धातोः परौ भविष्यति काले मो मु मानां स्थाने हिस्सा हित्था इत्येतौ वा प्रयोक्तव्यौ ॥ होहिस्सा। होहित्था। हसिहिस्सा। हसिहित्था। पक्षे। होहिमो होस्सामो। होहामो। इत्यादि ॥

अर्थः—भविष्यत्-काल के अर्थ में धातुओं में तृतीय पुरुष के बहुवचन-बोधक प्रत्यय 'मो-मु म' परे रहने पर तथा भविष्यत-काल-द्योतक प्रत्यय 'हि अथवा स्सा अथवा हा' होने पर कभी कभी वैकल्पिक रूप से ऐसा होता है कि उक्त भविष्यत्-काल-द्योतक प्रत्यय 'हि-स्सा-हा' के स्थान पर और उक्त पुरुष-बोधक प्रत्यय 'मो-मु-म' के स्थान पर अर्थात् दोनों ही प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर धातुओं में 'हिस्सा अथवा हित्था' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के बहुवचन का अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है। यों धातुओं में रहे हुए 'हि-स्सा हा' प्रत्ययों का भी लोप हो जाता है और 'मो मु-म' प्रत्ययों का भी लोप हो जाता है, तथा दोनों प्रकार के इन लुप्त प्रत्ययों के स्थान पर 'हिस्सा अथवा हित्था' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होकर तृतीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में भविष्यत-काल का रूप तैयार हो जाता है। जैसे—भविष्यामः अथवा भवितास्मः=होहिस्सा और होहित्था=हम होंगे; चूँकि यह विधान वैकल्पिक-स्थिति वाला है अतएव पक्षान्तर में 'होहिमो, होस्सामो और होहामो' इत्यादि रूपों का भी निर्माण हो सकेगा। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—हसिष्यामः अथवा हसितास्म = हसिहिस्सा और हसिहित्था,=हम हँसेंगे, पक्षान्तर में हसिहिमो, हसिस्सामो आदि रूपों का भी सद्भाव होगा। इस प्रकार से वैकल्पिक स्थिति का सद्भाव भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के बहुवचन के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

भविष्यामः भाविताम्मः संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट लकार और लुट लकार के तृतीय पुरुष के बहुवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप (समान-रूप से) होहिस्सा, होहित्था, होहिमो, होस्सामो और होहामो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अंग रूप की प्राप्ति; तत्पश्चात प्रथम और द्वितीय रूपों में ३-१६८ से भविष्यत-काल के अर्थ में तथा तृतीय पुरुष के बहुवचन के संदर्भ में क्रमशः 'हिस्सा और हित्था' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर '*होहिस्सा* और *होहित्था*' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय रूप होहिमो में सूत्र-संख्या ३-१६६ से उपरोक्त रीति से प्राप्त धातु अंग 'हो' में भविष्यत् काल-अर्थक प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१४४ से भविष्यत् काल-बोधक प्राप्तांग 'होहि' में तृतीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में 'मो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होहिमो* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*होस्सामो* और *होहामो*' रूपों की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१६७* में की गई है।

हसिष्यामः और *हसितास्मः* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष के बहुवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप (समान-रूप से) हसिहिस्सा और हसिहित्था होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत-धातु "हस" में स्थित अन्त्य "अ" के स्थान पर आगे भविष्यत्-काल-वाचक प्रत्यय "हिस्सा और हित्था" का सद्भाव होने के कारण से "इ" की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्राप्तांग "हसि" में ३-१६८ से भविष्यत्-काल के अर्थ में तथा तृतीय पुरुष के बहुवचन के संदर्भ में क्रमशः "हिस्सा और हित्था" प्रत्ययों की संप्राप्ति होकर हसिहिस्सा और हसिहित्था रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३-१६८॥

मेः स्सं ॥ ३-१६९॥

धातोः परो भविष्यति काले म्यादेशस्य स्थाने स्सं वा प्रयोक्तव्यः ॥ होस्सं । हसिस्सं । कित्तइस्सं ॥ पक्षे । होहिमि । होस्सामि । होहामि । कित्तइहिमि ॥

अर्थः—भविष्यत्-काल के अर्थ में धातुओं में तृतीय-पुरुष के एक वचन-बोधक-प्रत्यय "मि" परे रहने पर तथा भविष्यत्काल-द्योतक प्रत्यय "हि अथवा स्सा अथवा हा" होने पर कभी कभी वैकल्पिक रूप से ऐसा होता है कि उक्त भविष्यत्-काल-द्योतक प्रत्यय "हि स्सा हा के स्थान पर अर्थात् दोनों ही प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर धातुओं मे केवल 'स्सं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर भविष्यत् काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एय वचन का अर्थ प्रकट हो जाता है। यों धातुओं मे रहे हुए 'हि-स्सा-हा' प्रत्ययों का भी लोप हो जाता है और 'मि' प्रत्यय का भी लोप हो जाता है; तथा दोनो ही प्रकार के इन लुप्त प्रत्ययों के स्थान पर केवल 'स्सं' प्रत्यय की ही आदेश-प्राप्ति होकर तृतीय पुरुष के एक वचन के अर्थ में भविष्यत्-काल का रूप तैयार हो जाता है। जैसेः—भविष्यामि अथवा भवितास्मि

होस्स=मैं होऊँगा, चूँकि यह विधान वैकल्पिक-स्थिति वाला है अतएव पक्षान्तर में 'होहिमि, होस्सामि और होहामि' रूपों का भी निर्माण हो सकेगा। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैः—हसिष्यामि अथवा हसितास्मि=हसिस्स=मैं हँसूगा। कीर्तयिष्यामि=कित्तइस्स; पक्षान्तर में कित्तइहिमि=मैं कीर्तन करूँगा, इत्यादि।

इस प्रकार से वैकल्पिक-स्थिति का सद्भाव भविष्यत् काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

भविष्यामि अथवा *भवितास्मि* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष क एकवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप (समान-रूप) से होस्स, होहिमि, होस्सामि और होहामि होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अग-रूप की आदेश-प्राप्ति; तत्पश्चात् सर्व प्रथम रूप में ४-१६६ से प्राप्तांग 'हो' मे भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय-पुरुष के एकवचन मे पूर्वोक्त सूत्रों में कथित प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्ययों के स्थान पर 'स्स' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *होस्सं* रूप सिद्ध हो जाता है।

शेष रूप '*होहिमि, होस्सामि* तथा *होहामि*' की सिद्ध सूत्र-सख्या ३-१६७ में की गई है।

हसिष्यामि अथवा *हसितास्मि* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष के एकवचन के रूप हैं। इनका प्राकृत-रूप (समान-रूप से) हसिस्स होता है। इसमें सूत्र-सख्या ३-१५७ से मूल प्राकृत-धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत् काल-वाचक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति, तत्पश्चात प्राप्तांग 'हसि' में सूत्र-सख्या ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन में पूर्वोक्त सूत्रों में कथित प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्ययों के स्थान पर 'स्सं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *हसिस्सं* रूप सिद्ध हो जाता है।

कीर्तयिष्यामि संस्कृत का भविष्यत्-काल-वाचक लृट् लकार का तृतीय पुरुष के एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत रूप कित्तइस्स और कित्तइहिमि होते हैं। इनमें सूत्र-सख्या २-७६ से 'र्त' में स्थित रेफ रूप 'र्' का लोप, २-८६ से लोप हुए रेफ रूप 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'त' को द्वित्व 'त्त' की प्राप्ति, १-८४ से आदि वर्ण 'की' में स्थित दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर आगे प्राप्त संयुक्त व्यञ्जन 'त्त' का सद्भाव होने के कारण से ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति; १-१७७ से 'यि' वर्ण में स्थित 'य्' व्यञ्जन का लोप, इस प्रकार संस्कृत-अंग रूप 'कीर्तयि' से प्राकृत में प्राप्तांग 'कित्तइ' में ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ष्यामि' के स्थान पर प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर 'स्स' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *कित्तइस्सं* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप में सूत्र-सख्या ३-१६६ से प्राकृत में प्रथम रूप के समान ही प्राप्तांग 'कित्तइ' में भविष्यत् काल सूचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१४१ से भविष्यत् काल के अर्थ में प्राप्तांग 'कित्तइहि' मे

तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *कित्तइहिमि* रूप भी सिद्ध हो जाता है। ३-१६९॥

कृ-दो-हं ॥३-१७०॥

करोतेर्ददातेश्च परो भविष्यति विहितस्य म्यादेशस्य स्थाने हं वा प्रयोक्तव्यः॥ काहं। दाहं। करिष्यामि दास्यामीत्यर्थः॥ पक्षे। काहिमि। दाहिमि। इत्यादि॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में पाई जाने वाली धातु 'कृ' और 'दा' के प्राकृत रूपान्तर 'का' तथा 'दा' में भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राप्तव्य प्राकृत-प्रत्यय 'हि' आदि के परे रहने पर तथा तृतीय-पुरुष के एकवचन-बोधक प्रत्यय 'मि' के परे रहने पर कभी कभी वैकल्पिक रूप से ऐसा होता है, कि उक्त भविष्यत-काल-द्योतक प्रत्यय 'हि' आदि के स्थान पर और उक्त पुरुष-बोधक प्रत्यय 'मि' के स्थान पर अर्थात् दोनों ही प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर उक्त दोनों धातुओं में केवल 'हं' प्रत्यय की ही आदेश-प्राप्ति होकर भविष्यत्-काल के अर्थ के तृतीय पुरुष के एकवचन का अर्थ प्रकट हो जाता है। यों प्राकृत-धातु 'का अथवा दा' में रहे हुए भविष्यत्-काल-द्योतक प्रत्यय 'हि' आदि का भी लोप हो जाता है और तृतीय पुरुष के एकवचन-अर्थक प्रत्यय 'मि' का भी लोप हो जाता है; तथा दोनों ही प्रकार के इन लुप्त प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक ही प्रत्यय 'हं' की ही आदेश प्राप्ति होकर तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में भविष्यत्-काल का रूप इन धातुओं का तैयार हो जाता है। जैसेः—करिष्यामि अथवा कर्तास्मि=काहं=मैं करूँगा अथवा मैं करता रहूंगा; चूँकि यह विधान वैकल्पिक स्थिति वाला है अतएव पक्षान्तर में 'काहिमि' आदि रूपों का भी निर्माण हो सकेगा। 'दा' धातु का उदाहरण इस प्रकार हैः—दास्यामि अथवा दातास्मि=दाहं=मैं देऊँगा अथवा मै देता रहूंगा। पक्षान्तर में वैकल्पिक स्थिति होने के कारण 'दाहिमि' रूप का भी सद्भाव होगा। यह सूत्र केवल प्राकृत धातु 'का' और 'दा' के भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन के सम्बन्ध में ही बनाया गया है।

करिष्यामि और *कर्तास्मि* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत-काल-वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष के एकवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप (समान-रूप से) काहं और काहिमि होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-२१४ से मूल संस्कृत-धातु 'कृ' में स्थित अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति होकर प्राप्ति होकर प्राकृत में 'का' अङ्ग-रूप की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्रथम-रूप मे सूत्र-संख्या ३-१७० से प्राप्तांग 'का' में भविष्यत-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन में पूर्वोक्त सूत्रों में कथित प्राप्तव्य-प्रत्यय 'हि' और 'मि' दोनों के ही स्थान पर 'हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर '*काहं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप 'काहिमि' में 'का' अङ्ग रूप की प्राप्ति प्रथम रूप के समान ही होकर सूत्र-संख्या ३-१६६ से प्राप्तांग 'का' में भविष्यत्-काल-सूचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१४१ से भविष्यत-

काल के अर्थ में प्राप्तांग 'काहि' में तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *काहिमि* रूप भी सिद्ध हो जाता है।

दास्यामि और *दातास्मि* संस्कृत के क्रमशः भविष्यत्-काल वाचक लृट् लकार और लुट् लकार के तृतीय पुरुष के एकवचन के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप (समान-रूप से) *दाहं* और *दाहिमि* होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१७० से मूल प्राकृत-धातु 'दा' में भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय-पुरुष के एकवचन में पूर्वोक्त सूत्रों में (३-१६६ और ३-१४१ में) कथित प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' और 'मि' दोनों के ही स्थान पर 'हं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर *दाहं* रूप सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय रूप 'दाहिमि' में सूत्र-संख्या ३-१६६ से प्राप्तांग 'दा' में भविष्यत्-काल-सूचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१४१ से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राप्तांग 'दाहि' में तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *दाहिमि* रूप भी सिद्ध हो जाता है। ३-१७०॥

श्रु-गमि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-छिदि-भिदि-भुजां सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं छेच्छं भेच्छं भोच्छं ॥ ३-१७१ ॥

श्रादीना धातूनां भविष्यद्विहितम्यन्तानां स्थाने सोच्छमित्यादयो निपात्यन्ते ॥ सोच्छं। श्रोष्यामि ॥ गच्छं। गमिष्यामि ॥ संगच्छं। संगंस्ये ॥ रोच्छं। रोदिष्यामि ॥ विद ज्ञाने। वेच्छं। वेदिष्यामि ॥ दच्छं। द्रक्ष्यामि ॥ मोच्छं। मोक्ष्यामि। वोच्छं। वक्ष्यामि ॥ छेच्छं। छेत्स्यामि ॥ भेच्छं। भेत्स्यामि। भोच्छं। भोक्ष्ये ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा की इन दश (अथवा ग्यारह) धातुओं 'श्रु, गम्, (संगम्), रुद्, विद्, दृश्, मुच्, वच्, छिद्, भिद्, और भुज्' के प्राकृत रूपान्तर में भविष्यत्-काल बोधक प्रत्यय के स्थान पर और तृतीय पुरुष के एकवचनार्थक प्रत्यय के स्थान पर रूढ़ रूप की प्राप्ति होती है और इसी रूढ़ रूप से ही भविष्यत्-काल-वाचक तृतीय पुरुष के एकवचन का अर्थ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार से प्राप्त रूढ रूपों में न तो भविष्यत् काल-बोधक प्रत्यय 'हि-स्सा-अथवा हा' की ही आवश्यकता होती है और न तृतीय पुरुष के एकवचनार्थक प्रत्यय 'मि' की ही आवश्यकता पड़ती है। इस विधि से प्राप्त ये रूप 'निपात' कहलाते हैं। उपरोक्त संस्कृत-भाषा की इन दश (अथवा ग्यारह) धातुओं के प्राकृत-रूपान्तर में भविष्यत् काल-बोधक-अवस्था में पाये जाने वाले रूढ रूप में तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में केवल अनुस्वार की ही प्राप्ति होकर भविष्यत्-काल-अर्थक तृतीय पुरुष के एकवचन का रूढ रूप बन जाता है। जैसे:—(१) श्रोष्यामि=सोच्छं = मैं सुनूँगा; (२) गमिष्यामि = गच्छं=मैं जाऊँगा; (३) संगंस्ये=संगच्छं= मैं स्वीकार करूँगा अथवा मैं मेल रक्खूँगा; (४) रोदिष्यामि = रोच्छं=मैं रोऊँगा; (५) वेदिष्यामि= वेच्छं=मैं जानूँगा; (६) द्रक्ष्यामि = दच्छं=मैं देखूँगा; (७) मोक्ष्यामि = मोच्छं = मैं छोड़ूँगा; (८) वक्ष्यामि

= वोच्छं = मैं वहूँगा; (९) छेत्स्यामि = छेच्छं = मैं छेदूँगा; (१०) भेत्स्यामि = भेच्छं = मैं भेदूँगा और (११) भोक्ष्ये = भोच्छं = मैं खाऊँगा। उपरोक्त धात्वादेश स्थिति केवल भविष्यत् काल के लिये ही होती है। इसी विषयक विशेष विवरण सूत्र-संख्या ३-१७२ में दिया जाने वाला है।

श्रोष्यामि संस्कृत का सकर्मक रूप है। इसका प्राकृत-रूपान्तर सोच्छं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से सम्पूर्ण-संस्कृत-पद श्रोष्यामि के स्थान पर प्राकृत में सोच्छं रूप की आदेश-प्राप्ति होकर भविष्यत्-काल-अर्थक तृतीय पुरुष के एकवचन का बोधक रूप *सोच्छं* सिद्ध हो जाता है।

गमिष्यामि संस्कृत का भविष्यत-काल-अर्थक तृतीय पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूपांतर गच्छं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से संपूर्ण संस्कृत-पद गमिष्यामि के स्थान पर प्राकृत में '*गच्छं*' रूप सिद्ध हो जाता है।

संगंस्ये संस्कृत क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूप संगच्छं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से संस्कृत-पद के स्थान पर प्राकृत-पद की आदेश-प्राप्ति होकर *संगच्छं* पद की सिद्धि हो जाती है।

रोदिष्यामि संस्कृत क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूपान्तर रोच्छं होता है। इसमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से सम्पूर्ण संस्कृत-पद के स्थान पर प्राकृत-पद की आदेश-प्राप्ति होकर *रोच्छं* रूप की सिद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार से शेष सात प्राकृत-रूपों में *वेच्छं, दच्छं, मोच्छं, वोच्छं, छेच्छं, भेच्छं* और *भोच्छं* भी सूत्र-संख्या ३-१७१ से ही संस्कृतीय सम्पूर्ण क्रियापदों के रूपों की क्रमिक रूढ-रूपात्मक आदेश-प्राप्ति होकर क्रम से ये प्राकृत क्रियापद के रूप स्वयमेव और अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। ३-१७१ ॥

सोच्छादय इजादिषु हि लुक् च वा ॥ ३-१७२ ॥

श्वादीनां स्थाने इजादिषु भविष्यदादादेशेषु यथासंख्यं सोच्छादयो भवन्ति। ते एवादेशा अन्त्य स्वराद्यवयववर्जा इत्यर्थः। हिलुक् च वा भवति॥ सोच्छिइ। पक्षे। सोच्छिहिइ। एवं सोच्छिन्ति। सोच्छिहिन्ति। सोच्छिसि। सोच्छिहिसि। सोच्छित्था। सोच्छिहित्था। सोच्छिह। सोच्छिहिह। सोच्छिमि। सोच्छिहिमि। सोच्छिस्सामि। सोच्छिहामि। सोच्छिस्सं। सोच्छं। सोच्छिमो। सोच्छिहिमो। सोच्छिस्सामो। सोच्छिहामो। सोच्छिहिस्सा। सोच्छिहित्था। एवं गमेरपि। गच्छिइ। गच्छिहिइ। गच्छिन्ति। गच्छिहिन्ति। गच्छिसि। गच्छिहिसि। गच्छित्था। गच्छिहित्था। गच्छिह। गच्छिहिह। गच्छिमि। गच्छिहिमि। गच्छिस्सामि।

गच्छिहामि । गच्छिस्सं । गच्छं । गच्छिमो । गच्छिहिमो । गच्छिस्सामो । गच्छिहामो । गच्छिहिस्सा । गच्छिहित्था । एवं मुमयोरपि ॥ एवं रुदादीनामप्युदाहार्यम् ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ३-१७१ में जिन संस्कृत धातुओं के प्राकृत रूपान्तर भविष्यत्काल-वाचक अवस्था के अर्थ में रूढ रूप से प्रदान किये गये हैं; उन रूढ रूपों में वर्तमानकालद्योतक पुरुष बोधक प्रत्ययों की संयोजना करने से उसी पुरुष बोधक अर्थ की अभिव्यञ्जना भविष्यत्काल के अर्थ में प्रकट हो जाती है। वैकल्पिक रूप से कभी कभी उन रूढ रूपों के आगे भविष्यत्काल बोधक प्रत्यय 'हि' की अथवा तृतीय पुरुष के सद्भाव में 'स्सा, हा' की अथवा 'हिस्सा, हित्था' की प्राप्ति भी होती है। तत्पश्चात् पुरुष बोधक प्रत्ययों की जोड़ क्रिया की जाती है। सारांश यह है कि इन रूढ रूपों में भविष्यत् काल बोधक मूल प्रत्यय 'हि' का वैकल्पिक रूप से लोप होता है। शेष सम्पूर्ण क्रिया भविष्यत्काल के प्रदर्शन के अर्थ में अन्य धातुओं के समान ही इन रुढ प्राप्त धातु रूपों के लिये भी जानना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार हैं—श्रोष्यति=सोच्छिइ=वह सुनेगा, पक्षान्तर में भविष्यत्-काल-अर्थक प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति होने पर श्रोष्यति का प्राकृत-रूपांतर 'सोच्छिहिइ'='वह सुनेगा' ऐसा ही होगा। प्रथम पुरुष के बहुवचन का दृष्टान्तः—श्रोष्यन्ति=सोच्छिन्ति और पक्षान्तर में सोच्छिहिन्ति=वे सुनेंगे। द्वितीय पुरुष के एकवचन का दृष्टान्त —श्रोष्यसि=सोच्छिसि और पक्षान्तर में सोच्छिहिसि=तू सुनेगा। द्वितीय पुरुष के बहुवचन का दृष्टान्त —श्रोष्यथ=सोच्छित्था और सोच्छिह, पक्षान्तर में—सोच्छिहित्था और सोच्छिहिह=तुम सुनोगे। तृतीय पुरुष के एकवचन का दृष्टान्त—श्रोष्यामि=सोच्छिमि, पक्षान्तर में—सोच्छिहिमि, सोच्छिस्सामि, सोच्छिहामि, सोच्छिस्सं और सोच्छं=मैं सुनूँगा। तृतीय पुरुष के बहुवचन का दृष्टान्त —श्रोष्यामः=सोच्छिमो, पक्षान्तर में—सोच्छिहिमो, सोच्छिस्सामो, सोच्छिहामो, सोच्छिहिस्सा, सोच्छिहित्था, सोच्छिहिमु और सोच्छिस्सामु तथा सोच्छिहामु; सोच्छिहिम और सोच्छिस्साम तथा सोच्छिहाम=हम सुनेंगे। इसी सिद्धान्त की संपुष्टि ग्रन्थकार पुनः 'गम्=गच्छ' धातु द्वारा करते हैं—प्रथम पुरुष के एकवचन का दृष्टान्त—गमिष्यति=गच्छिइ; पक्षान्तर में गच्छिहिइ=वह जावेगा। प्रथम पुरुष के बहुवचन का दृष्टान्तः—गमिष्यन्ति=गच्छिन्ति, पक्षान्तर में गच्छिहिन्ति=वे जावेंगे। द्वितीय पुरुष के एकवचन का दृष्टान्त —गमिष्यसि=गच्छिसि, पक्षान्तर में गच्छिहिसि=तू जावेगा। द्वितीय पुरुष के बहुवचन का दृष्टान्त—गमिष्यथ=गच्छित्था और गच्छिह; पक्षान्तर में गच्छिहित्था और गच्छिहिह=तुम जाओगे तृतीय पुरुष के एकवचन का दृष्टान्तः—गमिष्यामि=गच्छिमि; पक्षान्तर में गच्छिहिमि, गच्छिस्सामि, गच्छिहामि, गच्छिस्सं और गच्छं=मैं जाऊँगा। तृतीय पुरुष के बहुवचन का दृष्टान्त—गमिष्यामः=गच्छिमो; पक्षान्तर में गच्छिहिमो, गच्छिस्सामो, गच्छिहामो, गच्छिहिस्सा, गच्छिहित्था; गच्छिहिमु, गच्छिस्सामु, गच्छिहामु, गच्छिहिम, गच्छिस्साम और गच्छिहाम=हम जावेंगे। इसी प्रकार से शेष रही हुई उपरोक्त धातुओं के भी रूप स्वयमेव समझ लेने चाहिये।

उपरोक्त उदाहरणों में कुछ एक पुरुष बोधक प्रत्ययों से सम्बन्धित उदाहरण वृत्तिकार ने नहीं दिये हैं; उन्हें स्वयमेव जान लेना चाहिये; वे प्रत्यय इस प्रकार है:—ए, न्ते, इरे और से।

श्रोष्याति संस्कृत के भविष्यतकाल प्रथम पुरुष के एकवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप सोच्छिइ और सोच्छिहिइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से मूल संस्कृत धातु 'श्रु' के स्थान पर प्राकृत में भविष्यतकाल के प्रयोगार्थ 'सोच्छ' की आदेश-प्राप्ति; ३-१५७ से प्राप्तांग 'सोच्छ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत्काल बोधक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति; ३-१६६ से द्वितीय रूप में प्राप्तांग 'सोच्छि' में भविष्यत्काल के बोधनार्थ हि' प्रत्यय की प्राप्ति; ३-१७२ से प्रथम रूप मे भविष्यत्काल बोधक प्राप्त प्रत्यय 'हि' का वैकल्पिक रूप से लोप और ३-१३९ से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रम से प्राप्तांग 'सोच्छि और सोच्छिहि' म प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ मे प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' की प्राप्ति होकर *सोच्छिइ* और *सोच्छिहिइ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

श्रोष्यन्ति संस्कृत के भविष्यत्काल प्रथम पुरुष के बहुवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप सोच्छिन्ति और सोच्छिहिन्ति होते हैं। इनमें सोच्छि और सोच्छिहि अंग रूपों की प्राप्ति उपरोक्त एकवचनात्मक रूपों के समान ही जानना चाहिये; तत्पश्चात् सूत्र संख्या ३-१४२ से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रम से प्राप्तांग 'सोच्छि और सोच्छिहि' में प्रथम पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'न्ति' की प्राप्ति होकर *सोच्छिन्ति* और *सोच्छिहिन्ति* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

श्रोष्यसि संस्कृत के भविष्यत्काल द्वितीय पुरुष के एकवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप सोच्छिसि और सोच्छिहिसि होते हैं। इनमें 'सोच्छि और सोच्छिहि' अग रूपों की प्राप्ति प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में वर्णित उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-१७१; ३-१५७; ३-१६६ और ३-१७२ से जानना चाहिये, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४० से भविष्यत्काल के अर्थ मे क्रम से प्राप्तांग 'सोच्छि और सोच्छिहि' में द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *सोच्छिसि* और *सोच्छिहिसि* सिद्ध हो जाते हैं।

श्रोष्यथ संस्कृत के भविष्यत्काल अर्थके द्वितीय पुरुष के बहुवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत-रूप सोच्छित्था सोच्छिह, सोच्छिहित्था, सोच्छिहिह होते हैं। इनमें 'सोच्छि और सोच्छिहि' मूल अग-रूपों की प्राप्ति प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में वर्णित उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-१७१; ३-१५७; ३-१६६ और ३-१७२ से जानना चाहिये; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४३ से भविष्यत-काल के अर्थ में क्रम से प्राप्तांग 'सोच्छि और सोच्छिहि' में द्वितीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में क्रम से प्राप्तव्य प्रत्यय 'इत्था और ह' का चारों अंगों मे प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप–'*सोच्छित्था, सोच्छिह, सोच्छिहित्था* और *सोच्छिहिह*' सिद्ध हो जाते हैं। यह विशेषता और ध्यान में रहे कि सूत्र-संख्या १-१० से प्राप्त प्रत्यय 'इत्था' के पूर्वस्थ स्वर 'इ' का लोप हो जाता है। तत्पश्चात् रूप निर्माण होता है।

'*श्रोष्यामि*' संस्कृत के भविष्यत्-काल तृतीय पुरुष के एकवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप सोच्छिमि, सोच्छिहिमि, सोच्छिस्सामि, सोच्छिहामि, सोच्छिस्स और सोच्छं होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ३-१७१ से मूल संस्कृत धातु 'श्रु' के स्थान पर प्राकृत में भविष्यत्-काल के प्रयोगार्थक 'सोच्छ' की आदेश-प्राप्ति, ३-१५७ से प्रथम रूप से लगाकर पाँचवें रूप तक प्राप्त प्राकृत-शब्द 'सोच्छ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत्-काल-वाचक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति, ३-१६६ और ३-१६७ से द्वितीय रूप, तृतीय रूप और चतुर्थ रूप में पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'सोच्छि' में भविष्यत्-काल-वाचक प्रत्यय 'हि, स्सा और हा' की क्रम से प्राप्ति, ३-१७२ से प्रथम रूप में भविष्यत्-काल वाचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' का लोप और ३-१४१ से भविष्यत्-काल के अर्थ में क्रम से प्राप्त प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रूपांग-'सोच्छि, सोच्छिहि, सोच्छिस्सा और सोच्छिहा' में तृतीय-पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' की प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम चार रूप '*सोच्छिमि सोच्छिहिमि, सोच्छिस्सामि और सोच्छिहामि*' सिद्ध हो जाते हैं।

पंचम रूप सोच्छिस्स में मूल-प्राकृत-अंग 'सोच्छि' की प्राप्ति उपरोक्त चार रूपों में वर्णित विधि विधानानुसार जानना चाहिये; तत्पश्चात् प्राप्तांग 'सोच्छि' में सूत्र-संख्या ३-१६६ से भविष्यत्-काल के अर्थ में तृतीय-पुरुष के एकवचन के भाव में केवल 'स्स' प्रत्यय की ही प्राप्ति होकर एवं शेष सभी एतद्थक प्राप्तव्य प्रत्ययों का अभाव होकर पंचम रूप-'*सोच्छिस्सं*' सिद्ध हो जाता है।

छट्ठे रूप *सोच्छं* की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१७१* में की गई है।

श्रोष्यामः संस्कृत के भविष्यत्-काल तृतीय पुरुष के बहुवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप यहाँ पर केवल छह ही दिये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं.—१ सोच्छिमो, २ सोच्छिहिमो, ३ सोच्छिस्सामो, ४ सोच्छिहामो, ५ सोच्छिहिस्सा और ६ सोच्छिहित्था। इनमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से मूल संस्कृत-धातु 'श्रु' के स्थान पर प्राकृत में भविष्यत-काल के प्रयोगार्थक सोच्छ' रूप की आदेश-प्राप्ति, ३-१५७ से प्राप्तांग 'सोच्छ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत-काल-वाचक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति, तत्पश्चात् द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रूपों में सूत्र-संख्या ३-१६६ और ३-१६७ से क्रमशः भविष्यत-काल वाचक प्रत्यय 'हि, स्सा और हा' की प्राप्ति, ३-१७२ से प्रथम रूप में भविष्यत्-काल-वाचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' का अथवा स्सा' का अथवा 'हा' का वैकल्पिक-रूप से लोप, अन्त में सूत्र-संख्या ३-१४४ से उपरोक्त रीति से भविष्यत-अर्थ में प्राप्तांग 'सोच्छि, सोच्छिहि, सोच्छिस्सा और सोच्छिहा' में तृतीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मो' की प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम चार रूप '*सोच्छिमो, सोच्छिहिमो, सोच्छिस्सामो* और *सोच्छिहामो*' सिद्ध हो जाते हैं।

पाँचवें और छट्ठे रूप 'सोच्छिहिस्सा तथा सोच्छिहित्था' में मूल अङ्ग 'सोच्छि' की प्राप्ति उपरोक्त विधि-विधानों के अनुसार ही होकर सूत्र-संख्या ३-१६८ से भविष्यत काल के अर्थ में तृतीय पुरुष

के बवहुचन के सद्भाव मे केवल क्रम से 'हिस्सा तथा हित्था' प्रत्ययों की ही प्राप्ति होकर एवं शेष सभी एतदर्थक प्राप्तव्य प्रत्ययों का अभाव होकर क्रम से पाँचवाँ और छट्ठा रूप '*सोच्छिहिस्सा* और *सोच्छिहित्था*' भी सिद्ध हो जाते हैं।

गमिष्यति संस्कृत के भविष्यत्-काल प्रथम पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत-रूप गच्छिइ और गच्छिहिइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ३-१७१ से मूल संस्कृत धातु 'गम्' के स्थान पर प्राकृत में भविष्यत्-काल के प्रयोगार्थ 'गच्छ' रूप की आदेश-प्राप्ति; ३-१५७ से प्राप्तांग गच्छ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत्-काल-वाचक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति; ३-१६६ से द्वितीय रूप में प्राप्तांग 'गच्छि' में भविष्यत्-काल के बोधनार्थ हि' प्रत्यय की प्राप्ति; ३-१७२ से प्रथम-रूप मे भविष्यत्-काल-बोधक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' का वैकल्पिक रूप से लोप और ३-१३९ से भविष्यत् काल के अर्थ में क्रम से प्राप्तांग 'गच्छि' और 'गच्छिहि' में प्रथम-पुरुष के एकवचन के अर्थ मे प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' की संप्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *गच्छिइ* और *गच्छिहिइ*' सिद्ध हो जाते हैं।

गमिष्यन्ति संस्कृत के भविष्यत्-काल प्रथम पुरुष के बहुवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप गच्छिन्ति और गच्छिहिन्ति होते हैं। इनमें भविष्यत्काल के अर्थ में मूल अंग रूप 'गच्छि और गच्छिहि' की उपरोक्त एकवचन के अर्थ में प्राप्तांग रूपों के समान ही होकर इनमें सूत्र-संख्या ३-१४२ से प्रथम पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'न्ति' की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *गच्छिन्ति* और *गच्छिहिन्ति* सिद्ध हो जाते हैं।

गमिष्यसि संस्कृत के भविष्यत्काल द्वितीय पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप गच्छिसि और गच्छिहिसि होते हैं। इनमें भविष्यत्काल-अर्थक अंग रूपों की प्राप्ति प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ मे वर्णित उपरोक्त सूत्र-संख्या ३-१७१; ३-१५७; ३-१६६ और ३-१७२ से जानना चाहिये; तत्पश्चात सूत्र-संख्या ३-१४० से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रम से प्राप्तांग 'गच्छि और गच्छिहि' में द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की प्राप्ति होकर *गच्छिसि* और *गच्छिहिसि* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

गमिष्यथ संस्कृत के भविष्यत्काल द्वितीय पुरुष के बहुवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप गच्छित्था, गच्छिह, गच्छिहित्था और गच्छिहिह होते हैं। इनमें भविष्यत्काल-द्योतक अंग रूप 'गच्छि और गच्छिहि' की प्राप्ति इसी सूत्र में ऊपर वर्णित प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में कथित सूत्र-संख्या ३-१७१; ३-१५७; ३-१६६ और ३-१७२ से जानना चाहिये; तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१४३ से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रम से प्राप्तांग 'गच्छि और गच्छिहि' में द्वितीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में क्रम से प्राप्तव्य प्रत्यय 'इत्था और ह' की चारों अंगों में प्राप्ति होकर क्रम से चारों रूप *गच्छित्था, गच्छिह, गच्छिहित्था* और *गच्छिहिह* सिद्ध हो जाते हैं। इनमें इतनी और विशेषता

जानना चाहिये कि प्रथम और तृतीय रूपों में 'इत्था' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर सूत्र संख्या १-१० से अंग रूप 'गच्छि और गच्छिहि' में स्थित अन्त्य स्वर 'इ' के आगे प्राप्त 'इत्था' प्रत्यय में स्थित आदि स्वर 'इ' का सद्भाव होने के कारण से लोप हो जाता है।

गमिष्यामि संस्कृत के भविष्यत्काल तृतीय पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप गच्छिमि, गच्छिहिमि, गच्छिस्सामि, गच्छिहामि, गच्छिस्सं और गच्छं होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-१७१ से मूल संस्कृत धातु 'गम्' के स्थान पर प्राकृत में भविष्यत्काल के प्रयोगार्थ 'गच्छ' की आदेश प्राप्ति; ३-१५७ से प्रथम रूप से लगाकर पाँचवें रूप तक प्राप्त प्राकृत-शब्द 'गच्छ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे भविष्यत्काल वाचक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'इ' की प्राप्ति; ३-१६६ और ३-१६७ से द्वितीय रूप; तृतीय रूप और चतुर्थ रूप में पूर्वोक्त रीति से प्राप्तांग 'गच्छि' में भविष्यत्काल वाचक प्रत्यय 'हि, स्सा, और हा' की क्रम से प्राप्ति; ३-१७२ से प्रथम रूप में भविष्यतकाल वाचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि, स्सा, अथवा हा' का लोप और ३-१४१ से भविष्यत्काल के अर्थ में क्रम से प्राप्त प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रूपांग गच्छि, गच्छिहि, गच्छिस्सा और गच्छिहा' में तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' को प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम चार रूप *गच्छिमि, गच्छिहिमि, गच्छिस्सामि* और *गच्छिहामि* सिद्ध हो जाते हैं।

गच्छिस्सं में मूल प्राकृत-अंग 'गच्छि' की प्राप्ति उपरोक्त चार रूपों में वर्णित विधि-विधानानुसार जानना चाहिये। तत्पश्चात् प्राप्तांग 'गच्छि' में सूत्र संख्या ३-१६९ से भविष्यत्काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में केवल 'स्सं' प्रत्यय की ही प्राप्ति होकर शेष सभी एतदर्थक प्राप्तव्य प्रत्ययों का अभाव होकर पञ्चम रूप *गच्छिस्सं* सिद्ध हो जाता है।

छट्ठे रूप 'गच्छं' की सिद्धि सूत्र-संख्या-*३-१७१* में की गई है।

गमिष्यामः संस्कृत के भविष्यत्-काल तृतीय-पुरुष के बहुवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप यहां पर केवल छह ही दिये गये हैं; जोकि इस प्रकार हैं:—१ गच्छिमो, २ गच्छिहिमो, ३ गच्छिस्सामो, ४ गच्छिहामो ५ गच्छिहिस्सा और ६ गच्छिहित्था। इनमें प्राकृत रूपांग 'गच्छि' की प्राप्ति इसी सूत्र में उपरोक्त तृतीय-पुरुष के एकवचन के अर्थ में वर्णित सूत्र संख्या ३-१७१ तथा ३-१५७ से जान लेना चाहिये, तत्पश्चात प्राप्तांग 'गच्छि' में सूत्र संख्या ३-१६६ और ३-१६७ से 'हि स्सा और हा' की क्रम से प्राप्ति, ३-१७२ से प्रथम रूप में भविष्यत-काल-वाचक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि अथवा स्सा अथवा हा' का लोप, और ३-१४४ से भविष्यतकाल के अर्थ में क्रम से प्राप्त प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रूपांग 'गच्छि, गच्छिहि, गच्छिस्सा और गच्छिहा' में तृतीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मो' की प्राप्ति होकर क्रम से प्रथम चार रूप *'गच्छिमो, गच्छिहिमो, गच्छिस्सामो* और *गच्छिहामो'* सिद्ध हो जाते हैं।

गच्छिहिस्सा और गच्छिहित्था में मूल अङ्ग 'गच्छि' की प्राप्ति उपरोक्त विधि-विधानों के अनुसार ही होकर सूत्र-संख्या ३-१६८ से भविष्यत-काल के अर्थ में तृतीय पुरुष के बहुवचन के सद्भाव में केवल क्रम से 'हिस्सा तथा हित्था' प्रत्ययों की ही प्राप्ति होकर एवं शेष सभी एतदर्थक प्राप्तव्य प्रत्ययों का अभाव होकर क्रम से पाँचवाँ तथा छट्ठा रूप गच्छिहिस्सा और गच्छिहित्था' भी सिद्ध हो जाते हैं। ३-१७२॥

दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिंस्त्रयाणाम् ॥३-१७३॥

विध्यादिष्वर्थेषूत्पन्नानामेकत्वेर्थे वर्तमानानां त्रयाणामपि त्रिकाणां स्थाने यथा-संख्यं दु सु मु इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ हसउ सा । हसगु तुमं । हसामु अहं ॥ पेच्छउ । पेच्छसु । पेच्छामु ॥ दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थम् ॥

अर्थः—संस्कृत में प्राप्तव्य आज्ञार्थक विधि-अर्थक और आशीपर्थक-भाव के बोधक पृथक्-पृथक् प्रत्यय पाये जाते हैं; परन्तु प्राकृत-भाषा में उपरोक्त तीनों प्रकार के लकारों के प्रत्यय एक जैसे ही होते हैं; तदनुसार प्राकृत-भाषा में उक्त-लकारो के ज्ञानार्थ प्राप्तव्य प्रत्ययों का विधान इस सूत्र में किया गया है। प्राकृत-भाषा के व्याकरण की रचना करने वाले विद्वान् महानुभाव उपरोक्त तीनों प्रकार के लकारों के अर्थ में अलग-अलग रूप से प्राप्तव्य प्रत्ययों का विधान नहीं करके एक ही प्रकार के प्रत्ययों का विधान कर देते हैं; ऐसी परिस्थिति में वाचक अथवा पाठक की बुद्धि का ही यह कर्तव्य रह जाता है कि वह समयानुसार तथा सम्बन्धानुसार विचार करके यह निर्णय करले कि—यहां पर क्रियापद में प्रदत्त लकार आज्ञार्थक है अथवा विधि-अर्थक है अथवा आशीपर्थक है। इस सूत्र में उपरोक्त लकारों के अर्थ में प्राप्तव्य एकवचन-बोधक प्रत्ययों का क्रम से विधान किया गया है; जो कि इस प्रकार हैं:—

प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में दु = उ' की प्राप्ति होती है।

द्वितीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में 'सु' प्रत्यय आता है और *तृतीय पुरुष* के एकवचन के अस्तित्व में 'मु' प्रत्यय की संयोजना की जाती है। यों तीनो प्रकार के पुरुषो के एकवचन के अर्थ में उपरोक्त तीनों लकारों में से किसी भी लकार के प्रकटीकरण में क्रमश' 'उ, सु, मु' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—प्रथम पुरुष के एकवचन का दृष्टान्तः—सा हसतु अथवा सा हसेत् अथवा सा हस्यात् = हसउ सा=वह हँसे। द्वितीय पुरुष के एकवचन का दृष्टान्तः—त्वम् हस अथवा त्वम् हसतात्; त्वम् हसेः; त्वम् हस्याः =तुमं हससु=तू हँस। तृतीय पुरुष के एकवचन का दृष्टान्तः—अहम् हसानि; अहम् हसेयम्; अहम् हस्यासम्=अहं हसामु = मैं हँसूँ। उपरोक्त लकारों के विधि-विधान की संपुष्टि के लिये दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—*प्रथम पुरुष* के एकवचन का दृष्टांत-(स) पश्यतु; (स) पश्येत; (स) दृश्यात्=(स) पेच्छउ = वह देखे। अथवा वह दर्शनीय बने। *द्वितीय*-

पुरुष के एकवचन का दृष्टान्तः— त्वम्) पश्य अथवा (त्वम्) पश्यतात, (त्वम्) पश्ये'; (त्वम्) दृश्याः = (तुमं) पेच्छसु=तू देख, तू देखे अथवा तू दर्शनीय बन (अथवा तू दर्शनीय हो'; *तृतीय पुरुष* के एकवचन का दृष्टान्त.—(अहम्, पश्यानि; (अहम्) पश्येयम्; (अहम्) दृश्यासम्=(अहम्) पेच्छामु=मैं देखूँ अथवा देखने योग्य बनूँ ।

लोट् लकार का प्रयोग मुख्यत 'आज्ञा, निमत्रण, प्रार्थना उपदेश और आशीर्वाद' आदि अर्थों में होता है। जबकि लिङ् लकार का उपयोग 'सम्भव, आज्ञा, निवेदन, प्रार्थना, इच्छा, आशीर्वाद, आशा तथा शक्ति' आदि अर्थों में हुआ करता है।

प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'उ' है, परन्तु सूत्र में 'उ' नहीं लिखकर 'दु' का उल्लेख करने का तात्पर्य केवल उच्चारण की सुविधा के लिये है। जैसा कि यही अर्थ सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त भाषान्तरार्थम्' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

हसतु, हसेत् और *हस्यात्* सस्कृत के क्रमश आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीपर्थक के प्रथम पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप हसउ होता है। इसमें सूत्र-सख्या ४-२३६ से हलन्त प्राकृत धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१७३ से मूल प्राकृत धातु 'हस' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में प्रथम पुरुष के एकवचन के सद्भाव में प्राकृत में 'उ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर हसउ रूप सिद्ध हो जाता है।

'*सो*' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र सख्या *३-३३* में की गई है।

हस अथवा *हसतात्, हसेः* और *हस्याः* सस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीपर्थक के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक रूप हससु होता है। इसमें सूत्र-सख्या ४-२३६ से हलन्त प्राकृत-धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३ १७३ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हस' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में द्वितीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में प्राकृत में 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *हससु* रूप सिद्ध हो जाता है।

'*तुमं*' सर्वनाम की सिद्धि सूत्र-सख्या *३–९०* में की गई है।

हसानि, हसेयम् और *हस्यासम्* सस्कृत के क्रमश आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीपर्थक के तृतीय-पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप हसामु होता है। इसमें सूत्र-सख्या ४-२३६ से हलन्त प्राकृत-धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५५ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१७३ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हसा' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में तृतीय-पुरुष के एकवचन के सद्भाव में प्राकृत में 'मु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *हसामु* रूप सिद्ध हो जाता है।

'अहं' सर्वनाम रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१०५ में की गई है।

पश्यतु, पश्येत् और *दृश्यात्* संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक, और आशीपर्थक के प्रथम पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप पेच्छउ होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-१८१ से मूल संस्कृत-धातु 'दृश्' के स्थान पर प्राकृत में 'पेच्छ' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१७३ से आदेश-प्राप्त प्राकृत-धातु पेच्छ' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में प्रथम पुरुष के एकवचन के सद्भाव में प्राकृत में केवल 'उ प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पेच्छउ* रूप सिद्ध हो जाता है।

पश्य, पश्यतात् पश्येः और *दृश्याः* संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीपर्थक लिङ् के द्वितीय पुरुष के एकवचन के सकर्मक क्रियापद के रूपहैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक रूप पेच्छसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१८१ से मूल संस्कृत धातु 'दृश' के स्थान पर प्राकृत में 'पेच्छ' की आदेश-प्राप्ति और ३-१७३ से आदेश प्राप्त प्राकृत-धातु 'पेच्छ' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में द्वितीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में प्राकृत में 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पेच्छसु* रूप सिद्ध हो जाता है।

पश्यानि, पश्येयम् और *दृश्यासम्* संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक विधि-अर्थक और आशीपर्थक के तृतीय पुरुष के एकवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप है। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप पेच्छामु होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-१८१ से मूल संस्कृत धातु 'दृश्' के स्थान पर प्राकृत में 'पेच्छ' की आदेश-प्राप्ति; ३-१५५ से आदेश प्राप्त धातु 'पंच्छ' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१७३ से प्राकृत में प्राप्तांग 'पेच्छा' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में तृतीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में प्राकृत में 'मु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पेच्छामु* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१७३ ॥

सोर्हिर्वा ॥ ३-१७४ ॥

पूर्व सूत्र विहितस्य सोः स्थाने हिरादेशो वा भवति ॥ देहि । देसु ॥

अर्थः—आज्ञार्थक अर्थात् लोट-लकार के; विधि-अर्थक अर्थात् लिङ्-लकार के और आशीपर्थक-लिङ् लकार के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राकृत में सूत्र-संख्या ३-१७३ में जिस 'सु' प्रत्यय का विधान किया गया है, उस प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'हि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। इस प्रकार से प्राकृत-भाषा में उक्त तीनों प्रकार के लकारों के द्वितीय-पुरुष के एकवचन के सद्भाव में दो प्रत्ययों की प्राप्ति हो जाती है; जो कि इस प्रकार हैं:—(१) 'सु' और (२) 'हि'। मुख्य प्रत्यय तो 'सु' ही है; किन्तु वैकल्पिक रूप से इस 'हि' प्रत्यय की भी उक्त 'सु' प्रत्यय के स्थान

पर आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। जैसे —देहि, (=दत्तात्); दद्याः और देयाः=देहि और देसु=तू दे; तू देने वाला हो और तू देने योग्य (दाता) हो। इस प्रकार से अन्य प्राकृत-धातुओं में भी उक्त तीनों प्रकार के लकारों के द्वितीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में सूत्र-संख्या ३-१७३ से प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के स्थान पर 'हि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक रूप से की जा सकती है।

देहि, दत्तात, दद्याः और *देया* संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि अर्थक, और आशीषर्थक द्वितीय पुरुष के एकवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से दो रूप–'देहि और देसु' होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-२२८ से मूल प्राकृत-धातु 'दा' में स्थित अन्त्य-स्वर 'आ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्राकृत में प्राप्तांग 'दे' में क्रम से सूत्र-संख्या ३-१७४ से तथा ३-१७३ से उक्त तीनों प्रकार के लकारों के द्वितीय-पुरुष के एकवचन के सद्भाव में क्रम से 'हि' और 'सु' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर देहि' और 'देसु' रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३–१७४॥

अत इज्ज स्विज्ज हीज्जे–लुको वा ॥ ३–१७५ ॥

अकारात्परस्य सोः इज्जसु इज्जहि इज्जे इत्येते लुक् च आदेशा वा भवन्ति ॥ हसेज्जसु। हसेज्जहि। हसेज्जे। हस। पक्षे। हससु ॥ अत इति किम्। होसु ॥ ठाहि ॥

अर्थः—आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीषर्थक के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राकृत में सूत्र-संख्या ३-१७३ में जिस सु प्रत्यय का विधान किया गया है उस प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के स्थान पर केवल अकारान्त धातुओं में ही वैकल्पिक रूप से 'इज्जसु अथवा इज्जहि अथवा इज्जे' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार से प्राकृत भाषा में उक्त लकारों के द्वितीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव में केवल अकारान्त धातुओं में चार प्रत्ययों की प्राप्ति हो जाती है। जो कि इस प्रकार हैः—(१) 'सु', (२) *इज्जसु*, (३) *इज्जहि* और (४) *इज्जे*। मुख्य प्रत्यय तो 'सु' ही है, किन्तु वैकल्पिक रूप से इन तीनों प्रत्ययों में से किसी भी एक प्रत्यय की कभी कभी उक्त 'सु' प्रत्यय के स्थान पर आदेश-प्राप्ति हो जाती है। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि उपरोक्त चारों प्रकार के प्रत्ययों में से किसी भी प्रकार के प्रत्यय की संयोजना नहीं होकर अर्थात उक्त प्रत्ययों का सर्वथा लोप होकर केवल मूल प्राकृत धातु के 'अविकल रूप' मात्र के प्रदर्शन से अथवा बोलने से उक्त लकारों के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'भावाभिव्यक्ति' अर्थात् वैसा अर्थ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार से उक्त चार प्रकार के प्रत्ययों के अतिरिक्त 'प्रत्यय लोप' वाला पाँचवाँ रूप और जानना चाहिये। यह स्थिति केवल अकारान्त धातुओं के लिये ही जानना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार है.—(त्वम्) हस अथवा हसतात् (त्वम्) हसेः और (त्वम्) हस्याः =(तुमं) हसेज्जसु, हसेज्जहि, हसेज्जे और हस। पक्षान्तर में 'हससु' भी होता है। इन सभी रूपों का यही हिन्दी अर्थ है कि—(तू) हँस; (तू) हँसे और (तू) हँसने वाला हो।

प्रश्नः—केवल अकारान्त धातुओं के लिये ही ही उपरोक्त चार प्रत्ययों का वैकल्पिक विधान क्यों किया गया है ? अन्य स्वरान्त धातुओं में इन प्रत्ययों की संयोजना का विधान क्यों नहीं किया गया है ?

उत्तरः—चूँकि प्राकृत-भाषा में अकारान्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य स्वरान्त-धातुओं में उक्त लकारों से सम्बन्धित द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ का अभिव्यक्ति मे केवल दो प्रत्यय 'सु' और 'हि' की प्राप्ति ही पाई जाती है; इसलिये परम्परा के प्रतिकूल विधान करना अनुचित एवं अशुद्ध है; इसी दृष्टिकोण से केवल अकारान्त-धातुओं के लिये ही उपरोक्त विधान सुनिश्चित किया गया है। अन्य स्वरान्त धातुओं के उदाहरण इस प्रकार हैं:—(त्वम्) भव अथवा भवतात्; (त्वम्) भवेः और (त्वम्) भूयाः = (तुमं) होसु = तू हो अथवा तू हो वे अथवा तू होने योग्य हो। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—(त्वम्) तिष्ठ अथवा तिष्ठतात्; (त्वम्) तिष्ठेः और (त्वम्) तिष्ठयाः = (तुमं) ठाहि = तू ठहर; तू ठहरे और तू ठहरने योग्य हो। इन उदाहरणों मे दी गई धातुएँ 'हो' और 'ठा' क्रम से ओकारान्त और आकारान्त हैं; इसलिये सूत्र-संख्या ३-१७५ के विधि-विधान से अकारान्त नहीं होने के कारण से उक्त तीनो लकारों के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ मे अकारान्त धातुओं मे प्राप्तव्य प्रत्यय 'इज्जसु, इज्जहि, इज्जे और लुक्' की प्राप्ति इनमें नहीं हो सकती है। इसलिये यह सिद्धांत निश्चित हुआ कि केवल अकारांत धातुओं में ही उक्त चार प्रत्यय जोड़े जा सकते हैं; अन्य स्वरान्त धातुओं में ये चार प्रत्यय नहीं जोड़े जा सकते हैं।

हस अथवा *हसतात् हसेः* और *हस्याः* संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीषर्थक के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से यहाँ पर पाँच रूप दिये गये हैं; जो कि इस प्रकार है:-(१) हसेज्जसु, (२) हसेज्जहि, (३) हसेज्जे, (४) हस और (५) हससु। इनमे से प्रथम तीन रूपों में सूत्र संख्या १-१० से मूल प्राकृत अकारान्त धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के आगे प्राप्तव्य प्रत्यय 'इज्जसु, इज्जहि और इज्जे' मे आदि में 'इ' स्वर का सद्भाव होने के कारण से लोप; ३-१७५ से प्राकृत में प्राप्त हलन्तांग 'हस्' मे उक्त तीनों लकारों के अर्थ में द्वितीय पुरुष के एकवचन के सद्भाव मे प्राकृत में क्रम से 'इज्जसु, इज्जहि और इज्जे प्रत्ययों की प्राप्ति और १-५ हलन्त-अंग 'हस्' के साथ में उक्त प्राप्त प्रत्ययों की संधि होकर *हसेज्जसु हसेज्जहि* और *हसेज्जे* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

चतुर्थ रूप 'हस' में मूल अकारान्त धातु 'हस' के साथ में सूत्र-संख्या ३-१७५ के उक्त प्राप्तव्य प्रत्ययों का लोप होकर उल्लिखित लकारों के अर्थ में द्वितीय पुरुष के एकवचन के संदर्भ मे '*हस*' रूप सिद्ध हो जाता है।

पाँचवे रूप '*हससु*' की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१७३* में की गई है।

भव अथवा भवतात्, भवेः और भूयाः संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक, और आशीपर्थक के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप होसु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू = भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१७३ से प्राकृत में आदेश-प्राप्त धातु-अङ्ग 'हो' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में द्वितीय-पुरुष के एकवचन के सद्भाव में 'सु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत-क्रियापद का रूप होसु सिद्ध हो जाता है।

तिष्ठ अथवा तिष्ठतात्, तिष्ठेः और तिष्ठ्याः संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीपर्थक द्वितीय पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप ठाहि होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-१ से मूल संस्कृत-धातु 'स्था = तिष्ठ्' के स्थान पर प्राकृत में 'ठा' रूप की आदेश-प्राप्ति और ३-१७४ से प्राकृत में आदेश-प्राप्त धातु अङ्ग 'ठा' में उक्त तीनों लकारों के अर्थ में द्वितीय-पुरुष के एकवचन के सद्भाव में 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर 'ठाहि' रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१७५॥

बहुषु न्तु ह मो ॥ ३-१७६ ॥

विध्यादिषूत्पन्नानां बहुष्वर्थेषु वर्तमानानां त्रयाणां त्रिकाणां स्थाने यथासंख्यं न्तु ह मो इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ न्तु । हसन्तु । हसन्तु हसेयुर्वा ॥ ह । हसह । हसत । हसेत वा ॥ मो । हसामो । हसाम । हसेम वा ॥ एवं तुवरन्तु । तुवरह । तुवरामो ॥

अर्थः—संस्कृत में प्राप्त आज्ञार्थक, विधि अर्थक और आशीपर्थक के प्रथम-द्वितीय और तृतीय पुरुष के द्विवचन में तथा बहुवचन में जो प्रत्यय धातुओं में नियमानुसार संयोजित किये जाते हैं, उन प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में जिन-आदेश प्राप्त प्रत्ययों की उपलब्धि है, उनका विधान इस सूत्र में किया गया है; तदनुसार प्राकृत-धातुओं में उक्त लकारों के अर्थ में प्रथम-पुरुष के बहुवचन में 'न्तु' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है, द्वितीय पुरुष के बहुवचन में 'ह' प्रत्यय का सद्भाव होता है और तृतीय पुरुष के बहुवचन में 'मो' प्रत्यय का आदेश-भाव जानना चाहिये। यों तीनों लकारों के द्विवचन के तथा बहुवचन के प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक-एक प्रत्यय का ही क्रम से 'न्तु, ह और मो' की प्रथम पुरुष में द्वितीय पुरुष में और तृतीय पुरुष में आदेश-प्राप्ति जाननी चाहिये। इनके क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—

'न्तु' प्रत्यय का उदाहरण.—हसन्तु, हसेयुः और हस्यासुः = हसन्तु=वे हँसे; वे हँसते रहें अथवा वे हँसने योग्य हों। द्वितीय पुरुष के बहुवचनार्थ-प्रत्यय 'ह' का उदाहरण—हसत, हसेत और हस्यास्त= हसह=आप हँसो, आप हँसे और आप हँसने योग्य हों। तृतीय पुरुष के बहुवचनार्थक प्रत्यय 'मो' का

दृष्टान्तः—हसाम; हसेम और हस्यास्म=हसामो=हम हँसे; हम हँसते रहें और हम हँसने योग्य हों। संस्कृत में 'हस्' धातु परस्मैपदी है, तदनुसार उपरोक्त उदाहरण परस्मैपदी-धातु का प्रदर्शित किया गया है; अब 'त्वर्=जल्दी करना' धातु का उदाहरण दिया जाता है; यह धातु आत्मनेपदीय है। प्राकृत में परस्मैपदी और आत्मनेपदी जैसा धातु-भेद नहीं पाया जाता है; अतएव संस्कृत में जैसे परस्मैपदी-अर्थक प्रत्यय भिन्न होते है और आत्मनेपदी-अर्थक प्रत्यय भी भिन्न होते हैं; वैसी पृथकता प्राकृत में नहीं है। इसी तात्पर्य-विशेष का बोध कराने के लिये संस्कृतीय आत्मनेपदी धातु का उदाहरण ग्रंथकार वृत्ति में प्रदान कर रहे हैं। प्रथम पुरुष के बहुवचन का उदाहरणः—त्वरन्ताम्; त्वरेरन और त्वरिषीरन=तुवरन्तु=वे शीघ्रता करें; वे शीघ्रता करते रहें और वे शीघ्रता करने योग्य हों। द्वितीय पुरुष के बहुवचन का उदाहरण:—त्वरध्वम्; त्वरेध्वम् और त्वरिषीध्वम्=तुवरह=आप जल्दी करो; आप जल्दी करें और आप जल्दी करने वाले हों। तृतीय पुरुष के बहुवचन का उदाहरणः—त्वरामहै; त्वरेमहि और त्वरिषीमहि=तुवरामो=हम शीघ्रता करें; हम शीघ्रता करते रहें और हम शीघ्रता करने वाले हों। इस प्रकार प्राकृत-भाषा में आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीषर्थक लकारों के बहुवचन में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय-पुरुष के अर्थ में क्रमशः समान रूप से 'न्तु, ह और मो' प्रत्यय का सद्भाव जानना चाहिये। प्राकृत में परस्मैपदी और आत्मनेपदी जैसे धातु-भेद का अभाव होने से प्रत्यय-भेद का भी अभाव ही होता है।

हसन्तु, हसेयुः और हस्यासुः संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक और आशीषर्थक प्रथम पुरुष के बहुवचन के अकर्मक परस्मैपदीय क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप हसन्तु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से प्राकृत हलन्त धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१७६ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हस' में उक्त तीनों प्रकार के लकारों के अर्थ में प्रथम पुरुष के बहुवचन के सद्भाव में प्राकृत में 'न्तु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर हसन्तु रूप सिद्ध हो जाता है।

हसत, हसेत और हस्यास्त संस्कृत के क्रमशः आज्ञार्थक, विधि-अर्थक, और आशीषर्थक के द्वितीय पुरुष के बहुवचन के अकर्मक परस्मैपदी क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप 'हसह' होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-२३९ से हलन्त प्राकृत-धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति और ३-१७६ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हस' में उक्त तीनों प्रकार के लकारों के अर्थ में द्वितीय-पुरुष के बहुवचन के सद्भाव में प्राकृत में केवल एक ही प्रत्यय 'ह' की प्राप्ति होकर 'हसह' रूप सिद्ध हो जाता है।

हसाम हसेम और हस्यास्म संस्कृत के क्रमशः उपरोक्त तीनों प्रकार के लकारों के तृतीय-पुरुष के बहुवचन के अकर्मक परस्मैपदी क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप हसामो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से हलन्त प्राकृत-धातु 'हस' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५५ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१७६ से

प्राकृत में प्राप्तांग 'हसा' में उक्त तीनों प्रकार के लकारों के अर्थ में तृतीय-पुरुष के बहुवचन के सद्भाव में प्राकृत में केवल एक ही प्रत्यय 'मो' की प्राप्ति होकर *हसामो* रूप सिद्ध हो जाता है।

त्वरन्ताम्, त्वरेरन् और *त्वरिषीरन्* संस्कृत के क्रमशः उक्त तीनों लकारों के प्रथम पुरुष के बहुवचन के अकर्मक आत्मनेपदी क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप तुवरन्तु होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१७० से मूल संस्कृत धातु 'त्वर्' के स्थान पर प्राकृत में 'तुवर' की आदेश-प्राप्ति और ३-१७६ से उक्त तीनों लकारों के प्रथम पुरुष के बहुवचन के सद्भाव में प्राकृत में प्राप्तांग 'तुवर' में 'न्तु' प्रत्यय की प्राप्ति होकर तुवरन्तु रूप सिद्ध हो जाता है।

त्वरध्वम्, त्वरेध्वम् और *त्वरिषीध्वम्* संस्कृत के क्रमशः उक्त तीनों प्रकार के लकारों के द्वितीय पुरुष के बहुवचन के अकर्मक आत्मनेपदी क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप तुवरह होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-१७० से मूल संस्कृत-धातु 'त्वर' के स्थान पर प्राकृत में 'तुवर' की आदेश-प्राप्ति और ३-१७६ से उक्त तीनों लकारों के द्वितीय पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राकृत में प्राप्तांग 'तुवर' में 'ह' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *तुवरह* रूप सिद्ध हो जाता है।

त्वरामहै, त्वरेमहि और *त्वरिषिमहि* संस्कृत के क्रमशः उक्त तीनों प्रकार के लकारों के तृतीय पुरुष के बहुवचन के अकर्मक आत्मनेपदी क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर प्राकृत में समान रूप से एक ही रूप तुवरामो होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१७० से मूल संस्कृत-धातु 'त्वर' के स्थान पर प्राकृत में 'तुवर' की आदेश प्राप्ति, ३-१५५ से आदेश-प्राप्त धातु अङ्ग 'तुवर' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर आगे 'मो' प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण से 'आ' की प्राप्ति और ३-१७६ से प्राप्त प्राकृत अंग 'तुवरा' में उक्त तीनों प्रकार के लकारों के तृतीय-पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राकृत में 'मो' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *तुवरामो* रूप सिद्ध हो जाता है। ३-१७६॥

वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ॥३-१७७॥

वर्तमानाया भविष्यन्त्याश्च विध्यादिषु च विहितस्य प्रत्ययस्य स्थाने ज्ज ज्जा इत्येतावादेशौ वा भवतः। पक्षे यथा प्राप्तम्॥ वर्तमाना। हसेज्ज। हसेज्जा। पढेज्ज। पढेज्जा। सुणेज्ज। सुणेज्जा॥ पक्षे। हसइ। पढइ। सुणइ॥ भविष्यन्ती। पढेज्ज। पढेज्जा। पक्षे। पढिहिइ॥ विध्यादिषु। हसेज्ज। हसिज्जा। हसतु। हसेद्वा इत्यर्थः। पक्षे। हसउ॥ एवं सर्वत्र। यथा तृतीयत्रये। अइवाएज्जा। अइवायावेज्जा। न समणुजाणामि। न समणुजाणेज्जा वा॥ अन्येत्वन्यासामपीच्छन्ति। होज्ज। भवति। भवेत्। भवतु। अभवत्। अभूत्। बभूव। भूयात्। भविता। भविष्यति। अभविष्यद्वेत्यर्थः॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में वर्तमानकाल के; भविष्यत्काल के; आज्ञार्थक; विधि-अर्थक और आशीषर्थक के तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ज्ज और ज्जा' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति हुआ करती है और इस प्रकार केवल 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्यय की ही संयोजना कर देने से उक्त लकारों के किसी भी प्रकार के पुरुष के किसी भी वचन का अर्थ संदर्भ के अनुसार उत्पन्न हो जाता है। यह स्थिति वैकल्पिक है; अतएव पक्षान्तर में उक्त लकारों के अर्थ में कहे गये प्रत्ययों की प्राप्ति भी यथा-नियमानुसार होती ही है। वर्तमानकाल का दृष्टान्त इस प्रकार है:—हसति, (हसन्ति, हससि, हसथ, हसामि और हसामः) = हसेज्ज और हसेज्जा = पक्षान्तर में-हसइ (हसए, हसन्ति, हसन्ते, हसिरे, हससि, हससे, हसित्था, हसह, हसामि, हसामो, हसामु और हसाम) = वह हँसता है; (वे हँसते हैं; तू हँसता है. तुम हँसते हो; मैं हँसता हूं और हम हँसते हैं।) दूसरा उदाहरणः—पठति-(पठन्ति, पठसि, पठथ, पठामि और पठामः) = पढेज्ज और पढेज्जा=पक्षान्तर में-पढइ; (पढए, पढन्ति, पढन्ते, पढिरे, पढसि, पढसे, पढित्था, पढह, पढामि, पढामो पढामु और पढाम)=वह पढ़ता है; (वे पढ़ते हैं; तू पढ़ता है; तुम पढ़ते हो; मैं पढ़ता हूं और हम पढ़ते हैं)। तीसरा उदाहरणः-शृणोति-(शृण्वन्ति, शृणोषि, शृणुथ, शृणोमि, और शृणुमः अथवा शृण्मः)=सुणेज्ज अथवा सुणेज्जा= पक्षान्तर में-सुणइ; (सुणए; सुणन्ति, सुणन्ते, सुणिरे, सुणसि, सुणसे, सुणित्था, सुणह, सुणामि, सुणामो, सुणामु और सुणाम)=वह सुनता है; (वे सुनते हैं; तू सुनता है; तुम सुनते हो; मैं सुनता हूं और हम सुनते हैं)।

भविष्यत्-काल का उदाहरण इस प्रकार है:—पठिष्यति-(पठिष्यन्ति, पठिष्यसि, पठिष्यथ, पठिष्यामि और पठिष्यामः) = पढेज्ज और पढेज्जा; पक्षान्तर में-पढिहिइ (पढिहिए, पढिहिन्ति पढिहिन्ते पढिहिरे, पढिहिसि, पढिहिसे; पढिहित्था, पढिहिह, पढिहिमि, पढिहिमो, पढिहिमु, पढिहिम) = वह पढ़ेगा (वे पढ़ेंगे, तू पढ़ेगा, तुम पढोगे; मैं पढूँगा और हम पढ़ेंगे)।

आज्ञार्थक और *विधि-अर्थक* के क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसतु-हसतात् (हसन्तु; हस-हसतात् और हसत; हसानि तथा हसाम) तथा हसेत् (हसेयुः; हसेः और हसेत; हसेयम् तथा हसेम)= हसेज्ज और हसिज्जा अथवा हसेज्जा; पक्षान्तर में हसउ (हसन्तु; हससु तथा हसह; हसामु और और हसामो)= वह हँसे; (वे हँसें; तू हँस तथा तुम हँसो; मैं हँसूँ और हम हँसें); वह हँसता रहे; (वे हँसते रहें; तू हँसता रह तथा तुम हँसते रहो; मैं हँसता रहूं और हम हँसते रहें)। यों क्रम से लोट् लकार के तथा लिङ् लकार के 'ज्ज-ज्जा' प्रत्ययों के साथ में प्राकृत रूप जानना चाहिये। यही पद्धति अन्य प्राकृत धातुओं के सम्बन्ध में भी 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर वर्तमानकाल, भविष्यत्काल, आज्ञार्थक लकार और विधि-अर्थक लकार के अर्थ में तीनों पुरुषों के दोनों वचनों के सद्भाव में समझ लेना चाहिये। इसी तात्पर्य को समझाने के लिये पुनः दो उदाहरण क्रम से और दिये जाते हैं:—अतिपातयति (अतिपातयंति अतिपातयसि. अतिपातयथ, अतिपातयामि और अति-

पातयामः) = अइवाएज्जा और अइवायावेज्जा = वह उल्लंघन कराता है; (वे उल्लघन कराते हैं; तू उल्लघन कराता है, तुम उल्लघन कराते हो; मैं उल्लघन कराता हूँ और हम उल्लघन कराते हैं)। इस प्रकार से प्राकृत क्रियापद के रूप 'अइवाएज्ज और अइवायावेज्जा' का अर्थ वर्तमानकाल के प्रेरणार्थक भाव में किया गया है। किसी भी प्रकार का परिवर्तन किये बिना इन्हीं प्राकृत क्रियापद के रूपों द्वारा 'भविष्यत्काल के, आज्ञार्थक लकार के और विधि-अर्थक लकार के' तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में भी प्रेरणार्थक भाव की अभिव्यञ्जना उपरोक्त वर्तमानकाल के समान ही की जा सकती है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है :—न समनुजानामि = न समणुजाणामि अथवा न समणुजाणेज्जा = मैं अनुमोदन नहीं करता हूँ अथवा मैं अच्छा नहीं मानता हू। इस उदाहरण में यह बतलाया गया है कि वर्तमानकाल के तृतीय-पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के स्थान पर 'ज्जा' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति हुई है ग्रंथकार इस प्रकार की विवेचना करके यह सिद्धान्त निश्चित करना चाहते हैं कि प्राकृत भाषा में वर्तमानकाल के, भविष्यत्काल के, आज्ञार्थक के और विधि-अर्थक के तीनों पुरुषों के दोनों वचनों के अर्थ में धातुओं में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर 'ज्ज अथवा ज्जा' इन दो प्रत्ययों की वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होती है।

प्राकृत-भाषा के अन्य वैयाकरण विद्वान् यह भी कहते हैं कि संस्कृत-भाषा में पाये जाने वाले काल-वाचक दश ही लकारों के तीनों पुरुषों के सभी प्रकार के वचनों के अर्थ में प्राप्तव्य कुल ही प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्यय की सयोजना कर देने से प्राकृत-भाषा में उक्त लकारों के सभी पुरुषों के इष्ट-वचन का तात्पर्य अभिव्यक्त हो जाता है। इस मन्तव्य का संक्षिप्त तात्पर्य यही है कि धातु में किसी भी काल के किसी भी पुरुष के किसी भी वचन में केवल 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्यय को जोड़ देने से उक्त काल के उक्त पुरुष के उक्त वचन का अर्थ परिस्फुटित हो जाता है। उदाहरण इस प्रकार है:- भवति, भवेत्, भवतु, अभवत्, अभूत्, बभूव, भूयात्, भविता, भविष्यति और अभविष्यत् = होज्ज = वह होता है, वह होवे, वह हो, वह हुआ, वह हुआ था; वह हो गया था, वह होने योग्य हो, वह होने वाला हो, वह होगा और वह हुआ होता। इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि प्राकृत के क्रियापद के रूप 'होज्ज' से ही किसी भी लकार के किसी भी पुरुष के किसी भी वचन का अर्थ निकाला जा सकता है। प्राकृत-भाषा में यों केवल दो प्रत्यय ही 'ज्ज और ज्जा' सार्वकालिक और सार्ववाचनिक तथा सार्व-पौरुषेय हैं। किन्तु ध्यान में रहे कि यह स्थिति वैकल्पिक है।

हसति, हसन्ति, हससि, हसथ, हसामि और *हसामः* संस्कृत के वर्तमानकाल के तीनों पुरुषों के क्रमश. एकवचन के और बहुवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप समान रूप से एवं समुच्चय रूप से हसेज्ज और हसेज्जा होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ४-२३९ से मूल प्राकृत-हलन्त धातु 'हस' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५९ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर आगे प्राप्त प्रत्यय ज्ज और ज्जा' का सद्भाव होने के कारण से 'ए' की प्राप्ति और ३-१७७ से प्राप्तांग 'हसे' में उक्त वर्तमानकाल के तीनों पुरुषों के दोनों वचनों के अर्थ में प्राप्तव्य सभी संस्कृतीय प्रत्ययों के

स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ज्ज और ज्जा' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप *हसेज्ज* और *हसेज्जा* सिद्ध हो जाते हैं।

पठति, पठन्ति, पठसि, पठथ, पठामि और *पठामः* संस्कृत के वर्तमानकाल के तीनों पुरुषों के क्रमशः एकवचन के और बहुवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप समुच्चय रूप से पढेज्ज और पढेज्जा होते हैं। इनमे सूत्र-संख्या १-१९९ से मूल संस्कृत-धातु 'पठ्' में स्थित हलन्त व्यञ्जन 'ठ्' के स्थान पर 'ढ्' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त हलन्त प्राकृत-धातु 'पढ' में विकरण-प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति ३-१५९ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-१७७ से प्राप्तांग 'पढे' में वर्तमानकाल-वाचक सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल 'ज्ज और ज्जा' प्रत्ययों की क्रमशः प्राप्ति होकर '*पढेज्ज* और *पढेज्जा*' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

शृणोति, शृण्वन्ति, शृणोषि शृणुथ, शृणोमि और *शृणुमः* संस्कृत के वर्तमानकाल के तीनों पुरुषों के क्रमशः एकवचन के तथा बहुवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप समान रूप से और समुच्चय रूप से सुणेज्ज तथा सुणेज्जा होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या २-७९ से संस्कृत में प्राप्त विकरण प्रत्यय सहित पञ्चमगणीय धातु-अंग 'श्रुनु' में स्थित 'श्रु' के 'र' व्यञ्जन का लोप; १-२६० से लोप हुए र' व्यञ्जन के पश्चात् शेष रहे हुए 'शु' में स्थित तालव्य 'श' के स्थान पर प्राकृत में दन्त्य 'स' की की प्राप्ति; १-२२८ से 'न' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति; ४-२३८ से प्राप्त णु' में स्थित अन्त्य स्वर 'उ' के स्थान पर 'अ' की प्राप्ति; ३-१५९ से प्राकृत में प्राप्तांग 'सुण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-१७७ से प्राप्तांग 'सुणे' में वर्तमान-कालिक सभी पुरुषों के सभी वचनों के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय सभी प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल दो प्रत्यय ही 'ज्ज तथा ज्जा' की क्रम से प्राप्ति होकर *सुणेज्ज* और *सुणेज्जा* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'*हसइ*' क्रियापद-रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१३९* में की गई है।

'*पढइ*' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *१-१९९* में का गई है।

शृणोति संस्कृत के वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप सुणइ होता है। इसमें 'सुण' अंग की प्राप्ति इसी सूत्र में वर्णित उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् सूत्र-सख्या ३-१३९ से प्राप्तांग सुण' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत क्रियापद का रूप *सुणइ* सिद्ध हो जाता है।

पठिष्यति, पठिष्यन्ति, पठिष्यसि, पठिष्यथ, पठिष्यामि और *पठिष्यामः* संस्कृत के भविष्यत्-काल के तीनों पुरुषों के क्रमशः एकवचन के तथा बहुवचन के सकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप समान रूप से पढेज्ज तथा पढेज्जा होते हैं। इनमें प्राकृत-अंग-रूप 'पढे' की प्राप्ति इसी सूत्र में

वर्णित उपरोक्त रीति-अनुसार, तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१७७ से प्राप्तांग 'पढे' में भविष्यत्-काल के सभी पुरुषों के सभी वचनों के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय सर्व-प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल दो प्रत्यय ही 'ज्ज तथा ज्जा' की क्रम से प्राप्ति होकर *पढेज्ज* तथा *पढेज्जा* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

पठिष्यति संस्कृत के भविष्यत्-काल के प्रथम पुरुष के एकवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत रूप पढिहिइ होता है। इसमें सूत्र संख्या १-१९९ से मूल संस्कृत हलन्त धातु 'पठ्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ठ' के स्थान पर 'ढ' की प्राप्ति; ४-२३९ से प्राप्त प्राकृत धातु 'पढ्' के अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ढ्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५७ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; ३-१६६ से प्राप्त प्राकृत धातु अङ्ग 'पढि' में भविष्यत्काल बोधक प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१३९ से भविष्यत्-अर्थक प्राप्तांग 'पढिहि' में प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *पढिहिइ* रूप सिद्ध हो जाता है।

हसतु, हसतात्; हसन्तु, हस-हसतात्; हसत; हसानि; हसाम और *हसेत्, हसेयुः; हसेः, हसेत; हसेयम्, हसेम*; संस्कृत के आज्ञार्थ और विधि-लिङ् अर्थक तीनों पुरुषों के एकवचन के तथा बहुवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप समान रूप से और समुच्चय रूप से हसेज्ज तथा हसिज्जा (अथवा हसेज्जा) होते हैं। इनमें से प्रथम रूप में सूत्र-संख्या ३-१५९ से मूल प्राकृत धातु 'हस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति; तथा द्वितीय रूप में ४-२३८ से उक्त 'अ' के स्थान पर 'इ' की प्राप्ति; यों क्रम से प्राप्तांग 'हसे और हसि' में सूत्र संख्या ३-१७७ से आज्ञार्थ और विधि-लिङ् के तीनों पुरुषों के दोनों वचनों के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय सर्व-प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल दो प्रत्यय 'ज्ज तथा ज्जा' की ही क्रम से प्राप्ति होकर *हसेज्ज हसिज्जा* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

हसउ' क्रियापद रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१७३* में की गई है।

अतिपातयति, अतिपातयन्ति, अतिपातयसि, अतिपातयथ, अतिपातयामि और *अतिपातयामः* संस्कृत के वर्तमानकाल के प्रेरणार्थक क्रियावाले तीनों पुरुषों के क्रमशः दोनों वचनों के सकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत-रूप समान रूप से अइवाएज्जा और अइवायावेज्जा होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल संस्कृत धातु 'अतिपत्' में स्थित प्रथम 'त्' का लोप, १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति; ३-१५३ से प्रेरणार्थक-भाव के अस्तित्व के कारण से प्राप्त व्यञ्जन 'व' में स्थित 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति, ४-२३९ से संस्कृत की मूल-धातु 'अतिपत' के अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'त' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; १-१७७ से उक्त प्राप्त अन्त्य 'त' का पुनः लोप; १-१८० से लोप हुए 'त' के पश्चात् शेष रहे-हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की वैकल्पिक रूप से प्राप्ति, ३-१५९ से प्रथम रूप में लोप हुए 'त्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'अ' के स्थान पर 'य' की प्राप्ति नहीं होकर 'ए' की प्राप्ति, ३-१४९ से द्वितीय रूप में प्राप्तांग 'अइवाय' में प्रेरणार्थक भाव के अस्तित्व में 'आवे' प्रत्यय की प्राप्ति, १-५ से द्वितीय रूप में प्राप्तांग 'अइवाय' के साथ में प्राप्त प्रत्यय 'आवे' का संधि होकर 'अइवायावे' अङ्ग की प्राप्ति; अत

में सूत्र-संख्या ३-१७७ से क्रम से प्राप्तांग 'अइवाए' और 'अइवायावे' में वर्तमानकाल-वाचक तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में प्राप्तव्य संस्कृतीय सर्व-प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल 'ज्जा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *अइवाएज्जा* और *अइवायावेज्जा* रूप सिद्ध हो जाते है।

'*न*' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६ में की गई है।

समनुजानामि संस्कृत के वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन का सकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूप समणुजाणामि और समणुजाणेज्जा होते है। इनमें सूत्र-संख्या १-२२८ से दोनों ही 'न्' के स्थान पर 'ण' की प्राप्ति; ३-१५४ से प्रथम रूप मे प्राप्तांग 'समणुजाण' में स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति और ३-१४१ से प्रथम रूप वाले प्राप्तांग 'समणुजाणा' मे वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्रथम रूप *समणुजाणामि* सिद्ध हो जाता है। द्वितीय रूप में सूत्र-संख्या ३-१५६ से प्राप्तांग 'समणुजाण' मे स्थित अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्राप्तांग 'समणुजाणे' में सूत्र-संख्या ३-१७७ से वर्तमानकाल के तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के स्थान पर 'ज्जा' प्रत्यय की प्राप्ति होकर द्वितीय रूप *समणुजाणेज्जा* भी सिद्ध हो जाता है।

'*वा*' अव्यय की सिद्धि सूत्र संख्या १-६७ में की गई है।

भवति, भवेत्, भवतु, अभवत्, अभूत्, बभूव भूयात्, भविता, भविष्यति, और *अभविष्यत्* संस्कृत के क्रमशः लट, लिङ्, लोट्, लङ्, लुङ्, लिट, लिङ्। (आशिषि), लुट्, लृट और लृङ्-लकारों के प्रथम पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप है। इन सभी रूपों के स्थान पर समुच्चय रूप से प्राकृत में एक रूप होज्ज होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-६० से संस्कृत में प्राप्त धातु 'भू=भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अंग-रूप की प्राप्ति और ३-१७७ की वृत्ति से उक्त दश ही लकारों के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय सर्व-प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल 'ज्ज' प्रत्यय की ही प्राप्ति होकर उक्त दश-लकारों के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राकृत-क्रियापद का रूप '*होज्ज*' सिद्ध हो जाता है। ३-१७७।

मध्ये च स्वरान्ताद्वा ॥३-१७८॥

स्वरान्ताद्धातोः प्रकृति प्रत्यययोर्मध्ये चकारात् प्रत्ययानां च स्थाने ज्ज ज्जा इत्येतौ वा भवतः वर्तमाना भविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च ॥ वर्तमाना । होज्जइ । होज्जाइ । होज्ज । होज्जा । पक्षे । होइ ॥ एवं होज्जसि । होज्जासि । होज्ज । होज्जा ॥ पक्षे । होसि इत्यादि ॥ भविष्यन्ति । होज्जहिइ । होज्जाहिइ । होज्ज । होज्जा । पक्षे । होहिइ ॥ एवं होज्जहिसि ।

होज्जाहिसि । होज्ज । होज्जा । होहिसि । होज्जहिमि । होज्जाहिमि । होज्जस्सामि । होज्जहामि । होज्जस्सं । होज्ज । होज्जा । इत्यादि ॥ विध्यादिषु । होज्जउ । होज्जाउ । होज्ज । होज्जा । भवतु भवेद्वेत्यर्थः । पक्षे । होउ ॥ स्वरान्तादितिकिम् । हसेज्ज । हसेज्जा । तुवरेज्ज तुवरेज्जा ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में जो स्वरान्त धातुएं हैं; उन स्वरान्त धातुओं के मूल अंग और संयोजित किये जानेवाले वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, आज्ञार्थक और विधि अर्थक के प्रत्यय इन दोनों के मध्य में वैकल्पिक रूप से ज्ज अथवा ज्जा का प्राप्ति (विकरण प्रत्यय जैसे रूप से) हुआ करती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वर्तमानकाल के, भविष्यतकाल के, आज्ञार्थक और विधि-अर्थक के बोधक प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'ज्ज अथवा ज्जा' की आदेश-प्राप्ति भी हुआ करती है। *निष्कर्ष* रूप से वक्तव्य यह है कि स्वरान्त धातु और उक्त लकारों के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्ययों के मध्य में 'ज्ज अथवा ज्जा' की प्राप्ति वैकल्पिक रूप से होती है। तथा कभी कभी उक्त लकारों के अर्थ में प्राप्तव्य सभी प्रकार के पुरुष बोधक तथा सभी प्रकार के वचन बोधक प्रत्ययों के स्थान पर भी वैकल्पिक रूप से 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करता है। उक्त लकारों से सम्बन्धित उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं; सर्व-प्रथम *वर्तमानकाल* के उदाहरण दिये जा रहे हैं:—भवति=होज्जइ, होज्जाइ; होज्ज तथा होज्जा, वैकल्पिक-पक्ष होने से पक्षान्तर में 'होइ' भी होता है। भवसि=होज्जसि, होज्जासि, होज्ज तथा होज्जा; वैकल्पिक-पक्ष होने से पक्षान्तर में 'होसि' भी होता है। उपरोक्त दोनों उदाहरण क्रम से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के तथा द्वितीय पुरुष के एकवचन के हैं। अब *भविष्यत्काल* के उदाहरण प्रदर्शित किये जा रहे हैं। भविष्यति=होज्जहिइ, होज्जाहिइ, होज्ज तथा होज्जा। वैकल्पिक पक्ष का सद्भाव होने के कारण से पक्षान्तर में 'होहिइ' रूप भी होता है। इनका हिन्दी-अर्थ होता है वह होगा अथवा वह होगी। दूसरा उदाहरण भविष्यसि=होज्जहिसि, होज्जाहिसि, होज्ज तथा होज्जा। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'होहिसि' रूप का भी सद्भाव होगा। इनका हिन्दी-अर्थ होता है-तू होगा अथवा तू होगी। तीसरा उदाहरणः—भविष्यामि=होज्जहिमि, होज्जाहिमि, होज्जस्सामि; होज्जहामि, होज्जस्सं, होज्ज तथा होज्जा, पक्षान्तर में होहिमि भी होता है। इनका हिन्दी-अर्थ यह है कि-मैं होऊँगा अथवा मैं होऊँगी।

आज्ञार्थक और *विधि-अर्थक* के उदाहरण इस प्रकार हैं:—भवतु और भवेत्=होज्जउ, होज्जाउ, होज्ज तथा होज्जा; पक्षान्तर में 'होउ' भी होता है। इनका यह अर्थ है कि-वह हो अथवा वह होवे। इन उदाहरणों से यह विदित होता है कि वैकल्पिक रूप से स्वरान्त धातु और प्रत्यय के मध्य में 'ज्ज अथवा ज्जा' की प्राप्ति हुई है तथा पक्षान्तर में प्रत्ययों के स्थान पर ही 'ज्ज अथवा ज्जा' का आदेश हो गया है। साथ में यह भी बतला दिया गया है कि उपरोक्त दोनों विधि-विधान वैकल्पिक स्थिति वाले होने से तृतीय-अवस्था में न तो 'ज्ज अथवा ज्जा' को धातु और प्रत्यय के मध्य में आगम

ही हुआ है और न प्रत्ययों के स्थान पर आदेश ही हुआ है; किन्तु पूर्व-सूत्रों में वर्णित सर्व-सामान्य रूप से उपलब्ध लकार बोधक प्रत्ययों की ही प्राप्ति हुई है। यों तीनों प्रकार की स्थिति का क्रमशः उपयोग किया गया है; जो कि ध्यान देने योग्य है।

प्रश्नः—मूल-सूत्र में 'स्वरान्त' पद का उपयोग करके ऐसा विधान क्यों बनाया गया है कि केवल स्वरान्त धातु और प्राप्तव्य लकार-बोधक प्रत्ययों के मध्य में ही 'ज्ज अथवा ज्जा' का वैकल्पिक रूप से आगम होता है?

उत्तरः—जो धातु स्वरान्त नहीं होकर व्यञ्जनान्त हैं; उनमें 'मूल धातु अंग और प्राप्तव्य लकार बोधक प्रत्ययों के मध्यम में आगम-रूप से 'ज्ज अथवा ज्जा' की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिये उन धातुओं की 'ऐसी विशेष स्थिति' का प्रदर्शन कराने के लिये ही मूल-सूत्र में 'स्वरान्त' पद की संयोजना की गई है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी यह बात ध्यान में रहे कि व्यञ्जनान्त अंग और प्रत्ययों के मध्य में 'ज्च अथवा ज्जा' का आगम नहीं होने पर भी लकार-बोधक प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर वैकल्पिक रूप से उक्त 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति तो होती है। जैसेः— हसति, हससि, हसामि, हसिष्यति, हसिष्यसि, हसिष्यामि, हसतु और हसेत्=हसेज्ज अथवा हसेज्जा=वह हँसता है, तू हँसता है; मैं हँसता हूं, वह हँसेगा, तू हँसेगा, मैं हँसूँगा; वह हँसे और वह हँसता रहे। दूसरा उदाहरण इस प्रकार हैः—त्वरते, त्वरसे, त्वरे, त्वरिष्यते, त्वरिष्यसे, त्वरिष्ये, त्वरताम्, त्वरस्व, त्वरै, त्वरेत, त्वरेथाः और त्वरेय = तुवरेज्ज और तुवरेज्जा=वह शीघ्रता करता है, तू शीघ्रता करता है, मैं शीघ्रता करता हूँ, वह शीघ्रता करेगा, तू शीघ्रता करेगा, मैं शीघ्रता करूँगा; वह शीघ्रता करे, तू शीघ्रता कर, मैं शीघ्रता करूँ, वह शीघ्रता करता रहे, तू शीघ्रता करता रह और मैं शीघ्रता करता रहूं। इन 'ज्ज और ज्जा' प्रत्ययों के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक सूत्र-संख्या ३-१७७ में बतलाया गया है; अतः विशेष-विवरण की यहाँ पर आवश्यकता नहीं रह जाती है।

भवति संस्कृत के वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत-रूपान्तर होज्जइ, होज्जाइ, होज्ज, होज्जा और होइ होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू = भव्' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' अंग की प्राप्ति; तत्पश्चात् प्रथम और द्वितीय रूपों में सूत्र-संख्या ३-१७८ से प्राप्तांग 'हो' में 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की (विकरण रूप से) वैकल्पिक-प्राप्ति और ३-१३९ से प्राप्तांग 'होज्ज तथा होज्जा' में वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होज्जइ* तथा *होज्जाइ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय और चतुर्थ रूपों में उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ तथा ३-१७७ से वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ति' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ज्ज और ज्जा' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर तृतीय और चतुर्थ रूप *'होज्ज तथा होज्जा'* भी सिद्ध हो जाते हैं।

पञ्चम रूप होइ की सिद्धि सूत्र-संख्या १-९ में की गई है।

भवसि संस्कृत के वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत-रूपांतर होज्जसि, होज्जासि, होज्ज, होज्जा और होसि होते हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय रूपों में उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की (विकरण-रूप से) वैकल्पिक प्राप्ति और ३-१४० से प्राप्तांग 'होज्ज तथा होज्जा' में वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के समान ही प्राकृत में भी 'सि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होज्जासि* रूप सिद्ध हो जाता है।

तृतीय और चतुर्थ रूपों में उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से तथा ३-१७७ से वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'ज्ज और ज्जा' प्रत्ययों की प्राप्ति होकर तृतीय तथा चतुर्थ रूप *'होज्ज और होज्जा'* भी सिद्ध हो जाते हैं।

पंचम रूप *'होसि'* की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-१४५* में की गई है।

भविष्यति संस्कृत के भविष्यत्-काल के प्रथम पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत रूपान्तर होज्जहिइ, होज्जाहिइ, होज्ज, होज्जा और होहिइ होते हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय रूपों में उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्ययों की (विकरण रूप से) वैकल्पिक प्राप्ति, ३-१६६ से प्राप्तांग 'होज्ज तथा होज्जा' में भविष्यत्-काल-वाचक अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१३९ से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राकृत में क्रम से प्राप्तांग 'होज्जहि तथा होज्जाहि' में प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *होज्ज-हिइ* और *होज्जाहिइ* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय और चतुर्थ रूप *'होज्ज तथा होज्जा'* में सूत्र-संख्या ३-१७८ से तथा ३-१७७ से प्राप्तांग 'हो' में भविष्यत्-काल-वाचक प्राप्तव्य प्राकृतीय प्रत्ययों के स्थान पर क्रम से 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की वैकल्पिक रूप से भविष्यत्-काल-वाचक-अर्थ में आदेश-प्राप्ति होकर *'होज्ज तथा होज्जा'* रूप भी सिद्ध हो जाते हैं।

पचम रूप *'होहिइ'* की सिद्धि सूत्र संख्या *३-१६६* में की गई है।

भविष्यसि संस्कृत के भविष्यत्-काल के द्वितीय पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूपांतर होज्जहिसि, होज्जाहिसि, होज्ज, होज्जा और होहिसि होते हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय रूपों में उपरोक्त रीति से *प्राप्तांग* 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की (विकरण-रूप से) वैकल्पिक-प्राप्ति; ३-१६६ से प्राप्तांग 'होज्ज तथा होज्जा' में भविष्यत काल-वाचक

अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति और ३-१४० से भविष्यत्-काल के अर्थ में प्राकृत में क्रम से प्राप्तांग 'होज्जहि तथा होज्जाहि' में द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'सि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*होज्जाहिसि तथा होज्जाहिसि*' सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय और चतुर्थ रूप 'होज्ज तथा होज्जा' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से तथा ३-१७७ से (उपरोक्त रीति से) प्राप्तांग 'हो' में भविष्यत्-काल-वाचक रूप से प्राप्तव्य द्वितीय पुरुष के एकवचन के अर्थ वाले प्रत्ययों के स्थान पर क्रम से 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों को वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होकर '*होज्ज* तथा *होज्जा*' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

पञ्चम रूप '*होहिसि*' की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१६६ में की गई है।

भविष्यामि संस्कृत के भविष्यत्-काल के तृतीय पुरुष के एकवचन का अकर्मक क्रियापद का रूप है। इसके प्राकृत-रूपांतर क्रम से होज्जहिमि, होज्जाहिमि, होज्जस्सामि, होज्जहामि, होज्जस्सं, होज्ज और होज्जा होते है। इनमें से प्रथम पाँच रूपों में उपरोक्त रीति से प्राप्तांग 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की (विकरण रूप से) क्रम से वैकल्पिक-प्राप्ति; तत्पश्चात् क्रम से प्राप्तांग 'होज्ज तथा होज्जा' में सूत्र-संख्या ३-१६६ से तथा ३-१६७ से भविष्यत्-काल-वाचक-अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि, स्सा, हा' की क्रम से प्रथम-द्वितीय रूपों में तथा तृतीय-चतुर्थ रूपों में प्राप्ति; यों क्रम से भविष्यत्-काल-वाचक-अर्थ में क्रम से प्राप्तांग प्रथम-द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ रूप 'होज्जहि, होज्जाहि, होज्जस्सा और होज्जहा' में सूत्र-संख्या ३-१४१ से तृतीय-पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'मि' प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*होज्जहिमि, होज्जाहिमि, होज्जस्सामि* और *होज्जहामि*' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

पञ्चम रूप '*होज्जस्सं*' में 'होज्ज' अङ्ग की प्राप्ति उपरोक्त रीति से होकर सूत्र-संख्या ३-१६९ से भविष्यत-काल के अर्थ में प्राप्तांग 'होज्ज' में तृतीय पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'मि' के स्थान पर 'स्सं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होकर 'होज्जस्सं रूप सिद्ध हो जाता है।

छट्ठे और सातवें रूप 'होज्ज तथा होज्जा' में 'हो' अङ्ग की उपरोक्त रीति से प्राप्ति होकर तत्पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१७८ से तथा ३-१७७ से भविष्यत-काल के अर्थ में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्राकृत प्रत्ययों के स्थान पर केवल 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की ही क्रम से प्राप्ति होकर '*होज्ज* तथा *होज्जा*' रूप सिद्ध हो जाते है।

भवतु तथा *भवेत्* संस्कृत के क्रम से आज्ञार्थक तथा विधि लिङ् के प्रथम पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इनके प्राकृत रूप समान रूप से यहाँ पर पाँच दिये गये हैं; होज्जउ, होज्जाउ, होज्ज, होज्जा तथा होउ। इनमें धातु-अंग रूप 'हो' की प्राप्ति उपरोक्त रीति अनुसार; तत्पश्चात् प्रथम दो रूपों में सूत्र-संख्या ३-१७८ से 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की (विकरण रूप से)

वैकल्पिक प्राप्ति और ३-१७३ से क्रम से प्राप्तांग 'होज्ज तथा होज्जा' में लोट् लकार के तथा लिङ् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राकृत में 'उ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर 'होज्जउ तथा होज्जाउ' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीय और चतुर्थ रूपों में प्राप्तांग 'हो' में सूत्र-संख्या ३-१७८ से तथा ३-१७७ से लोट् लकार के और लिङ् लकार के अर्थ में प्राप्तव्य सभी प्रकार के पुरुष-बोधक प्रत्ययों के स्थान पर क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से केवल 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की ही आदेश-प्राप्ति होकर '*होज्ज* तथा *होज्जा*' रूप भी सिद्ध हो जाते हैं।

पंचम रूप 'होउ' में उपरोक्त रीति से 'हो' अंग की प्राप्ति होने के पश्चात् सूत्र-संख्या ३-१७३ से लोट् लकार के तथा विधि-लिङ् प्रथम पुरुष के एकवचन के अर्थ में 'उ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर 'होउ' रूप भी सिद्ध हो जाता है।

हसति, हससि, हसामि, हसिष्यति, हसिष्यसि, हसिष्यामि, हसतु, और *हसेत्* आदि संस्कृत के क्रम से वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, आज्ञार्थक और विधि अर्थक प्रथम-द्वितीय-तृतीय पुरुष के एकवचन के अकर्मक क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर समान रूप से प्राकृत में 'हसेज्ज तथा हसेज्जा' रूप होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-२३९ से प्राकृत में प्राप्त मूल हलन्त धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१५९ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-१७८ से तथा ३-१७७ से प्राप्तांग 'हसे' में सभी प्रकार के लकारों के अर्थ में तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होकर '*हसेज्ज* तथा *हसेज्जा*' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

त्वरते, त्वरसे, त्वरे, त्वरिष्यते, त्वरिष्यसे, त्वरिष्ये, त्वरताम्, त्वरस्व त्वरै, त्वरेत, त्वरेथाः और *त्वरेय* (आदि) रूप संस्कृत के क्रम से वर्तमानकाल के, भविष्यत्-काल के, आज्ञार्थक और विधि लिंग के प्रथम-द्वितीय तृतीय पुरुष के एकवचन के अकर्मक आत्मनेपदी क्रियापद के रूप हैं। इन सभी रूपों के स्थान पर तथा अन्य लकारों के अर्थ में उपलब्ध अन्य सभी रूपों के स्थान पर भी प्राकृत में समान-रूप से तुवरेज्ज तथा तुवरेज्जा रूप होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या ४-१७० से मूल संस्कृत-धातु 'त्वर्' के स्थान पर प्राकृत में 'तुवर्' की आदेश प्राप्ति; ४-२३९ से आदेश प्राप्त हलन्त धातु 'तुवर्' में विकरण-प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१५९ से प्राप्त विकरण प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति और ३-१७८ से तथा ३-१७७ से प्राप्तांग 'तुवरे' में सभी प्रकार के लकारों के अर्थ में तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में प्राप्तव्य सभी प्रकार के प्रत्ययों के स्थान पर 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की क्रम से एवं वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्ति होकर *तुवरेज्ज* तथा *तुवरेज्जा* रूप सिद्ध हो जाते हैं। ३-१७८ ॥

क्रियातिपत्तेः ॥ ३-१७९ ॥

क्रियातिपत्तेः स्थाने ज्ज ज्जा वा देशौ भवतः ॥ होज्ज । होज्जा ॥ अभविष्यदित्यर्थः । जइ होज्ज वण्णणिज्जो ॥

अर्थः—'हेतु-हेतुमद्भाव' के अर्थ में क्रियातिपत्ति-लकार का प्रयोग हुआ करता है । इसको संस्कृत में 'लृङ्' लकार कहते हैं । जब किसी होने वाली क्रिया का किसी दूसरी क्रिया के नहीं होने पर नहीं होना पाया जाय; तब इस क्रियातिपत्ति-अर्थक लृङ् लकार का प्रयोग किया जाता है । जैसे:— सुवृष्टिः अभविष्यत् तदा सुभिक्षम् अभविष्यत् = यदि अच्छी वृष्टि हुई होती तो सुभिक्ष अर्थात् अन्न आदि की उत्पत्ति भी अच्छी हुई होती । इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि सुभिक्ष का होना अथवा नहीं होना वृष्टि के होने पर अथवा नहीं होने पर निर्भर करता है; यों 'वृष्टि' कारण रूप होती हुई 'सुभिक्ष' फल रूप होता है; इसीलिये यह लकार 'हेतु-हेतुमत्' भाव रूप कहा जाता है । इसीका अपर-नाम क्रियातिपत्ति भी है । यही संस्कृत का लृङ् लकार है; जो कि अंग्रेजी मे—(Conditional mood) कहलाता है । क्रियातिपत्ति की रचना में यह विशेषता होती है कि 'कारण एवं कार्य' रूप से अवस्थित तथा 'ऐसा होता तो ऐसा हो जाता' यों शर्त रूप से रहे हुए दो वाक्यों का एक संयुक्त वाक्य बन जाता है । इसमें प्रदर्शित की जाने वाली दोनों क्रियाओं का किसी भी प्रतिकूल सामग्री से 'अभाव जैसी स्थिति' का रूप दिखलाई पड़ता है । इस लकार को हिन्दी में 'हेतु-हेतुमद् भूतकाल' कहते हैं तथा गुजराती-भाषा में यह 'संकेत-भूतकाल' नाम से भी बोला जाता है । उदाहरण इस प्रकार हैं:—जइ मेहो होज्ज, तया तणं होज्जा = यदि जल वर्षा हुई होती तो घास हुआ होता । इस उदाहरण से विदित होता है कि पूर्व वाक्यांश कारण रूप है और उत्तर वाक्यांश कार्य रूप अथवा फल रूप है । यों हेतु-हेतुमतभाव (Cause and effect) के अर्थ में क्रियातिपत्ति का प्रयोग होता है ।

प्राकृत-भाषा में धातुओं के प्राप्तांगों में 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्ययों की संयोजना कर देने से उन धातुओं का रूप क्रियातिपत्ति नामक लकार के अर्थ में तैयार हो जाता है । यों संस्कृत भाषा में क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत में केवल 'ज्ज अथवा ज्जा' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है । जैसे:—अभविष्यत्, अभविष्यन्, अभविष्यः, अभविष्यत, अभविष्यम् और अभविष्याम = होज्ज तथा होज्जा = वह हुआ होता, वे हुए होते' तू हुआ होता, तुम हुए होते, मैं हुआ होता और हम हुए होते । दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—यदि अभविष्यत् वर्णनीयः = जइ होज्ज वण्णणिज्जो = यदि वर्णन योग्य हुआ होता .... (वाक्य अधूरा है); इस प्रकार से 'कारण कार्यात्मक' क्रियातिपत्ति का स्वरूप समझ लेना चाहिये । कोई कोई आचार्य कहते हैं कि इसका प्रयोग भूतकाल के समान ही भविष्यत्काल के अर्थ में भी हो सकता है ।

अभविष्यत्, अभविष्यन्, अभविष्यः, अभविष्यत, अभविष्यम् और अभविष्याम संस्कृत के क्रियातिपत्ति-बोधक लृङ् लकार के तीनों पुरुषों के एकवचन के तथा बहुवचन के क्रमशः अकर्मक परस्मैपदी क्रियापद के रूप हैं । इन सभी रूपों का प्राकृत रूपान्तर समान रूप से 'होज्ज एवम् होज्जा' होता

है। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत धातु 'भू = भव्' के स्थान पर 'हो' अंग की प्राप्ति और ३-१७६ से क्रियातिपत्ति के अर्थ में तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्ययों के स्थान पर समुच्चय रूप से प्राकृत में 'ज्ज तथा ज्जा' प्रत्ययों की क्रम से प्राप्ति होकर *'होज्ज तथा होज्जा'* रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'जइ' अव्यय की सिद्धि सूत्र संख्या १-४० में की गई है।

क्रियातिपत्ति-अर्थक *'होज्ज'* क्रियापद के रूप की सिद्धि इसी सूत्र में ऊपर की गई है।

वर्णनीयः संस्कृत के विशेषणात्मक अकारान्त पुँलिंग के प्रथमा विभक्ति के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप वण्णणिज्जो होता है। इसमें सूत्र-संख्या २-७९ से रेफ रूप 'र्' व्यञ्जन का लोप, २-८९ से लोप हुए रेफ रूप 'र्' के पश्चात् शेष रहे हुए 'ण' वर्ण को द्वित्व 'ण्ण' की प्राप्ति; १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति; १-८४ से प्राप्त दीर्घ वर्ण 'णी' में स्थित दीर्घ स्वर 'ई' के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन का सद्भाव होने के कारण से ह्रस्व स्वर 'इ' की प्राप्ति, १-२४५ के सहयोग से तथा १-२ की प्रेरणा से विशेषणीय प्रत्ययात्मक वर्ण 'य' के स्थान पर 'ज' की आदेश-प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त वर्ण 'ज' को द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति और ३-२ से विशेषणात्मक स्थिति में प्राप्तांग प्राकृत शब्द 'वण्णणिज्ज' में पुँल्लिंग अकारान्तात्मक होने से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतपद *'वण्णणिज्जो'* सिद्ध हो जाता है। ३-१७९ ॥

न्त-माणौ ॥ ३-१८० ॥

क्रियातिपत्तेः स्थाने न्तमाणौ आदेशौ भवतः ॥ होन्तो । होमाणो । अभविष्यदित्यर्थः ॥

हरिण-ट्ठाणे हरिणङ्क जइ सि हरिणाहिवं निवेसन्तो ।
न सहन्तो च्चिअ तो राहु-परिहवं से जिअन्तस्स ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ३-१७९ में पूर्ण अर्थक क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ज्ज तथा ज्जा' का उल्लेख किया जा चुका है; किन्तु यदि अपूर्ण हेतु हेतुमद्-भूत कालिक क्रियातिपत्ति का रूप बनाना हो तो इस अर्थ में धातु के मूलांग में 'न्त तथा माण' प्रत्यय की संयोजना करने के पश्चात् उक्त अपूर्ण हेतु हेतुमद् भूत कालिक क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्त रूप में अकारान्त संज्ञा पदों के समान ही विभक्ति बोधक प्रत्यय की संयोजना करना आवश्यक हो जाता है, तदनुसार वह प्राप्त क्रियातिपत्ति का रूप जिस विशेष्य के साथ में सम्बन्धित होता है, उस विशेष्य के लिंग-वचन और विभक्ति अनुसार ही इस क्रियातिपत्ति अर्थक पद में भी लिंग की, वचन की और विभक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार ये अपूर्ण हेतु-हेतुमद्-भूत कालिक क्रियातिपत्ति के रूप विशेषणात्मक स्थिति को प्राप्त करते हुए क्रियार्थक संज्ञा जैसे पद वाले हो जाते हैं; इसलिये इनमें इनसे सम्बन्धित विशेष्यपदों के अनुसार ही लिंग की, वचन की और

विभक्ति प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। ऐसा होने पर प्राकृत रूपों के साथ में सहायक क्रिया 'अस्' के रूपों का सद्भाव वैकल्पिक रूप से होता है। जैसे:—अभविष्यत = होन्तो अथवा होमाणो=होता (हुआ) होता। इस उदाहरण में अपूर्ण हेतु हेतुमद् भूत कालिक क्रियातिपत्ति रूप से प्राप्त रूप 'होन्त तथा होमाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो = ओ' की प्राप्ति वतलाई हुई है। यों प्राप्तव्य विभक्ति-बोधक प्रत्ययों की प्राप्ति अन्य अपूर्ण हेतु-हेतुमद्भूतकालिक क्रियातिपत्ति के रूपों के लिये भी समझ लेना चाहिये। ग्रंथकार ग्रंथान्तर से उक्त तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिये निम्न प्रकार से वृत्ति में गाथा को उद्धृत करते हैं:—

गाथा:—हरिण-ट्ठाणे हरिणङ्क ! जइसि हरिणाहिवं निवेसन्तो ॥
न सहन्तो च्चिअ तो राहु-परिहवं से जिअन्तस्स ॥

संस्कृत:—हरिण-स्थाने हरिणाङ्क ! यदि हरिणाधिपं न्यवेशयिष्यः ॥
नासहिष्यथा एव तदा राहु परिभवं अस्य जेतुः ॥ (अथवा जयत.) ॥

अर्थ:—अरे हरिण को गोद में धारण करने वाला चन्द्रमा ! यदि तू हरिण के स्थान पर हरिणाधिपति-सिंह को धारण करने वाला होता तो निश्चय ही तब तू राहु से पराभव को-(तिरस्कार को) सहन करने वाला नहीं होता; क्योंकि राहु सिंह से जीता जाने वाला होने के कारण से (वह राहु अवश्यमेव सिंह से डर जाता)।

इस उदाहरण में 'निवेसन्तो, सहन्तो और जिअन्तस्स' पद अपूर्ण हेतु-हेतुमद्-भूतकालिक क्रियातिपत्ति के रूप हैं। इनमें उक्त-अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'न्त' की प्राप्ति हुई है तथा विभक्ति-बोधक-प्रत्यय 'डो = ओ' की और 'स्स' की सम्बन्धानुसार प्राप्ति होकर पदों का निर्माण हुआ है। इस तरह से यह सिद्धान्त प्रमाणित होता है कि उक्त-अर्थक क्रियातिपत्ति के पदों में विशेष्य के अनुसार अथवा सम्बन्ध के अनुसार विभक्ति-बोधक प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। यों ये क्रियातिपत्ति-अर्थक पद संज्ञा के समान ही विभक्ति-बोधक-प्रत्ययों को धारण करने वाले हो जाते हैं।

अभविष्यत् संस्कृत के क्रियातिपत्ति प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप है। इसके प्राकृत-रूप होन्तो और होमाणो होते है। इनमें सूत्र-संख्या ४-६० से मूल संस्कृत-धातु 'भू=भव' के स्थान पर प्राकृत में 'हो' की आदेश प्राप्ति; ३-१८० से प्राप्तांग 'हो' में क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राकृत में क्रम से 'न्त तथा माण' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति और ३-२ से क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्तांग 'होन्त तथा होमाण' में प्रथमा-विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुँल्लिग में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' के स्थान पर प्राकृत में 'डो= ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर क्रम से दोनों रूप '*होन्तो* और *होमाणो*' सिद्ध हो जाते हैं।

हरिण-स्थाने संस्कृत के सप्तमी-विभक्ति के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप **हरिण-ट्ठाणे** होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४-१६ से 'स्था' के स्थान पर 'ठा' की प्राप्ति; २-८९ से आदेश-प्राप्त 'ठ्' के

स्थान पर द्वित्व 'ठ् ठ' की प्राप्ति, २-९० से द्वित्व-प्राप्त पूर्व 'ठ' के स्थान पर 'ट्' को प्राप्ति; १-२२८ से 'न्' के स्थान पर 'ण' को प्राप्ति और ३-११ से प्राकृत में प्राप्तांग 'हरिण-ट्ठाण' में सप्तमी विभक्ति के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि = इ' के स्थान पर प्राकृत में 'डे=ए' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत पद 'हरिणट्ठाणे' सिद्ध हो जाता है।

हरिणाङ्क संस्कृत के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप हरिणङ्क होता है। इसमें सूत्र संख्या १-८४ से 'णा' में स्थित दीर्घ स्वर 'आ' के स्थान पर आगे संयुक्त वर्ण 'ङ्क' का सद्भाव होने के कारण से ह्रस्व स्वर 'अ' की प्राप्ति और ३-३८ से सम्बोधन के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो=ओ' की प्राप्ति का वैकल्पिक रूप से अभाव होकर '*हरिणङ्क*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*जइ*' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-४० में की गई है।

'*सि*' क्रियापद-रूप की सिद्धि सूत्र-संख्या ३-१४६ में की गई है।

हरिणाधिपम् संस्कृत के द्वितीया-विभक्ति के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत-रूप हरिणाहिवं होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१८७ से 'ध्' के स्थान पर 'ह्' की आदेश-प्राप्ति; १-२३१ से 'प' के स्थान पर 'व' की प्राप्ति; ३-५ से प्राकृत में प्राप्त-शब्द 'हरिणाहिव' में द्वितीया विभक्ति के एकवचन के के अर्थ में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व वर्ण 'व' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृतपद *हरिणाहिवं* सिद्ध हो जाता है।

न्यवेशयिष्यः संस्कृत के क्रियातिपत्ति के अर्थ में द्वितीय पुरुष के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूपान्तर निवेसन्तो होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-२६० से मूल संस्कृत धातु 'निवेशय्' में स्थित तालव्य 'श' के स्थान पर प्राकृत में दन्त्य 'स' की प्राप्ति, १-११ से संस्कृत धातु में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'य्' का लोप; ३-१८० से प्राकृत में प्राप्तांग 'निवेस' में क्रियातिपत्ति के अर्थ में 'न्त' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२ से प्राकृत में क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्तांग 'निवेसन्त' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर '*निवेसन्तो*' रूप सिद्ध हो जाता है।

'*न*' अव्यय की सिद्धि सूत्र-संख्या १-६ में की गई है।

असहिष्यथाः संस्कृत के क्रियातिपत्ति के अर्थ में द्वितीय पुरुष के एकवचन का आत्मनेपदी क्रियापद का रूप है। इसका प्राकृत-रूप सहन्तो होता है। इसमें सूत्र संख्या ४-२३९ से प्राकृत में प्राप्त हलन्त-धातु 'सह्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१८० से प्राकृत में प्राप्तांग 'सह' में क्रियातिपत्ति के अर्थ में 'न्त' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-२ से प्राकृत में क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्तांग 'सहन्त' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृत पद '*सहन्तो*' सिद्ध हो जाता है।

'*चिअ*' अव्यय की सिद्धि सूत्र संख्या २-१८४ में की गई है।

'तदा' संस्कृत का अव्यय है। इसका प्राकृत-(अप भ्रंश) में 'तो' होता है। इसमें सूत्र-संख्या ४ ४१७ से मूल संस्कृत अव्यय 'तदा' के स्थान पर प्राकृत-(अप भ्रंश) में 'तो' सिद्ध हो जाता है।

राहु-परिभवं संस्कृत के द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप है। इसका प्राकृत रूप राहु-परिहवं होता है। इसमे सूत्र-संख्या १-१८७ से 'भ' वर्ण के स्थान पर 'ह' वर्ण की आदेश-प्राप्ति; ३-५ से द्वितीया विभक्ति के एकवचन के अर्थ में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति और १ २३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर पूर्व-वर्ण 'व' पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर प्राकृत-पद *राहु परिहवं* सिद्ध हो जाता है।

'से' सर्वनाम की सिद्धि सूत्र-संख्या *३-८१* में की गई है।

जेतुः (अथवा *जयतः*) संस्कृत के षष्ठी विभक्ति के एकवचन का (अथवा त. प्रत्ययांत अव्ययात्मक पद का) रूप है। इसका प्राकृत में क्रियातिपत्ति के अर्थ मे षष्ठी-विभक्ति पूर्वक जिअन्तस्स रूप होता है। इसमें सूत्र-संख्या १-१७७ से संस्कृत-विशेषणात्मक पद 'जित' में स्थित हलन्त 'त्' का लोप; ३-१८० से क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राकृत में प्राप्तांग 'जिअ' में 'न्त' प्रत्यय की प्राप्ति और ३-१० से क्रियातिपत्ति के अर्थ में प्राप्तांग 'जिअन्त' में षष्ठी विभक्ति के एकवचन के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर प्राकृत में 'स्स' प्रत्यय की प्राप्ति होकर *'जिअन्तस्स'* सिद्ध हो जाता है। ३-१८०॥

शत्रानशः ॥ ३-१८१ ॥

शतृ आनश् इत्येतयोः प्रत्येकं न्त माण इत्येतावादेशौ भवतः ॥ शतृ । हसन्तो हसमाणो ॥ आनश् । वेवन्तो वेवमाणो ॥

अर्थः कृदन्त चार प्रकार के होते है; जिनके नाम इस प्रकार हैः—हेत्वर्थ कृदन्त, संबन्धक भूत कृदन्त, कर्मणि भूत कृदन्त और वर्तमान कृदन्त; इनमें से तीन कृदन्तों के सम्बन्ध में पूर्व में दूसरे और तीसरे पादों में यथा स्थान पर वर्णन किया जा चुका है। चौथे वर्तमान-कृदन्त का वर्णन इसमें किया जाता है। वर्तमान-कृदन्त में प्राप्त सब रूप संज्ञा जैसे ही माने जाते हैं; इसलिये इनमें तीनों प्रकार के लिंगों का सद्भाव माना जाता है और संज्ञाओं के समान ही विभक्ति बाधक प्रत्ययो की भी इनमें संयोजना की जाती है। संस्कृत में वर्तमान-कृदन्त के निर्माणार्थ धातु में सर्व प्रथम दो प्रकार के प्रत्यय लगाये जाते हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—(१) शतृ=अत और (२) शानच्=आन अथवा मान। ये प्रत्यय ऐसे अवसर पर होते हैं; जबकि दो क्रियाएं साथ साथ में होती हों। जैसेः—तिष्ठन् खादति=वह बैठा हुआ खाता है। हसन् जल्पति=वह हँसता हुआ बोलता है। कम्पमानः गच्छति=वह कांपता हुआ जाता है। इत्यादि।

प्राकृत-भाषा में वर्तमान-कृदन्त मात्र का निर्माण करना हो तो धातुओं में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शतृ और आनश' में से प्रत्येक के स्थान पर 'न्त और माण' दोनों ही प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति

होती है। चूँकि संस्कृत-भाषा में तो धातुएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं—परस्मैपदी और आत्मनेपदी, तदनुसार *परस्मैपदी* धातुओं के वर्तमान-कृदन्त के रूप बनाने के लिये केवल *शतृ = अत्' प्रत्यय* की प्राप्ति होती है और *आत्मनेपदी* धातुओं के वर्तमान कृदन्त के रूप बनाने के लिये *'शानच्=आन* अथवा *मान' प्रत्यय* की प्राप्ति होती है परन्तु प्राकृत-भाषा में धातुओं का ऐसा भेद परस्मैपदी अथवा आत्मनेपदी जैसा नहीं पाया जाता है, इसलिये प्राकृत भाषा की धातुओं में वर्तमान कृदन्त के रूपों का निर्माण करने के लिये 'न्त और *माण*' दोनों *प्रत्ययों* में से किसी भी एक प्रत्यय की संयोजना की जा सकता है। इसीलिये कहा गया है कि संस्कृतीय प्राप्तव्य वर्तमान कृदन्तीय प्रत्यय 'शतृ=अत् और शानच्=आन अथवा मान' में से प्रत्येक के स्थान पर 'न्त और माण' दोनों प्रत्ययों का आदेश-प्राप्ति होकर प्राकृत धातु में किसी भी एक प्रत्यय की संयोजना कर देने से वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में उस धातु का रूप बन जाता है। तत्पश्चात् सब सामान्य संज्ञाओं के समान ही सम्बन्धित लिंग एवं वचन के अनुसार सभी विभक्तियों में उन वर्तमान कृदन्त सूचक पदों में अधिकृत विभक्ति के प्रत्ययों की संयोजना कर संज्ञा के समान रूपों का निर्माण किया जा सकता है। जैसे —हसत्, (प्रथमा विभक्ति के एकवचन के रूप में हसन्)=हसन्त अथवा हसमाण; (प्रथमा विभक्ति के एकवचन के रूप में 'हसन्तो अथवा हसमाणो')= हंसता हुआ। वेपमान, (प्रथमा विभक्ति के एकवचन के रूप में—वेपमानः)=वेवन्त और वेवमाण, (प्रथमा विभक्ति के एकवचन के रूप में—वेवन्तो और वेवमाणो। इन उदाहरणों से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि संस्कृत-भाषा। परस्मैपदी और आत्मनेपदी धातुओं में क्रम से 'शतृ = अत् और शानच् = (आन अथवा) मान' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है; किन्तु प्राकृत भाषा की धातुओं में उपरोक्त प्रकार के भेदों का अभाव होने से वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में 'न्त तथा माण' प्रत्ययों में से किसी भी एक प्रत्यय की संयोजना की जा सकती है। तत्पश्चात् यहाँ पर प्राप्त रूपों में अकारान्त पुँल्लिंग के समान ही प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में सूत्र-संख्या ३-२ से प्राप्तव्य प्रत्यय 'डो = ओ' की संयोजना की गई है। यों अन्य विभक्तियों के सम्बन्ध में भी वर्तमान कृदन्त के अर्थ में प्राप्त रूपों की स्थिति को समझ लेना चाहिये।

हसत्=हसन् संस्कृत के वर्तमान कृदन्त के प्रथमा विभक्ति के एकवचन का पुँल्लिंग-द्योतक रूप है। इसके प्राकृत रूप *हसन्तो* और *हसमाणो* होते हैं। इनमें सूत्र संख्या ४-२३९ से प्राकृत में प्राप्त हलन्त धातु 'हस' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१८१ से प्राप्त धातु अंग 'हस' में वर्तमान कृदन्त के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शतृ = अत' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'न्त और माण' प्रत्ययों की प्राप्ति और ३-२ से वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्तांग अकारान्त प्राकृतपद 'हसन्त और हसमाण' में पुँल्लिंग में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतपद *हसन्तो* और *हसमाणो* सिद्ध हो जाते हैं।

वेपमानः संस्कृत के वर्तमान कृदन्त के एकवचन का पुँल्लिंग द्योतक रूप है। इसके प्राकृत रूप वेवन्तो और वेवमाणो होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-२३१ से मूल संस्कृत धातु 'वेप्' में स्थित अन्त्य

हलन्त व्यञ्जन 'प्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति; ४-२३९ से आदेश-प्राप्त हलन्त व्यञ्जन 'व्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१८१ से प्राकृत में प्राप्तांग 'वेव' में वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शानच्=मान' के स्थान पर प्राकृत में क्रम से 'न्त और माण' प्रत्ययों की प्राप्ति और ३-२ से वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्तांग अकारान्त पुँल्लिंग प्राकृतपद 'वेवन्त तथा वेवमाण' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में 'डो=ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर प्राकृतपद *वेवन्तो* तथा *वेवमाणो* क्रम से सिद्ध हो जाते हैं। ३-१८१ ॥

ई च स्त्रियाम् ॥ ३-१८२ ॥

स्त्रियां वर्तमानयोः शत्रानशोः स्थाने ई चकारात् न्तमाणौ च भवन्ति ॥ हसई । हसन्ती । हसमाणी । वेवई । वेवन्ती । वेवमाणी ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा में स्त्रीलिंग के अर्थ में वर्तमान-कृदन्त भाव का निर्माण करना हो तो धातुओं में संस्कृतीय प्राप्तव्य प्रत्यय 'शतृ=अत और शानच्=आन अथवा मान' में से प्रत्येक के स्थान पर 'न्त और माण तथा ई' यों तीनों ही प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। परन्तु यह ध्यान में रहे कि स्त्रीलिंग स्थिति के सद्भाव में जैसे संस्कृत में परस्मैपदी धातुओं में उक्त प्राप्तव्य प्रत्यय 'शतृ=अत' के स्थान पर 'ती अथवा न्ती' प्रत्यय की स्वरूप प्राप्ति हो जाती है तथा आत्मनेपदी धातुओं में उक्त प्राप्तव्य प्रत्यय 'शानच=आन अथवा मान' के स्थान पर 'आना अथवा माना' प्रत्यय की स्वरूप प्राप्ति होती है, वैसे ही प्राकृत भाषा में भी स्त्रीलिंग स्थिति के सद्भाव में उक्त रीति से आदेश-प्राप्त वर्तमान-कृदन्त-अर्थक प्राप्तव्य प्रत्यय 'न्त और माण' के स्थान पर 'न्ती, न्ता, माणी और माणा' प्रत्ययों की स्वरूप प्राप्ति हो जाती है। जहाँ पर वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में स्त्रीलिंग स्थिति के सद्भाव में उक्त प्राप्तव्य प्रत्यय 'न्ती, न्ता, माणी और माणा' प्रत्ययों की संयोजना नहीं की जायगी; वहाँ पर केवल धातु अंग में दीर्घ 'ई' की संयोजना कर देने मात्र से ही वह पद स्त्रीलिंग वाचक होता हुआ वर्तमान कृदन्त-अर्थक पद बन जायगा। इस प्रकार प्राकृत भाषा में स्त्रीलिंग के सद्भाव में वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में धातुओं में पाँच प्रकार के प्रत्ययों की प्राप्ति हो जाती है; जो कि इस प्रकार हैं:—'*ई, न्ती, न्ता, माणा और माणी*'। तत्पश्चात् वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्त दीर्घ ईकारान्त अथवा आकारान्त स्त्रीलिंग वाचक पदों के सभी विभक्तियों के रूप पहले वर्णित ईकारान्त और आकारान्त स्त्रीलिंग वाचक संज्ञा शब्दों के समान ही बन जाया करते हैं। जैसे प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में वर्तमान-कृदन्त सूचक स्त्रीलिंग वाचक पदों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—हसती अथवा हसन्ती=हसई, हसन्ती, (हसन्ता), हसमाणी (और हसमाणा)=हँसती हुई (स्त्री) दूसरा उदाहरणः—वेपमाना=वेवई, वेवन्ती, (वेवन्ता), वेवमाणी (और वेवमाणा)=काँपती हुई। यों अन्य विभक्तियों के रूपों की भी वर्तमान-कृदन्त के सद्भाव में स्वयमेव कल्पना कर लेनी चाहिये।

हसती अथवा *हसन्ती* संस्कृत के वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्त प्रथमा विभक्ति के एकवचन के स्त्री-लिंग-द्योतक रूप हैं। इनके प्राकृत रूप हसइ, हसन्ती और हसमाणी होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या-४-२३६ से मूल हलन्त प्राकृत धातु 'हस्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति; ३-१८२ से तथा ३-१८१ से क्रम से प्रथम रूप में तथा द्वितीय-तृतीय रूपों में प्राप्त धातु-अङ्ग 'हस्' में वर्तमान कृदन्त के अर्थ में प्राकृत मे प्राप्तव्य प्रत्यय 'ई' और 'न्त तथा माण' प्रत्ययों की प्राप्ति; ३-३२ से द्वितीय और तृतीय रूपों में वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्त पद 'हसन्त और हसमाण' में स्त्रीलिंग-भाव के प्रदर्शन में 'ङी = ई' प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'हसन्ती तथा हसमाणी' की प्राप्ति और ३-२८ से वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्त स्त्रीलिंग-पद 'हसई, हसन्ती और हसमाणी' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' का प्राकृत में लोप होकर प्राकृत-पद *'हसई, हसन्ती और हसमाणी'* सिद्ध हो जाते हैं।

वेपमाना संस्कृत के वर्तमान-कृदन्त के प्रथमा विभक्ति के एकवचन का स्त्रीलिंग-द्योतक रूप है। इसके प्राकृत-रूप वेवई, वेवन्ती और वेवमाणी होते हैं। इनमें सूत्र-संख्या १-२३१ से मूल संस्कृत धातु 'वेप्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'प्' के स्थान पर 'व्' की प्राप्ति, ४-२३६ से प्राप्त प्राकृत हलन्त धातु रूप वेव्' में विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति, ३-१८२ से तथा ३-१८१ से प्राप्ताग धातु 'वेव' में क्रम से प्रथम रूप में तथा द्वितीय-तृतीय रूपों में वर्तमान कृदन्त के अर्थ में प्राकृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ई' और न्त तथा माण' प्रत्ययों की प्राप्ति; ३-३२ से द्वितीय और तृतीय रूपों में वर्तमान-कृदन्त के अर्थ में प्राप्त पद 'वेवन्त और वेवमाण' में स्त्रीलिंग-भाव के प्रदर्शन में 'ङी = ई' प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'वेवन्ती और वेवमाणी रूपों की प्राप्ति; और ३-२८ से वर्तमान कृदन्त के अर्थ में प्राप्त स्त्रीलिंग-पद 'वेवई, वेवन्ती और वेवमाणी' में प्रथमा विभक्ति के एकवचन के अर्थ में प्राप्तव्य संस्कृतीय प्रत्यय 'सि' का प्राकृत में लोप होकर प्राकृत-पद *'वेवई, वेवन्ती और वेवमाणी'* सिद्ध हो जाते हैं। ३-१८२॥

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र विरचितायां सिद्ध हेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ
शब्दानुशासनवृत्तौ अष्टमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः॥ ३॥

इस प्रकार श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित 'श्री सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' नामक संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के आठवें अध्यायक का तीसरा पाद 'स्वोपज्ञ वृत्ति सहित' अर्थात् स्व-निर्मित संस्कृत-टीका-'प्रकाशिका' सहित समाप्त हुआ। इसके साथ साथ 'प्रियोदय'-नामक हिन्दी-व्याख्या रूप विवेचन भी तृतीय पाद का समाप्त हुआ॥

पादान्त–मंगलाचरण

ऊर्ध्वं स्वर्ग-निकेतनादपि तले पातालमूलादपि;
त्वत्कीर्तिर्भ्रमति क्षितीश्वरमणे पारे पयोधेरपि।

तेनास्याः प्रमदास्वभावसुलभैरुच्चावचैश्चापलै-
स्ते वाचंयम-वृत्तयोऽपि मुनयो मौनव्रतं त्याजिताः ॥१॥

अर्थः—हे राजाओं में मणि-समान श्रेष्ठ राजन्! तुम्हारी यश-कीर्ति ऊँचाई में तो स्वर्ग-लोक तक पहुंची हुई है और नीचे पाताल-लोक की अन्तिम-सीमा तक का स्पर्श कर रही है। मध्य-लोक में यही तुम्हारी कीर्ति पृथ्वी को घेरने वाले महासमुद्र के भी उस द्वितीय किनारे को पार कर गई है। तुम्हारी यह कीर्ति स्त्री-स्वरूप होने के कारण से स्त्री-जन-स्वभाव-जनित इसकी सुलभ चंचलता के कारण से वाणी पर नियंत्रण रखने वाले तथा वाचं-यम-वृत्ति के धारण करने वाले मुनियों को भी अपना मौन-व्रत छोड़ना पड़ रहा है। अर्थात् मौन व्रत को ग्रहण किये हुए ऐसे बड़े-बड़े मुनिराजों को भी आपकी विशद तथा विमल कीर्ति ने बोलने के लिये विवश कर दिया है।

ॐ! सर्वविदे नमः!!



अथ चतुर्थ पादः

इदितो वा ॥४-१॥

सूत्रे ये इदितो धातवो वक्ष्यन्ते तेषां ये आदेशास्ते विकल्पेन भवन्तीति वेदितव्यम्। तत्रैव चोदाहरिष्यते ॥

अर्थः—यहाँ से आगे जिन सूत्रों में संस्कृत-धातुओं के स्थान पर प्राकृत में आदेश-विधि कही जायगी; उन सभी आदेश-प्राप्त धातुओं की स्थिति विकल्प से ही होती है; ऐसा जानना चाहिये। आदेश-प्राप्त धातुओं के उदाहरण यथा स्थान पर, वहां पर ही प्रदर्शित किये जाएँगे। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत-धातुओं के स्थान पर प्राकृत-भाषा में एक ही धातु के स्थान पर एक ही अर्थ वाली अनेक धातुओं के शब्द रूप पाये जाते हैं; उन सभी का संग्रह इस चतुर्थ-पाद में आदेश रूप से एवं वैकल्पिक रूप से किया गया है। ४-१॥

कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-संघ-बोल्ल-चव-जम्प-सीस-साहाः ॥४-२॥

कथे र्धातोर्वज्जरादयो दशादेशा वा भवन्ति ॥ वज्जरइ। पज्जरइ। उप्पालइ। पिसुणइ। संघइ। बोल्लइ। चवइ। जम्पइ। सीसइ। साहइ॥ उच्चुक्कइ इति तु उत्पूर्वस्य वुक-भाषणे इत्यस्य। पक्षे। कहइ॥ एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति॥ तथा च। वज्जरिओ कथितः। वज्जरिऊण कथयित्वा। वज्जरणं कथनम्। वज्जरन्तो कथयन्। वज्जरिअव्व कथयितव्यमिति रूप सहस्राणि सिध्यन्ति। संस्कृत-धातुवच्च प्रत्ययलोपागमादि विधिः॥

अर्थः—संस्कृत धातु 'कथ्' अर्थात् 'कहना' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में दश प्रकार के आदेश-रूपों की विकल्प से प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार हैं—कथ्=(१) वज्जर, (२) पज्जर, (३) उप्पाल, (४) पिसुण, (५) संघ, (६) बोल्ल, (७) चव, (८) जम्प, (९) सीस और (१०) साह। इन धातुओं में और आगे आने वाली सब अकारान्त धातुओं में सूत्र-संख्या ४-२३९ से विकरण प्रत्यय 'अ' की प्राप्ति होकर व्यञ्जनान्त धातुओं जैसी स्थिति से ये धातु 'अकारान्त' स्थिति को प्राप्त हुई हैं। इन अकारान्त रूप से दिखाई पड़ने वाली धातुओं के सम्बन्ध में इस स्थिति का सदैव ध्यान रहे।

वृत्ति में आदेश-प्राप्त धातुओं को उदाहरण पूर्वक इस प्रकार समझाया गया है:—कथयति = वज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणइ, संघइ बोल्लइ चवइ, जम्पइ, सीसइ और साहइ; इन दश ही धातु रूपों का एक ही अर्थ है = वह कहता है। चूँकि यह आदेश-विधि वैकल्पिक है अतः पक्षान्तर में कथयति के स्थान पर कहइ रूप भी होता है।

प्रश्नः—'उव्वुक्कइ' इस रूप की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तरः—वुक्क धातु का अर्थ भाषण करना होता है; न कि कथन करना; इसलिये वुक्क धातु को अधिकृत धातु कथ् के स्थान पर आदेश-स्थिति की प्राप्ति नहीं होती है। इस वुक्क धातु में 'उत्' उपसर्ग है; जो कि 'उ' अथवा 'उब्' के रूप में अवस्थित है। इस विवेचन से संस्कृत धातु रूप भाषते के स्थान पर प्राकृत मे उव्वुक्कइ रूप की आदेश-प्राप्ति हुई है।

संस्कृत-धातुओं के स्थान पर प्राकृत में उपलब्ध धातु-रूपों को अन्य वैयाकरणों ने 'देशी भाषाओं के धातु-रूपों' की संज्ञा दी है; परन्तु हमने (हेमचन्द्र ने) तो इन धातु-रूपों को वैकल्पिक रूप से आदेश-प्राप्त धातु ही मानी है, तथा ये प्राकृत भाषा की ही धातुऐं हैं; ऐसा पूर्णतया मान लिया गया है; इसलिये इनमे विविध काल-बोधक प्रत्ययों को तथा आज्ञार्थक आदि सभी लकारों के एवं कृदन्तों के प्रत्ययों को जोड़ना चाहिये। थोड़े से उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) *कथितः = वज्जरिओ* = कहा हुआ; (२) *कथयित्वा = वज्जारिऊण* = कह करके; (३) *कथनम् = वज्जरणं* = कहना, कथन करना; (४) *कथयन् = वज्जरन्तो* = कहता हुआ; (५) *कथयितव्यम् = वज्जरिअव्वं* = कहना चाहिये; यो हजारों रूपों की साधना स्वयमेव कर लेनी चाहिये।

इन धातुओं मे प्रत्यय, लोप, आगम आदि की विधियाँ संस्कृत-धातुओं के समान ही जाननी चाहिये। ४-२॥

दुःखे णिव्वरः ॥४-३॥

दुःख विषयस्य कथेर्णिव्वर इत्यादेशो वा भवति ॥ णिव्वरइ दुःखं कथयतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'दुःख को कहना, दुःख को प्रकट करना' इस अर्थ में प्राकृत में विकल्प से 'णिव्वर' इस प्रकार के धातु की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—*दुःखं कथयति = णिव्वरइ* = वह दुःख को कहता है; दुःख को प्रकट करता है। ॥४-३॥

जुगुप्से झुण-दुगुच्छ-दुगुञ्छाः ॥४-४॥

जुगुप्सेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ झुणइ। दुगुच्छइ। दुगुञ्छइ। पक्षे। जुगुच्छइ ॥ गलोपे। दुउच्छइ। दुउञ्छइ। जुउच्छइ ॥

अर्थ—'घृणा करना, निन्दा करना' इस अर्थ में प्रयुक्त होने वाली संस्कृत धातु 'जुगुप्स' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से तीन प्रकार की धातुओं की आदेश-प्राप्ति होती है। वे क्रम से यों हैं:—(१) झुण, (२) दुगुच्छ और (३) दुगुञ्छ। उदाहरण इस प्रकार है.—*जुगुप्सति=झुणइ*, *दुगुच्छइ*, *दुगुञ्छइ*=वह घृणा करता है अथवा वह निन्दा करता है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में *जुगुच्छइ* ऐसा रूप भी होगा।

सूत्र-संख्या १-१७७ से मूल धातु जुगुच्छ में से विकल्प से 'ग्' का लोप होने पर पूर्वोक्त तीनों रूपों की क्रम से वैकल्पिक प्राप्ति यों होगी:—(१) *दुउच्छइ*, (२) *दुउञ्छइ* और (३) *जुउच्छइ*=वह घृणा करता है अथवा निन्दा करता है ॥४-४॥

बुभुक्षि-वीज्योर्णीरव-वोज्जौ ॥४--५॥

बुभुक्षेराचार क्विबन्तस्य च वीजेर्यथासंख्यमेतावादेशौ वा भवतः ॥ णीरवइ । बुहुक्खइ । वोज्जइ । वीजइ ॥

अर्थः—'भूख' अर्थक संस्कृत-धातु 'बुभुक्ष्' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'णीरव' धातु की आदेश-प्राप्ति होती है; यों 'बुभुक्ष्' के स्थान पर बुहुक्ख और णीरव दोनों धातुओं का प्रयोग होता है। जैसे—*बुभुक्षति=णीरवइ* अथवा *बुहुक्खइ*=वह भूख अनुभव करता है अथवा वह भूखा है। इसी प्रकार से 'हवा के लिये पखा करना' इस अर्थ वाली और आचार अर्थक क्विप् प्रत्ययान्त वाली धातु 'वीज्' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से वोज्ज धातु की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—*वीजयति=वोज्जइ* अथवा *वीजइ*=वह पखा करता है। यों क्रम से दोनों धातुओं के स्थान पर विकल्प से उपरोक्त धातुओं की आदेश-प्राप्ति जानना चाहिये ॥४-५॥

ध्या--गो र्झा--गौ ॥४-६॥

अनयोर्यथा-संख्यं झा गा इत्यादेशौ भवतः। झाइ । झाअइ । णिज्झाइ । णिज्झाअइ । निपूर्वो दर्शनार्थः । गाइ । गायइ । झाणं । गाणं ॥

अर्थः—संस्कृत धातु 'ध्यै' के स्थान पर प्राकृत में 'झा' धातु की नित्य रूप से आदेश प्राप्ति होती है इसी प्रकार से गायन करने अर्थक धातु 'गै' के स्थान पर भी नित्य रूप से 'गा' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*ध्यायति=झाइ* अथवा *झाअइ*=वह ध्यान करता है।

ध्यान पूर्वक देखने के अर्थ में जब 'ध्यै' धातु के पूर्व में 'निर' उपसर्ग की प्राप्ति होती है, उस समय में भी ध्यै के स्थान पर 'झा' धातु-रूप की ही आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—निर्ध्यायति=णिज्झाइ अथवा णिज्झाअइ=वह ध्यान पूर्वक देखता है। 'गै' धातु का उदाहरण यों है.— गायति = गाइ अथवा गायइ = वह गाता है—गायन करता है।

इसी सूत्र-सिद्धान्त से संस्कृत शब्द ध्यान और (गायन अथवा) गान के स्थान पर प्राकृत में 'झाण' और 'गाण' शब्दों को क्रम से प्राप्ति होती है। जैसे—*ध्यानम् = झाणम्* और *गानम् = गाणं*। ये दोनों शब्द नपुंसकलिंग होने से इनमें सूत्र संख्या ३-२५ से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'म्' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है। सूत्र संख्या १-२३ से प्राप्त प्रत्यय 'म्' के स्थान पर अनुस्वार की प्राप्ति होकर क्रम से झाणं और गाणं रूपों की सिद्धि हो जाती है। ४-६॥

ज्ञो जाण-मुणौ ॥ ४-७ ॥

जानाते र्जाण मुण इत्यादेशौ भवतः ॥ जाणइ । मुणइ । बहुलाधिकारात् क्वचित् विकल्पः । जाणिअं । णायं । जाणिऊण । णाऊण । जाणणं । णाणं । मणइ इति तु मन्यतेः ॥

अर्थः—जानने रूप ज्ञानार्थक धातु 'ज्ञा' के स्थान पर प्राकृत में नित्यरूप से 'जाण और मुण' इन दो धातुओं को क्रम से आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*जानाति = जाणइ* अथवा *मुणइ*=वह जानता है। 'बहुलं' सूत्र का सर्वत्र अधिकार होने से कहीं कहीं पर विकल्प से 'ज्ञा' से प्राप्त रूप 'णा' भी देखा जाता है। जैसेः—*ज्ञातं = जाणिअं* अथवा *णायं* = जाना हुआ। *ज्ञात्वा=जाणिऊण* अथवा *णाऊण* जान करके। *ज्ञानम्=जाणणं* अथवा *णाणं*=जानना रूप ज्ञान। यों वैकल्पिक-स्थिति का भी ध्यान रखना चाहिये।

प्राकृत में जो 'मणइ' रूप देखा जाता है; उसकी प्राप्ति तो 'मानने-स्वीकार करने' अर्थक संस्कृत धातु 'मन्' से हुई है। जैसे—मन्यते=मणइ=वह मानता है अथवा वह स्वीकार करता है। यों मण धातु को जाण और मुण धातुओं से पृथक ही समझना चाहिये॥ ४-७॥

उदो ध्मो धुमा ॥ ४-८ ॥

उदः परस्य ध्मो धातो धुमा इत्यादेशो भवति ॥ उद्धुमाइ ॥

अर्थः—उद् उपसर्ग जुड़ा हुआ है जिसके, ऐसी 'ध्मा' धातु के स्थान पर प्राकृत में 'धुमा' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे-*उद्धमति = उद्धुमइ* = वह प्रदीप्त करता है; वह तपाता है॥४-८॥

श्रदो धो दहः ॥ ४-९ ॥

श्रदः परस्य दधाते र्दह इत्यादेशो भवति ॥ सद्दहइ । सद्दहमाणो जीवो ॥

अर्थः—श्रत अव्यय के साथ संस्कृत धातु 'धा' के प्राप्त रूप 'दधाति' में रहे हुए 'दधा' अंश के स्थान पर प्राकृत में 'दह' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*श्रद्धाति = सद्दहइ*=वह श्रद्धा करता है, वह विश्वास करता है। *श्रद्दधानो जीवः=सद्दहमाणो जीवो*=श्रद्धा करता हुआ-जीव आत्मा॥४-९॥

पिबेः पिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः ॥ ४-१० ॥

पिबते रेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ पिज्जइ । डल्लइ । पट्टइ । घोट्टइ । पिअइ ॥

अर्थः—संस्कृत धातु 'पा=पिब' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'पिज्ज डल्ल, पट्ट और घोट्ट' इन चार आदेशों की प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पिब् के स्थान पर 'पिअ' रूप भी होता है। उदाहरण इस प्रकार हैः—पिबति=पिज्जइ, डल्लइ, पट्टइ और घोट्टइ=वह पीता है, वह पान करता है। पक्षान्तर में पिबति के स्थान पर पिअइ रूप को प्राप्ति भी होगी। ४-१०।

उद्वातेरोरुम्मा वसुआ ॥ ४-११ ॥

उत्पूर्वस्य वातेः ओरुम्मा वसुआ इत्येतावादेशौ वा भवतः ॥ ओरुम्माइ । वसुआइ । उव्वाइ ॥

अर्थः—उत् उपसर्ग सहित 'वा' धातु के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'ओरुम्मा और वसुआ' रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'उद्वा=उद्वा' के स्थान पर 'उव्वा' रूप भी होगा। उदाहरण यों हैः—उद्वाति=ओरुम्माइ, वसुआइ और उव्वाइ=वह हवा करता है ॥ ४-११ ॥

निद्रातेरोहीरोङ्घौ ॥ ४-१२ ॥

निपूर्वस्य द्रातेः ओहीर उङ्घ इत्यादेशौ वा भवतः ॥ ओहीरइ । उङ्घइ । निद्दाइ ।

अर्थः—नि उपसर्ग सहित 'द्रा' धातु के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'ओहीर और उङ्घ' इन दो रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'निद्रा' के स्थान पर 'निद्दा' रूप भी होगा। जैसे—निद्राति=ओहीरइ, उङ्घइ और निद्दाइ=वह निद्रा लेता है ॥ ४-१२ ॥

आघ्रेराइग्घः ॥ ४-१३ ॥

आजिघ्रते राइग्घ इत्यादेशो वा भवति ॥ आइग्घइ । अग्घाइ ॥

अर्थः—संस्कृत धातु 'आजिघ्र' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'आइग्घ' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में अग्घा रूप भी होगा। जैसे—आजिघ्रति=आइग्घइ और अग्घाइ=वह सूंघता है।

स्नातेरब्भुत्तः ॥ ४-१४ ॥

स्नातेरब्भुत्त इत्यादेशो वा भवति ॥ अब्भुत्तइ । पहाइ ॥

अर्थः—संस्कृत धातु स्ना के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'अब्भुत्त' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'ण्हा' रूप भी होगा। जैसे—*स्नाति=अब्भुत्तइ* और *ण्हाइ*=वह स्नान करता है।

समः स्त्यः खाः ॥ ४--१५ ॥

संपूर्वस्य स्त्यायतेः खा इत्यादेशो भवति ॥ संखाइ । संखायं ॥

अर्थः—सम् उपसर्ग के साथ संस्कृत धातु 'स्त्यै=स्त्याय' के स्थान पर प्राकृत में 'खा' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*संस्त्यायति=संखाइ*=वह घेरता है, वह फैलाता है। वह सर्व प्रकार से चिन्तन करता है। *संस्त्यानम्=संखायं*=ध्यान करना, चिन्तन करना ॥ ४--१५ ॥

स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः ॥ ४–१६ ॥

तिष्ठतेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ ठाइ । ठाअइ । ठाणं । पट्ठिओ । उट्ठिओ । पट्ठाविओ । उट्ठाविओ । थक्कइ । चिट्ठइ । चिट्ठऊण । निरप्पइ ॥ बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति । थिअं । थाणं । पत्थिओ । उत्थिओ । थाऊण ॥

अर्थः—ठहरने अर्थ वाली संस्कृत धातु '*स्था=तिष्ठ्*' के स्थान पर प्राकृत में चार आदेश रूपों की प्राप्ति होती है। वे इस प्रकार हैं:— (१) ठा, (२) थक्क, (३) चिट्ठ और (४) निरप्प। उदाहरण इस प्रकार हैं:—*तिष्ठति=ठाइ, ठाअइ, थक्कइ, चिट्ठइ, निरप्पइ*=वह ठहरता है। अन्य उदाहरण भी इस प्रकार हैं:—(१) *स्थानम्=ठाणं*=स्थान। (२) प्रस्थितः=पट्ठिओ=जाता हुआ; (३) उत्थितः=उट्ठिओ=उठता हुआ अथवा उठा हुआ; (४) प्रस्थापितः=पट्ठाविओ=रखा हुआ अथवा रखता हुआ; (५) उत्थापितः=उट्ठाविओ=उठाया हुआ, स्थित्वा=चिट्ठिऊण=ठहर करके।

बहुलं सूत्र के अधिकार से कहीं कहीं पर उक्त आदेश प्राप्ति नहीं भी होती है, जैसे कि-*स्थितम्=थिअं*=ठहरा हुआ, रखा हुआ। *स्थानं=थाणं*=स्थान। *प्रस्थितः=पत्थिओ*=प्रस्थान किया हुआ, जाता हुआ। *उत्थितः=उत्थिओ*=उठा हुआ, और *स्थित्वा=थाऊण*=ठहर करके। यों सर्वत्र आदेश रहित स्थिति को भी समझ लेना चाहिये ॥४--१६॥

उदष्ठ--कुक्कुरौ ॥४--१७॥

उदः परस्य तिष्ठतेः ठ कुक्कुर इत्यादेशौ भवतः ॥उट्ठइ॥ उक्कुक्कुरइ ॥

अर्थः—उत् उपसर्ग सहित होने पर स्था=तिष्ठ् धातु के स्थान पर 'ठ' और 'कुक्कुर' धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*उत्तिष्ठति=उट्ठइ* और *उक्कुक्कुरइ*=वह उठता है ॥४-१७॥

म्लेर्वा-पव्वायौ ॥ ४-१८ ॥

म्लायतेर्वा पव्वाय इत्यादेशौ वा भवतः ॥ वाइ । पव्वायइ । मिलाइ ॥

अर्थ—मुरझाना अथवा कुम्हलाना अर्थ वाली संस्कृत धातु 'म्लै' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'वा और पव्वाय' इन दो धातुओं की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'मिला' रूप की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण इस प्रकार हैः— *म्लायति = वाइ, पव्वायइ* और *मिलाइ* = वह कुम्हलाता है, वह मुरझाता है ॥ ४-१८ ॥

निर्मो निम्माण-निम्मवौ ॥ ४-१९ ॥

निर् पूर्वस्य मिमीतेरेतावादेशौ भवतः ॥ निम्माणइ । निम्मवइ ॥

अर्थ.—निर् उपसर्ग सहित 'मा' धातु के स्थान पर प्राकृत में 'निम्माण और निम्मव' ऐसे दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः— *निर्मिमीते = निम्माणइ* और *निम्मवइ* = वह निर्माण करता है ॥ ४-१९ ॥

क्षेर्णिज्झरो वा ॥ ४-२० ॥

क्षयतेर्णिज्झर इत्यादेशो वा भवति ॥ णिज्झरइ । पक्षे झिज्जइ ॥

अर्थ—नष्ट होना अर्थ वाली संस्कृत धातु 'क्षि' के स्थान पर प्राकृत में 'णिज्झर' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'झिज्ज' रूप की भी प्राप्ति होगी। जैसे-*क्षयति* अथवा *क्षयते* = *णिज्झरइ* अथवा *झिज्जइ* = वह क्षीण होता है, वह नष्ट होता है ॥ ४-२० ॥

छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वालाः ॥ ४-२१ ॥

छदेर्ण्यन्तस्य एते षडादेशा वा भवन्ति ॥ णुमइ । नूमइ । णत्ते णूमइ । सन्नुमइ । ढक्कइ । ओम्वालइ । पव्वालइ । छायइ ॥

अर्थ.—प्रेरणार्थक प्रत्यय 'णिच्' पूर्वक 'छद्' = 'छादि' धातु के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से छह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है, वे क्रम से इस प्रकार हैं.—(१) णुम, (२) नूम, (३) सन्नुम, (४) ढक्क, (५) ओम्वाल और (६) पव्वाल। सूत्र-संख्या १-२२९ से आदेश-प्राप्त रूप नूम में स्थित आदि नकार को णकार की प्राप्ति होने पर सातवां आदेश प्राप्त रूप 'णूम' भी देखा जाता है।



वैकल्पिक पक्ष होने से आठवां रूप 'छाय' भी होगा। सभी के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:— *छादयाति* (अथवा *छादयते*)=(१) *णुमइ*, (२) *नूमइ*, (३) *णूमइ*, (४) *सन्नुमइ*, (५) *ढक्कइ*, (६) *ओम्वालइ*, (७) *पव्वालइ* और (८) *छायइ* =वह ढांकता है, वह आच्छादित करता है॥ ४-२१॥

निवृ-पत्योर्णिहोडः ॥ ४-२२ ॥

निवृगः पतेश्च एयन्तस्य णिहोड इत्यादेशो वा भवति॥ णिहोडइ। पक्षे। निवारेइ पाडेइ॥

अर्थः—'नि' उपसर्ग सहित वृग् धातु और पत् धातु में प्रेरणार्थक 'एयन्त' प्रत्यय साथ में होने पर दोनों धातुओं के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'णिहोड' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*निवारयाति*=*णिहोडइ*=वह रुकवाता है, पक्षान्तर में *निवारयाति* के स्थान पर *निवारेइ* भी होगा।

पातयति=*णिहोडइ*=वह गिराता है और पक्षान्तर में *पाडेइ* रूप भी होगा॥४-२२।

दूङो दूमः ॥४-२३॥

दूङो एयन्तस्य दूम इत्यादेशो भवति॥दूमेइ मज्झ हिअयं॥

अर्थः—प्रेरणार्थक एयन्त प्रत्यय साथ में रहने पर दूङ् धातु के स्थान पर प्राकृत में दूम धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*दुनोति मम हृदयं*=*दूमेइ मज्झ हिअयं*=वह मेरे हृदय को दुःखी करता है-पीड़ा पहुँचाता है॥४-२३॥

धवलेर्दुमः ॥४-२४॥

धवलयतेर्एयन्तस्य दुमादेशो वा भवति॥ दुमइ। धवलइ। स्वराणां स्वराः (बहुलम्) [४-२३८] इति दीर्घत्वमपि। दूमिअं। धवलितमित्यर्थः॥

अर्थः—प्रेरणार्थक एयन्त प्रत्यय के साथ संस्कृत धातु 'धवल' के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'दुम' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*धवलयाति*=*दुमइ* अथवा *धवलइ*=वह सफेद कराता है, वह प्रकाशमान कराता है।

सूत्र-संख्या ४-२३८ के विधान से प्राकृत-भाषा के पदों मे रहे हुए स्वरों के स्थान पर प्रायः अन्य स्वरों की अथवा दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व स्वर की और ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर की प्राप्ति हुआ करती है। जैसे—धवलितम्=दूमिअं अथवा दुमिअं=सफेद कराया हुआ अथवा प्रकाशमान कराया हुआ॥ ४-२४॥

तुले रोहामः ॥ ४-२५ ॥

तुलेर्ण्यन्तस्य ओहाम इत्यादेशो वा भवति ॥ ओहामइ । तुलई ॥

अर्थ.—प्रेरणार्थक प्रत्यय 'एयन्त' सहित संस्कृत धातु तुल के स्थान पर प्राकृत में विकल्प से 'ओहाम' धातु रूप को आदेश प्राप्ति हुआ करती है। जैसे—*तुलयति = ओहामइ* = वह तोल कराता है। पक्षान्तर में '*तुलइ*' = वह तोल कराता है ॥ ४-२५ ॥

विरिचेरोलुण्डोल्लुण्ड–पल्हत्थाः ॥ ४–२६ ॥

विरेचयतेर्ण्यन्तस्य ओलुण्डादयस्त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ ओलुण्डइ । उल्लुण्डइ । पल्हत्थइ । विरेअइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत धातु 'विरिंच्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से तीन धातु आदेश हुआ करते हैं; जोकि क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) ओलुण्ड, (२) उल्लुण्ड और (३) पल्हत्थ। पक्षान्तर में विरेअ रूप भी होगा। उदाहरण यों है:—विरेचयति = ओलुण्डइ, उल्लुण्डइ, पल्हत्थइ = वह बाहिर निकलवाता है; वह विरेचन (झराना टपकाना) कराता है। पक्षान्तर में विरेचयति का विरेअइ रूप भी बनेगा ॥ ४–२६ ॥

तडेराहोड–विहोडौ ॥ ४–२७ ॥

तडेर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवतः ॥ आहोडइ । विहोडइ । पक्षे । ताडेइ ॥

अर्थः प्रेरणार्थक प्रत्यय 'एयन्त' सहित सस्कृत धातु तड्' के स्थान पर प्राकृत में 'आहोड' और 'विहोड' ऐसी दो धातुओं की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'ताड' रूप की भी प्राप्ति होगी। जैसे —*ताडयति = आहोडइ* और *विहोडइ* = वह मार पीट कराता है, वह ताड़ना कराता है। पक्षान्तर में '*ताडेइ*' रूप होगा ॥ ४-२७ ॥

मिश्रे वीसाल-मेलवौ ॥४-२८॥

मिश्रयतेर्ण्यन्तस्य वीसाल मेलव इत्यादेशौ वा भवतः ॥ वीसालइ । मेलवइ । मिस्सइ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय 'एयन्त' सहित संस्कृत धातु 'मिश्र्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से दो धातु-रूपों को आदेश प्राप्ति होती है। वे हैं (१) वीसाल और मेलव। पक्षान्तर में 'मिस्स' रूप भी होगा। उदाहरण यों है:—*मिश्रयति = वीसालइ* और मेलवइ = वह मेल मिलाप कराता है, वह मेल सभेल कराता है। पक्षान्तर में मिस्सइ रूप होता है। ४-२८ ॥

उद्धूले र्गुण्ठः ॥४-२९ ॥

उद्धूलेर्ण्यन्तस्य गुण्ठ इत्यादेशो वा भवति ॥ गुण्ठइ । पक्षे । उद्धूलेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय 'ण्यन्त' सहित तथा उद् उपसर्ग सहित संस्कृत धातु 'धूल्' के स्थान पर प्राकृत में 'गुण्ठ' धातु-रूप को विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में उद्धूल रूप भी बनेगा। जैसे:—*उद्धूलयति = गुण्ठइ* अथवा *उद्धूलेइ* = वह ढंकाता है वह व्याप्त कराता है, वह आच्छादित कराता है ॥ ४-२९ ॥

भ्रमेस्तालिअण्ट-तमाडौ ॥ ४-३० ॥

भ्रमयते र्ण्यन्तस्य तालिअण्ट तमाड इत्यादेशौ वा भवतः ॥ तालिअण्टइ । तमाडइ । भामेइ । भमाडेइ । भमावेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक ण्यन्त प्रत्यय सहित संकृत धातु भ्रम् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'तालिअण्ट और तमाड' ऐसे दो धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*भ्रमयति = तालिअण्टइ* और *तमाडइ* = वह घुमाता है। "*भामेइ, भमाडेइ, भमावेइ*" रूप भी होते हैं। ४-३० ॥

नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ॥ ४-३१ ॥

नशेर्ण्यन्तस्य एते पञ्चादेशा वा भवन्ति ॥ विउडइ । नासवइ । हारवइ । विप्पगालइ । पलावइ । पक्षे । नासइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत धातु नश् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से पांच धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वे क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) विउड, (२) नासव, (३) हारव, (४) विप्पगाल और (५) पलाव। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—*नाशयति = विउडइ, नासवइ, हारवइ, विप्पगालइ* और *पलावइ* = वह नाश कराता है।

पक्षान्तर में *नासइ* भी होगा और इसका अर्थ भी 'वह नाश कराता है' होगा ॥ ४-३१ ॥

दृशेर्दाव-दंस-दक्खवाः ॥ ४-३२ ॥

दृशेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशा भवन्ति ॥ दावइ । दंसइ । दक्खवइ । दरिसइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत धातु दृश् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से तीन आदेश होते हैं; वे क्रम से यों हैं:—(१) दाव; (२) दंस और (३) दक्खव। इनके उदाहरण इस

प्रकार हैं:—दर्शयाति = दावइ, दंसइ और दक्खवइ = वह बतलाता है अथवा वह प्रदर्शित कराता है। पक्षान्तर में दरिसइ रूप होता है ॥ ४-३२ ॥

उद्घटेरुग्गः ॥ ४-३३ ॥

उत्पूर्वस्य घटेर्ण्यन्तस्य उग्ग इत्यादेशो वा भवति ॥ उग्गइ । उग्घाडइ ॥

अर्थ:—प्रेरणार्थक प्रत्यय एयन्त सहित तथा उत् उपसर्ग सहित संस्कृत धातु घट् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'उग्ग' ऐसे धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*उद्घाटयति* = उग्गइ = वह प्रारम्भ कराता है अथवा वह खुला कराता है। पक्षान्तरे *उग्घाडइ* रूप भी होता है ॥४-३३॥

स्पृहः सिहः ॥ ४-३४ ॥

स्पृहो एयन्तस्य सिह इत्यादेशो भवति ॥ सिहइ ॥

अर्थ.—प्रेरणार्थक प्रत्यय एयन्त सहित संस्कृत-धातु 'स्पृह्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में नित्य रूप से 'सिह' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*स्पृहयति* = *सिहइ* = वह चाहना-इच्छा कराता है ॥ ४-३४ ॥

संभावेरासंघः ॥ ४-३५ ॥

संभावयतेरासङ्घ इत्यादेशो व भवति ॥ आसङ्घइ । संभावइ ॥

अर्थ:—संस्कृत-धातु संभावय के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'आसङ्घ' ऐसे धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में संभावय के स्थान पर संभाव रूप भी होगा। जैसे—*संभावयाति* = *आसङ्घइ*, पक्षान्तर में *संभावइ* = वह संभावना कराता है ॥ ४-३५ ॥

उन्नमेरुत्थंघोल्लाल-गुलु गुञ्छोप्पेलाः ॥ ४-३६ ॥

उत्पूर्वस्य नमेर्ण्यन्तस्य एते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ उत्थङ्घइ । उल्लालइ । गुलुगुञ्छइ । उप्पेलइ । उन्नामइ ॥

अर्थ.—प्रेरणार्थक प्रत्यय एयन्त सहित तथा उत् उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु नम् के स्थान पर प्राकृत-भाषा में वैकल्पिक रूप से चार धातुओं की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) उत्थंघ, (२) उल्लाल (३) गुलुगुञ्छ और (४) उप्पेल। पक्षान्तर में 'उन्नाम' रूप की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण इस प्रकार:—*उन्नामयाति* = *उत्थंघइ*, *उल्लालइ*, *गुलुगुञ्छइ*, *उप्पेलइ* और *उन्नामइ*, वह ऊँचा उठाता है। वह ऊपर उठाता है ॥ ४-३६ ॥

प्रस्थापेः पट्ठव--पेण्डवौ ॥ ४-३७ ॥

प्रपूर्वस्य तिष्ठतेर्ण्यन्तस्य पट्ठव पेण्डव इत्यादेशौ वा भवतः ॥ पट्ठवइ । पेण्डवइ । पट्ठावइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित तथा 'प्र' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'प्रस्थाप' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'पट्ठव और पेण्डव' रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*प्रस्थापयति* = *पट्ठवइ* और *पेण्डवइ* = वह स्थापित करवाता है। पक्षान्तर में '*पट्ठावइ*' रूप भी होता है। ४-३७ ॥

विज्ञपेर्वोक्कावुक्कौ ॥ ४-३८ ॥

विपूर्वस्य जानतेर्ण्यन्तस्य वोक्क अवुक्क इत्यादेशौ वा भवतः ॥ वोक्कइ । अवुक्कइ । विण्णवइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित तथा 'वि' उपसर्ग सहित विशेष ज्ञान कराने अर्थक अथवा विनय-विनति कराने अर्थक संस्कृत धातु 'विज्ञप' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'वोक्क और अवुक्क' ऐसी दो धातुओं की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'विज्ञापय' का प्राकृत रूपान्तर 'विण्णव' भी बनेगा। उदाहरण इस प्रकार है:—*विज्ञापयति* = *वोक्कइ*, *अवुक्कइ* और *विण्णवइ* = वह विशेष ज्ञान करवाता है अथवा वह विनंति करवाता है ॥ ४-३८ ॥

अर्पेरल्लिव--चच्चुप्प--पणामाः ॥ ४--३९ ॥

अर्पेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ अल्लिवइ । चच्चुप्पइ । पणामइ । पक्षे अप्पेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत धातु 'अर्प' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार से हैं:—(१) अल्लिव, (२) चच्चुप्प और (३) पणाम। पक्षान्तर में 'अप्प' रूप भी बनेगा। चारों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—*अर्पयति* = *अल्लिवइ*, *चच्चुप्पइ*, *पणामइ* और *अप्पेइ* = वह अर्पण करवाता है। ४-३९ ॥

यापेर्जवः ॥ ४-४० ॥

याते र्ण्यन्तस्य जव इत्यादेशो वा भवति ॥ जवइ । जावेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत-धातु 'याप' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'जव' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'जाव' रूप की भी प्राप्ति होगी ही। जैसे:—*यापयति* = *जवइ* अथवा *जावेइ* = वह गमन करवाता है, वह व्यतीत करवाता है। ४-४० ॥

प्लावेरोम्वाल-पव्वालौ ॥ ४-४१ ॥

प्लवते र्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवतः ॥ ओम्वालइ । पव्वालइ । पावेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित 'भिगोने-तर बतर करने' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्लाव' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'ओम्वाल और पव्वाल' ऐसी दो धातुओं की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है।

पक्षान्तर में प्लावय के स्थान पर 'पाव' रूप की भी प्राप्ति होगी। जैसेः—*प्लावयति=ओम्वालइ, पव्वालइ* और *पावेइ*=वह भिगोवाता है, वह तर बतर करवाता है। वह भिंजवाता है ॥ ४-४१ ॥

विकोशेः पक्खोडः ॥ ४-४२ ॥

विकोशयतेर्नाम धातोर्ण्यन्तस्य पक्खोड इत्यादेशो वा भवति ॥ पक्खोडइ । विकोसइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित 'विकसित कराना, फैलाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'विकोश' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'पक्खोड' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है।

पक्षान्तर में विकोशय के स्थान पर विकोस रूप की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*विकोशयति=पक्खोडइ* अथवा *विकोसइ*=वह विकसित कराता है, वह फैलाता है ॥ ४-४२ ॥

रोमन्थे रोग्गाल-वग्गोलौ ॥ ४-४३ ॥

रोमन्थेर्नामधातोर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवतः ॥ ओग्गालइ । वग्गोलइ । रोमन्थइ ॥

अर्थः—'चबाई हुई वस्तु को पुनः चबाना' इस अर्थ में काम आने वाली धातु 'रोमन्थ' के साथ जुड़े हुए प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त पूर्वक सम्पूर्ण धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'ओग्गाल और वग्गोल' आदेश की प्राप्ति विकल्प से होती है। पक्षान्तर में 'रोमन्थ' का सद्भाव भी होगा। जैसे-*रोमन्थयति=ओग्गालइ, वग्गोलइ* अथवा *रोमन्थइ*=वह चबाई हुई वस्तु को पुनः चबाता है-वह पगुराता है ॥४-४३॥

कमेर्णिहुवः ॥ ४-४४ ॥

कमेः स्वार्थण्यन्तस्य णिहुव इत्यादेशो वा भवति ॥ णिहुवइ । कामेइ ॥

अर्थः—स्वार्थ में प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त पूर्वक संस्कृत-धातु कम् के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'णिहुव' की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय की संयोजना से 'कम' धातु का रूप 'काम' हो जायगा। जैसेः—*कामयते=णिहुवइ* अथवा *कामेइ*=वह अपने लिये काम-भोगों की इच्छा करता है; अथवा इच्छा कराता है ॥ ४-४४ ॥

प्रकाशेर्णुव्वः ॥ ४--४५ ॥

प्रकाशे र्ण्यन्तस्य णुव्व इत्यादेशो वा भवति ॥ णुव्वइ । पयासेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत-धातु प्रकाश् के स्थान पर प्राकृत-भाषा में णुव्व की प्राप्ति विकल्प से होती है। पक्षान्तर में 'पयास' रूप की भी प्राप्ति होगी जैसेः—*प्रकाशयति* = णुव्वइ अथवा *पयासेइ*=वह प्रकाश करवाता है ।४-४५ ॥.

कम्पेर्विच्छोलः ॥ ४–४६ ॥

कम्पे र्ण्यन्तस्य विच्छोल इत्यादेशो वा भवति । विच्छोलइ । कम्पेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत-धातु कम्प् के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'विच्छोल' की प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से कम्प की भी प्राप्ति होगी । जैसेः—*कम्पयति*= *विच्छोलइ* अथवा *कम्पेइ* = वह कंपाता है, वह धुजवाता है ॥ ४-४६ ॥

आरोपेर्वलः ॥ ४–४७ ॥

आरुहे र्ण्यन्तस्य वल इत्यादेशो वा भवति ॥ वलइ । आरोवेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत-धातु आरुह् के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'वल' की प्राप्ति होती है । पक्षान्तर में आरोव की भी प्राप्ति होगी । जैसेः—*आरोहयति* = *वलइ* अथवा *आरोवेइ* = वह चढवाता है । ॥ ४-४७ ॥.

दोलेरङ्खोलः ॥ ४–४८ ॥

दुलेः स्वार्थे ण्यन्तस्य रङ्खोल इत्यादेशो वा भवति ॥ रङ्खोलइ । दोलई ॥

अर्थः—स्वार्थ रूप में प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत धातु दुल् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'रङ्खोल' की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'दोल' की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*दोलयति* = *रङ्खोलइ* अथवा *दोलइ* = वह हिलाता है अथवा वह झुलाता है ॥ ४-४८ ॥

रञ्जेरावः ॥ ४–४९ ॥

रञ्जे र्ण्यन्तस्य राव इत्यादेशो वा भवति ॥ रावेइ । रञ्जेइ ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय णयन्त सहित संस्कृत धातु रञ्ज् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'राव' की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में रञ्ज की भी प्राप्ति होगी। जैसे-*रञ्जयति*=*रावेइ* अथवा *रञ्जेइ*=वह रंग लगाता है, वह खुशी करता है॥ ४-४९॥

घटेः परिवाडः ॥ ४-५० ॥

घटे र्णयन्तस्य परिवाड इत्यादेशो वा भवति॥ परिवाडेइ। घडेइ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त सहित संस्कृत-धातु 'घट्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'परिवाड' की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में घड की प्राप्ति भी होगी। जैसे—*घटयति*=*परिवाडेइ* अथवा *घडेइ*=वह निर्माण करवाता है। वह रचवाता है॥ ४-५०॥

वेष्टेः परिआलः ॥ ४-५१ ॥

वेष्टे र्णयन्तस्य परिआल इत्यादेशो वा भवति॥ परिआलेइ। वेढेइ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय णयन्त सहित संस्कृत-धातु 'वेष्ट्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'परिआल' की आदेश प्राप्ति होती है पक्षान्तर में वेढ की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*वेष्टयति*=*परिआलेइ* अथवा *वेढेइ*=वह लपेटता है अथवा लपेटाता है। ४-५१॥

क्रियः किणो वेस्तु क्के च ॥ ४-५२ ॥

णेरिति निवृत्तम्। क्रीणातेः किण इत्यादेशो भवति। वेः परस्य तु द्विरुक्त केश्चकारात् किणश्च भवति॥ किणइ। विक्केइ। विक्किणइ॥

अर्थः—प्रेरणार्थक प्रत्यय ण्यन्त संबंधी प्रक्रिया एवं इससे संबंधित आदेश-प्राप्ति की यहाँ से समाप्ति हो गई है। अब केवल सामान्य रूप से होने वाली आदेश-प्राप्ति का ही वर्णन किया जावेगा।

खरीदने अर्थक संस्कृत धातु *क्री* (*क्रीणा*) के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'किण' आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*क्रीणाति* अथवा *क्रीणीते*=*किणइ*=वह खरीदता है।

जिस समय में क्री धातु के साथ में 'वि' उपसर्ग जुड़ा हुआ होता है तब प्राकृत-भाषा में आदेश प्राप्त किण धातु में रहे हुए 'कि' को द्वित्व 'क्के' की प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—*विक्रीणाति*=*विक्केइ*=वह बेचता है। यह ध्यान में रहे कि द्वित्व 'क्के' की प्राप्ति होने पर 'विकिण' धातु में रहे हुए 'णकार' का लोप हो जाता है।

मूल सूत्र में 'चकार' दिया हुआ है, जिसका तात्पर्य यह है कि कभी कभी 'विकिण' धातु में रहे हुए 'कि' को द्वित्व 'क्कि' की प्राप्ति होकर 'णकार' का लोप भी नहीं होता है। जैसे—*विक्रीणाति = विक्किणइ* = वह बेचता है ॥ ४-५२ ॥

भियो भा-बीहौ ॥ ४-५३ ॥

बिभेतेरेतावादेशौ भवतः ॥ भाइ। भाइअं। बीहइ। बीहिअं ॥ बहुलाधिकाराद् भीओ ॥

अर्थः—डरने अर्थक संस्कृत धातु 'भी' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'भा और बीह' की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*भयति=भाइ*=वह डरता है; *बिभेति=बीहइ*=वह डरता है। *भीतं = भाइअं* और *बीहिअं*=डरा हुआ अथवा डरे हुए को।

बहुलं सूत्र के अधिकार से '*भीतः*' विशेषण का रूपान्तर *भीओ* भी होता है। भीओ का अर्थ 'डरा हुआ' ऐसा है ॥ ४-५३ ॥

आलीङोल्ली ॥ ४-५४ ॥

आलीयतेः अल्ली इत्यादेशो भवति ॥ अल्लियइ। अल्लीणो ॥

अर्थः—'आ' उपसर्ग सहित 'ली' धातु के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'अल्ली' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*आलीयते=अल्लियइ*=वह आता है, वह प्रवेश करता है, वह आलिङ्गन करता है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है:—*आलीनः = अल्लीणो* = आया हुआ, प्रवेश किया हुआ, थोड़ासा झुका हुआ ॥ ४-५४ ॥

निलीङोर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्काः ॥ ४-५५ ॥

निलीङ् एते षडादेशा वा भवन्ति ॥ णिलीअइ। णिलुक्कइ। णिरिग्घइ। लुक्कइ। लिक्कइ। ल्हिक्कइ। निलिज्जइ ॥

अर्थः—भेटना अथवा जोड़ना अर्थ में प्रयुक्त होने वाली संस्कृत धातु 'नि + ली=निली' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से छह धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वे क्रम से इस प्रकार हैं:— (१) णिलीअ, (२) णिलुक्क, (३) णिरिग्घ, (४) लुक्क, (५) लिक्क और (६) ल्हिक्क।

वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'निली' के स्थान पर 'निलिज्ज' रूप की भी प्राप्ति होगी। सभी का उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*निलीयते = णिलीअइ, णिलुक्कइ, णिरिग्घइ, लुक्कइ, लिक्कइ ल्हिक्कइ* अथवा *निलिज्जइ* = वह भेटता है, वह मिलाप करता है ॥ ४-५५ ॥

विलीङेर्विरा ॥ ४–५६ ॥

विलीङेर्विरा इत्यादेशो वा भवति ।। विराइ । विलिज्जइ ॥

अर्थः—'नष्ट होना, निवृत्त होना' आदि अर्थक संस्कृत-धातु 'वि + ली' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'विरा' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'वि + ली' के स्थान पर 'विलिज्ज' रूप की भी प्राप्ति होगी। जैसे.—*विलीयते=विराइ* अथवा *विलिज्जइ=*वह नष्ट होता है अथवा वह निवृत्त होता है ॥ ४–५६ ॥

रुतेरुञ्ज–रुण्टौ ॥ ४–५७ ॥

रौतेरेतावादेशौ वा भवत. ॥ रुञ्जइ । रुण्टइ : रवइ ॥

अर्थः—आवाज करने अर्थक संस्कृत धातु 'रु' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'रुञ्ज और रुण्ट' की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'रु' के स्थान पर 'रव' की भी प्राप्ति होगी। जैसे:—*रौति=रुञ्जइ, रुण्टइ* अथवा *रवइ*=वह आवाज करता है ॥ ४–५७ ॥

श्रुटे र्हणः ॥ ४–५८ ॥

शृणोते र्हण इत्यादेशो वा भवति ॥ हणइ । सुणइ ॥

अर्थः—सुनने अर्थक संस्कृत–धातु 'श्रु' के स्थान पर प्राकृत–भाषा में विकल्प से 'हण' धातु–रूप की आदेश–प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'श्रु' का सुण रूपान्तर भी होगा। जैसे:—*शृणोति=हणइ* अथवा *सुणइ*=वह सुनता है ॥ ४–५८ ॥

धुगे र्धुवः ॥ ४–५९ ॥

धुनाते र्धुव इत्यादेशो वा भवति ॥ धुवइ । धुणइ ॥

अर्थः—'कंपाना–हिलाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'धू' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'धुव' धातु–रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'धू' का धुण रूपान्तर भी होगा। जैसे:—*धुनाति=धुवइ* अथवा *धुणइ*=वह कंपाता है—वह हिलाता है ॥ ४–५९ ॥

भुवेर्हो–हुव–हवाः ॥ ४–६० ॥

भुवो धातोर्हो हुव हव इत्येते आदेशा वा भवन्ति ॥ होइ । होन्ति हुवइ । हुवन्ति ।

हवइ । हवन्ति ॥ पक्षे । भवइ । परिहीण विहवो । भविउं । पभवइ । परिभवइ । संभवइ ॥ क्वचिदन्यदपि । उब्भुअइ । भत्तं ॥

अर्थः—'होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भू = भव्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'हो, हुव और हव' ऐसे तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'भू=भव्' का 'भव' रूपान्तर भी होगा जैसेः—*भवति* = *होइ*, *हुवइ* और *हवइ* अथवा *भवइ*=वह होता है । बहुवचन के उदाहरण इस प्रकार हैं:—*भवन्ति* = *होन्ति*, *हुवन्ति* और *हवन्ति* अथवा *भवन्ति* वे होते हैं।

कुछ प्रकीर्णक उदाहरण वृत्ति में इस प्रकार दिये गये हैं:—

(१) *परिहीन-विभवः* = *परिहीण विहवो* = धन-वैभव से हीन हुआ। इस उदाहरण में 'भव' के स्थान पर 'हव' रूप को प्रदर्शित किया गया है।

(२) *भवितुम्* = *भविउं* = होने के लिये। इस हेत्वर्थ-कृदन्त के रूप में संस्कृत-धातु-रूप 'भव्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में भी 'भव्' रूप को ही प्रदर्शित किया गया है।

(३) *प्रभवति* = *पभवइ* = वह समर्थ होता है, वह पहुंचता है अथवा वह उत्पन्न होता है। इस वर्तमान-कालिक क्रियापद में संस्कृत धातु रूप 'प्र + भव' के स्थान पर प्राकृत भाषा में भी 'प + भव' का प्रयोग किया गया है।

(४) *परिभवति* = *परिभवइ* = वह पराजय करता है अथवा तिरस्कार करता है। यहाँ पर भी 'भव' के स्थान पर 'भव' रूप का ही प्रदर्शन किया गया है।

संभवति=*संभवइ*=(अ) वह उत्पन्न होता है, (ब) संभावना होती है अथवा (स) उत्कट संशय होता है। इस उदाहरण में भी 'भव' के स्थान पर भव' की ही प्राप्ति हुई है।

कहीं कहीं पर 'भू=भव्' के स्थान पर उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त अन्य रूप भी देखे जाते हैं। जैसे—उद्भवति = उब्भुअइ=वह उत्पन्न होता है। इस उदाहरण में 'भू = भव्' के स्थान पर प्राकृत रूपान्तर में 'भुअ' रूप का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। ऐसे विभिन्न तथा अनियमित रूपों के संबंध में 'बहुल' सूत्र की स्थिति को ध्यान में रखना चाहिये।

कभी कभी सर्वथा अनियमित रूप भी 'भू – भव' के प्राकृत भाषा में देखे जाते हैं। जैसे-भूतम् = भत्तं' = उत्पन्न हुआ। यह कर्मणि भूतकृदन्त का रूप है। ऐसे रूपों की प्राप्ति 'आर्षम्' सूत्र से सम्बन्धित है; ऐसा समझना चाहिये ॥ ४-६० ॥

अविति हुः ॥ ४-६१ ॥

विद्वर्जे प्रत्यये भुवो हु इत्यादेशो वा भवति ॥ हुन्ति । भवन् । हुन्तो । अवितीति किम् । होइ ॥

अर्थः—'वि' उपसर्ग नहीं होने की स्थिति में 'भू = भव' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'हु' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*भवन्ति = हुन्ति* = वे होते हैं। *भवन् = हुन्तो* = होता हुआ। इन उदाहरणों में 'भव' के स्थान पर 'हु' का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है।

प्रश्नः—'वि' उपसर्ग का निषेध क्यों किया गया है?

उत्तरः—जहाँ पर 'वि' उपसर्ग पूर्वक अर्थ होगा वहाँ पर 'भू=भव' धातु के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'हु' की आदेश प्राप्ति नहीं होगी। जैसे—भवति=होइ=वह विशेष प्रकार से होता है। यों यहाँ पर 'हु' रूप का निषेध कर दिया गया है ॥ ४-६१ ॥

पृथक्-स्पष्टे णिव्वडः ॥ ४-६२ ॥

पृथग्भूते स्पष्टे च कर्तरि भुवो णिव्वड इत्यादेशो भवति ॥ णिव्वडइ । पृथक् स्पष्टो वा भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—पृथक् अर्थात् अलग करने के अर्थ में और स्पष्टीकरण करने के अर्थ में 'भू = भव' धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'णिव्वड' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*पृथग्भवति* अथवा *स्पष्टो भवति = णिव्वडइ* = वह अलग होता है अथवा वह स्पष्ट होता है ॥ ४-६२ ॥

प्रभौ हुप्पो वा ॥ ४-६३ ॥

प्रभु कर्तृकस्य भुवो हुप्प इत्यादेशो वा भवति ॥ प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्यैवार्थः । अङ्गे च्चिअ न पहुप्पइ । पक्षे । पभवेइ ॥

अर्थः—जब 'भू = भव्' धातु के साथ में 'प्र' उपसर्ग जुड़ा हुआ हो और जब 'प्र' उपसर्ग का अर्थ शक्ति-सम्पन्नता हो तो ऐसे समय में 'प्र + भव' धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'हुप्प' आदेश की प्राप्ति होगी। इसका तात्पर्य यही है कि 'शक्ति-सम्पन्नता' अर्थ पूर्वक 'भू = भव' धातु को विकल्प से 'हुप्प' आदेश-प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'पभव' प्राप्ति का भी सविधान जानना चाहिये। जैसे—हे *अंगे ! एव न प्रभवति*=हे सुन्दर अंगों वाली ! निश्चय ही वह शक्ति सम्पन्न नहीं होता है। इसका प्राकृत-रूपान्तर इस प्रकार है:—*अंगे ! च्चिअ न* पहुप्पइ। पक्षान्तर में 'पहुप्पइ' के स्थान पर *'पभवेइ'* रूप भी बनता है ॥ ४-६३ ॥

क्ते हूः ॥ ४-६४ ॥

भुवः क्त प्रत्यये हूरादेशो भवति ॥ हूअं । अणुहूअं । पहूअं ॥

अर्थः—कर्मणि भूतकृदन्त प्रत्यय 'क्त=त' के साथ में 'भू' धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'हू' धातु की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—*भूतम्=हूअं*=हुआ। अन्य उपसर्ग पूर्वक भू धातु के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) अनुभूतम्=अणुहूअं=अनुभव किया हुआ।

(२) प्रभूतम्=पहूअं=बहुत ॥ ४-६४ ॥

कृगेः कुणः ॥ ४-६५ ॥

कृगः कुण इत्यादेशो वा भवति ॥ कुणइ ।करइ ॥

अर्थः—संस्कृत 'कृ=करना' धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'कुण' धातु की आदेश-प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'कर' की प्राप्ति भी जानना। जैसे—*करोति=कुणइ* अथवा *करइ*=वह करता है ॥ ४-६५ ॥

काणेक्षिते णिआरः ॥ ४-६६ ॥

काणेक्षितविषयस्य कृगो णिआर इत्यादेशो वा भवति ॥ णिआरइ । काणेक्षितं करोति ॥

अर्थः—कानी नजर से देखने अर्थक धातु 'कृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'णिआर' की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—*काणेक्षितं करोति=णिआरइ*=वह कानी नजर से देखता है ॥ ४-६६ ॥

निष्टम्भावष्टम्भे णिट्ठुह-संदाणं ॥ ४-६७ ॥

निष्टम्भविषयस्यावष्टम्भ विषयस्य च कृगो यथा संख्यं णिट्ठुह संदाण इत्यादेशौ वा भवतः ॥ णिट्ठुहइ । निष्टम्भं करोति । संदाणइ । अवष्टम्भं करोति ॥

अर्थः—'निश्चेष्ट करना अथवा चेष्टा रहित होना' इस अर्थक संस्कृत-धातु 'निष्टम्भ पूर्वक कृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'णिट्ठुह' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*निष्टम्भं करोति=णिट्ठुहइ* वह निश्चेष्ट करता है अथवा वह चेष्टा रहित होता है।

इसी प्रकार से 'अवलम्बन करना अथवा सहारा लेना' इस अर्थक संस्कृत-धातु 'अवष्टम्भपूर्वक कृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'सदाण' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*अवष्टम्भं करोति*=*संदाणइ* = वह अवलम्बन करता है अथवा वह सहारा लेता है।

पक्षान्तर में *निष्टम्भं करोति* का प्राकृत रूपान्तर '*निट्ठंभं करेइ*' ऐसा भी होगा; तथा '*अवष्टम्भं करोति*' का प्राकृत रूपान्तर '*ओट्ठंभं करेइ*' भी होगा ॥ ४-६७ ॥

श्रमे वावम्फः ॥ ४–६८ ॥

श्रमविषयस्य कृगो वावम्फ इत्यादेशो वा भवति ॥ वावम्फइ। श्रमं करोति ॥

अर्थः—'श्रम विषयक' कृ धातु के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'वावम्फ' धातु को आदेश प्राप्ति होती है। जैसे-*श्रमं करोति*=*वावम्फइ*=वह परिश्रम करता है। पक्षान्तर में '*श्रमं करोति*' का '*समं करेइ*' भी होगा ॥ ४-६८ ॥

मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ४-६९ ॥

मन्युना करणेन यदोष्ठमालिन्यं तद्विषयस्य कृगो णिव्वोल इत्यादेशो वा भवति ॥ णिव्वोलइ। मन्युना ओष्ठं मलिनं करोति ॥

अर्थः—'क्रोध के कारण से होठ को मलिन करने' विषयक संस्कृत धात 'कृ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'णिव्वोल' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—'*मन्युना ओष्ठं मालिनं करोति*'=*णिव्वोलइ*=वह क्रोध से होठ को मलिन करतो है अथवा करता है। पक्षान्तर में '*मन्नुणा ओट्ठं मलिणं करेइ*' भी होगा।

शैथिल्य लम्बने पयल्लः ॥ ४–७० ॥

शैथिल्य विषयस्य लम्बन विषयस्य च कृग पयल्ल इत्यादेशो वा भवति ॥ पयल्लइ। शिथिली भवति, लम्बते वा ॥

अर्थः—'शिथिलता करना' अथवा "ढीला होना-लटकना" इस विषयक संस्कृत धातु 'कृ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'पयल्ल' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*शिथिली भवति* (अथवा) *लम्बते* = *पयल्लइ* = वह शिथिलता करता है अथवा वह ढोलाई करता है—वह ढीला होता है। पक्षान्तर में *सिढिलइ* (अथवा) *लम्बेइ* होगा ॥ ४-७० ॥

निष्पाताच्छोटे णीलुञ्छः ॥ ४–७१ ॥

निष्पतन विषयस्य आच्छोटन विषयस्य च कृगो णीलुञ्छ इत्यादेशो भवति वा ॥ णीलुञ्छइ । निष्पतति । आच्छोटयति वा ॥

अर्थः—'गिरने अथवा कूदने' विषयक संस्कृत धातु 'कृ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'णीलुञ्छ' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*निष्पतति=णीलुञ्छइ*=वह गिरता है और *आच्छोटयति=णीलुञ्छइ*=वह कूदता है। पक्षान्तर मे *णिप्पडइ* और *आछोडइ* भी होगा ॥ ४-७१ ॥

क्षुरे कम्मः ॥ ४–७२ ॥

क्षुर विषयस्य कृगः कम्म इत्यादेशो वा भवति ॥ कम्मइ । क्षुरं करोतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'हजामत करने' अर्थक 'कृ' धातु के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से कम्म' धातु की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—*क्षुरं करोति=कम्मइ*=वह हजामत कराता है। पक्षान्तर में 'खुरं करेइ' ऐसा भी होगा ॥ ४–७२ ॥

चाटौ गुललः ॥ ४–७३ ॥

चाटु विषयस्य कृगो गुलल इत्यादेशो वा भवति ॥ गुललइ । चाटु करोतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'खुशामद करना-चाटुकारी करना' विषयक 'कृ' धातु के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'गुलल' धातु को आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—*चाटुकरोति=गुललइ*=वह खुशामद करता है-वह चाटुकारी करता है। पक्षान्तर में 'चाडुंकरेइ' ऐसा भी होगा ॥ ४–७३ ॥

स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ४–७४ ॥

स्मरेरेते नवदेशा वा भवन्ति ॥ झरइ । झूरइ । भरइ । भलइ । लढइ । विम्हरइ । सुमरइ । पयरइ । पम्हुहइ । सरइ ॥

अर्थः—'स्मरण करना-याद करना' अर्थक संस्कृत धातु 'स्मर' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से नव धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वे क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) झर, (२) झूर, (३) भर, (४) भल, (५) लढ. (६) विम्हर, (७) सुमर, (८) पयर और (९) पम्हुह। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'स्मर' के स्थान पर 'सर' रूप की भी प्राप्ति होगी। इनके उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—

स्मरति=(१) झरइ, (२) झूरइ, (३) भरइ, (४) भलइ, (५) लढइ, (६) विम्हरइ, (७) सुमरइ, (८) पयरइ, (९) पम्हुहइ और *(१०) सरइ*=वह स्मरण करता है अथवा याद करता है; यों दस ही क्रियापदों का एक ही अर्थ होता है।

विस्मुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ॥ ४-७५ ॥

विस्मरतेरेते आदेशा भवन्ति ॥ पम्हुसइ । विम्हरइ । वीसरइ ॥

अर्थः— भूलना-भूल जाना' अथवा 'विस्मरण करना' अर्थक संस्कृत धातु 'विस्मर्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में तीन धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार हैं:—(१) पम्हुस, (२) विम्हर और (३) वीसर। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—*विस्मरति=पम्हुसइ, विम्हरइ* और *वीसरइ*—वह भूलता है अथवा वह विस्मरण करता है ॥ ४-७५॥.

व्याहृगेः कोक्क-पोक्कौ ॥ ४-७६ ॥

व्याहरतेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ कोक्कइ । ह्रस्वत्वे तु कुक्कइ । पोक्कइ । पक्षे । वाहरइ ॥

अर्थः—'बुलाना, आह्वान करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'व्याहृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) कोक्क और पोक्क। सूत्र-संख्या १-८४ से विकल्प से दीर्घ स्वर के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन होने पर ह्रस्व स्वर की प्राप्ति होती है अतः 'कोक्क' के स्थान पर 'कुक्क' की भी प्राप्ति हो सकती है, पक्षान्तर में 'व्याहृ' धातु का 'वाहर' रूप भी प्राप्त होगा।

उक्त चारों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*व्याहरति= (१)कोक्कइ, (२)कुक्कइ (३)पोक्कइ* और *(४)वाहरइ*=वह बुलाता है, वह आह्वान करता है ॥ ४-७६ ॥ .

प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ ॥ ४-७७ ॥

प्रसरतेः पयल्ल उवेल्ल इत्येतावादेशौ वा भवतः ॥ पयल्लइ । उवेल्लइ । पसरइ ॥

अर्थः—'पसरना, फैलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्र+सृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से दो धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वे ये हैं—(१) पयल्ल और (२)उवेल्ल। पक्षान्तर में 'प्र+सृ' के स्थान पर 'पसर' की भी प्राप्ति होगा। जैसे —*प्रसरति=(१)पयल्लइ (२)उवेल्लइ* और *(३)पसरइ*=वह पसरता है अथवा वह फैलता है ॥ ४-७७ ॥

महमहो गन्धे ॥ ४-७८ ॥

प्रसरतेः गन्ध विषये महमह इत्यादेशो वा भवति ॥ महमहइ मालई । मालइ-गन्धो पसरइ ॥ गन्ध इति किम् । पसरइ ॥

अर्थः—'गन्ध फैलना' इस संपूर्ण अर्थ में प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'महमह' धातु की आदेश प्राप्ति होती है।

जहां पर 'गन्ध फैलता है' ऐसे अर्थ में 'गन्ध' शब्द स्वयमेव विद्यमान हो वहां पर 'महमह' धातु रूप का प्रयोग नहीं किया जा सकता हैं, किन्तु 'पसर' धातु रूप का ही प्रयोग किया जा सकेगा। इसलिए वृत्ति में 'गन्ध इतिकिम्=गन्ध ऐसा क्यों ? प्रश्न उठाकर आगे 'पसरइ' क्रिया पद द्वारा यह समाधान किया गया है कि 'गन्ध' कर्ता के साथ 'पसर' क्रिया का प्रयोग होगा। जैसे:—*मालती-गन्धः प्रसरति=मालइ गन्धो पसरइ*=मालती-लता का गन्ध फैलता है। यों महमह' धातु-रूप की विशेष स्थिति को समझना चाहिये॥ ४-७८॥

निस्सरेर्णीहर-नील-धाड--वरहाडाः ॥ ४-७९ ॥

निस्सरतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ णीहरइ । नीलइ । धाडइ । वरहाडइ । नीसरइ ॥

अर्थः—'बाहर निकलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'निस्+सृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से चार धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती हैं। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) णीहर (२) नील (३) धाड और (४) वरहाड। वैकल्पिक पक्ष होने से 'निस्+सृ' के स्थान पर 'नीसर' धातु की भी प्राप्ति होगी। पाँचों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—*निःसरति* (१) *णीहरइ*, (२) *नीलइ*, (३) *धाडइ*, (४) *वरहाडइ*, और (५)*नीसरइ*=वह बाहिर निकलता है॥ ४-७९॥

जाग्रेर्जग्गः ॥ ४-८० ॥

जागर्तेर्जग्ग इत्यादेशो वा भवति ॥ जग्गइ । पक्षे जागरइ ॥

अर्थः—'जागना अथवा सचेत-सावधान होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'जागृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'जग्ग' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'जागृ' के स्थान पर 'जागर' धातु-की भी प्राप्ति होगी। दोनों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*जागर्ति*=*जग्गइ* अथवा *जागरइ*=वह जागता है-वह निद्रा त्यागता है अथवा वह सावधान सचेत होती है॥४-८०॥

व्याप्रेराअड्डः ॥ ४-८१ ॥

व्याप्रियतेराअड्ड इत्यादेशो वा भवति ॥ आअड्डइ । वावरेइ ॥

अर्थः—'व्यापृत होना, काम लगना' अर्थक संस्कृत धातु 'व्या+पृ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'आअड्ड' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'व्या+पृ' के स्थान पर

'वावर' धातु की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*व्याप्रियते = आअड्डेइ* अथवा *वावरेइ* = वह काम में लगता है ॥ ४-८१ ॥

संवृगेः साहर-साहट्टौ ॥ ४-८२ ॥

संवृणोतेः साहर साहट्ट इत्यादेशौ वा भवतः ॥ साहरइ। साहट्टइ। संवरइ ॥

अर्थ—'संवरण करना, समेटना' अर्थक संस्कृत धातु 'सं + वृ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से दो धातु 'साहर और साहट्ट' की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'स + वृ' के स्थान पर 'संवर' धातु की भी प्राप्ति होगी। तीनों धातुओं के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं.—*संवृणोति* = *(१) साहरइ, (२) साहट्टइ* और *(३) संवरइ* = वह संवरण करता है अथवा वह समेटता है ॥ ४-८२ ॥

आदृङः सन्नामः ॥ ४-८३ ॥

आद्रियतेः सन्नाम इत्यादेशो वा भवति ॥ सन्नामइ। आदरइ ॥

अर्थः—'आदर करना-सम्मान करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'आ + दृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'सन्नाम' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'आ + दृ' के स्थान पर 'आदर' धातु की भी प्राप्ति होगी। जैसे.—*आद्रियते = सन्नामइ* अथवा *आदरइ*=वह आदर करता है अथवा वह सम्मान करता है—सन्मान करता है ॥ ४-८३ ॥

प्रहृगेः सारः ॥ ४-८४ ॥

प्रहरते. सार इत्यादेशो वा भवति ॥ सारइ। पहरइ ॥.

अर्थ—'प्रहार करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्र + हृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'सार' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'प्र + हृ' के स्थान पर 'पहर' की भी प्राप्ति होगी। दोनों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*प्रहरति = सारइ* अथवा *पहरइ*= वह प्रहार करता है—वह चोट करता है ॥ ४—८४ ॥

अवतरे रोह-ओरसौ ॥ ४-८५ ॥

अवतरतेः ओह ओरस इत्यादेशौ वा भवतः ॥ ओहइ। ओरसइ। ओअरइ ॥.

अर्थः—'नीचे उतरना' अर्थक संस्कृत-धातु 'अव + तृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'ओह तथा ओरस' ऐसे दो धातु की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'अव + तृ' धातु

के स्थान पर 'ओअर' धातु की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण यों हैं:—*अवतरति*=(१) *ओहइ*, (२) *ओरसइ* और (३) *ओअरइ*=वह नीचे उतरता है ॥ ४—८५॥.

शकेश्चय--तर--तीर-पाराः ॥ ४-८६ ॥

शक्नोतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ चयइ। तरइ। तीरइ। पारइ। सक्कइ॥ त्यजतेरपि चयइ। हानिं करोति ॥ तरतेरपि तरइ ॥ तीरयतेरपि तीरइ ॥ पारयतेरपि पारइ। कर्म समाप्नोति ॥

अर्थः—'सकना-समर्थ होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'शक्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से चार धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) चय, (२) तर, (३) तीर और (४) पार। पक्षान्तर में 'शक्' के स्थान पर 'सक्क' की भी प्राप्ति होगी। पाँचों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*शक्नोति*=(१)*चयइ*, (२)*तरइ*, (३)*तीरइ*, (४)*पारइ* और (५)*सक्कइ*=वह समर्थ होता है। उपरोक्त आदेश-प्राप्त चारों धातु द्वि-अर्थक हैं, अतएव इन के क्रियापदीय रूप इस प्रकार से होंगे:—(१)*त्यजति*=*चयइ*=वह छोड़ता है अथवा वह हानि करता है। (२) *तरति*=*तरइ*=वह तैरता है। (३)*तीरयति*=*तीरइ*=वह समाप्त करता है अथवा वह परिपूर्ण करता है। और (४)*पारयति*=*पारइ*=वह पार पहुँचता है अथवा पूर्ण करता है—कार्य की समाप्ति करता है॥ यों चारों आदेश प्राप्त धातु द्वि—अर्थक होने से संबंधानुसार ही इनका अर्थ लगाया जाना चाहिये; यही तात्पर्य वृत्तिकार का है ॥ ४—८६ ॥

फक्कस्थक्कः ॥ ४—८७ ॥

फक्कते स्थक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ थक्कइ ॥

अर्थः—'नीचे जाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'फक्क' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'थक्क' धातु की आदेश प्राप्ति होती है; जैसे—*फक्कति*=*थक्कइ*=वह नीचे जाता है अथवा वह असदाचरण करता है ॥ ४-८७ ॥

श्लाघः सलहः ॥ ४—८८ ॥

श्लाघतेः सलह इत्यादेशो भवति ॥ सलहइ ॥

अर्थः—'प्रशंसा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'श्लाघ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'सलह' धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*श्लाघते*=*सलहइ*=वह प्रशंसा करता है ॥ ४-८८ ॥

खचेर्वेअडः ॥ ४-८९ ॥

खचते वेंअड इत्यादेशो वा भवति ॥ वेअडइ । खचइ ॥

अर्थः—'जड़ना' अर्थक संस्कृत धातु 'खच्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'वेअड' धातु- की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'खच' भी होगा, जैसेः—*खचति = वेअडइ* अथवा *खचइ* वह जड़ता है—जमाता है ॥ ४-८९ ॥

पचेः सोल्ल—पउलौ ॥४-९०॥

पचतेः सोल्ल पउल इत्यादेशौ वा भवतः ॥ सोल्लइ । पउलइ । पयइ ॥

अर्थः—'पकाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'पच' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'सोल्ल और पउल' ऐसे दो धातु-की आदेश प्राप्ति होती है। रूपान्तर 'पय' भी होगा। जैसे—*पचति = सोल्लइ* और *पउलइ* अथवा *पयइ* = वह पकाता है ॥ ४-९० ॥

मुचेश्छड्डा व हेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडाः ॥ ४-९१ ॥

मुञ्चतेरेते सप्तादेशा वा भवन्ति ॥ छड्डइ । अवहेडइ । मेल्लइ । उस्सिक्कइ । रेअवइ । णिल्लुञ्छइ । धंसाडइ । पक्षे । मुअइ ।

अर्थ—'छोड़ना-त्याग करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'मुच्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से सात धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है.—(१)*छड्ड*, (२)*अवहेड*, (३)*मेल्ल*, (४)*उस्सिक्क* (५)*रेअव*, (६)*णिल्लुञ्छ*, और (७)*धंसाड*, पक्षान्तर में 'मुअ' भी होगा। यों आठों ही धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*मञ्चति = (१)छड्डइ (२)अवहेडइ, (३)मेल्लइ, (४)उस्सिक्कइ, (५)रेअवइ, (६)णिल्लुञ्छइ, (७)धंसाडइ* अथवा *मुअइ*=वह छोड़ता है अथवा वह त्याग करता है ॥ ४-९१ ॥

दुःखे णिव्वलः ॥ ४-९२ ॥

दुःख विषयस्य मुचेः णिव्वल इत्यादेशो वा भवति ॥ णिव्वलेइ । दुःखं मुञ्चतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'दुःख को छोड़ना' अर्थ में संस्कृत-धातु 'मुच्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'णिव्वल' (धातु) की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे.—*दुःखं मुञ्चति = णिव्वलेइ*=वह दुःख को छोड़ता है। पक्षान्तर में *दुहं मुअइ* होगा ॥ ४-९२ ॥

वञ्चेर्वेहव--वेलव-जूरवो मच्छाः ॥४--९३ ॥

वञ्चतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ वेहवइ । वेलवइ । जूरवइ । उमच्छइ । वञ्चइ ॥

अर्थः—'ठगना' अर्थक संस्कृत-धातु वञ्च् के स्थान पर प्राकृत--भाषा में विकल्प से चार धातु की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैः—*(१)वेहव, (२)वेलव, (३)जूरव*, और उमच्छ। रूपान्तर 'वञ्च' भी होगा। उक्त पाँचों धातु--रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैः—*वञ्चति*= *(१)वेहवइ, (२)वेलवइ, (३)जूरवइ, (४)उमच्छइ* और *(५)वञ्चइ*=वह ठगता है ॥ ४--९३ ।

रचेरुग्गहावह-विडविड्डाः ॥ ४-९४ ॥

रचेर्धातोरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ उग्गहइ । अवहइ । विडविड्डइ । रयइ ।

अर्थः—'निर्माण करना, बनाना' अर्थक संस्कृत धातु 'रच्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से तीन (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैः—(१) उग्गह, (२) अवह और (३) विडविड्ड। वैकल्पिक पक्ष होने से 'रय' भी होगा। उक्त चारों धातु रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैः—*रचयति*=*[१] उग्गहइ, [२] अवहइ, [३] विडविड्डइ* और *[४] रयइ*=वह निर्माण करता है—वह रचता है अथवा वह बनाती है ॥ ४-९४ ॥

समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः ॥ ४-९५ ॥

समारचेरेतेचत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ उवहत्थइ । सारवइ । समारइ । केलायइ । समारयइ ॥

अर्थः—'रचना-बनाना' अर्थक संस्कृत 'समारच' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से चार धातु (रूपों) की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैः—(१) उवहत्थ, (२) सारव, (३) समार और (४) केलाय।

वैकल्पिक पक्ष होने से 'समा+रच' के स्थान पर 'समारय' भी होगा। उदाहरण इस प्रकार हैः—*समारचयति*=(१) उवहत्थइ, (२) सारवइ, (३) समारइ, (४) केलायइ और (५) समारयइ=वह रचता है-वह बनाती है ॥ ४-९५ ॥

सिचेः सिञ्च-सिम्पौ ॥ ४-९६ ॥

सिञ्चतेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ सिञ्चइ । सिम्पइ । सेअइ ॥

अर्थः—'सींचना' अर्थक संस्कृत धातु 'सिच्' के स्थान पर विकल्प से प्राकृत भाषा में 'सिञ्च और सिम्प' ऐसे दो (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'सिच्' का 'सेअ' भी होगा। उदाहरण इस प्रकार हैं:—सिञ्चति=(१) सिञ्चइ, (२) सिम्पइ और (३) सेअइ=वह सींचता है अथवा सींचती है ॥ ४-९६ ॥

प्रच्छः पुच्छः ॥ ४-९७ ॥

पृच्छेः पुच्छादेशो भवति ॥ पुच्छइ ॥

अर्थः—'पूछना अथवा प्रश्न करना' अर्थक संस्कृत धातु 'प्रच्छ्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'पुच्छ' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—पृच्छति=पुच्छइ=वह पूछता है अथवा वह प्रश्न करता है ॥ ४-९७ ॥

गर्जेर्बुक्कः ॥ ४-९८ ॥

गर्जते र्बुक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ बुक्कइ । गज्जइ ।

अर्थः—'गर्जन करना अथवा गरजना' अर्थक संस्कृत धातु 'गर्ज्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'बुक्क' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'गज्ज' की प्राप्ति भी होगी। जैसे—गर्जति=बुक्कइ अथवा गज्जइ=वह गर्जन करता है अथवा वह गरजता है ॥ ४-९८ ॥

वृषे ढिक्कः ॥ ४-९९ ॥

वृष-कर्तृकस्य गर्जेर्ढिक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ ढिक्कइ । वृषभो गर्जति ॥

अर्थः—'बैल-सांड गर्जना करता है' इस अर्थ वाली गर्जना अर्थक धातु के लिये प्राकृत भाषा में विकल्प से 'ढिक्क' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—वृषभो गर्जति=(उसहो) ढिक्कइ=बैल गर्जना करता है। प्राकृत रूपान्तर 'उसहो गज्जइ' ऐसा भी होगा ॥ ४-९९ ॥

राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ ४-१०० ॥

राजेरेते पञ्चादेशा वा भवन्ति ॥ अग्घइ । छज्जइ । सहइ । रीरइ । रेहइ । रायइ ।

अर्थ—'शोभना, विराजना, चमकना' अर्थक संस्कृत-धातु 'राज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से पाच (धातु)-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—

(१)अग्घ, (२)छज्ज, (३)सह, (४)रीर और (५)रेह। रूपान्तर में 'राय' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—*राजते=(१)अग्घइ, (२)छज्जइ, (३)सहइ, (४)रीरइ, (५)रेहइ,* और रायइ वह शोभता है, वह विराजता है अथवा वह चमकता है ॥ ४-१०० ॥.

मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः ॥ ४-१०१ ॥

मज्जतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ आउड्डइ। णिउड्डइ। बुड्डइ। खुप्पइ। मज्जइ ॥.

अर्थः—'मज्जन करना, डूबना, अथवा स्नान करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'मस्ज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से चार (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। (१)आउड्ड, (२)णिउड्ड, (३)बुड्ड और (४)खुप्प। वैकल्पिक-पक्ष होने से 'मज्ज' की प्राप्ति भी होगी। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—*मज्जति=(१)आउड्डइ,* (२)*णिउड्डइ,* (३)*बुड्डइ,* (४)*खुप्पइ,* और (५)*मज्जइ*=वह स्नान करता है, वह डूबती है, वह मज्जन करती है ॥ ४-१०१ ॥

पुञ्जेरारोल-वमालौ ॥ ४-१०२ ॥

पुञ्जेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ आरोलइ। वमालइ। पुञ्जइ ॥.

अर्थः—'एकत्र करना, इकट्ठा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'पुञ्ज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से दो(धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। (१)आरोल और (२)वमाल। विकल्प पक्ष होने से 'पुञ्ज' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—*पुंजयति*=(१)*आरोलइ,* (२)*वमालइ* और (३)पुंजइ=वह एकत्र करता है, वह इकट्ठा करती है ॥ ४-१०२ ॥

लस्जे जीहः ॥ ४-१०३ ॥

लज्जते जीह इत्यादेशो वा भवति ॥ जीहइ। लज्जइ ॥

अर्थः—'लज्जा करना, शरमाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'लस्ज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'जीह' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'लज्ज' की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*लज्जति=जीहइ* अथवा *लज्जइ*=वह लज्जा करती है, वह शरमाती है। ४-१०३॥

तिजेरोसुक्कः ॥ ४-१०४ ॥

तिजेरोसुक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ ओसुक्कइ। तेअणं ॥

अर्थः—'तीक्ष्ण करना, तेज करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'तिज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'ओसुक्क' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'तेअ' की भी प्राप्ति होगी। जैसेः—*तेजयति* (अथवा तिजति)=*ओसुक्कइ, तेअइ*=वह तीक्ष्ण करती है, वह तेज करता है। 'तेअ' धातु से संज्ञा-रूप 'तेअण' की प्राप्ति होती है। नपुंसक लिंगवाले संज्ञा शब्द 'तेअण' का अर्थ 'तेज करना, पैनाना, उत्तेजन' ऐसा होता है॥ ४-१०४॥

मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुंछ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणाः ॥४-१०५॥

मृजेरेते नवादेशा वा भवन्ति॥ उग्घुसइ। लुञ्छइ। पुञ्छइ। पुंसइ। फुसइ। लुहइ। हुलइ। रोसाणइ। पक्षे। मज्जइ॥

अर्थः—'मार्जन करना, शुद्ध करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'मृज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से नव (धातु-) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। (१) उग्घुस, (२) लुञ्छ, (३) पुञ्छ, (४) पुंस, (५) फुस, (६) पुस, (७) लुह, (८) हुल और (९) रोसाण। वैकल्पिक पक्ष होने से 'मज्ज' भी होगा। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं—*मार्ष्टि*=(१) *उग्घुसइ*, (२) *लुञ्छइ*, (३) *पुञ्छइ*, (४) *पुंसइ*, (५) *फुसइ*, (६) *पुसइ*, (७) *लुहइ*, (८) *हुलइ*, (९) *रोसाणइ* पक्षे *मज्जइ*=वह मार्जन करता है, वह शुद्ध करता है॥ ४-१०५॥

भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ ४-१०६ ॥

भञ्जेरेते नवादेशा वा भवन्ति॥ वेमयइ। मुसुमूरइ। मूरइ। सूरइ। सूडइ। विरइ। पविरञ्जइ। करञ्जइ। नीरञ्जइ। भञ्जइ॥

अर्थः—'भाँगना-तोड़ना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भञ्ज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से नव धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। (१) वेमय, (२) मुसुमूर, (३) मूर, (४) सूर, (५) सूड, (६) विर, (७) पविरञ्ज, (८) करञ्ज और (९) नीरञ्ज।

वैकल्पिक पक्ष होने से 'भञ्ज्' भी होगा। उदाहरण क्रम से यों हैं:—*भनक्ति*= (१) *वेमयइ*, (२) *मुसुमूरइ*, (३) *मूरइ*, (४) *सूरइ*, (५) *सूडइ*, (६) *विरइ*, (७) *पविरञ्जइ* (८) *करञ्जइ* (९) *नीरञ्जइ*, और (१०) *भञ्जइ*=वह भाँगता है अथवा वह तोड़ता है॥ ४-१०६॥

अनुव्रजेः पडिअग्गः ॥ ४-१०७ ॥

अनुव्रजेः पडिअग्ग इत्यादेशो वा भवति ॥ पडिअग्गइ । अणुवच्चइ ॥.

अर्थः—'अनुसरण करना, पीछे जाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'अनु + व्रज' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'पडिअग्ग' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है । वैकल्पिक पक्ष होने से 'अणुवच्च' भी होगा। उदाहरण क्रम से यों हैं:—*अनुव्रजति=पडिअग्गइ* पक्षान्तर में *अणुवच्चइ*=वह अनुसरण करता है, वह पीछे जाती है ॥ ४-१०७ ॥.

अर्जेर्विढवः ॥४-१०८॥

अर्जेर्विढव इत्यादेशो वा भवति ॥ विढवइ । अज्जइ ॥

अर्थः—'उपार्जन करना, पैदा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'अर्ज' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'विढव' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है । वैकल्पिक पक्ष होने से 'अज्ज' भी होगा । उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—

अर्जयति=विढवइ पक्षान्तर में *अज्जइ*=वह उपार्जन करता है, अथवा वह पैदा करती है ॥४-१०८॥

युजो जुञ्ज जुज्ज-जुप्पाः ॥४-१०९॥

युजो जुञ्ज जुज्ज जुप्प इत्यादेशा भवन्ति ॥ जुञ्जइ । जुज्जइ । जुप्पइ ॥

अर्थः—'जोड़ना, युक्त करना' अर्थक संस्कृत धातु 'युज्' के स्थान पर प्राकृत भाषा मे विकल्प से 'जुञ्ज, जुज्ज और जुप्प' ऐसे तीन धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है । वैकल्पिक पक्ष होने से 'जुज' की भी प्राप्ति होगी । जैसे:-युज्यते = (१) *जुञ्जइ*, (२) *जुज्जइ*, (३) *जुप्पइ* पक्षान्तर में *जुजइ*= वह जोड़ता है, वह युक्त करता है ॥ ४-१०९ ॥

भुजो भुञ्ज-जिम-जेम-कम्माण्ह-चमढ-समाण-चड्डाः ॥ ४-११० ॥

भुज एतेऽष्टादेशा भवन्ति ॥ भुञ्जइ । जिमइ । जेमइ । कम्मेइ । अण्हइ । समाणइ चमढइ । चड्डइ ॥.

अर्थः—'भोजन करना, खाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भुज्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा मे विकल्प से आठ (धातु-) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है । (१) भुञ्ज, (२) जिम, (३) जेम, (४) कम्म, (५) अण्ह, (६) चमढ, (७) समाण और (८) चड्ड । वैकल्पिक पक्ष होने से 'भुज' की प्राप्ति होगी । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—*भुनक्ति* (अथवा) *भुङ्क्ते*=(१) *भुञ्जइ*, (२) *जिमइ*, (३) *जेमइ*,

(४) कम्मेइ, (५) अण्हइ, (६) चमढइ, (७) समाणइ, (८) चड्डइ, पक्षान्तर में भुजइ=वह भोजन करता है, वह खाती है ॥ ४-११० ॥

वोपेन कम्मवः ॥ ४-१११ ॥

उपेन युक्तस्य भुजेः कम्मव इत्यादेशो वा भवति ॥ कम्मवइ । उवहुज्जइ ॥

अर्थ—'उप' उपसर्ग सहित भुज् धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'कम्मव' (धातु-) रूप को आदेश प्राप्ति होती है । वैकल्पिक पक्ष होने से 'उवहुज्ज' की भी प्राप्ति होगी । उदाहरण यों है.—*उपभुनक्ति* = *कम्मवइ* अथवा पक्षान्तर में *उवहुज्जइ*=वह उपभोग करता है ॥ ४-१११ ॥

घटे गंढः ॥ ४-११२ ॥

घटते गंढ इत्यादेशो वा भवति ॥ गढइ । घडइ ॥

अर्थ—'बनाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'घट्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'गढ' (धातु-) रूप की आदेश प्राप्ति होती है । वैकल्पिक पक्ष होने से 'घड' की भी प्राप्ति होगी । जैसेः—*घटति* (अथवा घटते) = *गढइ* अथवा घडइ=वह बनाता है ॥ ४-११२ ॥

समो गलः ॥ ४-११३ ॥

सम्पूर्वस्य घटते र्गल इत्यादेशो वा भवति ॥ संगलइ । संघडइ ॥

अर्थ—'सम्=सं' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'घट्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'गल' (धातु-) रूप की आदेश प्राप्ति होती है, यों संस्कृत-धातु 'संघट' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में संगल धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति होगी । 'संघड=भी प्राप्त होगा । जैसेः—*संघटते* = *संगलइ* अथवा संघडइ =वह संघटित करता है, वह मिलाती है ॥ ४-११३ ॥

हासेन स्फुटे मुरः ॥ ४-११४ ॥

हासेन करणेन यः स्फुटिस्तस्य मुरादेशो वा भवति ॥ मुरइ । हासेन स्फुटति ॥

अर्थः—'मुस्कराना, सामान्य रूप से हँसना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्फुट्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'मुर' (धातु-) रूप की आदेश प्राप्ति होती है । पक्षान्तर में 'फुट' की भी प्राप्ति होगी । जैसे.—*हासेन स्फुटति* = *मुरइ* अथवा फुटइ =वह हँसी के कारण से प्रसन्न होता है अथवा खिलती है ॥ ४-११४ ॥

मण्डेश्चिञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिल्ल-रीड-टिविडिक्काः ॥ ४--११५ ॥

मण्डेरेते पञ्चादेशा वा भवन्ति ॥ चिञ्चइ । चिञ्चअइ । चिञ्चिल्लइ । रीडइ । टिविडिक्कइ । मण्डइ ।

अर्थः—'मंडित करना, विभूषित करना शोभा युक्त बनाना' अर्थक संस्कृत--धातु 'मण्डय' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से पाँच धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) चिञ्च, (२) चिञ्चअ, (३) चिञ्चिल्ल, (४) रीड और (५) टिविडिक्क। पक्षान्तर में 'मण्ड' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—*मण्डयति=(१) चिञ्चइ, (२) चिञ्चअइ (३) चिञ्चिल्लइ, (४) रीडइ, (५) टिविडिक्कइ,* पक्षान्तर में *मण्डइ* = वह मंडित करता है, वह शोभा युक्त बनाता है ॥ ४-११५ ॥

तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः ॥ ४--११६ ॥

तुडेरेते नवादेशा वा भवन्ति ॥ तोडइ । तुट्टइ । खुट्टइ । खुडइ । उक्खुडइ । उल्लुक्कइ । णिलुक्कइ । उल्लूरइ । तुडइ ॥

अर्थः—'तोड़ना, खंडित करना, टुकड़ा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'तुड़' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से नव धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) तोड़, (२) तुट्ट, (३) खुट्ट, (४) खुड, (५) उक्खुड, (६) उल्लुक्क, (७) णिलुक्क, (८) लुक्क और (९) उल्लूर। पक्षान्तर में तुड भी होगा। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:— *तुडति=(१) तोडइ, (२) तुट्टइ, (३) खुट्टइ, (४) खुडइ, (५) उक्खुडइ, (६) उल्लुक्कइ, (७) णिल्लुक्कइ, (८) लुक्कइ, (९) उल्लुरइ,* पक्षान्तर में (१०) *तुडइ*=वह तोड़ता है, वह खंडित करता है अथवा वह टुकड़ा करता है ॥ ४-११६ ॥

घूर्णो घुल-घोल-घुम्म-पहल्लाः ॥ ४--११७ ॥

घूर्णेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ घुलइ । घोलइ । घुम्मइ । पहल्लइ ॥

अर्थः—'घूमना, काँपना, डोलना, हिलना' अर्थक संस्कृत-धातु घूर्ण के स्थान पर प्राकृत-भाषा में चार (धातु-) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वे इस प्रकार है:—(१) घुल, (२) घोल, (३) घुम्म और (४) पहल्ल। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—*घूर्णति=(१) घुलइ, (२) घोलइ, (३) घुम्मइ* और *(४) पहल्लइ*=वह घूमता है अथवा वह काँपता है, वह डोलता है वह हिलता है ॥ ४-११७ ॥

विवृतेर्ढंसः ॥ ४--११८ ॥

विवृतेर्ढंस इत्यादेशो वा भवति ॥ ढंसइ । विवट्टइ ॥

अर्थ—'धसना, धसकर रहना, (गिर पड़ना)' अर्थक संस्कृत धातु 'विवृत्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'ढंस' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से विवट्ट भी होगा। जैसे—*विवर्तते=ढंसइ* अथवा *विवट्टइ* = वह धसता है, वह धस कर रहती है (अथवा वह गिर पड़ती है) ॥ ४-११८ ॥

क्वथे रट्टः ॥ ४--११९ ॥

क्वथेरट्ट इत्यादेशो वा भवति ॥ अट्टइ । कढइ ॥

अर्थः—'क्वाथ करना' 'उबालना-पकाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'क्वथ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'अट्ट' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'कढ' की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*क्वथति=अट्टइ* अथवा कढइ=वह क्वाथ करता है—वह उबालता है अथवा वह पकाती है ॥ ४-११९ ॥

ग्रन्थे गण्ठः ॥ ४-१२० ॥

ग्रन्थेर्गण्ठ इत्यादेशो वा भवति ॥ गण्ठइ । गण्ठी ॥

अर्थः—गूँथना रचना, बनाना' अर्थक संस्कृत धातु 'ग्रन्थ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से '*गंठ*' (धातु) रूप की आदेश प्राप्त होता है। पक्षान्तर में '*गंथ*' की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*ग्रथ्नाति=गण्ठइ* अथवा *गथइ*=वह गूँथती है अथवा वह रचना करता है।

संस्कृत स्त्रीलिंगी संज्ञा शब्द '*ग्रन्थि*' का प्राकृत रूपान्तर *गंठी* होगा। 'गंठी' का तात्पर्य है 'गाँठ' अथवा 'जोड़'। 'गण्ठ' धातु से ही गंठी शब्द का निर्माण हुआ है ॥ ४-१२० ॥

मन्थे घुसल-विरोलौ ॥ ४-१२१ ॥

मन्थेर्घुसल विरोल इत्यादेशौ वा भवतः ॥ घुसलइ । विरोलइ । मन्थइ ।

अर्थः—'मथना, विलोड़ना करना' अर्थक संस्कृत धातु 'मथ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'घुसल और विरोल' ऐसे दो धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'मन्थ' की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*मन्थति=घुसलइ, विरोलइ* अथवा *मन्थइ*=वह मथता है, वह मर्दन करता है अथवा वह विलोड़न करती है ॥ ४-१२१ ॥

ह्लादेरवअच्छ: ॥ ४-१२२ ॥

ह्लादते एर्यन्तस्याएयन्तस्य च अवअच्छ इत्यादेशो भवति ॥ अवअच्छइ । ह्लादयति वा ॥ इकारो एयन्तस्यापि परिग्रहार्थः ॥

अर्थः—'आनन्द पाना अथवा खुश होना' अर्थक संस्कृत धातु 'ह्लाद' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'सामान्य कालवाचक क्रिया रूप में' अथवा 'प्रेरणार्थक वाचक क्रिया रूप में' दोनो ही स्थितियों मे केवल 'अवअच्छ' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। 'अप्रेरणार्थक क्रियावाचक रूप' का उदाहरण यों है:—*ह्लादते = अवअच्छइ*=वह आनन्द पाता है, वह खुश होती है। प्रेरणार्थक क्रियावाचक रूप का दृष्टान्त इस प्रकार से है:—*ह्लादयति=अवअच्छइ*=वह आनन्द कराता है, वह खुश कराती है। यों दोनों स्थितियों में प्राकृत भाषा मे उपरोक्त रीति से केवल एक ही धातु रूप होता है।

'इकार' उच्चारण 'सूत्र प्रक्रिया' में प्रेरणार्थक प्रत्यय 'णि' का बोधक अथवा सग्राहक माना जाता है; ऐसा ध्यान मे रखा जाना चाहिये ॥ ४-१२२ ॥

नेः सदो मज्जः ॥ ४-१२३ ॥

निपूर्वस्य सदो मज्ज इत्यादेशो भवति ॥ अत्ता एत्थ णुमज्जइ॥

अर्थः—'नि' उपसर्ग सहित संस्कृत धातु 'सद्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'मज्ज' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*आत्मा अत्र निसीदति=अत्ता एत्थ णुमज्जइ* = आत्मा यहां पर बैठता है ॥ ४-१२३ ॥

छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः ॥ ४-१२४ ॥

छिदेरेते षडादेशा वा भवन्ति । दुहावइ । णिच्छल्लइ । णिज्झोडइ । णिव्वरइ । णिल्लूरइ । लूरइ । पक्षे । छिन्दइ ॥

अर्थः—छेदना, खण्डित करना' अर्थक संस्कृत धातु 'छिद्' के स्थान पर प्राकृत भाषा मे विकल्प मे छह धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) दुहाव, (२) णिच्छल्ल, (३) णिज्झोड, (४) णिव्वर, (५) णिल्लूर और (६) लूर। वैकल्पिक पक्ष होने से 'छिन्द' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण क्रम से यों हैं:—*छिनत्ति=(१) दुहावइ, (२) णिच्छलइ, (३) णिज्झोडइ (४) णिव्वरइ, (५) णिल्लूरइ, (६) लूरइ*। पक्षान्तर में *छिन्दइ*=वह छेदता है अथवा वह खण्डित करती है ॥ ४-१२५ ॥

आङा ओ अन्दोद्दालौ ॥४-१२५ ॥

आङा युक्तस्य छिदेरोअन्द उद्दाल इत्यादेशौ वा भवतः ॥ ओअन्दइ । उद्दालइ । अच्छिन्दइ ॥

अर्थः—'आ' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'छिद्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'ओ अन्द उद्दाल' ऐसे दो धातु-रूपों की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से *अच्छिन्द* की भी प्राप्ति होती है। उदाहरण यों हैं:—*आच्छिनत्ति = ओअन्दइ, उद्दालइ* अथवा *अच्छिन्दइ* = वह खींच लेता है अथवा वह हाथ से छीन लेती है ॥ ४-१२५ ॥

मृदो मल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नाडाः ॥४-१२६॥

मृद्नातेरेते सप्तादेशा भवन्ति ॥ मलइ । मढइ । परिहट्टइ । खड्डइ । चड्डइ । मड्डइ । पन्नाडइ ॥

अर्थः—'मर्दन करना, मसलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'मृद्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में सात धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार हैं—(१) मल, (२) मढ, (३) परिहट्ट, (४) खड्ड, (५) चड्ड, (६) मड्ड और (७) पन्नाड। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—*मृद्नाति = (१) मलइ, (२) मढइ, (३) परिहट्टइ, (४) खड्डइ, (५) चड्डइ, (६) मड्डइ* और *(७) पन्नाडइ* = वह मर्दन करता है अथवा वह मसलती है ॥ ४-१२६ ॥

स्पन्देश्चुलुचुलः ॥ ४-१२७ ॥

स्पन्देश्चुलुचुल इत्यादेशो वा भवति ॥ चुलुचुलइ । फन्दइ ॥

अर्थः—'फरकना, थोड़ा हिलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्पन्द्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'चुलुचुल' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'फन्द' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण यों हैं:—*स्पन्दति = चुलुचुलइ* अथवा फन्दइ = वह फरकती है अथवा वह थोड़ा हिलता है ॥ ४-१२७ ॥

निरः पदेर्वलः ॥ ४-१२८ ॥

निर्पूर्वस्य पदेर्वल इत्यादेशो वा भवति ॥ निव्वलइ । निप्पज्जइ ॥

अर्थः—'निर्' उपसर्ग सहित संस्कृत धातु 'पद्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'निव्वल' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होता है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'निप्पज्ज' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण इस प्रकार है:—*निष्पद्यते=निव्वलइ* अथवा *निप्पज्जइ*=वह निष्पन्न होता है, वह सिद्ध होता है अथवा वह बनती है॥ ४-१२८॥

विसंवदे र्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः ॥ ४-१२९ ॥

विसंपूर्वस्य वदेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति॥ विअट्टइ। विलोट्टइ। फंसइ। विसंवयइ॥

अर्थः—'वि' उपसर्ग तथा 'सं' उपसर्ग, इस प्रकार दोनों उपसर्गों के साथ संस्कृत-धातु 'वद्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार हैं:-(१) विअट्ट, (२) विलोट्ट और (३) फंस। वैकल्पिक पक्ष होने से 'विसंवय' की भी प्राप्ति होगा। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*विसंवदति*=(१) *विअट्टइ*, (२) *विलोट्टइ*, (३) *फंसइ* और (४) *विसंवयइ*=वह अप्रमाणित करता है अथवा वह असत्य साबित करता है॥ ४-१२९॥

शदो झड-पक्खोडौ ॥ ४-१३० ॥

शीयतेरेतावादेशौ भवतः॥ झडइ। पक्खोडइ॥

अर्थः—'झड़ना, टपकना' अर्थक संस्कृत-धातु 'शद्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वे यों है.—(१) झड और (२) पक्खोड। उदाहरण इस प्रकार हैं:—*शीयते*=*झडइ* और *पक्खोडइ*=वह झड़ता है, वह टपकती है, वह धीरे धीरे कम होती है॥ ४-१३०॥

आक्रन्देर्णीहरः ॥ ४-१३१ ॥

आक्रन्देर्णीहर इत्यादेशो वा भवति॥ णीहरइ। अक्कन्दइ॥

अर्थः— आक्रन्दन करना, चिल्लाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'आ+क्रन्द्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'णीहर' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से अक्कन्द भी होगा। जैसे:-*आक्रन्दति*=*णीहरइ* अथवा *अक्कन्दइ*=वह आक्रन्दन करती है अथवा वह चिल्लाता है॥४-१३१॥

खिदेर्जूर-विसूरौ ॥ ४-१३२ ॥

खिदेरेतावादेशौ वा भवतः। जूरइ। विसूरइ। खिज्जइ॥

अर्थः—'खेद करना, अफसोस करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'खिद्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'जूर और विसूर' ऐसे दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष में 'खिज्ज' की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण यों है:-*खिद्यते=(१) जूरइ, (२) विसूरइ* और पक्ष में *खिज्जइ*=वह खेद करता है, वह अफसोस करता है॥ ४-१३२॥

रुधेरुत्थङ्घः ॥ ४-१३३ ॥

रुधेरुत्थङ्घ इत्यादेशो वा भवति ॥ उत्थङ्घइ । रुन्धइ ॥

अर्थः—'रोकना' अर्थक संस्कृत-धातु 'रुध्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'उत्थघ' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'रुन्ध' की भी प्राप्ति होगी। जैसे—*रुणद्धि* = *उत्थंघइ* अथवा *रुन्धइ*=वह रोकता है॥ ४-१३३॥

निषेधेर्हक्कः ॥ ४-१३४ ॥

निषेधतेर्हक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ हक्कइ । निसेहइ ॥

अर्थः—'निषेध करना, निवारण करना' अर्थक संस्कृत धातु 'नि + षिध्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'हक्क' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'निसेह' भी होगा। जैसे:—*निषेधति*=*हक्कइ* अथवा *निसेहइ* = वह निषेध करता है अथवा निवारण करता है॥ ४-१३४॥

क्रुधेर्जूरः ॥ ४-१३५ ॥

क्रुधेर्जूर इत्यादेशो वा भवति ॥ जूरइ । कुज्झइ ।

अर्थः—'क्रोध करना, गुस्सा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'क्रुध' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'जूर' धातु-रूप का आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'कुज्झ' भी होगा। जैसे:—*क्रुध्यति*=जूरइ अथवा *कुज्झइ*=वह क्रोध करता है, वह गुस्सा करता है॥ ४-१३६॥

जनो जा-जम्मौ ॥ ४-१३६ ॥

जायते र्जा जम्म इत्यादेशौ भवतः ॥ जाअइ । जम्मइ ॥

अर्थः—'उत्पन्न होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'जन' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'जा' और 'जम्म' की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—*जायते*=*जाअइ* और *जम्मइ*=वह उत्पन्न होता है। ॥ ४-१३६॥

तनेस्तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाः ॥ ४-१३७ ॥

तनेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ तडइ । तड्डइ । तड्डवइ । विरल्लइ । तणइ ॥

अर्थः—'विस्तार करना, फैलाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'तन के स्थान पर प्राकृत भाषा में चार धातु-रूपों की आदेश-प्राप्ति विकल्प से होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) तड, (२) तड्ड, (३) तड्डव और (४) विरल्ल। वैकल्पिक पक्ष होने से 'तण' भी होगा। उदाहरण क्रम से यों है:— *तनोति*=(१) *तडइ*, (२) *तड्डइ*, (३) *तड्डवइ*, (४) *विरल्लइ*, । पक्षान्तर में *तणइ* =वह विस्तार करता है अथवा वह फैलाती है ॥ ४-१३७ ॥

तृपस्थिप्पः ॥ ४-१३८ ॥

तृप्यते स्थिप्प इत्यादेशो भवति ॥ थिप्पइ ॥

अर्थः—'तृप्त होना, संतुष्ट होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'तृप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'थिप्प' (अथवा थिंप) आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:— *तृप्यति*=*थिप्पइ* (अथवा थिंपइ) = वह तृप्त होती है, वह सन्तुष्ट होता है ॥ ४-१३८ ॥

उपसर्पेरल्लिअः ॥ ४-१३९ ॥

उपपूर्वस्य सृपेः कृतगुणस्य अल्लिअ इत्यादेशो वा भवति ॥ अल्लिअइ । उवसप्पइ ॥

अर्थः—संस्कृत धातु 'सृप्' में स्थित 'ऋकार' स्वर को गुण करके प्राप्त धातु रूप 'सर्प्' के पूर्व में 'उप' उपसर्ग को संयोजित करने पर उपलब्ध धातु रूप 'उपसर्प्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'अल्लिअ' की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'उवसप्प' भी होगा। जैसे:—*उपसर्पति*=*अल्लिअइ* अथवा *उवसप्पइ*=वह पास में-समीप में-जाता है ॥ ४-१३९ ॥

संतपेर्झङ्खः ॥ ४-१४० ॥

संतपे झङ्ख इत्यादेशो वा भवति ॥ झंखइ । पक्षे । संतप्पइ ॥

अर्थः—'संतप्त होना, संताप करना' अर्थक संस्कृत धातु 'सं+तप्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'झंख' की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'संतप्प' भी होगा। जैसे:—*संतपति* =*झंखइ* अथवा *संतप्पइ*=वह संतप्त होता है अथवा वह संताप करता है ॥ ४-१४० ॥

व्यापेरोअग्गः ॥ ४-१४१ ॥

व्याप्नोतेरोअग्ग इत्यादेशो वा भवति ॥ ओअग्गइ । वावेइ ॥

अर्थः—'व्याप्त करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वि + आप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'ओअग्ग' की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'वाव' भी होगा। जैसेः *व्याप्नोति=ओअग्गइ* अथवा *वावेइ* वह व्याप्त करता है ॥ ४-१४१ ॥

समापेः समाणः ॥ ४-१४२ ॥

समाप्नोतेः समाण इत्यादेशो वा भवति ॥ समाणइ । समावेइ ॥

अर्थः—'समाप्त करना, पूरा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'सम् + आप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'समाण' की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'समाव' भी होता है। जैसेः— *समाप्नोति=समाणइ* अथवा *समावेइ*=वह समाप्त करता है अथवा वह पूरा करती है ॥ ४-१४२ ॥

क्षिपे गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः ॥४-१४३॥

क्षिपेरेते नवादेशा वा भवन्ति ॥ गलत्थइ । अड्डक्खइ । सोल्लइ । पेल्लइ । णोल्लइ । ह्रस्वत्वे तु णुल्लइ । छुहइ । हुलइ । परीइ । घत्तइ । खिवइ ॥

अर्थः—'फेंकना, डालना' अर्थक संस्कृत धातु 'क्षिप्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से नव धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं—(१) गलत्थ, (२) अड्डक्ख, (३) सोल्ल, (४) पेल्ल, (५) णोल्ल, (६) छुह, (७) हुल, (८) परी और (९) घत्त। वैकल्पिक पक्ष होने से 'खिव' भी होगा।

उपरोक्त धातुओं में से पाचवीं धातु 'णोल्ल' में स्थित 'ओकार' स्वर को विकल्प से 'ह्रस्वत्व' की की प्राप्ति होने पर वैकल्पिक रूप से 'णोल्ल' के स्थान पर 'णुल्ल' रूप की भी प्राप्ति हुआ करता है। संस्कृत-धातु 'क्षिप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में उक्त ग्यारह प्रकार के धातु-रूप उपलब्ध होते हैं। इनके उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*क्षिपति=(१) गलत्थइ, (२) अड्डक्खइ, (३) सोल्लइ, (४) पेल्लइ, (५) णोल्लइ, (६) णुल्लइ,* (७) *छुहइ,* (८) *हुलइ,* (९) *परीइ,* (१०) *घत्तइ* (११) और *खिवइ*=वह फेंकती है अथवा वह डालता है ॥ ४-१४३ ॥

उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थंघाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवाः ॥ ४-१४४ ॥

उत्पूर्वस्य क्षिपेरेते षडादेशा वा भवन्ति ॥ गुलगुञ्छइ । उत्थंघइ । अल्लत्थइ । उब्भुत्तइ । उस्सिकइ । हक्खुवइ । उक्खिवइ ॥

अर्थः—'उत्' उपसर्ग सहित संस्कृत धातु 'क्षिप्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से छह धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि इस प्रकार हैः—(१) गुलगञ्छ, (२) उत्थंघ, (३) अल्लत्थ, (४) उब्भुत्त, (५) उस्सिक और (६) हक्खुव। वैकल्पिक पक्ष होने से उक्खिव भी होगा। उदाहरण इस प्रकार हैंः—उत्क्षिपति = (१) गुलगुञ्छइ, (२) उत्थंघइ, (३) अल्लत्थइ, (४) उब्भुत्तइ, (५) उस्सिकइ, (६) हक्खुवइ। पक्षान्तर में उक्खिवइ=वह ऊँचा फेंकता है ॥ ४-१४४ ॥

आक्षिपेर्णीरवः ॥ ४-१४५ ॥

आङ् पूर्वस्य क्षिपेर्णीरव इत्यादेशो वा भवति ॥ णीरवइ । अक्खिवइ ।

अर्थः— 'आ' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'क्षिप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'णीरव' की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'अक्खिव' भी होगा। जैसेः— *आक्षिपति = णीरवइ* अथवा *अक्खिवइ* =वह आक्षेप करता है, वह टीका करता है अथवा वह दोषारोपण करता है ॥ ४-१४५ ॥

स्वपेः कमवस-लिस-लोट्टाः ॥ ४-१४६ ॥

स्वपेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ कमवसइ । लिसइ । लोट्टइ । सुअइ ॥

अर्थः— 'सोना अथवा सो जाना, शयन करना' अर्थक संस्कृत धातु 'स्वप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से तीन (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है (१) कमवस, (२) लिस और (३) लोट्ट। वैकल्पिक पक्ष होने से 'सुअ' भी होगा। उदाहरण यों हैंः— *स्वपिति=(१) कमवसइ, (२) लिसइ, (३) लोट्टइ* अथवा *सुअइ* = वह सोता है वह शयन करता है ॥ ४-१४६ ॥

वेपेरायम्बायज्झौ ॥ ४-१४७ ॥

वेपेरायम्ब आयज्झ इत्यादेशौ वा भवतः ॥ आयम्बइ । आयज्झइ । वेवइ ॥

अर्थः— 'कांपना अथवा हिलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वेप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'आयम्ब और आयज्झ' ऐसे दो (धातु+रूपों को आदेश प्राप्ति होती है

वैकल्पिक-पक्ष होने से 'वेव' भी होगा। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैंः—*वेपते=(१) आयम्बइ, (२) आयज्झइ* अथवा *(३) वेवइ*=वह कांपता है, वह हिलता है अथवा वह थरथराता है ॥ ४-१४७॥

विलपेर्झङ्ख–वडवडौ ॥ ४–१४८ ॥

विलपेर्झंख–वडवड इत्यादेशौ वा भवतः ॥ झंखइ । वडवडइ । विलवइ ॥

अर्थः—'विलाप करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वि+लप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा से 'झंख और वडवड' ऐसे दो (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'विलव' भी होगा। जैसे-*विलपति =(१) झंखइ, (२) वडवडइ* और *(३) विलवइ* = वह विलाप करता है, वह जोर जोर से रुदन करता है ॥ ४–१४८ ॥

लिपो लिम्पः ॥ ४–१४९ ॥

लिम्पतें लिम्प इत्यादेशो भवति ॥ लिम्पइ ॥

अर्थः—'लीपना, लेप करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'लिप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'लिम्प' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*लिम्पति = लिम्पइ* = वह लीपती है, वह लेप करता है ॥ ४–१४९ ॥

गुप्येर्विर–णडौ ॥ ४–१५० ॥

गुप्यतेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ विरइ । णडइ । पक्षे । गुप्पइ ॥

अर्थः—'व्याकुल होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'गुप्य के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'विर' और 'णड' ऐसे दो (धातु) रूपों को आदेश प्राप्ति होती हैं। वैकल्पिक पक्ष होने से 'गुप्प' भी होता है। जैसेः—*गुप्यति = विरइ, णडइ* अथवा *गुप्पइ* = वह व्याकुल होता है, वह घबड़ाती है। ॥ ४–१५० ॥

कृपो वहो णिः ॥ ४–१५१ ॥

कृपे अवह इत्यादेशो ण्यन्तो भवति ॥ अवहावेइ । कृपां करोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—'कृपा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'कृप् के स्थान पर 'प्रेरणार्थक प्रत्यय' 'णिच' पूर्वक प्राकृत भाषा में 'अवह + आवे' = अवहावे रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*कृपा करोति* अथवा *कृपते = अवहावेइ* = वह कृपा करता है, वह दया करती है ॥ ४–१५१ ॥

प्रदीपेस्तेअव–सन्दुम–सन्धुक्काब्भुत्ता ॥ ४–१५२ ॥

प्रदीप्यतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ तेअवइ । सन्दुमइ । सन्धुक्कइ । अब्भुत्तइ । पलीवइ ॥

अर्थः—'जलाना, सुलगाना' अथवा 'प्रकाशित होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्र+दीप्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से चार धातु-(रूपों) की आदेश प्राप्ति होती है। (१) तेअव, (२) संदुम, (३) संधुक्क और-(४) अब्भुत्त । वैकल्पिक पक्ष होने से 'पलीव' भी होगा। जैसे:— *प्रदीप्यते,=(१) तेअवइ (२) सन्दुमइ, (३) सन्धुक्कइ, (४) अब्भुत्तइ* पक्षान्तर में *पलीवइ* = वह प्रकाशित होता है अथवा वह जलाती है, वह सुलगाती है ॥ ४-१५२ ॥

लुभेः संभावः ॥ ४--१५३ ॥

लुभ्यतेः संभाव इत्यादेशो वा भवति ॥ संभावइ । लुब्भइ ॥

अर्थः—'लोभ करना, आसक्ति करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'लुभ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'संभाव (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकाल्पिक पक्ष होने से 'लुब्भ' भी होता है। जैसे:— *लुभ्याति = सभावइ* अथवा *लुब्भइ*=वह लोभ करता है, वह आसक्ति करती है ॥ ४-१५३ ॥

क्षुभेः खउर--पड्डुहौ ॥ ४—१५४ ॥

क्षुभेः खउर पड्डुह इत्यादेशौ वा भवतः ॥ खउरइ । पड्डुहइ । खुब्भइ ॥

अर्थः— 'क्षुब्ध होना, डर से विह्वल होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'क्षुभ् के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'खउर तथा पड्डुह' ऐसे दो (धातु) रूपो की आदेश-प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'खुब्भ' भी होता है। जैसे:— *क्षुभ्यति=खउरइ, पड्डुहइ* अथवा *खुब्भइ* = वह क्षुब्ध होता है, वह डर से विह्वल होती है ॥ ४-१५ ॥

आङो रभे रम्भ—ढवौ ॥ ४—१५५ ॥

आङः परस्य रभे रम्भ ढव इत्यादेशौ वा भवतः ॥ आरम्भइ । आढवइ । आरभइ ॥

अर्थः—'आ' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'रभ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'आरम्भ और आढव' ऐसे दो (धातु) रूपों की आदेश प्राप्त होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'आरभ' भी होता है। जैसे:-- *आरभते=(१) आरम्भइ, (२) आढवइ*, और (३) *आरभइ*=वह आरम्भ करता है, वह शुरु करती है ॥ ४-१५५ ॥

उपालम्भे झङ्ख–पच्चार–वेलवाः ॥ ४--१५६ ॥

उपालम्भेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ झंखइ । पच्चारइ । वेलवइ । उवालम्भइ ॥

अर्थः—'उपालम्भ देना, उलहना देना, ठपका देना' अर्थक संस्कृत-धातु 'उपा + लभ् के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से तीन (धातु) रूपों को आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है :—(१) झङ्ख, (२) पच्चार, और (३) वेलव। वैकल्पिक पक्ष होने से 'उवालम्भ' भी होता है;—*उपालम्भते=[१] झंखइ, [२] पच्चारइ, [३] वेलवइ* पक्षान्तर में *उवालम्भइ* = वह उपालम्भ देता है अथवा वह उलहना देता है ॥ ४–१५६ ॥

अवेर्जृम्भो जम्भा ॥ ४--१५७ ॥

जृम्भेर्जम्भा इत्यादेशो भवति वेस्तु न भवति ॥ जम्भाइ । जम्भाअइ । अवेरिति किम् । केलि–पसरो विअम्भइ ॥

अर्थः—'जँभाइ लेना' अर्थक संस्कृत-धातु 'जृम्भ के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'जम्भा अथवा जम्भाअ' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः— *जृम्भते = जम्भाइ* अथवा *जम्भाअइ* = वह जम्भाई लेता है।

उपरोक्त संस्कृत-धातु 'जृम्भ' में यदि 'वि' उपसर्ग जुड़ा हुआ हो तो 'जृम्भ' के स्थान पर पर 'जम्भा अथवा जम्भाअ' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे समय में 'वि + जृम्भ' संस्कृत धातु-रूप का प्राकृत-रूपान्तर 'विअम्भ' होगा। ऐसी स्थिति होने के कारण वि उपसर्ग का 'विधि-निषेध' प्रदर्शित किया गया है । जैसेः— *केलि-प्रसरः विजृम्भते = केलि-पसरो विअम्भइ* = कदली-पौधा का फैलाव विकसित होता है ॥ ४– ५७ ॥

भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढः ॥ ४--१५८ ॥

भाराक्रान्ते कर्तरि नमेर्णिसुढ इत्यादेशो भवति ॥ णिसुढइ । पक्षे । णवइ । भाराक्रान्तो नमतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'भार से आक्रान्त होकर-दबाव पड़कर-नीचे नमना' अर्थक संस्कृत-धातु 'नम्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'णिसुढ' (धातु रूप) की आदेश प्राप्ति होती है । जैसेः— *भाराक्रान्तो नमति = णिसुढइ* = बोझ के कारण से वह नमता है, अथवा झुकता है । कभी कभी इसी अर्थ में 'नम' का 'णव' ऐसा प्राकृत-रूपान्तर भी कर लिया जाता है। जैसे —*नमति = णवइ* ॥ ४–१५८ ॥

विश्रमे णिव्वा ॥ ४-१५६ ॥

विश्राम्यते णिव्वा इत्यादेशो वा भवति ॥ णिव्वाइ ॥ वीसमइ ॥

अर्थः—'विश्राम करना, थकने पर आराम करना' अर्थक संस्कृत धातु 'वि + श्रम् = विश्राम्य के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'णिव्वा' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'वीसम' भी होता है। जैसेः-*विश्राम्यति = णिव्वाइ* अथवा *वीसमइ* वह विश्राम करता है॥ ४-१५६ ॥

आक्रमेरोहा वोत्थार च्छुन्दाः ॥ ४-१६० ॥

आक्रमतेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ ओहावइ । उत्थारइ । छुन्दइ । अक्कमइ ॥

अर्थः—'आक्रमण करना, हमला करना अर्थक संस्कृत धातु 'आ + क्रम' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से तीन (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) ओहाव, (२) उत्थार, और (३) छुन्द। वैकल्पिक पक्ष होने से 'अक्कम' भो होता है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:— *आक्रमते = (१) ओहावइ, (२) उत्थारइ,* (३) *छुन्दइ* पक्षान्तर में *अक्कमइ* = वह आक्रमण करता है वह हमला करता है ॥ ४-१६० ॥

भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुंढुल्ल-ढंढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तल-अंट-झंट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः ॥ ४-१६१ ॥

भ्रमेरेतेष्टादशादेशा वा भवन्ति ॥ टिरिटिल्लइ । ढुन्ढुल्लइ । ढंढल्लइ । चक्कम्मइ । भम्मडइ । भमडइ । भमाडइ । तलअंटइ । झंटइ । झंपइ । भुमइ । गुमइ । फुमइ । फुसइ । ढुमइ । ढुसइ । परीइ । परइ । भमइ ॥

अर्थ—'घूमना, फिरना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भ्रम' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से अठारह (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है :— (१) टिरिटि ल, (२) ढुन्ढुल्ल, (३) ढंढल्ल, (४) चक्कम्म, (५) भम्मड, (६) भमड, (७) भमाड, (८) तलअंट, (९) झंट, (१०) झंप, (११) भुम, (१२) गुम, (१३) फुम, (१४) फुस, (१५) ढुम, (१६) ढुस, (१७) परी और (१८) पर। वैकल्पिक पक्ष होने से 'भम' भो होता है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है :— *भ्रमति = (१) टिरिटिल्लइ, (२) ढुंढुंल्लइ, (३) ढंढल्लइ, (४) चक्कम्मइ, (५) भम्मडइ, (६) भमडइ, (७) भमाडइ, (८) तल अंटइ, (९) झंटइ, (१०) झंपइ, (११) भुमइ, (१२) गुमइ, (१३) फुमइ, (१४) फुसइ, [१५] ढुमइ, [१६] ढुसइ [१७] परीइ, [१८] परइ;* पक्षान्तर में *भमइ*=वह घूमती है, वह फिरता है। ॥ ४-१६१ ॥

गमेरइ-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द
णिम्मह-णी-णीणणीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-
परिअल णिरिणास णिवहावसेहावहरा ॥ ४-१६२ ॥

गमेरेते एकविंशतिरादेशा वा भवन्ति ॥ अईइ । अइच्छइ । अणुवज्जइ । अवज्जसइ । उक्कुसइ । अक्कुसइ । पच्चड्डइ । पच्छन्दइ । णिम्महइ । णीइ । णीणइ । णीलुक्कइ । पदअइ । रम्भइ । परिअल्लइ । वोलइ । परिअलइ । णिरिणासइ । णिवहइ । अवसेहइ । अवहरइ । पक्षे । गच्छइ । हम्मइ । णिहम्मइ । णीहम्मइ । आहम्मइ । पहम्मइ । इत्येते तु हम्म गताविस्यस्यैव भविष्यन्ति ॥

अर्थः—'गमन करना, जाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'गम्=गच्छ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में इक्कीस (धातु) रूपों की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:— (१) अई, (२) अइच्छ, (३) अणुवज्ज, (४) अवज्जस, (५) उक्कुस, (६) अक्कुस, (७) पच्चड्ड, (८) पच्छन्द, (९) णिम्मह, (१०) णी, (११) णीण, (१२) णीलुक्क, (१३) पदअ, (१४) रम्भ, (१५) परिअल्ल, (१६) वोल, (१७) परिअल, (१८) णिरिणास, (१९) णिवह, (२०) अवसेह, और (२१) अवहर।

वैकल्पिक पक्ष होने से 'गच्छ' भी होता है। उक्त बावीस प्रकार के धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है :—

गच्छति=(१) अईइ. (२) अइच्छइ, (३) अणुवज्जइ, (४) अवज्जसइ, (५) उक्कुसइ, (७) अक्कुसइ, (७) पच्चड्डइ, (८) पच्छन्दइ, (९) णिम्महइ, (१०) णीइ, (११) णीणइ, (१२) णीलुक्कइ, (१३) पदअइ, (१४) रम्भइ, (१५) परिअल्लइ, (१६) वोलइ, (१७) परिअलइ, (१८) णिरिणासइ, (१९) णिवहइ, (२०) अवसेहइ, (२१) अवहरइ, और (२२) गच्छइ=वह गमन करता है अथवा वह गमन करती है।

संस्कृत-भाषा में 'गमन करना, जाना' अर्थक 'हम्म' ऐसी एक और धातु है इसके आधार से प्राकृत-भाषा में भी 'जाना' अर्थ में 'हम्म' धातु रूप का प्रयोग देखा जाता है:—*हम्मति=हम्मइ*=वह जाता है अथवा वह गमन करती है।

उपरोक्त 'हम्म' धातु के पूर्व में क्रम से णि, णी, आ, और प, उपसर्गों की संयोजना कर के इसी 'जाना-अर्थ में' चार (धातु) रूपों का और भी निर्माण कर लिया जाता है, जो कि क्रम से इस प्रकार है :— (१) णिहम्म, (२) णीहम्म, (३) आहम्म, और (४) पहम्म। इनके उदाहरण इस प्रकार है :—

[१] निहम्मति = णिहम्मइ = वह जाती है अथवा वह गमन करता है। *[२] निर्हम्मति= णीहम्मइ* वह निकलती है अथवा वह बाहर जाता है। *[३] आहम्मति = आहम्मइ* = वह आता है अथवा वह आगमन करता है। *प्रहम्मति = पहम्मइ*=वह तेज गति से जाता है, वह शीघ्रता पूर्वक गवन करता है। इस प्रकार से 'जाना अर्थक हम्म धातु के विभिन्न प्रयोगों को समझ लेना चाहिये ॥ ४-१६२ ॥

आङा अहिपच्चुअः ॥ ४-१६३ ॥

आङा सहितस्य गमेः अहिपच्चुअ इत्यादेशो वा भवति ॥ अहिपच्चुअइ । पक्षे । आगच्छइ ॥

अर्थः—'आ' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'गम्=गच्छ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से अहिपच्चुअ (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'आगच्छ' भी होता है। जैसे:- *आगच्छति = अहिपच्चुअइ* अथवा *आगच्छइ* = वह आता है ॥ ४-१६० ॥

समा अब्भिडः ॥ ४-१६४ ॥

समायुक्तस्य गमेः अब्भिड इत्यादेशो वा भवति ॥ अब्भिडइ । संगच्छइ ॥

अर्थः—'सं' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'गम=गच्छ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'अब्भिड' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'संगच्छ' भी होता है। जैसे :— *संगच्छति = अब्भिडइ* अथवा *संगच्छइ* = वह संगति करता है अथवा वह मिलती है ॥ ४-१६४ ॥

अभ्याङोम्मत्थः ॥ ४-१६५ ॥

अभ्याङ्भ्यां युक्तस्य गमेः उम्मत्थः इत्यादेशो वा भवति ॥ उम्मत्थइ । अब्भागच्छइ । अभिमुखमागच्छतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'अभि' उपसर्ग तथा 'आ' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'गम् = गच्छ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से उम्मथ (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'अब्भागच्छ' भी होता है। जैसे :— *अभ्यागच्छति = उम्मत्थइ* अथवा *अब्भागच्छइ* =वह सामने आता है, वह अभिमुख आता है ॥ ४-१६५ ॥

प्रत्याङा पलोट्टः ॥ ४-१६६ ॥

प्रत्याङ्भ्यां युक्तस्य गमेः पलोट्ट इत्यादेशो वा भवति ॥ पलोट्टइ । पच्चागच्छइ ॥

अर्थः—'प्रति' उपसर्ग और 'आ' उपसर्ग सहित संस्कृत-धातु 'गम्=गच्छ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'पलोट्ट' (धातु) रूप की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में संस्कृत-धातु-रूप 'प्रति+आ+गम्=प्रत्यागच्छ्' का प्राकृत-रूपान्तर 'पच्चागच्छ' भी होता है। जैसेः—*प्रत्यागच्छति=पलोट्टइ* अथवा *पच्चागच्छइ*=वह लौटता है अथवा वह वापिस आती है॥ ४-१६६॥

शमेः पडिसा-परिसामौ॥ ४-१६७॥

शमेरेतावादेशौ वा भवतः॥ पडिसाइ। परिसामइ। समइ॥

अर्थः—'शान्त होना, क्षुब्ध नहीं होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'शम्=शाम्य' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'पडिसा और परिसाम' की आदेश प्राप्ति होती है। 'सम' भी होता है। तीनों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैंः—*शाम्यति=पडिसाइ, परिसामइ* और *समइ*=वह शान्त होता है अथवा वह क्षुब्ध नहीं होता है॥ ४-१६७॥

रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः॥ ४-१६८॥

रमतेरेतेष्टादेशा वा भवन्ति॥ संखुड्डइ। खेड्डइ। उब्भावइ। किलिकिञ्चइ। कोट्टुमइ। मोट्टायइ। णीसरइ। वेल्लइ। रमइ।

अर्थ.—'क्रीडा करना खेलना' अर्थक संस्कृत धातु 'रम्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से आठ धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैंः—(१) संखुड्ड, (२) खेड्ड, (३) उब्भाव, (४) किलिकिञ्च, (५) कोट्टुम, (६) मोट्टाय, (७) णीसर और (८) वेल्ल। वैकल्पिक पक्ष होने से 'रम' भी होता है। उक्त 'खेलना' अर्थक नव ही धातु रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैंः—रमते=(१) संखुड्डइ, (२) खेड्डइ, (३) उब्भावइ, (४) किलिकिञ्चइ, (५) कोट्टुमइ, (६) मोट्टायइ, (७) णीसरइ (८) वेल्लइ और (९) रमइ=वह खेलता है अथवा वह क्रीड़ा करता है॥ ४-१६८॥

पूरेरग्घाडाग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः॥ ४-१६९॥

पूरेरेतेपञ्चादेशा वा भवन्ति॥ अग्घाडइ। अग्घवइ। उद्धुमाइ। अंगुमइ। अहिरेमइ। पूरइ॥

अर्थः—'पूर्ति करना, पूरा करना' अर्थक संस्कृत धातु 'पूर्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से पाच धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैंः—(१) अग्घाड, (२) अग्घव,

(३) उद्धुमा, (४) अंगुम और (५) अहिरेम। वैकल्पिक पक्ष होने से 'पूर' भी होता है। उक्त छह ही धातुओं के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*पूरयति=(१)अग्घाडइ, (२) अग्घवइ, (३) उद्धुमाइ (४) अंगुमइ, (५) अहिरेमइ* और *(६) पूरइ*=वह पूर्ति करता है अथवा वह पूरा करता है ॥ ४-१६९ ॥

त्वरस्तुवर-जअडौ ॥ ४-१७० ॥

त्वरतेरेतावादेशौ भवतः ॥ तुवरइ । जअडइ । तुवरन्तो । जअडन्तो ॥

अर्थः—'त्वरा करना, शीघ्रता करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'त्वर' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में तुवर और जअड' ऐसे दो धातु-रूपों को आदेश प्राप्ति होता है। इन दोनों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—(*त्वरयति* अथवा) *त्वरते=तुवरइ* अथवा *जअडइ*=वह शीघ्रता करता है, वह जल्दी करता है। इसी धातु का वर्तमान कृदन्त का उदाहरण इस प्रकार है:—*त्वरन्=तुवरन्तो* अथवा *जअडन्तो*=शीघ्रता करता हुआ, उतावल करता हुआ ॥ ४-१७० ॥

त्यादिशत्रोस्तूरः ॥ ४-१७१ ॥

त्वरतेस्त्यादौ शतरि च तूर इत्यादेशो भवति ॥ तूरइ । तूरन्तो ॥

अर्थः—'त्वरा करना, शीघ्रता करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'त्वर' के आगे काल बोधक प्रत्यय 'ति=इ' आदि होने पर अथवा वर्तमान कृदन्त बोधक प्रत्यय 'शतृ=अत=न्त अथवा माण' होने पर 'त्वर' का प्राकृत रूपान्तर आदेश रूप से 'तूर' होता है। जैसे:—*त्वराति* अथवा *त्वरते=तूरइ*=वह जल्दी करता है, वह शीघ्रता करता है। *त्वरन्=तूरन्तो* (अथवा *तूरमाणो*) जल्दी करता हुआ। यों 'तूर' के अन्य रूपों की भी स्वयमेव साधना कर लेना चाहिये ॥ ४-१७१ ॥

तुरो त्यादौ ॥ ४-१७२ ॥

त्वरो त्यादौ तुर आदेशो भवति ॥ तुरिओ । तुरन्तो ॥

अर्थः—'शीघ्रता करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'त्वर' के स्थान पर प्राकृत-भषा में 'ति=इ' आदि काल बोधक प्रत्यय तथा कृदन्त आदि बोधक प्रत्यय आगे रहने पर 'तुर' आदेश की प्राप्ति होती है। जैसे:—*त्वरितः=तुरिओ*=शीघ्रता किया हुआ। *त्वरन्=तुरन्तो*=शीघ्रता करता हुआ। यों अन्य रूपों की भी स्वयमेव कल्पना कर लेना चाहिये ॥ ४-१७२ ॥

क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः ॥ ४-१७३ ॥

क्षरेरेते षड् आदेशा भवन्ति ॥ खिरइ। झरइ। पज्झरइ। पच्चडइ। णिच्चलइ। णिट्टुअइ ॥

अर्थः—'गिरना, गिर पड़ना, टपकना, झरना' अर्थक संस्कृत-धातु 'क्षर्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में छह धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) खिर, (२) झर, (३) पज्झर, (४) पच्चड, (५) णिच्चल और (६) णिट्टुअ। इनके उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—क्षरति=(१) खिरइ, (२) झरइ (३) पज्झरइ, (४) पच्चडइ, (५) णिच्चलइ और (६) णिट्टुअइ=वह गिर पड़ता है, वह टपकता है अथवा वह झरता है ॥ ४-१७३ ॥

उच्छल उत्थल्लः ॥ ४-१७४ ॥

उच्छलतेरुत्थल्ल इत्यादेशो भवति ॥ उत्थल्लइ ॥

अर्थः—'उछलना, कूदना' अर्थक संस्कृत-धातु 'उत् + शल्=उच्छल्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'उत्थल्ल' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—उच्छलति=उत्थल्लइ=वह उछलता है अथवा वह कूदता है ॥ ४-१७४ ॥

विगलेस्थिप्प-णिट्टुहौ ॥ ४-१७५ ॥

विगलतेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ थिप्पइ। णिट्टुहइ। विगलइ ॥

अर्थः—'गलजाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वि + गल्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'थिप्प और णिट्टुह' ऐसे दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। पक्षान्तर में 'विगल' भी होता है। तीनों धातु रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—विगलति=(१) थिप्पइ, (२) णिट्टुहइ, और (३) विगलइ=वह गल जाता है, वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ ४-१७५ ॥

दलि-वल्यो विसट्ट-वम्फौ ॥ ४-१७६ ॥

दले वलेश्च यथासंख्यं विसट्ट वम्फ इत्यादेशौ वा भवतः ॥ विसट्टइ। वम्फइ। पक्षे। दलइ। वलइ ॥

अर्थः—'फटना, टूटना, टुकड़े-टुकड़े होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'दल्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'विसट्ट' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'दल' भी होता है। दोनों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से यों है —दलति = विसट्टइ अथवा दलइ=वह फटता है, वह टूट है अथवा वह टुकड़े टुकड़े होता है।

'लौटना, वापिस आना, अथवा मुड़ना टेढ़ा होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वल' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'वम्फ' धातु-रूप को आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'वल' भी होता है। दोनों धातु- रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:— *वलति* = *वम्फइ* अथवा *वलइ* = वह लौटता है अथवा वह टेढ़ा होता है ॥ ४-१७६ ॥

भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-मुल्लाः ॥ ४--१७७ ॥

भ्रंशेरेते षडादेशा वा भवन्ति ॥ फिडइ । फिट्टइ। फुडइ । फुट्टइ । चुक्कइ । मुल्लइ । पक्षे । भंसइ ।

अर्थः—'फूटना, फटना, टूटना अथवा नष्ट होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भ्रंश' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से छह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:— (१) फिड, (२) फिट्ट, (३) फुड, (४) फुट्ट, (५) चुक्क, और (६) मुल्ल। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में संस्कृत-धातु-रूप 'भ्रंश' का प्राकृत-रूपान्तर 'भंस' भी होता है। उक्त सातों प्रकार के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है। *भ्रश्यते* (अथवा *भ्रंश्यति*) = *[१] फिडइ, [२] फिट्टइ, [३] फुडइ, [४] फुट्टइ, [५] चुक्कइ, [६] मुल्लइ* और *[७] भंसइ* = वह फूटता है, वह फटता है टूटता है अथवा वह नष्ट-भ्रष्ट होता है ॥ ४-१७७ ॥

नशेर्णिरणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः ॥ ४--१७७ ॥

नशेरेते षडादेशा वा भवन्ति ॥ णिरणासइ । णिवहइ । अवसेहइ । पडिसा । सेहइ । अवहरइ । पक्षे । नस्सइ ॥

अर्थः—'पलायन करना भागना' अर्थक संस्कृत धातु 'नश' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से छह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है।:— (१) णिरणास (२) णिवह, (३) अवसेह, (४) पडिसा, (५) सेह और (६) अवहर। वैकल्पिक पक्ष होने से 'नस्स' भी होता है। यों उक्त एकार्थक सातों धातु रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है :—*नश्यति* = *[१] णिरणासइ, [२] णिवहइ, [३] अवसेहइ, [४] पडिसाइ, [५] सेहइ, [६] अवहरइ* और *[७] नस्सइ*=वह पलायन करता है अथवा वह भागता है ॥ ४-१७८ ॥

अवात्काशोवासः ॥ ४--१७९ ॥

अवात् परस्य काशो वास इत्यादेशो भवति ॥ ओवासइ ॥

अर्थः—'अव' उपसर्ग के साथ रही हुई संस्कृत-धातु 'काश' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'अव + काश' का 'ओवास' रूपान्तर होता है। जैसे:—*अवकाशति = ओवासइ*=वह शोभा है अथवा वह विराजित होता है ॥ ४-१७९ ॥

संदिशेरप्पाहः ॥ ४-१८० ॥

संदिशतेरप्पाह इत्यादेशो वा भवति ॥ अप्पाहइ । संदिसइ ॥

अर्थः—'संदेश देना, खबर पहुँचाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'सं + दिश्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'अप्पाह' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'संदिस' भी होता है। जैसे:—*संदिशति = अप्पाहइ* अथवा *संदिसइ*=वह संदेश देता है अथवा वह खबर पहुँचाता है। ॥ ४-१८० ॥

दृशो निअच्छ पेच्छ अवयच्छ अवयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्ख-ओअक्खावक्खावअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निअ अवआस-पासाः ॥ ४-१८१ ॥

दृशेरेते पञ्चदशादेशा भवन्ति ॥ निअच्छइ । पेच्छइ । अवयच्छइ । अवयज्झइ । वज्जइ । सव्ववइ । देक्खइ । ओअक्खइ । अवक्खइ । अवअक्खइ । पुलोएइ । पुलएइ । निअइ । अवआसइ । पासइ ॥ निज्झाअइ इति तु निध्यायते स्वरादत्यन्ते भविष्यति ॥

अर्थः—'देखना' अर्थक संस्कृत-धातु 'दृश् = पश्य' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में पन्द्रह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) निअच्छ, (२) पेच्छ, (३) अवयच्छ, (४) अवयज्झ, (५) वज्ज, (६) सव्वव, (७) देक्ख, (८) ओअक्ख, (९) अवक्ख, (१०) अवअक्ख, (११) पुलोए, (१२) पुलए, (१३) निअ, (१४) अवआस, और (१५) पास ॥

प्राकृत-धातु 'निज्झा' की प्राप्ति तो संस्कृत-धातु 'नि + ध्यै' के आधार से होती है। उक्त रूप से प्राप्त प्राकृत-धातु 'निज्झा' आकारान्त होने से स्वरान्त है और इसलिये सूत्र संख्या ४-२४० से इसमें काल-बोधक प्रत्ययों की संयोजना करने के पूर्व विकल्प से 'अ' विकरण प्रत्यय की प्राप्ति होती है। इस धातु का काल बोधक प्रत्यय सहित उदाहरण इस प्रकार है:—*निध्यायति=निज्झाअइ* (अथवा *निज्झाइ*) = वह देखता है अथवा वह निरीक्षण करता है।

'दृश् = पश्य' के स्थान पर आदेश प्राप्त पन्द्रह धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*पश्यति* = (१) *निअच्छइ*, (२) *पेच्छइ*, (३) *अवयच्छइ*, (४) *अवयज्झइ*, (५) *वज्जइ*, (६) *सव्ववइ*, (७) *देक्खइ*, (८) *ओअक्खइ*, (९) *अवक्खइ*, (१०) *अवअक्खइ*, (११) *पुलोएइ*, (१२) *पुलएइ*, (१३) *निअइ*, (१४) *अवआसइ*, और (१५) *पासइ*=वह देखता है ॥ ४-१८१ ॥

स्पृशः फास-फंस-फरिस-छिव-छिहालुंखालिहाः ॥ ४-१८२ ॥

स्पृशतेरेते सप्त आदेशा भवन्ति ॥ फासइ । फंसइ । फरिसइ । छिवइ । छिहइ । आलुंखइ । आलिहइ ॥

अर्थः—'स्पर्श करना, छूना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्पृश' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में सात धातुओं की आदेश प्राप्ति होती है। वे क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) फास, (२)फंस, (३) फरिस, (४)छिव (५) छिह (६) आलुंख और (७) आलिह। उक्त सातों एकार्थक धातुओं के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—*स्पृशति*=(१) *फासइ*, (२) *फंसइ*, (३) *फरिसइ*, (४) *छिवइ*, (५) *छिहइ*, (६) *आलुंखइ*, और (७) *आलिहइ*=वह छूता है अथवा वह स्पर्श करता है ॥ ४-१८२ ॥

प्रविशे रिअः ॥ ४-१८३ ॥

प्रविशेः रिअ इत्यादेशो वा भवति ॥ रिअइ । पविसइ ॥

अर्थः—'प्रवेश करना, पैठना, घुसना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्र+विश्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'रिअ' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'पविस' भी होता है। जैसे:—*प्रविशति*=*रिअइ* अथवा *पविसइ* वह प्रवेश करता है, वह घुसता है, वह अंदर जाता है ॥ ४-१८३ ॥

प्रान्मृश-मुषोर्म्हुसः ॥ ४-१८४ ॥

प्रात्परयो र्मृशति मुष्णात्योर्म्हुस इत्यादेशो भवति ॥ पम्हुसइ । प्रमृशति । प्रमुष्णाति वा ॥

अर्थः—'प्र' उपसर्ग सहित 'स्पर्श करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्र+मृश्' के स्थान पर तथा 'प्र' उपसर्ग सहित 'चोरना, चोरी करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्र+मुष्' के स्थान पर यों दोनो धातुओं के स्थान पर प्राकृत भाषा में केवल एक ही धातु-रूप 'पम्हुस' को आदेश प्राप्ति होती है। द्वि अर्थक प्राकृत-धातु 'पम्हुस' का प्रासंगिक अर्थ संदर्भ के अनुसार कर लिया जाना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार है:—*प्रमृशति*=*पम्हुसइ*=वह स्पर्श करता है अथवा वह छूता है। *प्रमुष्णाति*=*पम्हुसइ*=वह चोरता है अथवा वह चोरी करता है। यों प्रसंगानुसार अर्थ को समझ लेना चाहिये ॥ ४-१८४ ॥

पिषे र्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डाः ॥ ४-१८५ ॥

पिषेरेते पञ्चादेशा भवन्ति वा ॥ णिवहइ । णिरिणासइ । णिरिणज्जइ । रोञ्चइ । चड्डइ । पक्षे । पीसइ ॥

अर्थः—'पीसना, चूर्ण करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'पिष्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से पाच धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है— (१) णिवह, (२) णिरिणास, (३) णिरिणज्ज, (४) रोञ्च और (५) चड्ड। वैकल्पिक पक्ष होने से 'पीस' भी होता है। उक्त छह धातुओं के उदाहरण इस प्रकार हैं :—*पिनष्टि = [१] णिवहइ, [२] णिरिणासइ, [३] णिरिणज्जइ, [४] रोञ्चइ, [५] चड्डइ* और *[६] पीसइ* = वह पीसता है अथवा वह चूर्ण करता है। ॥ ४-१८५ ॥

भषे र्भुक्कः ॥ ४-१८६ ॥

भषे र्भुक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ भुक्कइ । भसइ ।

अर्थ—'भूंकना, कुत्ते का बोलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भष्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'भुक्क' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'भस' भी होता है जैसे— *भषति = भुक्कइ* अथवा *भसइ* = वह (कुत्ता) भूंकता है ॥ ४-१८६ ॥

कृषेः कड्ढ-साअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः ॥ ४-१८७ ॥

कृषेरेते षडादेशा वा भवन्ति ॥ कड्ढइ । साअड्ढइ । अञ्चइ । अणच्छइ । अयञ्छइ । आइञ्छइ । पक्षे । करिसइ ।

अर्थः—खेती करना, अथवा खींचना' अर्थक संस्कृत-धातु 'कृष' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से छह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है (१) कड्ढ, (२) साअड्ढ (३) अञ्च, (४) अणच्छ, (५) अयञ्छ और (६) आइञ्छ। वैकल्पिक पक्ष होने से 'करिस' भी होता है। उक्त एकार्थक सातों धातुओं के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं—*कर्षति = [१] कड्ढइ, [२] साअड्ढइ, [३] अञ्चइ, [४] अणच्छइ, [५] अयञ्छइ, [६] आइञ्छइ* और *[७] करिसइ* = वह खींचता है अथवा वह खेती करता है ॥ ४-१८७ ॥

असावक्खोडः ॥ ४-१८८ ॥

असि विषयस्य कृषेरक्खोड इत्यादेशो भवति ॥ अक्खोडेइ । असिं कोशात् कर्षतीत्यर्थः ॥

अर्थः—'तलवार को म्यान में से खींचना' इस अर्थक संस्कृत-धातु 'कृष' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'अक्खोड' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः— *कर्षति = अक्खोडेइ* = वह तलवार को म्यान में से) खींचता है ॥ ४-१८८ ॥

गवेषेर्ढुंढुल्ल-ढण्ढोल-गमेस-घत्ताः ॥ ४-१८९ ॥

गवेषेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ ढुंढुल्लइ । ढंढोलइ । गमेसइ । घत्तइ । गवेसइ ॥

अर्थः—'ढूँढना, खोजना, अन्वेषण करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'गवेष् = गवेषय' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से चार धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:— (१) ढुंढुल्ल, (२) ढंढोल, (३) गमेस और (४) घत्त। वैकल्पिक पक्ष होने से 'गवेस' भी होता है। जैसे:— *गवेषयति* = (१) *ढुंढुल्लइ*, (२) *ढंढोलइ*, (३) *गमेसइ*, (४) *घत्तइ*, और (५) *गवेसइ* = वह ढूंढता है, वह खोजता है अथवा वह अन्वेषण करता है ॥ ४-१८९ ॥

श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः ॥ ४-१९० ॥

श्लिष्यतेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ सामग्गइ । अवयासइ । परिअन्तइ । सिलेसइ ॥

अर्थः—'आलिंगन करना, गले लगाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'श्लिष्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) सामग्ग, (२) अवयास और (३) परिअन्त। वैकल्पिक पक्ष होने से 'सिलेस' भी होता है। उक्त चारों एकार्थक धातुओं के उदाहरण यों है:—*श्लिष्यति* = (१) *सामग्गइ*, (२) *अवयासइ*, (३) *परिअन्तइ* और (४) *सिलेसइ* = वह आलिंगन करता है अथवा वह गले लगता है ॥ ४-१९० ॥

म्रक्षेश्चोप्पडः ॥ ४-१९१ ॥

म्रक्षेश्चोप्पड इत्यादेशो वा भवति ॥ चोप्पडइ । मक्खइ ॥

अर्थः—'स्निग्ध करना अथवा घी तेल आदि लगाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'म्रक्ष' के स्थान पर प्राकृत-भाषा मे विकल्प से 'चोप्पड' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'मक्ख' भी होता है जैसे:—*म्रक्षति* = *चोप्पडइ* अथवा *मक्खइ* = वह स्निग्ध करता है अथवा वह घी तेल आदि लगाता है ॥ ४-१९१ ॥

कांक्षेराहाहिलंघाहिलंख-वच्च-वम्फ-मह-सिह-विलुम्पाः ॥ ४-१९२ ॥

कांक्षतेरेतेऽष्टादेशा वा भवन्ति ॥ आहइ । अहिलंघइ । अहिलंखइ । वच्चइ । वम्फइ । महइ । सिहइ । विलुंपइ । कंखइ ॥

अर्थः—'चाहना, अभिलाषा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'कांक्ष्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से आठ धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार है:—(१) आह,

(२)अहिलघ, (३)अहिलख, (४)वच्च (५)वम्फ, (६)मह,(७)सिह और (८)विलुम्प। वैकल्पिक पक्ष होने से 'कख' भी होता है। यों उक्त एकार्थक नव धातु-रूपों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—*कांक्षति* = (१) *आहइ*, (२) *अहिलंघइ*, (३) *अहिलंखइ* (४)*वच्चइ*, (५)*वम्फइ*, (६)*महइ*, (७)*सिहइ*, (८)*विलुम्पइ* और (९)*कंखइ* = वह इच्छा करता है, वह चाहना करता है अथवा वह अभिलाषा करता है॥४-१९२॥

प्रतीक्षेः सामय--विहीर--विरमालाः ॥ ४--१९३ ॥

प्रतीक्षेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ सामयइ। विहीरइ। विरमालइ। पडिक्खइ ॥

अर्थ—'राह देखना, वाट जोहना अथवा प्रतीक्षा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'प्रति + ईक्ष्' = प्रतीक्ष' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं.—(१) सामय, (२) विहीर, और (३) विरमाल। वैकल्पिक पक्ष होने से 'पडिक्ख' भी होता है। चारों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से यों हैं:—*प्रतीक्षते* = (१)*सामयइ*, (२)*विहीरइ*, (३)*विरमालइ*, और (४)*पडिक्खइ*=वह राह देखता है, वह वाट जोहता है अथवा वह प्रतीक्षा करता है॥ ४-१९३ ॥

तक्षे स्तच्छ--चच्छ--रम्प-रम्फाः ॥ ४—१९४ ॥

तक्षेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ॥ तच्छइ। चच्छइ। रम्पइ। रम्फइ। तक्खइ ॥

अर्थ—'छीलना, काटना' अर्थक संस्कृत-धातु 'तक्ष्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से चार धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:— (१) तच्छ, (२) चच्छ, (३) रम्प, (४) रम्फ। वैकल्पिक पक्ष होने से 'तक्ख' भी होता है। पांचों धातु रूपों के उदाहरण इस से इस प्रकार हैं—*तक्ष्णोति* = (१) *तच्छइ*, (२) *चच्छइ*, (३) रम्पइ, (४) रम्फइ, और (५) *तक्खइ*= वह छीलता है अथवा वह काटता है॥ ४-१९४ ॥

विकसेः कोआस वोसट्टौ ॥ ४—१९५ ॥

विकसेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ कोआसइ। वोसट्टइ। विअसइ ॥

अर्थ.—'विकसित होना, खिलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वि + कस' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'कोआस और वोसट्ट' ऐसे दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'विअस' भी होता है। तीनों धातु रूपों के उदाहरण यों हैं:—*विकसति* = (१) *कोआसइ*, (२) वोसट्टइ और *विअसइ* = वह विकसित होता है अथवा वह खिलता है॥ ४—१९५॥

हसे गुञ्ज ॥ ४-१९६ ॥

हसेगुञ्ज इत्यादेशो वा भवति ॥ गुञ्जइ । हसइ ।

अर्थः—'हँसना, हास्य करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'हस्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'गुंज' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'हस' भी होता है। जैसे:— *हसति=गुंजइ*, अथवा *हसइ* = वह हँसता है अथवा वह हास्य करता है ॥ ४-१९६ ॥

स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ ॥ ४-१९७ ॥

स्रंसेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ ल्हसइ । परिल्हसइ सलिल-वसणं । डिम्भइ । संसइ ॥

अर्थः—'खिसकना, सरकना, गिर पड़ना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्रंस' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'ल्हस और डिम्भ' ऐसे दो धातु-रूपों को विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'संस' भी होता है। तीनों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—*स्रंसते*=(१) *ल्हसइ*, (२) *डिम्भइ* और (३) *संसइ* = वह खिसकता है, वह सरकता है अथवा वह गिर पड़ता है।

'परि' उपसर्ग के साथ 'स्रंस्' के स्थान पर आदेश प्राप्त 'ल्हस' धातु का रूप 'परिल्हस' भी बनता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:— *सलिल-वसनं परिस्रंसते=सलिल-वसणं परिल्हसइ* = पानी वाला (अथवा पानी में रहा हुआ) कपड़ा खिसकता है अथवा सरकता है ॥ ४-१९७ ॥

त्रसेर्डर वोज्ज वज्जाः ॥ ४-१९८ ॥

त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ डरइ । वोज्जइ । वज्जइ । तसइ ।

अर्थः—'डरना, भय खाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'त्रस्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'डर, वोज्ज, और वज्ज' ऐसे तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'तस' भी होता है। उक्त चारों धातु-रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—*त्रस्यति*=(१) *डरइ*, (२) *वोज्जइ*, (३) *वज्जइ*, और (४) *तसइ*=वह डरता है अथवा भय खाता है ॥ ४-१९८ ॥

न्यसोणिम-णुमौ ॥ ४-१९९ ॥

न्यस्यतेरेतावादेशौ भवतः ॥ णिमइ । णुमइ ॥

अर्थः—'स्थापना करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'नि+अस्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा मे 'णिम' और णुम' ऐसे दो धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। दोनों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:— *न्यस्यति=णिमइ* तथा *णमइ*=वह स्थापना करता है, वह रखता है अथवा वह धरता है ॥ ४-१९९ ॥

पर्यसः पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्थाः ॥ ४-२०० ॥

पर्यस्यतेरेते त्रय आदेशा भवन्ति ॥ पलोट्टइ । पल्लट्टइ । पल्हत्थइ ॥

अर्थ.—'फेंकना, मार गिराना' अथवा 'पलटना विपरीत होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'परि+अस्=पर्यस्य के स्थान पर प्राकृत-भाषा में तीन धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं:— (१) पलाट्ट, (२) पल्लट्ट, और (३) पल्हत्थ। तीनों के उदाहरण यों हैं.—*पर्यस्यति=(१) पलोट्टइ, (२) पल्लट्टइ, और (३) पल्हत्थइ*=वह पलटता है अथवा वह विपरीत होता है ॥ ४-२०० ॥

निःश्वसे र्झङ्खः ॥ ४-२०१ ॥

निःश्वसेर्झङ्ख इत्यादेशो वा भवति ॥ झंखइ । नीससइ ।

अर्थ.—'निःश्वास लेना' अथवा 'नीसासा डालना' अर्थक संस्कृत-धातु 'निर्+श्वस्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से 'झख' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'नीसस' भी होता है। जैसे:—*निःश्वसिति=झंखइ* अथवा *नीससइ*=वह निःश्वास लेता है अथवा वह नीसासा डालता है ॥ ४-२०१ ॥

उल्लसे रूसल-ऊसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआः ॥ ४-२०२

उल्लसेरेते षडादेशा वा भवन्ति ॥ ऊसलइ । ऊसुम्भइ । णिल्लसइ । पुलआअइ । गुञ्जोल्लइ । ह्रस्वत्वे तु गुञ्जुल्लइ । आरोअइ । उल्लसइ ॥

अर्थः—'उल्लसित होना, आनंदित होना, खुश होना, तेज-युक्त होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'उत+लस्=उल्लस्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से छह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं—(१) ऊसल, (२) ऊसुम्भ, (३) णिल्लस, (४) पुलआअ, (५) गुञ्जोल्ल और (६) आरोअ।

सूत्र-संख्या १-८४ से 'गुंजोल्ल' धातु-रूप में रहे हुए दीर्घ स्वर 'ओ' के स्थान पर आगे संयुक्त व्यञ्जन 'ल्ल' होने के कारण से 'उ' की प्राप्ति विकल्प से हो जाती है, तदनुसार 'गुंजोल्ल' के स्थान पर 'गुंजुल्ल' रूप की अवस्थिति भी विकल्प से पाई जाती है। यों उपरोक्त आदेश प्राप्त छह धातुओं के स्थान पर सात धातु-रूप समझे जाने चाहिये। वैकल्पिक पक्ष होने से 'उल्लस' भी होता है। आठों ही धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं.—उल्लसति=(१) ऊसलइ, (२) ऊसुम्भइ, (३) णिल्लसइ, (४) पुलआअइ, (५) गुंजोल्लइ, (६) गुंजुल्लइ, (७) आरोअइ और (८) उल्लसइ=वह उल्लसित होता है, अथवा वह आनंदित होता है, वह तेज-युक्त होता है ॥ ४-२०२ ॥

भासेर्भिसः ॥ ४-२०३ ॥

भासेर्भिस इत्यादेशो वा भवति ॥ भिसइ । भासइ ॥

अर्थः—'प्रकाशमान होना, चमकना' अर्थक संस्कृत-धातु 'भास्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'भिस्' धातु-रूप की प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में संस्कृत-धातु 'भास्' का प्राकृत रूपान्तर 'भस' भी होता है। जैसेः—*भासते=भिसइ अथवा भासइ*=वह प्रकाशमान होता है अथवा चमकता है ॥ ४-२०३ ॥

ग्रसेर्घिसः ॥ ४-२०४ ॥

ग्रसेर्घिस इत्यादेशो वा भवति ॥ घिसइ । गसइ ॥

अर्थः—'ग्रसना, निगलना, भक्षण करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'ग्रस' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'घिस' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'गस' भी होता है। जैसे *ग्रसति=घिसइ अथवा गसइ*=वह ग्रसता है, वह निगलता है अथवा वह भक्षण करता है ॥ ४-२०४ ॥

अवाद्गाहेर्वाहः ॥ ४-२०५ ॥

अवात् परस्य गाहे र्वाह इत्यादेशो वा भवति । ओवाहइ । ओगाहइ ॥

अर्थः—'अव' उपसर्ग के साथ में रही हुई संस्कृत-धातु 'गाह' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'वाह' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'गाह भी होता है।

उपरोक्त संस्कृत-उपसर्ग 'अव' का प्राकृत-रूपान्तर दोनों धातु-रूपों में 'ओ' हो जाता है, यह ध्यान में रखा जाना चाहिये। दोनों धातु रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैः—*अवगाहयति= ओवाहइ अथवा ओगाहइ*=वह सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है, वह अच्छी तरह से हृदयंगम करता है ॥ ४-२०५ ॥

आरुहेश्चड-वलग्गौ ॥ ४-२०६ ॥

आरुहेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ चडइ । वलग्गइ । आरुहइ ॥

अर्थः—'आरोहण करना, चढ़ना' अर्थक संस्कृत-धातु 'आ+रुह्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'चड और वलग्ग' ऐसे दो धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में संस्कृत-धातु 'आरुह' का प्राकृत-रूपान्तर 'आरुह' भी होता है। जैसेः—*आरोहति=(१) चडइ, (२) वलग्गइ* और *(३) आरुहइ*=वह आरोहण करता है अथवा वह चढ़ता है ॥ ४-२०६ ॥

मुहे गुम्म-गुम्मडौ ॥ ४-२०७ ॥

मुहेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ गुम्मइ । गुम्मडइ । मुज्झइ ॥

अर्थः—'मुग्ध होना अथवा मोहित होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'मुह्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में में विकल्प से 'चह और गुम्मड' ऐसे दो धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'मुज्झ' भी होता है। तीनों धातु-रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैः—मुह्यति= (१) गुम्मइ, (२) गुम्मडइ, और (३) मुज्झइ=वह मुग्ध होता है अथवा वह मोहित होता है।

दहेरहिऊलालुंखौ ॥ ४-२०८ ॥

दहेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ अहिऊलइ । आलुंखइ । डहइ ॥

अर्थः—'जलाना, दहन करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'दह्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से अहिऊल' और आलुंख' ऐसे दो धातु रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से 'डह्' भी होता है। उक्त तीनों धातु-रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैः—*दहति=(१) अहिऊलइ (२) आलुंखइ*, और *(३) डहइ* = वह जलाता है अथवा वह दहन करता है ॥ ४-२०८ ॥

ग्रहो वल--गेण्ह--हर--पंग--निरुवाराहिपच्चुआः ॥ ४--२०९ ॥

ग्रहेरेते षडादेशा वा भवन्ति ॥ वलइ । गेण्हइ । हरइ । पंगइ । निरुवारइ । अहिपच्चुअइ ।

अर्थ.—'ग्रहण करना, लेना' अर्थक संस्कृत-धातु 'ग्रह' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में छह धातु-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है; जो कि क्रम से इस प्रकार हैः— (१) वल, (२) गेण्ह, (३) हर, (४) पंग, (५) निरुवार और (६) अहिपच्चुअ। इनके 'उदाहरण यों है'—*गृह्णाति = (१) वलइ, (२) गेण्हइ, (३) हरइ, (४) पंगइ, (५) निरुवारइ*, और *(६) अहिपच्चुअइ* = वह ग्रहण करता है अथवा वह लेता है ॥ ४-२०९ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु-घेत् ॥ ४-२१० ॥

ग्रहः क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् इत्यादेशो वा भवति ॥ क्त्वा । घेत्तूण । घेत्तुआण । क्वचिन्न भवति । गेण्हिअ । तुम् । घेत्तुं । तव्य । घेत्तव्वं ॥

अर्थ.—दो क्रियाओं के पूर्वापर संबध को बताने वाले 'करके' अर्थ वाले संबधार्थ कृदन्त के प्रत्यय लगाने पर, तथा 'के लिये' अर्थ वाले हेत्वर्थ कृदन्त के प्रत्यय लगाने पर और 'चाहिये' अर्थ वाले

'तव्य' आदि प्रत्यय लगाने पर संस्कृत-धातु 'ग्रह्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'घेत्' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। संस्कृत-प्रत्यय 'क्त्वा' वाले संबंधार्थ कृदन्त का उदाहरण यों है:—*गृहीत्वा = घेत्तूण और घेत्तुआण आदि* = ग्रहण करके। कभी कभी 'ग्रह्' धातु के स्थान पर उक्त संबंधार्थ कृदन्त के प्रत्यय लगने पर 'घेत्' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति नहीं भी होती है। जैसे:—*गृहीत्वा = गेण्हिअ* = ग्रहण करके।

हेत्वर्थ कृदन्त के प्रत्यय 'तुम्' सम्बन्धी उदाहरण 'ग्रह = घेत' का इस प्रकार है।—*ग्रहीतुम् = घेत्तुं*=ग्रहण करने के लिये। 'चाहिये' अर्थक 'तव्य' प्रत्यय का उदाहरण यों है:-*ग्रहीतव्यम्=घेत्तव्वं*=ग्रहण करना चाहिये अथवा ग्रहण करने के योग्य है। यों 'ग्रह्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में उक्त अर्थों में आदेश प्राप्त 'घेत्' धातु-रूप की स्थिति को जानना चाहिये ॥ ४-२१० ॥

वचो वोत् ॥ ४-२११ ॥

वक्तेर्वोत् इत्यादेशो भवति क्त्वा-तुम्-तव्येषु ॥ वोत्तूण। वोत्तुं। वोत्तव्वं ॥

अर्थ:—'करके' अर्थ वाले सम्बन्धार्थ कृदन्त के प्रत्यय लगने पर तथा 'के लिये' अर्थ वाले हेत्वर्थ कृदन्त के प्रत्यय लगने पर और 'चाहिये' अर्थ वाले 'तव्य' प्रत्यय लगने पर संस्कृत-धातु 'वद्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'वोत्' धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। उक्त तीनों प्रकार के क्रियापदों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:-(१) 'क्त्वा' प्रत्यय का उदाहरण:—*उक्त्वा=वोत्तूण* = कह करके अथवा बोल करके (२) 'तुम्' प्रत्यय का उदाहरण:—*वक्तुम् = वोत्तुं* = बोलने के लिये अथवा कहने के लिये। (३) 'तव्य' प्रत्यय का उदाहरण:—*वक्तव्यम् = वोत्तव्वं*=बोलना चाहिये अथवा कहना चाहिये, बोलने के योग्य है अथवा कहने के योग्य है॥ ४-२११ ॥

रुद्-भुज-मुचां तोन्त्यस्य ॥ ४-२१२ ॥

एषामन्त्यस्य क्त्वा-तुम्-तव्येषु तो भवति ॥ रोत्तूण। रोत्तुं। रोत्तव्वं ॥ भोत्तूण। भोत्तुं। भोत्तव्वं ॥ मोत्तूण। मोत्तुं। मोत्तव्वं ॥

अर्थ:—संस्कृत-धातु 'रुद् = रोना, 'भुज् = खाना और मुच् = छोड़ना' के प्राकृत-रूपान्तर में संबंधार्थ कृदन्त, हेत्वर्थ कृदन्त और 'चाहिये' अर्थक 'तव्य' प्रत्यय लगाने पर धातुओं के अन्त में रहे हुए 'द्' व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर 'त' व्यञ्जनाक्षर की प्राप्ति होती है। जैसे:— रुद् = रुत, भुज् = भुत और मुच् = मुत।

उपरोक्त परिवर्तन के अतिरिक्त यह भी ध्यान में रहे कि सूत्र संख्या ४-२३७ के संविधान से उपरोक्त धातुओं में आदि अक्षरों में रहे हुए 'उ' स्वर को गुण-अवस्था प्राप्त हो कर 'ओ' स्वर की प्राप्ति

हो जाती है। यों प्राकृत-रूपान्तर में 'रुद्' का रोत्' 'भुज् का भोत्' और 'मुच् का मोत्' हो जाता है। इनके उदाहरण क्रम से इस प्रकार है.—(१) *रुदित्वा=रोत्तूण*=रो करके, रुदन करके, (२) *रोदितुम्=रोत्तुं*=रोने के लिये, रुदन करने के लिये और (३) *रुदितव्यम्=रोत्तव्वं*=रोना चाहिये अथवा रोने के योग्य है। (४) *भुक्त्वा=भोत्तूण*=खा करके अथवा भोजन करके, [५] *भोक्तुम्=भोत्तुं*=खाने के लिये अथवा भोजन करने के लिये और (६) *भोक्तव्यम्=भोत्तव्वं*=खाना चाहिये अथवा खाना के योग्य है। (७) *मुक्त्वा=मोत्तूण*=छोड़ करके त्याग करके, (८) *मोक्तुम्=मोत्तुं*=छोड़ने के लिये अथवा त्याग करने के लिये और (९) *मोक्तव्यम्=मोत्तव्वं*=छोड़ना चाहिये अथवा छोड़ने के योग्य है ॥ ४-२१२ ॥

दृशस्तेन ट्ठः ॥ ४-२१३ ॥

दृशोन्त्यस्य तकारेण सह द्विरुक्तष्ठकारो भवति ॥ दट्ठूण। दट्ठुं। दट्ठव्वं ॥

अर्थ.—संबंधार्थ कृदन्त, हेत्वर्थ कृदन्त और 'चाहिये' अर्थक 'तव्य' प्रत्ययों की सयोजना होने पर संस्कृत-धातु 'दृश्' के प्राकृत-रूपान्तर में 'त' सहित अन्त्यव्यञ्जन के स्थान पर द्वित्व 'ट्ठ' की प्राप्ति होती है। जैसे:—*दृष्ट्वा=दट्ठूण*=देख करके, *द्रष्टुम्=दट्ठुं*=देखने के लिये और *द्रष्टव्यम्=दट्ठव्वं*=देखना चाहिये अथवा देखने के योग्य ॥ ४-२१३ ॥

आ कृगो भूत-भविष्यतोश्च ॥ ४-२१४ ॥

कृगोन्त्यस्य आ इत्यादेशो भवति ॥ भूत-भविष्यत् कालयोश्च कारात् क्त्वा-तुम्-तव्येषु च। काहीअ। अकार्षीत। अकरोत्। चकार वा ॥ काहिइ। करिष्यति। कर्ता वा ॥ क्त्वा। काऊण। तुम्। काउं ॥ तव्य। कायव्वं ॥

अर्थ.—संबंधार्थ कृदन्त, हेत्वर्थ कृदन्त और 'चाहिये' अर्थक 'तव्य' प्रत्यय लगने पर तथा भूत कालीन तथा भविष्यत कालीन प्रत्यय लगने पर संस्कृत-धातु 'कृग'='कृ' के अन्त्यस्वर 'ऋ' के स्थान पर 'आ' स्वर की प्राप्ति होता है। उक्त रीति से प्राकृत भाषा में रूपान्तरित 'का' धातु के पांचो क्रियापदीय रूपों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—[१] *कृत्वा=काऊण*=करके, [२] *कर्त्तुम्=काउं*=करने के लिये, *कर्तव्यं=कायव्वं*=करना चाहिये अथवा करने के योग्य, *अकार्षीत्*-(अकरोत अथवा चकार)=काहीअ=उसने किया, *करिष्यति* (अथवा कर्ता)=काहिइ=वह करेगा, (अथवा वह करने वाला है)। यों 'करने' अर्थक प्राकृत-धातु 'का' का स्वरूप जानना चाहिये ॥ ४-२१४ ॥

गमिष्यमासां छः ४-२१५ ॥

एषामन्त्यस्य छो भवति ॥ गच्छइ । इच्छइ । जच्छइ । अच्छइ ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में संस्कृत-धातु 'गम् , इष् , यम् और आस्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन के स्थान पर 'छ' की प्राप्ति होती है। यों 'गम् का गच्छ, इष् का इच्छ, यम् का जच्छ और 'आस् का अच्छ' हो जाता है। इनके उदाहरण यों है:—[१] *गच्छति = गच्छइ*=वह जाता है, [२] *इच्छति = इच्छइ* =वह इच्छा करता है, वह चाहना करता है, [३] *यच्छति = जच्छइ* = वह विराम करता है, वह ठहरता है अथवा दह देता है, *आस्ते = अच्छइ*=वह उपस्थित होता है अथवा वह बैठता है। ॥ ४-२१५ ॥

छिदि-भिदो न्दः ॥ ४-२१६ ॥

अनयोरन्त्यस्य नकाराक्रान्तो दकारो भवति ॥ छिन्दइ । भिन्दइ ॥

अर्थ.—संस्कृत-धातु 'छिद्' और 'भिद्' के प्राकृत रूपान्तर में अन्त्य 'द्' के स्थान पर हलन्त 'नकार' पूर्वक 'द' अर्थात 'न्द' की प्राप्ति होती है। जैसे:—*छिनत्ति=छिन्दइ* =वह छेदता है; *भिनत्ति= भिन्दइ* =वह भेदता है अथवा वह काटता है ॥ ४-२१६ ।

युध-बुध-गृध-क्रुध-सिध-मुहां ज्झः ॥ ४-२१७ ॥

एषामन्त्यस्य द्विरुक्तो झो भवति ॥ जुज्झइ । बुज्झइ । गिज्झइ । कुज्झइ । सिज्झइ । मुज्झइ ।

अर्थः—संस्कृत-धातु 'युध् , बुध् ' गृध् , क्रुध् , सिध् और मुह् ' के अन्त्य व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'ज्झ' व्यञ्जन की प्राप्ति हो जाती है। इन धातुओं में अन्य वर्णों संबंधी परिवर्तन पूर्वोक्त प्रथम पाद तथा द्वितीय पाद में वर्णित संविधान के अनुसार स्वयमेव समझ लेना चाहिये, तदनुसार युद्ध करने अर्थक संस्कृत-धातु 'युध्' का 'जुज्झ' हो जाता है, 'समझने' अर्थक संस्कृत-धातु 'बुध्' का 'बुज्झ' बन जाता है। 'आसक्त होने' अर्थक संस्कृत-धातु 'गृध्' के स्थान पर 'गिज्झ' की प्राप्ति हो जाती है। 'क्रोध करने' अर्थक धातु 'क्रुध्' 'कुज्झ' के रूप में परिवर्तित होता है। 'सिद्ध होना सफल होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'सिध' सिज्झ' में बदल जाता है। यों 'मोहित होना' अर्थक धातु 'मुह्' का 'मुज्झ' बन जाता है। इनके क्रियापदीय उदाहरण इस प्रकार है:—(१) *युध्यते = जुज्झइ*=वह युद्ध करता है, (२) *बुध्यते=बुज्झइ*=वह समझता है, (३) *गृध्यति=गिज्झइ*=वह आसक्त होता है, (४) *क्रुध्यति=कुज्झइ*= वह क्रोध करता है, (५) *सिध्यति = सिज्झइ* = वह सिद्ध होता है अथवा वह सफल होता है और (६) *मुह्यति=मुज्झइ* = वह मोहित होता है ॥ ४-२१७ ॥

रुधो न्ध-म्भौ च ॥ ४-२१८ ॥

रुधोन्त्यस्य न्ध म्भ इत्येतौ चकारात् ज्झश्च भवति ॥ रुन्धइ । रुम्भइ । रुज्झइ ॥

अर्थः—'रोकना' अर्थक संस्कृत धातु 'रुध्' के अन्त्य व्यञ्जन 'ध्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'न्ध' की, अथवा 'म्भ' की प्राप्ति हो जाती है। मूल-सूत्र में 'चकार' दिया हुआ है, तदनुसार 'ध्' के स्थान पर 'ज्झ' की प्राप्ति भी सूत्र संख्या ४-२१७ से हो जाती है; यों 'रुध्' के प्राकृत में 'रुन्ध, रुम्भ और रुज्झ' तीन रूप पाये जाते हैं। इनका उदाहरण इस प्रकार हैः—*रुणद्धि = [१] रुन्धइ, [२] रुम्भइ, [३] रुज्झइ* = वह रोकता है ॥ ४-२१८ ॥

सद्-पतो र्डः ॥ ४-२१९ ॥

अनयोरन्त्यस्य डो भवति ॥ सडइ । पडइ ॥

अर्थः—'गल जाना अथवा सूख जाना, शक्तिहीन हो जाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'सद्' और 'गिरना, भ्रष्ट होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'पत्' में स्थित अन्त्य व्यञ्जन 'द् और त्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'ड' व्यञ्जन की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः—*सीदति = सडइ* = वह गल जाता है, वह सूख जाता है अथवा वह शक्तिहीन हो जाता है। *पतति = पडइ* = वह गिरता है अथवा वह भ्रष्ट होता है ॥ ४-२१९ ॥

क्वथ-वर्धां ढः ॥ ४-२२० ॥

अनयोरन्त्यस्य ढो भवति ॥ कढइ । वड्ढइ पवय-कलयलो ॥ परिअड्ढइ लायण्णं ॥ बहुवचनाद् वृधेः कृत गुणस्य वर्धेश्चाविशेषेण ग्रहणम् ॥

अर्थ—'क्वाथ करना, उबालना, तपाना, गरम करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'क्वथ' के अन्त्य अक्षर 'थ्' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'ढ' अक्षर की आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से 'बढ़ना, उन्नति करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'वृध्=वर्ध्' के अन्त्य अक्षर 'ध्' के स्थान पर भी प्राकृत भाषा में 'ढ' अक्षर की आदेश प्राप्ति होती है। प्राकृत-भाषा में रूपान्तरित 'कढ और वड्ढ' की अन्य साधनिकाऐं स्वयमेव साध लेनी चाहिये। रूपान्तरित धातुओं के उदाहरण इस प्रकार हैं—*क्वथ्यते* = (अथवा *क्वथति*) कढइ वह क्वाथ करता है अथवा वह उबालता है। *वर्धते प्लवक-कलकलः = वड्ढइ पवय-कलयलो* = उथल पाथल जैसा प्रचंड कोलाहल बढ़ता है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार हैः—*परिवर्धते लावण्यं = परिअड्ढइ लायण्णं* = सौन्दर्य बढ़ता है।

प्रश्नः—मूल-सूत्र में 'क्वथ-वर्ध' ऐसे दो शब्दों की स्थिति होते हुए भी 'वर्धां' जैसा बहुवचनात्मक क्रियापदीय रूप क्यों दिया गया है?

उत्तरः—संस्कृत धातु 'वृध' में स्थित 'ऋ' का क्रियापदीय रूप में गुण विकार होकर मूल-धातु 'वर्ध' रूप में रूपान्तरित हो जाती है और ऐसा होने से उक्त दो धातुओं के अतिरिक्त इस तीसरी धातु की भी प्राप्ति हो जाती है; यों सामान्य रूप से तीनों धातुओं को ध्यान में रख कर ही मूल-सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है; यही बहुवचन-ग्रहण का तात्पर्य है। ऐसा स्पष्टीकरण वृत्ति में भी किया गया है ॥ ४-२२० ॥

वेष्टः ॥ ४-२२१ ॥

वेष्ट् वेष्टने इत्यस्य धातोः क ग ट ड इत्यादिना (२-७७) ष लोपे न्त्यस्य ढो भवति ॥ वेढइ । वेढिज्जइ ॥

अर्थः—'लपेटना' अर्थक संस्कृत धातु 'वेष्ट्' में स्थित हलन्त 'षकार' व्यञ्जन का सूत्र-संख्या २-७७ से लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए धातु-रूप 'वेट्' के 'टकार' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'ढकार' व्यञ्जन की प्राप्ति हो जाती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—*वेष्टते = वेढइ* = वह लपेटता है अथवा वह घेरता है। दूसरा उदाहरण यों है:-*वेष्ट्यते = वेढिज्जइ* = उससे लपेटा जाता है ॥४-२२१॥

समोल्लः ॥ ४-२२२ ॥

सं पूर्वस्य वेष्टतेरन्त्यस्य द्विरुक्तो लो भवति ॥ संवेल्लइ ॥

अर्थ.—'सं' उपसर्ग साथ में होने पर वेष्ट धातु में 'षकार' का लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए अन्त्य वर्ण 'टकार' के स्थान पर द्वित्व रूप से 'ल्ल' की प्राप्ति प्राकृत-भाषा में आदेश रूप से होती है। जैसेः—*संवेष्टते = संवेल्लइ* = वह (अच्छी तरह से) लपेटता है ॥ ४-२२२ ॥

वोदः ॥ ४-२२३ ॥

उदः परस्य वेष्टतेरन्त्यस्य ल्लो वा भवति ॥ उव्वेल्लइ । उव्वेढइ ॥

अर्थ:—'उत्' उपसर्ग साथ में होने पर वेष्ट धातु में स्थित 'षकार' का लोप हो जाने के पश्चात शेष रहे हुए अन्त्य वर्ण 'टकार' के स्थान पर विकल्प से द्वित्व रूप से 'ल्ल' की प्राप्ति प्राकृत-भाषा में आदेश रूप से होती है। जैसेः—*उद्वेष्टते = उव्वेढइ* अथवा *उव्वेल्लइ* = वह बन्धन मुक्त करता है, अथवा वह पृथक करता है ॥ ४-२२३ ॥

स्विदां ज्जः ॥ ४-२२४ ॥

स्विदि प्रकाराणामन्त्यस्य द्विरुक्तो जो भवति ॥ सव्वङ्ग-सिज्जिरीए । संपज्जइ । खिज्जइ ॥ बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥

अर्थः—'पसीना होना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्विद्' तथा 'संपन्न होना, सिद्ध होना, मिलना' अर्थक संस्कृत-धातु 'संपद्' और 'खेद करना, अफसोस करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'खिद्' इत्यादि ऐसी धातुओं के अन्त्य व्यञ्जन 'द्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में द्वित्व रूप से 'ज्ज' व्यञ्जन की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*सर्वाङ्ग-स्वेदनशीलायाः = सव्वङ्ग—सिज्जिरीए*=सभी अंगो में पसीने वाली का। *संपद्यते=संपज्जइ*=वह सपन्न होता है अथवा वह मिलता है। *खिद्यति=खिज्जइ*=वह खेद करता है अथवा वह अफसोस करता है।

मूल सूत्र में 'स्विदां' ऐसे बहुवचनान्त पद के प्रयोग करने का कारण यही है कि इस प्रकार की द्वित्व 'ज्ज' वाला धातुऐं प्राकृत-भाषा में अनेक हैं, जो कि 'दकारान्त' संस्कृत-धातुओं से सविधानानुसार प्राप्त हुई हैं ॥ ४-२२४ ॥

व्रज-नृत-मदां च्चः ॥४-२२५

एषामन्त्यस्य द्विरुक्तश्चो भवति ॥ वच्चइ । नच्चइ । मच्चइ ॥

अर्थः—'जाना, गमन करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'व्रज' 'नाचना' अर्थक संस्कृत-धातु 'नृत्' और 'गर्व करना' अर्थक संस्कृत धातु मृद् के अन्त्य हलन्त व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत-भाषा में द्वित्व रुप से 'च्च' की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*व्रजति=वच्चइ*=वह जाता है, वह गमन करता है। *नृत्यति=नच्चइ*=वह नाचता है। *माद्यति=मच्चइ*=वह गर्व करता है, अथवा वह थकता है वह प्रमाद करता है ॥ ४-२२५ ॥

रुद्-नमो र्वः ॥ ४-२२६ ॥

अनयोरन्त्यस्य वो भवति ॥ रुवइ । रोवइ । नवइ ॥

अर्थः—'रोना' अर्थक संस्कृत धातु 'रुद्' और 'नमना, नमस्कार करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'नम्' के अन्त्य व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'व' व्यञ्जनाक्षर की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे —*रोदिति=रुवइ* अथवा *रोवइ*=वह रोता है, वह रुदन करता है। *नमति=नवइ*=वह नमता है अथवा वह नमस्कार करता है ॥ ४-२२६ ॥

उद्विजः ॥ ४-२२७ ॥

उत्तरः—संस्कृत धातु 'वृध' में स्थित 'ऋ' का क्रियापदीय रूप में गुण विकार होकर मूल-धातु 'वर्ध' रूप में रूपान्तरित हो जाती है और ऐसा होने से उक्त दो धातुओं के अतिरिक्त इस तीसरी धातु की भी प्राप्ति हो जाती है; यों सामान्य रूप से तीनों धातुओं को ध्यान में रख कर ही मूल-सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है; यही बहुवचन-ग्रहण का तात्पर्य है। ऐसा स्पष्टीकरण वृत्ति में भी किया गया है ॥ ४-२२० ॥

वेष्टः ॥ ४-२२१ ॥

वेष्ट वेष्टने इत्यस्य धातोः क ग ट ड इत्यादिना (२-७७) ष लोपे न्त्यस्य ढो भवति ॥ वेढइ । वेढिज्जइ ॥

अर्थः—'लपेटना' अर्थक संस्कृत धातु 'वेष्ट्' में स्थित हलन्त 'षकार' व्यञ्जन का सूत्र संख्या २-७७ से लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए धातु-रूप 'वेट्' के 'टकार' व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'ढकार' व्यञ्जन की प्राप्ति हो जाती है। उदाहरण इस प्रकार हैः—*वेष्टते = वेढइ* = वह लपेटता है अथवा वह घेरता है। दूसरा उदाहरण यों हैः-*वेष्ट्यते = वेढिज्जइ* = उससे लपेटा जाता है ॥४-२२१॥

समोल्लः ॥ ४-२२२ ॥

सं पूर्वस्य वेष्टतेरन्त्यस्य द्विरुक्तो लो भवति ॥ संवेल्लइ ॥

अर्थ—'सं' उपसर्ग साथ में होने पर वेष्ट धातु में 'षकार' का लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए अन्त्य वर्ण 'टकार' के स्थान पर द्वित्व रूप से 'ल्ल' की प्राप्ति प्राकृत-भाषा में आदेश रूप से होती है। जैसेः—*संवेष्टते = संवेल्लइ* = वह (अच्छी तरह से) लपेटता है ॥ ४-२२२ ॥

वोदः ॥ ४-२२३ ॥

उदः परस्य वेष्टतेरन्त्यस्य ल्लो वा भवति ॥ उव्वेल्लइ । उव्वेढइ ॥

अर्थ:—'उत्' उपसर्ग साथ मे होने पर वेष्ट धातु में स्थित 'षकार' का लोप हो जाने के पश्चात शेष रहे हुए अन्त्य वर्ण 'टकार' के स्थान पर विकल्प से द्वित्व रूप से 'ल्ल' की प्राप्ति प्राकृत-भाषा में आदेश रूप से होती है। जैसेः—*उद्वेष्टते = उव्वेढइ* अथवा *उव्वेल्लइ* = वह बन्धन मुक्त करता है, अथवा वह पृथक करता है ॥ ४-२२३ ॥

स्विदां ज्जः ॥ ४-२२४ ॥

अर्थः—संस्कृत-धातु 'सृज्' में स्थित अन्त्य हलन्त व्यञ्जन 'ज' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'र' व्यञ्जनाक्षर की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*[१] निसृजति=निसिरइ*=वह बाहिर निकालता है अथवा वह त्याग करता है। *[२] व्युत्सृजाती=वोसिरइ*=वह परित्याग करता है अथवा वह छोड़ता है। *[३] व्युत्सृजामि=वोसिरामि*=मैं परित्याग करता हूँ अथवा मैं छोड़ता हूँ ॥ ४-२२९ ॥

शकादीनां द्वित्वम् ॥ ४–२३० ॥

शकादीनामन्त्यस्य द्वित्वं भवति ॥ शक् । सक्कइ ॥ जिम् । जिम्मइ ॥ लग । लग्गइ ॥ मग् । मग्गइ ॥ कुप् । कुप्पइ ॥ नश् । नस्सइ ॥ अट् । परिअट्टइ ॥ लुट् । पलोट्टइ ॥ तुट् । तुट्टइ ॥ नट् । नट्टइ ॥ सिव । सिव्वइ ॥ इत्यादि ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'शक्' आदि कुछ एक धातुओं के अन्त्य व्यञ्जन के स्थान पर प्राकृत-भाषा में उसी व्यञ्जन को द्वित्व रूप की प्राप्ति होती है। जैसेः—*[१] शक्नोति=सक्कइ*=वह समर्थ होता है। *[२] जेमति* (अथवा *जेमते*)*=जिम्मइ*=वह खाता है अथवा वह भक्षण करता है। *[३] लगति=लग्गइ*=संयोग होता है, मिलाप होता है। *[४] मगति=मग्गइ*=वह गमन करता है, वह चलता है। *[५] कुप्यति=कुप्पइ*=वह क्रोध करता है। *[६] नश्यति=नस्सइ*=वह नष्ट होता है। *[७] परिअटति=परिअट्टइ*=वह परिभ्रमण करता है, वह चारों ओर घूमता है। [८] *[८] प्रलुटति=पलोट्टइ*=वह लोटता है। *[९] तुटति=तुट्टइ*=वह झगड़ता है अथवा वह दुःख देता है। *[१०] नटति=नट्टइ*=वह नृत्य करता है वह नाचता है। *सीव्यति=सिव्वइ*=वह सींता है, वह सीवण करता है। इत्यादि रूप से अन्य उपलब्ध प्राकृत-धातुओं का स्वरूप भी इसी प्रकार से 'द्वित्व' रूप में समझ लेना चाहिये ॥ ४-२३० ॥

स्फुटि-चलेः ॥ ४–२३१ ॥

अनयोरन्त्यस्य द्वित्वं वा भवति ॥ फुट्टइ । फुडइ । चल्लइ । चलइ ॥

अर्थः—'विकसित होना, खिलना अथवा टूटना फूटना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्फुट्' के अन्त्य व्यञ्जन 'टकार' के स्थान पर और 'चलना, गमन करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'चल्' के अन्त्य व्यञ्जन 'लकार' के स्थान पर प्राकृत भाषा में विकल्प से इन व्यञ्जनों को 'द्वित्व' रूप की प्राप्ति होती है। जैसेः—*(१) स्फुटति=फुट्टइ* अथवा *फुडइ*=वह विकसित होता है, वह खिलता है अथवा वह टूटता है-वह फूटता है। *(२) चलति=चल्लइ* अथवा *चलइ*=वह चलता है अथवा वह गमन करता है। ४-२३१

प्रादे मीलेः ॥ –२३२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वं वा भवति ॥ पमिल्लइ । पमीलइ । निमिल्लइ । निमीलइ । संमिल्लइ । संमीलइ । उम्मिल्लइ । उम्मीलइ । प्रादेरिति किम् । मीलइ ॥

अर्थः—'मूंदना, बन्द करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'मील्' के पूर्व में यदि 'प्र, नि, सं, उत्' आदि उपसर्ग जुड़े हुए हो तो 'मील्' धातु के अन्त्य हलन्त व्यञ्जनाक्षर 'लकार' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विकल्प से द्वित्व 'ल्ल' की प्राप्ति होती है। जैसे:— *(१) प्रमीलति=पमिल्लइ* अथवा *पमीलइ*=वह संकोच करता है, वह सकुचाता है। *(२) निमीलति=निमिल्लइ* अथवा *निमीलइ*=वह आँख मूँदता है अथवा वह आँख मींचता है। *(३) संमीलति=संमिल्लइ* अथवा *संमीलइ*=वह सकुचाता है अथवा वह संकोच करता है। *(४) उन्मीलति=उम्मिल्लइ* अथवा *उम्मीलइ*=वह विकसित होता है, वह खुलता है। अथवा वह प्रकाशमान होता है। यों अन्य उपसर्गों के साथ में भी 'मिल्ल और मील' की स्थिति को समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—'प्र' आदि उपसर्गों के साथ ही विकल्प से द्वित्व 'ल्ल' की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—यदि 'मील्' धातु के पूर्व में 'प्र' आदि उपसर्ग नहीं जुड़े हुए होंगे तो इस 'मील्' धातु में स्थित हलन्त अन्त्य व्यञ्जनाक्षर 'लकार' को द्वित्व 'ल्ल' की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे:—*मीलति*=*मीलइ*=वह मूँदता है, वह बन्द करता है। यों एक ही रूप '*मीलइ*' ही बनता है; इसके साथ 'मिल्लइ' रूप नहीं बनेगा ॥ ४-२३२ ॥

उवर्णस्यावः ॥ ४-२३३ ॥

धातोरन्त्यस्योवर्णस्य अवादेशो भवति ॥ न्हुङ् । निण्हवइ ॥ हु । निहवइ । च्युङ् । चवइ ॥ रु । रवइ ॥ कु । कवइ ॥ सू । सवइ । पसवइ ॥

अर्थः—संस्कृत धातुओं में स्थित अन्त्य स्वर 'उ' के स्थान पर प्राकृत रूपान्तर में 'अव' को आदेश प्राप्ति होती हैं। जैसे:—*निन्हुते*=*निण्हवइ*=वह अपलाप करता है, वह निंदा करता है। *निन्हुते*=*निहवइ*=वह अपलाप करता है। *च्यवति*=*चवइ*=वह मरता है, वह जन्मान्तर में जाता है। *रौति*=*रवइ*=वह बोलता है, वह शब्द करता है अथवा वह रोता है। *कवति*=*कवइ*=वह शब्द करता है, वह आवाज करता है। *सूते*=*सवइ*=वह उत्पन्न करता है, वह जन्म देता है। *प्रसूते*=*पसवइ*=वह जन्म देता अथवा उत्पन्न करता है।

उपरोक्त उदाहरण में 'नि+न्हु=निण्हव, नि+हु=निहव, च्यु=चव, रु=रव, कु=कव, और सू=सव' धातुओं को देखने से विदित हो जाता है कि इनमें 'उ' अथवा 'ऊ' स्वर के स्थान पर अव' अक्षरांश की प्राप्ति हुई है ॥ ४-२३३ ॥

ऋवर्णस्यारः ॥ ४-२३४ ॥

धातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्य अरादेशो भवति ॥ करइ । धरइ । मरइ । वरइ । सरइ । हरइ । तरइ । जरइ ॥

अर्थ—संस्कृत-धातुओं में स्थित अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर मे 'अर' अक्षरांश की प्राप्ति होती है। जैसेः—कृ=कर, । धृ=धर । मृ=मर । वृ=वर । सृ=सर । हृ=हर । तृ=तर । और जृ=जर । क्रियापदीय उदाहरण इस प्रकार हैं:—[१] *करोति*=करइ=वह करता है। [२] *धराति*=धरइ=वह धारण करता है। [३] *म्रियते*=मरइ=वह मरता है अथवा वह देह त्याग करता है। *वृणोति*=वरइ=वह पसंद करता है वह सगाई-संबंध करता है अथवा वह सेवा करता है। [५] *सराति*=सरइ=वह जाता है, वह सरकता है। [६] *हराति*=हरइ=वह चुराता है, वह ले जाता है। [७] *तराति*=तरइ=वह पार जाता है अथवा वह तैरता है। [८] *जराति*=जरइ=वह अल्प होता है, वह छोटा होता है ॥ ४-२३४ ॥

वृषादीनामरिः ॥ ४-२३५ ॥

वृष इत्येवं प्रकाराणां धातूनाम् ऋवर्णस्य अरिः इत्यादेशो भवति ॥ वृष् । वरिसइ ॥ कृष् । करिसइ ॥ मृष । मरिसइ ॥ हृष् । हरिसइ ॥ येषामरिरादेशो दृश्यते ते वृषादयः ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'वृष्' आदि ऐसी कुछ धातुएं हैं, जिनका प्राकृत-रूपान्तर होने पर इनमें अवस्थित 'ऋ' स्वर के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'अरि' अक्षरांश की आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसेः—वृष=वरिस। कृष्=करिस। मृष्=मरिस। हृष्=हरिस। इस आदेश-संविधान के अनुसार जहाँ जहाँ पर अथवा जिस जिस धातु में 'ऋ', स्वर के स्थान पर 'अरि' आदेश रूप अक्षरांश दृष्टि-गोचर होता हो तो उन उन धातुओं को 'वृषादय' धातु-श्रेणि में अथवा धातु-गण के रूप में समझना चाहिये। वृत्ति में आये हुए धातुओं के क्रियापदीय उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—[१] *वर्षति*=वरिसइ=बरसता है, वृष्टि करता है। [२] *कर्षति*=करिसइ=वह खींचता है। [३] *मर्षति*=मरिसइ=वह सहन करता है अथवा वह क्षमा करता है। [४] *हृष्यति*=हरिसइ=वह खुश होता है, वह प्रसन्न होता है ॥ ४-२३५ ॥

रुषादीनां दीर्घः ॥ ४-२३६ ॥

रुष इत्येवं प्रकाराणां धातूनां स्वरस्य दीर्घो भवति ॥ रूसइ । तूसइ । सूसइ । दूसइ । पूसइ । सीसइ । इत्यादि ।

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध ह्रस्व स्वर वाली 'रुष्' आदि ऐसी कुछ धातुएं हैं, जिनका प्राकृत रूपान्तर होने पर इनमें अवस्थित ह्रस्व स्वर' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'दीर्घ स्वर' की आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—रुष = रूस। तुष् = तूस। शुष् = सूस। दुष् = दूस। पुष् = पूस। और शिष् = सीस आदि आदि। इनके क्रियापदीय उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) रुष्यति = रूसइ = वह क्रोध करता है। *[२] तुष्यति = तूसइ* = वह खुश होता है। *[३] शुष्यति = सूसइ* = वह सूखता है। *[४] दुष्यति = दूसइ* = वह दोष देता है अथवा वह दूषण लगाता है। *(५) पुष्यति = पूसइ* = वह पुष्ट होता है अथवा वह पोषण करता है और *(६) शेषति* = (अथवा *शेषयति*) = *सीसइ* = वह शेष रखता है, बचा रखता है। (अथवा वह वध करता है, हिंसा करता है) ॥ ४-२३६ ॥

युवर्णस्य गुणः ॥ ४-२३७ ॥

धातोरिवर्णस्य च विङत्यपि गुणो भवति । जेऊण । नेऊण । नेइ । नेन्ति । उड्डेइ । उड्डेन्ति । मोत्तूण । सोऊण । क्वचिन्न भवति । नीओ । उड्डीणो ॥

अर्थः—संस्कृत-धातुओं के प्राकृत-रूपान्तर में 'कित् अथवा ङित्' अर्थात कृदन्त वचक और काल बोधक प्रत्ययों की संयोजना होने पर भी प्राकृत-भाषा मे धातुओं मे रहे हुए 'इ वर्ण' का और 'उ वर्ण' का गुण हो जाता है। जैसे:—*जित्वा = जेउण* = जीत करके। *नीत्वा = नेउण* = ले जा करके। *नयति = नेइ* = वह ले जाता है। *नयन्ति = नेन्ति* = वे ले जाते हैं। 'डी' धातु का उदाहरणः—उत् + डयते = उड्डयते = उड्डेइ = वह आकाश में उड़ता है। उत् + डयन्ते = उड्डयन्ते = उड्डेन्ति = वे अकाश में उड़ जाते हैं। इन उदाहरणों में 'जि' का 'जे'; 'नी' का 'ने' तथा 'डी' का 'डे' स्वरूप प्रदर्शित करके यह बतलाया गया है कि इनमें 'इ वर्ण' के स्थान पर 'ए वर्ण' की गुण रूप से प्राप्ति हुई है। अब आगे 'उ' वर्ण' के स्थान पर 'ओ वर्ण' की गुण रूप से प्राप्ति प्रदर्शित की जाती है। जैसे:—*मुक्त्वा = मोत्तूण* = छोड़ कर के। *श्रुत्वा = सोऊण* = सुन कर के। यों 'इ' वर्ण का गुण 'ए' और 'उ' वर्ण का गुण 'ओ' होता है; इस स्थिति को ध्यान में रखना चाहिये।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है जब कि 'इ' वर्ण के स्थान पर 'ए' वर्ण की और 'उ वर्ण' के स्थान पर 'ओ वर्ण की गुण-प्राप्ति नहीं होती है। जैसेः—नीतः = नीओ = ले जाया हुआ। उड्डीनः = उड्डीणो = उड़ा हुआ। यहां पर 'नी' में स्थित और 'ड्डी' में स्थित 'इ वर्ण' को 'ए वर्ण' के रूप में गुण-प्राप्ति नहीं हुई है।

मूल सूत्र में उल्लिखित 'यु वर्ण' के आधार से 'इ वर्ण' तथा 'उ वर्ण' की प्रतिध्वनि समझी जानी चाहिये, और इसी प्रकार से वृत्ति में प्रदर्शित 'इ वर्ण' के आगे 'च वर्ण' के आधार से सूत्र संख्या ४-२३६ की शृङ्खलानुसार 'उ वर्ण' की सं प्राप्ति समझी जानी चाहिये ॥ ४-२३७ ॥

स्वराणां स्वराः ॥ ४-२३८ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने स्वरा बहुलं भवन्ति ॥ हवइ । हिवइ ॥ चिणइ । चुणइ ॥ सद्दहणं । सद्दहाणं ॥ धावइ । धुवइ ॥ रुवइ । रोवइ ॥ क्वचिन्नित्यम् । देइ ॥ लेइ । विहेइ । नासइ ॥ आर्षे । बेमि ॥

अर्थ—संस्कृत भाषा की धातुओं में रहे हुए स्वरों के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर में अन्य स्वरों की आदेश-प्राप्ति बहुतायत रूप से हुआ करती है। जैसेः— (१) *भवति=हवइ* और *हिवइ*=वह होता है। (२) *चयति=चिणइ* और *चुणइ*=वह इकट्ठा करता है। (३) *श्रद्धानं=सद्दहणं* और *सद्दहाणं*=श्रद्धा अथवा विश्वास। (४) *धावति=धावइ* और *धुवइ*=वह दौड़ता है। (५) *रोदिति=रुवइ* और *रोवइ*=वह रोता है, वह रुदन करता है। इन उदाहरणों को देखने से विदित होता है कि संस्कृतीय धातुओं में अवस्थित स्वरों के स्थान पर प्राकृत-भाषा में विभिन्न स्वरों की आदेश प्राप्ति हुई है; यों अन्य धातुओं के संबंध में भी स्वयमेव कल्पना कर लेना चाहिये।

कभी कभी ऐसा भी पाया जाता है कि संस्कृतीय धातुओं में रहे हुए स्वरों के स्थान पर प्राकृत रूपान्तर में नित्य रूप से अन्य स्वर की उपलब्धि आदेश रूप से हो जाती है। जैसेः—*ददाति* (अथवा *दत्ते*)=*देइ*=वह देता है, वह सौंपता है। *लाति=लेइ*=वह लेता है अथवा ग्रहण करता है। *बिभेति=बिहेइ*=वह डरता है, वह भय खाता है। *नश्यति=नासेइ*=वह नाश पाता है अथवा वह नष्ट होता है।

आर्ष प्राकृत में भी स्वरों के स्थान पर अन्य स्वरों की प्राप्ति देखी जाती है। जैसेः—*ब्रवीमि=बेमि*=मैं कहता हूं अथवा प्रतिपादन करता हूं॥ ४-२३८॥

व्यञ्जनाददन्ते ॥ ४-२३९ ॥

व्यञ्जनान्ताद्धातोरन्ते अकारो भवति ॥ भमइ । हसइ । कुणइ । चुम्बइ । भणइ । उवसमइ । पावइ । सिञ्चइ । रुन्धइ । मुसइ । हरइ । करइ ॥ शबादीनां च प्रायः प्रयोगो नास्ति ॥

अर्थः—जिन संस्कृत-धातुओं के अन्त में हलन्त व्यञ्जन रहा हुआ है, ऐसी हलन्त व्यञ्जनान्त धातुओं के प्राकृत रूपान्तर में अन्त्य हलन्त व्यञ्जन में विकरण प्रत्यय के रूप से 'अकार' स्वर की आगम प्राप्ति हुआ करती है, यों व्यञ्जनान्त धातु प्राकृत भाषा में अकारान्त धातु बन जाती हैं तथा, तत्पश्चात इसी रीति से बनी हुई अकारान्त प्राकृत धातुओं में काल-बोधक प्रत्ययों की संयोजना की जाती है। जैसेः—भम्=भम। हस्=हस। कुण्=कुण और चुम्ब=चुम्ब इत्यादि। क्रियापदीय उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) *भ्रमति=भमइ*=वह घूमता है, वह परिभ्रमण करता है। (२) *हसति=हसइ*=वह

हँसता है। (३) करोति=कुणइ=वह करता है। (४) चुम्बति=चुम्बइ=वह चुम्बन करता है। (५) भणति=भणइ=वह पढ़ता है। वह कहता है। (६) उपशाम्यति=उवसमइ=वह शांत होता है, वह क्रोध रहित होता है। (७) प्राप्नोति=पावइ=वह पाता है। (८) सिञ्चति=सिंचइ=वह सींचता है। (९) रुणद्धि=रुन्धइ=वह रोकता है। (१०) मुष्णाति=मुसइ=वह चोरी करता है। (११) हरति=हरइ=वह हरण करता है। (१२) करोति=करइ=वह करता है। इन व्यञ्जनान्त धातुओं के अन्त में 'अकार' स्वर का आगम हुआ है। यों अन्यत्र व्यञ्जनान्त धातुओं के सम्बन्ध में भी 'अकार' आगम की स्थिति को ध्यान में रखना चाहिये। 'शप्' आदि अन्य विकरण प्रत्ययों का आगम प्रायः प्राकृत-भाषा की धातुओं में नहीं हुआ करता है॥ ४-२३९॥

स्वरादनतो वा ॥ ४-२४० ॥

अकारान्तवर्जितात् स्वरान्ताद्धातोरन्ते अकारागमो वा भवति॥ पाइ पाअइ। धाइ धाअइ। जाइ जाअइ। झाइ झाअइ। जम्भाइ जम्भाअइ। उव्वाइ उव्वाअइ। मिलाइ मिलाअइ। विक्केइ विक्केअइ। होऊण होअऊण। अनत इति किम्। चिइच्छइ। दुगुच्छइ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में अकारान्त धातुओं को छोड़ कर किसी भी अन्य स्वरान्त-धातु के अन्त में काल-बोधक प्रत्यय जोड़ने के पूर्व विकल्प से विकरण प्रत्यय के रूप में 'अकार' स्वर की आगम-रूप से प्राप्ति हुआ करती है। यों अकारान्त धातु के सिवाय अन्य स्वरान्त धातु और काल-बोधक प्रत्यय के बीच में 'अकार स्वर की प्राप्ति विकल्प रूप से हो जाया करती है। जैसे:—*पाति*=*पाइ* अथवा *पाअइ*=वह रक्षण करता है। *धावति*=*धाइ* अथवा *धाअइ*=वह दौड़ता है। *याति*=*जाइ* अथवा *जाअइ*=वह जाता है। *ध्यायति*=*झाइ* अथवा *झाअइ*=वह ध्यान करता है। *जृम्भति*=*जम्भाइ* अथवा *जम्भाअइ*=वह जम्हाई (जँभाई) लेता है। *उद्वाति*=*उव्वाइ* अथवा *उव्वाअइ*=वह सूखता है, वह शुष्क होता है। *म्लायति*=*मिलाइ* अथवा *मिलाअइ*=वह म्लान होता है, वह निस्तेज होता है। *विक्रीणाति*=*विक्केइ* अथवा *विक्केअइ*=वह बेचता है। *भूत्वा*=*होऊण* अथवा *होअऊण*=हो कर के। यों उपरोक्त उदाहरणों में अकारान्त धातु के सिवाय अन्य स्वरान्त धातुओं का प्रयोग करके 'धातु तथा प्रत्यय' के बीच में 'अकार' स्वर का आगम विकल्प से प्रस्तुत किया गया है कि इस आगम रूप से प्राप्त 'अकार' स्वर के आजाने से भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। इस प्रकार की स्थिति को अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—'अकारान्त धातुओं में' उक्त रीति से प्राप्तव्य आगम-रूप 'अकार' स्वर की प्राप्ति का निषेध क्यों किया गया है?

उत्तर—प्राकृत-भाषा का रचना-प्रवाह ही ऐसा है कि अकारान्त धातु और काल- बोधक प्रत्ययों के बीच में कभी कभी आगम रूप से 'अकार' स्वर की प्राप्ति नहीं होती है और इस लिये अकारान्त धातुओं को छोड़ कर के अन्य स्वरान्त धातुओं के लिये ही विकल्प से 'अकार' रूप स्वर की आगम-प्राप्ति का विधान किया गया है। जैसे:—*चिकित्सति* का '*चिइच्छइ*' ही प्राकृत-रूपान्तर होगा; न कि 'चिइच्छअइ' होगा। इसी प्रकार से जुगुप्सति का प्राकृत रूपान्तर 'दुगुच्छइ' ही होगा, न कि 'दुगुच्छअइ' होगा। दोनों उदाहरणों का हिन्दी अर्थ क्रम से इस प्रकार है:— (१) वह दवा करता है और (२) वह घृणा करता है, वह निंदा करता है ॥ ४-२४० ॥

चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च ॥ ४-२४१ ॥

च्यादीनां धातूनामन्ते णकारागमो भवति, एषां स्वरस्य च ह्रस्वो भवति ॥ चि। चिणइ। जि। जिणइ। श्रु। सुणइ। हु। हुणइ। स्तु। थुणइ। लू। लुणइ। पू। पुणइ। धुग्। धुणइ ॥ बहुलाधिकारात् क्वचित् विकल्पः। उच्चिणइ। उच्चेइ। जेऊण। जिणिऊण। जयइ। जिणइ ॥ सोऊण। सुणिऊण ॥

अर्थः—'(१) चि=(चय्)=इकट्ठा करना, (२) जि=(जय्)=जीतना, (३) श्रु=सुनना, (४) हु=हवन करना, (५) स्तु=स्तुति करना, (६) लू=लूणना, छेदना, (७) पू=पवित्र करना, और (८)धू=धुनना-कंपना 'इन संस्कृतीय धातुओं के प्राकृत-रूपान्तर में काल-बोधक प्रत्ययों को जोड़ने के पूर्व 'णकार' व्यञ्जनाक्षर की आगम-प्राप्ति होती है तथा धातु के अन्त में यदि दीर्घ स्वर रहा हुआ हो तो उसको ह्रस्व स्वर की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति से इनका प्राकृत- रूपान्तर यों हो जाता है:—(१) चिण, (२) जिण, (३) सुण, (४) हुण, (५) थुण, (६) लुण, (७) पुण, और (८) धुण, क्रियापदीय उदाहरण क्रम से यों है:—*(१) चिनोति=चिणइ*=वह इकट्ठा करता है, *(२) जयति=जिणइ*=वह जीतता है, *(३) शृणोति=सुणइ*=वह सुनता है, *(४) जुहोति=हुणइ*=वह हवन करता है, *(५) स्तौति=थुणइ*=वह स्तुति करता है, *(६) लुनाति=लुणइ*=वह लूणता है, वह काटता है, *(७) पुनाति=पुणइ*=वह पवित्र करता है और *(८) धुनाति=धुणइ*=वह धुनता है, वह कँपता है।

'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से कहीं कहीं पर प्राकृत-रूपान्तर में उक्त धातुओं में प्राप्तव्य 'णकार' व्यञ्जनाक्षर की आगम प्राप्ति विकल्प से भी होती है। जैसे—*उच्चिनोति=उच्चिणइ* अथवा उच्चेइ=वह (फूल आदि को तोड़कर) इकट्ठा करता है। *जित्वा=जेऊण* अथवा *जिणिऊण*=जित करके, विजय प्राप्त करके। *श्रुत्वा=सोऊण* अथवा *सुणिऊण*=सुन करके, श्रवण करके। इन उपरोक्त उदाहरणों में 'णकार' व्यञ्जनाक्षर की आगम-प्राप्ति विकल्प से हुई है। यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

न वा कर्म-भावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥ ४-२४२ ॥

च्यादीनां कर्मणि भावे च वर्तमानानामन्ते द्विरुक्तो वकारागमो वा भवति, तत्संनियोगे च क्यस्य लुक् ॥ चिव्वइ चिणिज्जइ । जिव्वइ जिणिज्जइ । सुव्वइ सुणिज्जइ । हुव्वइ हुणिज्जइ । थुव्वइ थुणिज्जइ । लुव्वइ लुणिज्जइ । पुव्वइ पुणिज्जइ । धुव्वइ धुणिज्जइ ॥ एवं भविष्यति । चिव्विहिइ । इत्यादि ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में कर्म वाच्य तथा भाव वाच्य बनाने के लिये धातुओं में आत्मनेपदीय काल-बोधक प्रत्यय जोड़ने के पूर्व जैसे 'यक्' = य' प्रत्यय जोड़ा जाता है, वैसे ही प्राकृत-भाषा में भी कर्म-वाच्य तथा भाव-वाच्य बनने के लिये धातुओं में काल बाधक-प्रत्यय जोड़ने के पूर्व 'ईअ' अथवा 'इज्ज' प्रत्यय जोड़े जाते है, यह एक सर्व-सामान्य नियम है, परन्तु 'चि, जि, सु, हु, थु, लु, पु, और धु' इन आठ धातुओं में उपरोक्त कर्मणि-भावे प्रयोग वाचक प्रत्यय 'इअ अथवा इज्ज' के स्थान पर द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व 'व्व' की प्राप्ति भी विकल्प से होती है और तत्पश्चात् वर्तमानकाल, भविष्यकाल आदि के काल बोधक प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यों 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप होकर इनके स्थान पर केवल 'व्व' प्रत्यय की विकल्प से आदेश प्राप्ति हो जाती है।

वृत्ति में 'च क्यस्य लुक्' ऐसे जो शब्द लिखे गये हैं, इनमें 'च' अव्यय से यह तात्पर्य बतलाया गया है कि इन धातुओं मे 'व्व' प्रत्यय जुड़ने पर सूत्र-संख्या ४-२४१ से प्राप्त होने वाले 'णकार' व्यञ्जनाक्षर की आगम-प्राप्ति भी नहीं होगी। 'क्यस्य' पद से यह विधान किया गया है कि 'ईअ और इज्ज' प्रत्ययों का भी लोप हो जायगा। ऐसा अर्थ बोध 'लुक्' विधान से जानना।

उपरोक्त आठों ही धातुओं के उभय-स्थिति वाचक उदाहरण वर्तमान-काल में क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) *चीयते = चिव्वइ* अथवा *चिणिज्जइ* = उससे इकट्ठा किया जाता है। (२) *जीयते = जिव्वइ* अथवा *जिणिज्जइ* = उससे जीता जाता है। (३) *श्रूयते=सुव्वइ* अथवा *सुणिज्जइ* = उससे सुना जाता है। *(४) स्तूयते = थुव्वइ* अथवा *थुणिज्जइ* = उससे स्तुति की जाती है। *(५) हूयते = हुव्वइ* अथवा *हुणिज्जइ* = उससे हवन किया जाता है। *(६) लूयते=लुव्वइ* अथवा *लुणिज्जइ* = उससे लूणा जाता है- उससे काटा जाता है। *(७) पूयते=पुव्वइ* अथवा *पुणिज्जइ*=उससे पवित्र किया जाता है और *(८) धूयते = धुव्वइ* अथवा *धुणिज्जइ* = उससे धुना जाता है अथवा उससे कंपा जाता है।

इन उदाहरणों को ध्यान-पूर्वक देखने से विदित होता है कि 'जहां पर व्व प्रत्यय का आगम है, वहांपर ण और इज्ज का लोप है तथा जहां पर ण और इज्ज प्रत्यय हैं वहां पर व्व प्रत्यय नहीं है।

भविष्यत्-काल में भी ऐसे ही उदाहरण स्वयमेव कल्पित कर लेना चाहिये। विस्तार भय से ल नमूना रूप एक उदाहरण वृत्ति में दिया ... इस प्रकरा है:—*चीयिष्यते=चिव्विहिइ*

(अथवा चिणीअहिइ)=उससे इकट्ठा किया जायगा। अन्य ऐसे ही उदाहरणों के संबंध में वृत्ति में 'इत्यादि' शब्द से यह भलामण दी गई है की बाकि के उदाहरणों को स्वयम् ही सोच लें ॥ ४-२४२ ॥

म्मश्चेः ॥ ४-२४३ ॥

चेः कर्मणि भावे च अन्ते संयुक्तो मो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ चिम्मइ । चिव्वइ । चिणिज्जइ । भविष्यति । चिम्मिहिइ । चिव्विहिइ । चिणिज्जिहिइ ॥

अर्थ—'इकट्ठा करना' अर्थक धातु 'चि' के कर्मणिभावे प्रयोग में काल-बोधक प्रत्यय जोड़ने के पूर्व विकल्प से संयुक्त अर्थात द्वित्व 'म्म' की आगम-प्राप्ति विकल्प से होती है और ऐसा होने पर कर्मणि भावे-प्रयोग-बोधक प्रत्यय 'व्व' अथवा 'ईअ' अथवा 'इज्ज' का लोप हो जाता है। यों 'चि' धातु में 'म्म, व्व, ईअ, इज्ज' इन चारों प्रत्ययों में से किसी भी एक का प्रयोग कर्मणि-भावे अर्थ में किया जा सकता है। परन्तु यह ध्यान में रहे कि 'म्म अथवा व्व' प्रत्यय का सद् भाव होने पर सूत्र-संख्या ४-२४१ से प्राप्त होने वाले णकार' व्यञ्जनाक्षर की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसा बोध वृत्ति में दिये गये 'च' अव्यय से जानना (उदाहरण इस प्रकार हैं:—*चीयते=चिम्मइ, चिव्वइ, चिणिज्जइ* अथवा *चिणीअइ*=उससे इकट्ठा किया जाता है। भविष्यत् काल संबंधी उदाहरण इस प्रकार हैं:—*चीयिष्यते=चिम्मिहिइ, चिव्विहिइ, चिणिज्जिहिइ,* (अथवा *चिणीअहिइ*)=उससे इकट्ठा किया जायगा। बाकी के उदाहरण खुद ही जान लेना ॥ ४-२४३ ॥

हन्खनोन्त्यस्य ॥ ४-२४४ ॥

अनयोः कर्म भावे न्त्यस्य द्विरुक्तो मो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ हम्मइ, हणिज्जइ । खम्मइ, खणिज्जइ । भविष्यति । हम्मिहिइ, हणिहिइ । खम्मिहिइ । खणिहिइ ॥ बहुलाधिकारात् हन्तेः कर्तर्यपि ॥ हम्मइ । हन्तीत्यर्थः ॥ क्वचिन्न भवति ॥ हन्तव्वं । हन्तूण । हओ ॥

अर्थ—संस्कृत धातु "हन् और खन्" के प्राकृत-रूपान्तर में कर्मणि-भावे प्रयोग में अन्त्य हलन्त "नकार" व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व "म्म" की विकल्पसे आदेश प्राप्ति होती है और इस प्रकार द्वित्व "म्म" की आदेश प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-बोधक प्राकृत-प्रत्यय "ईअ और इज्ज" का लोप हो जाता है। जहाँ पर द्वित्व "म्म" की प्राप्ति नहीं होगी वहाँ पर कर्मणि-भावे-बोधक प्रत्यय "ईअ अथवा इज्ज" का सद् भाव रहेगा। जैसे:—*हन्यते=हम्मइ* अथवा *हणिज्जइ*=वह मारा जाता है। *खन्यते=खम्मइ* अथवा *खणिज्जइ* वह खोदा जाता है। *भविष्यत्*-कालीन उदाहरण यों हैं:—*हनिष्यते= हम्मिहिइ*=वह मारा जायगा। *हनिष्यति; [हनिष्यते]=हणिहिइ*=वह मारेगा

अथवा वह मारा जायगा। *खनिष्यते = खम्मिहिइ* = वह खोदा जावेगा। *खनिष्यति; खनिष्यते= खणिहिइ* = वह खोदेगा; अथवा वह खोदा जावेगा।

"बहुलम्" सूत्र के अधिकार से "हन्" धातु के कर्तरि-प्रयोग में अन्त्य "नकार" व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर द्वित्व "म्म" की प्राप्ति विकल्प से हो जाती है। जैसे:—*हन्ति=हम्मइ* अथवा (*हणइ*) वह मारता है। कहीं कहीं पर उक्त रीति से प्रदर्शित "नकार" के स्थान पर द्वित्व "म्म" की प्राप्ति नहीं भी होती है। जैसे.—*हन्तव्यम् = हन्तव्वं* = मारने योग्य है, अथवा मारा जाना चाहिये। *हत्वा = हन्तूण* मार करके। *हतः=हओ* = मारा हुआ; इत्यादि। यों "हन् और खन्" धातुओं के प्राकृत-रूपान्तर में प्रयोग-विशेषों में प्राप्तव्य द्वित्व "म्म" की वैकल्पिक-स्थिति को जानना चाहिये। ॥ ४-२४४ ॥

ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चतः ॥ ४-२४५ ॥

दुहादीनामन्त्यस्य कर्म-भावे-द्विरुक्तो 'भो' वा भवति ॥ तत्-संनियोगे क्यस्य च लुक्। वहे रकारस्य च उकारः ॥ दुब्भइ दुहिज्जइ। लिब्भइ लिहिज्जइ। वुब्भइ वहिज्जइ। रुब्भइ रुन्धिज्जइ। भविष्यति। दुब्भिहिइ दुहिहिइ इत्यादि ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में 'दुह, लिह, वह, और रुध=(सूत्र-संख्या ४-२१८ से) रुन्ध धातुओं के अन्त्य व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर कर्मणि-भावे प्रयोग में द्विरुक्त अथवा द्वित्व 'भ्म=(सूत्र-संख्या २-९० से) ब्भ' की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है और इस प्रकार से आदेश प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-प्रयोग संबंधी प्राकृत-प्रत्यय 'ईअ और इज्ज' का लोप हो जाता है। कर्मणि-भावे अर्थ में यों इन उपरोक्त धातुओं में कभी तो 'ब्भ' होता है और कभी 'ईअ अथवा इज्ज' होता है। यह भी ध्यान में रहे कि उपरोक्त 'वह' धातु में 'ब्भ' की प्राप्ति होने पर 'व' में स्थित 'अकार' को 'उकार' की प्राप्ति होकर 'वु' स्वरूप का सद्भाव हो जाता है। इन धातुओं के दोनों प्रकार क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) *दुह्यते = दुब्भइ* अथवा *दुहिज्जइ* = वह दूहा (दूध निकाला) जाता है। (२) *लिह्यते = लिब्भइ* अथवा *लिहिज्जइ* = वह चाटा जाता है। (३) *उह्यते = वुब्भइ* अथवा *वहिज्जइ* = वह उठाया जाता है अथवा वह ले जाया जाता है। (४) *रुध्यते = रुब्भइ* अथवा *रुन्धिज्जइ* = वह रोका जाता है। इन उदाहरणों को ध्यान पूर्वक देखने से विदित होता है कि "दुह, लिह, वह और रुध" के अन्त्य अक्षर "ह तथा ध" के स्थान पर कर्मणि-भावे प्रयोगार्थ में "ब्भ" की आदेश प्राप्ति विकल्प से हुई है। जहाँ "ब्भ" नहीं है वहाँ पर "इज्ज" प्रत्यय आगया है। भविष्यत्-काल संबंधी उदाहरण इस प्रकार हैं:—*धोक्ष्यते = दुब्भिहिइ* अथवा *दुहिहिइ*=वह दूहा जायगा। इत्यादि ॥ ४-२४५ ॥

दहो ज्झः ॥ ४-२४६ ॥

दहोन्त्यस्य कर्म भावे द्विरुक्तो झो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ डज्झइ । डहिज्जइ । भविष्यति । डज्झिहिइ । डहिहिइ ॥

अर्थ—जलाना' अर्थक संस्कृत-धातु 'दह्' का प्राकृत-रूपान्तर 'डह' होता है; इस प्रकार के प्राप्त 'डह' धातु के कर्मणि-भावे प्रयोग में काल-बोधक प्रत्यय जोड़ने से पूर्व 'डह' धातु के अन्त्य व्यञ्जनाक्षर 'हकार' के स्थान पर द्विरुक्त अथवा द्वित्व 'झ=(सूत्र संख्या २-६०) से 'ज्झ' की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है तथा ऐसा होने पर कर्मणि-भावे अर्थक प्राकृत-प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। यदि 'हकार' के स्थान पर 'ज्झ' नहीं किया जायगा तो ऐसी स्थिति में 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय का सद्भाव अवश्य रहेगा। जैसे—*दह्यते=डज्झइ* अथवा *डहिज्जइ*=जलाया जाता है। भविष्यत्-कालीन दृष्टान्त यों है.—*दहिष्यते=डज्झिहिइ, डहिहिइ*=जलाया जायगा ॥ ४-२४६ ॥

बन्धो न्धः ॥ ४-२४७ ॥

बन्धेर्धातोरन्त्यस्य न्ध इत्यवयवस्य कर्म भावे ज्झो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ बज्झइ । बन्धिज्जइ भविष्यति । बज्झिहिइ । बन्धिहिइ ॥

अर्थ—'बांधना' अर्थक धातु 'बन्ध' के अन्त्य अक्षर अवयव 'न्ध' के स्थान पर कर्मणि-भावे-अर्थ में काल-बोधक प्रत्यय जुड़ने के पूर्व 'ज्झ' अक्षरावयव की विकल्प से प्राप्ति होती है। तथा ऐसा होने पर कर्मणि-भावे अर्थक प्राकृत-प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। यदि 'न्ध' के स्थान पर 'ज्झ' नहीं किया जायगा तो ऐसी स्थिति में 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय का सद्भाव अवश्य रहेगा। जैसे.—*बध्यते=बज्झइ* अथवा *बन्धिज्जइ*=बांधा जाता है। भविष्यत्-कालीन उदाहरण यों है:—*बन्धिष्यते=बज्झिहिइ* अथवा *बन्धिहिइ*=बाधा जायगा।

'बन्धिहिइ क्रियापद कर्मणि भावे-प्रयोग में प्रदर्शित करते हुए भविष्यत्-काल में लिखा गया है और ऐसा करते हुए कर्मणि भावे अर्थ वाले प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का जो लोप किया गया है, इस संबंध में सूत्र संख्या ३-१६० की वृत्ति का संविधान ध्यान में रखना चाहिये। इसमें यह स्पष्ट रूप से बतलाया है कि 'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से कहीं कहीं पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का विकल्प से लोप हो जाता है और ऐसा होने पर भी कर्मणि-भावे अर्थ की उपस्थिति हो सकती है।

सूत्र-संख्या ४-२४३ से ४-२४६ तक में प्रदर्शित भविष्यत्-कालीन उदाहरणों के संबंध में भी यही बात ध्यान में रखना चाहिये कि इनमें विकल्प से 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप करके भी कर्मणि-भावे अर्थ में भविष्यत्-काल प्रदर्शित किया गया है, तदनुसार इसका कारण उक्त सूत्र संख्या ३-१६० की वृत्ति ही है ॥ ४-२४७ ॥

समनूपाद्रुधेः ॥ ४–२४८ ॥

समनूपेभ्यः परस्य रुधेरन्त्यस्य कर्म-भावे ज्झो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ संरुज्झइ। अणुरुज्झइ। उवरुज्झइ। पक्षे। संरुन्धिज्जइ॥ अणुरुन्धिज्जइ। उवरुन्धिज्जइ। भविष्यति। संरुज्झिहिइ। संरुन्धिहिइ। इत्यादि ॥

अर्थः—'स, अनु, और उप' उपसर्गों में से कोई भी उपसर्ग साथ में हो तो 'रुध्=रुन्ध' धातु के अन्त्य अवयव रूप 'न्ध' के स्थान पर कर्मणि-भावे प्रयोगार्थ में विकल्प से 'ज्झ' अवयव रूप अक्षरो की आदेश प्राप्ति होती है। तथा इस प्रकार के 'ज्झ' की आदेश प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-अर्थ-बोधक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। यों 'न्ध' के स्थान पर 'ज्झ' की आदेश प्राप्ति नहीं है वहां पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय का सद्भाव अवश्यमेव रहेगा। जैसेः—*संरुध्यते=संरुज्झइ* अथवा *संरुधिज्जइ*=रोका जाता है, अटकाया जाता है। *अनुरुध्यते=अणुरुज्झइ* अथवा *अणुरुन्धिज्जइ*= अनुरोध किया जाता है, प्रार्थना की जाती है अथवा अधीन हुआ जाता है, सुप्रसन्नता की जाती है। *उपरुध्यते=उवरुज्झइ* अथवा *उवरुन्धिज्जइ*=रोका जाता है, अड़चने डाली जाती है अथवा प्रतिबन्ध किया जाता है। भविष्यत-कालीन दृष्टान्त यों हैः—*संरुन्धिष्यते=संरुज्झिहिइ* अथवा *संरुन्धिहिइ*=रोका जायगा, अटकाया जायगा। इत्यादि रूप से शेष प्रयोगो को स्वयमेव समझ लेना चाहिये। 'संरुन्धिहिइ क्रियापद भविष्यत् कालीन होकर कर्मणि-भावे अर्थ में बतलाया जाने पर भी 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप विधान सूत्र-संख्या ३-१६० की वृत्ति से किया गया है; इसको नहीं भूलना चाहिये ॥ ४–२४८ ॥

गमादीनां द्वित्वम् ॥ ४–२४९ ॥

गमादीनामन्त्यस्य कर्म-भावे द्वित्वं वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ गम्। गम्मइ। गमिज्जइ ॥ हस्। हस्सइ। हसिज्जइ॥ भण्। भण्णइ। भणिज्जइ॥ छुप्। छुप्पइ। छुविज्जइ॥ रुद-नमो र्वः (४–२२६) इति कृतवकारादेशो रुदिरत्र पठ्यते। रुव्। रुव्वइ। रुविज्जइ॥ लभ्। लब्भइ। लहिज्जइ॥ कथ्। कत्थइ। कहिज्जइ। भुज्। भुज्जइ, भुञ्जिज्जइ॥ भविष्यति। गम्मिहिइ। गमिहिइ। इत्यादि ॥

अर्थः—'गम, हस, भण, छुव' आदि कुछ एक प्राकृत धातुओ के कर्मणि-भावे-अर्थक प्रयोगों में इन धातुओ के अन्त्य अक्षर को द्वित्व अक्षर की प्राप्ति विकल्प से हो जाती है। यों द्वित्व-रूपता की प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-बोधक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। जहाँ पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का सद्भाव रहेगा वहाँ पर उक्त द्वित्व-रूपता की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यों दोनों में से या

तो द्वित्व-अक्षरत्व रहेगा अथवा 'ईअ या इज्ज' प्रत्यय ही रहेगा। जैसे:—*गम्यते=गम्मइ* अथवा *गमिज्जइ*=जाया जाता है। *(२) हस्यते=हस्सइ* अथवा *हसिज्जइ* =हँसा जाता है। *(३) भण्यते=भण्णइ* अथवा *भणिज्जइ*=कहा जाता है, बोला जाता है। *(४) छुप्यते=छुप्पइ* अथवा *छुविज्जइ*= स्पर्श किया जाता है।

सूत्र-संख्या ४-२२६ में विधान किया गया है कि 'रुद् और नम्' धातुओं के अन्त्य अक्षर को 'वकार' अक्षर की आदेश प्राप्ति हो जाती है। तदनुसार यहां पर संस्कृतीय धातु 'रुद्' को 'रुव' रूप प्रदान करके इसका उदाहरण दिया जा रहा है। *(५) रुद्यते = रुव्वइ* अथवा *रुविज्जइ* = रोया जाता है-रुदन किया जाता है। *(६) लभ्यते = लब्भइ* अथवा *लहिज्जइ* = प्राप्त किया जाता है। *(७) कथ्यते=कत्थइ* अथवा *कहिज्जइ*=कहा जाता है। इन 'लभ् और कथ्' धातुओं में इसी सूत्र से प्रथम बार तो 'द्वित्व, भ्भ और थ्थ' की प्राप्ति हुई है और पुनः सूत्र-संख्या २-९० से 'ब्भ तथा त्थ' की प्राप्ति होने से उपरोक्त उदाहरणों में 'लब्भ तथा कत्थ' ऐसा स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। *(८) भुज्यते= भुज्जइ* अथवा *भुंजिज्जइ*=खाया जाता है, भोगा जाता है। यहाँ पर 'भुज्' को 'भुंज्' की प्राप्ति सूत्र-संख्या ४-११० से हुई है; यह ध्यान में रखना चाहिये।

भविष्यत्-काल का दृष्टान्त इस प्रकार से है:—*गमिष्यते = गम्मिहिइ* अथवा *गमिहिइ*= जाया जायगा; इत्यादि रूप से समझ लेना चाहिये ॥ ४-२४९ ॥

हृ-कृ-तॄ-ज्रामीरः ॥ ४-२५० ॥

एषामन्त्यस्य ईर इत्यादेशो वा भवति ॥ तत्सनियोगे च क्य-लुक् ॥ हीरइ। हरिज्जइ ॥ कीरइ। करिज्जइ ॥ तीरइ। तरिज्जइ। जीरइ। जरिज्जइ ॥

अर्थ:—प्राकृत-भाषा में (१) हरना, चोरना' अर्थक धातु 'हृ' के, (२) 'करना' अर्थक धातु 'कृ' के, (३) 'तरना, पार पाना' अर्थक धातु 'तॄ' के, और (४) 'जीर्ण होना' अर्थक धातु 'जॄ' के कर्मणि भावे प्रयोग में अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'ईर' अक्षरावयव की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है, अर्थात् 'हृ का हीर, कृ का कीर, तॄ का तीर, और जॄ का जीर हो जाता है और ऐसा होने पर कर्मणि-भावे-प्रयोगार्थक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। यों जहाँ पर इन धातुओं में 'ईअ अथवा इज्ज' का सद्भाव है वहाँ पर इन धातुओं के अन्त्य स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'ईर' आदेश की प्राप्ति नहीं होती है। 'ईर' आदेश की प्राप्ति होने पर ही 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप होता है; यह स्थिति वैकल्पिक है उक्त चारों प्रकार की धातुओं के उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—*ह्रियते=हीरइ* अथवा *हरिज्जइ*=हरण किया जाता है अथवा चुराया जाता है। *[२] क्रियते=कीरइ* अथवा *करिज्जइ*=किया जाता है। *[३] तीर्यते=तीरइ* अथवा *तरिज्जइ*=तैरा जाता है, पार पाया

जाता है, और [४] जीर्यते = जीरइ अथवा जरिज्जइ = जीर्ण हुआ जाता है। कर्मणि-भावे-प्रयोगार्थे में उक्त चारों धातुओं की यों उभय स्थिति को सम्यक् प्रकार से समझ लेना चाहिये ॥ ४-२५० ॥

अर्जेर्विढप्पः ॥ ४-२५१ ॥

अन्त्यस्येति निवृत्तम्। अर्जेर्विढप्प इत्यादेशो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् विढप्पइ। पक्षे। विढविज्जइ। अज्जिज्जइ ॥

अर्थः—उपरोक्त सूत्र-संख्या ४-२५० तक अनेक धातुओं के अन्त्याक्षर को आदेश प्राप्ति होती रही है; परन्तु अब इस सूत्र से आगे के सूत्रों म धातुओं के स्थान पर वैकल्पिक रूप से अन्य धातुओं की आदेश-प्राप्ति का संविधान किया जाने वाला है, इस लिये अब यहाँ से अर्थात् इस सूत्र से 'अन्त्य' अक्षर की आदेश-प्राप्ति का संविधान समाप्त हुआ जानना। ऐसा उल्लेख इसी सूत्र की वृत्ति के आदि शब्द से समझना चाहिये।

'उपार्जन करना, पैदा करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'अर्ज' का प्राकृत-रूपान्तर 'अज्ज' होता है; परन्तु इस प्राकृत-धातु 'अज्ज' के स्थान पर कर्मणि-भावे-प्रयोगार्थ में प्राकृत-भाषा में विकल्प से 'विढप्प अथवा विढव' धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति होती है और ऐसी आदेश प्राप्ति विकल्प से होने पर कर्मणि-भावे-बोधक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। यों इन 'ईअ अथवा ईज्ज' प्रत्ययों का लोप होने पर ही 'विढप्प अथवा विढव' धातु-रूप की विकल्प से आदेश-प्राप्ति जानना। तत्पश्चात्-काल बोधक-प्रत्ययों की इस आदेश-प्राप्त धातु रूप में संयोजना की जाती है।

जहाँ पर 'अर्ज' का प्राकृत-रूपान्तर 'अज्ज' हो यदि रहेगा तो कर्मणि-भावे-प्रयोगार्थ में इस 'अज्ज' धातु में 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय की संयोजना करके तत्पश्चात् ही काल-बोधक-प्रत्ययों की संयोजना की जा सकेगी। जैसेः—*अर्ज्यते* = *विढप्पइ* (अथवा *विढवइ*) अथवा *अज्जिज्जइ* = उपार्जन किया जाता है, पैदा किया जाता है। यों 'विढप्प अथवा विढव' में 'ईअ, इज्ज' प्रत्यय का लोप है, जब कि 'अज्ज' में 'इज्ज' प्रत्यय का सद्भाव है।

'बहुलम्' सूत्र के अधिकार से कहीं कहीं पर 'विढव' आदेश-प्राप्त धातु में भी 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय का सद्भाव देखा जाता है। जैसा कि वृत्ति में उदाहरण दिया गया है कि:—*अर्ज्यते* = *विढविज्जइ* = पैदा किया जाता है, उपार्जन किया जाता है ॥ ४-२५१ ॥

ज्ञो णव्व-णज्जौ ४-२५२ ॥

जानातेः कर्म-भावे णव्व णज्ज इत्यादेशो वा भवतः। तत्संनियोगे क्यस्य च लुक्॥ णव्वइ, णज्जइ। पक्षे। जाणिज्जइ। मुणिज्जइ॥ म्न ज्ञो र्णः॥ (२-४२) इति णादेशे तु। णाइज्जइ॥ नञ्पूर्वकस्य। अणाइज्जइ॥

अर्थ:-'जानना' अर्थक संस्कृत-धातु 'ज्ञा' के प्राकृत रूपान्तर में कर्मणि भावे प्रयोग में 'ज्ञा' के स्थान पर 'णव्व और णज्ज' ऐसे दो धातु-रूपों को विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। यों आदेश प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे अर्थ-बोधक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है और केवल 'णव्व अथवा णज्ज' में काल-बोधक प्रत्यय जोड़ने मात्र से ही कर्मणि-भावे-बोधक-अर्थ की उत्पत्ति हो जाती है। दोनों के क्रम से उदाहरण यों हैं:—ज्ञायते = णव्वइ अथवा णज्जइ = जाना जाता है।

सूत्र-संख्या ४-२४२ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या ४-२५७ तक कुछ एक धातुओं के कर्मणि-भावे-अर्थ में नियमों का संविधान किया जा रहा है और इस सिलसिले में 'क्यस्य च लुक्' ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया जा रहा है, तदनुसार 'क्य=य' प्रत्यय संस्कृत-भाषा में कर्मणि-भावे-अर्थ में धातुओं के मूल स्वरूप में ही जोड़ा जाता है और इसी 'क्य = य' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत-भाषा में सूत्र-संख्या ३-१६० से 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्यय की प्राकृत-धातु में संयोजना करके कर्मणि-भावे-अर्थक प्रयोग का निर्माण किया जाता है, परन्तु कुछ एक धातुओं में इस 'य' प्रत्यय बोधक 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप हो जाने पर भी कर्मणि-भावे-अर्थ प्रकट हो जाता है; ऐसा 'क्य च लुक्' शब्दों से समझना चाहिये।

ऊपर 'ज्ञा' धातु के 'णव्व और णज्ज' रूपों की आदेश-प्राप्ति वैकल्पिक बतलाई गई है; अतः पक्षान्तर में 'ज्ञा धातु के सूत्र-संख्या ४-७ से 'जाण और मुण' प्राकृत धातु-रूप होने से इन के कर्मणि भावे-अर्थ में क्रियापदीय रूप यों होंगे—*ज्ञायते = जाणिज्जइ अथवा मुणिज्जइ* = जाना जाता है। '*णव्वइ तथा णज्जइ*' में 'इज्ज' प्रत्यय का लोप है, जब कि 'जाणिज्जइ और मुणिज्जइ' में 'इज्ज' प्रत्यय का सद्भाव है; इस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिये। किन्तु इन चारों क्रियापदों का अर्थ तो 'जाना जाता है' ऐसा एक ही है।

सूत्र-संख्या २-४२ से ज्ञा' के स्थान पर 'णा' रूप की भी आदेश प्राप्ति होती है और ऐसा होने पर 'ज्ञायते' का एक प्राकृत-रूपान्तर 'णाइज्जइ' ऐसा भी होता है। 'णाइज्जइ' का अर्थ भी 'जाना जाता है' ऐसा ही होगा। यदि 'नहीं' अर्थक प्रत्यय 'न अथवा अ' 'ज्ञा' धातु में जुड़ा हुआ होगा तो इसके क्रियापदीय रूप यों होंगे:—*न ज्ञायते=अज्ञायते = अणाइज्जइ* = नहीं जाना जाता है। यों 'ज्ञा' धातु के प्राकृत भाषा में कर्मणि-भावे-अर्थ में क्रियापदीय-स्वरूप जानना चाहिये॥ ४-२५२॥

व्याहृगे र्वाहिप्पः॥ ४-२५३॥

व्याहरतेः कर्म-भावे वाहिप्प इत्यादेशो वा भवति ॥ तत्संनियोगे क्यस्य च लुक् ॥ वाहिप्पइ । वाहरिज्जइ ॥

अर्थः—'बोलना, कहना अथवा आह्वान करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'व्या + हृ' का प्राकृत-रूपान्तर 'वाहर' होता है; परन्तु कर्मणि-भावे-प्रयोग में उक्त धातु 'व्याहृ' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'वाहिप्प' ऐसे धातु रूप की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है तथा ऐसी वैकल्पिक आदेश-प्राप्ति होने पर प्राकृत-भाषा में कर्मणि-भावे-प्रयोग अर्थक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप हो जाता है। यों जहाँ पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप हो जायगा वहाँ पर 'व्याहृ' के स्थान पर 'वाहिप्प' का प्रयोग होगा और जहाँ पर 'ईअ अथवा इज्ज' का लोप नहीं होगा वहाँ पर 'व्याहृ' के स्थान पर 'वाहर' का प्रयोग होगा। जैसेः—*व्याह्रियते=वाहिप्पइ* अथवा *वाहरिज्जइ* = बोला जाता है, अथवा कहा जाता है अथवा आह्वान किया जाता है ॥ ४-२५४ ॥

आरभेराढप्पः ॥ ४–२५४ ॥

आङ् पूर्वस्य रभेः कर्म-भावे आढप्प इत्यादेशो वा भवति। क्यस्य च लुक् ॥ आढप्पइ। पक्षे। आढवीअइ ॥

अर्थः—'आ' उपसर्ग सहित 'रभ्' धातु संस्कृत-भाषा में उपलब्ध है, इसका अर्थ 'आरम्भ करना, शुरु करना' ऐसा होता है। इस 'आरंम्भ' धातु को प्राकृत-रूपान्तर 'आढव' होता है; परन्तु कर्मणि-भावे-प्रयोग में संस्कृत-धातु 'आरभ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'आढप्प' ऐसे धातु रूप की आदेश-प्राप्ति विकल्प से हो जाती है; तथा ऐसी वैकल्पिक आदेश-प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-प्रयोग अर्थक प्रत्यय 'ईअ अथवा इज्ज' का प्राकृत-रूपान्तर में लोप हो जाता है। यों जहाँ पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप हो जायगा वहाँ पर 'आ + रभ्' के स्थान पर 'आढप्प' का प्रयोग होगा और जहाँ पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप नहीं होगा वहाँ पर 'आरभ्' के स्थान पर 'आढव' धातु रूप का उपयोग किया जायगा। जैसेः—*आरभ्यते=आढप्पइ* अथवा *आढवीअइ*=आरंभ किया जाता है, शुरु किया जाता है ॥ ४-२५४ ॥

स्निह–सिचोः सिप्पः ॥ ४–२५५ ॥

अनयोः कर्म–भावे सिप्प इत्यादेशो भवति, क्यस्य च लुक् ॥ सिप्पइ। स्निह्यते। सिच्यते वा ॥

अर्थः—'प्रीति करना, स्नेह करना' अर्थक संस्कृत-धातु 'स्निह्' के और 'सींचना, छिटकना' अर्थक संस्कृत-धातु 'सिच्' के स्थान पर कर्मणि-भावे प्रयोगार्थ में प्राकृत-रूपान्तर में '[illegible]' धातु रूप

की आदेश प्राप्ति होती है; और ऐसी आदेश प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-प्रयोग-वाचक प्राकृत-प्रत्यय "ईअ अथवा इज्ज" का लोप हो जाता है। उदाहरण यों हैं:—(१) *स्निह्यते = सिप्पइ* = प्रीति की जाती है, स्नेह किया जाता है। (२) *सिच्यते = सिप्पइ* = सींचा जाता है, छिड़का जाता है। यों "स्निह्" और "सिच्" दोनों धातुओं के स्थान पर "सिप्प" इस एक ही धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है परन्तु दोनों अर्थ प्रसंगानुसार समझ लिये जाते हैं॥ ४-२५५॥

ग्रहे घेप्पः ॥ ४-२५६ ॥

ग्रहेः कर्म भावे घेप्प इत्यादेशो वा भवति, क्यस्य च लुक्॥ घेप्पइ। गिण्हिज्जइ॥

अर्थः—"ग्रहण करना, लेना" अर्थक संस्कृत-धातु "ग्रह्" का प्राकृत-रूपान्तर "गिण्ह" होता है; परन्तु कर्मणि-भावे-प्रयोग में इस "ग्रह" धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में "घेप्प" ऐसे धातु रूप की आदेश-प्राप्ति विकल्प से होती है; तथा ऐसी वैकल्पिक आदेश-प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे-अर्थ-बोधक प्रत्यय "ईअ अथवा इज्ज" का प्राकृत रूपान्तर में लोप हो जाता है; यों जहाँ पर "ईअ अथवा इज्ज" प्रत्ययों का लोप हो जायगा वहाँ पर "ग्रह्" के स्थान पर "घेप्प" का प्रयोग होगा और जहाँ पर "ईअ अथवा इज्ज" प्रत्ययों का लोप नहीं होगा वहाँ पर "ग्रह्" के स्थान पर "गिण्ह" धातु-रूप का उपयोग किया जायगा। जैसे:—*गृह्यते = घेप्पइ* अथवा *गिण्हिज्जइ* (अथवा *गिण्हीअइ*) = ग्रहण किया जाता है, लिया जाता है॥ ४-२५६॥

स्पृशेश्छिप्पः ॥ ४-२५७ ॥

स्पृशतेः कर्म-भावे छिप्पादेशो वा भवति, क्यलुक् च॥ छिप्पइ। छिविज्जइ॥

अर्थः—"छूना, स्पर्श करना" अर्थक संस्कृत-धातु "स्पृश्" का प्राकृत-रूपान्तर "छिव" होता है; परन्तु कर्मणि-भावे-प्रयोग में इस "स्पृश्" धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में "छिप्प" ऐसे धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति विकल्प से होती है; तथा ऐसी वैकल्पिक आदेश प्राप्ति होने पर कर्मणि-भावे अर्थ-बोधक प्रत्यय "ईअ अथवा इज्ज" का प्राकृत रूपान्तर में लोप हो जाता है; यों जहाँ पर "ईअ अथवा इज्ज" प्रत्ययों का लोप हो जायगा वहाँ पर 'स्पृश्' के स्थान पर 'छिप्प' धातु रूप का प्रयोग होगा और जहां पर 'ईअ अथवा इज्ज' प्रत्ययों का लोप नहीं होगा वहां पर 'स्पृश्' के स्थान पर 'छिव' धातु-रूप का उपयोग किया जायगा। दोनों प्रकार के दृष्टान्त यों हैं:—*स्पृश्यते = छिप्पइ* अथवा *छिविज्जइ* (अथवा) *छिवीअइ* = छूआ जाता है, स्पर्श किया जाता है॥ ४-२५७॥

क्तेनाप्फुण्णादयः ॥ ४-२५८ ॥

अप्फुरणादयः शब्दा आक्रमि प्रभृतीनां धातुनाम् स्थाने क्तेन सह वा निपात्यन्ते ॥ अप्फुण्णो । आक्रान्तः ॥ उक्कोसं । उत्कृष्टम् ॥ फुडं । स्पष्टम् ॥ वोलीणो । अतिक्रांतः । वोसट्टो । विकसितः ॥ निसुट्टो । निपातितः ॥ लुग्गो । रुग्णः ॥ ल्हिक्को । नष्टः ॥ पम्हुट्टो । प्रमृष्टः प्रमुषितो वा ॥ विढत्तं । अर्जितम् ॥ छित्तं । स्पृष्टम् ॥ निमिअं । स्थापितम् ॥ चक्खिअं । आस्वादितम् ॥ लुअं । लूनम् ॥ जढं । त्यक्तम् ॥ झोसिअं । क्षिप्तम् ॥ निच्छुढं । उद्वृत्तम् ॥ पल्हत्थं पलोट्टं च ॥ पर्यस्तम् । हीसमणं ॥ हेषितम् । इत्यादि ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में धातुओं के अन्त में 'तकार'='क्त' प्रत्यय के जोड़ने से कर्मणि भूत कृदन्त के रूप बनजाते हैं और तत्पश्चात ये बने बनाये शब्द 'विशेषण' जैसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं तथा संज्ञा-शब्दों के समान ही इनके रूप भी विभिन्न विभक्तियों में तथा वचनों में चलाये जा सकते हैं। जैसे—गम् से गत=गया हुआ। मन् से मत=माना हुआ। इत्यादि।

प्राकृत-भाषा में भी इसी तरह से कर्मणि-भूत-कृदन्त के अर्थ में संस्कृत-भाषा के समान ही धातुओं में 'क्त=त' के स्थान पर 'अ' प्रत्यय की संयोजना की जाती है। जैसेः—गतः=गओ=गया हुआ। मतः=मओ=माना हुआ।

अनेक धातुओं में 'त=अ' प्रत्यय जोड़ने के पूर्व इन धातुओं के अन्त्यस्वर 'अकार' को 'इकार' की प्राप्ति हो जाती है; जैसेः—पठितम्=पढिअं=पढ़ा हुआ। श्रुतम्=सुणिअं=सुना हुआ। यों रूप बन जाने पर इनके अन्य रूपभी विभिन्न विभक्तियों में बनाये जा सकते हैं।

उपरोक्त संविधान का प्रयोग किये बिना भी प्राकृत-भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जो कि बिना प्रत्ययों के ही कर्मणि-भूत-कृदन्त के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दों की यह स्थिति वैकल्पिक होती है और ये 'निपात से सिद्ध हुए' माने जाते हैं विभिन्न विभक्तियों में तथा दोनों वचनों में इन शब्दों के रूप चलाये जा सकते हैं। ऐसे शब्द 'विशेषण की कोटि' को प्राप्त कर लेते हैं, इस लिये ये तीनों लिंगों में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। एक प्रकार से ये शब्द 'आर्ष' जैसे ही हैं।

'आक्रम्' आदि संस्कृत धातुओं के स्थान पर 'क्त=त=अ' प्रत्यय सहित प्राकृत में विकल्प से जिन धातुओं ने आदेश-स्थिति को निपात रूप से ग्रहण को है, उन धातुओं में से कुछ एक धातुओं के रूप (बने बनाये रूप में Ready made रूप में) नीचे दिये जा रहे हैं। यही इस सूत्र का तात्पर्य है।

(१) आक्रान्तः=अप्फुण्णो=दबाया हुआ। (२) उत्कृष्टम्=उक्कोसं=उत्कृष्ट, अधिक से अधिक। (३) स्पष्टम्=फुडं=स्पष्ट अथवा व्यक्त, साफ। (४) अतिक्रान्तः=वोलीणो=व्यतीत हुआ, बीता हुआ। (५) विकसितः=वोसट्टो=विकास पाया हुआ, खिला हुआ। (६) निपातितः=निसुट्टो=गिराया हुआ। (७) रुग्णः=लुग्गो=भग्न, भांगा हुआ अथवा रोगी, बीमार। (८) नष्टः=ल्हिक्को=नाश पाया हुआ। (९) प्रमृष्टः=पम्हुट्टो=चोरी किया हुआ। (१०) प्रमुषितः=पम्हुट्टो=चुराया हुआ। (११) अर्जितम्=

पिंडत=इकट्ठा किया हुआ अथवा कमाया हुआ पैसा किया हुआ (१२) स्पृष्टम्=छित्त=छुआ हुआ, स्पर्श किया हुआ। (१३) स्थापितम्=निमिय=स्थापित किया हुआ, रखा हुआ। (१४) आस्वादितम्=चक्खिअ=स्वाद लिया हुआ, चखा हुआ। (१५) लूनम्=लुअ=लुणा हुआ, काटा हुआ। (१६) त्यक्तम्=जढ=छोड़ा हुआ, त्यागा हुआ। (१७) क्षिप्तम्=झोसिअ=फेंका हुआ, छोड़ा हुआ सेवित, आराधित। (१८) उद्वृत्तम्=निच्छूढ=पीछा मुड़ा हुआ, निकला हुआ। (१९) पर्यस्तम्=पल्हत्थ और पल्लोट्ट=दूर रखा हुआ, फेंका हुआ। (२०) हेषितम्=हीसमण=खंखारा हुआ, घोड़े के शब्द जैसा शब्द किया हुआ।

कर्मणि-भूत-कृदन्त में यों कुछ एक धातुओं की अनियमित स्थिति 'आदेश-रूप' से जाननी चाहिये। यह स्थिति वैकल्पिक है। इस स्थिति में कर्मणि-भूत कृदन्त-बोधक-प्रत्यय 'त=अ' धातुओं में पहिले से ही (सहजात रूप से) जुड़ा हुआ है। अतएव 'त=अ' प्रत्यय को पुनः जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। या ये विशेषणात्मक हैं, इस लिये संज्ञाओं के समान ही इनके रूप भी विभिन्न विभक्तियों में तथा वचनों में बनाये जा सकते हैं॥ ४-२५८ ॥

धातवोर्थान्तरेपि ॥ ४-२५९ ॥

उक्तादर्थादर्थान्तरेपि धातवो वर्तन्ते ॥ बलिः प्राणने पठितः खादने पि वर्तते। बलइ। खादति, प्राणनं करोति वा॥ एवं कलिः संख्याने संज्ञाने पि। कलइ। जानाति, संख्यानं करोति वा॥ रिगि-गतौ प्रवेशे पि॥ रिगइ। प्रविशति गच्छति वा॥ कांक्षते वम्फ आदेशः प्राकृते। वम्फइ। अस्यार्थः। इच्छति खादति वा॥ फक्कतेः थक्क आदेशः। थक्कइ। नीचां गतिं करोति, विलम्बयति वा॥ विलप्युपालम्भ्योः झंख आदेशः। झंखइ। विलपति, उपालभते भाषते वा॥ एवं पडिवालेइ। प्रतीक्षते रक्षति वा॥ केचित् कैश्चिदुपसर्गैं नित्यम्। पहरइ। युध्यते॥ संहरइ। संवृणोति॥ अणुहरइ। सदृशी भवति॥ नीहरइ। पुरीषोत्सर्गं करोति॥ विहरइ। क्रीडति॥ आहरइ। खादति॥ पडिहरइ। पुनः पूरयति॥ परिहरइ। त्यजति॥ उवहरइ। पूजयति॥ वाहरइ। आह्वयति॥ पवसइ। देशान्तरं गच्छति॥ उच्चुपइ चटति॥ उल्लुहइ। निःसरति॥

अर्थ—प्राकृत-भाषा में कुछ एक धातुऐं ऐसी हैं, जो कि निश्चित अर्थ वाली होती हुई भी कभी कभी अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त की जाती हुई देखी जाती है। यों ऐसी धातुएँ दो अर्थ वाली हो जाती हैं, एक तो निश्चित अर्थ वाली और दूसरा वैकल्पिक अर्थ वाली। इन धातुओं को द्वि-अर्थक धातुओं की कोटि में गिनना चाहिये। कुछ एक उदाहरण यों है—*(१) बलइ=प्राणनं करोति* अथवा *खादति =*

वह प्राण धारण करता है अथवा वह खाता है। यहाँ पर 'वल' धातु प्राण धारण करने के अर्थ में निश्चितार्थ वाली होती हुई भी 'खाने' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुई है। *(२) कलइ=संख्यानं करोति* अथवा *जानाति*=वह आवाज करता है अथवा वह जानता है। यहाँ पर 'कल' धातु आवाज करना अथवा गणना करना अर्थ में सुनिश्चित होती हुई भी जानना अर्थ को भी प्रकट कर रही है। *(३) रिगइ=प्रविशति* अथवा *गच्छति*=वह प्रवेश करता है अथवा वह जाता है। यहाँ पर 'रिग' धातु प्रवेश करने के अर्थ में विख्यात होती हुई भी जाना अर्थ को प्रदर्शित कर रही है (४) संस्कृत-धातु 'कांक्ष्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'वम्फ' धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। यों 'वम्फ' धातु के दो अर्थ पाये जाते हैं:—एक तो 'इच्छा करना' और दूसरा खाना-भोजन करना। जैसे:—*वम्फइ=इच्छति* अथवा *खादति*=वह इच्छा करता है अथवा वह खाता है (५) संस्कृत-धातु 'फक्क' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'थक्क' धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति होकर इसके भी दो अर्थ देखे जाते हैं (अ) नीचे जाना और (ब) विलम्ब करना, ढील करना। इसका क्रियापदीय उदाहरण इस प्रकार है:—*थक्कइ=नीचां गतिं करोति* अथवा *विलम्बयति*=वह नीचे जाता है अथवा वह विलम्ब करता है-वह ढील करता है (६) प्राकृत-धातु 'झंख' के तीन अर्थ देखे जाते है:—(अ) विलाप करना, (ब) उलहना देना, और (स) कहना-बोलना। जैसे:—*झंखइ*=(अ) *विलपति*, (ब) *उपालभते*, (स) *भाषते*=वह विलाप करता है, वह उलहना देता है अथवा वह बोलता है-कहता है। यों संस्कृत-धातु 'विलप और उपालभ्' के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'झंख' धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति विकल्प से होती है। (७) 'पडिवाल' धातु का अर्थ 'प्रतीक्षा करना' है, परन्तु फिर भी 'रक्षा करना' अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। जैसे:—*पडिवालेइ= प्रतीक्षते* अथवा *रक्षति*=वह प्रतीक्षा करता है अथवा वह रक्षा करता है। यों प्राकृत-भाषा में ऐसी अनेक धातुएं है जो कि वैकल्पिक रूप से दो दो अर्थों को धारण करती हैं।

प्राकृत-भाषा में ऐसी भी कुछ धातुऐं हैं जो कि उपसर्ग-युक्त होने पर अपने निश्चित अर्थ से भिन्न अर्थ को ही प्रकट करती है और ऐसी स्थिति वैकल्पिक नहीं हो कर 'नित्य स्वरूप वाली है। इस संबंध में कुछ एक धातुओं के उदाहरण यों हैं:—*(१) पहरइ=युध्यते*=वह युद्ध करता है। यहाँ पर 'हर' धातु में 'प' उपसर्ग जुड़ा हुआ है और निश्चित अर्थ 'युद्ध करना' प्रकट करता है। *(२) संहरइ= संवृणोति*=वह संवरण करता है-वह अच्छा चुनाव करता है। यहाँ पर 'हर' धातु में 'सं' उपसर्ग है और इससे अर्थ में परिवर्तन आगया है। *अणुहरइ=सदृशी भवति*=वह उसके समान होता है। यहाँ पर 'हर' धातु में 'अणु' उपसर्ग है, जिससे अर्थ-भिन्नता उत्पन्न हो गई है। *(४) नीहरइ=पुरीषोत्सर्गं करोति*=वह मल त्याग करता है-वह टट्टी फिरता है। यहाँ पर भी 'हर' धातु में 'नी' उपसर्ग की प्राप्ति होने से अर्थान्तर दृष्टि गोचर हो रहा है। *(५) विहरइ=क्रीडति*=वह खेलता है-वह क्रीड़ा करता है। यहाँ पर 'हर' धातु में 'वि' उपसर्ग की संयोजना होने से 'विचरना' अर्थ के स्थान पर 'खेलना' अर्थ उत्पन्न हुआ है। *आहरइ=खादति*=वह खाता है अथवा वह भोजन करता है। यहाँ पर आ उपसर्ग होने से 'हरण करना' अर्थ नहीं होकर 'भोजन करना' अर्थ उद्भूत हुआ है। *(७) पाडिहरइ=पुनः*

पूरयाति = फिर से भरता है, फिर से परिपूर्ण करता है। यहाँ पर 'पडि' उपसर्ग होने से 'खींचना' अर्थ नहीं निकल कर 'परिपूर्ण करना' अर्थ निकल रहा है। *(८) परिहरइ = त्यजाति* = वह छोड़ता है-वह त्याग करता है। यहाँ पर 'हरण करना-छीनना' अर्थ के स्थान पर 'त्याग करना' अर्थ बतलाया गया है। *(९) उवहरइ = पूजयाति* = वह पूजता है-वह आदर सम्मान करता है। यहाँ पर 'अर्पण करना' अर्थ नहीं किया जा कर 'पूजा करना' अर्थ किया गया है। *(१०) वाहरइ = आह्वयति* = वह बुलाता है अथवा वह पुकारता है। यहाँ पर 'वा' उपसर्ग को जोड़ करके 'हर' धातु के 'हरण करना' अर्थ को हटा दिया गया है। *(११) पवसइ = देशान्तरं गच्छाति* = वह अन्य देश को-परदेश को जाता है। यहाँ पर 'प' उपसर्ग आने से 'वस' धातु के रहना अर्थ का निषेध कर दिया गया है। *(१२) उच्चुपइ = चटाति* = वह चढ़ता है, वह आरूढ़ होता है, वह ऊपर बैठता है। यहाँ पर भी 'उत् = उच्' उपसर्ग आने से अर्थ-भिन्नता पैदा हो गई है। *(१३) उल्लुहइ = नि:सराति* = वह निकलता है। यहाँ पर 'उत = उल्' उपसर्ग का सद्भाव होने से 'लुह' धातु के 'पोंछना साफ करना' अर्थ के स्थान पर 'निकलना' अर्थ बतलाया है। यों उपसर्गों के साथ में धातुओं के अर्थ में बड़ा अन्तर पड़ जाता है तथा अर्थान्तर की प्राप्ति हो जाती है; यही तात्पर्य व्याकरण कार का यहाँ पर सन्निहित है। तदनुसार इस सविधान को सदा ध्यान में रखना चाहिये ॥ ४-२५६ ॥

इति प्राकृत-भाषा-व्याकरण-विचार-समाप्त



अथ शौरसेनी-भाषा-व्याकरण-प्रारम्भ

तो दोनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ ४-२६० ॥

शौरसेन्यां भाषायामनादावपदादौ वर्तमानस्य तकारस्य दकारो भवति, न चेदसौ वर्णान्तरेण संयुक्तो भवति ॥ तदो पूरिद्-पदिञ्जेण मारुदिणा मन्तिदो ॥ एतस्मात् । एदाहि । एदाओ । अनादाविति किम् । तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि ॥ अयुक्तस्येति किम् । मत्तो । अय्य उत्तो असंभाविद-सक्कारं । हला सउन्तले ॥

अर्थः—अब इस सूत्र-संख्या-४-२६० से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या-४-२८६ तक अर्थात् सत्ताईस सूत्रों में शौरसेनी भाषा के व्याकरण का विचार किया जायगा। इस में मूल शब्द संस्कृत-भाषा का ही होगा और उसी शब्द को शौरसेनी-भाषा में रूपान्तर करने का सविधान प्रदर्शित किया जायगा। शौरसेनी-भाषा में और प्राकृत-भाषा में सामान्यतः एक रूपता ही है, जहाँ जहाँ अन्तर है, उसी अन्तर को इन सत्ताईस-सूत्रों में प्रदर्शित कर दिया जायगा। शेष सभा साविधान तथा रूपान्तर प्राकृत-भाषा के समान ही जानना चाहिये।

शौरसेनी-भाषा एक प्रकार से प्राकृत ही है अथवा प्राकृत-भाषा का अंग ही है। इन दोनों में सब प्रकार से समानता होने पर भी जो अति अल्प अन्तर है, वह इन सत्ताईस सूत्रों में प्रदर्शित किया जा रहा है। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत-गद्यांश शौरसेनी-भाषा में ही मुख्यतः लिखा गया है। प्राचीन काल में यह भाषा मुख्यतः मथुरा-प्रदेश के आस पास में ही बोली जाती थी।

संस्कृत-भाषा में रहे हुए 'तकार' व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर शौरसेनी भाषा में 'द्' व्यञ्जनाक्षर की प्राप्ति उस समय में हो जाती है जब कि-(१) 'तकार' व्यञ्जनाक्षर वाक्य के आदि में नहीं रहा हुआ हो, (२) जब कि वह 'तकार' किसी पद के आदि में भी न हो और (३) जब कि वह 'तकार' किसी अन्य हलन्त व्यञ्जनाक्षर के साथ संयुक्त रूप से-(मिले हुए रूप से-संधि-रूप से) भी नहीं रहा हुआ हो तो उस 'तकार' व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर 'दकार' की प्राप्ति हो जायगी। उदाहरण इस प्रकार हैः— *ततः पूरित-प्रतिज्ञेन मारुतिना मन्त्रितः = तदो पूरिद-पदिञ्जेण मारुदिणा मन्तिदो* = इसके पश्चात् पूर्ण की हुई प्रतिज्ञा वाले हनुमान से गुप्त मंत्रणा की गई। इस उदाहरण में 'ततः' में 'त' का 'द' किया गया है। इसी तरह से 'पूरित, प्रतिज्ञेन, मारुतिना, मन्त्रितः' शब्दों में भी रहे हुए 'तकार' व्यञ्जनाक्षर के स्थान पर 'दकार' व्यञ्जनाक्षर की प्राप्ति हो गई है। *[?] एतस्मात् = एदाहि* और *एदाओ* = इससे। इस उदाहरण में भी 'तकार' के स्थान पर 'दकार' की आदेश-प्राप्ति की गई है। यों अन्यत्र भी ऐसे स्थानों पर 'दकार' की स्थिति को समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—'वाक्य के आदि में अर्थात् आरंभ में रहे हुए 'तकार' के स्थान पर 'दकार' की आदेश-प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर.—चूंकि शौरसेनी-भाषा में ऐसा रचना-प्रवाह पाया जाता है कि संस्कृत भाषा की रचना को शौरसेनी भाषा में रूपान्तर करते हुए वाक्य के आदि में यदि 'तकार' व्यञ्जन रहा हुआ हो तो उसके स्थान पर 'दकार' व्यञ्जन की आदेश प्राप्ति नहीं होती है। जैसे.—*तथा कुरुथ यथा तस्य राज्ञः अनुकम्पनीया भवामि* (अथवा *भवेयम्*) = *तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि* = आप वैसा (प्रयत्न) करते हैं, जिससे मैं उस राजा की अनुकम्पा के योग्य (दया को पात्राणी) होती हूं (अथवा होऊँ)। इस उदाहरण में 'तथा' शब्द में स्थित 'तकार' वाक्य के आदि में आया हुआ है और इसी कारण से इस 'तकार' के स्थान पर 'दकार' व्यञ्जनाक्षर की आदेश प्राप्ति नहीं हुई है। यों सभी स्थानों पर वाक्य के आदि में रहे हुए 'तकार' व्यञ्जनाक्षर के सम्बन्ध में इस सावधान को ध्यान में रखना चाहिये।

प्रश्न.—'पद अथवा शब्द' के आदि में रहे हुए 'तकार' को भी 'दकार' की प्राप्ति नहीं होती है; ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—शौरसेनी-भाषा में ऐसा 'अनुबन्ध अथवा संविधान' भी पाया जाता है, जब कि पद के आदि में रहे हुए 'तकार' के स्थान पर 'दकार' को आदेश-प्राप्ति नहीं होती है जैसे.—*तस्य=तस्स* उसका। *तत =तदो*। इत्यादि। इन पदों के आदि में रहे हुए 'तकार' अक्षरों को 'दकार' अक्षर की आदेश प्राप्ति नहीं हुई है; यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—'संयुक्त रूप से रहे हुए' तकार को भी दकार की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा क्यों कहा गया है।

उत्तरः—शौरसेनी-भाषा में उसी 'तकार' को 'दकार' की आदेश प्राप्ति होती है, जो कि हलन्त न हो, तथा किसी अन्य व्यञ्जनाक्षर के साथ में मिला हुआ न हो; यों 'पूर्ण स्वतन्त्र अथवा अयुक्त' तकार के स्थान पर ही 'दकार' की आदेश-प्राप्ति होती है। ऐसा ही संविधान शौरसेनी भाषा का समझना चाहिये। जैसे —*मत्त*. = *मत्तो* = मद वाला अर्थात मतवाला। *आर्यपुत्रः* = *अय्यउत्तो* = पति, भर्ता, अथवा स्वामी का पुत्र। हे *सखि शकुन्तले*=*हला सउन्तले!* = हे सखि शकुन्तले! , इत्यादि। इन उदाहरणों में अर्थात् 'मत्त, आर्य पुत्र, और शकुन्तला' शब्दों में 'तकार' संयुक्त रूप से-(मिलावट से)-रहा हुआ है और इसी लिये इन संयुक्त 'तकारों' के स्थान कर 'दकार' व्यञ्जनाक्षर की आदेश-प्राप्ति नहीं हो सकती है। यही स्थिति सर्वत्र ज्ञातव्य है।

वृत्ति में 'असम्भाविद-सक्कार' ऐसा उदाहरण दिया हुआ है; इसका संस्कृत रूपान्तर 'असम्भावित सत्कारं' ऐसा होता है। इस उदाहरण द्वारा यह बतलाया गया है कि 'प्रथम तकार' के स्थान पर तो

भवद्भगवतोः ॥ ४-२६५ ॥

आमन्त्र्य इति निवृत्तम् । शौरसेन्यामनयोः सौ परे नस्य मो भवति ॥ किं एत्थ भवं हिदएण चिन्तेदि । एदु भवं । समणे भगवं महवीरे ॥ पज्जलिदो भयवं हुदासणो ॥ क्वचिदन्यत्रापि मघवं पागसासणे । संपाइअवं सीसो । कयवं । करेमि काहं च ॥

अर्थः—'संबोधन' संबंधी विचारणा की तो समाप्ति हो गई है; ऐसा तात्पर्य वृत्ति में दिये गये 'निवृत्तम्' पद से जानना चाहिये ।

'भवत्' तथा 'भगवत्' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाचक प्रत्यय 'सु=सि' के परे रहने पर तैयार हुए 'भवान् तथा भगवान्' पदों के अन्त्य नकार के स्थान पर हलन्त 'मकार' की अर्थात् अनुस्वार की प्राप्ति होती है और प्रथमा विभक्ति-वाचक एक वचन के प्रत्यय का लोप हो जाता है। ऐसा शौरसेनी भाषा में जानना चाहिये; तदनुसार भवान् पद का 'भवं' रूप होता है और भगवान् पद का रूपान्तर 'भयवं' अथवा 'भगवं' होता है विशेष उदाहरण इस प्रकार हैः—(१) किं अत्र भवान् हृदयेन चिन्तयति=किं एत्थ भवं हिदएण चिन्तेदि=क्या इस विषय में आप हृदय से चिन्तन करते हैं। (२) एतु भवान्=एदु भवं=आप जावें। (३) श्रमणः भगवान् महावीरः=समणे भगवं महवीरे= श्रमण-महासाधु भगवान महावीर ने । (४) प्रज्वलितः भगवान् हुताशनः=पज्जलिदो भयवं हुदासणो= उज्ज्वल रूप से जलता हुआ भगवान् अग्निदेव। इन उदाहरणों में यह बतलाया गया है कि 'भवत्' और 'भगवत्' शब्दों के प्रथमान्त एक वचन में बने हुए संस्कृतीय पद 'भवान्' तथा 'भगवान्' का शौरसेनी भाषा में क्रम से 'भवं और भगवं' (अथवा भयवं)' हो जाता है।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है जब कि अन्य पदों में भी प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अन्त्य हलन्त 'नकार' के स्थान पर शौरसेनी भाषा में 'अनुस्वार का प्राप्ति हो जाती है तथा प्रथमा-विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय 'सु=सि' का लोप हो जाता है । जैसेः—मघवान् पाक शासनः=मघवं पाग सासणे=देव राज इन्द्र ने। यहाँ पर प्रथमा विभक्ति के एक वचन में मघवान् का रूपान्तर 'मघवं' बतलाया है। दूसरा उदाहरण यों हैः—संपादितवान् शिष्यः=संपाइअवं सीसो=पढ़ाये हुए शिष्य ने यहाँ पर भी प्रथमा विभक्ति के एक वचन पद 'संपादितवान्' का रूपान्तर शौरसेनी भाषा में 'संपाइअवं' किया गया है। (३) कृतवान्=कायवं=मैं करने वाला हूँ अथवा मैं करूँगा यों हलन्त 'नकार' के स्थान पर प्रथमा-विभक्ति एक वचन में अनुस्वार की प्राप्ति का स्वरूप जानना ॥ ४-२६५ ॥

न वा र्यो य्यः ॥ ४-२६६ ॥

शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यो वा भवति ॥ अय्यउत्त पय्याकुलीकदम्हि । सुय्यो । पक्षे । अज्जो । पज्जाउलो । कज्ज-परवसो ॥

अर्थः-शौरसेनी भाषा में संयुक्त व्यञ्जन 'र्य' के स्थान पर विकल्प से द्वित्व (अथवा द्विरुक्त) 'य्य' की प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में संयुक्त 'र्य' के स्थान पर सूत्र-संख्या २-२४ से तथा २-८९ से द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति भी होती है। (१) हे आर्यपुत्र !-पर्याकुलीकृतास्मि=हे अय्यउत्त! (अथवा हे अज्जउत्त!) पय्याकुलीकदम्हि (अथवा पज्जाकुलीकदम्हि)=हे आर्य पुत्र! मैं दुःखी करदी गई हूँ। (२) सूर्य =सुय्यो अथवा सुज्जो = सूरज। (३) आर्यः = अय्यो अथवा अज्जो = आर्य, श्रेष्ट। (४) पर्याकुल = पय्याउलो अथवा पज्जाउलो = घड़ाया हुआ, दुःखी किया हुआ। (५) कार्य-परवशः = कज्ज-परवसो अथवा कय्य-परवसो = कार्य करने में दूसरों के वश में रहा हुआ। यों शौरसेनी भाषा में 'र्य' के स्थान पर 'य्य' अथवा 'ज्ज' की प्राप्ति विकल्प से होती है॥ ४-२६६ ॥

थो धः ॥ ४-२६७ ॥

शौरसेन्यां थस्य धो वा भवति ॥ कधेदि, कहेदि ॥ णाधो णाहो। कध कहं। राज-पधो, राजपहो ॥ अपदादावित्येव। थामं। थेओ ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा से शौरसेनी भाषा में रूपान्तर करने पर संस्कृत शब्दों में रहे हुए 'थकार' व्यञ्जन के स्थान पर विकल्प से 'धकार' व्यञ्जन की प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या १-१८७ से थकार के स्थान पर 'हकार' की भी प्राप्ति हो सकती है। जैसेः—(१) *कथयति = कधेदि* अथवा *कहेदि*=वह कहता है-वह कथन करता है। इस उदाहरण में 'ति' के स्थान पर 'दि' की प्राप्ति सूत्र-संख्या ४-२७३ से जानना। (२) *नाथ =णाधो* अथवा *णाहो*=नाथ, स्वामी, ईश्वर। (३) *कथम्=कधं* अथवा कहं=कैसे, किस तरह से। (४) *राज-पथ =राज-पधो* अथवा *राज-पहो*,= मुख्य मार्ग, धोरी मार्ग, मुख्य सड़क। इन उदाहरणों में 'थकार' के स्थान पर 'धकार' की अथवा 'हकार' की प्राप्ति प्रदर्शित की गई है।

सूत्र-संख्या ४-२६० से यह अधिकृत-सिद्धान्त जानना चाहिये कि उक्त 'थकार' के स्थान पर 'धकार' की अथवा 'हकार' की प्राप्ति पद के आदि में रहे हुए 'थकार' के स्थान पर नहीं होती है और इसी लिये इसी सूत्र की वृत्ति में 'अपदादौ' अर्थात 'पद के आदि में नहीं ऐसा उल्लेख किया गया है। वृत्ति में इस विषयक दो उदाहरण भी क्रम से इस प्रकार दिये गये हैं.—(१) *स्थाम = थाम* = बल, वीर्य, पराक्रम। 'स्थामन्" शब्द नपुंसक लिंगी है, इसलिये प्रथमा विभक्ति के एक वचन में "स्थामन्' का रूप "स्थाम" बनता है। (२) *स्थेयः = थेओ* = रहने योग्य अथवा जो रह सकता हो, अथवा फैसला करने वाला न्यायाधीश। इन उदाहरणों में पदों के आदि में रहने वाले "थकार" के स्थान पर न तो "धकार" की प्राप्ति ही होती है और न "हकार" की प्राप्ति ही। यों "थकार" के स्थान पर 'धकार" की अथवा 'हकार" की प्राप्ति को जानना चाहिये ॥४-२६७॥

'दकार' की प्राप्ति हो गई है; क्योंकि यह 'तकार' न तो वाक्य के आदि में है और न पद के ही आदि में है तथा न यह हलन्त अथवा संयुक्त ही है और इन्हीं कारणों से इस प्रथम तकार के स्थान पर 'दकार' की आदेश प्राप्ति हो गई है। जब कि द्वितीय तकार हलन्त है और इसीलिये सूत्र-संख्या २-७७ से उस हलन्त 'तकार' का लोप हो गया है। यों संयुक्त 'तकार' की अथवा हलन्त तकार की स्थिति शौरसेनी-भाषा में होती है। इस बात को प्रदर्शित करने के लिये ही यह *'असम्भाविद-सक्कारं'* उदाहरण वृत्ति में दिया गया है; जो कि खास तौर पर ध्यान देने के योग्य है। इस प्रकार संस्कृतीय तकार की स्थिति शौरसेनी-भाषा में 'दकार' की स्थिति में बदल जाती है; यही इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ ४-२६० ॥

अधः क्वचित् ॥ ४-२६१ ॥

वर्णान्तरस्याधो वर्तमानस्य तस्य शौरसेन्यां दो भवति। क्वचिल्लक्ष्यानुसारेण ॥ महन्दो। निच्चिन्दो। अन्देउरं ॥

अर्थः—यह सूत्र ऊपर वाले सूत्र-संख्या ४-२६० का अपवाद रूप सूत्र है, क्यों कि उस सूत्र में यह बतलाया गया है कि संयुक्त रूप से रहे हुए 'तकार' के स्थान पर 'दकार' की प्राप्ति नहीं होती है; किन्तु इस सूत्र में यह कहा जा रहा है कि कहीं कहीं ऐसा भी देखा जाता है जब कि संयुक्त रूप से रहे हुए 'तकार' के स्थान पर भी 'दकार' की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इसमें एक शर्त है वह यह है कि संयुक्त तकार हलन्त व्यञ्जन के पश्चात रहा हुआ हो। यहाँ पर 'पश्चात्' स्थिति का अर्थ-बोधक शब्द 'अधस्' लिखा गया है। वृत्ति का संक्षिप्त स्पष्टी-करण यों है कि-"किसी हलन्त व्यञ्जन के पश्चात् अर्थात् अधस्-रूप से रहे हुए तकार के स्थान पर शौरसेनी-भाषा में 'दकार' की आदेश-प्राप्ति हो जाया करती है। 'यह स्थिति कभी कभी और कहीं कहीं पर ही देखी जाती है इसी तात्पर्य को वृत्ति में 'लक्ष्यानुसारेण' पद से समझाया गया है उदाहरण इस प्रकार है *[१] महान्तः=महन्दो*=सबसे बड़ा परम ज्येष्ठ। *[२] निश्चिन्तः=निच्चिन्दो*=निश्चिन्त। *[३] अन्तः पुरं=अन्देउरं*=रानियों का निवास स्थान। इन तीनों उदाहरणों में 'न्त' अवयव में 'तकार' हलन्त व्यञ्जन 'नकार' के साथ में परवर्ती होकर संयुक्त रूप से रहा हुआ है और इसी लिये इस सूत्र के आधार से उक्त 'तकार' शौरसेनी-भाषा में 'दकार' के रूप में परिणत हो गया है। यह स्पष्ट-रूप से ध्यान में रहे कि सूत्र-संख्या ४-२६० में ऐसे 'तकार' को 'दकार-स्थिति' की प्राप्ति का निषेध किया गया है। अतः अधिकृत-सूत्र उक्त सूत्र का अपवाद रूप सूत्र है। ॥ ४-२६१ ॥

वादेस्तावति ॥ ४-२६२ ॥

शौरसेन्याम् तावच्छब्दे आदेस्तकारस्य दो वा भवति ॥ दाव। ताव ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के 'तावत्' शब्द के आदि 'तकार' के स्थान पर शौरसेनी भाषा में विकल्प से 'दकार' की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे —तावत्=दाव अथवा ताव=तब तक ॥ ४-२६२ ॥

आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः ॥ ४-२६३ ॥

शौरसेन्यामिनो नकारस्य आमन्त्र्ये सौ परे आकारो वा भवति ॥ भो कञ्चुइआ। सुहिआ। पक्षे। भो तवस्सि। भो मणस्सि ॥

अर्थ—'इन्' अन्त वाले शब्दों के अन्त्य हलन्त 'नकार' के स्थान पर शौरसेनी भाषा में सम्बोधन-वाचक प्रत्यय 'सु' परे रहने पर 'आकार' की आदेश-प्राप्ति विकल्प से हो जाती है। जैसेः—[१] हे कञ्चुकिन्!=भो कञ्चुइआ अथवा भो कंचुइ=अरे अन्त पुर के चपरासी। [२] हे सुखिन्=भो सुहिआ अथवा भो सुहि!=हे सुख वाले। [३] हे तपस्विन्=भो तवस्सिआ अथवा भो तवस्सि=हे तपश्चर्या करने वाले। हे मनस्विन्=भो मणस्सिआ अथवा भो मणस्सि!=हे विचारवान् ॥ यों 'नकार' के स्थान पर संबोधन के एक वचन में विकल्प से आकार की आदेश-प्राप्ति हो जाती है। पक्षान्तर में 'आ' का लोप हो जायगा ॥ ४-२६४ ॥

मो वा ॥ ४-२६४ ॥

शौरसेन्यामामन्त्र्ये सौ परे नकारस्य मो वा भवति ॥ भो रायं। भो विअय वम्मं। सुकम्मं। भयवं कुसुमाउह। भयवं! तित्थं पवत्तेह। पक्षे। सयल-लोअ-अन्ते आरि भयव हुदवह ॥

अर्थः—सबोधन के एक वचन में 'सु' प्रत्यय परे रहने पर शौरसेनी भाषा में संस्कृतीय नकारान्त शब्दों के अन्त्य हलन्त 'नकार' का लोप हो जाता है, सबोधन वाचक-प्रत्यय का भी लोप हो जाता है और लोप होनेवाले नकार के स्थान पर विकल्प से हलन्त मकार की प्राप्ति हो जाती है। यों शौरसेनी भाषा में नकारान्त शब्दों के संबोधन के एक वचन में दो रूप हो जाते हैं; एक तो मकारान्त रूप वाला पद और दूसरा मकारान्त रूप रहित पद। जैसेः—हे राजन्!=भो रायं अथवा भो राय=हे राजा। हे विजय-वर्मन्!=भो विअय वम्मं! अथवा भो विअय वम्म!=हे विजय-वर्मा। हे सुकर्मन्=भो सुकम्मं! अथवा भो सुकम्म!=हे अच्छे कर्मों वाले। हे भगवान् कुसुमायुध=भो भयवं अथवा भो भयव) कुसुमाउह!=हे भगवान कामदेव। हे भगवन्! तीर्थं प्रवर्तस्व=हे भयवं! (अथवा हे भयव!) तित्थं पवत्तेह=हे भगवान्! (आप) तीर्थ की प्रवृत्ति करो। हे सकल-लोक-अंतश्चारिन्! भगवन्! हुतवह!=भो सयल-लोअ-अन्ते आरि! भयव! हुदवह!=हे सम्पूर्ण लोक में विचरण करने वाले भगवान अग्निदेव। इन उदाहरणों में यह मत व्यक्त किया गया है कि संबोधन के एक वचन में नकारान्त शब्दों में अन्त्य नकार के स्थान पर मकार की प्राप्ति (तदनुसार सूत्र-संख्या १-२३ से अनुस्वार की प्राप्ति) विकल्प से होती है ॥ ४-२६४ ॥

इह-हचोर्हस्य ॥४-२६८॥

इह शब्द संबंधिनो मध्यमस्येत्था-हचौ (३-१४३) इति विहितस्य हचश्च हकारस्य शौरसेन्यां धो वा भवति ॥ इध । होध । परित्तायध ॥ पक्षे । इह । होह । परित्तायह ॥

अर्थ—संस्कृत-शब्द 'इह' में रहे हुए "हकार" के स्थान पर शौर सेनी-भाषा में विकल्प से "धकार" की आदेश-प्राप्ति होती है । जैसेः—इह = इध अथवा इह = यहां पर सूत्र-संख्या ३-१४३ में वर्तमान-काल-बोधक मध्यम-पुरुष-वाचक बहु वचनी प्रत्यय "इत्था और ह' कहे गये हैं, तदनुसार उक्त "हकार" प्रत्यय के स्थान पर भी शौर सेनी-भाषा में विकल्प से "धकार" रूप प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। यों "हकार" के स्थान पर विकल्प से "धकार" की आदेश-प्राप्ति जानना चाहिये । जैसेः (१) *भवथ = होध* अथवा *होह* = तुम होते हो । (२) *परित्रायध्वे=परित्तायध* अथवा *परित्तायह* = तुम संरक्षण करते हो अथवा तुम पोषण करते हो ॥ ४-२६८ ॥

भुवो भः ॥ ४-२६९ ॥

भवते र्हकारस्य शौरसेन्यां भो वा भवति ॥ भोदि होदि भुवदि, हुवदि ॥ भवदि, हवदि ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में 'होना' अर्थक भू = भव्' धातु है; इन 'भव्' धातु के स्थान पर प्राकृत-भाषा में सूत्र-संख्या ४-६० से विकल्प से 'हव' 'हो' और 'हुव' धातु रूपों की आदेश-प्राप्ति होती है; तदनुसार इन आदेश-प्राप्त 'हव, हो और हुव' धातु-रूपों मे स्थित 'हकार' के स्थान पर शौरसेनी-भाषा में विकल्प से 'भकार' की प्राप्ति होती है और ऐसा होने पर हव का भव, हो का भो तथा हुव का भुव' विकल्प से हो जाता है । जैसेः—*भवति* = (१) *भोदि*, (२) *होदि*, (३) *भुवदि*, (४) *हुवदि*, (५) *भवदि* और (६) *हवदि* = वह होता है ।

सूत्र-संख्या ४-२७३ से वर्तमानकाल-वाचक तृतीय पुरुष बोधक एक वचनीय प्रत्यय 'ति' के स्थान पर 'दि' की प्राप्ति होती है; जैसा कि ऊपर के उदाहरणों में बतलाया गया है । अतएव क्रियापदों में यह ध्यान में रखना चाहिये ॥ ४-२६९ ॥

पूर्वस्य पुरवः ॥ ४-२७० ॥

शौरसेन्यां पूर्व शब्दस्य पुरव इत्यादेशो वा भवति ॥ अपुरवं नाडयं । अपुरवागदं । पक्षे । अपुव्वं पदं । अपुव्वागदं ॥

अर्थः—संस्कृत शब्द 'पूर्व' का प्राकृत-रूपान्तर 'पुव्व' होता है, परन्तु शौरसेनी भाषा में 'पूर्व' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'पुरव' शब्द की आदेश-प्राप्ति होती है। यों शौरसेनी भाषा में 'पूर्व' के

स्थान पर 'पुरव' और 'पुव्व' ऐसे दोनों शब्द-रूपों का प्रयोग देखा जाता है। प्राकृत-भाषा में सूत्र-संख्या २-१३५ से 'पूर्व' के स्थान पर 'पुरिम' ऐसा रूप भी विकल्प से उपलब्ध है।

शौरसेनी भाषा संबंधी 'पुरव' और 'पुव्व' शब्दों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) *अपूर्वम् नाटकम्* = *अपुरवं नाडयं* अथवा *अपुव्वं नाडयं* = अनोखा नाटक, अद्भुत खेल। (२) *अपूर्वम् अगदम्* *अपुरवागदं* अथवा *अपुव्वागदं* = अनोखी औषधि अथवा अद्भुत दवा। (३) *अपूर्वम् पदम्* = *अपुव्वं पदं* अथवा *अपुरवं पदं* = *अनोखा पद*, अद्भुत शब्द। इत्यादि ॥ ४-२७० ॥

क्त्व इय-दूणौ ॥ ४-२७१ ॥

शौरसेन्यां क्त्वा प्रत्यय स्य इय, दूण इत्यादेशौ वा भवतः ॥ भविय; भोदूण। हविय, होदूण। पढिय, पढिदूण। रमिय, रन्दूण। पक्षे। भोत्ता। होत्ता। पढित्ता। रन्ता ॥

अर्थ.—अव्ययी रूप सम्बन्ध भूत कृदन्त के अर्थ में संस्कृत-भाषा में धातुओं में 'क्त्वा = त्वा' प्रत्यय का योग होता है। ऐसा होने पर धातु का अर्थ 'करके' अर्थ वाला हो जाता है। जैसे:— खाकरके पी करके, इत्यादि। शौरसेनी भाषा में इसी संबंध-भूत कृदन्त के अर्थ में संस्कृतीय-प्रत्यय 'त्वा' के स्थान पर विकल्प से 'इय अथवा दूण' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में संस्कृतीय प्रत्यय 'त्वा' के स्थान पर सूत्र-संख्या २-७६ से तथा २-८६ से 'व्' का लोप होकर द्वित्व 'त्ता' की प्राप्ति होने से इस 'त्ता' प्रत्यय को ही संबंध भूत-कृदन्त के अर्थ में संयोजित कर दिया जाता है। जैसे —*भूत्वा* = *भविय*, *भोदूण*, *हविय* और *होदूण* अथवा *होत्ता* = होकर के। *पठित्वा* = *पढिय*, *पढिदूण*, अथवा *पढित्ता*=पढ़ करके-अध्ययन करके। *रन्त्वा*=*रमिय*, *रन्दूण* अथवा *रन्ता*=रमण करके, खेल करके ॥ ४-२७१ ॥

कृ-गमो डडुअः ॥ ४-२७२ ॥

आभ्यां परस्य क्त्वा प्रत्ययस्य डित् अडुअ इत्यादेशो वा भवति ॥ कडुअ। गडुअ। पक्षे। करिय। करिदूण। गच्छिय गच्छिदूण ॥

अर्थ—संस्कृत-धातु 'कृ = करना' और 'गम् = गच्छ् = जाना' के संबंध भूत कृदन्त के रूप शौरसेनी भाषा में बनाना हो तो सूत्र संख्या ४-२७१ में वर्णित प्रत्यय 'इय, दूण और त्ता' के अतिरिक्त विकल्प से 'डडुअ=अडुअ' प्रत्यय की भी आदेश-प्राप्ति होती है। 'ड डु अ' प्रत्यय में आदि 'ड्' इत् संज्ञा वाला होने से 'कृ' धातु के अन्त्य स्वर 'ऋ' का और 'गम्' धातु के अन्त्य वर्ण 'अम्' का लोप हो जाता है, एवं तत्पश्चात् शेष रहे हुए धातु अंश 'क्' और 'ग' में क्त्वा=त्वा=अर्थक 'अडुअ' प्रत्यय की भी विकल्प से संयोजना की जाती है। जैसे:—*कृत्वा* = *कडुअ*=करके। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में

'कारिय, कारिदूण अथवा कारित्ता' रूप भी बनेंगे। *गम्=गच्छ्* का उदाहरणः—*गत्वा=गडुअ=* जाकरके। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में *'गच्छिय, गच्छिदूण'* रूप भी बनेंगे॥ ४-२७२॥

दि रि चे चोः ॥ ४-२७३ ॥

त्यादीनामाद्य त्रयस्याद्यस्येचेचौ (३-१३९) इति विहितयोरिचेचोः स्थाने दिर्भवति॥ वेति निवृत्तम्। नेदि। देदि। भोदि। होदि॥

अर्थः—वर्तमानकाल-बोधक, तृतीय-पुरुष वाचक एक वचनीय प्रत्यय 'ति' अथवा 'ते' के स्थान पर प्राकृत भाषा में सूत्र-संख्या ३-१३९ से 'इ अथवा ए' प्रत्यय की प्राप्ति कही गई है, तदनुसार प्राकृत-भाषा में प्राप्त इन 'इ अथवा ए' प्रत्ययों के स्थान पर शौरसेनी भाषा में 'दि' प्रत्यय की नित्यमेव आदेश-प्राप्ति होती है। वृत्ति में 'वा इति निवृत्तम' शब्दों का तात्पर्य यही है कि वैकल्पिक-स्थिति' का यहां पर अभाव है और इसलिये 'दि' प्रत्यय की प्राप्ति नित्यमेव सर्वत्र जानना। जैसेः—*नयति=नेदि*=वह ले जाता है। *ददाति=देदि*=वह देता है। *भवति=भोदि* अथवा *होदि*=वह होता है॥ ४-२७३॥

अतो देश्च ॥ ४-२७४ ॥

अकारात् परयोरिचेचोः स्थाने देश्चकाराद् दिश्च भवति॥ अच्छदे। अच्छदि। गच्छदे। गच्छदि। रमदे। रमदि॥ किज्जदे। किज्जदि॥ अत इति किम्। वसुआदि। नेदि। भोदि॥

अर्थः—अकारान्त धातुओं में प्राकृत-भाषा मे वर्तमान-काल के तृतीय पुरुष के अर्थ में लगने वाले एक वचनीय प्रत्यय 'इ अथवा ए' के स्थान पर शौरसेनी भाषा में 'दे' प्रत्यय का प्रयोग होता है। मूल-सूत्र में उल्लिखित 'चकार से यह अर्थ समझना कि- 'उक्त 'दे' प्रत्यय के अतिरिक्त 'दि' प्रत्यय का भी प्रयोग होता है।' इस विषयक उदाहरण क्रम से यों हैः—(१) *आस्ते=अच्छदे* अथवा *अच्छदि*=वह बैठता है। (२) *गच्छति=गच्छदि* अथवा *गच्छदे*=वह जाता है। (३) *रमते=रमदे* अथवा *रमदि*=वह क्रीड़ा करता है—वह खेलता है। (४) *करोति=किज्जदे* अथवा *किज्जदि*=वह करता है; इत्यादि।

प्रश्नः—अकारान्त धातुओं में ही प्रत्यय 'इ अथवा ए' के स्थान पर 'दे' अथवा दि होता है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—जो धातु अकारान्त नहीं हैं; उनमें लगने वाले प्रत्यय 'इ अथवा ए' के स्थान पर 'दे' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है; परन्तु के ल '' प्रत्यय की ही प्राप्ति होती है; ऐसा जानना चाहिये और

इसालिये 'अकारान्त धातु' शब्द का उल्लेख किया गया है। जैसे—*उद्वाति = वसुआदि* = वह सूखता है—वह शुष्क होता है। *नयति = नेदि* = वह ले जाता है। *भवति = भोदि* = वह होता है। इन उदाहरणो में 'वसुआ, ने और भो' धातु क्रम से 'आकारान्त, एकारान्त और ओकारान्त' हैं; इसलिये इन धातुओं में शौरसेनो भाषा में 'दि' प्रत्यय की हो प्राप्ति हुई है तथा 'दे' प्रत्यय की प्राप्ति इनमें नहीं होगी। यों अकारान्त के सिवाय अन्य स्वरान्त धातुओं में भी 'दि' प्रत्यय की ही प्राप्ति होगी, न कि 'दे' प्रत्यय को प्राप्ति होगी॥ ४-२७४॥

भविष्यति स्सिः ४-२७५

शौरसेन्यां भविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये परे स्सि भवति। हिस्साहामपवादः॥ भविस्सिदि। करिस्सिदि। गच्छिस्सिदि॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में सूत्र-सख्या ३-१६६ में तथा ३-१६७ में ऐसा विधान कया गया है कि भविष्यत्-काल वाचक विधि में धातुओं मे वर्तमानकाल-वाचक प्रत्ययों के पूर्व 'हि, अथवा स्सा अथवा हा' प्रत्ययों को जोड़ने से वह क्रियापद भविष्यत काल-बोधक बन जाता हैं। इस सूत्र में शौरसेनो भाषा के लिये उक्त विधान का अपवाद किया गया है और यह निर्णय दिया गया है कि शौरसेनो भाषा में भविष्यत् काल वाचक अर्थ में वर्तमान-काल बोधक प्रत्ययों के पहिले केवल 'स्सि' प्रत्यय की ही प्राप्ति होकर वह क्रियापद भविष्यत काल अर्थ बोधक बन जाता है। तदनुसार शौरसेनी भाषा में भविष्यत् काल बोधक अर्थ के लिये धातुओं में वर्तमान-काल-वाचक प्रत्ययों के पूर्व 'हि, अथवा स्सा अथवा हा' विकरण प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं होगी। उदाहरण यों हैं—(१) *भविष्यति=भविस्सिदि* = वह होगा अथवा वह होगी। (२) *करिष्यति=करिस्सिदि* = वह करेगा अथवा वह करेगी। (३) *गमिष्यति = गच्छिस्सिदि* = वह जावेगा अथवा वह जावेगी॥ ४ २७५॥

अतो ङसे र्डादो-डादू॥ ४-२७६॥

अतः परस्य ङसे शौरसेन्यां आदो आदु इत्यादेशौ डितौ भवतः॥ दूरादो य्येव। दूरादु॥

अर्थः—अकारान्त सज्ञा शब्दों के पंचमी विभक्ति के एकवचन में सस्कृतीय प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर शौरसेनी-भाषा में 'आदो और आदु' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। यह आदेश-प्राप्ति 'डित्' स्वरूप वाली होने से उक्त 'आदो और आदु' प्रत्ययों की सयोजना होने के पूर्व उन अकारान्त शब्दों के अन्त्य 'अकार' का लोप हो जाता है और तदनुसार शेष रहे हुए व्यञ्जनान्त शब्दों में इन 'आदो तथा आदु' प्रत्ययों की सयोजना को जाती है। जैसे—*दूरात् एव = दूरादोय्येव* = दूर से ही

दूरात् = दूरादु = दूर से । प्राकृत-भाषा में पंचमी विभक्ति के एकवचन में सूत्र-संख्या ३-८ से 'त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो और लुक्' ऐसे छह प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है; किन्तु शौरसेनी भाषा में तो 'आदो और आदु' ऐसे दो प्रत्ययों की ही आदेश प्राप्ति जानना चाहिये ॥ ४-२७६ ॥

इदानीमो दाणिं ॥ ४-२७७ ॥

शौरसेन्यामिदानीमः स्थाने दाणिं इत्यादेशो भवति ॥ अनन्तर करणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो ॥ व्यत्ययात् प्राकृते ऽपि । अन्नं दाणिं बोहिं ॥

अर्थः—संस्कृतीय अव्यय 'इदानीम्' के स्थान पर शौरसेनी भाषा में केवल 'दाणिं' ऐसे शब्द-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*अनन्तर करणीयं इदानीम् आज्ञापयतु हे आर्य ! अनन्तर-करणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो* = हे महाराज ! अब आप इसके बाद में करने योग्य (कार्य का) आदेश फरमावें । प्राकृत-भाषा में 'इदानीम्' के स्थान पर तीन शब्द रूप पाये जाते हैं:—(१) *एण्हि*, (२) *एत्ताहे* और (३) *इआणिं* । किन्तु शौरसेनी-भाषा में तो केवल '*दाणिं*' रूप की ही उपलब्धि है । कहीं-कहीं पर '*दाणि* और *दाणीं*' रूप भी देखे जाते हैं ।

प्राकृत-भाषा में ऐसा संविधान पाया जाता है कि संस्कृत-भाषा के शब्दों में रहे हुए स्वरों का अथवा व्यञ्जनों का परस्पर में 'व्यत्यय' अर्थात् आगे का पीछे और पीछे का आगे होकर संस्कृतीयशब्द प्राकृतीय बन जाते हैं । जैसेः—*अन्यं इदानीम् बोधिम्* = *अन्नं दाणिं बोहिं* = अब दूसरे को शुद्ध धर्म-ज्ञान को (बोधिको) (समझाओ) ॥ ४-२७७ ॥

तस्मात्ताः ॥ ४-२७८ ॥

शौरसेन्यां तस्माच्छब्दस्य ता इत्यादेशो भवति ॥ ता जाव पविसामि । ता अलं एदिणा माणेण ॥

अर्थः—'उस कारण से' अथवा 'उससे' अर्थक संस्कृत-पद 'तस्मात्' के स्थान पर शौरसेनीभाषा में 'ता' शब्द रूप की आदेश-प्राप्ति होती है । जैसेः—*तस्मात् यावत् प्रविशामि* = *ता जाव पविसामि* = उस कारण से तब तक मैं प्रवेश करता हूँ । *तस्मात् अलम् एतेन मानेन* = *ता अलं एदिणा माणेण* = उस कारण से इस मान से (अभिमान से)—अब बस करो अर्थात् अब अभिमान का त्याग कर दो यों 'ता' शब्द का अर्थ ध्यान में रखना चाहिये ॥ ४-२७८ ॥

मोन्त्याण्णो वेदेतोः ॥ ४-२७९ ॥

शौरसेन्यामन्त्यान्मकारात् परं इदेतो परयोर्णकारागमो वा भवति ॥ इकारे । जुत्तं-णिमं, जुत्त मिणं । सरिसं णिमं, सरिसमिणं । एकारे । किंणेदं किमेदं । एवं णेदं एवमेदं ॥

अर्थ.—शौरसेनी भाषा में यदि शब्दान्त्य हलन्त 'मकार' हो और उस हलन्त मकार के आगे यदि 'इकार अथवा एकार' हो तो ऐसे 'इकार अथवा एकार' के साथ में विकल्प से हलन्त 'णकार' की आगम-प्राप्ति होती है। इकार और एकार सम्बन्धी उदाहरण इस प्रकार क्रम से हैं:—(१) *युक्तम् इदम्* =*जुत्तं णिमं* अथवा *जुत्तमिणं*=यह (बात) सही है। (२) *सदृशं इदम्=सरिसं णिमं* अथवा *सरिसमिणं* =यह समान—(एक जैसा है) इन दोनों उदाहरणों में 'इमं' के स्थान पर 'णिमं' की प्राप्ति हुई है; यों 'इकार' में 'णकार' की आगम-प्राप्ति को समझ लेना चाहिये। यह आगम प्राप्ति वैकल्पिक है, अतः द्वितीय 'इणं' के स्थान पर णिणं की प्राप्ति नहीं हुई है। 'एकार' सबधी उदाहरण यों हैं—(१) *किं एतद्*= *किं णेदं* अथवा *किमेदं*=यह क्या है? (२) *एवं एतद्=एवं णेदं* अथवा *एवमेदं*=यह ऐसा है। इन उदाहरणों में 'एदं' के स्थान पर विकल्प से 'णेदं' रूप की प्राप्ति हुई है; यों 'एकार' में 'णकार' की आगम-प्राप्ति को विकल्प से जान लेना चाहिये ॥ ४-२७९ ॥

एवार्थे य्येव ॥ ४-२८० ॥

एवार्थे य्येव इति निपातः शौरसेन्यां प्रयोक्तव्यः ॥ मम य्येव बम्भणस्स । सो य्येव एसो ॥

अर्थः—'निश्चय-वाचक' संस्कृत-अव्यय 'एव' के स्थान पर अथवा 'एव' के अर्थ में शौरसेनी-भाषा में 'य्येव' अव्यय रूप का प्रयोग किया जाना चाहिये। जैसे—(१) *मम एव ब्राह्मणस्य=मम-य्येव बम्भणस्स*=मुझ ब्राह्मण का ही। (२) *स एव एषः=सो य्येव एसो*=वह ही यह है। यों इन दोनों उदाहरणों में 'एव' के स्थान पर 'य्येव' की प्राप्ति हुई है ॥ ४-२८० ॥

हञ्जे चेट्याह्वाने ॥ ४-२८१ ॥

शौरसेन्याम् चेट्याह्वाने हञ्जे इति निपातः प्रयोक्तव्यः ॥ हञ्जे चदुरिके ॥

अर्थ—दासी को संबोधन करते समय में अथवा बुलाने के समय में शौरसेनी भाषा में 'हञ्जे' अव्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसे—*अरे! चतुरिके! = हञ्जे चदुरिके!* = अरे चतुर दासी! अरे बुद्धिमान् दासी ॥ ४-२८१ ॥

हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे ॥ ४-२८२ ॥

शौरसेन्यां हीमाणहे इत्ययं निपातो विस्मये निर्वेदे च प्रयोक्तव्यः ॥ विस्मये । हीमाणहे जीवन्त-वच्छा मे जणणी ॥ निर्वेदे । हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण नियविधिणो दुव्ववसिदेण ॥

अर्थः—'आश्चर्य' प्रकट करना हो अथवा 'खेद' प्रकट करना हो तो शौरसेनी भाषा मे 'हीमाणहे' ऐसे इस अव्यय का प्रयोग किया जाता है। आश्चर्य-प्रकट करने अर्थक उदाहरण यों हैः— *अहो !! जीवन्त—वत्सा मम जननी = हीमाणहे जीवन्त-वच्छा मे जणणी* = आश्चर्य है कि मेरी माता जीवन-पर्यन्त वात्सल्य भावना रखने वाली है। 'खेद' प्रकट करने-अर्थक उदाहरण इस प्रकार से हैः—*हा ! हा !! परिश्रान्ता अहम् एतेन निज-विधेः दुर्व्यवासितेन = हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण नियविधिणो दुव्ववसिदेण*=अरे ! अरे !! खेद है कि-(बड़े दुःख की बात है कि-) मैं अपने इस भाग्य के विपरीत चले जाने से-(तकदीर के फेर से)-बहुत ही दुःखी हूँ॥ यों 'हीमाणहे' अव्यय शौरसेनी भाषा में 'आश्चर्य तथा खेद' दोनों अर्थों मे प्रयुक्त किया जा सकता है॥ ४-२८२ ॥

णं नन्वर्थे ॥ ४—२८३ ॥

शौरसेन्यां नन्वर्थे णमिति निपातः प्रयोक्तव्यः ॥ णं अफलोदया । णं अय्य मिस्सेहिं पुढमं य्येव आणत्तं । णं भवं मे अग्गदो चलदि ॥ आर्षे वाक्यालंकारेपि दृश्यते । नमोत्थु णं । जया णं । तया णं ॥

अर्थः—संस्कृत-अव्यय "ननु" के स्थान पर शौरसेनी-भाषा मे "ण" अव्यय की आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। इस "ण" अव्यय के चार अर्थ क्रम से इस प्रकार होते हैं:—(१) अवधारण अथवा निश्चय, (२) आशंका, (३) वितर्क और (४) प्रश्न। इन चारों अर्थों मे से प्रसंगानुसार उचित अर्थ की कल्पना कर लेना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार से हैं:—(१) *ननु अफलोदया = णं अफलोदया* (मुझे) शंका (है कि यह) फलोदया वाली नहीं है। (२) *ननु आर्य मिश्रैः प्रथममेव आज्ञप्तम् = णं अय्य मिस्सेहिं पुढमं य्येव आणत्तं = निश्चय* ही पूज्य पुरुषों द्वारा (यह बात) पहिले ही फरमादी गई है। (३) *ननु भवान् मम* (अथवा मे) *अग्रतः चलति = णं भवं मे अग्गदो चलदि*=निश्चय ही आप मेरे से आगे चलते हैं।

"णं" अव्यय आर्ष प्राकृत में "वाक्यालंकार" रूप में भी प्रयुक्त किया जाता हुआ देखा जाता है। ऐसी स्थिति में यह "णं" अव्यय अर्थ रहित ही होता है और केवल शोभा-रूप में ही इस की उपस्थिति रहती है। जैसेः—*नमोऽस्तु=नमोत्थु णं* = नमस्कार प्रणाम होवे। इसी उदाहरण में 'ण' अर्थ शून्य है और केवल शोभा रूप ही है। (२) *यदा तदा = जयाणं, तयाणं* = जब तब। यहाँ पर भी "णं" अव्यय केवल शोभा के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। यों अन्यत्र भी इस "णं" अव्यय की स्थिति को स्वयमेव समझ लेना चाहिये॥ ४-२८३॥

अम्महे हर्षे ॥ ४--२८४ ॥

शौरसेन्याम् अम्महे इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्यः ॥ अम्महे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदा भवं ॥

अर्थ.—'हर्ष व्यक्त करना हो' तब शौरसेनी भाषामें 'अम्महे' ऐसे अव्यय-शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'अम्महे' ऐसा शब्द बोलने पर सुनने वाला समझता है कि वक्ता प्रसन्नता प्रकट कर रहा है—खुशी जाहिर कर रहा है। जैसेः—*आहा!* (ओहो) *एतयासूर्मिलया सुपरिगृहीतः भवान्* =*अम्हे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदो भवं* = प्रसन्नता की बात है कि—इस सूर्मिला (स्त्री विशेष) से आप भली प्रकार से ग्रहण किये गये हैं। यों यह हर्ष द्योतक एवं रूढ अर्थक अव्यय है ॥ ४-२८४ ॥

ही ही विदूषकस्य ॥ ४-२८५ ॥

शौरसेन्याम् ही ही इति निपातो विदूषकाणां हर्षे द्योत्ये प्रयोक्तव्यः ॥ ही ही भो संपन्ना मणोरधा पिय-वयस्सस्स ॥

अर्थ.—विदूषक-जन अर्थात् राजा के साथ रहने वाला (मसखरा-व्यक्ति-विशेष) जब हर्ष प्रकट करता है तो वह 'ही ही' ऐसा शब्द बोलता है। विदूषक द्वारा 'ही ही' ऐसा बोलने पर सुनने वाले समझ जाते हैं कि यह अपना हर्ष प्रकट कर रहा है। जैसे—*अहो! अरे! अरे! संपन्ना मनोरथा प्रियवयस्यस्य* = *ही ही भो संपन्ना मणोरधा पिय-वयस्सस्स* = *आहा! आहा! प्रिय* मित्र के मनोरथ (मन की भावनाएँ) परिपूर्ण हो गये (अथवा हो गई) हैं॥ यों 'ही ही' अव्यय का हर्ष द्योतक रूढ अर्थ है। यह अव्यय केवल विदूषक-जनो द्वारा ही प्रयुक्त किया जाता है॥ ४-२८५ ॥

शेषं प्राकृत वत् ॥ ४-२८६ ॥

शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोन्यच्छौरसेन्यां प्राकृतवदेव भवति ॥ दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ (१-४) इत्यारभ्य तो दोनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य (४-२६०) एतस्मात् सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि एषु यान्युदाहरणानि तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव शौरसेन्यां भवन्ति, अमूनि पुनरेवंविधानि भवन्तीति विभागः प्रति सूत्रं स्वयमभ्यूह्य दर्शनीयः ॥ यथा। अन्दावेदी। जुवदि जणो। मणसिला। इत्यादि ॥

अर्थः—यह सूत्र सर्व-सामान्य रूप से यह बतलाता है कि शौरसेनी भाषा के लगभग सभी नियम प्राकृत भाषा के समान ही होते हैं। जो कुछ भी अन्तर परस्पर में है वह अन्तर सूत्र-संख्या ४-२६० से

आरम्भ करके सूत्र-संख्या ४-२८५ के अन्तर्गत प्रदर्शित कर दिया गया है और शेष सभी नियम प्राकृत-भाषा के समान ही जानना; तदनुसार सूत्र-संख्या १-४ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या ४-२५६ तक के विधि-विधानों को शौरसेनी-भाषा के लिये भी कल्पित कर लेना। यों प्रत्येक सूत्र में प्रदर्शित परिवर्तन जैसा प्राकृत-भाषा के लिये है वैसा ही शौरसेनी भाषा के लिये भी स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

शौरसेनी भाषाका मूल आधार प्राकृत भाषा ही है और इसीलिये संस्कृत भाषा से प्राकृत-भाषा की तुलना करने में जिन नियमों का तथा जिन विधि-विधानों का प्रयोग एवं प्रदर्शन किया जाता है उन्हीं नियमों का तथा उन्हीं विधि विधानों का प्रयोग एवं प्रदर्शन भी शौरसेनी भाषा के लिये किया जा सकता है। सूत्र-संख्या ४-२६० से ४-२८५ तक में वर्णित भिन्नता का स्वरूप स्वयमेव ध्यान में रखना चाहिये। कुछ एक उदाहरण यों हैं:—

संस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	हिन्दी
अन्तर्वेदिः =	अन्तावेई =	अन्तावेदी =	मध्य की वेदिका।
युवति—जनः =	जुवइ-अणो =	जुवदि—जणो =	जवान स्त्री-पुरुष।
मनः शिला =	मणसिला =	मणसिला =	मैंन शील एक उपधातु

यों प्राकृत-भाषा के और शौरसेनी भाषा के एक ही जैसे शब्दों में पूर्ण साम्य होते हुए भी जो यत्-किञ्चित् अन्तर दिखलाई पड़ रहा है उसका समाधान सूत्र-संख्या ४-२६० से लगाकर सूत्र संख्या ४-२८५ तक में वर्णित विधि-विधानों से कर लेना चाहिये। शेष सब कार्य प्राकृत के समान ही जानना॥ ४-२८६॥

इति शौरसेनी-भाषा-विवरण समाप्त



अथ मागधी-भाषा व्याकरण प्रारम्भ

अत एत् सौ पुंसि मागध्याम् ॥ ४-२८७ ॥

मागध्यां भाषायां सौ परे अकारस्य एकारो भवति पुंसि पुल्लिगे ॥ एष मेषः । एशे मेशे ॥ एशे पुलिशे ॥ करोमि भदन्त । कलेमि भन्ते ॥ अत इति किम् । णिही । कली । गिली ॥ पुंसीति किम् । जलं ॥ यदपि "पोराण मद्ध-मागह-भासा-नियर्यं हवइ सुत्तं" इत्यादिनार्षस्य अर्धमागध भाषा नियतत्वमाम्नायि वृद्धैस्तदपि प्रायोस्यैव विधानान्न वक्ष्यमाण लक्षणस्य ॥ कयरे आगच्छइ ॥ से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिए । इत्यादि ॥

अर्थः—मागधी भाषा में अकारान्त पुल्लिग में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर अन्त्य "अकार" को "एकार" की प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—एष मेषः = एशे मेशे=यह भेड़। पुरुषः = एशे पुलिशे = यह आदमी। करोमि भदन्त = कलेमि भन्ते=हे पूज्य ! मैं करता हूँ। इन उदाहरणों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में और संबोधन के एक वचन में "एकार" की स्थिति स्पष्टतः प्रदर्शित की गई है।

प्रश्नः—'अकारान्त' में ही प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'एकार' की स्थिति क्यों कही गई है ?

उत्तरः—जो शब्द पुल्लिग होते हुए भी अकारान्त नहीं हैं, उनमे प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सु' के स्थान पर "एकार" की प्राप्ति नहीं पाई जाती है इसलिये अकारान्त के लिये ही ऐसा विधान किया गया है।

उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं.—(१) *निधिः=णिही*=खजाना (२) *करिः=कली*=हाथी (३) *गिरिः=गिली*=पहाड़ इत्यादि। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि ये इकारान्त हैं इसलिये इनमें प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "सु" के स्थान पर "एकार" की प्राप्ति नहीं हुई है; यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्नः—पुल्लिग में ही "एकार" की प्राप्ति होती है, ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—जो शब्द अकारान्त होते हुए भी यदि पुल्लिग नहीं हैं तो उन शब्दों में भी प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "सु" के स्थान पर "एकार" की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे.—जलम्=जलं=पानी। इस उदाहरण में "जल" शब्द अकारान्त होते हुए भी पुल्लिग नहीं होकर नपुंसक लिंग वाला है इसलिये इस शब्द में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में "जले" नहीं होकर "जलं" रूप ही बना है। यों अन्य अकारान्त नपुंसक लिंग वाले शब्दों के संबंध में भी यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिये।

आर्ष वादी वृद्ध पुरुषों की ऐसी मान्यता है कि "अर्ध मागधी" भाषा सुनिश्चित है, अत्यंत पुरानी है और इसलिये इसके नियमों का विधान करने की आवश्यकता नहीं हैं। यह बात अपेक्षा विशेष से भले ही ठीक हो परन्तु इस विषय में हमारा इतना ही निवेदन है कि हम भी प्रायः उन्हीं रूपों का विधान करते हैं और उन्हीं के अनुकूल नियमों का निर्धारण करते हैं, जो कि अर्ध मागधी भाषा के साहित्य में उपलब्ध हैं; अतः पुराण वादियों के मत से प्रतिकूल बात का विधान नहीं किया जा रहा है। जैसेः—*कतरः आगच्छति = कयरे आगच्छइ* = दो में से कौन आता है? (२) *स तादृशः दुःखसहः जितेन्द्रियः = से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिए*=वह जैसा इन्द्रियों को जीतने वाला है वैसा ही दुःखों को भी सहन करने वाला है। इन उदाहरणों में यह प्रदर्शित किया गया है कि जो पद अकारान्त पुल्लिग वाले हैं उन सब मे प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सु' प्रत्यय के स्थान पर 'एकार' की ही प्राप्ति प्रदर्शित की गई है; यों 'अर्ध-मागधी' भाषा में उपलब्ध स्वरूप का ही समर्थन किया गया है और इसी को पुष्टि के लिये ही इस सूत्र का निर्माण किया गया है। यों प्राचीन मान्यता को ही संरक्षण प्रदान किया गया है। अतः इसमें विरोध का प्रश्न ही नहीं है ॥ ४–२८७ ॥

र-सोर्ल-शौ ॥ ४–२८८ ॥

मागध्यां रेफस्य दन्त्य सकारस्य च स्थाने यथा संख्य लकारः तालव्य शकारश्च भवति ॥ र ॥ नले । कले ॥ स । हंशे । शुदं । शोभणं ॥ उभयोः । शालशे । पुलिशे ॥

लहश-वश-नमिल शुल-शिल-विअलिद-मन्दाल-लायिदंहियुगे ॥
वील-यिणे पक्खालदु मम शयलम वय्य-यम्बालं ॥ १ ॥

अर्थः—मागधी भाषा में रेफरूप 'रकार' के स्थान पर और दन्त्य 'सकार' के स्थान पर क्रम से 'लकार' और तालव्य 'शकार' की प्राप्ति हो जाती है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—'रकार' से 'लकार' की प्राप्ति का उदाहरणः—नरः = नले=मनुष्य। करः = कले = हाथ। 'सकार' से 'शकार' की प्राप्तिका उदाहरणः—हंसः = हंशे = हंस पक्षी। सुतम् = शुदं = लड़के को। सोभनम् = शोभण = सुन्दर। यदि एक ही पद में दो 'सकार' आ जांय तो भी उन दोनों 'सकारों' के स्थान पर 'शकारों' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः—सारसः = शालशे = सारस जाति का पक्षी विशेष। पुरुषः = पुलिशे ॥ मनुष्य। 'पुरुष' उदाहरण से यह भी ज्ञात होता है कि मागधी-भाषा में मूर्धन्य 'षकार' के स्थान पर भी तालव्य शकार की प्राप्ति हो जाया करती है।

ऊपर सूत्र की वृत्ति मे जो गाथा उद्धृत की गई है उसमे यह बतलाया गया है कि मागधी-भाषा में 'रकार' के स्थान पर 'लकार' की, 'सकार' के स्थान पर 'शकार' की, 'तकार' के स्थान पर 'दकार' की, 'जकार' के स्थान पर 'यकार' की और 'र्य' संयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर द्वित्व 'य्य' की क्रम से प्राप्ति हो जाती है तथा प्रथमा विभक्ति में अकारान्त के स्थान पर 'एकारान्त' की आदेश प्राप्ति हो जाती है।

वृत्ति में मागधी-गाथा का संस्कृत-अनुवाद इस प्रकार है.—*रभस-वश-नम्र-सुर-शिरो-विगलित मन्दार-राजित-आंघ्रियुग ॥ वीर-जिनः प्रक्षालयतु मम सकलमवद्यजम्बालम् ॥ १ ॥*

अर्थ—भक्ति के कारण वेग पूर्वक झुकते हुए देवताओं के मस्तकों से गिरते हुए मन्दार जाति के श्रेष्ठ फूलों से जिनके दोनों चरण शोभायमान हो रहे हैं, ऐसे भगवान महावीर जिनेश्वर मेरे सम्पूर्ण पाप रूपी मैलको अथवा कीचड़ को प्रक्षालन कर दे अथवा दूर करदें।

उपरोक्त वर्ण परिवर्तन अथवा वर्ण-आदेश का स्वरूप क्रम से बतला दिया गया है, जो कि ध्यान देने योग्य है ॥ ४-२८८ ॥

स-षोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ॥ ४-२८९ ॥

मागध्यां सकार षकारयोः संयोगे वर्तमानयोः सो भवति, ग्रीष्मशब्दे तु न भवति। ऊर्ध्वलोपाद्यपवादः ॥ स। पक्खलदि हस्ती। बुहस्पदी। मस्कली। विस्मये ॥ ष। शुस्क-दालुं। कस्टं। विस्नुं। शस्प-कवले। उस्मा। निस्फलं। धनुस्खण्डं ॥ अग्रीष्म इति किम्। गिम्ह-वाशले ॥

अर्थः—मागधी-भाषा में संयुक्त रूप से रहे हुए हलन्त 'सकार' और हलन्त 'षकार' के स्थानपर हलन्त 'सकार' की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु यह नियम 'ग्रीष्म' शब्द में रहे हुए हलन्त षकार' के लिये लागू नहीं पड़ता है। यों यह प्राप्त हलन्त 'सकार' ऊपर कहे हुए 'लोप आदि' विधियों की दृष्टि से अपवाद रूप ही समझा जाना चाहिये। हलन्त 'सकार' का उदाहरण इस प्रकार है:—(१) *प्रस्खलति हस्तिः = पक्खलदि हस्ती* = हाथी गिरता है। (२) *बृहस्पतिः = बुहस्पदी* = देवताओं का गुरू। (३) *मस्करी = मस्कली*=उपहास। (४) *विस्मय = विस्मये* = आश्चर्य। इन उदाहरणों में हलन्त 'सकार' की की स्थिति हलन्त रूप में ही रही है। अब हलन्त 'षकार' के उदाहरण यों हैं.-(१) *शुष्कतालुम = शुस्क-दालुं*=सूखा तालु। (२) *कष्टम्=कस्ट*=तकलीफ पीड़ा। (३) *विष्णुम्=विस्नु*=विष्णु का। (४) *शष्प-कवलः = शस्प कवले* = घास का ग्रास। (५) *उष्मा = उस्मा* = गरमी। (६) *निष्फलं = निस्फलं* = फल रहित, व्यर्थ। (७) *धनुष् खंडम् = धनुस्खंडं* = धनुष् का टुकड़ा। इन उदाहरणों में हलन्त 'षकार' को हलन्त 'सकार' की प्राप्ति हुई है। यों अन्यत्र भी जान लेना चाहिये।

प्रश्न.—'ग्रीष्म' शब्द में रहे हुए हलन्त 'षकार' को हलन्त 'सकार' की प्राप्ति क्यों नहीं हुई है?

उत्तर—चूंकि संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'ग्रीष्म' शब्द का रूपान्तर मागधी भाषा में 'गिम्ह' ही देखा जाता है, इसलिये ग्रन्थ-कर्ता को भी 'ग्रीष्म' शब्द मे रहे हुए हलन्त 'षकार' के लिये उपरोक्त नियम के प्रतिकूल विधान करना पड़ा है। इसका उदाहरण इस प्रकार है.—*ग्रीष्म वासरः = गिम्ह वाशले* = *ग्रीष्म* ऋतु का दिन। यों 'ग्रीष्म' का रूपान्तर 'गिम्ह' ही जानना ॥ ४-२८९ ॥

ट्ट-ष्ठयोस्टः ॥ ४-२९० ॥

द्विरुक्तस्य टस्य षकाराक्रान्तस्य च ठकारस्य मागध्यां सकाराक्रान्तः टकारो भवति ॥ ट्ट । पस्टे । भस्टालिका । भस्टिणी ॥ ष्ठ । शुस्टु कदं । कोस्टागालं ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा के शब्दों में उपलब्ध द्वित्व 'ट्ट' के स्थान पर और हलन्त 'षकार' सहित 'ठकार' के स्थान पर मागधी-भाषा में हलन्त 'सकार' सहित 'टकार' की प्राप्ति होती है। द्वित्व 'टकार' के उदाहरण यों हैं:—(१) *पट्टः* = *पस्टे* = पदार्थ विशेष (२) *भट्टारिका=भस्टालिका*=भट्टार की स्त्री। *भट्टिनी=भस्टिणी* = भट्ट की स्त्री। 'ष्ठ' के उदाहरण इस प्रकार हैं:— (१) *सुष्ठकृतम्* = *शुस्टु-कदं* = अच्छा किया हुआ। (२) *कोष्ठागारम्* = *कोस्टागालं*=धान्य आदि रखने का स्थान विशेष ॥ ४-२९० ॥

स्थ-र्थयोस्तः ॥ ४-२९१ ॥

स्थ, र्थ, इत्येतयोः स्थाने मागध्यां सकाराक्रान्तः तो भवति । स्थ । उवस्तिदे । शुस्तिदे ॥ र्थ । अस्त-वदी । शस्तवाहे ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा के शब्दों में उपलब्ध 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर मागधी भाषा मे हलन्त 'सकार' पूर्वक 'तकार' की प्राप्ति होती है। 'स्थ' के उदाहरणः—(१) *उपस्थितः* = *उवस्तिदे* = मौजूद-हाजिर। (२) *सुस्थितः* = *शुस्तिदे*=अच्छी तरह से रहा हुआ। 'र्थ' के उदाहरणः— (१) *अर्थपतिः* = *अस्त-वदी* = धन का मालिक। (२) *सार्थवाहः* = *शस्तवाहे*=सद्-गृहस्थ अथवा बड़ा व्यौपारी ॥ ४-२९१ ॥

ज-द्य-यां-यः ॥ ४-२९२ ॥

मागध्यां जद्ययां स्थाने यो भवति ॥ ज । याणदि । यणवदे । अय्युणे । दुय्यणे । गय्यदि । गुण-वय्यिदे ॥ द्य । मय्यं । अय्य किल विय्याहले आगदे ॥ य । यादि । यधाशलूवं । याण-वत्तं । यदि ॥ यस्य यत्व-विधानम् आदेर्योजः (१-२४५) इति बाधनार्थम् ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्दों में उपलब्ध 'ज', 'द्य' और 'य' के स्थान पर मागधी भाषा में 'य' की प्राप्ति हो जाती है। 'ज' के उदाहरणः—(१) *जानाति* = *याणदि* = वह जानता है। (२) *जनपदः* = *यणवदे*=प्रान्त का कुछ भाग विशेष-परगना, तहसील। (३) *अर्जुनः* = *अय्युणे* = पाण्डु पुत्र, महाभारत का नायक (४) *दुर्जनः* =*दुय्यणे*=दुष्ट पुरुष। (५) *गर्जति* = *गय्यदि* = गर्जता है। (६) *गुणवर्जितः*= गुण-वय्यिदे = गुणों से रहित ॥ 'द्य' के उदाहरणः—(१) *मद्यं* = *मय्यं* = शराब। (२) *अद्य किल* = *अय्य*

किल=निश्चय ही आज। (३) *विद्याधरः =आगत = विय्याहले आगदे* = विद्याधर (देवता विशेष) आगया है॥ 'य' के उदाहरण'-(१) *याति=यादि* जाता है। (२) *यथासरूपम्=यधा शलूवं*=समान रूप वाला। (३) *यानवर्तम्=याणवत्तं* = वाहन विशेष का होना। (४) *यति* = यदि = सन्यासी॥

इसी व्याकरण के प्रथम पाद में सूत्र-संख्या २४५ में 'आदेर्योजः' के विधानानुसार यह बतलाया गया है कि संस्कृत भाषा के शब्दों में यदि आदि में 'यकार' हो तो उसके स्थान पर 'जकार' की प्राप्ति हो जाती है; इस विधान के प्रतिकूल मागधी-भाषा में 'यकार' के स्थान पर 'यकार' ही होता है, 'जकार' नहीं होता है; ऐसा बतलाने के लिये ही इस सूत्र में 'ज' और 'द्य' के साथ-साथ 'य' भी लिखा गया है। जो कि ध्यान में रखने के योग्य है। यों यह सूत्र उक्त सूत्र-संख्या १-२४५ के प्रतिकूल है अथवा अपवाद स्वरूप है, यह भी कहा जा सकता है। जैसे —*यतिः = यदी* = साधु अथवा संन्यासी॥ ४-२९२॥

न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः॥ ४-२९३॥

मागध्यां न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्ज इत्येतेषां द्विरुक्तो ञो भवति॥ न्य। अहिमञ्ञु-कुमाले। अञ्ञ-दिशं। शामञ्ञ-गुणे। कञ्ञका-वलणं॥ ण्य। पुञ्ञवन्ते। अबम्हञ्ञं। पुञ्ञाह। पुञ्ञं॥ ज्ञ। पञ्ञाविशाले। शव्वञ्ञे। अवञ्ञा॥ ञ्ज। अञ्ञली धणञ्ञए। पञ्ञले॥

अर्थः—संस्कृत भाषा के शब्दों में रहे हुए 'न्य, ण्य, ज्ञ, ञ्ज' के स्थान पर मागधी-भाषा में द्वित्व 'ञ्ञ' की प्राप्ति होती है। जैसे—'न्य' के उदाहरणः—(१) *अभिमन्यु-कुमार =अहिमञ्ञकुमाले*= अर्जुन नामक पांडव का पुत्र। (२) *अन्य दिशम् = अञ्ञ दिशं* = दूसरी दिशाको। (३) *सामान्यगुणः= शामञ्ञगुणे* = साधारण गुण। (४) *कन्यका वरणं=कञ्ञका वलणं* = पुत्री की सगाई करने सम्बन्धी वाक्य विशेष॥ 'ण्य' के उदाहरण —(१) *पुण्यवन्त =पुञ्ञवन्ते* = पुण्यवाले, अच्छे कर्मों वाले। (२) *अब्रह्मण्यम्=अवम्हञ्ञं*=ब्राह्मण के आचरण करने के योग्य नहीं। (३) *पुण्याहम् =पुञ्ञाहं*=आशीर्वाद और (४) *पुण्यम् =पुञ्ञं* = पवित्र काम, शुभ कार्य। 'ज्ञ' के उदाहरण.—(१) *प्रज्ञाविशालः = पञ्ञाविशाले* = विशाल बुद्धि वाला। (२) *सर्वज्ञः = शव्वञ्ञे* = सब कुछ जानने वाला। (३) *अवज्ञा = अवञ्ञा* = तिरस्कार, अनादर। 'ञ्ज' के उदाहरण.—*अञ्जलि = अञ्ञली* = हथेली से निर्मित पुट विशेष (२) *धनञ्जयः = धणञ्ञय* = अर्जुन पांडु-पुत्र। (३) *पञ्जर = पञ्ञले* = शस्त्र विशेष॥ ४-२९३॥

व्रजो जः॥ ४-२९४॥

मागध्यां व्रजे जकारस्य ञ्ञो भवति॥ यापवादः॥ वञ्ञदि॥

अर्थ—संस्कृत-भाषा में रही हुई धातु 'व्रज' के 'ज्' व्यञ्जन के स्थान पर मागधी-भाषा में द्वित्व 'ञ्ञ' की प्राप्ति होती है। यों यह नियम उपरोक्त सूत्र संख्या ४-२९२ के लिये अपवाद स्वरूप समझा जाना चाहिये। उदाहरण यों हैः—*व्रजति = वञ्ञदि* = वह जाता है॥ ४-२९४॥

छस्य श्चोनादौ ॥ ४-२९५ ॥

मागध्यामनादौ वर्तमानस्य छस्य तालव्य शकाराक्रान्तः चो भवति ॥ गश्च गश्च ॥ उश्चलदि। पिश्चिले। पुश्चदि ॥ लाक्षणिकस्यापि। आपन्न-वत्सलः। आवन्न-वश्चले ॥ तिर्यक् प्रेक्षते। तिरिच्छि पेच्छइ। तिरिश्चि पेस्कदि ॥ अनादावित्ति किम्। छाले ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में यदि किसी भी पद में छकार आदि अक्षर के रूप में नहीं रहा हुआ हो और हलन्त अवस्था में भी नहीं हो तो उस 'छकार' के स्थान पर मागधी भाषा में 'हलन्त तालव्य शकार' के साथ साथ 'चकार' की प्राप्ति हो जाती है। यों अनादि 'छकार' के स्थान पर 'श्च' की प्राप्ति मागधी-भाषा में जाननी चाहिये। जैसेः—(१) *गच्छ, गच्छ = गश्च, गश्च* = जाओ, जाओ। (२) *उच्छलति = उश्चलदि* = वह उछलता है। (३) *पिच्छिलः = पिश्चिले* = पंख वाला। (४) *पृच्छति = पुश्चदि* = वह पूछता है।

व्याकरण के नियमानुसार संस्कृत-भाषा से प्राकृत-भाषा में भी यदि किसी व्यञ्जन के स्थान पर 'छकार' की प्राप्ति हुई हो तो उस स्थानापन्न 'छकार' के स्थान पर भी मागधी-भाषा में 'हलन्त तालव्य शकार सहित चकार' को-अर्थात् 'श्च' की प्राप्ति हो जाया करती है। जैसेः—(१) *आपन्न-वत्सलः = आवण्ण-वच्छलो* = आवन्न-वश्चले = जिसको प्रेम-भावना की प्राप्ति हुई हो वह। (२) *तिर्यक् प्रेक्षते = तिरिच्छि पेच्छइ = तिरिश्चि पेस्कदि* = वह टेढ़ा देखता है।

प्रश्नः—'अनादि' में रहे हुए 'छकार' के स्थान पर ही 'श्च' की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—क्योंकि यदि 'छकार' व्यञ्जन 'शब्द के आदि में' रहा हुआ होगा तो उस छकार के स्थान पर 'श्च' की प्राप्ति नहीं होगी। जैसेः—*क्षारः = छारो = छाले* = जलने के पश्चात् बचा हुआ क्षार अथवा खार पदार्थ विशेष। यों आदि 'छकार' को 'श्च' की प्राप्ति नहीं है ॥ ४-२९५ ॥

क्षस्य ᳵकः ॥ ४-२९६ ॥

मागध्यामनादौ वर्तमानस्य क्षस्य ᳵको जिह्वामूलीयो भवति ॥ यᳵके लᳵकशे ॥ अनादावित्येव। खय-यल-हला। क्षय जलधरा इत्यर्थः ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में अनादि रूप से रहे हुए 'क्ष' के स्थान पर मागधी-भाषा में 'जिह्वामूलीय ᳵक' की प्राप्ति हो जाती है। जैसेः—(१) *यक्षः = यᳵके* = यक्ष जाति का देवता विशेष। (२) *राक्षसः = लᳵकशे* = राक्षस, वाण-व्यन्तर जाति का देव विशेष।

प्रश्नः—अनादि रूप से रहे हुए 'क्ष' के स्थान पर ही मागधी-भाषा में 'जिव्हामूलीय ꣴक' की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—यदि 'क्षकार' अनादि में नहीं होकर 'आदि में रहा हुआ होगा तो उसके स्थान पर मागधी-भाषा में 'जिह्वा मूलीय ꣴ क' की प्राप्ति नहीं होगी। जैसेः—*क्षय-जलधराः = खय-यलहला =* नष्ट हुए बादल। यहां पर आदि क्षकार को खकार की प्राप्ति हुई है ॥ ४-२९६ ॥

स्कः प्रेक्षाचक्षोः ॥ ४-२९७ ॥

मागध्यां प्रेक्षेराचक्षेश्च क्षस्य सकाराक्रान्तः को भवति ॥ जिव्हामूलीयापवादः ॥ पेस्कदि । आचस्कदि ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के 'प्रेक्ष्' और 'आचक्ष' में स्थित 'क्षकार' के स्थान पर मागधी-भाषा में 'हलन्त सकार' सहित 'ककार' की प्राप्ति होती है। यह सूत्र उपरोक्त सूत्र-संख्या ४-२९६ के प्रति अपवाद स्वरूप सूत्र है। उदाहरणों यों हैंः—(१) *प्रेक्षते = पेस्कदि =* वह देखता है। (२) *आचक्षते = आचस्कदि =* वह कहता है ॥ ४-२९७ ॥

तिष्ठ श्चिष्ठः ॥ ४-२९८ ॥

मागध्यां स्थाधातोर्यस्तिष्ठ इत्यादेशस्तस्यचिष्ठ इत्यादेशो भवति ॥ चिष्ठदि ॥

अर्थः—संस्कृत-धातु 'स्था' के स्थान पर 'तिष्ठ' का आदेश होता है और उसी आदेश प्राप्त 'तिष्ठ' धातु-रूप के स्थान पर मागधी-भाषा में 'चिष्ठ' धातु रूप को आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसेः—*तिष्ठति = चिष्ठदि =* वह बैठता है। ॥ ४-२९८ ॥

अवर्णाद्वा ङसो डाहः ॥ ४-२९९ ॥

मागध्यामवर्णात् परस्यङसोडित् आह इत्यादेशो वा भवति ॥ हगे न एलिशाह कम्माह काली। भगदत्त-शोणिदाह कुम्भे। पक्षे। भीमशेणस्स पश्चादो हिण्डीअदि। हिडिम्बाए घडुक्कयशोकेण उवशमदि ॥

अर्थ—मागधी-भाषा में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में अकारान्त पुल्लिंग में अथवा नपुंसक लिंग में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस् = स्स' के स्थान पर विकल्प से 'डाह = आह' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। सूत्र में उल्लिखित 'डाह' प्रत्यय में स्थित 'डकार' से संज्ञा शब्दों में स्थित अन्त्य 'अकार' को इत् संज्ञा अर्थात् लोप-स्थिति प्राप्त होती है, ऐसा तात्पर्य प्रदर्शित है। उदाहरण यो हैं—(१) *अहम् न ईदृशः*

कर्मणःकारी = हगे न एलिशाह कम्माह काली = मैं इस प्रकार के कर्म का करने वाला नहीं हूँ। (२) भगदत्तशोणितस्य कुम्भः = भगदत्त-शोणिदाह कुम्भे = भगदत्त नामक व्यक्ति-विशेष के रक्त का (यह) घड़ा है। इन उदाहरणों में 'एलिशाह, कम्माह और शोणिदाह' षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'स्स' के स्थान पर 'आह' लिखा गया है। वैकल्पिक स्थिति होने से पक्षान्तर में 'स्स' प्रत्यय भी होता है। जैसे:—(१) भीमसेनस्य पश्चात् हिण्डयते = भीमशेणस्स पश्चादो हिण्डीअदि = भीमसेन के पीछे पीछे घूमता है। (२) हिडिम्बायाः घटोत्कचशोकः न उपशाम्यति = हिडिम्बाए घडुक्कयशोके ण उवशमदि = हिडिम्बा राक्षसिणी का (उसके पुत्र) घटोत्कच-(के मृत्यु का) शोक शान्त नहीं होता है। इन उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में 'भीमशेणाह' नहीं बतला कर 'भीमशेणस्स' ऐसा रूप प्रदर्शित किया गया है। द्वितीय उदाहरण में 'हिडिम्बाह' नहीं लिखकर 'हिडिम्बाए' लिखा गया है; जो यह सूचित करता है कि स्त्रीलिंग शब्दों में षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'आह' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है। यों 'आह और स्स' प्रत्ययों की वैकल्पिक स्थिति को समझ लेना चाहिये ॥ ४-२९९ ॥

आमो डाहँ वा ॥ ४-३०० ॥

मागध्यामवर्णात् परस्य आमोनुनासिकान्तोडित् आहादेशो वा भवति ॥ शय्यणाहँ सुहं। पक्षे। नलिन्दाणं ॥ व्यत्ययात् प्राकृतेपि ताहँ। तुम्हाहँ। अम्हाहँ। सरिआहँ। कम्माहँ ॥

अर्थः—मागधी-भाषा में अकारान्त पुल्लिंग अथवा नपुंसकलिंग वाले शब्दों के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय णं अथवा ण' के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक सहित 'डाहँ = आहँ' की प्राप्ति होती है। सूत्र में उल्लिखित 'डाहँ' में स्थित 'डकार' इत्संज्ञावाचक होने से 'आहँ' प्रत्यय लगने के पहिले अकारान्त शब्दों के अन्त्य 'अकार' का लोप हो जाता है। तदनुसार केवल 'आहँ' प्रत्यय की ही प्राप्ति होती है। उदाहरण यों हैं:—सज्जनानाम् सुखम् = शय्यणाहँ सुहं = सज्जन पुरुषों का सुख। वैकल्पिक पक्ष होने से षष्ठी-विभक्ति बोधक प्रत्यय 'णं अथवा ण' का उदाहरण भी यों हैं:—नरेन्द्राणाम् = नलिन्दाणं = राजाओं का ॥ मागधी-भाषा में प्राप्त उक्त प्रत्यय 'आह' कभी-कभी प्राकृत-भाषा में भी देखा जाता है। ऐसी स्थिति को 'व्यत्यय' स्थिति कही जाती है। प्राकृत-भाषा के उदाहरण इस प्रकार हैं:— (१) *तेषाम् = ताहँ* = उनका अथवा उनके। (२) *युष्माकम् = तुम्हाहँ* = तुम्हारा, तुम्हारे; आपका-आपके। (३) *अस्माकम् = अम्हाहँ* = हमारा, हमारे। (४) *सरिताम् = सरिआहँ* = नदियों का। (५) *कर्मणाम् = कम्माहँ* = कर्मों का-कार्यों का। यों मागधी का प्रभाव प्राकृत-भाषा में भी देखा जाता है ॥ ४-३०० ॥

अहं वयमोर्हगे ॥ ४-३०१ ॥

मागध्यामहं वयमोः स्थाने हगे इत्यादेशो भवति ॥ हगे शक्कावदालतित्त-णिवाशी धीवले। हगे शंपत्ता ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में उपलब्ध उत्तम पुरुष वाचक सर्वनाम रूप 'अहम् और वयम्' के स्थान पर मागधी भाषा में केवल एक ही रूप 'हगे' की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे.—अहम् शक्रावतार तीर्थ निवासी धीवरः = (१) हगे शक्कावदालतित्त-णिवाशी धीवले = शक्रावतार नामक तीर्थ का रहने वाला मैं मच्छीमार हूँ। (२) वयम्संप्राप्ताः = हगे शंपत्ता = हम (सब) आनन्द पूर्वक पहुंच गये हैं॥ यों इन दोनों दृष्टान्तों में 'अहम् और वयम्' के स्थान पर 'हगे' रूप की आदेश प्राप्ति हुई है॥ ४-३०१॥

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ४—३०२ ॥

मागध्यां यदुक्तं ततोन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्॥ तत्र तो दोनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य-(४-२६०)॥ पविशदु आवुत्तेशामि-पशादाय॥ अधः क्वचित्-(४-२६१)॥ अले किं एशे महन्दे कलयले॥ वादेस्तावति (४-२६२)॥ मालेध वा धलेध वा। अय दाव शे आगमे॥ आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः (४-२६३) भो कञ्चुइआ॥ मो वा (४-२६४) भो रायं॥ भवद्भगवतोः (४-२६५) एदु भवं शमणे भयवं महावीले। भयवं कदन्ते ये अप्पणो पक्खं उज्झिय पलस्स पक्खं पमाणी कलेशि॥ न वा र्यो य्यः (४-२६६)॥ अय्य एशे खु कुमाले मलयकेदू॥ थो धः (४-२६७)॥ अले कुम्भिला कधेहि॥ इह हचो र्हस्य (४-२६८) ओ शल ध अय्या ओ शल ध॥ भुवो भः (४-२६९)॥ भोदि॥ पूर्वस्य पुरवः (४-२७०॥ अपुरवे॥ क्त्व-इय दूणौ (४-२७१)॥ किं खु शोभणे ब्रह्मणे शित्ति कलिय लञ्ञापलिग्गहे दिण्णे॥ कृ-गमो डडुअः (४-२७२) कडुअ। गडुअ॥ दिरिचेचोः (४-२७३)॥ अमच्च लक्खशं पिक्खिदु इदोय्येव आगश्चदि॥ अतोदेश्च (४-२७४)॥ अले किं एशे महन्दे कलयले शुणीअदे॥ भविष्यति स्सिः (४-२७५)॥ ता कहिं नु गदे लुहिलप्पिए भविस्सिदि॥ अतोङसेर्डा दो डादू (४-२७६)॥ अहं पि भागुलायणादो मुद्दं पावेमि॥ इदानीमो दाणिं (४-२७७)॥ शुणध दाणिं हगे शक्कावयालतित्त-णिवाशी धीवले॥ तस्मात्ताः (४-२७८)॥ ता याव पविशामि॥ मोन्त्याण्णो वेदेतोः (४-२७९)॥ युत्तं णिमं। शलिश णिमं॥ एवार्थे य्येव (४-२८०)॥ मम य्येव॥ हञ्जे चेट्याह्वाने (४-२८१)॥ हञ्जे चदुलिके॥ हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे (४-२८२॥ विस्मये। यथा उदात्त राघवे। राक्षसः ही माणहे जीवन्त-वश्चा मे जणणी॥ निर्वेदे॥ यथा विक्रान्त भीमे। राक्षसः हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण निय-विधिणो दुव्ववशिदेण॥ णं नन्वर्थे (४-२८३)॥ णं अवशलोपशप्पणीया लायाणो॥ अम्म हे हर्षे (४-२८४)॥ अम्महे एआए शुम्मिलाए शुपलिगढिदे भवं॥ ही ही विदूषकस्य ४ २८५)॥ ही ही संपन्ना मे मणोलधा पिगवयस्सस्स॥ शेषं प्राकृतवत् (४-२८६)॥ मागध्यामपि दीर्घ ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ (१-४) इत्यारभ्य तो दोनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य (४-२६०) इत्यस्मात् प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यानि उदाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अमूनि तद वस्थान्येव मागध्याममूनि पुनरेवं विधानि भवन्तीति विभागः स्वयमभ्यूह्य दर्शनीयः॥

अर्थः—मागधी-भाषा में 'प्राकृत और शौरसेनी' के अतिरिक्त जो कुछ परिवर्तन अथवा रूपान्तर होता है वह ऊपर सूत्र-संख्या-(४-२८७) से (४-३०१) में व्यक्त कर दिया गया है; शेष परिवर्तन के संबंध में इस सूत्र में और इसकी वृत्ति में कह दिया गया है कि-'अन्य सभी प्रकार का परिवर्तन 'संस्कृत से मागधी में रूपान्तर करने की दशा में 'प्राकृत-भाषा में तथा शौरसेनी-भाषा में वर्णित परिवर्तन सम्बन्धी नियमों के अनुसार जानना चाहिये। इस प्रकार के संकेत के साथ-साथ 'प्राकृत तथा शौरसेनी' में वर्णित कुछ मूल सूत्रो के साथ उदाहरण भी वृत्ति में दिये गये है; जिन्हें मैं हिन्दी-अर्थ-पूर्वक निम्न प्रकारसे लिख देता हूं:—

(१) सूत्र-संख्या ४-२६० में बतलाया है कि 'तकार' का 'दकार' होता है तदनुसार 'मागधी-भाषा' का उदाहरण इस प्रकार है:—*प्राविशतु आयुक्तः स्वामि-प्रसादाय = पविशदु आवुत्ते शामिपशादाय* = स्वामी की प्रसन्नता के लिये सचेष्ट प्रवेश करो॥

(२) सूत्र-संख्या ४-२६१ में कहा गया है कि 'हलन्त व्यञ्जन के पश्चात् रहने वाले 'तकार' का भी 'दकार' हो जाता है। जैसे:—*अरे! किम् एष महान्तः करतलः = अले! किं एश महन्दे कलयले* = क्या यह महान् हथेली है?

(३) सूत्र-संख्या ४-२६२ में लिखा गया है कि 'तावत्' अव्यय के आदि 'तकार' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'दकार' की प्राप्ति होती है। जैसे:—*अयम् तावत् तस्य आगमः; (अधुना) मारयत वा धारयत वा=अयं दाव शे आगमे, (अहुणा) मालेध वा धालेध वा*=यह उसका आगमन हो गया है; (अब) मारो अथवा रक्षा करो। यों 'तावत्' के स्थान पर 'दाव' रूप की प्राप्ति हुई है।

(४) सूत्र-संख्या ४-२६३ में संकेत किया है कि 'इन्' अन्त वाले शब्दों के संबोधन के एकवचन में 'स्' प्रत्यय परे रहने पर अन्त्य हलन्त 'नकार' के स्थान पर विकल्प से 'आकार की प्राप्ति होती है। जैसे:—*भो कञ्चुकिन्! = भो! कञ्चुइआ*=अरे कञ्चुकी॥

(५) सूत्र संख्या ४-२६४ में यह उल्लेख किया गया है कि 'नकारान्त' शब्दों के एकवचन में 'स' प्रत्ययपरे रहने पर अन्त्य 'नकार' के स्थान पर विकल्प से 'मकार' की प्राप्ति होती है। जैसे:—*भोराजन्! = भो रायं* = हे राजा॥

(६) सूत्र-संख्या ४-२६५ में यह प्रदर्शित किया गया है कि-'भवत्' और 'भगवत्' शब्दों के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'स्' प्रत्यय प्राप्त होने पर निर्मित पद 'भवान् और भगवान्' के अन्त्य 'नकार' के स्थान पर 'मकार' की प्राप्ति होती है। जैसे:—(१) एतु *भवान् श्रमणः भगवान् महावीरः = एदु भवं शमणे भयवं महावीले*=आप महा प्रभु श्रमण महावीर पधारे हैं। (२) *भगवन् कृतान्त! यः आत्मनः पक्षं त्यक्त्वा परस्य पक्षं प्रमाणी करोषि=हे भयवं कदन्ते! ये अप्पणो पक्खं उज्झिय पलस्स पक्खं प्रमाणी कलाशि* = हे भगवान् यमराज! आप ऐसे हैं, जो कि अपने पक्ष को छोड़ करके दूसरे पक्ष को प्रमाण-स्वरूप करते हो।

(७) सूत्र-संख्या ४-२६६ में यह कथन किया गया है कि शौरसेनी में 'र्य' के स्थान पर द्वित्व 'य्य' की विकल्प से प्राप्ति होती है। जैसे —*आर्य ! एष खु कुमारः मलय केतुः* = *अय्य ! एशे खु कुमाले मलय केदू* = हे आर्य ! ये निश्चय ही कुमार मलय केतु हैं।

(८) सूत्र-संख्या ४-२६७ में यह विधान प्रविष्ट किया गया है कि शौरसेनी में विकल्प से 'थ' के स्थान पर 'ध' की प्राप्ति होती है। जैसे —*अरे कुम्भिरा कथय* = *अरे कुम्भिला कधेहि*=अरे कुम्भिरा ! कहो ॥
(९) सूत्र संख्या ४-२६८ में यह उल्लेख किया गया है कि —'इह' अव्यय के 'हकार' के स्थान पर और वर्तमान कालीन मध्यम पुरुष के बहुवचन के प्रत्यय 'ह' के स्थान पर शौरसेनी में विकल्प से 'ध' होता है। जैसे —*अपसरत आर्याः ! अपसरत* = *अवशलध अय्या ओशलध* = हे आर्यो ! आप हटें, आप हटें ॥

(१०) सूत्र-संख्या ४ २६९ में विधान किया गया है कि–शौरसेनी भाषा में 'भू = भव्' धातु के 'भकार' को विकल्प से हकार की प्राप्ति होती है। अथवा प्राप्त हकार को पुनः विकल्प से भकार की प्राप्ति हो जाती है। जैसे —*भवति* = *भोदि* (अथवा होदि)=वह होता है।

(११) सूत्र-संख्या ४-२७० में कहा गया है कि–शौरसेनी में 'पूर्व' शब्द के स्थान पर 'पुरव' ऐसी आदेश-प्राप्ति विकल्प से होती है जैसे —*अपूर्व* = *अपुरवे* = अनोखा, विलक्षण ॥

(१२) सूत्र संख्या ४ २७१ में सूचित किया गया है कि-शौरसेनी-भाषा में सम्बन्ध-कृदन्त सूचक प्रत्यय 'क्त्वा' के स्थान पर 'इय और दूण' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। जैसे —*किम् खलु शोभनः ब्राह्मणो ऽसि इति कृत्वा राज्ञा परिग्रहो दत्तः* = *किं खु शोभणे ब्रह्मणे शि त्ति कलिय लञ्ञा पलिग्गहे दिण्णे*=क्या निश्चय ही तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण हो, ऐसा मान करके राजा द्वारा सम्मानित किये गये हो। यहां पर 'कलिय' पद में 'क्त्वा' के स्थान पर 'इय' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति हुई है।

(१३) सूत्र-संख्या-४-२७२ में यह उल्लेख है कि–'कृ' धातु और 'गम्' धातु में 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'डित् पूर्वक (अन्त्य अक्षर के लोप पूर्वक) 'अडुअ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति विकल्प से होती है। जैसे:—*कृत्वा-कडुअ*=करके ॥ *गत्वा=गडुअ* = जाकर के ॥ यों 'अडुअ' की प्राप्ति समझ लेना चाहिये।

(१४) सूत्र संख्या ४-२७३ में कहा गया है कि–वर्तमानकाल के अन्य पुरुष के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' और 'ए' के स्थान पर 'दि' प्रत्यय रूप की प्राप्ति होती है। जैसे —*अमात्य-राक्षसं प्रेक्षितुम् इतः एव आगच्छति*=*अमच्च-लक्कशं पिक्खिदुं इदोय्येव आगश्चदि* = राक्षस नामक मंत्री को देखने के लिये इधर ही वह आता है अथवा आ रहा है। यहां पर 'आगश्चदि में 'इ, ए' के स्थान पर 'दि' का प्रयोग हुआ है।

(१५) सूत्र-संख्या ४-२७४ में यह समझाया गया है कि–अकारान्त धातुओं में वर्तमानकाल के अन्य पुरुष के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ और ए' के स्थान पर 'दे' की भी प्राप्ति होती है। जैसे:— *अरे ! किम् एष महान्तः कलकलः श्रूयते = अले किं एशे महन्दे कलयले शुणीअदे*=अरे ! यह बड़ा कोलाहल क्यों सुनाई दे रहा है ? इस उदाहरण में 'शुणीअदे' में 'दे' का प्रयोग हुआ है।

(१६) सूत्र-संख्या ४-२७५ में यह सूचना की गई है कि-शौरसेनी भाषा में भविष्यत्‌काल-अर्थक प्रत्ययों में 'हि, स्सा और हा' के स्थान पर 'स्सि' रूप की प्राप्ति होती है। जैसे:—*तदा कुत्र नु गतः रुधिर प्रियः भविष्यति = ता कहिं नु गदे लुहिलप्पिए भविस्सिदि* = उस समय में कहा गया हुआ है। रक्त का प्रेमी होगा ॥

(१७) सूत्र-संख्या ४-२७६ में यह बतलाया गया है कि-अकारान्त शब्दों में पचमी विभक्ति के एकवचन में 'आदो और आदु' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*अहमपि भागुरायणात् मुद्राम् प्राप्नोमि=अहंपि भागुलायणादो मुद्द पावेमि* = मैं भी भागुरायण से मुद्रा को प्राप्त करता हूं। यहां पर 'भागुलायणादो' का रूप दिखलाया गया है।

(१८) सूत्र-संख्या ४-२७७ में कहा गया है कि-शौरसेनी भाषा में 'इदानीम्' के स्थान पर 'दाणिम्' ऐसे रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*श्रणुत इदानीम् अहम् शक्रावतार-तीर्थ-निवासी धीवरः = शुणध दाणिं हगे शक्कावयाल-तित्त-णिवाशी धीवले* = सुनो, इस समय में मैं शक्रावतार नामक तीर्थ का रहने वाला धीवर हूं ॥

(१९) सूत्र-संख्या ४-२७८ में समझाया गया है कि- शौरसेनी भाषा में 'तस्मात्' शब्द के स्थान पर 'ता' शब्द रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*तस्मात् यावत् प्रविशामि = ता याव पविशामि* = उस कारण से जब तक मैं प्रवेश करता हूँ।

(२०) सूत्र-संख्या ४-२७९ में लिखा गया है कि-शौरसेनी भाषा में पदान्त्य 'म्' के आगे यदि 'इकार' अथवा 'एकार' हो तो इन 'इकार' अथवा 'उकार' के पूर्व में विकल्प से हलन्त 'ण्' की आगम प्राप्ति होती है। जैसे:—(१) *युक्तम् इमम = युत्तं णिमं* = यह युक्त है-यह ठीक है। (२) *सदृशं इमं = शालिशं णिमं* यह समान है ॥ इन उदाहरणों में इमं' में पूर्व में 'णकार' की आगम प्राप्ति हुई है ॥

(२१) सूत्र-संख्या ४-२८० में सूचित किया गया है कि–शौरसेनी-भाषा में 'एव' अर्थक अव्यय के स्थान पर 'य्येव' अव्यय रूप का प्रयोग किया जाना चाहिये। जैसे:—*मम एव=मम य्येव* = मेरा ही है।

(२२) सूत्र-संख्या ४-२८१ में यह संविधान किया गया है कि: शौरसेनी भाषा में 'दासो' को पुकार ने पर संबोधन के रूप में 'हञ्जे' शब्द रूप अव्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसे:—*अरे ! चतुलिके = हञ्जे चदुलिके* = अरे ! ओ चतुरिका (दासी)

(२३) सूत्र-संख्या ४-२८२ में यह कथन किया गया है कि-'आश्चर्य और खेद' प्रकट करने के अर्थ में शौरसेनी भाषा में 'हीमाणहे' ऐसे शब्द रूप अव्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसेः— *अहो ! जीवन्त वत्सा मम जननी = हीमाणहे जीवन्त वच्छा मे जणणी* = आश्चर्य है कि मेरी माता मेरे पर जीवन पर्यन्त के लिये प्रेम-भावना रखने वाली है। यह कथन 'राक्षस' नामक एक पात्र उदात्तराघव नामक नाटक में व्यक्त करता है। यों 'हीमाणहे' अव्यय विस्मय-अर्थ में कहा गया है। निर्वेद्-खेद-अर्थक अव्यय के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले 'ही माण हे' अव्यय का उदाहरण 'विक्रान्त-भीम नामक नाटक से आगे उद्धृत किया जा रहा है। *—हा ! हा !! परिश्रान्ताः वयम् एतेन निज-विधेः दुर्व्यवसितेन = हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण निय-विधिणो दुव्ववशिदेण* = अरे ! अरे ! बड़े दुःख की बात है कि हम इस हमारे भाग्य के दुर्व्यवहार से- (खोटे तकदीर के कारण से) अत्यन्त परेशान हो गये हैं॥ यह उक्ति एक 'राक्षस' पात्र के मुँह से कहलाई गई है॥

(२४) सूत्र-संख्या ४-२८३ में यह वर्णन किया गया है कि-शौरसेनी में निश्चय-अर्थक संस्कृत-अव्यय 'ननु' के स्थान पर 'ण' अव्ययकी प्राप्ति होती है। जैसेः—*ननु अवसर—उपसरणीयाः राजानः= णं अवशलोपशप्पणीया लायाणो* = निश्चय ही राजाओं (की सेवा में) समयानुसार ही (अवसरों की अनुकूलता पर ही) जाना चाहिये॥

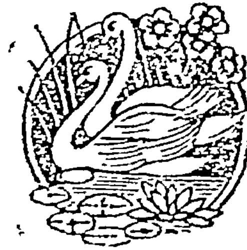
(२४) सूत्र-संख्या ४-२८४ में यह उल्लेख किया गया है कि-शौरसेनी में हर्ष-व्यक्त करने के अर्थ में 'अम्महे' ऐसे शब्द रूप अव्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसे'—*अहो !! एतस्यै सूर्मिलायै सुपरि-गाठितः भवान्=अम्महे !! एआए शुम्मिलाए शुपलिगढिदे भवं* = आपने इस सुर्मिला के लिये (इस आभूषण विशेष का) अच्छा गठन किया है; यह परम हर्ष की बात है।

(२५) सूत्र-संख्या ४-२८५ में यह व्यक्त किया गया है कि-शौरसेनी-भाषा में जब कोई विदूषक (भांड आदि मसखरे) अपना हर्ष व्यक्त करते हैं, तब वे 'ही ही' ऐसा शब्द बोलते हैं और यह शब्द अव्यय के अन्तर्गत माना जाता है। जैसे.—*आ हा हा ' संपन्नाः मम मनोरथाः प्रियवयस्याय=ही-ही !! संपन्ना मे मणोलधा पियवयस्सस्स* = अहाहा !! (बड़े ही हर्ष की बात है कि) प्रिय मित्र के लिये मेरी जो मन की कल्पनाए थीं, वे सब की सब (सानंद) सम्पन्न हुई हैं॥

(२६) सूत्र-संख्या ४-२८६ में सर्व-सामान्य-सूचना के रूप में यह संविधान किया गया है कि शेष सभी विधान 'शौरसेनी-भाषा' के लिये प्राकृत-भाषा के संविधान के अनुसार ही जानना। यों यह फलि-तार्थ हुआ कि-मागधी-भाषा के लिये भी वे सभी नियमोपनियम लागू पड़ते हैं, जो कि प्राकृत-भाषा के लिये तथा शौरसेनी भाषा के लिये लिखे गये हैं। इसी बात की संपुष्टि के लिये इसी सूत्र की वृत्ति में ऊपर शौरसेनी भाषा के लिये लिखित सूत्र-संख्या ४-२६० से लगाकर ४-२८६ तक के सूत्रों को उदाहरण पूर्वक उद्धृत किये हैं॥

उपरोक्त सूचना के अतिरिक्त ग्रंथ-कर्ता आचार्य श्री ने 'वृत्ति में सूत्र-संख्या १-४ से आरम्भ कर के चारों पादों के सूत्रों को सम्मिलित करते हुए सूत्र-संख्या ४-२५६ तक के सूत्रों में वर्णित सभी प्रकार के विधि-विधानों का 'अधिकार' इस मागधी-भाषा के लिये भी निश्चय-पूर्वक जानना' ऐसा स्पष्टतः निर्देश किया है। इन सूत्रों में जो जो उदाहरण हैं, जो जो परिवर्तन, लोप, आगम, आदेश, प्रत्यय, अथवा वर्ण-विकार आदि व्याकरण-सम्बन्धी व्यवस्थाऐं हैं; वे सब की सब मागधी-भाषा के लिये भी हैं; ऐसा जानना चाहिये। पाठकों को चाहिये कि वे ऐसी परिकल्पनाऐं कर लें और तर्क-पूर्वक इन्हें सम्यक्-प्रकार से स्वयमेव समझ लें ॥ ४-३०२ ॥

इति मागधी-भाषा-व्याकरण-समाप्त



अथ पैशाची-भाषा-व्याकरण-प्रारम्भ

ज्ञो ञ्ञः पैशाच्याम् ॥ ४-३०३ ॥

पैशाच्यां भाषायां ज्ञस्य स्थाने ञ्ञो भवति ॥ पञ्ञा । सञ्ञा । सव्वञ्ञो । ञानं । विञ्ञानं ॥

अर्थ — पैशाची-भाषा में संस्कृत-शब्द-रूपों का रूपान्तर करने पर 'ज्ञ' के स्थान पर 'ञ्ञ' की प्राप्ति होती है। जैसे.—(१) प्रज्ञा = पञ्ञा = विशिष्ट बुद्धि। ( ) संज्ञा = सञ्ञा = नाम, भावना (३) सर्वज्ञ = सव्वञ्ञो = सब जानने वाला। (४) ज्ञान=ञ्ञानं=ज्ञान और (५) विज्ञान=विञ्ञान = विज्ञान। ॥ ४-३०३ ॥

राज्ञो वा चिञ् ॥ ४-३०४ ॥

पैशाच्यां राज्ञ इति शब्दे यो ज्ञकारस्तस्य चिञ् आदेशो वा भवति ॥ राचिञा लपितं। रञ्ञा लपितं। राचिञो धनं। रञ्ञो धनं। ज्ञ इत्येव। राजा ॥

अर्थः—संस्कृत पद 'राज्ञ' में रहे हुए 'ज्ञ' के स्थान पर पैशाची भाषा में विकल्प से 'चिञ्' वर्णों को आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे.—*राज्ञा लपित = राचिञा लपितं*=वैकल्पिक पक्ष होने से=*रञ्ञा लपितं* = राजा से कहा गया है, (२ *राज्ञः धनं = राचिञो धनं*=वैकल्पिक पक्ष होने से '*रञ्ञो धनं*=राजा का धन'।

प्रश्न — ज्ञ' का उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः-जहां पर 'राज्ञ' से संबंधित 'ज्ञ' का अभाव होगा वहां पर 'चिञ्' की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे —'राज्' शब्द से तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'राजा' रूप बनने पर भी इस 'राजा' पद का रूपांतर पैशाची-भाषा में 'राजा' ही होगा। यों 'ज्ञ' की विशेष स्थिति को जानना चाहिये ॥ ४ ३०४ ॥

न्य-ण्यो ञ्ञः ॥ ४-३०५ ॥

पैशाच्यां न्यण्योः स्थाने ञ्ञो भवति ॥ कञ्ञका । अभिमञ्ञू। पुञ्ञ-कम्मो। पुञ्ञाहं।

अर्थः— संस्कृत-भाषा के पदों में रहे हुए वर्ण न्य' और 'ण्य' के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'ञ्ञ' की प्राप्ति होती है। जैसेः—(१, *कन्यका=कञ्ञका* = पुत्री। (२)*अभिमन्यु=अभिमञ्ञू* = अर्जुन पांडव

का पुत्र। (३) *पुण्य-कर्मा*=*पुञ्ज-कम्मो*=पवित्र कर्म करने वाला। (४) *पुण्याहं*=*पुञ्जाहं*=मैं पवित्र हूँ।॥ ४-३०५॥

णो नः ॥ ४-३०६ ॥

पैशाच्यां णकारस्य नो भवति ॥ गुन-गन-युत्तो। गुनेन ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा के शब्दों मे रहे हुए 'णकार' के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'नकार' की प्राप्ति होती है। जैसेः—(१) *गुण गण-युक्तः*=*गुन-गन युत्तो*=गुणों के समूह से युक्त। (२) *गुणेन*=*गुनेन*=गुण द्वारा-गुण से ॥ ४-३०६ ॥

तदोस्तः ॥ ४-३०७ ॥

पैशाच्यां तकार-दकारयोस्तो भवति ॥ तस्य। भगवती। पव्वती। सतं ॥ दस्य। मतन परवसो। सतनं। तामोतरो। पतेसो। वतनकं। होतु। रमतु ॥ तकारस्यापि तकार विधानमादेशान्तरबाधनार्थम्। तेन पताका वेतिसो इत्याद्यपि सिद्धं भवति ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्दों में रहे हुए 'तकार' वर्ण और दकार' वर्ण के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'तकार' की प्राप्ति होती है। यहां पर 'तकार' के स्थान पर पुनः 'तकार' का हो आदेश-प्राप्ति बतलाने का मुख्य कारण यह है कि पाठक सूत्र-संख्या ४-२६० के विधान के अनुसार 'तकार' के स्थान पर 'दकार' की अनुप्राप्ति न कर लें। इस निर्देश के अनुसार 'पताका' के स्थान पर 'पताका' ही होगा और 'वेतिसो' के स्थान पर 'वेतिसो' ही होगा। सूत्र-सम्बन्धित अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं:— (१) *भगवती*=*भगवती*=देवता विशेष; ऐश्वर्य शालिनी। (२) *पार्वती*=*पव्वती*=महादेवजी की पत्नी; पर्वत-पुत्री। (३) *शतं*=*सतं*=सौ की संख्या ॥ द' से सम्बन्धित उदाहरण यों हैं:—(१) *मदन-परवशः*=*मतन-परवसो*=कामदेव के वश में पड़ा हुआ। (२) *सदनम्*=*सतनं*=मकान, घर। (३) *दामोदरः*=*तामोतरो*=श्री कृष्ण वासुदेव का एक नाम। (४) *प्रदेशः*=*पतेसो*=देश का एक भाग, प्रान्त-विशेष। (५) *वदनकम्*=*वतनकं*=मुख। (६) *भवतु*=*(होदु)*=*होतु*=होवे। (७) *रमताम्*=*(रमदु)*=*रमतु*=वह खेले ॥ ४-३०७ ॥

लो ळः ॥ ४-३०८ ॥

पैशाच्यां लकारस्य ळकारो भवति ॥ सीळं। कुळं। जळं। सळिळं। कमळं ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्दों मे रहे हुए 'लकार' वर्ण के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'ळकार' वर्ण की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—(१) *शीलम्*=*सीळं*=शील धर्म, मर्यादा। (२) *कुलम्*=*कुळं*

=कुल अथवा कुटुंब। (३) जलम् = जळं = पानी। (४) सलिलम् = सळिळं = जल अथवा क्रीड़ा-पूर्वक। (५) कमलम् = कमळं = कमल पद्म ॥ ४-३०८ ॥

श-षोः सः ॥ ४-३०९ ॥

पैशाच्यां शषोः सो भवति ॥ श। सोभति। सोभनं। ससी। सक्को। संखो ॥ ष। विसमो। विसानो ॥ नकगचजादिषट्-शम्यन्त सूत्रोक्तम् (४-३२४) इत्यस्य बाधकस्य बाधनार्थोयं योगः ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्दों में रहे हुए 'शकार' वर्ण और 'षकार' वर्ण के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'सकार' वर्ण की आदेश प्राप्ति होती है। 'श' के उदाहरण.—(१) *शोभाति (अथवा शोभते)*= *सोभाति*=वह शोभा पाता है, वह प्रकाशित होता है। (२) *शोभनं* = *सोभनं*=शोभा स्वरूप ॥ (३) *शशिः* = *ससी* = चन्द्रमा। (४) *शक्रः* = *सक्को* = इन्द्र। (५) *शंखः* =*संखो*=शंख ॥ 'ष' के उदाहरण — (१) *विषमः* = *विसमो* = जो बराबर नहीं हो, जो अव्यवस्थित हो। (२) *विषाण* = *विसानो* = सींग ॥ इस अन्तिम-उदाहरण में-'विषाण' में स्थित 'णकार' वर्ण के स्थान पर पैशाची भाषा में 'नकार' वर्ण की आदेश-प्राप्ति की जाकर 'णकार' की अभाव-सूचक जो स्थिति प्रदर्शित की गई है, उसका रहस्य वृत्ति में सूत्र-संख्या ४-३२४ को उद्धृत करके समझाया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि सूत्र-संख्या-१-१७७ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या १-२६५ तक का संविधान पैशाची-भाषा में लागू नहीं पड़ता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे सूत्र-संख्या-४-३२४ में किया जाने वाला है। तदनुसार णकार' के स्थान पर 'नकार' की स्थिति को जानना चाहिये। यों यह सूत्र बाधक स्वरूप है और इस प्रकार यह इस बाधा को उपस्थित करता है ॥ ४-३०९ ॥

हृदये यस्य पः ॥ ४-३१० ॥

पैशाच्यां हृदय शब्दे यस्य पो भवति ॥ हितपकं। किं पि किं पि हितपके अत्थं चिन्तयमानी ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्द 'हृदय' में अवस्थित 'यकार' वर्ण के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'पकार' वर्ण की आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसे.—*हृदयकम्* = *हितपकं* = हृदय, दिल ॥ *किमपि किमपि हृदयके अर्थम् चिन्तयमाणी* = *किं पि किं पि हितपके अत्थं चिन्तयमानी*=हृदय में कुछ-भी कुछ भी-(अस्पष्ट सा) अर्थ को सोचती हुई ॥ यों 'य' का 'प' हुआ है ॥ ४-३१० ॥

टो स्तुर्वा ॥ ४-३११ ॥

पैशाच्यां टोः स्थाने तुर्वा भवति ॥ कुतुम्बकं । कुटुम्बकं ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्दों में रहे हुए 'टकार' वर्ण के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'तु' वर्ण की विकल्प से आदेश-प्राप्ति होती है। जैसेः—*कुटुम्बकम्* = *कुतुम्बकं* अथवा *कुटुम्बकं* = कुटुम्ब वाला ॥ ४-३११ ॥

क्त्व स्तूनः ॥ ४-३१२ ॥

पैशाच्यां क्त्वा प्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशो भवति ॥ गन्तून । रन्तून । हसितून । पठितून । कधितून ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में संबंध-अर्थक कृदन्त बनाने के लिये धातुओं में जैसे 'क्त्वा' प्रत्यय की प्राप्ति होती है; वैसे ही पैशाची-भाषा में उक्त 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'तून' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसेः—(१) *गत्वा* = *गन्तून* = जा कर के। (२) *रन्त्वा* = *रन्तून* = रमण करके। (३) *हसित्वा* = *हसितन* = हँस कर के। (४) *कथयित्वा* = *कधितून* = कह कर के; (५ *पठित्वा* = *पठितून* = पढ़ कर के; इत्यादि ॥ ४-३१२ ॥

द्धून-त्थूनौ ष्ट्वः ॥ ४-३१३ ॥

पैशाच्यां ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने द्धून त्थून इत्यादेशौ भवतः । पूर्वस्यापवादः । नद्धून । नत्थून । तद्धून । तत्थून ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर प्राप्त होने वाले प्रत्यय 'ष्ट्वा' के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'द्धून' और 'त्थून' ऐसे दो प्रत्यय-रूपों की आदेश-प्राप्ति होती है। यह सूत्र पूर्वोक्त सूत्र-संख्या ४-३१२ के प्रति अपवाद स्वरूप सूत्र है। उदाहरण यों हैं:—(१) *नष्ट्वा* = *नद्धून* अथवा *नत्थून* = नाश करके। (२) *तष्ट्वा* = *तद्धून* अथवा *तत्थून* = तीक्ष्ण करके। ॥ ४-३१३ ॥

र्य-स्न-ष्टां रिय-सिन-सटाः क्वचित् ॥ ४-३१४ ॥

पैशाच्यां र्य स्नष्टां स्थाने यथा-संख्यं रिय सिन सट इत्यादेशाः क्वचिद् भवन्ति ॥ भार्या । भारिया । स्नातम् । सिनातं । कष्टम् । कसटं ॥ क्वचिदिति किम् । सुज्जो । सुनुसा । तिट्ठो ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा के शब्दों में रहे हुए 'र्य' 'स्न' और 'ष्ट' के स्थान पर पैशाची-भाषा में इसी क्रम से 'रिय', 'सिन' और 'सट' की प्राप्ति कहीं-कहीं पर देखी जाती है। जैसेः—(१) *भार्या* = *भारिया* =

पत्नी। (२) स्नातम् = सिनातं=स्नान किया हुआ। धुलाया हुआ और (३) कष्टम् = कसटं = पीड़ा, वेदना ॥

प्रश्न —'कहीं-कहीं पर ही होते हैं,' ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर'—क्योंकि अनेक शब्दों में 'र्य' 'स्न' और 'ष्ट' होने पर भी 'रिय', 'सिन' और 'सट' की प्राप्ति होती हुई नहीं देखा जाता है। जैसे.—(१) सूर्यः = सुज्जो=सूरज। (२) स्नुषा = सुनुसा = पुत्र-वधू। (३) तुष्टः = तिट्ठो = प्रसन्न हुआ, संतुष्ट हुआ ॥ ४-३१५ ॥

क्यस्येय्यः ॥ ४-३१५ ॥

पैशाच्यां क्य प्रत्ययस्य इय्य इत्यादेशो भवति ॥ गिय्यते। दिय्यते। रमिय्यते। पठिय्यते ॥

अर्थ.—संस्कृत-भाषा में कर्मणि-प्रयोग-भावे प्रयोगके अर्थ में 'क्य = य' प्रत्यय की प्राप्ति होती है; तदनुसार उक्त 'य' प्रत्यय के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'इय्य' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:— (१) गीयते = गिय्यते = गाया जाता है। (२) दीयते = दिय्यते = दिया जाता है। (३) रम्यते = रमिय्यते = खेला जाता है और (४) पठयते = पठिय्यते = पढ़ा जाता है; इत्यादि ॥ ४-३१५ ॥

कृगो डीरः ॥ ४-३१६ ॥

पैशाच्यां कृगः परस्य क्यस्य स्थाने डीर इत्यादेशो भवति ॥ पुधुमतंसने सव्वस्स-य्येव संमान कीरते ॥

अर्थः—पैशाची-भाषा में कर्मणि प्रयोग, भावे प्रयोग के अर्थ में 'कृ' धातु में 'क्य = य' प्रत्यय के स्थान पर 'डीर = ईर प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डीर में स्थित 'डकार' इत्संज्ञक होने से 'कृ' धातु में अवस्थित अन्त्य स्वर 'ऋ' का लोप हो जाता है और यों अवशेष हलन्त धातु 'क्' में उक्त 'ईर' प्रत्यय की प्राप्ति होगी। उदाहरण यों है.—प्रथम-दर्शने सर्वस्य एव सम्मान क्रियते = पुधुमतंसने सव्वस्स य्येव संमान कीरते = प्रथम दर्शन में सभी का सम्मान किया जाता है ॥ ४-३१६ ॥

यादृशादे र्दु स्तिः ॥ ४-३१७ ॥

पैशाच्यां यादृश इत्येवमादीनां दृ इत्यस्य स्थाने तिः इत्यादेशो भवति ॥ यातिसो। तातिसो। केतिसो। एतिसो। भवातिसो। अञ्ञातिसो। युम्हातिसो अम्हातिसो ॥

अर्थ.—संस्कृत-भाषा में 'यादृश, तादृश' आदि ऐसे जो शब्द हैं, इन शब्दों में अवस्थित 'दृ' के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'ति' वर्ण को आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे:—(१) यादृशः = यातिसो =

जिसके समान। जैसा। (२) *तादृशः = तातिसो* = उसके समान। वैसा। (३) *कीदृशः = कीतिसो* = किसके समान। कैसा। (४) *ईदृशः = एतिसो* = इसके समान, ऐसा। (५) *भवादृशः = भवातिसो* = आप के समान-आप जैसा। (६) *अन्यादृशः = अञ्ञातिसो* = अन्य के समान; दूसरे के जैसा। (७) *युष्मादृशः = युम्हातिसो* = तुम्हारे समान-तुम्हारे जैसा। (८) *अस्मादृशः = अम्हातिसो* = हमारे समान-हमारे जैसा। इत्यादि ॥ ४-३१७ ॥

इचेचः ॥ ४-३१८ ॥

पैशाच्यामिचेचोः स्थाने तिरादेशो भवति ॥ वसुआति ॥ भोति। नेति। तेति ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में वर्तमानकाल के अन्य पुरुष के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' और 'ए' के स्थान पर पैशाची-भाषा में 'ति' प्रत्यय का आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*उद्-वाति = वसुआइ = वसुआति* = वह सूखता है। *भवइ = भवति = भोति* = वह होता है। *णेइ = नयति = नेति* = वह ले जाता है। *दाइ = ददाति = तेति* = वह देता है ॥ ४-३१८ ॥

आ -ते श्च ॥ ४-३१९ ॥

पैशाच्यामकारात् परयोः इचे चोः स्थाने ते श्च कारात् तिश्चादेशो भवति ॥ लपते। लपति। अच्छते। अच्छति। गच्छते। गच्छति। रमते। रमति ॥ आदिति किम्। होति। नेति ॥

अर्थः—प्राकृत-भाषा में वर्तमानकाल के अन्य-पुरुष के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इ' और 'ए' के स्थान पर अकारान्त-धातुओं में पैशाची-भाषा में 'ते' प्रत्यय की और 'ति' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। दोनों प्रत्ययों में से किसी भी एक प्रत्यय की अकारान्त धातुओं में संयोजना की जा सकती है। अकारान्त के सिवाय अन्य स्वरान्त धातुओं में केवल 'ति' प्रत्यय की ही प्राप्ति होगी। जैसा कि सूत्र-संख्या ४-३१८ में समझाया गया है। उदाहरण यों हैं:—(१) *लपति = लवइ = लपते* अथवा *लपति* = वह स्पष्ट रूप से बोलता है। (२) *आस्ते = अच्छइ = अच्छते* अथवा *अच्छति* = वह बैठता है अथवा वह हाजिर होता है। (३) *गच्छति = गच्छइ = गच्छते* अथवा *गच्छति* = वह जाता है। (४) *रमते = रमइ = रमते* अथवा *रमति* = वह खेलता है-वह क्रीड़ा करता है ॥

प्रश्नः—'अकारान्त-धातुओं' में ही 'ते' और 'ति' प्रत्ययों की प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों लिखा गया है?

उत्तरः—अकारान्त धातुओं के सिवाय अन्य स्वरान्त धातुओं में 'ते' प्रत्यय की प्राप्ति कदापि नहीं होती है; उनमें तो केवल 'ति' प्रत्यय की ही प्राप्ति होती है; इसलिये 'अकारान्त-धातुओं का नाम-

निर्देश किया गया है। जैसे —*भवति = होइ = होति* = वह होता है। यहा पर 'हो' धातु ओकारान्त होने से 'होते' रूप की प्राप्ति नहीं होगी। दूसरा उदाहरण.—*नयति = णेइ = नेति* = वह ले जाता है। यहाँ पर भी 'ने' धातु एकारान्त होने से इसका रूप 'नेते' नहीं बनेगा। यों सर्वत्र अकारान्त धातुओं की और अन्य स्वरान्त धातुओं की स्थिति को 'ति' अथवा 'ते' प्रत्यय के संबंध में स्वयमेव समझ लेनी चाहिये ॥ ४-३१९ ॥

भविष्यत्येय्य एव ॥ ४-३२० ॥

पैशाच्यामिचेचोः स्थाने भविष्यति एय्य एव भवति; न तु स्सिः ॥ तं तघून चिन्तितं रञ्ञा का एसा हुवेय्य ॥

अर्थ.—संस्कृत भाषा में भविष्यत्काल के अन्य पुरुष के एकवचन में 'ष्यति' प्रत्यय होता है, इसी 'ष्यति' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत-भाषा में 'हिइ और हिए' हो जाता है, परन्तु पैशाची-भाषा में इन 'हिइ और हिए' प्रत्ययों के स्थान पर केवल 'एय्य' ऐसे एक ही प्रत्यय की प्राप्ति होती है। यों 'ष्यति' प्रत्यय से नियमानुसार प्राप्त होने वाले 'स्सि' अक्षरात्मक प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति नहीं होगी। जबकि शौरसेनी-भाषा में सूत्र संख्या ४-२७५ से भविष्यत् काल के अर्थ में (वर्तमान-कालीन प्रत्ययों के पूर्व) 'स्सि' प्रत्ययांश की प्राप्ति होती है। वास्तव में यह 'एय्य' प्रत्यय रूप नहीं होकर प्रत्यय के अर्थ में 'सांकेतिक अक्षर-समूह' मात्र ही है। यों प्राप्तव्य प्रत्यय-रूप 'एय्य' को धातुओं में जोडने के समय में धातुओं में रहे हुए अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिये। जैसे:—*तां दृष्ट्वा चिन्तितं राज्ञा का एषा भविष्यति = तं तघून चिन्तितं रञ्ञा का एसा हुवेय्य* = उस चित्र को देख कर के राजा से सोचा गया (की) ऐसी स्त्री कौन होगी? यहाँ पर 'भविष्यति' पद के स्थान पर 'हुवेय्य' ऐसे पद-रूप की प्राप्ति हुई है ॥ ४-३२० ॥

अतो ङसे र्डातो-डातू ॥ ४-३२१ ॥

पैशाच्यामकारात् परस्य ङसेर्डितौ आतो आतु इत्यादेशौ भवतः ॥ ताव च तीए तूरातो य्येव तिट्ठो। तूरातु। तुमातो। तुमातु। ममातो। ममातु ॥

अर्थः—पैशाची भाषा में पंचमी-विभक्ति के एकवचन में अकारान्त शब्दों में 'डातो = आतो' और 'डातु = आतु' प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। 'डातो और डातु' प्रत्ययों में 'डकार' इत्संज्ञक होने से अकारान्त-शब्दों में रहे हुए अन्त्य 'अकार' का लोप हो जाता है। तत्पश्चात् हलन्त रूप से रहे हुए शब्दों में 'आतो और आतु' प्रत्ययों की संयोजना की जाती है। जैसे —(१) *तावत् च तया दूरात् एव दृष्टः = ताव च तीए तूरातो य्येव तिट्ठो* = और तब तक दूर से ही उस (स्त्री) से देखा गया (२)

दूरात् = तूरातु = दूर से । (३) त्वत् = तुमातो, तुमातु = तेरे से-तुझ से । (४) मत् = ममातो, ममातु = मेरे से-मुझ से । ॥ ४-३२१ ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥ ४-३२२ ॥

पैशाच्यां तदिदमोः स्थाने टा प्रत्ययेन सह नेन इत्यादेशो भवति ॥ स्त्री लिंगे तु नाए इत्यादेशो भवति ॥ तत्थ च नेन कत-सिनानेन ॥ स्त्रियाम् । पूजितो च नाए पातग्ग-कुसुमप्पतानेन ॥ टेति किम् ? एवं चिन्तयन्तो गतो सो ताए समीपं ॥

अर्थः—पैशाची-भाषा में 'तद्' सर्वनाम और 'इदम्' सर्वनाम के पुल्लिंग रूप में तृतीया-विभक्ति के एकवचन में 'टा' प्रत्यय सहित अर्थात् 'अंग + प्रत्यय' के स्थान पर 'नेन' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है । जैसेः— (१) *तद् + टा = तेन = नेन* = उस (पुरुष) से । (२) *इदम् + टा = अनेन = नेन* = इस (पुरुष) से ॥ इसी प्रकार से उक्त 'तद् और इदम्' सर्वनामों के स्त्री-लिंग-रूप में तृतीया-विभक्ति के एकवचन में 'टा' प्रत्यय सहित (अर्थात् अंग और प्रत्यय दोनों के स्थान पर) 'नाए' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है । जैसेः—(१) *तद् + टा = तया = नाए* = उस (स्त्री) से । (२) *इदम् + टा = अनया = नाए* = इस (स्त्री) से ॥ अन्य उदाहरण इस प्रकार से हैं:—(१) *तत्र च तेन कृतस्नानेन = तत्थ च नेन कत-सिनानेन* = और वहाँ पर स्नान किए हुए उस (पुरुष) से । (२) *पूजितश्च तया पादाग्र* (पतन)-*कुसुम-प्रदानेन = पूजितो च नाए पातग्ग-कुसुम-प्पतानेन* = और वह पैरों के अग्र-भाग में फूलों के समर्पण द्वारा उस (स्त्री) से पूजा गया ॥

प्रश्नः—मूल-सूत्र में 'टा' ऐसे तृतीया-विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय को क्यों संग्रहित किया गया है ?

उत्तरः—'तद्' और 'इदम्' सर्वनामों की अन्य-विभक्तियों में इस प्रकार 'अंग और प्रत्यय' के स्थान पर उक्त रीति से बने बनाये 'रूपों' की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिये जिस विभक्ति में बनती हो, उसी विभक्ति का उल्लेख किया जाना चाहिये; तदनुसार तृतीया-विभक्ति में ऐसा होने से मूल-सूत्र में यों तृतीया-विभक्ति के एकवचन के सूचक 'टा' प्रत्यय का संग्रह किया गया है । उदाहरण यों हैं:— *एवं चिन्तयतो गतो सः तस्याः समीपं = एवं चिन्तयन्तो गतो सो ताए समीपं* = इस प्रकार से विचार करता हुआ वह उस (स्त्री) के पास में गया । यहाँ पर 'ताए' में षष्ठी विभक्ति है अतः 'नाए' रूप की प्राप्ति यहाँ पर नहीं हुई है । यों 'नाए' रूप की प्राप्ति केवल 'टा' प्रत्यय के साथ में ही जानना चाहिये । ॥ ४-३२२ ॥

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ४-३२३ ॥

पैशाच्यां यदुक्तं ततोन्यच्छेपं पैशाच्यां शौरसेनी वद् भवति ॥ अध ससरीरो भगवं मकर-धजो एत्थ परिब्भमन्तो हुवेय्य। एवं विधाए भगवतीए कधं तापस-वेस-गहनं कतं ॥ एतिसं अतिट्ठ-पुरवं महा धनं तठ्ठून। भगवं यति मं वरं पयच्छसि राजं च दाव लोक। ताव चतीए तूरातो य्येव तिट्ठो सो आगच्छमानो राजा ॥

अर्थः—पैशाची-भाषा में अन्य भाषाओं की अपेक्षा से जो कुछ विशेषताऐं हैं; वे सूत्र-संख्या ४-३०३ से ४-३२२ तक के सूत्रों में बतला दी गई हैं। शेष सभी विधि विधान शौरसेनी-भाषा के समान ही जानना चाहिये। शौरसेनी-भाषा में भो जिन अन्य भाषाओं के विधि विधानों के अनुसार जो कार्य होता है; उस कार्य की अनुवृत्ति भा इस पैशाची-भाषा में विवेक-पूर्वक कर लेनी चाहिये। जो विधि-विधान पैशाचो-भाषा में लागू नहीं पड़ने वाला है, उसका कथन आगे आनेवाले सूत्र-सख्या ४-३२४ में किया जाने वाला है। वृत्ति में पैशाची भाषा और शौरसेनी भाषा को तुलना करने के लिये कुछ उदाहरण दिये गये हैं, उन्हीं को यहाँ पर पुन उद्धृत किया जा रहा है; जिनसे तुलनात्मक-स्थिति का कुछ आभास हो सकेगा। (१, *अथ सशरीरो भगवान् मकर-ध्वजः अत्र परिभ्रमन्तो भविष्यति=अध ससरीरो भगवं मकर-धजो एत्थ परिब्भमन्तो हुवेय्य* = अब इसके बाद मूर्तिमन्त होकर भगवान् कामदेव यहाँ पर परिभ्रमण करते हुए होंगे। (२) *एवं विधया भगवत्या कथं तापस-वेश-ग्रहणं कृतम् = एवं विधाए भगवतीए कधं तापस-वेस-गहनं कतं* = इस प्रकार की (आयु और वैभव वाली) भगवती से (राज कुमारी आदि रूप विशेष स्त्री से) कैसे तापस वेश (साध्वीपना) ग्रहण किया गया है। (३) *ईदृशं अदृष्टपूर्वं महाधनं दृष्ट्वा = एतिसं अतिट्ठ-पुरवं महा धनं तठ्ठून* = जिसको पहिले कभी भी नहीं देखा है, ऐसे महाधन को (विपुल मात्रा वाले और बहु मूल्य वाले धन को) देख कर के। (४) हे *भगवन् ! यदि माम् वरं प्रयच्छसि राज्यं च तावत् लोकम् = भगवं याति मं वरं पयच्छसि राजं च ताव लोक* = हे भगवान् ! यदि आप मुझे वरदान प्रदान करते हैं तो मुझे लोकान्त तक का राज्य प्राप्त होवे। (५) *तावत् च तया दूरात् एव दृष्टः सः आगच्छमानो राजा = ताव च तीए तूरातो य्येव तिट्ठो सो आगच्छमानो राजा* = तब तक आता हुआ वह राजा उससे दूर से ही देख लिया गया ॥ इन उदाहरणों से विदित होता है कि पैशाची-भाषा में शेष सभी प्रकार का विधि विधान शौरसेनी के समान ही होता है ॥ ४-३२३ ॥

न क-ग-च-जादि-षट्-शम्यन्तसूत्रोक्तम्। पैशाच्यां क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां ॥ ४-३२४ ॥

प्रायो लुक् (१-१७७) इत्यारभ्य षट्-शमी-शाव-सुधा-सप्तपर्णेष्वादेश्छः (१-२६५) इति यावद्यानि सूत्राणि तैर्यदुक्तम् कार्यं तन्न भवति ॥ मकरकेतू। सगर-पुत्त-वचन। विजय सेनेन लपितं। मतनं। पापं। आयुधं। तेवरो ॥ एवमन्यसूत्राणामप्युदाहरणानि द्रष्टव्यानि ॥

अर्थः—प्राकृत भाषा में सूत्र-संख्या १-१७७ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या १-२६५ तक जो विधि-विधान एवं लोप आगम आदि की प्रवृत्ति होती है, वैसी प्रवृत्ति तथा वैसा लोप-आगम आदि सम्बन्धी विधि-विधान पैशाची-भाषा में नहीं होता है। इसका बराबर ध्यान रखना चाहिये। उदाहरण यों हैं:— (१) *मकर-केतुः*=*मकरकेतू*। इस उदाहरण में प्राकृत भाषा के समान 'क' वर्ण के स्थान पर 'ग' वर्ण की प्राप्ति नहीं हुई है। (२) *सगर-पुत्र-वचनं*=*सगर-पुत्त-वचनं*=सगर राजा के पुत्र के वचन। यहां पर भी 'ग' कार तथा 'च' कार वर्ण का लोप नहीं हुआ है। (३) *विजयसेनेन लपितं*=*विजयसेनेन लपितं*=विजयसेन से कहा गया है। इस में 'लकार' वर्ण का लोप नहीं हुआ है। (४) *मदनं*=*मतनं*= मदन काम देव को। यहां पर 'दकार' वर्ण का लोप नहीं हुआ है, परन्तु सूत्र-संख्या ४-३०७ से 'द' वर्ण के स्थान पर 'त' वर्ण की प्राप्ति हुई है। (५) *पापं*=*पापं*=पाप। यहां पर भी 'प' कार वर्ण के स्थान पर 'वकार' वर्ण की प्राप्ति नहीं हुई है। *आयुधं*=*आयुधं*=शस्त्र विशेष। यहाँ पर 'यकार' वर्ण के स्थान पर 'यकार' वर्ण ही कायम रहा है (७) *देवरः*=*तेवरो*=पति का छोटा भाई। यहां पर भी 'दकार' के स्थान पर सूत्र-संख्या ४-३०७ से 'त' कार वर्ण की प्राप्ति हुई है। यों अन्यान्य उदाहरणों की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिये। इस प्रकार से सूत्र-संख्या १-१७७ से सूत्र-संख्या १-२६५ तक में वर्णित विधि-विधानों का पैशाची भाषा में निषेध कर दिया गया है॥ ४-३२४॥

इति पैशाची-भाषा-व्याकरण-समाप्त

अथ चूलिका-पैशाची-भाषा-व्याकरण प्रारम्भ

चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥ ४-३२५ ॥

चूलिका पैशाचिके वर्गाणां तृतीय-तुर्ययोः स्थाने यथासंख्यमाद्यद्वितीयौ भवतः ॥ नगरं । नकरं ॥ मार्गणः । मक्कनो ॥ गिरितटम् । किरि-तटं ॥ मेघः । मेखो ॥ व्याघ्रः । वक्खो ॥ घर्मः । खम्मो ॥ राजा । राचा ॥ जर्जरम् । चच्चरं ॥ जीमूतः । चीमूतो ॥ निर्झरः । निच्छरो ॥ झर्झरः । छच्छरो ॥ तडागम् । तटाकं ॥ मंडलम् । मंटलं ॥ डमरुकः । टमरुको ॥ गाढम् । काठं ॥ षण्ढः । संठो ॥ ढक्का । ठक्का ॥ मदनः । मतनो ॥ कन्दर्पः । कन्तप्पो ॥ दामोदरः । तामोतरो ॥ मधुरम् । मथुरं ॥ बान्धवः । पन्थवो ॥ धूली । थूली ॥ बालकः । पालको ॥ रभसः । रफसो ॥ रम्भा । रम्फा ॥ भगवती । फकवती ॥ नियोजितम् । नियोचितं ॥ क्वचिल्लाक्षणिकस्यापि । पडिमा इत्यस्य स्थाने पटिमा । दाढा इत्यस्य स्थाने ताठा ॥

अर्थः—चूलिका-पैशाचिक भाषा में क वर्ग से प्रारम्भ करके प वर्ग तक के अक्षरों में से वर्गीय तृतीय अक्षर के स्थान पर अपने ही वर्ग का प्रथम अक्षर हो जाता है और चतुर्थ अक्षर के स्थान पर अपने ही वर्ग का द्वितीय अक्षर हो जाता है। क्रम से इन सम्बन्धी उदाहरण इस प्रकार हैं:—(१) 'ग' कार के उदाहरण—(अ) *नगरम्=नकरं* = शहर। (ब) *मार्गणः = मक्कनो* = याचक-मांगनेवाला। (स) *गिरि-तटम्=किरि-तटं* = पहाड़ का किनारा ॥ (२) 'घ' कार के उदाहरणः—(अ) *मेघः =मेखो*=बादल। (ब) *व्याघ्रः =वक्खो*=शेर-चित्ता (स) *घर्मः =खम्मो*=धूप ॥ (३) 'ज' कार के उदाहरणः—(अ) *राजा=राचा* = राजा-नृपति (ब) *जर्जरम् = चच्चरं* = कमजोर, पीड़ित । (स) *जीमूतः =चीमूतो* = मेघ-बादल ॥ (४) 'झ' के उदाहरणः—*झर्झरः =छच्छरो*=झांझ-बाजा विशेष ॥ *निर्झरः =निच्छरो* = झरना-स्रोत ॥ (५) 'डकार' के उदाहरण.—(अ) *तडागम् = तटाकं* = तालाब। (ब) *मंडलम् = मंटलं* = समूह, अथवा गोल। (स) *डमरूकः =टमरूको* = बाजा विशेष ॥ (६) 'ढकार' के उदाहरणः—(अ) *गाढम् = काठं* = कठिन-मजबूत। (ब) *षण्ढः =सण्ठो* = नपुंसक। (स) *ढक्का = ठक्का* = बाजा विशेष (७) 'दकार' के उदाहरणः—(अ) *मदनः =मतनो* = कामदेव । (ब) *कन्दर्पः =कन्तप्पो* = कामदेव । (स) *दामोदरः =तामोतरो* = श्रीकृष्ण-वासुदेव ॥ (८) 'धकार' के उदाहरणः—(अ) *मधुरम् = मथुरं* = मीठा । (ब) *बान्धवः = पन्थवो* = भाइ बन्धु । (स) *धूली = थूली* = धूल-रज (९) 'ब' का उदाहरणः—*बालकः =पालको* = बच्चा ॥ (१०) 'भकार' के उदाहरणः—(अ) *रभसः = रफसो* = सहसा, एकदम । (ब) *रम्भा = रम्फा* = अप्सरा विशेष। (स) *भगवती = फकवती* = देवी, श्रीमती (११) 'जकार' का उदाहरणः—*नियोजितम् = नियोचितं* = कार्य में लगाया हुआ ॥

चूलिका-पैशाचिक-भाषा में परस्पर में अन्य विधि-विधानों द्वारा होने वाले परिवर्तनों की संप्राप्ति की कल्पना भी स्वयमेव कर लेनी चाहिये; ऐसी विशेष सूचना ग्रन्थकार वृत्ति में 'एवमन्यदपि' शब्दों द्वारा दे रहे हैं ॥ ४-३२८ ॥

इति चूलिका-पैशाची-भाषा-व्याकरण-समाप्त

अथ अपभ्रंश-भाषा-व्याकरण-प्रारंभः

स्वराणां स्वराः प्रायोपभ्रंशे ॥ ४-३२९ ॥

अपभ्रंशे स्वराणां स्थाने प्रायः स्वराः भवन्ति ॥ कच्चु । काच्च ॥ वेण । वीण ॥ बाह । बाहा बाहु ॥ पट्ठि । पिट्ठि । पुट्ठि ॥ तणु । तिणु । तृणु ॥ सुकिदु । सुकिओ । सुकृदु ॥ किन्नओ । किलिन्नओ ॥ लिह । लीह । लेह ॥ गउरि । गोरि ॥ प्रायोग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते, तस्यापि क्वचित् प्राकृतवत् शौरसेनी वच्च कार्यं भवति ॥

अर्थः—अपभ्रंश-भाषा में संस्कृत-भाषा के शब्दों का रूपान्तर करने पर एक ही शब्द में एक ही स्वर के स्थान पर प्रायः विभिन्न विभिन्न स्वरों की प्राप्ति हुआ करती है और यों विभिन्न-स्वर-प्राप्ति से एक ही शब्द के अनेक रूप हो जाया करते हैं। क्रम से उदाहरण इस प्रकार से हैं:—

संस्कृत-शब्द	=	अपभ्रंश-रूपान्तर	=	हिन्दी
(१) कृत्य	=	कच्चु और काच्च	=	काम।
(२) वचन	=	वेण और वीण	=	वचन।
(३) बाहु	=	बाह, बाहा और बाहु	=	भुजा।
(४) पृष्ठ	=	पट्ठि, पिट्ठि और पुट्ठि	=	पीठ।
(५) तृण	=	तणु, तिणु और तृणु	=	तिनका।
(६) सुकृत	=	सुकिदु और सुकिओ तथा सुकृदु	=	अच्छा काम।
(७) क्लृ	=	किन्नओ तथा किलिन्नओ	=	गीला, भीगा हुआ।
(८) लेखा	=	लिह, लीह और लेह	=	लकीर चिन्ह।
(९) गौरी	=	गउरि और गोरि	=	सुन्दरी अथवा पार्वती॥

इन उदाहरणों से विदित होता है कि अपभ्रंश-भाषा में एक ही स्वर के स्थान पर अनेक प्रकार के स्वरों की प्राप्ति हुई है। मूल-सूत्र में जो 'प्रायः' अव्यय ग्रहण किया गया है, उस का तात्पर्य यही है कि अपभ्रंश-भाषा में स्वर-सम्बन्धी जो अनेक विशेषताएँ रही हुई हैं, उनका प्रदर्शन आगे आने वाले सूत्रों में किया जायगा। तदनुसार अपभ्रंश-भाषा में शब्द-रचना-प्रवृत्ति कहीं कहीं पर प्राकृत-भाषा के अनुसार होती है और कहीं कहीं पर शौरसेनी-भाषा के समान भी हो जाया करती है। यह सब आगे यथा स्थान पर दर्शाया जावेगा; इस तात्पर्य को 'प्रायः' अव्यय से मूल-सूत्र में समझाया गया है॥ ४-३२९ ॥

स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥ ४-३३० ॥

कहीं कहीं पर व्याकरण से सिद्ध हुए प्राकृत-शब्दों में भी तृतीय अक्षर के स्थान पर प्रथम अक्षर की प्राप्ति हो जाती है और चतुर्थ अक्षर के स्थान पर द्वितीय-अक्षर हो जाता है। जैसे:—*प्रतिमा = पडिमा = पटिमा* = मूर्ति अथवा श्रावक साधु का धर्म विशेष। (२) *दंष्ट्रा = दाढा = ताठा* = बड़ा दांत अथवा दांत विशेष ॥ ४-३२५ ॥

रस्य लो वा ॥ ४-३२६ ॥

चूलिका-पैशाचिके रस्य स्थाने लो वा भवति ।
पनमथ पनय-पकुप्पित-गोली-चलनग्ग-लग्ग-पति-विंबं ॥
तससु नखतप्पनेसुं एकातस-तनु-थलं लुद्दं ।
नच्चन्तस्य य लीला-पातुक्खेवेन कंपिता वसुधा ।
उच्छल्लन्ति समुद्दा सइला निपतन्ति तं हलं नमथ ॥

अर्थ:—चूलिका-पैशाचिक-भाषा में 'रकार' वर्ण के स्थान पर 'लकार' वर्ण की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। जैसाकि उपरोक्त गाथा में '(१) गौरा=गोली, (२) चरण = चलन, (३) तनु-धुरं=तनु-थलं, (४) रुद्रम्=लुद्दं और हरं=हलं' पदों में देखा जा सकता है। इन पांच पदों में 'रकार' वर्ण की स्थान पर 'लकार' वर्ण की आदेश प्राप्ति की गई है। उपरोक्त गाथाओं की संस्कृतछाया इस प्रकार से है:—

प्रणमत प्रणय-प्रकुपित-गोरी-चरणाग्र-लग्न-प्रतिबिम्बम् ।
दशसु नख-दर्पणेषु एकादशे तनुधरं रुद्रम् ॥ १ ॥
नृत्यतश्च लीलापादोत्क्षेपेण कंपिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्राः शैला निपतन्ति तं हरं नमत ॥ २ ॥

अर्थ:—उस 'हर-महादेव' को तुम नमस्कार करो, जो कि प्रेम-क्रियाओं से क्रोधित हुई पार्वती के चरणों में (उसको प्रसन्न करने के लिये) झुका हुआ है और ऐसा करने से पार्वती के पैरों के दश ही नख-रूपी दश-दर्पणों में जिस (महादेव) का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और यों जो (महादेव) दस नखों में दश शरीर वाला प्रतीत हो रहा है और ग्यारहवां जिस (महादेव) का खुद का (मूल) शरीर है, इस प्रकार जिस (महादेव) ने अपने ग्यारह (एकादश) शरीर बना रखे हैं; ऐसे रुद्र-शिव को तुम प्रणाम करो ॥ १ ॥

'विलक्षण' नृत्य करते हुए और क्रीड़ा-वशात् पैरों को अचिंत्य ढंग से फेंकने के कारण से जिसने पृथ्वी को भी कंपायमान कर दिया है और 'नृत्य तथा क्रीड़ा' के कारण से समुद्र भी उछल रहे हैं, एवं पर्वत भी टूट पड़ने की स्थिति में हैं; ऐसे महादेव को तुम नमस्कार करो ॥ २ ॥ ४-३२६

नादि-युज्योरन्येषाम् ॥ ४-३२७ ॥

चूलिका-पैशाचिके पि अन्येपामाचार्याणां मतेन तृतीय तुर्ययोरादौ वर्तमानयो र्युजि धातौ च आद्य-द्वितीयौ न भवतः ॥ गतिः । गती ॥ घर्मः घम्मो ॥ जीमूतः जीमूतो ॥ झर्झरः । झच्छरो ॥ डमरुकः डमरूको ॥ ढक्का । ढक्का ॥ दामोदरः । दामोतरो ॥ बालकः । बालको ॥ भगवती । भकवती ॥ नियोजितम् । नियोजितं ॥

अर्थः—अनेक प्राकृत-व्याकरण के बनाने वाले आचार्यों का मत है कि-चूलिका-पैशाचिक-भाषा में कवर्ग से प्रारम्भ करके पवर्ग तक के तृतीय अक्षर अथवा चतुर्थ अक्षर यदि शब्द के आदि में रहे हुए हों तो इनके स्थान पर सूत्र-संख्या ४-३२५ से क्रम से प्राप्तव्य प्रथम अक्षर क तथा द्वितीय अक्षर की प्राप्ति नहीं होती है। अर्थात् तृतीय अक्षर के स्थान पर तृतीय ही रहेगा और चतुर्थ अक्षर के स्थान पर चतुर्थ अक्षर ही रहेगा। इसी प्रकार से 'जोड़ना-मिलाना' अर्थक धातु 'युज्' में रहे हुए 'जकार' वर्ण के स्थान पर भी 'चकार' वर्ण की प्राप्ति नहीं होगी। यों इन आचार्यों का मत है कि शब्द में अनादि रूप से और असंयुक्त रूप से' रहे हुए वर्गीय तृतीय तथा चतुर्थ अक्षरों के स्थान पर क्रम से अपने ही वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय अक्षर की प्राप्ति होती है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं—(१) 'ग' का—*गतिः* =*गती*=चाल। (२) 'घ' का—*घर्मः* =*घम्मो* =धूप। (३) 'ज' का—*जीमूतः* =*जीमूतो*= मेघ-बादल। (४) 'झ' काः—*झर्झरः* =*झच्छरो*=झांझ बाजा विशेष। (५) 'ड' का—*डमरुकः* = *डमरूको* शिवजी का बाजा विशेष। (६) 'ढ' काः—*ढक्का*=*ढक्का* =बाजा विशेष। (७) 'द' काः— *दामोदरः* =*दामोतरो* =श्रीकृष्ण वासुदेव। (८) 'ब' का—*बालकः* =*बालको* =बच्चा। (९) 'भ' काः— *भगवती* =*भकवती* =देवी, श्रीमती। और (१०) 'युज्' धातु काः—*नियोजितम्* =*नियोजितं* =जोड़ा हुआ॥ ४-३२७॥

शेषं प्राग्वत् ॥ ४-३२८ ॥

चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोरित्यादि यदुक्तं ततोन्यच्छेषं प्राक्तन पैशाचिक वत् भवति ॥ नकरं ॥ मक्कनो ॥ अनयोर्नो णत्वं न भवति। णस्य च नत्वं स्यात् ॥ एवमन्यदपि ॥

अर्थः—चूलिका-पैशाचिक-भाषा में ऊपर कहे हुए सूत्र-संख्या ४-३२५ से ४-३२७ तक के सूत्रों में वर्णित विधि-विधानों के अतिरिक्त शेष सभी विधि-विधान पैशाचिक-भाषा के अनुसार ही जानना चाहिये। 'नकरं' (=*नगरं*=शहर) में रहे हुए 'नकार' के स्थान पर और '*मक्कनो*'(=*मार्गणः* = याचक-भिखारी) में रहे हुए 'नकार' के स्थान पर चूलिका-पैशाचिक-भाषा में 'णकार' की प्राप्ति नहीं होती है। इस भाषा में 'णकार' के स्थान पर 'नकार' की प्राप्ति होती है। यों पैशाचिक भाषा में और

अर्थः—अपभ्रंश-भाषा में अकारान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के एक वचन में 'सि तथा अम्' प्रत्ययों के स्थान पर 'उ' प्रत्यय को आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। यह विधान अकारान्त पुल्लिंग और अकारान्त नपुंसक लिंग वाले सभी शब्दों के लिये जानना। उदाहरण के लिये वृत्ति में जो गाथा उद्धृत की गई है उसमें 'दहमुहु, भयंकरु, संकरु, णिग्गउ, चडि अउ और घडिअउ' शब्दों में प्रथमा-विभक्ति के एक वचन में पुल्लिंग में 'उ' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति की गई है। इसी प्रकार 'चउमुहु और छंमुहु' पदों में द्वितीया विभक्ति के एक वचन में पुल्लिंग में 'उ' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति का सद्भाव प्रदर्शित किया गया है। यों अन्यत्र भी प्रथमा-द्वितीया के एक वचन में समझ लेना चाहिये। उक्त गाथा का संस्कृत तथा हिन्दी भाषान्तर यों जानना चाहियेः—

संस्कृतः—*दशमुखः भुवन-भयंकरः तोषित शंकरः, निर्गतः रथवरे आरूढः ॥*
चतुर्मुखं षण्मुखंध्यात्वा एकस्मिन् लागित्वा इवदैवेन घटितः ॥

अर्थः—संसार को भयंकर प्रतीत होने वाला, और जिसने महादेव-शंकर को (अपनी तपस्या से) संतुष्ट किया था, ऐसा दशमुख वाला रावण श्रेष्ठ रथ पर चढ़ा हुआ निकला था। चार मुंह वाले ब्रह्माजी का और छह मुख वाले कार्तिकेयजी का ध्यान करके (मानो उनकी कृपा से उन दोनों से दश मुखों की प्राप्ति की हो, इस रीति से) दैव ने-(भाग्य ने-एक ही व्यक्ति के दश मुखों का) निर्माण कर दिया है, यों वह प्रतीत हो रहा था ॥ ४-३३१ ॥

सौ पुंस्योद्वा ॥ ४—३३२ ॥

अपभ्रंशे पुल्लिंगे वर्तमानस्य नाम्नोकारस्य सौ परे ओकारो वा भवति ॥

अगलिअ-नेह-निवट्टाहं, जोअण-लक्खु वि जाउ ॥
वरिस-सएण वि जो मिलइ; सहि ! सोक्खहँ सो ठाउ ॥ १ ॥
पुंसीति किं ? अंगहिँ अंगु न मिलिउ, हलि ! अहरे अहरु न पत्तु ॥
पिअ जो अन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥ २ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त पुल्लिंग शब्दों मे प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'सि' प्रत्यय के स्थान पर विकल्प से 'ओ' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। जैसा कि उपरोक्त गाथा में 'जो' और 'सो' सर्वनाम-रूपों में देखा जा सकता है। यों अपभ्रंश भाषा में अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में तीन प्रत्यय होते हैं, जो कि इस प्रकार हैः—(१) 'उ' (४-३३१), (२) 'ओ' (४) (४-३३२) और (३) "लुक्-०" (४-३३४) ॥

उपरोक्त गाथा का संस्कृत में और हिन्दी में रूपान्तर निम्न प्रकार से हैः—

संस्कृतः—अगलितस्नेह-निर्वृत्तानां, योजनलक्षमपि जायताम् ॥
वर्षशतेनापि यः मिलति, सखि ! सौख्यानां स स्थानम् ॥१॥

अर्थः—जिनका परस्पर में प्रेम नहीं टूटा है और यदि वह अखंड है तो चाहे वे (प्रेमी) लाख योजना भी दूर चले जाय; (तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि जब कभी चाहे सौ वर्षों में भी उनका मिलना होता है; तो भी हे सखि ! वह (मिलना) सुखों का ही स्थान होता है।

प्रश्न.—मूल सूत्र में "पुल्लिंग में ही" ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तरः—अकारान्त में नपुंसकलिंग वाले भी शब्द होते हैं; और उनमें प्रथमा विभक्ति के एक वचन में "ओ" प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिये "अकारान्त पुल्लिंग" शब्द का उल्लेख किया गया है। अकारान्त नपुंसकलिंग वाले शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में केवल दो प्रत्यय ही होते हैं; जो कि इस प्रकार हैं.—(१) "उ" और (२) "लुक्-०"। यों "ओ" प्रत्यय का निषेध करने के लिये "पुंसि" ऐसे पद का मूल-सूत्र में प्रदर्शन किया गया। उदाहरण के रूप में जो दूसरी गाथा उद्धृत की गई है, उसमें "अंगु, मिलिउ, सुरउ और समत्तु "आदि शब्द प्रथमा विभक्ति के एक वचन में होने पर भी ये शब्द अकारान्त नपुंसकलिंग वाले हैं और इसीलिये इनमें "ओ" प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होकर "उ" प्रत्यय की प्राप्ति हुई है। यों अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये। गाथा का संस्कृत-अनुवाद हिन्दी सहित इस प्रकार है:—

संस्कृतः -अंगैः अंगं न मिलितं, सखि ! अधरेण अधरः न प्राप्तः ॥
प्रियस्य पश्यन्त्याः मुख-कमलं, एवं सुरतं समाप्तम् ॥२॥

हिन्दीः—हे सखि ! अंगों से अंग भी नहीं मिल पाये थे, और होठ से होठ भी नहीं मिला था; तथा प्रियतम के मुख-कमल को (बराबर) देख भी नहीं पाई थी कि (इतने में ही) हमारा रति क्रीड़ा नामक खेल समाप्त हो गया ॥ ४-३३२ ॥

॥ एट्टि ४-३३३ ॥

अपभ्रंशे अकारस्य टायामेकारो भवति ॥
जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण ॥
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥१॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य "टा" के स्थान पर (वैकल्पिक रूप से) "एँ" प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। जैसा कि गाथा में आये हुए

अप-भ्रंशे नाम्नोन्त्यस्वरस्य दीर्घ-ह्रस्वौ स्यादौ प्रायो भवतः ॥ सौ ॥

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ॥

णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥ १ ॥

आमन्त्ये ॥ ढोल्ला मइँ तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु ॥

निद्दए गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु ॥ २ ॥

स्त्रियाम् ॥ बिट्टीए ! मइ भणिय तुहुँ, मा कुरु वंकी दिट्ठि ।

पुत्ति ! सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पइट्ठि ॥ ३ ॥

जसि ॥ एइ ति घोडा, एह थलि, एह ति निसिआ खग्ग ॥

एत्थु मुणी सिम जाणिअइ जो न वि वालइ वग्ग ॥ ४ ॥

एवं विभक्त्यन्तरेष्वप्युदाहार्यम् ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में संज्ञा शब्दों में विभक्ति वाचक प्रत्यय 'सि, जस, शस' आदि जोड़ने के पूर्व प्राप्त शब्दों में अन्त्य स्वरों के स्थान पर प्रायः ह्रस्व की जगह पर दीर्घ स्वर की प्राप्ति हो जाती है और दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर हो जाया करता है। जैसा कि उदाहरण-रूप में उपरोक्त गाथाओं में प्रदर्शित किया गया है। इनकी क्रमिक विवेचना इस प्रकार है:—

(१) प्रथम गाथा में पुल्लिंग में प्रथमा विभक्ति के वचन में 'लुक' प्रत्यय की प्राप्ति होने से 'ढोल्ल' और 'सामल' यों अकारान्त होना चाहिये था; जबकि इन्हे 'ढोल्ला और सामला' के रूप में लिखकर अकारान्त को आकारान्त कर दिया गया है। इसी प्रकार से 'धणा और सुवण्णरेहा' स्त्री लिंग वाचक शब्दों में भी 'लुक' प्रत्यय की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राप्ति होने पर भी इन पदों को अकारान्त कर दिया गया है और यों 'धण' तथा 'सुवण्ण-रेह' लिख दिया गया है। गाथा का संस्कृत-अनुवाद और हिन्दी-भाषान्तर निम्न प्रकार से है:—

संस्कृत:—*विटः श्यामलः धन्या चम्पक-वर्णा ॥*

इव सुवर्ण-रेखा कष-पट्टके दत्ता ॥ १ ॥

अर्थः—नायक तो श्याम वर्ण (काले रंग) वाला है और नायिका चम्पक वर्ण (स्वर्ण जैसे रंग) वाले चम्पक-फूल के समान है। यों इन दोनों की जोड़ी ऐसी मालूम होती है कि-मानो सोना परखने के लिये घर्षण के काम में ली जाने वाली काली कसौटी पर 'सोने की रेखा' खींचदी गई है ॥ १ ॥

(२) दूसरी गाथा में 'ढोल्ल' के स्थान पर 'ढोल्ला'; 'वारियो के स्थान पर 'वारिया'; 'दोहु' की जगह पर 'दीहा' और निद्दाए' नहीं लिख कर 'निद्दए' लिखा गया है। इस गाथा का संस्कृत तथा हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार से है:—

संस्कृतः—*विट ! मया त्वं वारितः, मा कुरु दीर्घं मानम् ॥*
निद्रया गमिष्यति रात्रिः, शीघ्रं भवति विभातम् ॥ २ ॥

अर्थः—हे नायक ! (तू मूर्ख है), मैंने तुझे रोक दिया था कि लंबे समय तक अभिमान मत कर; (नायिका से शीघ्र प्रसन्न हो जा) (क्योंकि) निद्रा ही निद्रा में रात्रि व्यतीत हो जायगी और शीघ्र ही सूर्योदय हो जायगा। (पीछे तुझे पछताना पड़ेगा) ॥ २ ॥

(३) तीसरी गाथा में समझाया गया है कि स्त्री लिंग शब्दों में भी विभक्ति-वाचक प्रत्ययों के पहिले अन्त्य स्वरों में परिवर्तन हो जाता है। जैसाकिः—'भणिय, दिट्ठि, मल्लि और पइट्ठि' में देखा जा सकता है। इसका संस्कृत-पूर्वक हिन्दी अनुवाद इस प्रकार से हैः—

संस्कृतः—*पुत्रि ! मया भणिता, त्वं मा कुरु वक्रां दृष्टिम् ॥*
पुत्रि ! सकर्णा भल्लि यथा, मारयति हृदये प्रविष्टा ॥ ३ ॥

हिन्दीः—हे बेटी ! मैं ने तुझ से कहा था कि-'तू टेढ़ी नजर से (कटाक्ष पूर्वक दृष्टि से) मत देख। क्योंकि हे पुत्री ! तेरी यह वक्र दृष्टि हृदय में प्रविष्ट होकर इस प्रकार आघात करती है जिस प्रकार कि तेज धार वाला और तेज नोक वाला भाला हृदय में प्रवेश करके आघात करता है। (४) चौथी गाथा में कहा गया है कि प्रथमा के बहुवचन में भी पुल्लिंग में दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर की प्राप्ति हो जाती है। जैसा कि 'खग्गा' के स्थान पर 'खग्ग' ही लिख दिया गया है। गाथा का संस्कृत अनुवाद निम्न प्रकार से हैः—

संस्कृतः—*एते ते अश्वाः, एषा स्थली, एते ते निशिताः खड्गाः।*
अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते, यः नापि वल्गां वालयति ॥

अर्थः-ये वे ही घोड़े हैं, यह वही रणभूमि है और ये वे ही तेज धार वाली तलवारें हैं और यहां पर ही मनुष्यत्व विदित हो रहा है, क्योंकि ये (योद्धा) (यहां पर) भय खाकर अपने घोड़ों की लगामें नहीं फेरा करते हैं, अर्थात् पीठ दिखाकर रण-भूमि से भाग जाना ये स्पष्ट रूप से कायरता समझते हैं। अतएव वास्तव में ये ही वीर हैं। वृत्ति में ग्रन्थकार कहते हैं कि यों अन्य उदाहरणों की कल्पनायें अन्य विभक्तियों में पाठक स्वयमेव कर लें॥ ४-३३० ॥

स्यमोरस्योत् ॥ ४-३३१ ॥

अपभ्रंशे अकारस्य स्यमोः परयोः उकारो भवति ॥ दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ। चउमुहु छंमुहु झाइ वि एक्कहिं लाइ विणावइ दइवें घडिअउ ॥ १ ॥

पद "दइएँ" से विदित होता है। *दयितेन*=दइएँ=पतिसे॥ मूल गाथा का संस्कृत-अनुवाद पूर्वक हिन्दी अर्थ इस प्रकार से है:—

संस्कृतः—ये मम दत्ताः दिवसाः दयितेन प्रवसता ॥
तान् गणयन्त्याः (मम) अंगुल्यः जर्जरिताः नखेन ॥

हिन्दीः—विदेश जाते हुए प्रियतम पतिदेव ने (पुनः लौट आने के लिये। मुझे जितने दिनों की बात कही थी; उन दिनों को नख से गिनते हुए (मेरी) अंगुलियाँ ही घिस गई हैं; (परन्तु पतिदेव विदेश से नहीं लौटे हैं।) ॥४-३३३॥

ङि नेच्च ॥ ४-३३४ ॥

अपभ्रंशे अकारस्य ङिना सह इकार एकारश्च भवतः ॥

सायरु उप्परि तणु धरइ, तलि घल्लइ रयणाइं ॥
सामि सुभिच्चु विपरिहरइ, संमाणेइ खलाइं ॥१॥
तले घल्लइ।

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "ङि" के स्थान पर "इकार" और "एकार" प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। ऐसा होने पर अकारान्त शब्दों के अन्त में रहे हुए "अ" स्वर का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् शेष व्यञ्जनान्त शब्द में "इकार" की संयोजना की जाती है। जैसा कि गाथा में दिये गये पद "तलि"= 'तले" से जाना जा सकता है। इस "तलि" में सप्तमी बोधक प्रत्यय "इकार" की प्राप्ति हुई है। गाथा का संस्कृत और हिन्दी भाषान्तर क्रम से इस प्रकार हैं:—

संस्कृतः—सागरः उपरि तृणानि धरति, तले क्षिपति रत्नानि ॥
स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति, संमानयति खलान् ॥

हिन्दीः—समुद्र घास आदि तिनकों को तो ऊपर सतह पर धारण करता है और बहुमूल्य रत्नों को ठेठ नीचे पैंदे में रखता है। (तदनुसार यह सत्य ही है कि) स्वामी अच्छे सेवकों को तो त्याग देता है और दुष्ट (सेवकों) का सन्मान करता है। यहाँ पर 'तले' पद के स्थान पर अपभ्रंश में 'तलि' पद का प्रयोग किया गया है। 'ए' कार पक्ष में 'तले' भी होता है॥ ४-३३४॥

भिस्येद्वा ॥ ४-३३५ ॥

अपभ्रंशे अकारस्य भिसि परे एकारो वा भवति ॥

गुणहिँ न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ॥
केसरि न लहइ बोड्डिअ, वि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥ १ ॥

अर्थ.—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों में तृतीया बहुवचन बोधक प्रत्यय 'भिस्=हि हिं हिँ' के परे रहने पर उन अकारान्त शब्दों में अन्त्य वर्ण 'अ' कार के स्थान पर विकल्प से 'ए' कार की प्राप्ति होती है। जैसाकि गाथा में आये हुए पद 'लक्खेहिं' से जाना जा सकता है। द्वितीय पद 'गुणहिँ' में अन्त्य अकार को 'एकार' की प्राप्ति नहीं हुई है। यों दोनो प्रकार की स्थिति को जान लेना चाहिये। उक्त गाथा का संस्कृत और हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—गुणैः न संपत्, कीर्तिः परं फलानि लिखितानि भुंजन्ति ।
केसरी कपर्दिकामपि न लभते, गजाः लक्षैः गृह्यन्ते ॥

हिन्दी.—गुणों से केवल कीर्ति मिलती है, न कि धन-सम्पत्ति। मनुष्य उन्हीं फलों को भोगते हैं, जो कि भाग्य द्वारा लिखे हुए होते हैं। केशरीसिंह गुण सम्पन्न होते हुए भी उसको कोई भी एक कोड़ी से भी खरीदने को तैयार नहीं होता है; जबकि हाथियों को लाख रुपये देकर भी लोग खरीद लिया करते हैं ॥ ४-३३५ ॥

ङसे र्हे-हू ॥ ४-३३६ ॥

अस्येति पञ्चम्यन्तं विपरिणम्यते। अपभ्रंशे अकारात् परस्य ङसे र्हे-हू इत्यादेशौ भवतः ॥

वच्छहे गृण्हइ फलइँ, जणु कडु-पल्लव वज्जेइ ॥
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइ ॥ १ ॥ वच्छहु गृण्हइ ॥

अर्थ—प्राकृत-भाषा में जैसे पंचमी विभक्ति के एकवचन में 'त्तो, आओ, आउ, आहि, आहिन्तो और 'लुक्' प्रत्यय होते हैं, वैसे प्रत्यय अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों के लिये उक्त विभक्ति में नहीं हुआ करते हैं, इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिये ग्रंथकार ने वृत्ति में 'विपरिणम्यते' पद का निर्माण किया है। अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों में पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर हे और हु' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसा कि गाथा में 'वच्छहे' पद से ज्ञात होता है। तदनुसार 'वृक्षात्' पद का अनुवाद अपभ्रंश भाषा में वच्छहे और वच्छहू' दोनों होगा। इसीलिये 'वच्छहु गृण्हइ' पदों का समावेश गाथा के बाद भी कर दिया गया है। यहाँ पर 'वच्छहु' पद में 'हू' प्रत्यय को ह्रस्व लिखने का कारण यह है कि आगे पद 'गृण्हइ' में आदि अक्षर संयुक्त होता हुआ 'हू' के आगे आया हुआ है, इसलिये सूत्र-संख्या १-८४ से 'हू' के दीर्घ स्वर 'ऊ' को ह्रस्व स्वर 'उ' की प्राप्ति हुई है। गाथा का संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार है—

संस्कृतः—वृक्षात् गृह्णाति फलानि जनः, कटु पल्लवान् वर्जयति ॥
तथापि महाद्रुमः सुजन इव तान् उत्संगे धरति ॥ १ ॥

अर्थः—मनुष्य वृक्ष से (मधुर) फलों को तो ग्रहण कर लेता है किन्तु उसी वृक्ष के कडुवे पत्तों को छोड़ देता है। तो भी वह महा वृक्ष उन पत्तों को सज्जन पुरुषों के समान अपनी गोद में ही धारण किये रहता है। जैसे सज्जन पुरुष कटु अथवा मीठी सभी बातों को सहन करते हैं; वैसे ही वृक्ष भी सभी परिस्थितियों को सहर्ष सहन करता है ॥ ४-३३६ ॥

भ्यसो हुं ॥ ४–३३७ ॥

अपभ्रंशे अकारात् परस्य भ्यसः पंचमी बहुवचनस्य हुं इत्यादेशो भवति ॥
दूरुड्डाणे पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ॥
जिह गिरि-सिंग हुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरू करेइ ॥१॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा मे अकारान्त शब्दों में पंचमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर 'हुं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। जैसा कि गाथा में आये हुए पद 'गिरि-सिंगहुं = गिरि-शृंगेभ्यः = पहाड़ की चोटियों से' जाना जा सकता है। उक्त गाथा का संस्कृत-हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैं:—

संस्कृतः—दूरोड्डाणेन पतितः खलः आत्मानं जनं (च) मारयति ॥
यथा गिरि-शृंगेभ्यः पतिता शिला अन्यदपि चूर्णी करोति ॥

अर्थः—एक दुष्ट आदमी जब दूर से ऊंचाई से छलांग लगाता है तो खुद भी मरता है और दूसरों को भी मारता है; जैसे कि पहाड़ की चोटियों से गिरी हुई बड़ी शिला अपने भी टुकड़े टुकड़े कर डालती है और (उसकी चोट में आये हुए) अन्य का भी विनाश कर देती है ॥ ४-३३७ ॥

ङसः सु-हो-स्सवः ॥ ४–३३८ ॥

अपभ्रंशे अकारात् परस्य ङसः स्थाने सु, हो, स्सु इति त्रय आदेशा भवन्ति ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा, पयडा करइ परस्सु ॥
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥ १ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों के षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर 'सु, हो और 'स्सु' ऐसे तीन प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। सूत्र-संख्या ४-३४५ से

इसी विभक्ति में 'लोप' रूप अवस्था की प्राप्ति भी हो सकती है। इनके उदाहरण गाथानुसार क्रम से इस प्रकार हैं —(१) परस्सु = परस्य = दूसरों के; (२) तसु = तस्य = उसके; (३) दुल्लहहो = दुर्लभस्य = दुलभ के और (४) सुअणस्सु = सुजनस्य = सज्जन पुरुष के ॥ इन उदाहरणों में 'सु, हो और स्सु' प्रत्यय वाले पदों का सद्भाव देखा जा सकता है। 'लुक्' प्रत्यय होने पर 'जण अथवा जणा = मनुष्य का' ऐसा रूप होगा। उपरोक्त गाथा का संस्कृत-अनुवाद सहित हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैः—

संस्कृतः—यः गुणान् गोपयति आत्मीयान् प्रकटान् करोति परस्य ॥
तस्य अहं कलियुगे दुर्लभस्य बलिं करोमि सुजनस्य ॥ १ ॥

हिन्दी.—मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि रूप सद्भावना इस कलियुग में दुर्लभ उस सज्जन और भद्र पुरुष के लिये प्रस्तुत करता हूँ जो कि अपने स्वयं के गुणों को ढांकता है; अपने गुणों की कीर्ति नहीं करता है और दूसरों के गुणों को प्रकट करता है ॥ ४-३३८ ॥

आमो हं ॥ ४–३३९ ॥

अपभ्रंशे अकारात् परस्यामोहमित्यादेशो भवति ॥
तणहं तइज्जी भंगि न वि तें अवड-यडि वसन्ति ॥
अह जणु लग्गि वि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति ॥ १ ॥

अर्थ.—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों के षष्ठी बहुवचन में प्राप्तव्य संस्कृत-प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर 'हं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से सूत्र-संख्या ४-३४५ से 'लुक् = ०' रूप से भी षष्ठी विभक्ति में प्राप्ति हो सकती है। उदाहरण रूप से गाथा में संग्रहित पद इस प्रकार हैंः— (१) तणहं = तृणानाम् = तिनकों के। गाथा का संस्कृत और हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैंः—

संस्कृतः—तृणानाम् तृतीया भङ्गी नापि,(= नैव), तानि अवट तटे वसन्ति ॥
अथ जनः लगित्वा उतरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति ॥

हिन्दीः—जो घास नदी-नाला आदि के किनारे पर उगता है, उसकी दो ही अवस्थायें होती हैं; तीसरी अवस्था का अभाव है, या तो लोग उनको पकड़ करके उतरते हैं अथवा उनके साथ स्वय डूब जाता है ॥ ४-३३९ ॥

हुं चेदुद्भ्याम् ॥ ४–३४० ॥

अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्यामो हुं हं चादेशौ भवतः ॥
दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं ॥

सो वरि सुक्खु पइट्ठ ण वि कण्णहिं खल-वयणाइं ॥ १ ॥

प्रायोधिकारात् क्वचित् सुपोपि हुं।

धवलु विसूरइ सामि अहो, गरुआ भरू पिक्खे वि ॥

हउं कि न जुत्तउ दुहुं दिसिहिं खंडइं दोण्णि करे वि ॥ २ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में इकारान्त और उकारान्त शब्दों के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में संस्कृत में प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर 'हुं और ह' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसा कि प्रथम गाथा में आये हुए निम्नोक्त पदों से जाना जा सकता हैं। (१) तरूहुं = तरूणां=वृक्षों के; (२) सउणिहंशकु=नीनां=पक्षियों के (लिये) प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं में 'चतुर्थी और षष्ठी' विभक्तियाँ एक जैसी ही होती हैं; इसलिये दूसरा पद 'सउणिह' षष्ठी में होता हुआ भी चतुर्थी-विभक्ति-बोधक है। गाथा का संस्कृत तथा हिन्दी भाषान्तर निम्न प्रकार से हैं:—

संस्कृतः—देवः घटयति वने तरूणां शकुनीनां (कृते) पक्व-फलानि ॥

तद् वरं सौख्यं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खल–वचनानि ॥

अर्थः—भाग्य ने वन में पक्षियों के लिये वृक्षों पर पके हुए फलों का निर्माण किया है; ऐसा होना पक्षियों के लिये बहुत सुखकारी ही है; क्योंकि इससे (पेट-पूर्ति के लिये) पक्षियों को दुष्ट-पुरुषों के वचन तो कानों द्वारा नहीं सुनने पड़ते हैं; अर्थात् खल-वचन कानों में प्रवेश तो नहीं करते हैं ॥ १ ॥

'प्रायः' अधिकार से 'हुं' प्रत्यय 'इकारान्त-उकारान्त' शब्दों के लिये सप्तमी-विभक्ति के बहुवचन में भी प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है। सप्तमी के बहुवचन में हिं' प्रत्यय की प्राप्ति आगे आने वाले सूत्र-संख्या ४-३४७ से जानना चाहिये। यहाँ पर 'हुं' प्रत्यय की सिद्धि के लिये द्वितीय गाथा में 'दुहुं= द्वयोः =दो में' ऐसा पद दिया गया है। द्वितीय गाथा का संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—धवलः खिद्यति (विसूरइ) स्वामिनः गुरूं भारं प्रेक्ष्य ॥

अहं किं न युक्तः द्वयोर्दिशोः खंडे द्वे कृत्वा ॥ २ ॥

अर्थ.—(कवि कल्पना है कि एक विवेकी) सफेद बैल अपने (एक और जुते हुए) स्वामी को भारी बोझ से (लदा हुआ) देख करके अत्यन्यत दुःख का अनुभव करता है और (अपने आप के लिये कल्पना करता है कि)-'मैं दो विभागों में क्यों नहीं विभाजित कर दिया गया; जिससे कि मैं जुए की दोनों दिशाओं मे दोनों ओर जोत दिया जाता ॥ ४-३४० ॥

ङसि–भ्यस्–ङीनां हे–हुं–हयः ॥ ४–३४१ ॥

अपभ्रंशे इदुद्-भ्यां परेषां ङसि-भ्यस्-ङि इत्येतेषां यथासंख्यं हे, हुं, हि इत्येते त्रय आदेशाः भवन्ति ॥ ङसेर्हे ।

गिरिहे सिलायलु, तरुहे फलु घेप्पइ नीसावँन्नु ॥
घरु मेल्लेप्पिणु, माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥ १ ॥ भ्यसो हुं ।

तरुहुं वि वक्कलु फलु मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति ॥
सामिहुं एत्तिउ अग्गलउं, आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥२॥

ङे र्हि । अह विरल-पहाउ जि कलि हि धम्मु ॥ ३ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में इकारान्त शब्दों के और उकारान्त शब्दों के पंचमी विभक्ति के एक-वचन में प्राप्तव्य संस्कृत-प्रत्यय 'ङसि के स्थान पर 'हे' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। इन्हीं शब्दों के पंचमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य संस्कृत-प्रत्यय 'भ्यस' के स्थान पर 'हुं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है और सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य संस्कृत-प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर 'हि' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति जानना चाहिये। इन तीनों प्रकार के प्रत्ययों के उदाहरण क्रम से उपरोक्त तीनों गाथाओं में दिये गये हैं। जिन्हें मैं क्रम से संस्कृत-हिन्दी अनुवाद सहित नीचे उद्धृत कर रहा हूँ। 'ङसि=हे' के उदाहरणः—(१) गिरिहे=गिरेः=पहाड़ से। (२) तरुहे=तरोः = वृक्ष से। गाथा का संपूर्ण अनुवाद यों हैं—

संस्कृतः—गिरेः शिलातलं, तरोः फलं गृह्यते निःसामान्यम् ॥
गृहं मुक्त्वा मनुष्याणां तथापि न रोचते अरण्यम् ॥

अर्थः—इस विश्व में सोने के लिये सुख पूर्वक विस्तृत शिला तल पहाड़ से प्राप्त हो सकता है और खाने के लिये बिना किसी कठिनाई के वृक्ष से फल प्राप्त हो सकते हैं; फिर भी आश्चर्य है कि अनेक कठिनाइयों से भरे हुए गृहस्थाश्रम को छोड़ करके मनुष्यों को वन-वास रुचि-कर नहीं होता हैं। अरण्य-निवास अच्छा नहीं मालूम होता है। 'भ्यस्=हु' के दृष्टान्त यों हैं:—(१) *तरुहुं=तरुभ्यः*=वृक्षों से और (२) *सामिहुं=स्वामिभ्य*=मालिकों से। यों दोनों पदों में पंचमी विभक्ति के बहुवचन में 'भ्यस्' प्रत्यय के स्थान पर 'हुं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति हुई हैं। गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृतः—तरुभ्यः अपि वल्कलं फलं मुनयः अपि परिधानं अशनं लभन्ते ॥
स्वामिभ्यः इयत अधिकं (अग्गलउं) आदरं भृत्याः गृह्णन्ति ॥ २ ॥

हिन्दीः—जिस तरह से मुनिगण वृक्षों से छाल तो पहिनने के लिये प्राप्त करते हैं और फल खाने के लिये प्राप्त करते हैं, उसी तरह से नौकर भी (अपनी गुलामी के एवज में) अपने स्वामी से भी खाने

पीने और पहिनने की सामग्री के अलावा केवल (नकली रूप से) थोड़ा सा आदर (मात्र ही) अधिक प्राप्त करते हैं। (फिर भी आश्चर्य है कि उन्हें वैराग्य नहीं आता है) ॥ २ ॥ 'ङि=हि' का दृष्टान्त यों है:—*कलिहि=कलौ*=कलियुग में। पूरी काव्य-पंक्ति का संस्कृत-पूर्वक हिन्दी अनुवाद यों है:—

संस्कृत:—अथ विरल-प्रभावः एव कलौ धर्मः ॥ ३ ॥

हिन्दी:—कलियुग में निश्चय ही धर्म अति स्वल्प प्रभाव वाला हो गया है। ॥ ३ ॥ ४-३४१ ॥

आट्टो णानुस्वारौ ॥ ४—३४२ ॥

अपभ्रंशे अकारात् परस्य टा वचनस्य णानुस्वारावादेशौ भवतः ॥ दइएं पवसन्तेण ॥

अर्थ:—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों के तृतीया विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य संस्कृत-प्रत्यय 'टा' के स्थान पर (१) 'ण' और (२) 'अनुस्वार' यों दो प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है। इन आदेश-प्राप्त प्रत्ययों के पूर्व मूल अङ्ग रूप अकारान्त शब्दों के अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर सूत्र-संख्या ३-१४ से 'ए' की प्राप्ति हो जायगी। यों प्राप्त प्रत्ययों का रूप (१) एण और (२) 'एं' हो जायगा। सूत्र-संख्या १-२७ से 'एण' के स्थान पर 'एणं' रूप की भी विकल्प से प्राप्ति होगी। इस प्रकार से तृतीया-विभक्ति के एकवचन में अकारान्त शब्दो में तीन प्रत्यय हो जायंगे। जैसे:—(१) जिणेण, (२) जिणेणं (३) जिणें। वृत्ति में दिया गया उदाहरण इस प्रकार से है:—*दइएं पवसन्तेण=दयितेन प्रवसता*=प्रवास करते हुए (विदेश जाते हुए) पतिदेव से ॥ इस वाक्य में 'ण' और 'अनुस्वार' दोनों प्रत्ययों का उपयोग प्रदर्शित कर दिया गया है। शब्दान्त्य 'अकार' के स्थान पर 'एकार' की प्राप्ति भी हुई है। ॥ ४-३४२ ॥

एं चेदुतः ॥ ४—३४३ ॥

अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्य टावचनस्य एं चकारात् णानुस्वारौ च भवन्ति ॥ एं ॥

अग्गिएं उण्हउ होइ जगु वाएं सीअलु तेवँ ॥
जो पुणु अग्गिं सीअला तसु उण्ह त्तणु केवँ ॥ १ ॥
णानुस्वारौ।

विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ॥
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरू तो तें अग्गिं कज्जु ॥ २ ॥
एवमुकारादप्युदाहार्याः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में इकारान्त और उकारान्त शब्दों में, पुल्लिंग और नपुंसकलिंगो में तृतीया विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य संस्कृत-प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'एं' प्रत्यय की प्राप्ति होती हैं। इसके सिवाय मूल-सूत्र में और वृत्ति मे प्रदर्शित 'चकार' से सूत्र-संख्या ४-३४२ में वर्णित प्रत्यय 'अनुस्वार तथा ण' की अनुवृत्ति भी कर लेनी चाहिये। यों इकारान्त उकारान्त शब्दों में तृतीया विभक्ति के एक-वचन में 'एं, अनुस्वार और ण' इन तीन प्रत्ययो का सद्भाव हो जाता है। इन के अतिरिक्त सूत्र-संख्या १-२७ से प्राप्त प्रत्यय 'ण' पर विकल्प से अनुस्वार की प्राप्ति भी हो जाती है। 'एं' प्रत्यय के उदाहरण उपरोक्त प्रथम गाथा में इस प्रकार दिये गये हैं:—(१) *अग्निना = अग्गिएं* = अग्नि से, (२) *वातेन = वाएं* = हवा से। अनुस्वार का उदाहरण—(१) *अग्निना = अग्गिं* = अग्नि से। द्वितीय गाथा में 'ण' प्रत्यय और 'अनुस्वार' प्रत्यय का एक एक उदाहरण दिया गया हैं; जो कि इस प्रकार हैं—(१) *अग्गिण = अग्निना* = अग्नि मे और (२) *त = तेन* = उससे; तथा (३) *अग्गिं = अग्निना* = अग्नि से। ये उदाहरण इकारान्त पुल्लिग शब्द के दिये गये हैं और उकारान्त पुल्लिग शब्द के उदाहरणों की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिये; ऐसी सूचना ग्रन्थकार वृत्ति में देते हैं। उपरोक्त दोनों गाथाओं का संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृत.—अग्निना उष्णं भवति जगत्; वातेन शीतलं तथा।
य: पुनः अग्निना शीतलः, तस्य उष्णत्वं कथम् ॥ १ ॥

हिन्दी —यह सारा ससार अग्नि से उष्णता का अनुभव करता है और हवा से शीतलता का अनुभव करता है; परन्तु जो (सन्त-महात्मा) अग्नि से शीतलता का अनभव कर सकते हैं; उनको उष्णता जनित पीड़ा कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्थात् त्याग शील महात्मा को विषय कषाय रूप अग्नि कुछ भ. पीड़ा नहीं पहुँचा सकती हैं।

संस्कृतः—विप्रिय कारकः यद्यपि प्रिय तदपि तं आनय अद्य।
अग्निना दग्ध यद्यपि गृहं, तदपि तेन अग्निना कार्यम् ॥ २ ॥

हिन्दी:—मेरा पति मुझे दुःख देने वाला हैं, फिर भी उसको आज (ही) यहाँ पर लाओ। (क्योकि अन्त तो गत्वा वह मेरा स्वामी ही हैं) जैसे कि अग्नि से यद्यपि सारा घर जल गया हैं, फिर भी क्या अग्नि का त्याग किया जा सकता हैं? अर्थात क्या दैनिक-कार्यो में अग्नि की आवश्यकता पड़ने पर अग्नि का उपयोग नहीं किया जाता हैं। ॥ २ ॥ ४-३४३ ॥

स्यम्-जस्-शसां लुक् ॥ ४-३४४ ॥

अपभ्रंशे सि, अम्, जस्, शस्, इत्येतेषां लोपो भवति ॥ एइ ति घोडा, एह थलि ॥ (४-३३०) इत्यादि। अत्र स्यम् जसां लोपः ॥

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं, णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥१॥ अत्र स्यम् शसां लोपः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में इकारान्त पुल्लिग और उकारान्त पुल्लिग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के दोनों वचनों में तथा द्वितीया विभक्ति के दोनों वचनों में क्रम से प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि, जस और अम्, शस् का लोप हो जाता है। लोप होने के पश्चात् उक्त दोनों विभक्तियों के दोनों वचनों में दो दो रूप क्रम से ह्रस्व स्वरान्त और दीर्घ स्वरान्त के रूप में बन जावेंगे। अर्थात् ह्रस्व इकार दीर्घ ईकार के रूप में और ह्रस्व उकार दीर्घ ऊकार के रूप में विकल्प से स्थान ग्रहण कर लेता है। जैसा कि सूत्र-संख्या-४-३३० में लिखित गाथा में अंकित 'थलि' पद से ज्ञात होता है। स्थली=थलि=पृथ्वी भाग। यहाँ पर प्रथमा विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'सि' का लोप हुआ है। उपरोक्त सूत्र-रचना से भी ज्ञात होता है कि अकारान्त पुल्लिग शब्दों में भी प्रथमा के दोनों वचनों में तथा द्वितीया के दोनों वचनों में भी विकल्प से इन प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि, जस्, अम्, शस्' का लोप हो जाता है। लोप प्राप्ति के पश्चात् अन्त्य ह्रस्व-स्वर अकार के स्थान पर विकल्प से दीर्घ स्वर 'आकार' की भी प्राप्ति होती है। उदाहरण के रूप में सूत्र-संख्या ४-३३० में दी गई गाथाओं के पदों में ये रूप देखे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण इस सूत्र के सदर्भ में दी गई गाथा में भी दिये गये हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—(१) *श्यामला=सामलि=श्याम* वर्ण वाली नायिका (प्रथमान्त पद)। (२) निजक-शरान्=निअय-सर=अपने बाणों को (द्वितीया-बहुवचनान्त पद) (३) *वक्रिमाणं=वंकिम*=नेत्रों को टेढ़ा करने की वृत्ति को (द्वितीया एक वचनान्त पद) इन उदाहरणों द्वारा उक्त विभक्तियों में प्राप्तव्य प्रत्ययों का लोप प्रदर्शित किया गया है। पूरी गाथा का अनुवाद इस प्रकार है:—

संस्कृतः—यथा यथा वक्रिमाणं लोचनयोः नितरां श्यामला शिक्षते ॥
तथा तथा मन्मथः निजकशरान् खर-प्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥

हिन्दीः—यह श्याम-वर्णीय नव युवती ज्यों ज्यों दोनों आँखों द्वारा कटाक्ष-पूर्वक वक्र देखने की वृत्ति को सीखती है; त्यों त्यों कामदेव अपने बाणों को तीक्ष्ण-पत्थर पर अधिकाधिक तीक्ष्ण-तेज करता जा रहा है ॥ ४-३४४ ॥

षष्ठ्याः ॥ ४—३४५ ॥

अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्याः प्रायो लुग् भवति ॥

संगर-सएहिँ जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ॥
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गयकुम्भइं दारन्तु ॥ १ ॥

पृथग्योगो लक्ष्यानुसारार्थः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में अकारान्त शब्दों में षष्ठी विभक्ति के एकवचन तथा बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्ययों का विकल्प से अथवा प्रायः लोप होता है; इकारान्त एवं उकारान्त शब्दों में भी षष्ठी एकवचन के प्रत्ययों का सर्वथा लोप हो जाता है, ऐसा होने पर मूल अङ्ग के अन्त्य स्वर को ही विकल्प से दीर्घत्व की प्राप्ति होती है। जैसेः—*इसि* अथवा *इसी* = ऋषि का। *गुरु* अथवा *गुरू* = गुरुजी का। स्त्री लिंग शब्दों में भी षष्ठी विभक्ति के एकवचन में और बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय का विकल्प से लोप होता है। वृत्ति में उद्धृत गाथा में षष्ठी विभक्ति वाले तीन पद आये हैं; जो कि इस प्रकार हैं:—(१) *अइमत्तहं*=*अतिमत्तानां* = बहुत ही मदोन्मत्त हुओं को; (२) *चत्तङ्कुसहं* = *त्यक्तांकुशानाम्* = जिन्होंने अंकुश (हाथी को सभालने का छोटा सा हथियार विशेष) को चुभाकर दिये जाने वाले आदेश को मानने से इन्कार कर दिया है-ऐसे (हाथियों) को; (३) *गय* = *गजानाम्* = हाथियों को। इन उदाहरणों में से प्रथम दो उदाहरणों में तो षष्ठी-बहुवचन-बोधक-प्रत्यय 'हं' का अस्तित्व है, जबकि तीसरे पद में उक्त प्रत्यय का लोप हो गया है; यों षष्ठी विभक्ति में प्राप्तव्य प्रत्यय की 'प्रायः' स्थिति कही गई है। गाथा का अनुवाद इस प्रकार है:—

संस्कृतः—संगरशतेषु यो वर्ण्यते पश्य अस्माकं कान्तम् ॥
अतिमत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ॥ १ ॥

अर्थः—अति मदोन्मत्त और अंकुश को भी नहीं मानने वाले ऐसे हाथियों की गर्दनों का विदारण करने वाले और ऐसा पराक्रम होने के कारण से जिसके यश का वर्णन सैकड़ों युद्धों में किया जाता है; ऐसे हमारे पति को देखो ॥ १ ॥

'गय कुम्भइं' पद का निर्माण समास रूप में भी हो सकता है और ऐसा होने पर 'गयाहं' पद में रहे हुए प्रत्यय 'हं' का व्याकरणानुसार लोप हो जाता है; परन्तु यहाँ पर प्राप्तव्य प्रत्यय 'हं' का लोप 'समास नहीं करके ही' बतलाने का ध्येय है; इसलिये इस 'गय' पद को 'कुम्भइं' पद से पृथक ही समझना चाहिये। इस मन्तव्य को समझाने के लिये ही वृत्तिकार ने वृत्ति में 'पृथक्-योगो' अर्थात् 'दोनों को अलग अलग समझो' ऐसी सूचना उक्त पदों से दी है। 'लक्ष्यानुसारार्थः' का तात्पर्य यह है कि:—व्याकरण के नियम का अनुसरण करने के लिये ही उक्त पद 'गय' को षष्ठी-विभक्ति वाला ही समझो। ॥ ४-३४५ ॥

आमन्त्र्ये जसो होः ॥ ४-३४६ ॥

अपभ्रंशे आमन्त्र्येर्थे वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसो हों इत्यादेशो भवति। लोपापवादः ॥

तरूणहो तरुणिहो मुणिउ मइँ करहु म अप्पहो घाउ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में संबोधन के बहुवचन में संज्ञाओं में प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर (विकल्प से) 'हो' प्रत्यय रूप की आदेश-प्राप्ति होती है। इस सूत्र को सूत्र-संख्या ४-३४४ के स्थान पर अपवाद रूप समझना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार हैं:—*हे तरुणाः! हे तरुण्यः* (च) *ज्ञातं मया, आत्मनः घातं मा कुरूत = तरूणहो! तरुणिहो! मुणिउ मइँ, करहु म अप्पहो घाउ* = अरे नवयुवकों और अरे नवयुवतियों! मैंने (सत्य) ज्ञान प्राप्त किया है; इसलिये तुम अपने आपको (विषय-अग्नि में डाल कर के) आत्म-घात मत करो। यहाँ पर 'तरुणहो और तरुणिहो' पद संबोधन-बहुवचन के रूप में प्राप्त होकर 'हो' प्रत्ययान्त हैं॥ ४-३४६॥

भिस्सुपोर्हिं ॥ ४-३४७ ॥

अपभ्रंशे भिस्सुपोः स्थाने हिं इत्यादेशो भवति॥ गुणहिं न संपइ कित्ति पर। (४-३३५)॥ सुप्॥ भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में तृतीया के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर 'हिं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है; इसी प्रकार से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में भी प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्' के स्थान पर भी अपभ्रंश भाषा में 'हिं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। दोनों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) *गुणैः न संपत् कीर्तिः परं = गुणहिं न संपइ कित्ति पर* = गुणों से संपत्ति नहीं प्राप्त की जा सकती है; परन्तु (गुणों से) कीर्ति प्राप्त की जा सकती है। (पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३३५ में देखो) (२) *भागीरथी यथा भारते त्रिषु मार्गेषु प्रवर्तते = भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ* = जैसे गंगा नदी भारतवर्ष में तीन मार्गों में बहती है। यहां पर 'मग्गेहि और तिहिं' पदों में सप्तमी-बहुवचन-बोधक-अर्थ में 'सुप्' प्रत्यय के स्थान पर 'हिं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति देखी जाती है। ॥ ४-३४७ ॥

स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥ ४-३४८ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसः शसश्च प्रत्येकमुदोतावादेशौ भवतः। लोपापवादौ॥ जसः। अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण॥ (४-३३३) शसः।

सुन्दर-सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण॥ १॥

वचन-भेदान्न यथा-संख्यम्॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में सभी प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर 'उ' और 'ओ' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है; इसी प्रकार से इन्हीं स्त्रीलिंग शब्दों के द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में भी प्राप्तव्य प्रत्यय 'शस्' के स्थान पर उक्त 'उ' और 'ओ' ऐसे दो प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। यों प्रथमा द्वितीया के बहुवचन में उक्त प्रत्ययों की संयोजना करने के पहिले प्रत्येक स्त्रीलिंग शब्द के अन्त्य स्वर को विकल्प से ह्रस्व के स्थान पर दीर्घत्व की और दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वरत्व की प्राप्ति भी क्रम से हो जाती है। ऐसा होने से दोनों विभक्तियों के बहुवचन में प्रत्येक शब्द के लिये चार चार रूपों की प्राप्ति हो जाया करती है। यह सूत्र सूत्र-संख्या ४-३४४ के प्रति अपवाद रूप सूत्र है। दोनों ही विभक्तियों के बहुवचनों में समान रूप से प्रत्ययों का सद्भाव होने से 'यथा संख्यम्' अर्थात् 'क्रम से' ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं रही है। दोनों विभक्तियों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) अंगुल्यः जर्जरिताः नखेन = अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण = (गणना करने के कारण से नख से अंगुलियाँ जर्जरित हो गई हैं; पीड़ित हो गई हैं। यहाँ पर प्रथमा-विभक्ति के बहुवचन के अर्थ में 'उ' प्रत्यय' की प्राप्ति हुई है। पूरी गाथा सूत्र संख्या ४-३३३ में देखना चाहिये।

(२) सुन्दर-सर्वांगीः विलासिनीः प्रेक्षमाणानाम् = सुन्दर-सव्वंगाउ विलासिणीओ (विलासिणीओ) पेच्छन्ताण सभी अंगों से सुन्दर आनन्द मग्न स्त्रियों को देखते हुए (पुरुषों) के लिये (अथवा पुरुषों के हृदय में)॥ यहाँ पर भी द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में क्रम से 'उ' और 'ओ' प्रत्ययों का प्रदर्शित किया गया है॥ ४-३४८॥

ट ए ॥ ४–३४९ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्याष्टायाः स्थाने ए इत्यादेशो भवति ॥

निअ-मुह-करहिँ वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ॥
ससि-मंडल-चंदिमए पुणु काइं न दूरे देक्खइ ॥ १ ॥
जहिं मरगय-कन्तिए संवलिअं ॥

अर्थ.—अपभ्रंश भाषा में सभी प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों में तृतीया विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'टा' के स्थान पर 'ए' ऐसे एक ही प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। आदेश प्राप्त प्रत्यय 'ए' की संयोजना करने के पहिले शब्द के अन्त में रहे हुए ह्रस्व स्वर को दीर्घ स्वर की और दीर्घ स्वर को ह्रस्व स्वर की प्राप्ति विकल्प से हो जाती हैं। यों स्त्रीलिंग शब्दों में तृतीया विभक्ति के एकवचन में क्रम से तथा वैकल्पिक रूप से दो दो रूपों की प्राप्ति होती है। जैसेः—*चन्द्रिकया = चंदिमए* = चाँदनी से। यहाँ पर 'ए' प्रत्यय के पूर्व 'चंदिमा' से 'चंदिम' हो गया है। (२) *कान्त्या = कन्तिए* = कांति से आभासे॥ वृत्ति में दी गई गाथाओं का अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैं:—

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में संबोधन के बहुवचन में संज्ञाओं में प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस्' के स्थान पर (विकल्प से) 'हो' प्रत्यय रूप की आदेश-प्राप्ति होती है। इस सूत्र को सूत्र-संख्या ४-३४४ के स्थान पर अपवाद रूप समझना चाहिये। उदाहरण इस प्रकार हैं:—हे *तरूणाः !* हे *तरूण्यः* (च) *ज्ञातं मया, आत्मनः घातं मा कुरूत=तरूणहो ! तरूणिहो ! मुणिउ मइँ, करहु म अप्पहो घाउ*= अरे नवयुवकों और अरे नवयुवतियों ! मैंने (सत्य) ज्ञान प्राप्त किया है; इसलिये तुम अपने आपको (विषय-अग्नि में डाल कर के) आत्म-घात मत करो। यहाँ पर 'तरुणहो और तरुणिहो' पद संबोधन-बहुवचन के रूप में प्राप्त होकर 'हो' प्रत्ययान्त हैं॥ ४-३४६॥

भिस्सुपोर्हिं ॥ ४-३४७ ॥

अपभ्रंशे भिस्सुपोः स्थाने हिं इत्यादेशो भवति॥ गुणहिं न संपइ कित्ति पर। (४-३३५)॥ सुप्॥ भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में तृतीया के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'भिस्' के स्थान पर 'हिं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती हैं; इसी प्रकार से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में भी प्राप्तव्य प्रत्यय 'सुप्' के स्थान पर भी अपभ्रंश भाषा में 'हिं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती हैं। दोनों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) *गुणैः न संपत् कीर्तिः परं=गुणहिं न संपइ कित्ती पर*=गुणों से संपत्ति नहीं प्राप्त की जा सकती हैं; परन्तु (गुणों से) कीर्ति प्राप्त की जा सकती है। (पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३३५ में देखो) (२) *भागीरथी यथा भारते त्रिषु मार्गेषु प्रवर्तते=भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ*=जैसे गंगा नदी भारतवर्ष में तीन मार्गों में बहती है। यहां पर 'मग्गेहि और तिहिं' पदों में सप्तमी-बहुवचन-बोधक-अर्थ में 'सुप्' प्रत्यय के स्थान पर 'हिं' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति देखी जाती है। ॥ ४-३४७ ॥

स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥ ४-३३८ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसः शसश्च प्रत्येकमुदोतावादेशौ भवतः। लोपापवादौ॥ जसः। अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण॥ (४-३३३) शसः।

सुन्दर-सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण॥ १॥

वचन-भेदान्न यथा-संख्यम्॥

संस्कृतः—तुच्छ-मध्यायाः तुच्छ जल्पन-शीलायाः ।
तुच्छाच्छ रोमावल्याः तुच्छ रागायाः तुच्छतरहासायाः ॥
प्रियवचनमलभमानायाः तुच्छकायमन्मथनिवासायाः ।
अन्यद् यत्तुच्छं तस्याः धन्यायाः तदाख्यातुं न याति ॥
आश्चर्यं स्तानान्तरं मुग्धायाः येन मनो वर्त्मनि न माति ॥

अर्थः—सूक्ष्म अर्थात् पतली कमरवाली, अल्प बोलने के स्वभाववाली, पतले और सुन्दर केशों-वाली, अल्प कोपवाली अथवा अल्प रागवाली, बहुत थोड़ा हँसनेवाली, प्रिय पति के वचनों को नहीं प्राप्त करने से दुबले शरीर वाली, जिसके पतले और सुन्दर शरीर में, कामदेव ने निवास कर रखा है ऐसी; इतनी विशेषताओं वाली उस धन्य अर्थात् अहो भाग्यवाली मुग्धा नायिका का जो दूसरा भाग सूक्ष्म है-अर्थात् पतला है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥ अपनी चचलता के कारण से परि-भ्रमण करता हुआ जो सूक्ष्म आकृतिवाला मन विस्तृत मार्ग में भी नहीं समाता है; आश्चर्य है कि ऐसा वही मन (उक्त नायिका के) स्थूल स्तनों के मध्य में अवकाश नहीं होने पर भी वहाँ पर समा गया है। उपरोक्त अपभ्रंश पदों में षष्ठी विभक्ति-बोधक प्रत्यय 'ङस् = हे' का सद्भाव स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। अब पचमी बोधक प्रत्यय 'हे' वाली गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—स्फोटयतः यौ हृदयं आत्मीयं, तयोः परकीया का घृणा ॥
रक्षत लोकाः आत्मानं बालायाः जातौ विषमौ स्तनौ ॥२॥

हिन्दीः—जो (स्तन) खुद के हृदय को ही विस्फोटित करके उत्पन्न हुए हैं; उनमें दूसरों के लिये दया कैसे हो सकती है? इसलिये हे लोगों! इस बाला से अपनी रक्षा करो, इसके ये दोनों स्तन अत्यन्त विषम प्रकृति के-(घातक स्वभाव के) हो गये हैं ॥ २ ॥ इस गाथा में 'बालहे' पद पंचमी विभक्ति के एकवचन के रूप में कहा गया है ॥ ४-३५० ॥

भ्यसामो हुः ॥ ४-३५१ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य भ्यस आमश्च हु इत्यादेशो भवति ॥
भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु ॥
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥ १ ॥
वयस्याभ्यो वयस्यानाम् वेत्यर्थः ॥

अर्थ:—अपभ्रंश भाषा में स्त्रीलिंग वाले शब्दों में पंचमी विभक्ति के बहुवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'भ्यस्' के स्थान पर 'हु' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में भी प्राप्तव्य प्रत्यय 'आम्' के स्थान पर 'हु' की आदेश प्राप्ति (विकल्प से) जानना चाहिये। सूत्र-संख्या ४-३४५ से इस प्राप्त प्रत्यय 'हु' का प्रायः लोप हो जाया करता है। इस संविधान के अतिरिक्त यह भी विशेषता है कि इस प्राप्त प्रत्यय 'हु' में अथवा 'लोप-विधान' के पूर्व स्त्रीलिंग शब्दों में रहे हुए अन्त्य स्वर को विकल्प से ह्रस्व से दीर्घत्व की और दीर्घ से ह्रस्वत्व की प्राप्ति भी होती है। यों पंचमी विभक्ति के बहुवचन में स्त्रीलिंग शब्दों में दो रूप होते हैं और षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में चार चार रूप हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में गाथा में जो पद 'वयंसिअहु' दिया गया है; उसको पंचमी और षष्ठी के बहुवचन में-दोनों में गिना जा सकता है। जैसेकि:—*वयस्याभ्यः* अथवा *वयस्यानाम्*=*वयंसिअहु*=मित्रों से अथवा मित्रों के बीच में। पूरी गाथा का संस्कृत हिन्दी रूपान्तर यों है:—

संस्कृत:—भव्यं भूतं यन्मारितः भगिनि! अस्मदीयः कान्तः।
अलज्जिष्यत् वयस्याभ्यः यदि भग्नः गृहं ऐष्यत्॥

अर्थ:—हे बहिन! यह बड़ा अच्छा हुआ; कि मेरे पति (युद्ध में युद्ध करते करते) मारे गये। यदि वे हार कर (अथवा कायर बन कर) घर पर आ जाते तो मित्रों से (अथवा मित्रों के बीच में) लज्जित किये जाते। (उनकी हँसी उड़ाई जाती)॥ ४-३५१॥

ङेः हिं ॥ ४-३५२ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य हि इत्यादेशो भवति॥

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठिउ सहस त्ति॥
अद्धा वलया महि हि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति॥ १॥

अर्थ:—अपभ्रंश भाषा में स्त्रीलिंग शब्दों में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर 'हि' प्रत्यय रूप की आदेश प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'हि' की संयोजना करने के पूर्व स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त्य स्वर की विकल्प से 'ह्रस्वत्व से दीर्घत्व' की और 'दीर्घत्व से ह्रस्वत्व' की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार से अपभ्रंश भाषा में सभी स्त्रीलिंग वाचक शब्दों के सप्तमी विभक्ति के एकवचन में दो दो रूप हो जाते हैं। जैसे:—महिहि, महीहि=पृथ्वी पर। धेणुहि, धेणूहि=गाय पर-गाय में। मालडिआहि, मालडिअहि=माला में-माला पर। गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृत:—वायसं उड्डापयन्त्या प्रियो दृष्टः सहसेति॥
अर्धानि वलयानि मह्यां गतानि, अर्धानि स्फुटितानि तटिति॥

हिन्दी:—शकुन शास्त्र में मकान के मुंडेर पर बैठकर कौए द्वारा 'काँव काँव' किये जाने वाले शब्द से किसी के भी आगमन की सूचना मानी जाती है तदनुसार किसी एक स्त्री द्वारा कौए की काँव-काँव वाचक ध्वनि को सुनकर उसको उड़ाने के लिये ज्यों ही प्रयत्न किया गया तो अचानक ही उसको अपने प्रिय पति विदेश से घर आते हुए दिखलाई पड़े। इससे उस स्त्री को हर्ष मिश्रित रोमाञ्च हो आया और ऐसा होने पर उसके हाथ में पहिनी हुई चूड़ियाँ में से आधी तो धरती पर गिर पड़ीं और आधी 'तड़ाक' ऐसे शब्द करते ही तड़क गईं॥ ४-३५२॥

क्लीबे जस्-शसोरिं ॥ ४-३५३ ॥

अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानान्नाम्नः परयो जस्-शसो इं इत्यादेशो भवति ॥

कमलइं मेल्लवि अलि उलइं करि-गंडाइं महन्ति ॥
असुलहु मेच्छण जाहं भलि ते ण वि दूर गणन्ति ॥ १ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में नपुंसकलिंग वाले शब्दों के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में मो प्राप्तव्य प्रत्यय 'जस् और शस्' के स्थान पर केवल एक ही प्रत्यय 'इं' की आदेश प्राप्ति होती है। आदेश प्राप्त प्रत्यय 'इं' की संयोजना करने के पूर्व नपुंसकलिंग वाले शब्दों के अन्त्य स्वर को विकल्प से 'ह्रस्वत्व से दीर्घत्व' और दीर्घत्व से ह्रस्वत्व' की प्राप्ति क्रम से हो जाती है। यों इन विभक्तियों में दो दो रूप हो जाया करते हैं। जैसे—नेत्तइं, नेत्ताइं=आँखों ने अथवा आँखों को। *धणुइं, धणूइं*=धनुष्यों ने और धनुष्यों को। *अच्छिइं, अच्छीइं*=नेत्रों ने और नेत्रों को। वृत्ति में दी हुई गाथा में (१) *अलि-उलइं=अलि-कुलानि*=भँवरों का समूह प्रथमा-बहुवचनान्त पद है। (२) *कमलइं=कमलानि*=कमलों को तथा (३) *करि-गंडाइं = करिगंडान्*=हाथियों के गंड-स्थलों को; ये दो पद द्वितीया बहुवचनान्त है। पूरी गाथा का अनुवाद इस प्रकार है.—

संस्कृतः—कमलानि मुक्त्वा अलि कुलानि करिगंडान् कांक्षन्ति ॥
असुलभं एष्टुं येषां निर्बंधः (भलि), ते नापि (=नैव) दूरं गणयन्ति ॥१॥

हिन्दी—भँवरों का समूह कमलों को छोड़ करके हाथियों के गंड स्थलों की इच्छा करते हैं; इस में यही रहस्य है कि जिनका आग्रह (अथवा लक्ष्य) कठिन वस्तुओं को प्राप्त करने का होता है, वे दूरी की गणना कदापि नहीं किया करते हैं ॥१॥४-३५३॥

कान्तस्यात उं स्यमोः ॥४-३५४॥

अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानस्य ककारान्तस्य नाम्नो योकारस्तस्य स्यमोः परयोः उं इत्यादेशो भवति ॥ अन्नु जु तुच्छउं तहें धणहे ।

भग्गउं देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउं परस्सु ॥
उम्मिलइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥१॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में नपुंसकलिंग वाले शब्दों के अन्त में 'ककार' वर्ण हो और उस 'ककार' वर्ण का सूत्र संख्या १-१७७ से लोप हो जाने पर शेष रहे हुए अन्त्य वर्ण 'अकार' में प्रथम विभक्ति के एकवचन में और द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'उ' और 'लोप रूप शून्य' के स्थान पर केवल 'उं' प्रत्यय की ही आदेश प्राप्ति होती है। अन्त्य वर्ण 'क' का लोप हो जाने पर शेष रहे हुए 'अ' वर्ण को 'उद्वृत्त' स्वर की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। ऐसे शब्दों में ही उक्त दोनों विभक्तियों के एकवचन में केवल 'उं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। जैसेः—*नेत्रकम्=नेत्तउं*=आँख ने अथवा आँख को। *अक्षिकम्=अच्छिउं*=आँख ने अथवा आँख को। गाथा में आये हुए प्रथमा द्वितीया विभक्तियों के एकवचन वाले पद इस प्रकार से हैंः—

(१) *भग्नकं=भग्गउं*=टूटती हुई को-भागती हुई को। (२) *प्रसृतकं*=पसरिअउं=फैलती हुई को। (३) तुच्छकम्=*तुच्छउं*=तुच्छ को ॥ पूरी गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—भग्नकं दृष्ट्वा निजकं बलं, बलं प्रसृतकं परस्य ॥
उन्मीलति शशिलेखा यथा करे, करवालः प्रियस्य ॥ १ ॥

हिन्दीः—अपनी फौज को भागते हुए अथवा बिखरते हुए देख करके और शत्रु की फौज को जीतते हुए एवं फैलते हुए देख करके मेरे प्रियतम के हाथ में तलवार यों चमकती हुई-शत्रुओं के गर्दनों को काटती हुई दिखाई देने लगी कि जिस प्रकार आकाश में उगते हुए बाल-चन्द्रमा की 'रेखा अथवा लेखा' सुन्दर दिखाई पड़ती है ॥ ४ ३५४ ॥

सर्वादेः ङसेर्हां ॥ ४-३५५ ॥

अपभ्रंशे सर्वादे रकारान्तात् परस्य ङसेर्हां इत्यादेशो भवति ॥ जहां होन्तउ आगदो। तहां होन्तउ आगदो। कहां होन्तउ आगदो ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'सर्व=सव्व' आदि अकारान्त सर्वनामों के पंचमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर 'हां' प्रत्यय रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*यस्मात् भवान् आगतः=जहां होन्तउ आगदो*=जहाँ से आप आये हैं। (२) *तस्मात् भवान्-आगतः=तहां होन्तउ आगदो*=वहाँ से आप आये हैं। (३) *कस्मात् भवान् आगतः*=कहाँ होन्तउ [illegible]

किमो डिहे वा ॥ ४-३५६ ॥

अपभ्रंशे किमो कारान्तात् परस्य ङसे डिंहे इत्यादेशो वा भवति ॥

जइ तहे तुट्टउ नेहडा मइं सुहुं न वि तिल-तार ॥
तं किहे वंकेहिं लोअणेहिं जोइज्जउं सयवार ॥ १ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'किम्' सर्वनाम के अङ्ग रूप 'क' शब्द में पंचमी विभक्ति के एकवचन में प्राप्तव्य प्रत्यय 'ङसि' के स्थान पर 'डिहे=इहे प्रत्यय रूप की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। डिहे' प्रत्यय में 'डकार' इत्-संज्ञक होने के अङ्ग रूप 'क' के अन्त्य 'अ' का लोप होकर शेष अंग रूप हलन्त 'क्' में 'इहे' प्रत्यय की संयोजना की जानी चाहिये। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'काहां और कहां' रूपों की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण के रूप में गाथा में 'किहे' पद दिया गया है। जिसका अर्थ है:—किस कारण से ॥ पूरी गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—यदि तस्याः त्रुट्यतु स्नेहः मया सह नापि तिलतारः (?)
तत् कस्मात् वक्राभ्याम् लोचनाभ्याम् दृश्ये (अहं) शतवारम् ॥

हिन्दीः—यदि उसका प्रेम मेरे प्रति टूट गया है और प्रेमका अंश मात्र भी मेरे प्रति नहीं रह गया है तो फिर मैं किस कारण से उसके टेढ़े टेढ़े नेत्रों से सैकड़ों वार देखा जाता हूँ ? अर्थात् तो फिर मुझे वह वार वार क्यों देखना चाहती है ? ॥ ४-३५६ ॥

ङे हिं ॥ ४-३५७ ॥

अपभ्रंशे सर्वादिरकारान्तात् परस्य ङेः सप्तम्येक वचनस्य हिं इत्यादेशो भवति ॥

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरू छिज्जइ खग्गिण खग्गु ॥
तहिं तेहइ भड-घड निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ॥ १ ॥
एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ ॥
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डे-त्थले सरउ ॥
अंगिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्ग सिरू ॥
तहे मुद्धहे मुह-पंकइ आवासिउ सिसिरू ॥ २ ॥
हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ॥
देक्खउं हय-विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्ख-सयाइं ॥ ३ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'सर्व = सव्व' आदि अकारान्त सर्वनाम वाचक शब्दों के सप्तमी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङि' के स्थान पर 'हिं' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। वृत्ति में दी गई गाथाओं में आये हुए निम्नोक्त पद सप्तमी विभक्ति के एकवचन में 'हिं' प्रत्यय के साथ क्रम से इस प्रकार हैं:—

(१) जहिं = यस्मिन् (अथवा यत्र) = जिसमें (अथवा जहाँ पर);

(२) तहिं = तस्मिन् (अथवा तत्र) = उसमें (अथवा वहाँ पर);

(३) एक्कहिं = एकस्मिन् = एक में; *(४) अन्नहिं = अन्यस्मिन् =* दूसरे में; *(५) कहिं = कस्मिन् =* कहाँ पर। तीनों गाथाओं का संस्कृत और हिन्दी अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैं:—

संस्कृतः—यस्मिन् कल्प्यते शरेण शरः, छिद्यते खड्गेन खड्गः ॥
तस्मिन् तादृशे भट घटा निवहे कान्तः प्रकाशयति मार्गम् ॥ १ ॥

हिन्दीः—जहाँ पर अर्थात् जिस युद्ध में बाण से बाण काटा जाता है अथवा काटा जा रहा है और जहाँ पर तलवार से तलवार काटी जा रही है; ऐसे भयकर युद्ध में रणवीर रूपी बादलों के समूह में (मेरा बहादुर) पति (अन्य वीरों को) (युद्ध कला का आदर्श) मार्ग बतलाता है (अथवा बतला रहा है)॥१॥

संस्कृतः—एकस्मिन् अक्षिणि श्रावणः, अन्यस्मिन् भाद्रपदः ।
माधवः (अथवा माघः) महीतलसंस्तरे गण्ड स्थले शरत् ॥
अंगेषु ग्रीष्मः सुखासिका तिलवने मार्गशीर्षः ।
तस्याः मुग्धायाः मुख पंकजे आवासितः शिशिरः ॥ २ ॥

हिन्दीः—इस काव्य रूप श्लोक में ऐसी नायिका की स्थिति का वर्णन किया गया है; जो कि अपने पति से दूर स्थल पर अवस्थित है। पति-वियोग से इस नायिका के आँखों में अश्रु-प्रवाह प्रवाहित होता रहता है, इससे ऐसा मालूम होता है कि-मानों इसकी एक आँख में श्रावण मास का निवास-स्थान है और दूसरी में भाद्रपद मास है। (पत्र और पुष्पों से निर्मित) उसका भूमि तल पर बिछाया हुआ बिस्तरा बसंत ऋतु के समान अथवा माघ मास के समान प्रतीत होता है। उसके गालों पर शरत्-ऋतु की आभा दिखाई देती है और अङ्ग-अङ्ग पर (वियोग-जनित-उष्णता के कारण से) ग्रीष्म-ऋतु का आभास प्रतीत हो रहा है। (जब वह शांति के लिये) तिल उगे हुए खेतों में बैठती है तो ऐसा मालूम होता है कि मानों वहाँ पर मार्ग-शीर्ष मास का समय चल रहा है। ऐसी उस मुग्धा नायिका के मुख-कमल की स्थिति है कि मानों उसके मुख-कमल पर 'शिशिर' ऋतु का निवास स्थान है ॥ २ ॥

संस्कृतः—हृदय ! स्फुट तटिति (शब्दं) कृत्वा काल चेपेण किम् ॥
पश्यामि हत विधिः क स्थापयति त्वया विना दुःख शतानि ॥ ३ ॥

हिन्दी:—हे हृदय ! 'तड़ाक' ऐसा शब्द करके अथवा करते हुए फटजा-विदीर्ण होजा; ऐसा करने में विलम्ब करने से क्या (लाभ) है ? क्योंकि मैं देखता हूँ कि-यह दुर्भाग्य तेरे सिवाय अन्यत्र इन सैंकड़ों दुःखों को कहाँ पर स्थापित करेगा ? अर्थात् इन आपतित सैंकड़ों दुःखों को झेलने की अपेक्षा से तो मृत्यु का वरण करना ही श्रेष्ठ है ॥ ४-३५७ ॥

यत्तत्किंभ्यो ङसो डासु र्न वा ॥ ४-३५८ ॥

अपभ्रंशे यत्तत्-किम् इत्येतेभ्यो कारान्तेभ्य परस्य ङसो डासु इत्यादेशो वा भवति ॥

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु ॥
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउ वि फेडइ तासु ॥१॥
जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु ॥
दोण्णि वि अवसर-निवडिआइं तिण-सम गणइ विसिट्ठु ॥२॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में "यत्' तत् और किम्' सर्वनामों के अकारान्त पुल्लिंग अवस्था में षष्ठी विभक्ति के एक वचन में संस्कृतीय प्रत्यय "ङस्" के स्थान पर 'डासु=आसु" प्रत्यय की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। "डासु" रूप लिखने का तात्पर्य यह है कि "यत्=ज", "तत्=त" और "किम्=क" में स्थित अन्त्य स्वर "अकार" का "डासु=आसु" प्रत्यय जोड़ने पर लोप हो जाता है। यों 'डासु" में स्थित "डकार" इत्संज्ञक है। गाथाओं में इन सर्वनामों के जो उदाहरण दिये गये हैं; वे क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) जासु=यस्य=जिसका; (२) तासु=तस्य=उसका और (३, कासु=कस्य=किसका ॥ गाथाओं का अनुवाद निम्न प्रकार से है:—

संस्कृतः—कान्तः अस्मदीयः हला सखिके ! निश्चयेन रुष्यति यस्य ॥
अस्त्रैः शस्त्रैः हस्तै रपि स्थान मपि स्फोटयति तस्य ॥१॥

हिन्दी:—हे सखि ! हमारा कान्त—प्रियपति—जिस पर निश्चय से रूठ जाता है—अथवा क्रोध करता है; तो उसके स्थान को भी निश्चय ही अस्त्रों से, शस्त्रों से और (यहाँ तक कि) हाथों से भी नष्ट कर देता है ॥१॥

संस्कृतः—जीवितं कस्य न वल्लभकं, धनं पुनः कस्य नेष्टम् ॥
द्वे अपि अवसर निपतिते, तृणसमे गणयति विशिष्टः । २॥

हिन्दी:—किसको (अपना) जीवन प्यारा नहीं है ? और कौन ऐसा है जिसको कि धन (प्राप्ति) की आकांक्षा नहीं है ? अथवा धन प्यारा नहीं है ? किन्तु महापुरुष कठिनाइयों के क्षणों में भी अथवा

समय पड़ने पर भी दोनों को ही (जीवन तथा धन को भी) तृण घास तिनके के समान ही गिनता है। अर्थात् दोनों का परित्याग करने के लिये विशिष्ट पुरुष तत्पर रहते हैं ॥२॥४-३५८॥

स्त्रियां डहे ॥ ४-३५९ ॥

अपभ्रंशे स्त्रीलिंगे वर्तमानेभ्यो यत्तत्-किंभ्यः परस्य ङसो डहे इत्यादेशो वा भवति ॥
जहे केरउ। तहे केरउ। कहे केरउ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में स्त्रीलिंग वाचक सर्वनाम 'या=जा', सा' और 'का' के षष्ठी विभक्ति के एकवचन में संस्कृतीय प्रत्यय 'ङस्' के स्थान पर 'डहे=अहे' प्रत्यय की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। 'डहे' रूप लिखने का यह रहस्य है कि 'जा, सा अथवा ता और का' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' का 'डहे=अहे' प्रत्यय जोड़ने पर लोप हो जाता है। यों 'डहे' प्रत्यय में अवस्थित 'डकार' इत्संज्ञक है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैः—(१) *यस्याः कृते*=जहे केरउ=जिसके लिये। (२) *तस्याः कृते*=तहे केरउ=उसके लिये और (३) *कस्याः कृते*=कहे केरउ=किसके लिये ॥४-३५९॥

यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ॥ ४-३६० ॥

अपभ्रंशे यत्तदोः स्थाने स्यमोः परयोर्यथासंख्यं ध्रुं त्रं इत्यादेशौ वा भवतः ॥
प्रंगणि चिट्ठदि नाहु ध्रुं त्रं रणि करदि न भ्रन्ति ॥१॥
पक्षे। तं बोल्लिअइ जु निव्वहइ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'यत्' सर्वनाम के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय प्राप्त होने पर तथा द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय प्राप्त होने पर मूल शब्द 'यत्' और 'प्रत्यय' दोनों के स्थान पर दोनों विभक्तियों में 'ध्रुं' रूप की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से 'तत्' सर्वनाम में भी प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय की संयोजना होने पर तथा द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय जुड़ने पर मूल शब्द 'तत्' और विभक्ति-प्रत्यय दोनों के स्थान पर दोनों विभक्तियों में 'त्र' रूप की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। उदाहरण इस प्रकार से हैः—(१) *प्रांगणे तिष्ठति नाथः यत् यद् रणे करोति न भ्रान्तिम्=प्रंगणि चिट्ठदि नाहु ध्रुं त्रं रणि करदि न भ्रन्ति*=(क्योंकि) मेरे पति आंगन में विद्यमान है; इस लिये रण-क्षेत्र में संदेह को (अथवा भ्रमण को) नहीं करता है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'यत्' के स्थान पर 'जु' रूप की और 'तत्' के स्थान 'तं' रूप की भी प्राप्ति होगी। उदाहरण यों हैः—*तं बोल्लिअइ जु निव्वहइ=तत् जल्प्यते यत् निर्वहति* (उससे) वही बोला जाता है, जिसको वह निबाहता है ॥४-३६०॥

इदम इमुः क्लीबे ॥ ४–३६१ ॥

अपभ्रंशे नपुंसक लिंगे वर्तमानस्येदम स्यमो परयोः इमु इत्यादेशो भवति ॥ इमु-कुलु तुह तणउं । इमु कुलु देक्खु ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में इदम् सर्वनाम के नपुंसकलिंग वाचक रूप में प्रथमा विभक्ति में प्राप्तव्य प्रत्यय 'सि' की संयोजना होने पर तथा द्वितीया विभक्ति में 'अम्' प्रत्यय प्राप्त होने पर मूल शब्द 'इदम्' और 'प्रत्यय' दोनों के स्थान पर दोनों विभक्तियों के एकवचन में 'इमु' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—(१) *इदम् कुलम्* = *इमु कुलु* = यह कुल = यह वंश । (२) *तव तृणम्* = *तुह तणउं* = तुम्हारा घास अथवा *त्वत् तणयं* = *तुह तणउं* = तुम से सम्बन्ध रखनेवाला (यह कुल है) (३) *इदं कुलं पश्य* = *इमु कुलु देक्खु* = इस कुल को देख ॥ ४ ३६१ ॥

एतदः स्त्री–पुं–क्लीबे एह–एहो–एहु ॥ ४–३६२ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां पुंसि नपुंसके वर्तमानस्यैतद. स्थाने स्यमोः परयोर्यथा-संख्यम् एह एहो एहु इत्यादेशा भवन्ति ॥

एह कुमारी एहो नरू एहु मणोरह–ठाणु ॥
एहउँ वढ चिन्तन्ताहं पच्छइ होइ विहाणु ॥ १ ॥

अर्थ—अपभ्रंश भाषा में 'एतत्' सर्वनाम के पुल्लिंग में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय प्राप्त होने पर तथा द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'अम् प्रत्यय प्राप्त होने पर मूल शब्द 'एतत्' और 'प्रत्यय' दोनों के स्थान पर 'एहो' पद रूप की आदेश प्राप्त होती है । इसी प्रकार से 'एतत्' सर्वनाम के स्त्रीलिंग में प्रथमा के एकवचन में तथा द्वितीया के एकवचन में मूल शब्द और प्रत्यय के स्थान पर 'एह' पद रूप की आदेश प्राप्ति होती है । नपुंसकलिंग में भी 'एतत्' सर्वनाम की प्रथमा के एकवचन में और द्वितीया के एकवचन में मूल शब्द तथा प्रत्यय दोनों के स्थान पर 'एहु' पद रूप की आदेश प्राप्ति जानना चाहिये ॥ उदाहरण क्रम से यों हैं:—(१) *एषो नरः* = *एहो नरू*=यह नर पुरुष । (२) *एषा कुमारी* = *एह-कुमारी* = यह कन्या । (३) *एतन्मनोरथ स्थानम्*=*एहु मणोरह-ठाणु* = यह मनोरथ स्थान ॥ पूरी गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृत.—एषा कुमारी एष (अहं) नरः एतन्मनोरथ–स्थानम् ॥
एतत् मूर्खाणां चिन्तमानानां पश्चात् भवति विभातम् ॥ १ ॥

हिन्दीः—यह कन्या है और मैं पुरुष हूँ; यह (मेरी) मन-कल्पनाओं का स्थान है; यों सोचते हुए मूर्ख पुरुषों के लिये शीघ्र ही प्रात. काल हो जाता है (और उनकी मनो-कामनाऐं ज्यों की त्यों ही रह जाती है ।) ॥ १ ॥ ४-३६२ ॥

एइर्जस्-शसोः ॥ ४-३६३ ॥

अपभ्रंशे एतदो जस्-शसोः परयोः एइ इत्यादेशो भवति ॥ एइ ति घोडा एह थलि ॥ (३३०-४) एइ पेच्छ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'एतत्' सर्वनाम में प्रथमा विभक्ति बहुवचन वाचक प्रत्यय 'जस्' की प्राप्ति होने पर तथा द्वितीया विभक्ति बहुवचन वाचक प्रत्यय 'शस्' की संयोजना होने पर मूल शब्द 'एतत्' और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर दोनों ही विभक्तियों में 'एइ' पद-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*एते ते अश्वाः* =*एइ ति घोडा*=ये वे (ही) घोड़े। (२) *एषा स्थली*=*एह थलि*=यह भूमि ॥ *एतान् पश्य* = *एइ पेच्छ*=इनको देखो ॥ ४-३६३ ॥

अदस ओइ ॥ ४-३६४ ॥

अपभ्रंशे अदसः स्थाने जस् शसोः परयोः ओइ इत्यादेशो भवति ॥

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ ॥
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥ १ ॥

अमूनि वर्तन्ते पृच्छ वा ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'अदस्' सर्वनाम मे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'शस्' प्रत्यय की संयोजना होने पर मूल शब्द 'अदस्' और प्रत्यय' दोनों के स्थान पर दोनों ही विभक्तियों में 'ओइ' पद रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः— अमी=ओइ=वे (अथवा ये) और अमून्=ओइ=उनको (अथवा इनको) ॥ नपुंसकलिंग वाचक उदाहरण यों हैं:—(१) *अमूनि वर्तन्ते*=*ओइ वट्टन्ते*=वे होते हैं अथवा बरतते हैं। (२) *अमूनि पृच्छ*= *ओइ पुच्छ*=उनको पूछो। (३) *घर ओइ*=*गृहाणि अमूनि*= वे घर; इत्यादि ॥ गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः- यदि पृच्छथ महान्ति गृहाणि, तद् महान्ति गृहाणि अमूनि ॥
विह्वलित - जनाभ्युद्धरणं कान्तं कुटीरके पश्य ॥ १ ॥

हिन्दीः—यदि तुम बड़े घरों के सम्बन्ध में पूछना चाहते हो तो बड़े घर वे हैं। दुःख से व्याकुल हुए पुरुषों का उद्धार करने वाले (मेरे) प्रियतम को कुटीर में (झोंपड़े में) देखो ॥१॥४-३६४॥

इदम आयः ॥ ४-३६५ ॥

अपभ्रंशे इदम् शब्दस्य स्यादौ आय इत्यादेशो भवति ॥

आयइं लोअहो लोअणाइं जाईं सरइं न भन्ति ॥
अप्पिए दिट्ठइ मउलिअहिं पिए दिट्ठइ विहसन्ति ॥ १ ॥
सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्स किं तेण ॥
जं जलइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जत्तं ॥ २ ॥
आयहो दड्ढ-कलेवरहो जं वाहिउ तं सारू ॥
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारू ॥ ३ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'इदम्' सर्वनाम के स्थान पर विभक्ति बोधक प्रत्यय 'सि, जस्' आदि की सयोजना होने पर 'आय' अङ्ग रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—(१) *आयइं=इमानि=*ये। (२) *आएण=एतेन=*इससे। (३) *आयहो=अस्य=*इसका; इत्यादि॥ गाथाओं का सस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद क्रम से यों हैः—

संस्कृत.—इमानि लोकस्य लोचनानि जाति स्मरन्ति, न भ्रान्तिः ॥
अप्रिये दृष्टे मुकुलन्ति, प्रिये दृष्टे विकसन्ति ॥ १ ॥

हिन्दीः—इसमें सदेह नहीं है कि-जनता की ये आँखें अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करती हैं। जब इन्हें अप्रिय (बातें) दिखलाई पड़ती हैं तब ये बद हो जाती है और जब इन्हें प्रिय (बातें) दिखलाई पड़ती हैं, तब ये खिल उठती हैं अथवा ये खुल जाती हैं ॥ १ ॥

सस्कृतः—शुष्यतु मा शुष्यतु एव (=वा) उदधि. वडवानलस्य किं तेन ॥
यद् ज्वलति जले, ज्वलनः एतेनापि किं न पर्याप्तम् ॥ २ ॥

हिन्दीः—समुद्र परि पूर्ण रूप से सूखे अथवा नहीं सूखे, इससे वडवानल नामक समुद्री अग्नि को क्या (तात्पर्य) है? क्योंकि यदि वह वड़वानल नामक प्रचंड अग्नि जल में जलती रहती है तो क्या इतना ही पर्याप्त नहीं है? अर्थात् जल में अग्नि का जलते रहना ही क्या विशिष्ट शक्ति-शीलता का द्योतक नहीं है? ॥ २ ॥

संस्कृतः—अस्य दग्धकलेवरस्य यद् वाहितं (=लब्धम्) तत्सारम् ॥
यदि आच्छाद्यते तत्कुथ्यति यदि दह्यते तत्क्षारः ॥ ३ ॥

हिन्दीः—इस नश्वर (और निकम्मे) शरीर से जो कुछ भी (पर-सेवा आदि रूप) कार्य की प्राप्ति कर ली जाय तो वही (बात) सार रूप होगी, क्योंकि (मृत्यु प्राप्त होने पर) यदि इसको ढाक कर

हिन्दीः—अपनी नायिका से दूर (विदेश में) रहते हुए एक नायक उमड़ते हुए मेघ को संकेत करता हुआ अपनी मनोभावनाएँ यों व्यक्त करता है कि:—"यदि वह मेरी प्रियतमा मुझ से प्रेम करती है तो मेरे वियोग में वह अवश्य ही मर गई होगी और यदि वह जीवित है तो निश्चय ही समझो कि वह मुझ से प्रेम नहीं करती है, कारण कि वियोग-जनित दुःख का उसमें अभाव है। दोनों ही प्रकार की गतियां मेरे लिये अच्छी हैं, इसलिये हे दुष्ट बादल ! (व्यर्थ में ही) क्यों गर्जना करता है ? तेरी गर्जना से न तो मुझे खेद उत्पन्न होता है, और न सुख ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥ ४-३६७ ॥

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ४-३६८ ॥

अपभ्रंशे युष्मदः सौ परे तुहुं इत्यादेशो भवति ॥

भमर म रुण झुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ॥
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥१॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में "तू-तुम" वाचक सर्वनाम "युष्मद्" में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" की प्राप्ति होने पर मूल शब्द "युष्मद्" और प्रत्यय दोनों के स्थान पर "तुहुँ" पद रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*त्वम् = तुहुं* = तू ॥ गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—भ्रमर ! मा रुण झुणु शब्दं कुरु, तां दिशं विलोकय मा रुदिहि ॥
सा मालती देशान्तरिता, यस्याः त्वं म्रियसे वियोगे ॥ १ ॥

हिन्दीः—हे भवरा ! 'रुण झुण-रुण झुण" शब्द मत कर; उस दिशा को देख और रुदन मत कर। वह मालती का फूल तो बहुत ही दूर है; जिसके वियोग में तू मर रहा है ॥ १ ॥ ४-३६८ ॥

जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥ ४-३६९ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो जसि शसि च प्रत्येकं तुम्हे तुम्हइं इत्यादेशौ भवतः ॥

तुम्हे तुम्हइं जाणह ॥ तुम्हे तुम्हइं पेच्छइ ॥ वचन भेदो यथासंख्य निवृत्त्यर्थः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में "तू-तुम" वाचक सर्वनाम "युष्मद्" शब्द में प्रथमा विभक्ति के बहु वचन में "जस्" प्रत्यय की प्राप्ति होने पर मूल शब्द "युष्मद्" और "जस्-प्रत्यय" दोनों के स्थान पर "तुम्हे और तुम्हइं" ऐसे दो पद-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से इस "युष्मद" शब्द में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में "शस्" प्रत्यय की संयोजना करने पर मूल शब्द "युष्मद्" और "प्रत्यय-शस्" दोनों के स्थान पर प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के समान ही "तुम्हे और तुम्हइं" ऐसे ही दो पद-रूपों की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसेः—*यूयम् जानीथ=तुम्हे जाणह* अथवा *तुम्हइं जाणह* = तुम जानते

हो। *युष्मान् पश्यति* = तुम्हे पेच्छइ अथवा तुम्हइं पेच्छइ = तुमको वह देखता है—आपको वह देखता है। इन आदेश प्राप्त पदों को पृथक् पृथक् रूप से लिखने का तात्पर्य यह है कि "दोनों ही पद" प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में समान रूप से होते हैं; क्रम से नहीं होते हैं। यों "यथासंख्य" रूप का अर्थात् "क्रम-रूप" का निषेध करने के लिये ही "वचन-भेद" शब्द का वृत्ति में उल्लेख किया गया है ॥ ४-३६९ ॥

टा-ङ्यमा पइं तइं ॥ ४-३७० ॥

अपभ्रंशे युष्मदः टा ङि अम् इत्येतैः सह पइं तइं इत्यादेशौ भवतः ॥ टा।

मुइं मुक्काहं वि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं ॥
तुह पुणु छाया जइ होज्ज कहवि ता तेहिं पत्तेहिं ॥१॥
महु हिअउं तइं ताए तुहुं सवि अन्नें विनडिज्जइ ॥
पिअ काइं करउं हउं काइं तुहुं मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ॥२॥

ङिना।

पइं मइं बेहिं वि रण-गयहिं को जयसिरि तक्केइ ॥
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ ॥३॥

एवं तइं ॥ अमा।

पइं मेल्लन्तिहे महु मरणु मइं मेल्लन्तहो तुज्झु ॥
सारस जसु जो वेग्गला सो कि कृदन्तहो सज्झु ॥४॥

एवं तइं ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'युष्मद्' सर्वनाम में तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'टा' प्रत्यय का योग होने पर मूल शब्द और प्रत्यय दोनों के स्थान पर 'पइ और तइ' ऐसे दो पदों की नित्य आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से इसी 'युष्मद्' सर्वनाम में सप्तमी विभक्ति वाचक 'ङि' प्रत्यय की संप्राप्ति होने पर मूल शब्द और प्रत्यय दोनों के ही स्थान पर 'पइ और तइ' ऐसे दो पदों की नित्य आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। यही सयोग द्वितीया विभक्ति वाचक प्रत्यय 'अम्' के मिलने पर भी मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय 'अम्' दोनों का लोप होकर दोनों के स्थान पर भी 'पइ और तइ' पदों की आदेश प्राप्ति नित्यमेव हो जाती है। मूल सूत्र में "टा, ङि, अम्' का क्रम व्यवस्थित नहीं होकर जो अव्यवस्थित क्रम बतलाया गया है अर्थात् पहिले 'द्वितीया, तृतीया और सप्तमी' का क्रम बतलाना चाहिये था वहाँ पर 'तृतीया, सप्तमी और द्वितीया' का क्रम बतलाया है, इसमें 'सूत्र-रचना' से सम्बन्धित सिद्धांत कारण रूप

रखा जाता है तो यह सड़ जाता है और यदि इसको जला दिया जाता है तो केवल राख ही प्राप्त होती है ॥ ४-३६५ ॥

सर्वस्य साहो वा ॥ ४-३६६ ॥

अपभ्रंशे सर्व-शब्दस्य साह इत्यादेशो वा भवति ॥

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण ॥
वड्डप्पणु परिपाविअइ हत्थि मोक्कलडेण ॥ १ ॥

पक्षे । सव्वु वि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'सर्व' सर्वनाम के स्थान पर 'सव्व' अङ्गरूप की प्राप्ति होती है और विकल्प से 'सर्व' के स्थान पर 'साह' अङ्गरूप की प्राप्ति भी देखी जाती है। जैसेः—सर्वः = सव्वु और साहु=सब। यों अन्य विभक्तियों में भी 'साह' के रूप समझ लेना चाहिये ॥ गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—सर्वोऽपि लोकःप्रस्पन्दते (तडप्फडइ) महत्त्वस्य कृते ॥
महत्त्वं पुनः प्राप्यते हस्तेन मुक्तेन ॥ १ ॥

हिन्दीः—(विश्व में रहे हुए सभी मनुष्य बड़प्पन प्राप्त करने के लिये तड़फड़ाते रहते हैं-व्याकुलता मय भावनाऐं रखते हैं; परन्तु बड़प्पन तभी प्राप्त किया जा सकता है; जबकि मुक्त-हस्त होकर दान दिया जाता है। अर्थात् त्याग से ही-दान से ही-बड़प्पन की प्राप्ति की जा सकती है ॥ ४-३६६ ॥

किमः काइं-कवणौ वा ॥ ४-३६७ ॥

अपभ्रंशे किमः स्थाने काइं कवण इत्यादेशौ वा भवतः ॥

जइ न सु आवइ दूइ घरु काइं अहो मुहुं तुज्झु ॥
वयणु जु खंडइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ॥ १ ॥

काइं न दूरे देक्खइ ॥ (३४९-१) ।

फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं ताहं पराई कवण घण ॥
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ॥२॥
सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण ॥
जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिँ सिरेण ॥३॥

पक्षे ।

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ॥
बिहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ॥४॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'किं' सर्वनाम के स्थान पर मूल अंग रूप से 'काइ' और 'कवण' ऐसे अंग रूपों की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। पक्षान्तर में 'किं' अंग रूप का सद्भाव भी होता है। 'काइ' के विभक्ति वाचक रूपों का निर्माण 'बुद्धि' आदि अथवा 'इसी' आदि इकारान्त शब्दों के समान जानना चाहिये। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैः—(१) *किम्=काइं*=क्यों अथवा किस कारण से। (२) *का=कवण*=कैसी ? (३) *केन=कवणेण*=किस कारण से। (४) *किम्=किं*=क्यों; इत्यादि॥ वृत्ति में दी गई गाथाओं का अनुवाद क्रम से इस प्रकार है —

संस्कृतः—यदि न स आयाति, दूति ! गृहं किं अधो मुखं तव ॥
वचनं यः खंडयति तव, सखिके ! सप्रियो भवति न मम ॥१॥

हिन्दीः—नायिका अपनी दूती से पूछती है कि —हे दूति यदि वह (नायक) मेरे घर पर नहीं आता है, तो (तू) अपने मुख को नीचा क्यों (करती है) ? हे सखि ! जो तेरे वचनों को नहीं मानता है अथवा तेरे वचनों का उल्लङ्घन करता है, वह मेरा प्रियतम नहीं हो सकता है' ॥१॥

संस्कृतः—स्फोटयतः यौ हृदयं आत्मीयं, तयोः परकीया का घृणा ?
रक्षत लोकाः आत्मानं बालायाः, जातौ विषमौ स्तनौ ॥ २ ॥

हिन्दीः—जो स्वयं के हृदय को चीर करके अथवा फोड़ करके उत्पन्न होते हैं, उनमें दूसरों के लिये दया के भाव कैसे अथवा क्यों कर हो सकते हैं ? हे लोगों ! अपना बचाव करो, इस बाला के दो (निर्दयी और) कठोर स्तन उत्पन्न हो गये हैं ॥ २ ॥

संस्कृत.—सुपुरुषाः कंगोः अनुहरन्ति भण कार्येण केन ?
यथा यथा महत्त्वं लभन्ते तथा तथा नमन्ति शिरसा ॥३॥

हिन्दीः—कंगु नामक एक पौधा होता है, जिसके ज्यों ज्यों फल आते हैं त्यों त्यों वह नीचे की ओर झुकता जाता है, उसी का आधार लेकर कवि कहता है कि —कृपा करके मुझे कहो कि किस कारण से अथवा किस कार्य से सज्जन पुरुष कगु नामक पौधे का अनुकरण करते हैं ? सज्जन पुरुष जैसे जैसे महानता को प्राप्त करते जाते हैं, वैसे वैसे वे सिर से झुकते जाते हैं अथवा अपने सिर को झुकाते जाते हैं। नम्र होते रहते हैं ॥ ३ ॥

संस्कृतः—यदि सस्नेहा तन्मृता, अथ जीवति निःस्नेहा ॥
द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां गतिका, धन्या, किं गर्जसि ? खल मेघ ॥ ४ ॥

हिन्दी:—अपनी नायिका से दूर (विदेश में) रहते हुए एक नायक उमड़ते हुए मेघ को संकेत करता हुआ अपनी मनोभावनाऐं यों व्यक्त करता है कि:—"यदि वह मेरी प्रियतमा मुझ से प्रेम करती है तो मेरे वियोग में वह अवश्य ही मर गई होगी और यदि वह जीवित है तो निश्चय ही समझो कि वह मुझ से प्रेम नहीं करती है, कारण कि वियोग-जनित दुःख का उसमें अभाव है। दोनों ही प्रकार की गतियां मेरे लिये अच्छी हैं, इसलिये हे दुष्ट बादल ! (व्यर्थ में ही) क्यों गर्जना करता है ? तेरी गर्जना से न तो मुझे खेद उत्पन्न होता है, और न सुख ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥ ४-३६७ ॥

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ४-३६८ ॥

अपभ्रंशे युष्मदः सौ परे तुहुं इत्यादेशो भवति ॥

भमर म रुण झुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ॥
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥१॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में "तू-तुम" वाचक सर्वनाम "युष्मद्" में प्रथमा विभक्ति के एक वचन में प्राप्तव्य प्रत्यय "सि" की प्राप्ति होने पर मूल शब्द "युष्मद्" और प्रत्यय दोनों के स्थान पर "तुहुँ" पद रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*त्वम् = तुहुं = तू* ॥ गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—भ्रमर ! मा रुण झुणु शब्दं कुरु, तां दिशं विलोकय मा रुदिहि ॥
सा मालती देशान्तरिता, यस्याः त्वं म्रियसे वियोगे ॥ १ ॥

हिन्दी:—हे भवरा ! 'रुण झुण-रुण झुण" शब्द मत कर; उस दिशा को देख और रुदन मत कर। वह मालती का फूल तो बहुत ही दूर है; जिसके वियोग में तू मर रहा है ॥ १ ॥ ४-३६८ ॥

जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥ ४-३६९ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो जसि शसि च प्रत्येकं तुम्हे तुम्हइं इत्यादेशौ भवतः ॥
तुम्हे तुम्हइं जाणह ॥ तुम्हे तुम्हइं पेच्छइ ॥ वचन भेदो यथासंख्य निवृत्त्यर्थः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में "तू-तुम" वाचक सर्वनाम "युष्मद्" शब्द में प्रथमा विभक्ति के बहु वचन में "जस्" प्रत्यय की प्राप्ति होने पर मूल शब्द "युष्मद्" और "जस्-प्रत्यय" दोनों के स्थान पर "तुम्हे और तुम्हइं" ऐसे दो पद-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से इस "युष्मद" शब्द में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में "शस्" प्रत्यय की संयोजना करने पर मूल शब्द "युष्मद्" और "प्रत्यय-शस्" दोनों के स्थान पर प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के समान ही "तुम्हे और तुम्हइं" ऐसे ही दो पद-रूपों की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे:—*यूयम् जानीथ=तुम्हे जाणह* अथवा *तुम्हइं जाणह* = तुम जानते

संस्कृतः—त्वां मुञ्चन्त्याः मम मरणं, मां मुञ्चतस्तव ॥
सारसः (यथा) यस्य दूरे (वेग्गला), स कृतान्तस्य साध्यः ॥४॥

हिन्दीः—यदि मैं तुम को छोड़ दूं तो मेरी मृत्यु हो जायगी और यदि तुम मुझको छोड़ देते हो तो तुम मर जाओगे। (दोनों ही-प्रियतम और प्रियतमा-परस्पर में एक दूसरे के वियोग में मृत्यु प्राप्त कर लेंगे—जैसेकि—) नर सारस और मादा सारस यदि एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तो वे यमराज के अधिकार में चले जाते हैं—अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ॥४॥

वृत्ति में कहा गया है कि जैसे 'पइं' का प्रयोग गाथाओं में किया गया है, वैसे ही 'तइं' का प्रयोग भी स्वयमेव समझ लेना चाहिये ॥४॥

भिसा तुम्हेहिं ॥ ४–३७१ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो भिसा सह तुम्हेहिं इत्यादेशो भवति ॥
तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउं दिट्ठउं बहुअ-जणेण ॥
तं तेवड्डउं समर-भरु निज्जिउ एक्क-खणेण ॥

अर्थ—अपभ्रंश भाषा में 'युष्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में तृतीया विभक्ति के बहुवचन वाले प्रत्यय 'भिस्' का सयोग होने पर मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय 'भिस्' दोनों के स्थान पर 'तुम्हेहिं' ऐसे एक पद की ही नित्यमेव आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*युष्माभिः = तुम्हेहिं = तुम (सब) से अथवा आप (सब) से* गाथा का अनुवाद यों है.—

युष्माभिः अस्माभिः यत् कृतं, दृष्टं बहुक-जनेन ॥
तद् (=तदा) तावन्मात्र. समर भरः निर्जितः एक क्षणेन ॥ १ ॥

हिन्दीः—जो कुछ आप (सब) से और हम (सब) से किया गया है, वह सब अनेकों पुरुष द्वारा देखा गया है। क्योंकि (हमने) एक क्षण मात्र में ही इतनी बड़ी लड़ाई जीत ली है-शत्रु को पलक मारते ही धराशायी कर दिया है ॥ १ ॥ ४-३७१ ॥

ङसि-ङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ॥ ४–३७२ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो ङसि-ङस्-भ्यां सह तउ तुज्झ तुध्र इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ॥
तउ होन्तउ आगदो। तुज्झ होन्तउ आगदो। तुध्र होन्तउ आगदो ॥
ङसा। तउगुण-संपइ तुज्झ मदि तुध्र अणुत्तर खन्ति ॥
जइ उप्पत्ति अन्न जण महि-मंडलि सिक्खन्ति ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'युष्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में पंचमी विभक्ति के एकवचन में 'ङसि' प्रत्यय की संयोजना होने पर मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय 'ङसि' दोनों ही के स्थान पर नित्यमेव 'तउ अथवा तुज्झ अथवा तुध्र' ऐसे तीन पद-रूपों को आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*त्वत् = तउ अथवा तुज्झ अथवा तुध्र=तुझसे तेरेसे* ॥ इसी प्रकार से 'युष्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में षष्ठी विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'ङस्' का संयोग होने पर उसी प्रकार से मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय 'ङस्' दोनों ही के स्थान पर वैसे ही 'तउ, अथवा तुज्झ अथवा तुध्र' ऐसे समान रूप से ही इन तीनों पद-रूपों की नित्यमेव आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—तव अथवा ते=तउ अथवा तुज्झ अथवा तुध्र=तेरा, तेरी, तेरे (एकवचन के अर्थ में-तुम्हारा, तुम्हारी, तुम्हारे)॥ वृत्ति में दिये गये उदाहरणों का अनुवाद इस प्रकार से हैं:—

त्वत् भवतु अथवा भवेत् आगतः =(१) तउ होन्तउ आगदो- (२) तुज्झ होन्तउ आगदो- (३) तुध्र होन्तउ आगदो=तेरे से अथवा तुझसे आया हुआ (अथवा प्राप्त हुआ) होवे॥ 'ङस्' प्रत्यय से सम्बन्धित आदेश-प्राप्त पद-रूपों के उदाहरण गाथा में दिये गये हैं; तदनुसार गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—तव गुण-संपदं तव मतिं तव अनुत्तरां क्षान्तिम् ॥
यदि उत्पद्य अन्य-जनाः मही-मंडले शिक्षन्ते ॥ १ ॥

हिन्दीः—(मेरी यह कितनी उत्कट भावना है कि) इस पृथ्वी मंडल पर उत्पन्न होकर अन्य पुरुष यदि तुम्हारी गुण-संपत्ति को, तुम्हारी बुद्धि को और तुम्हारी असाधारण-अत्युत्तम क्षमा को सीखते हैं-इनका अनुकरण करते हैं (तो यह कितनी अच्छी बात होगी?)॥ यों गाथा में 'तव' पद-रूप के स्थान पर क्रम से 'तउ तुज्झ और तुध्र' आदेश-प्राप्त पद-रूपों का प्रयोग किया गया है। ॥ ४-३७२ ॥

भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं ॥ ४-३७३ ॥

अपभ्रंशे युष्मदो भ्यस् आम् इत्येताभ्याम् सह तुम्हहं इत्यादेशो भवति ॥ तुम्हहं होन्तउ आगदो। तुम्हहं केरउं धणु ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'युष्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में पंचमी-विभक्ति बहुवचन-बोधक प्रत्यय 'भ्यस्' का संयोग होने पर मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय 'भ्यस्' दोनों के स्थान पर 'तुम्हहं' ऐसे पद-रूप की नित्यमेव आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—युष्मत् = तुम्हहं = तुम से-आपसे। इसी प्रकार से इसी सर्वनाम शब्द 'युष्मत्' के साथ में चतुर्थी बहुवचन बोधक प्रत्यय 'भ्यस्' का और षष्ठी विभक्ति

बहुवचन का बोधक प्रत्यय 'आम्' का सम्बन्ध होने पर मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय दोनों के स्थान पर भी उसी प्रकार से 'तुम्हह' पद रूप की नित्यमेव आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। जैसे —

(१) *युष्मभ्यम् = तुम्हहं = तुम्हारे लिये अथवा आपके लिये।*

(२) *युष्माकम् = तुम्हहं = तुम्हारा*, तुम्हारी, तुम्हारे और आपका, आपकी, आपके, इत्यादि ॥

सूत्र मे और वृत्ति में 'चतुर्थी-विभक्ति' का उल्लेख नहीं किया गया है परन्तु सूत्र-संख्या ३-१३१ के विधान से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग करने की अनुमति दी गई है; इसलिये यहाँ पर चतुर्थी विभक्ति का उल्लेख नहीं होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति को समझाने के लिये चतुर्थी विभक्ति की आदेश-प्राप्ति भी समझा दी गई है। वृत्ति में दिये गये उदाहरणों का स्पष्टीकरण यों हैं:—

(१) *युष्मत् भवतु आगतः = तुम्हहं होन्तउ आगदो = तुम्हारे से-* (आपसे) आया हुआ- (प्राप्त हुआ) होवे।

(२) युष्मभ्यम् करोमि धनुः = तुम्हह केरउं धणु = मैं तुम्हारे लिये धनुष्य करता हूँ।

(३) युष्माकम् करोमि धनुः = तुम्हह केरउ धणु = मैं तुम्हारे-आपके-धनुष्य को करता हूँ। ॥ ४-३७३ ॥

तुम्हासु सुपा ॥ ४—३७४ ॥

अपभ्रंशे युष्मदः सुपा सह तुम्हासु इत्यादेशो भवति ॥ तुम्हासु ठिअं ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'युष्मद्' सर्वनाम शब्द में सप्तमी विभक्ति बहुवचन बोधक प्रत्यय 'सुप्' का संयोग होने पर मूल शब्द 'युष्मद्' और प्रत्यय 'सुप्' दोनों के स्थान पर नित्यमेव 'तुम्हासु' ऐसे पद रूप की आदेश प्राप्ति है। जैसे:—*युष्मासु स्थितम् = तुम्हासु ठिअं = तुम्हारे* पर अथवा तुम्हारे में रहा हुआ है। आप पर अथवा आप में स्थित है ॥ ४-३७४ ॥

सावस्मदो हउं ॥ ४—३७५ ॥

अपभ्रंशे अस्मदः सौ परे हउं इत्यादेशो भवति ॥ तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'मैं-हम' वाचक 'अस्मद्' सर्वनाम शब्द में प्रथमा विभक्ति के एक-वचन बोधक प्रत्यय 'सि' का संयोग होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'सि' दोनों के स्थान पर नित्यमेव 'हउं' पद रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*तस्य अहं कलियुगे दुर्लभस्य = तसु हउ कलिजुगी दुल्लहहो* = उस दुर्लभ का मैं कलियुग में। (पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३३८ में दी गई है)। यों 'मैं' अर्थ में 'हउ' का प्रयोग होता है ॥ ४-३७५ ॥

जस्–शसोरम्हे अम्हइं ॥ ४–३७६ ॥

अपभ्रंशे अस्मदो जसि शसि च परे प्रत्येकम् अम्हे अम्हइं इत्यादेशौ भवतः ॥

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति ॥
मुद्धि ! निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥१॥
अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया के वि ॥
अवस न सुअहिं सुहच्छिअहिं जिवँ अम्हइं तिवँ ते वि ॥२॥

अम्हे देक्खइ । अम्हइं देक्खइ । वचन भेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'अस्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन वाचक प्रत्यय 'जस्' की संप्राप्ति होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'जस्' दोनों के स्थान पर नित्यमेव 'अम्हे' और 'अम्हइं' ऐसे दो पद रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*वयम्* = *अम्हे* अथवा *अम्हइं* = हम इसी प्रकार से इसी 'अस्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन को बतलाने वाले प्रत्यय 'शस्' का संयोग होने पर इस 'अस्मद्' शब्द और 'शस्' प्रत्यय दोनों के स्थान पर सदा ही 'अम्हे' और 'अम्हइं' ऐसे प्रथमा बहुवचन के समान ही दो पद-रूपों की प्राप्ति का विधान जानना चाहिये। जैसेः—*अस्मान्*=(अथवा नः)=*अम्हे* और *अम्हइं*=हमको अथवा हमें। गाथाओं का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—वयं स्तोकाः, रिपवः बहवः; कातराः एवं भणन्ति ॥
मुग्धे ! निभालय गगन तलं, कतिजनाः ज्योत्स्नां कुर्वन्ति ॥

हिन्दीः—योद्धा युद्ध में जाते हुए अपनी प्रियतमा को कहता है किः—'कायर लोग ऐसा कहते हैं कि-हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं; (परन्तु) हे मुग्धे-हे प्रियतमे ! आकाश को देखो-आकाश की ओर दृष्टि करो, कि कितने ऐसे हैं जो कि चन्द्र-ज्योत्स्ना को-चाँदनी को-किया करते हैं ? ॥ १ ॥ अर्थात् चन्द्रमा अकेला ही चांदनी करता है।

संस्कृतः—अम्लत्वं लागयित्वा ये गताः पथिकाः परकीयाः केऽपि ॥
अवश्यं न स्वपन्ति सुखासिकायां यथा वयं तथा तेऽपि ॥ २ ॥

अर्थः—जो कोई भी पर-स्त्रियों पर प्रेम करने वाले पथिक अर्थात् यात्री प्रेम लगा करके (परदेश) चले गये हैं; वे अवश्य ही सुख की शैय्या पर नहीं सोते होंगे; जैसे हम (नायिका विशेष) सुख-शैय्या पर नहीं सोती हैं; वैसे ही वे भी होंगे ॥२॥

ऊपर की गाथाओं में 'अम्हे = हम' और 'अम्हइं = हम' ऐसा समझाया गया है। 'हम को' के उदाहरण यों हैं।

अस्मान् (अथवा) *नः पश्यति = अम्हे* देक्खइ अथवा *अम्हइं* देक्खइ = वह हमको अथवा हमें देखता है। इन आदेश प्राप्त पदों को पृथक् पृथक् रूप से लिखने का तात्पर्य यह है कि दोनों ही पद' अर्थात 'अम्हे और अम्हइं' प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में समान रूप से होते हैं, क्रम रूप से नहीं होते हैं। यों 'यथा-संख्य' रूप का अर्थात् 'क्रम-रूप' का निषेध करने के लिये ही 'वचन-भेद' शब्द का वृत्ति के अन्त में उल्लेख किया गया है। ४-३७६॥

टा-ङ्यमा मइं ॥ ४-३७७ ॥

अपभ्रंशे अस्मदः टा ङि अम् इत्येतै मइ मइं इत्यादेशो भवति ॥ टा।

मइं जाणिउं पिअ विरहिअहं कवि धर होइ विआलि ॥
णवर मिअङ्कुवि तिह तवइ जिह दिणयरू खय-गालि ॥

ङिना। पइं मइं बेहिं वि रण-गयहिं ॥ अमा। मइं मेल्लन्तहो तुज्झु ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'अस्मद्' सर्वनाम शब्द में तृतीया विभक्ति के एकवचन-अर्थक प्रत्यय 'टा' का संयोग होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'टा' दोनों के स्थान पर 'मइं' ऐसे एक ही पद-रूप को नित्यमेव आदेश-प्राप्ति होती है। जैसेः—मया=मइं=मुझसे, मेरे से ॥ इसी प्रकार से इसी सर्व-नाम शब्द 'अस्मद्' के साथ में सप्तमी विभक्ति के एकवचन के अर्थ वाले प्रत्यय 'ङि' का सम्बन्ध होने पर भी मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'ङि' दोनों ही के स्थान पर वही मइं' ऐसे पद-रूप को सदा ही आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—*मयि=मइं*=मुझ पर, मुझ में, मेरे पर, मेरे में,। द्वितीया विभक्ति के संबंध में भी यही नियम है कि जिस समय में इस 'अस्मद्' सर्वनाम के शब्द के साथ में द्वितीया विभक्ति के एकवचन के अर्थ वाले प्रत्यय 'अम्' की सप्राप्ति होती है, तबभी मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'अम' दोनों ही के स्थान पर 'मइं' ऐसे इस एक ही पद की हमेशा ही आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसे—माम्=मइं=मुझको, मेरे को, मुझे ॥ 'टा' अर्थ को समझाने केलिये वृत्ति में जो गाथा दी गई है, उसका अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैः—

संस्कृतः—मया ज्ञातं प्रिय ! विरहितानां कापि धरा भवति विकाले।
केवलं (=परं) मृगाङ्कोपि तथा तपति यथा दिनकरः क्षयकाले ॥

अर्थः—हे प्रियतम ! मेरे से ऐसा समझा गया था कि प्रियतम के वियोग से दुःखित व्यक्तियों के लिये संध्या-काल में शायद कुछ भी सान्त्वना का आधार प्राप्त होता होगा, किन्तु ऐसा नहीं है; देखो। चन्द्रमा भी संध्याकाल में उसी प्रकार से उष्णता प्रदान करने वाला प्रतीत हो रहा है; जैसा कि सूर्य

उष्णतामय ताप प्रदान करता रहता है ॥१॥ इस गाथा में 'मया' के स्थान पर 'मइं' पद रूप का प्रयोग किया गया है।

'ङि' का उदाहरण यों है:—*त्वयि मयि द्वयोरपि रण गतयोः = पइं मइं बेहिं वि रण-गयहिं* = युद्ध-क्षेत्र में गये हुए तुझ पर और मुझ पर दोनों ही पर। (पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३७० में देखो) ॥ यहाँ पर 'मयि' के स्थान पर 'मइं' का प्रयोग है।

'अम्' का दृष्टान्त इस प्रकार है:—माम मुञ्चतस्तव=मइं मेल्लन्तहो तुज्झ=मुझ को छोड़ते हुए तेरी। (पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३७० में दी गई है) ॥ गाथा के इस चरण में 'माम्' पद के स्थान पर 'मइं' पद प्रदर्शित किया गया है ॥ ४-३७७ ॥

अम्हेहिं भिसा ॥ ४-३७८ ॥

अपभ्रंशे अस्मदो भिसा सह अम्हेहिं इत्यादेशो भवति ॥ तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउं ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'अस्मद्' सर्वनाम शब्द के साथ में तृतीया विभक्ति के बहुवचन वाले प्रत्यय 'भिस्' का संयोग होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'भिस्' दोनों के स्थान पर 'अम्हेहिं' ऐसे एक ही पद की नित्यमेव आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*युष्माभिः अस्माभिः यत् कृतम् = तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउं*=तुम्हारे से, हमारे से जो किया गया है ॥ ४-३७८ ॥

महु मज्झु ङसि-ङस्-भ्याम् ॥ ४-३७९ ॥

अपभ्रंशे अस्मदो ङसिना ङसा च सह प्रत्येकं महु मज्झु इत्यादेशौ भवतः ॥ महु होन्तउ गदो। मज्झु होन्तउ गदो ॥ ङसा।

महु कन्तहो बे दोसडा, हेल्लि ! म झङ्खहि आलु।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥
जइ भग्गा पारकडा तो सहि ! मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'मैं-हम' वाचक सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के साथ में पंचमी विभक्ति के एकवचन में 'ङसि' प्रत्यय की संयोजना होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'ङसि' दोनों ही के स्थान पर नित्यमेव 'महु' और 'मज्झु' ऐसे दो पद-रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—मत्=महु और मज्झु=मुझसे अथवा मेरे से। इसी प्रकार से इसी सर्वनाम शब्द "अस्मद्" के साथ में षष्ठी विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय "ङस्" का संबंध होने पर उसी प्रकार से मूल शब्द "अस्मद्" और प्रत्यय "ङस्"

दोनों ही के स्थान पर वैसे ही 'महु' और 'मज्झु' ऐसे समान रूप से ही इन दोनों पद रूपों की सदा ही आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। जैसे:—मम अथवा मे = महु अथवा मज्झु = मेरा, मेरी, मेरे। वृत्ति में आया हुआ पञ्चमी-अर्थक उदाहरण यों है:—मत् भवतु गतः = महु होन्तउ गदो अथवा मज्झु होन्तउ गदो = मेरे से (अथवा मेरे पास से) गया हुआ होवे॥ षष्ठी-अर्थक उदाहरण गाथाओं में दिया गया है; जिनका अनुवाद क्रम से यों है.—

संस्कृतः—मम कान्तस्य द्वौ दोषौ, सखि! मा पिधेहि अलीकम्॥
ददतः परं अहं उर्वरिता, युध्यमानस्य करवालः॥ १॥

हिन्दी:—हे सखि! मेरे प्रियतम पति में केवल दो ही दोष हैं; इन्हें तू व्यर्थ ही मत छिपा। जब वे दान देना प्रारम्भ करते हैं, तब केवल मैं ही बच रह जाती हूँ अर्थात् मेरे सिवाय सब कुछ दान में दे देते हैं और जब वे युद्ध क्षेत्र में युद्ध करते हैं तब केवल तलवार ही बची रह जाती है और सभी शत्रु नाम-शेष रह जाते हैं। इस गाथा में 'मम = मेरे' अर्थ में 'महु' आदेश-प्राप्त पद-रूप का प्रयोग किया गया है॥ १॥

संस्कृतः—यदि भग्नाः परकीयाः, तत् सखि! मम प्रियेण॥
अथ भग्नाः अस्मदीयाः, तत् तेन मारितेन॥ २॥

हिन्दी:—हे सखि! यदि शत्रु-गण मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं अथवा (रण-क्षेत्र को छोड़कर के) भाग गये हैं; तो (यह सब विजय) मेरे प्रियतम के कारण से (ही है) अथवा यदि अपने पक्ष के वीर पुरुष रण-क्षेत्र को छोड़ कर भाग खड़े हुए हैं तो (समझो कि) मेरे प्रियतम के वीर गति प्राप्त करने के कारण से (ही वे निराश होकर रण-क्षेत्र को छोड़ आये हैं)॥ २॥

इस गाथा में 'मम = मेरे' अर्थ में 'मज्झु' ऐसे आदेश प्राप्त पद-रूप का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है॥ ४-३७९॥

अम्हहं भ्यसाम्-भ्याम्॥ ४-३८०॥

अपभ्रंशे अस्मदो भ्यसा आमा च सह अम्हहं इत्यादेशो भवति॥ अम्हहं होन्तउ आगदो॥ आमा। अह भग्गा अम्हहं तणा। (४-३७९)॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'मैं-हम' वाचक सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के साथ में पंचमी विभक्ति के बहुवचन बोधक प्रत्यय 'भ्यस्' का सम्बन्ध होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'भ्यस्' दोनों ही के स्थान पर 'अम्हहं' ऐसे पद-रूप की नित्यमेव आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—अस्मत् = अम्हहं = हमारे से अथवा हमसे॥ इसी प्रकार से इसी सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के साथ में चतुर्थी बहुवचन बोधक

प्रत्यय 'भ्यस्' का तथा षष्ठी विभक्ति के बहुवचन के द्योतक प्रत्यय 'आम्' का संयोग होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और इन प्रत्ययों के स्थान पर हमेशा ही 'अम्हहं' ऐसे पद-रूप की आदेश प्राप्ति का संविधान है जैसे:—*अस्मभ्यम्=अम्हहं*=हमारे लिये और *अस्माकम्* (अथवा नः)=*अम्हहं*=हमारा, हमारी, हमारे ॥ सूत्र में और वृत्ति में 'चतुर्थी-विभक्ति' का उल्लेख नहीं होने पर भी सूत्र-संख्या ३-१३१ के संविधानानुसार यहाँ पर चतुर्थी-विभक्ति का भी उल्लेख कर दिया गया है सो ध्यान में रहे। वृत्ति में आये हुए उदाहरणों का भाषान्तर यों है:—(१) *अस्मत् भवतु आगतः=अम्हहं होन्तउ आगदो*= हमारे से आया हुआ होवे। (२) *अथ भग्नाः अस्मदीयाः तत्=अह भग्गा अम्हहं तणा*=यदि हमारे पक्षीय (वीर-गण) भाग खड़े हुए हों तो वह……(पूरी गाथा ४-३७६ में दी गई है)॥ यों पंचमी बहुवचन में और षष्ठी बहुवचन में 'अम्हहं' पद रूप की स्थिति को जानना चाहिये ॥ ४-३८० ॥

सुपा अम्हासु ॥ ४-३८१ ॥

अपभ्रंशे अस्मदः सुपा सह अम्हासु इत्यादेशो भवति ॥ अम्हासु ठिअं ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में 'मैं-हम' वाचक सर्वनाम शब्द 'अस्मद्' के साथ में सप्तमी विभक्ति के बहुवचन के द्योतक प्रत्यय 'सुप्' का संयोग होने पर मूल शब्द 'अस्मद्' और प्रत्यय 'सुप्' दोनों ही के स्थान पर नित्यमेव 'अम्हासु' ऐसे पद-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—*अस्मासु स्थितम्*= *अम्हासु ठिअं*=हमारे पर अथवा हमारे में रहा हुआ है ॥ ४-३८१ ॥

त्यादेराद्य-त्रयस्य संबन्धिनो हिं न वा ॥ ४-३८२ ॥

त्यादीनामाद्य त्रयस्य संबन्धिनो बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्य वचनस्यापभ्रंशे हिं इत्यादेशो वा भवति ॥

मुह-कवरि-बन्ध तहे सोह धरहिं।
नं मल्ल-जुज्झु ससि-राहु-करहिं ॥
तहे सहहिं कुरल भमर-उल-तुलिअ।
नं तिमिर-डिम्भ खेल्लन्ति मिलिअ ॥ १ ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ४-३८२ से ४-३८८ तक में क्रियाओं में जुड़ने वाले काल-बोधक प्रत्ययों का वर्णन किया गया है। यों सर्व सामान्य रूप से तो जो प्रत्यय प्राकृत-भाषा के लिये कहे गये हैं, *लगभग* वे सब प्रत्यय अपभ्रंश भाषा में भी प्रयुक्त होते हैं। केवल वर्तमानकाल में, आज्ञार्थ में और भविष्यत्-काल में ही थोड़ासा अन्तर है; जैसा कि इन सूत्रों में बतलाया गया है।

वर्तमानकाल में 'वह-वे' वाचक अन्य पुरुष के बहुवचन में अपभ्रंश भाषा में प्राकृत भाषा में वर्णित प्रत्ययों के अतिरिक्त एक प्रत्यय 'हिं' की प्राप्ति विशेष रूप से और विकल्प रूप से अधिक होती है। जैसे:—*कुर्वन्ति* = *करहिं* = वे करते हैं। *धरतः* = *धरहिं* = वे दो धारण करते हैं। *शोभन्ते* = *सहहिं* = वे शोभा पाते हैं। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'न्ति, न्ते और इरे' प्रत्ययों की प्राप्ति भी होगी। जैसे:—क्रीडन्ति=खेल्लन्ति, खेल्लन्ते और खेल्लिरे=वे खेलते हैं अथवा वे क्रीड़ा करते हैं। वृत्ति में प्रदत्त छन्द का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—मुख-कबरी-बन्धौ तस्याः शोभां धरतः।
ननु मल्ल-युद्धं शशिराहू कुरुतः॥
तस्याः शोभन्ते कुरलाः भ्रमर-कुल-तुलिताः।
ननु भ्रमर-डिम्भाः क्रीडन्ति मिलिताः॥ १॥

हिन्दी:—उस नायका के मुख और केश-पाशों से बंधी हुई वेणी अर्थात् चोटी इस प्रकार की शोभा को धारण कर रही है कि मानो 'चन्द्रमा और राहु' मिल कर के मल्ल-युद्ध कर रहे हों। उसके बालों के गुच्छे इस प्रकार से शोभा को धारण कर रहे हैं कि मानो भँवरों के समूह ही संयोजित कर दिये हों। अथवा मानों छोटे छोटे बाल-भ्रमर-समूह ही मिल करके खेल कर रहे हों॥ ४-३८२॥

मध्य-त्रयस्याद्यस्य हिः॥ ४-३८३॥

त्यादीनां मध्यत्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे हि इत्यादेशो वा भवति॥

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास॥
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुं वि न पूरिअ आस॥१।

आत्मने पदे।

बप्पीहा कइं बोल्लिअेण निग्घिण वार इ वार॥
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार॥२॥

सप्तम्याम्।

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सुदिज्जहि कन्तु॥
गय-मत्तहं चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु॥३॥

पक्षे। रुअसि। इत्यादि॥

अर्थः—वर्तमानकाल में मध्यम पुरुष के एकवचन के अर्थ में प्राकृत भाषा में वर्णित प्रत्ययों के अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा में एक प्रत्यय 'हि' की प्राप्ति अधिक रूप से और वैकल्पिक रूप से होती है। जैसे:—*रोदिषि*=रूअहि=तू रोता है। पक्षान्तर में 'रूअसि' =तू रोता है; ऐसा रूप भी होगा। आत्मनेपदीय दृष्टान्त यों है:—*लभसे*=लहहि=तू प्राप्त करता है। पक्षान्तर में लहसि=तू प्राप्त करता है; ऐसा भी होगा। सप्तमी-अर्थ में अर्थात् विनंति-अथक सामान्य वर्तमानकाल में भी मध्यम-पुरुष के एकवचन के अर्थ में विकल्प से 'हि' प्रत्यय की प्राप्ति अधिक रूप से होती हुई देखी जाती है। जैसेकिः—दद्याः =दिज्जहि=तू देना अर्थात् देने की कृपा करना ॥ गाथाओं का अनुवाद क्रम से यों हैं:—

संस्कृतः—चातक ! 'पिउ, पिउ'; (पिबामि, पिबामि, अथवा प्रिय ! प्रिय ! इति)
भणित्वा कियद्रोदिषि हताश ॥
तव जले मम पुनर्वल्लभे द्वयोरपि न पूरिता आशा ॥ १ ॥

हिन्दी:—नायिका विशेष अपने प्रियतम के नहीं आने पर 'चातक' पक्षी को लक्ष्य करके कहती है कि'—हे चातक ! पानी पीने की तुम्हारी इच्छा जब पूरी नहीं हो रही है तो फिर तुम 'मैं पीऊंगा-मैं पीऊंगा' ऐसा बोलकर क्यों बार बार रोते हो? मैं भी 'प्रियतम, प्रियतम' ऐसा बोलकर निराश हो गई हूं। इसलिये तुम्हें तो जल-प्राप्ति में और मुझे प्रियतम-प्राप्ति में, दोनों के लिये आशा पूर्ण होनेवाली नहीं है ॥ १ ॥

संस्कृतः—चातक ! किं कथनेन निर्घृण वारं वारम् ॥
सागरे भृते विमल-जलेन, लभसे न एकामपि धाराम् ॥ २ ॥

हिन्दी:—अरे निर्दयी चातक ! (अथवा हे निर्लज्ज चातक) बार बार एक ही बातको कहने से क्या लाभ है ? जबकि समुद्र के स्वच्छ जल से परिपूर्ण होने पर भी, उससे तू एक बूंद भी नहीं प्राप्त कर सकता है; अथवा नहीं पाता है ॥ २ ॥

संस्कृतः—अस्मिन् जन्मनि अन्यस्मिन्नपि गौरि ! तं दद्याः कांतम् ॥
गजानां मत्तानां त्यक्तांकुशानां य संगच्छते हसन् ॥ ३ ॥

हिन्दी:—कोई एक नायिका विशेष अपने प्रियतम की रण-कुशलता पर मुग्ध होकर पार्वती से प्रार्थना करती है कि:—'हे गौरि ! इस जन्म में भी और पर जन्म में भी उसी पुरुषको मेरा पति बनाना; जो कि ऐसे मदोन्मत्त हाथियों के समूह में भी हँसता हुआ चला जाता है; जिन्होंने कि-(जिन हाथियों ने कि) अंकुश के दबाव का भी परित्याग कर दिया है ॥ ३ ॥ ४-३८३ ॥

बहुत्वे हुः ॥ ४–३८४ ॥

त्यादीनां मध्यमत्रयस्य संबन्धि बहुष्वर्थेषु वर्तमानं यद्वचनं तस्यापभ्रंशे हु इत्यादेशो वा भवति ॥

बलि अब्भत्थणि महु–महणु लहुई हूआ सोइ ॥
जइ इच्छहु वड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥ १ ॥

पत्ते । इच्छह । इत्यादि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में वर्तमानकाल के मध्यम पुरुष के बहुवचन के अर्थ में प्राकृत-भाषा में प्राप्तव्य प्रत्ययों के अतिरिक्त एक प्रत्यय 'हु' की विकल्प से और विशेष रूप से आदेश प्राप्ति होती है। प्राकृत-भाषा में इसी अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'इत्था' और 'ह' प्रत्ययों की प्राप्ति अपभ्रंश भाषा में भी नियमानुसार होती है। जैसे:—*इच्छथ*=इच्छहु=तुम इच्छा करते हो। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षांतर में '*इच्छित्था* और इच्छह' रूपों की प्राप्ति भी होगी। दद्ध्वे=देहु=तुम देते हो। पक्षान्तर में 'देह' और 'देइत्था' रूप भी बनते हैं। पूरी गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृत:—बलेः अभ्यर्थने मधुमथनो लघुकीभूतः सोऽपि ॥
यदि इच्छथ महत्त्वं (वड्डत्तणउं) दत्त, मा मार्गयत कमपि ॥१॥

हिन्दी:—मधु नामक राक्षस को मथने वाले भगवान विष्णु को भी बलि राजा से भीख मांगने की दशा में छोटा अर्थात 'वामन' होना पड़ा था; इसलिये यदि तुम महानता चाहते हो तो देओ; परन्तु किसी से भी मांगो मत ॥ १ ॥ ४-३८४ ॥

अन्त्य–त्रयस्याद्यस्य उं ॥ ४–३८५ ॥

त्यादीनामन्त्यत्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे उं इत्यादेशो वा भवति ॥

विहि विणडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ ॥
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुड्ड अग्घइ ववसाउ ॥ १ ॥

बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥ पक्षे ॥ कड्ढामि इत्यादि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में वर्तमानकाल के अर्थ में 'मैं' वाचक उत्तम पुरुष के एकवचन में प्राकृत भाषा में प्राप्तव्य प्रत्यय के अतिरिक्त एक प्रत्यय 'उं' की आदेश प्राप्ति विकल्प रूप से और विशेष रूप से होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'मि' प्रत्यय की भी प्राप्ति होगी। जैसे:—*कर्षामि*=कड्ढउं=

मैं खींचता हूँ। पक्षान्तर में 'कड्ढामि' रूप भी होगा। वलिं करोमि सुजनस्य=वलि किज्जउं सुअणस्सु = सज्जन पुरुष के लिये मैं (अपना) बलिदान करता हूं। पक्षान्तर मे 'किज्जउं' के स्थान पर 'किज्जामि' रूप भी होगा। गाथा का भाषान्तर इस प्रकार हैः—

संस्कृतः—विधि विनाटयतु ग्रहाः पीडयन्तु मा धन्ये ! कुरु विषादम् ॥
संपदं कर्षामि वेषमिव, यदि अर्घति (=स्यात्) व्यवसायः ॥ १ ॥

हिन्दीः—मेरा भाग्य भले ही प्रतिकूल होवे, और ग्रह भी भले ही मुझे पीड़ा प्रदान करें; परन्तु हे मुग्धे ! हे धन्ये ! तू खेद मत कर। जैसे मैं अपने कपड़ों को-(ड्रेस को-वेष को) आसानी से पहिन लेता हूँ, वैसे ही धन-संपत्ति को भी आसानी से आकर्षित कर सकता हूँ-खींच सकता हूँ; यदि मेरा व्यवसाय अच्छा है—यदि मेरा धंधा फलप्रद है तो सब कुछ शीघ्र ही अच्छा हो होगा ॥ ४-३८५ ॥

बहुत्वे हुं ॥ ४-३८६ ॥

त्यादीनामन्त्यत्रयस्य संबन्धि बहुष्वर्थेषु वर्तमानं यद्वचनं तस्य हुं इत्यादेशो वा भवति ॥

खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं ॥
रण-दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥१॥

पक्षे। लहिमु । इत्यादि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में वर्तमानकाल के अर्थ में 'हम' वाचक उत्तम पुरुष के बहुवचनार्थ में प्राकृत भाषा में उपलब्ध प्रत्ययों के अतिरिक्त एक प्रत्यय 'हुं' की आदेश प्राप्ति विकल्प से और विशेष रूप से होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'मो, मु, म' प्रत्ययों की भी प्राप्ति होगी। जैसेः— (१) *लभामहे=लहहुं*=हम प्राप्त करते हैं। पक्षान्तर में '*लहमो, लहमु, लहम, लहिमु*' इत्यादि रूपों की प्राप्ति होगी। (२) *यामः=जाहुं*=हम जाते हैं; पक्षान्तर में *जामो* = हम जाते हैं। (३) *वलामहे=वलाहुं*= हम रह सकते हैं। पक्षान्तर में *वलामो* = हम रह सकते हैं। पूरी गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—खड्ग विसाधितं यत्र लभामहे, तत्र देशे यामः ॥
रण-दुर्भिक्षेण भग्नाः विना युद्धेन न वलामहे ॥१॥

हिन्दीः—हम उस देश को जावेंगे अथवा जाते हैं; जहां पर कि तलवार से सिद्ध होने वाले कार्य को प्राप्त कर सकते हों। युद्ध के दुर्भिक्ष से अर्थात् युद्ध के अभाव से निराश हुए हम विना युद्ध के (सुख पूर्वक) नहीं रह सकते हैं ॥ ४-३८६ ॥

हि-स्वयोरिदुदेत् ॥ ४-३८७ ॥

पञ्चम्यां हि-स्वयोरपभ्रंशे इ, उ, ए इत्येते त्रय आदेशा वा भवन्ति ॥ इत् ।

कुञ्जर ! सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ॥
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥ १ ॥

उत् ।

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ के वि दियहडा विलम्बु ॥
घण-पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ॥ २ ॥

एत् ।

प्रिय एम्वहिं करे सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु ॥
जं कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु ॥३॥

पक्षे । सुमरहि । इत्यादि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में आज्ञार्थ वाचक लकार के मध्यम पुरुष के एकवचन मे प्राकृत-भाषा मे इसी अर्थ में प्राप्तव्य प्रत्यय 'हि और सु' की अपेक्षा से तीन प्रत्यय 'इ, उ, ए' की प्राप्ति विशेष रूप से और आदेश रूप से होती है। यह स्थिति वैकल्पिक है, इसलिये इन तीन आदेश-प्राप्त प्रत्ययों 'इ, उ, ए, के अतिरिक्त 'हि और सु' प्रत्ययों की प्राप्ति भी होती है। जैसे—स्मर=सुमरि=याद कर। (२) मुञ्च= मेल्लि=छोड़ दे। (३) चर=चरि=खा। पक्षान्तर में 'सुमरसु और सुमरहि, मेल्लसु, मेल्लहि, चरसु चरहि' इत्यादि रूपों की प्राप्ति भी होगी; ये उदाहरण 'इ' प्रत्यय से सम्बन्धित हैं। 'उ' का उदाहरण यों है:—विलम्बस्व=विलम्बु=प्रतीक्षा कर। पक्षान्तर में 'विलम्बसु और विलम्बहि' रूपों की प्राप्ति भी होगी। 'ए' का उदाहरणः—कुरु=करे=तू कर। पक्षान्तर में 'करसु और करहि' रूप भी होंगे। तीनों गाथाओं का अनुवाद क्रमशः यों हैं:—

संस्कृतः—कुञ्जर ! स्मर मा सल्लकीः, सरलान् श्वासान् मा मुञ्च ॥
कवलाः ये प्राप्ताः विधिवशेन, तांश्चर, मानं मा मुञ्च ॥ १ ॥

हिन्दी—हे गजराज ! हे हस्ति-रत्न ! 'सल्लकी' नामक स्वादिष्ट पौधों को मत याद कर और (उनके लिये) गहरे श्वास मत छोड़। भाग्य के कारण से जो पौधे (खाद्य रूप से) प्राप्त हुए हैं, उन्हीं को खा और अपने सन्मान को-आत्म-गौरव को-मत छोड़ ॥ १ ॥

संस्कृतः—भ्रमर ! अत्रापि निम्बके कति (चित्) दिवसान् विलम्बस्व ॥
घनपत्रवान् छाया बहुलो फुल्लति यावत् कदम्बः ॥ २ ॥

हिन्दी:—हे भँवर ! अभी कुछ दिनों तक प्रतीक्षा कर और इसी निम्ब वृक्ष (के फूलों) पर (आश्रित रह) जब तक कि सघन पत्तों वाला और विस्तृत छाया वाला कदम्ब नामक वृक्ष नहीं फूलता है; (तब तक इसी निम्ब वृक्ष पर आश्रित होकर रह) ॥ २ ॥

संस्कृतः – प्रिय ! एवमेव कुरू भल्लं, करे त्यज त्वं करवालम् ॥
येन कापालिका वराकाः लान्ति अभग्नं कपालम् ॥ ३ ॥

हिन्दी:—कोई नायिका विशेष अपने प्रियतम की वीरता पर मुग्ध होकर कहती है कि-'हे प्रियतम ! तुम भाले को अपने हाथ में इस प्रकार थामकर शत्रुओं पर वार करो कि जिससे वे मृत्यु को तो प्राप्त हो जांय परन्तु उनका सिर अखंड ही रहे, जिससे बेचारे कापालिक (खोपड़ी में आटा मांगकर खाने वाले) अखंड खोपड़ी को प्राप्त कर सकें। तुम तलवार को छोड़ दो-तलवार से वार मत करो। ॥ ४-३८७ ॥

वर्त्स्यति–स्यस्य सः ॥ ४–३८८ ॥

अपभ्रंशे भविष्यदर्थ-विषयस्य त्यादेः स्यस्य सो वा भवति ॥

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि ॥
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥ १ ॥

पक्षे । होहिइ ॥

अर्थ:—प्राकृत-भाषा में जैसे भविष्यत्काल के अर्थ में वर्तमानकाल वाचक प्रत्ययों के पहिले 'हि' की आगम-प्राप्ति होती है; वैसे ही अपभ्रंश-भाषा में भी भविष्यत्काल के अर्थ मे उक्त 'हि' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से वर्तमानकाल वाचक प्रत्ययों के पहिले 'स' की आगम प्राप्ति होती है। जैसे:— भविष्यति = होसइ अथवा होहिइ=वह होगा। गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—दिवसा यान्ति वेगैः, पतन्ति मनोरथाः पश्चात् ॥
यदस्ति तन्मान्यते भविष्यति (इति) कुर्वन् मा आस्स्व ॥ १ ॥

हिन्दीः—दिन प्रतिदिन अति वेग से व्यतीत हो रहे हैं और मन-भावनाऐं पीछे पड़ती जा रही हैं अर्थात ढीली पड़ती जा रही हैं अथवा लुप्त होती जा रही है। 'जो होना होगा अथवा जो है सो हो जायगा' ऐसी मान्यता मानता हुआ आलसी होकर मत बैठ जा ॥ ४-३८८ ॥

क्रियेः कीसु ॥ ४–३८९ ॥

क्रिये इत्येतस्य क्रियापदस्यापभ्रंशे कीसु इत्यादेशो वा भवति ॥

सन्ता भोग जु परिहरइ, तसु कन्तहो वलि कीसु ॥
तसु दइवेण विमुण्डियउं, जसु खल्लि हडउं सीसु ॥ १ ॥

पक्षे । साध्यमानावस्थात् क्रिये इति संस्कृत शब्दादेष प्रयोगः । बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥

अर्थ—संस्कृत भाषा में उपलब्ध 'क्रिये' क्रियापद के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में विकल्प से 'किसु' ऐसे क्रियापद की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'किज्जउं' ऐसे पद रूप की भी प्राप्ति होगी। जैसेः—क्रिये=कीसु अथवा किज्जउं=मैं करता हूँ मैं करती हूँ। साध्यमान अवस्था में 'क्रिय' का रूप 'किज्ज' होगा। जिसकी सिद्धि इस प्रकार से की जायगीः—'क्रिय' में स्थित 'र्' का सूत्र-संख्या २-७६ से लोप और १-२४८ से 'य' के स्थान पर द्वित्व 'ज्ज' की प्राप्ति होकर 'क्रिय' के स्थान पर 'किज्ज' रूप की आदेश प्राप्ति जानना चाहिये। 'कीसु' क्रियापद को समझने के लिये जो गाथा दी गई है, उसका अनुवाद यों हैः

संस्कृतः—सतो भोगान् यः परिहरति तस्य कान्तस्य वलि क्रिये ॥
तस्य दैवेनैव मुण्डितं, यस्य खल्वाटं शीर्षम् ॥ १ ॥

हिन्दीः—मैं अपनी श्रद्धांजलि उस प्रिय व्यक्ति के लिये समर्पित करता हूँ; जो-कि भोग-सामग्री के उपस्थित होने पर—विद्यमान होने पर उसका त्याग करता है। किन्तु जिसके पास भोग सामग्री है ही नहीं; फिर भी जो कहता है कि-'मैं भोगों को छोड़ता हूँ।' ऐसा व्यक्ति तो उस व्यक्ति के समान है, जिसका सिर गञ्जा है और भाग्य ने जिसको पहिले से ही 'केश-विहीन' कर दिया है अर्थात् जिसका मुण्डन पहिले ही कर दिया गया है ॥ १ ॥

'कीसु' के वैकल्पिक रूप किज्जउं' का उदाहरण यों हैः—वलि करोमि सुजनस्य=बलि किज्जउं सुअणस्सु=मैं सज्जन पुरुष के लिये बलिदान करता हूँ। (सूत्र-संख्या ४-३३८ में यह गाथा पूरी दी गई है) ॥ ४-३८९ ॥

भुवः पर्याप्तौ हुच्चः ॥ ४–३९० ॥

अपभ्रंशे भुवो धातो पर्याप्तावर्थे वर्तमानस्य हुच्च इत्यादेशो भवति ॥

अइत्तुंगत्तणु जं थणहं सो च्छेयउ, न हु लाहु ॥
सहि ! जइ केवँइ तुडि-वसेण, अहरि पहुच्चइ, नाहु ॥ १ ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में संस्कृत की धातु 'भु-भव्' के स्थान पर 'समर्थ हो सकने के अर्थ में' अर्थात् 'पहुँच सकने' के अर्थ में 'हुच्च' रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:– प्रभवति = पहुच्चइ = वह समर्थ होता है—वह पहुँच सकता है। (२) प्रभवन्ति=पहुच्चहिँ=वे समर्थ होते हैं—वे पहुंच सकते हैं। गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—अतितुङ्गत्वं यत्स्तनयोः सच्छेदकः न खलु लाभः।
सखि! यदि कथमपि त्रुटि वशेन अधरे प्रभवति नाथः॥ १॥

हिन्दीः—हे सखि! दोनों स्तनों की अति ऊँचाई हानि रूप ही है न कि लाभ रूप है। क्योंकि मेरे प्रियतम अधरों तक (होठों का अमृत-पान करने के लिये) कठिनाई के साथ और देरी के साथ ही पहुँच सकने में समर्थ होते हैं॥ ४-३९०॥

ब्रूगो ब्रूवो वा॥ ४-३९१॥

अपभ्रंशे ब्रूगो धातो र्ब्रूव इत्यादेशो वा भवति॥ ब्रूवह सुहासिउ किंपि॥ पक्षे।
इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि, ट्ठिउ, पुणु दूसासणु ब्रोप्पि॥
तोहउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि॥ १॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में उपलब्ध 'बोलना' अर्थक धातु 'ब्रू' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में विकल्प से 'ब्रूव' ऐसे धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'ब्रू' रूप की भी प्राप्ति होगी। (१)जैसे:—ब्रूते=ब्रुवइ और ब्रूइ=वह बोलता है। (२) ब्रूत सुभाषितं किंचित्=ब्रूवह सुहासिउ किंपि=कुछ भी सुन्दर अथवा अच्छा भाषण बोलो। गाथाका अनुवाद इस प्रकार से है:—

संस्कृतः—इयत् उक्त्वा शकुनिः स्थितः, पुनर्दुःशासन उक्त्वा॥
तदा अहं जानामि, एष हरिः यदि ममाग्रतः उक्त्वा॥ १॥

हिन्दीः—दुर्योधन कहता है कि:—शकुनि इतना कहकर रूक गया है, ठहर गया है। पुनः दुश्शासन (भी) बोल करके (रूक गया है)। तब मैंने समझा अथवा समझता हूँ कि यह श्रीकृष्ण है; जोकि मेरे सामने बोल करके खड़े हैं। यों इस गाथा में 'ब्रू' धातु के अपभ्रंश में तीन विभिन्न क्रियापद-रूप बतलाये गये हैं॥ ४-३९१॥

व्रजे र्वुञः॥ ४-३९२॥

अपभ्रंशे व्रजते र्धातो र्वुञ इत्यादेशो भवति॥ वुञइ। वुञेप्पि। वुञेप्पिणु॥

अर्थः—'घूमना, जाना, गमन करना' अर्थक सन्स्कृत-धातु 'व्रज्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'वुन' ऐसे धातु-रूप की आदेश-प्राप्ति होती है। जैसे—व्रजति=वुनइ=वह जाता है-वह घूमता है अथवा वह गमन करता है। व्रजित्वा=वुनेप्पि और वुनेप्पिणु=जाकर के, घूम करके अथवा गमन करके ॥ ४-३९२ ॥

दृशेः प्रस्सः ॥ ४-३९३ ॥

अपभ्रंशे दृशे र्धातोः प्रस्स इत्यादेशो भवति ॥ प्रस्सदि ॥

अर्थः—सस्कृत-भाषा में 'देखना' अर्थ में उपलब्ध धातु 'दृश् = पश्य्' के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में 'प्रस्स' ऐसे धातु-रूप की नित्यमेव आदेश प्राप्ति होती है। जैसे—पश्यति=प्रस्सदि=वह देखता है। ॥ ४-३९३ ॥

ग्रहे र्गृण्हः ॥ ४-३९४ ॥

अपभ्रंशे ग्रहे र्धातो र्गृण्ह इत्यादेशो भवति ॥ पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा मे 'ग्रहण करना-लेना' अर्थ में उपलब्ध धातु 'ग्रह्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'गृण्ह' ऐसे धातु-रूप की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—(१) गृह्णाति=गृण्हइ=वह ग्रहण करता है-वह लेता है। (२) पठ गृहीत्वा व्रतम्=पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु=व्रत-नियम को ग्रहण करके-अंगीकार करके-पढो-अध्ययन करो ॥ ४-३९४ ॥

तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ॥ ४-३९५ ॥

अपभ्रंशे तक्षि-प्रभृतीनां धातूनां छोल्ल इत्यादय आदेशा भवन्ति ॥

जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ॥
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरि सिम कावि लहन्तु ॥ १ ॥

आदि ग्रहणाद् देशीषु ये क्रियावचना उपलभ्यन्ते ते उदाहार्याः ॥

चूडुल्लउ चुण्णी होइ सइ मुद्धि ! कवोलि निहित्तउ ॥
सासानल-जाल-झलक्किअउ, बाह-सलिल-संसित्तउ ॥ २ ॥
अब्भड वंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ ॥
सव्वासण-रिउ-संभवहो, कर परिअत्ता तावँ ॥ ३ ॥
हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ॥

वासा-रत्ति-पवासुअहं विसमा संकडु एहु ॥ ४ ॥
अम्मि ! पओहर वज्जमा निच्चु जे संमुह थन्ति ॥
महु कन्तहो समरङ्गणइ गय-घड भज्जिउ जन्ति ॥५॥
पुत्ते जाएं कवणु गुण, अवगुणु कवणु मुएण ॥
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥ ६ ॥
तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु ॥
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु ॥७॥

अर्थ:—संस्कृत भाषा में 'छोलना-छिलके उतारना' अर्थक उपलब्ध धातु 'तक्ष्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'छोल्ल' ऐसे धातु रूप की आदेश प्राप्ति होती है। यों अन्य अनेक धातु अपभ्रंश भाषा में आदेश रूप से प्राप्त होती हुई देखी जाती हैं। उनकी आदेश प्राप्ति का विधान स्वयमेव समझ लेना चाहिये। वृत्ति में आई हुई गाथाओं का भाषान्तर क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—यथा तथा तीक्ष्णान् करान् लात्वा यदि शशी अतक्षिष्यत ॥
तदा जगति गौर्या मुख-कमलेन सदृशतां कामपि अलप्स्यत ॥१॥

हिन्दी:—(बिना विचार किये) जैसी तैसी तीक्ष्ण-कठोर किरणों को लेकर के चन्द्रमा (कमल-मुखियों के मुख की शोभा को) छीलता रहेगा तो इस संसार में (अमुक नायिका विशेष के) गौरी के मुख कमल की समानता को कहीं पर भी (किसी के साथ भी) नहीं प्राप्त कर सकेगा ॥१॥

संस्कृतः—कङ्कणं चूर्णी-भवति स्वयं मुग्धे ! कपोले निहितम् ॥
श्वासानल ज्वाला-संतप्तं बाष्प-जल-संसिक्तम् ॥२॥

हिन्दी:—हे (सुन्दर गालों वाली) मुग्ध-नायिका ! श्वास-निश्वास लेने से उत्पन्न गर्मी अथवा अग्नि की ज्वालाओं से (झाल से) गरम हुआ और बाष्प अर्थात् भाप के (अथवा नेत्रों के आँसु रूप) जल से भीगा हुआ एवम् गाल पर रखा हुआ (तुम्हारा यह) कंकड़-चूड़ी चूर्ण चूर्ण हो जायगी—टूट जायगी। गरम होकर भीगा हुआ होने से अपने आप ही तड़क कर कंकण टुकड़े टुकड़े हो जायगा। इस गाथा में 'तापय्' धातु के स्थान पर 'झलक्क' धातु का प्रयोग किया गया है; जो कि देशज है ॥२॥

संस्कृत:—अनुगम्य द्वे पदे प्रेम निवर्तते यावत् ॥
सर्वाशन-रिपु-संभवस्य कराः परिवृत्ताः तावत् ॥३॥

हिन्दीः—प्रेमी के दो कदमों का अनुकरण करने मात्र से ही परिपूर्ण प्रेम निष्पन्न हो जाता है-प्रेम-भावनाएँ जागृत हो जाती हैं और ऐसा होने पर जो जल उष्ण प्रतीत हो रहा था और जिस चन्द्रमा की किरणें उष्णता उत्पन्न कर रही थीं; वे तत्काल ही निवृत्त हो गई अर्थात् प्रेमी के मिलते ही परम शीतलता का अनुभव होने लग गया। इस गाथा में 'अनुगम्य' क्रियापद के स्थान पर देशज भाषा में उपलब्ध 'अब्भड वंचिउ' क्रियापद का प्रयोग किया गया है ॥ ३ ॥

संस्कृतः—हृदये शल्यायते गौरी, गगने गर्जति मेघः ॥
वर्षा-रात्रे प्रवासिकानां विषमं संकटमेतत् ॥ ४ ॥

हिन्दीः—(प्रियतमा पत्नी को छोड़ करके विदेश की यात्रा करने वाले) प्रवासी यात्रियों को वर्षा-कालीन रात्रि के समय में इस भयंकर संकट का अनुभव होता है; जबकि हृदय में तो गौरी (का वियोग-दुःख) काँटे के समान कसकता है-दुःख देता है और आकाश में (उस दुःख को दुगुना करने वाला) मेघ अर्थात् बादल गर्जता है। इस गाथा में 'शल्यायते' संस्कृत-क्रियापद के स्थान पर देशज क्रियापद 'खुडुक्कइ' का प्रयोग किया गया है और इसी प्रकार से 'गर्जति' संस्कृत धातु-रूप के बदले में देशज-धातु-रूप 'घुडुक्कइ' लिखा है; जोकि ध्यान देने के योग्य हैं ॥ ४ ॥

संस्कृतः—अम्ब ! पयोधरौ वज्रमयौ नित्यं यौ सम्मुखौ तिष्ठतः ॥
मम कान्तस्य समराङ्गणके गज-घटाः भङ्क्तुं यातः ॥ ५ ॥

हिन्दीः—हे माता ! रण-क्षेत्र में हाथियों के समूह को विदारण करने के लिये जाते हुए-गमन करते हुए-मेरे प्रियतम के सम्मुख सदा ही जिन वज्रसम कठोर दोनों स्तनों की (स्मृति) सम्मुख रहती है; (इस कारण से उसको कठोर वस्तु का भंजन करने का सदा ही अभ्यास है और ऐसा होने से हाथियों के समूह को विदारण करने में उन्हें कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती है) ॥ ५ ॥

संस्कृतः—पुत्रेण जातेन को गुणः, अवगुणः कः मृतेन ॥
यत् पैतृकी (बप्पीकी) भूमिः आक्रम्यते ऽपरेण ॥ ६ ॥

हिन्दीः—यदि (पुत्र के रहते हुए भी) बाप दादाओं की अर्जित भूमि शत्रु द्वारा दबाली जाती है-अधिकृत कर ली जाती है तो ऐसे पुत्र के उत्पन्न होने से अथवा जीवित रहने से क्या लाभ है? और (ऐसे निकम्मे पुत्र के) मर जाने से भी कौन सी हानि है ? (निकम्मे पुत्र का तो मरना अथवा जीवित रहना दोनों ही एक समान ही है)। इस गाथा में 'बप्पीकी और चम्पिज्जइ' ऐसे दो पदों की प्राप्ति देशज भाषा से हुई है; जो कि ध्यान में रखने योग्य है ॥६॥

संस्कृतः—तत् तावत् जलं सागरस्य, स तावन् विस्तारः ॥
तृषो निवारणं पलमपि नैव, परं शब्दायते असारः ॥७॥

हिन्दीः—समुद्र का जल अति मात्रा वाला होता है और उसका विस्तार भी अत्यधिक होता है; किन्तु थोड़ी देर के लिये भी थोड़ी सी प्यास भी मिटाने के लिये वह समर्थ नहीं होता है; फिर भी निरर्थक गर्जना करता रहता है; (अपनी महानता का अनुभव कराता रहता है)। इस गाथा में 'धुटठुअइ' ऐसा जो क्रियापद आया है, वह देशज है। यों अपभ्रंश भाषा में अनेकानेक देशज पदों का प्रयोग किया गया है; जिन्हें स्वयमेव समझ लेना चाहिये ॥ ४-३६५ ॥

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां, ग-घ-द-ध-ब-भाः ॥ ४-३९६ ॥

अपभ्रंशेऽपदादौ वर्तमानानां स्वरात् परेषामसंयुक्तानां क ख त थ प फां स्थाने यथा संख्यं ग घ द ध ब भाः प्रायो भवन्ति ॥ कस्य गः।

जं दिट्ठउं सोम-ग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु ॥
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलिगिलि राहु मयंकु ॥१॥

खस्य घः।

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुघिं चिन्तिज्जइ माणु ॥
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ २ ॥

तथपफानां दधबभाः।

सबधु करेप्पिणु कधिदु मई तसु पर सभलउं जम्मु ॥
जासु न चाउ न चारहडि, न य पम्हट्ठउ धम्मु ॥ ३ ॥

अनादाविति किम्। सबधु करेप्पिणु। अत्र कस्य गत्वं न भवति ॥ स्वरादिति किम्। गिलिगिलि राहु मयङ्कु ॥ असंयुक्तानामिति किम्। एक्कहिं अक्खिहिं सावणु ॥ प्रायो धिकारात् क्वचिन्न भवति।

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु ॥
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गें पइ सीसु ॥ ४ ॥
उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चण-कन्ति पयासु ॥
गौरी-वयण-विणिज्जअउ नं सेवइ वण-वासु ॥ ५ ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में 'क, ख, त, थ, प और फ' इतने अक्षरों में से कोई भी अक्षर यदि पद के प्रारंभ में नहीं रहा हुआ हो और संयुक्त भी अर्थात् किसी अन्य अक्षर के साथ में भी मिला हुआ नहीं हो एवं किसी भी स्वर के पश्चात् रहा हुआ हो तो अपभ्रंश में 'क' के स्थान पर 'ग'; 'ख' के स्थान पर 'घ'; 'त' के स्थान पर 'द'; 'थ' के स्थान पर 'ध', 'प' के स्थान पर 'ब' और 'फ' के स्थान पर 'भ' की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी आदेश-प्राप्ति नित्यमेव नहीं होती है परन्तु प्रायः करके हो जाती है। जैसे —'क' के स्थान पर 'ग' प्राप्ति का उदाहरणः—शुद्धि-करः=सुद्धि-गरो=पवित्रता को करने वाला। 'ख' से 'घ' :—सुखेन=सुघें=सुख से। 'त' का 'द' :—जीवित=जीविदु=जीवन जिंदगी। 'थ' का 'ध'—कथितम्=कधिदु=कहा हुआ। 'प' का 'ब' :—गुरू-पदम्=गुरू-बयु=गुरू के चरण को। 'फ' का 'भ' :—सफलम्=सभलु=सफल॥ वृत्ति में आई हुई गाथाओं का भाषान्तर क्रम से यों हैं.—

संस्कृतः—यद् दृष्टं सोम-ग्रहणमसतीभिः हसितं निःशङ्कम्॥
प्रिय-मनुष्य-विक्षोभकर, गिल गिल, राहो! मृगाङ्कम्॥ १॥

हिन्दीः—'राहु' द्वारा चन्द्रमा को ग्रहण किया जाता हुआ जब असती अर्थात् काम-भावनाओं से युक्त स्त्रियों द्वारा देखा गया, तब उन्होंने निडर होकर हंसते हुए कहा कि—'हे राहु! प्रिय जनों में 'विक्षोभ-घबराहट' पैदा करने वाले इस चन्द्रमा को तू निगल जा-निगल जा। इस गाथा में 'विक्षोभ-करं' के स्थान पर 'विच्छोह-गरू' पद का रूपान्तर करते हुए 'क' के स्थान पर 'ग' की प्राप्ति प्रदर्शित की गई है॥ १॥

संस्कृतः—अम्ब! स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानः॥
प्रिये दृष्टे व्याकुलत्वेन (हल्लोहल्ल) कश्चेतयति आत्मानम्॥ २॥

हिन्दीः—हे माता! शान्त अवस्था में रहे हुए व्यक्तियों द्वारा ही सुख पूर्वक आत्म सन्मान का विचार किया जाता है। किन्तु जब प्रियतम दिखाई पड़ता है अथवा उसका मिलन होता है तब भावनाओं के उमड़ पड़ने के कारण से उत्पन्न हुई व्याकुलता की स्थिति में कौन अपने (सन्मान) का सोचता है-विचारता है? ऐसी स्थिति में तो 'मिलने' की उतावलता-हल्लोहलपना रहता है। इस गाथा में 'सुखेन' के स्थान पर 'सुघिं' का रूपान्तर करते हुए 'ख' अक्षर के स्थान पर 'घ' अक्षर की प्राप्ति का बोध कराया गया है॥ २॥

संस्कृतः—शपथं कृत्वा कथितं मया, तस्य परं सफलं जन्म॥
यस्य न त्यागः, नच आरभटी, नच प्रमृष्टः धर्मः॥ ३॥

हिन्दीः—जिसने न तो त्याग-वृत्ति छोड़ी है, न सैनिक-वृत्ति का ही परित्याग किया है और न विशुद्ध धर्म को ही छोड़ा है; उसी का जन्म विशिष्ट रूप से सफल है; ऐसी बात मुझसे शपथ पूर्वक कही

गई है। इस गाथा में 'शपथं' के स्थान पर 'सवधु'; 'कथितं' के स्थान पर 'कधिदु' और 'सफलं' के स्थान पर 'सभलउं' लिख कर यह सिद्ध किया है कि 'प' के स्थान पर 'व'; 'थ' के स्थान पर 'ध' और 'त' के स्थान पर 'द' तथा 'फ' के स्थान पर 'भ' की प्राप्ति अपभ्रंश भाषा में होती है ॥ ३ ॥

प्रश्नः—'क-ख-त-थ-प-फ' अक्षर पद के आदि में नहीं होने चाहिये; ऐसा विधान क्यों किया गया है ?

उत्तरः—यदि उक्त अक्षरों में से कोई भी अक्षर पद के आदि में रहा हुआ होगा तो उनके स्थान पर आदेश रूप से प्राप्तव्य अक्षर 'ग-घ-द-ध-ब-भ' की आदेश प्राप्ति नहीं होगी। जैसेः—कृत्वा = करेप्पिणु=करके; यहाँ पर 'क' वर्ण पद के आदि में है, अतः इसके स्थान पर 'ग' अक्षर की आदेश प्राप्ति नहीं होगी। यों आदि में स्थित अन्य शेष उक्त अक्षरों की स्थिति को भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्नः—यदि 'क-ख-त-थ-प-फ' अक्षर स्वर के पश्चात् रहे हुए होंगे, तभी इनके स्थान पर क्रम से 'ग-घ-द-ध-ब-भ' अक्षरों की क्रम से प्राप्ति होगी; ऐसा भी क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—यदि ये स्वर के पश्चात् नहीं रहे हुए होंगे तो इनके स्थान पर आदेश-रूप से प्राप्तव्य अक्षरों की आदेश प्राप्ति भी नहीं होगी, ऐसी अपभ्रंश-भाषा में परंपरा है; इस लिये स्वर से परे होने पर ही इनके स्थान पर उक्त अक्षरों की आदेश-प्राप्ति होगी; ऐसा समझना चाहिये। जैसेः—मृगाङ्कम्= मयङ्कु=चन्द्रमा को। इस उदाहरण में हलन्त व्यञ्जन 'ङ' के पश्चात् 'क' वर्ण आया हुआ है जोकि 'स्वर' के पर वर्ती नहीं होकर 'व्यञ्जन' के पर वर्ती है इसलिये 'क' के स्थान पर 'ग' वर्ण की आदेश-प्राप्ति नहीं हुई है। यों अन्य उक्त शेष अक्षरों के सम्बन्ध में भी 'स्वर-परवर्तित्व' के सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिये।

प्रश्नः—असंयुक्त अर्थात् हलन्त रूप से नहीं होने पर ही 'क-ख-त-थ-प-फ' के स्थान पर 'ग-घ-द-ध-ब-भ' व्यञ्जनों की क्रम से आदेश प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तरः—यदि 'क-ख-त-थ-प-फ' व्यञ्जन पूर्ण नहीं है अर्थात् स्वर से रहित होकर अन्य किसी दूसरे व्यञ्जन के साथ में ये अक्षर रहे हुए होंगे तो इनके स्थान पर 'ग-घ-द-ध-ब-भ' व्यञ्जनों की क्रम से प्राप्तव्य आदेश प्राप्ति नहीं होगी; ऐसी अपभ्रंश भाषा में परंपरा है; इसलिये 'असंयुक्त स्थिति' का उल्लेख और सद्भाव किया गया है। जैसेः—एकस्मिन् अक्ष्णि श्रावणः =एक्कहिं अक्खिहिं सावणु= एक आँख में श्रावण (अर्थात् आँसुओं की झड़ी) है। इस उदाहरण में 'क' के स्थान पर 'ग' वर्ण की आदेश प्राप्ति नहीं हुई है। यों शेष अन्य उक्त व्यञ्जनों के संबंध में भी स्वयमेव कल्पना कर लेना चाहिये। पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३५७ में प्रदान की गई है।

वृत्ति में ग्रन्थकार ने 'प्रायः' अव्यय का प्रयोग करके यह भावना प्रदर्शित की है कि इन उक्त व्यञ्जनों के स्थान पर प्राप्तव्य व्यञ्जनों की आदेश-प्राप्ति कभी कभी नहीं भी होती है। जैसे किः—

अकृतं=अकिअं=नहीं किया हुआ । नवके=नवइ=नये में । इन उदाहरणों में यह बतलाया गया है कि 'क' वर्ण स्वर के पश्चात् रहा हुआ है, अनादि में स्थित है और असंयुक्त भी है, फिर भी इसके स्थान पर आदेश रूप से प्राप्तव्य 'ग' वर्ण की आदेश प्राप्ति नहीं हुई है। यों अन्य उक्त शेष व्यञ्जनों के संबंध में भी 'प्राय' अव्यय का ध्यान रखते हुए जान लेना चाहिये कि सभी स्थानों पर आदेश-प्राप्ति का होना जरूरी नहीं है। वृत्ति में उल्लिखित चौथी एवं पाँचवीं गाथा का भाषान्तर क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—यदि कथंचित् प्राप्स्यामि प्रियं अकृतं कौतुकं करिष्यामि ॥
पानीयं नवके शरावे यथा सर्वाङ्गेण प्रवेक्ष्यामि ॥ ४ ॥

हिन्दीः—यदि किसी प्रकार से संयोग वशात् मेरी अपने प्रियतम से भेंट हो जायगी तो मैं कुछ ऐसी आश्चर्य जनक स्थिति उत्पन्न कर दूँगी; जैसीकि पहिले कभी भी नहीं हुई होगी। मैं अपने संपूर्ण शरीर को अपने प्रियतम के शरीर के साथ में इस प्रकार से आत्म-सात (एकाकार) कर दूँगी; जिस प्रकार कि नये बने हुए मिट्टी के शरावले में पानी अपने आपको आत्म-सात् कर देता है। ॥ ४ ॥

संस्कृतः—पश्य ! कर्णिकारः प्रफुल्लितकः काञ्चन कांति प्रकाशः ॥
गौरी वदन-विनिर्जितकः ननु सेवते वनवासम् ॥ ५ ॥

हिन्दीः—इस कर्णिकार नामक वृक्ष को देखो ! जो कि ताजे फूलों से लदा हुआ होकर परम शोभा को धारण कर रहा है; सोने के समान सुन्दर कान्ति से देदीप्यमान हो रहा है। गौरी के (नायिका विशेष के) आभापूर्ण सौम्य मुख-कमल की शोभा से भी अधिक शोभायमान हो रहा है, फिर भी आश्चर्य है कि यह वन-वास ही सेवन कर रहा है, वन में रहता हुआ ही अपना काल क्षेप कर रहा है। इस गाथा में 'कर्णिकारः और प्रकाशः' पदों में 'क' वर्ण के स्थान पर 'ग' वर्ण की आदेश प्राप्ति नहीं हुई है। 'प्रफुल्लितकः और विनिर्जितकः' पदों में भी क्रम से प्राप्त 'फ' वर्ण तथा 'त' वर्ण के स्थान पर भी क्रम से प्राप्तव्य 'भ' वर्ण की और 'द' वर्ण की आदेश प्राप्ति नहीं हुई है। यों अनेक स्थानों पर 'प्राय' अव्यय से सूचित स्थिति को हृदयंगम करना चाहिये ॥ ५ ॥ ४-३९६ ॥

मोनुनासिको वो वा ॥ ४-३९७ ॥

अपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्य अनुनासिको वकारो वा भवति ॥ कवँलु कमलु । भवँरु भमरु ॥ लाक्षणिकस्यापि । जिवँ । तिवँ । जेवँ । तेवँ ॥ अनादावित्येव । मयणु ॥ असंयुक्तस्येत्येव । तसु पर सभलउ जम्मु ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा के पद में रहे हुए मकार के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में रूपान्तर करने पर अनुनासिक सहित 'वकार' की अर्थात 'वँ' की आदेश प्राप्ति विकल्प से उस दशा में हो जाती है जब कि

वह 'मकार' पद के आदि में भी नहीं रहा हुआ हो तथा संयुक्त रूप से भी नहीं रहा हुआ हो। जैसे:— कमलम्=कवँलु अथवा कमलु=कमल-फूल॥ भ्रमरः=भवँरु अथवा भमरु=भँवरा। इन उदाहरणों में 'मकार' पद के आदि में भी नहीं है तथा संयुक्त रूप से भी नहीं रहा हुआ है। व्याकरण सम्बन्धी नियमों से उत्पन्न हुए 'मकार' के स्थान पर भी अनुनासिक सहित 'वँ' की उत्पत्ति भी विकल्प से देखी जाती है। जैसे:— यथा=जिम अथवा जिवँ=जिस प्रकार, जिस तरह से। तथा=तिम अथवा तिवँ=उस प्रकार से अथवा उस तरह से। यथा=जेम अथवा जेवँ=जिस प्रकार अथवा जिस तरह से। तथा=तेम अथवा तेवँ= उस प्रकार अथवा उस तरह से।

प्रश्नः—'अनादि' में स्थित 'मकार' के स्थान पर ही वँ' की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है; ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तरः—यदि 'मकार' पद के आदि में रहा हुआ हो तो उसके स्थान पर 'वँकार' की आदेश प्राप्ति नहीं होगी। जैसे:—मदन:=मयणु=मदन-कामदेव। यहाँ पर 'मकार' के स्थान पर 'वँकार' नहीं होगा। क्योंकि यह मकार आदि में स्थित है।

प्रश्नः—'असंयुक्त' रूप से रहे हुए 'मकार' के स्थान पर ही 'वँकार' होगा; ऐसा भी क्यों कहा गया है?

उत्तरः—'संयुक्त' रूप से रहे हुए 'मकार' के स्थान पर 'वँकार' की आदेश प्राप्ति नहीं होती है; ऐसी अपभ्रंश-भाषा में परंपरा है; इसलिये 'संयुक्त' मकार के लिये 'वँकार' की प्राप्ति का निषेध किया गया है। जैसे:—जन्म=जम्मु=जन्म होना-उत्पत्ति होना। यहाँ पर 'मकार' संयुक्त रूप से रहा हुआ है इसलिये 'वँकार' की यहाँ पर आदेश प्राप्ति नहीं हो सकती है। तस्य परं सफलं जन्म=तसु पर सभलउ जम्मु=उसका जन्म बड़ा ही सफल है। पूरी गाथा सूत्र-संख्या ४-३६६ में दी गई है॥ ४-३९७॥

वाधो रो लुक्॥ ४-३९८॥

अपभ्रंशे संयोगादधो वर्तमानो रेफो लुग् वा भवति॥ जइ केवँइ पावीसु पिउ (देखो-४-३९६) पक्षे। जइ भग्गा पारकडा तो सहि! मज्झु प्रियेण॥

अर्थः—संस्कृत भाषा के किसी भी पद में यदि रेफ-रूप 'रकार' संयुक्त रूप से और वर्ण में परवर्ती रूप से अर्थात् अधो रूप से रहा हुआ हो तो उस रेफ रूप 'रकार' का अपभ्रंश-भाषा में विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे:—यदि कथंचित् प्राप्स्यामि प्रियं=जइ केवँइ पावीसु पिउ=यदि किसी भी तरह से प्रियतम पति को प्राप्त कर लूँगी। इस उदाहरण में 'प्रियं' के स्थान पर 'पिउ' पद को लिख करके 'प्रियं' में स्थित रेफ रूप 'रकार' का लोप प्रदर्शित किया गया है। पक्षान्तर में जहाँ रेफ रूप 'रकार' का लोप नहीं होगा, उसका उदाहरण इस प्रकार से है:-यदि भग्नाः परकीयाः तत्-सखि! मम प्रियेण=जइ

भग्गा पारकहा तो सहि ! मज्झु प्रियेण=हे सखि ! यदि शत्रु पक्ष के लड़वैये (रण-क्षेत्र को छोड़कर) भाग खड़े हुए हैं तो मेरे पति (की वीरता के कारण) से (ही) ऐसा हुआ है। इस दृष्टान्त में 'प्रियेण' के स्थान पर 'प्रियेण' पद का ही उल्लेख करके यह समझाया है कि रेफ रूप 'रकार' का लोप कहीं पर होता है और कहीं पर नहीं भी होता है। यों यह स्थिति उभय पक्षीय होकर वैकल्पिक है॥ ४-३९८ ॥

अभूतोपि क्वचित् ॥ ४-३९९ ॥

अपभ्रंशे क्वचिदविद्यमानो पि रेफो भवति ॥

व्रासु महारिसि एँउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु ॥
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गङ्गा-ण्हाणु ॥ १ ॥

क्वचिदितिकिम्। वासेण वि भारह-खम्भि बद्ध ॥

अर्थ—संस्कृत-भाषा के किसी पद में यदि रेफ रूप 'रकार' नहीं है तो भी अपभ्रंश-भाषा में उस पद का रूपान्तर करने पर उस पद में रेफ-रूप 'रकार' की आगम प्राप्ति कभी कभी हो जाया करती है। जैसे.—व्यास.=व्रासु=व्यास नामक ऋषि-विशेष। पूरी गाथा का रूपान्तर यों है.—

संस्कृतः—व्यास-महर्षिः एतद् भणति यदि श्रुति-शास्त्रं प्रमाणम् ॥
मातृणां चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गा स्नानम् ॥ १ ॥

हिन्दीः—महाभारत के निर्माता व्यास नामक बड़े ऋषि फरमाते हैं कि यदि वेद और शास्त्र सच्चे हैं याने प्रमाण रूप हैं तो यह बात सच है कि जो विनीत आत्माएं प्रतिदिन प्रातःकाल में अपनी पूजनीय माताओं के चरणों में श्रद्धा पूर्वक नमस्कार प्रणाम करते हैं तो उन विनीत महापुरुषों को बिना गंगा स्नान किये भी 'गङ्गा में स्नान करने से उत्पन्न होने वाले पुण्य' जितने पुण्य की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

प्रश्नः—क्वचित् अर्थात् कभी कभी ही रेफ रूप 'रकार' की आगम प्राप्ति होती है, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर.—अनेक पदों में कभी तो रेफ रूप 'रकार' की आगम-प्राप्ति हो जाती है और कभी नहीं भी होती है, इसलिये क्वचित् अव्यय का उपयोग किया गया है। जैसेः—व्यासेनापि भारत स्तम्भे बद्धम्=वासेण वि भारह-खम्भि बद्ध=व्यास ऋषि के द्वारा भी भारत रूपी स्तम्भ में बांधा गया है-कहा गया है। इस उदाहरण में 'वासेण' पद में रेफ-रूप 'रकार' का आगम नहीं हुआ है। (२) व्याकरणम्= व्रागरण और वागरण=व्याकरण शास्त्र। इस तरह से रेफ-रूप 'रकार' की आगम स्थिति को जानना चाहिये ॥ ४-३९९ ॥

आपद्विपत्-संपदां द इः ॥ ४-४०० ॥

अपभ्रंशे आपद्-विपद्-(संपद्)-इत्येतेषां दकारस्य इकारो भवति ॥

अणउ करन्तहो पुरिसहो आवइ आवइ ॥

विवइ । संपइ ॥ प्रायोधिकारात् । गुणहिं न संपय कित्ति पर ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'आपद्, विपद्-संपद्' शब्दों में उपस्थित अन्त्य व्यञ्जन 'दकार' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'इकार' स्वर की आदेश प्राप्ति (कभी कभी) हो जाती है। जैसेः— (१) *आपद्=आवइ*=आपत्ति-दुख। (२) *विपद्=विवइ*=विपत्ति-संकट। (३) *संपद्=संपइ*=संपत्ति-सुख ॥ गाथा के चरण का रूपान्तर यों है:—

अनयं कुर्वतः पुरुषस्य आपद् आयाति=अणउ करन्तहो पुरिसहो आवइ आवइ=अनीति को करने वाले पुरुष के (लिये) आपत्ति आती है।

'प्रायः' अव्यय के साथ उक्त विधान का उल्लेख होने से कभी कभी 'आपद्-विपद्-संपद्' में रहे हुए अन्त्य व्यञ्जन 'दकार' के स्थान पर 'इकार' रूप की आदेश-प्राप्ति नहीं भी होती है। जैसेः— आपद्=आवय अथवा आवया। (२) विपद्=विवय अथवा विवया और (३) संपद्=संपय अथवा संपया ॥ गाथा के चरण का रूपान्तर यों हैः—गुणैः न संपत् कीर्तिः परं=गुणहिं न संपय कित्ति पर= गुणों से संपत्ति (धन-द्रव्य) नहीं (प्राप्त होती है-होता है) परन्तु कीर्ति (ही प्राप्त होती है) इस दृष्टान्त में 'संपद्' के स्थान पर 'संपइ' पद का प्रयोग नहीं किया जाकर 'संपय' पद का प्रयोग किया गया है। यों सर्वत्र समझ लेना चाहिये ॥ ४-४०० ॥

कथं-यथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ॥ ४-४०१ ॥

अपभ्रंशे कथं यथा तथा इत्येतेषां थादेरवयवस्य प्रत्येकम् एम इम इह इध इत्येते डितश्चत्वार आदेशा भवन्ति ॥

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ॥
नव-वहु-दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥ १ ॥
ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियङ्कु ॥
अन्नु वि जो परिहविय-तणु सो किवँ भवँइ निसङ्कु ॥ २ ॥
बिम्बाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द ॥
निरुवम-रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ॥ ३ ॥

भण सहि ! निहुअउं तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठु सदोसु ॥
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥ ४ ॥
जिवँ जिवँ वङ्किम लोअणहं ॥ तिवँ तिवं वम्महु निअय-सर ॥
मइं जाणिउ प्रिय विरहिअहं कविघर होइ विआली ॥
नवर मिअङ्कु वितिह तवइ जिह दिणयरू खय-गालि ॥ ५ ॥

एवं तिध-जिधावुदाहार्यौ ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'कथ, यथा और तथा' अव्ययों में स्थित 'थ' और 'था' रूप अक्षरात्मक अवयवों के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'एम, इम, इह और इध' अक्षरात्मक आदेश-प्राप्ति क्रम से होती है। यह आदेश-प्राप्ति 'डित' पूर्वक होती है; इससे यह समझा जाता है कि उक्त तीनों अव्ययों में 'थ' और 'था' भाग के लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए 'क', 'य' और 'त' भाग में अवस्थित अन्त्य स्वर 'अ' का भी 'एम, इम, इह और इध' आदेश-प्राप्ति के पूर्व लोप हो जाता है और तदनुसार 'कथं' के स्थान पर 'केम, किम, किह और किध' रूपों की प्राप्ति होती है। 'यथा' के स्थान पर 'जेम, जिम, जिध और जिह' रूप होंगे और इसी प्रकार से 'तथा' की जगह पर 'तिम, तेम, तिध और तिह' रूप जानना चाहिये। सूत्र-संख्या ४-३९७ के संविधानानुसार 'केम, किम, जेम, जिम, तेम, तिम' में स्थित 'मकार' के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक सहित 'वँ' की आदेश-प्राप्ति भी हो जाने से इनके स्थान पर क्रम से 'केवँ, किवँ, जेवँ, जिवँ, तेवँ, तिवँ, रूपों की आदेश-प्राप्ति भी विकल्प से होगी। यों 'कथ, यथा और तथा' अव्ययों के क्रम से छह छह रूप अपभ्रंश-भाषा में हो जायगे। वृत्ति में दी गई गाथाओं में इन अव्यय-रूपों का प्रयोग किया गया है; तदनुसार इनका अनुवाद क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—कथं समाप्यतां दुष्टं दिनं, कथं रात्रिः शीघ्रं (छुडु) भवति ॥
नव-वधू-दर्शन-लालसकः वहति मनोरथान् सोऽपि ॥ १ ॥

हिन्दीः—किस प्रकार से (कब शीघ्रता पूर्वक) यह दुष्ट (अर्थात् कष्ट-दायक) दिन समाप्त होगा और कब रात्रि जल्दी होगी, इस प्रकार की मनो-भावनाओं को 'नई ब्याही हुई पत्नी को देखने की तीव्र लालसावाला' वह (नायक-विशेष) अपने मन में रखता है अथवा मनोरथों को धारण करता है। इस गाथा में 'कथ' अव्यय के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'केम और किध' अव्यय रूपों का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

संस्कृतः—ओ गौरी-मुख-निर्जितकः, वार्दले निलीनः मृगाङ्कः ॥
अन्योऽपि यः परिभूततनुः, स कथं भ्रमति निः शङ्कम् ॥ २ ॥

हिन्दीः—ओह ! (सूचना-अर्थक-अव्यय) गौरी (नायिका-विशेष) के मुख-कमल की शोभा से हार खाया हुआ यह चन्द्रमा बादलों में छिप गया है। दूसरे से हारा हुआ अन्य कोई भी हो, वह निडरता पूर्वक (सन्मान पूर्वक) कैसे परिभ्रमण कर सकता है ? इस गाथा में 'कथं' के स्थान पर 'किवँ' आदेश-प्राप्त रूप का प्रयोग किया गया है ॥ २ ॥

संस्कृतः—बिम्बाधरे तन्व्याः रदन-व्रणः कथं स्थितः श्री आनंद ॥
निरूपम रसं प्रियेण पीत्वेव शेषस्य दत्ता मुद्रा ॥ ३ ॥

हिन्दीः—हे श्री आनन्द ! सुन्दर शरीर वाली (पतले शरीर वाली) नायिका के लाल लाल होठों पर दांतों द्वारा अंकित चिह्न किस प्रकार शोभा को धारण कर रहा है ? मानों प्रियतम पति देव से अद्वितीय अमृत-रस का पान किया जाकर के (होठों में) अवशिष्ट रस के लिये सील-मोहर लगा दी गई है; (जिससे कि इस अमृत-रस का अन्य कोई भी पान नहीं कर सके) इस गाथा में 'कथं' अव्यय के स्थान पर 'किह' आदेश-प्राप्त रूप का प्रयोग किया गया है ॥ ३ ॥

संस्कृतः—भण सखि ! निभृतकं तथा मयि यदि प्रियः दृष्टः सदोषः ॥
यथा न जानाति मम मनः पक्षापतितं तस्य ॥ ४ ॥

हिन्दीः—हे सखि ! यदि मेरे विषय में मेरा प्रियतम तुझ से सदोष देखा गया है तो तू निस्संकोच होकर (प्राइवेट रूप में) मुझे कहदे। मुझे इस तरीके से कहकि जिससे वह यह नहीं जान सके कि मेरा मन उसके प्रति अब पक्षपात पूर्ण हो गया है। इस गाथा में 'तथा' के स्थान पर 'तेवँ' लिखा गया है और 'यथा' के स्थान पर 'जेवँ' का प्रयोग किया गया है ॥ ४ ॥

संस्कृतः—यथा यथा वक्रिमाणं लोचनयोः ॥
अपभ्रंशः—जिवँ जिवँ वङ्किम लोअणहं ॥

हिन्दीः—जैसे जैसे दोनों नेत्रों की वक्रता को। यहाँ पर 'यथा, यथा' के स्थान पर 'जिवँ, जिवँ' का प्रयोग किया गया है।

संस्कृतः—तथा तथा मन्मथः निजक-शरान् ॥
अपभ्रंशः—तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर ॥

हिन्दीः—वैसे वैसे कामदेव अपने बाणों को। इस चरण में 'तथा, तथा' की जगह पर 'तिवँ, तिवँ' ऐसे आदेश-प्राप्त रूप लिखे गये हैं।

संस्कृतः—मया ज्ञातं प्रिय ! विरहितानां कापि धरा भवति विकाले ॥
केवलं (=परं) मृगाङ्कोपि तथा तपति यथा दिनकरः क्षयकाले ॥ ५ ॥

हिन्दी:—हे प्रियतम ! मुझसे ऐसा जाना गया था कि प्रियतम के वियोग से दुःखित व्यक्तियों के लिये सन्ध्या-काल में शायद कुछ भी सान्त्वना का आधार प्राप्त होता होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। 'देखो ! चन्द्रमा भी सन्ध्याकाल में उसी प्रकार से उष्णता प्रदान करने वाला प्रतीत हो रहा है; जैसाकि सूर्य उष्णतामय ताप प्रदान करता रहता है।' इस गाथा में 'तथा' अव्यय के स्थान पर 'तिह' रूप की आदेश प्राप्ति हुई है और 'यथा' की जगह पर 'जिह' आदेश प्राप्त अव्यय रूप लिखा गया है ॥ ५ ॥

इसी प्रकार से 'कथं, यथा और तथा' अव्यय पदों के स्थान पर आदेश-प्राप्ति के रूप में प्राप्त होने वाले अन्य रूपों के उदाहरणों की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिये; ऐसी ग्रन्थकार की सूचना है। । ४-४०१ ॥

यादृक्ताृक्कीदृगीदृशां दादेर्डेहः ॥ ४-४०२ ॥

अपभ्रंशे यादृगादीनां दादेरवयवस्य डित् एह इत्यादेशो भवति ॥

मइं भणिअउ बलिराय ! तुहुं केहउ मग्गण एहु ॥
जेहु तेहु न वि होइ, वढ ! सइं नारायणु एहु ॥ १ ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'यादृक्, तादृक्, कीदृक् और ईदृक्' शब्दों में अवस्थित अन्त्य भाग 'दृक्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'डित्-पूर्वक' 'एह' अंश-रूप की आदेश-प्राप्ति होती है। 'डित्' पूर्वक कहने का तात्पर्य यह है कि 'दृक्' भाग के लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए 'या, ता, की और ई' के अन्त्य स्वर 'आ, और ई' का भी लोप हो जाता है और तत् पश्चात् ही 'एह' अंश रूप की आदेश प्राप्ति होकर एवं संधि अवस्था प्राप्त होकर क्रम से यों आदेश प्राप्त रूपों की प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—यादृक्=जेह=जिसके समान; तादृक्=तेह=उसके समान, कीदृक्=केह=किस के समान और ईदृक्=एह=इसके समान। आदेश प्राप्त रूप विशेषण होने से विशेष्य के समान ही विभक्तियों में भी इनके विभिन्न रूप बन जाते हैं। गाथा का भाषान्तर यों है:—

संस्कृत:—मया भणितः बलिराज ! त्वं कीदृग् मार्गणः एषः ॥
यादृक्-तादृक् नापि भवति मूर्ख ! स्वयं नारायणः ईदृक् ॥ १ ॥

हिन्दीः—हे राजा बलि ! मैंने तुम्हें कहा था कि यह मांगने वाला किस प्रकार का भिखारी है ? हे मूर्ख ! यह ऐसा वैसा भिखारी नहीं हो सकता है, किन्तु इस प्रकार 'भिखारी' के रूप में स्वयं भगवान् नारायण-विष्णु है ॥ १ ॥ यों इस गाथा में 'यादृक्, तादृक्, कीदृग् और ईदृक्' के स्थान पर क्रम से 'जेहु, तेहु, केहउं और एहु' रूपों का प्रयोग किया गया है ॥ ४-४०२ ॥

अतां डइसः ॥ ४-४०३ ॥

अपभ्रंशे यादृगादीनामदन्तानां यादृश-तादृश-कीदृशेदृशानां दादेरवयवस्य डित् अइस इत्यादेशो भवति ॥ जइसो । तइसो । कइसो । अइसो ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'यादृक तादृक, कीदृक् और ईदृक' शब्दों में यदि 'अत्=अ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर जब ये शब्द क्रम से 'यादृश, तादृश, कीदृश और ईदृश' रूप में परिणत हो जाते हैं; तब अपभ्रंश-भाषान्तर में इन शब्दों के अन्त्य अवयव रूप दृश' के स्थान पर 'डित्' पूर्वक 'अइस' अवयव की आदेश प्राप्ति हो जाती है। डित्-पूर्वक' कहने का तात्पर्य यह है कि इन शब्दों के अन्त्य अवयव 'दृश' के लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए शब्दांश 'या, ता, की और ई' भाग में अवस्थित अन्त्य स्वर 'आ औ ई' का भी लोप हो जाता है और तत्पश्चात् हलन्त रूप से रहे शब्दांश में ही 'अइस' आदेश प्राप्ति की संधि हो जाती है। जैसेः—यादृशः = जइसो = जिसके समान। तादृशः = तइसो = उसके समान। कीदृशः = कइसो = किसके समान और ईदृशः = अइसो=इसके समान। ये विशेषण स्वरूप वाले हैं, इसलिये संज्ञाओं के समान ही इनके विभक्ति-वाचक रूप भी बनते हैं ॥ ४-४०३ ॥

यत्र-तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु ॥ ४-४०४ ॥

अपभ्रंशे यत्र-तत्र-शब्दयोस्त्रस्य एत्थु अत्तु इत्येतौ डितौ भवतः ॥

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ॥
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो ताहि सारिक्खु ॥ १ ॥

जत्तु ठिदो । तत्तु ठिदो ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'यत्र और तत्र' अव्यय रूप शब्दों का अपभ्रंश-भाषा में रूपांतर करने पर इनके अंत में अवस्थित 'त्र' भाग के स्थान पर 'डित्' पूर्वक 'एत्थु और अत्तु' ऐसे दो 'आदेश-रूप अंश-भाग' की प्राप्ति होती है। 'डित्' पूर्वक कहने का तात्पर्य यह है कि 'यत्र और तत्र' में अवस्थित 'त्र' भाग के लोप हो जाने के पश्चात् शेषांश 'य' और 'त' में स्थित अन्त्य 'अ' का भी लोप होकर आदेश रूप से प्राप्त होनेवाले 'एत्थु अथवा अत्तु' की उनमें संधि हो जाती है। जैसेः—यत्र = जेत्थु और जत्तु=जहाँ पर। तत्र=तेत्थु और तत्तु=वहाँ पर। गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—यदि स घटयति प्रजापतिः, कुत्रापि लात्वा शिक्षाम् ॥
यत्रापि तत्रापि अत्र जगति, भण, तदा तस्याः सदृक्षीम् ॥ १ ॥

हिन्दी —यदि विश्व-निर्माता ब्रह्मा इस विश्व में यहाँ पर, वहाँ पर अथवा कहीं पर भी (निर्माण-कला की) शिक्षा को पढ़ करके-अध्ययन करके-(पुरुषों का अथवा स्त्रियों का) निर्माण करता; तभी उस सुन्दर स्त्री के समान अन्य (पुरुष का अथवा स्त्री) का निर्माण करने में समर्थ होता। अर्थात् वह (नायिका) सुन्दरता में बेजोड़ है।

इस गाथा में 'यत्र' के स्थान पर 'जेत्थु' का प्रयोग किया गया है और 'तत्र' के स्थान पर 'तेत्थु' अव्यय रूप लिखा गया है। शेष रूपों के क्रम से उदाहरण यों हैं:—

(१) यत्र स्थित. = जत्तु ठिदो=जहाँ पर ठहरा हुआ है।

(२) तत्र स्थितः = तत्तु ठिदो=वहाँ पर ठहरा हुआ है। यों क्रम से आदेश-प्राप्त चारों अव्यय-रूपों की स्थिति को समझ लेना चाहिये ॥ ४-४०४ ॥

एत्थु कुत्रात्रे ॥ ४–४०५ ॥

अपभ्रंशे कुत्र अत्र इत्येतयोस्त्रशब्दस्य डित् एत्थु एत्यादेशो भवति ॥

केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ॥ जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'कुत्र और अत्र' अव्ययों में अवस्थित अन्त्य अक्षर 'त्र' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'डित्' पूर्वक 'एत्थु' अवयव की आदेश प्राप्ति होती है। 'डित्' पूर्वक कहने का अर्थ यह है कि 'कुत्र और अत्र' अव्यय शब्दों के अन्त्य अक्षर 'त्र' के लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए शब्दांश 'कु और अ' में अवस्थित अन्त्य स्वर 'उ' और 'अ' का भी लोप होकर तत्पश्चात् आदेश-रूप से प्राप्त होने वाले अवयव रूप 'एत्थु' की उन शेषांश अक्षरों के साथ संधि हो जाती है। जैसे.—कुत्र=केत्थु=कहाँ पर-कहाँ पर ? और अत्र=एत्थु=यहाँ पर अथवा इसमें ॥ अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं.—

(१) कुत्रापि लात्वा शिक्षाम्=केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु=कहीं पर भी शिक्षा को ग्रहण करके। यहाँ पर 'कुत्र' के स्थान पर 'केत्थु' का प्रयोग है।

(२) यत्रापि तत्रापि अत्र जगति=जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि = जहाँ पर-वहाँ पर यहाँ पर इस जगत् में ॥ इस चरण में 'अत्र' के स्थान पर 'एत्थु' अव्यय-रूप का प्रयोग प्रदर्शित है ॥ ४-४०५ ॥

यावत्तावतोर्वादेर्मउंमहिं ॥ ४–४०६ ॥

अपभ्रंशे यावत्तावदित्यव्ययो र्वकारादेरवयवस्य म उं महिं इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ॥

जाम न निवडइ कुम्भ-यडि-सीह-चवेड-चडक ।।
ताम समत्तहं मयगलहं पइ-पइ वज्जइ ढक्क ।। १ ।।
तिलहं तिलतणु ताउं पर जाउं न नेह गलन्ति ।।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्ट वि खल होन्ति ।। २ ।।
जामहिं विसमी कज्ज-गई जीवहं मज्झे एइ ।।
तामहिं अच्छउ इयरू जणु सु-अणुवि अन्तरू देइ ।। ३ ।।

अर्थः—संस्कृत भाषा में उपलब्ध 'यावत और तावत्' अव्ययों में अवस्थित अन्त्य अवयव 'वत्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'म, उं और महिं' ऐसे तीन तीन आदेश क्रम से होते हैं। जैसे:— यावत्=जाम अथवा जाउं अथवा जामहिं=जब तक, जितना। तावत=ताम अथवा ताउं अथवा तामहिं=तब तक, उतना ।। सूत्र-संख्या ४-३६७ से 'जाम और ताम' में अवस्थित 'मकार' के स्थान पर अनुनासिक सहित 'वकार' अर्थात 'वँ' की आदेश प्राप्ति भी वैकल्पिक रूप से होने से 'जावँ और तावँ' रूपों की प्राप्ति भी होगी। उक्त अव्यय रूपों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये जो गाथाऐं दी गई हैं; उनका अनुवाद क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—यावत् न निपतति कुम्भतटे, सिंह-चपेटा-चटात्कारः ।।
तावत् समस्तानां मद कलानां (गजानां) पदे पदे वाद्यते ढक्का ।।१।।

हिन्दीः—जब तक सिंह के पञ्जे की चपेटों का चटात्कार याने थाप (हाथियों के) गण्ड-स्थल पर अर्थात् गर्दन-तट पर नहीं पड़ती है; तभी तक मदोन्मत्त सभी हाथियों के डग डग पर (पद पद पर ऐसी ध्वनि उठती है कि मानों) डमरू बाजा बज रहा हो। इस गाथा में 'यावत्' के स्थान पर 'जाम' का प्रयोग किया गया है और 'तावत्' के स्थान पर 'ताम' अव्यय पदों को स्थान दिया गया है ।। १ ।।

संस्कृतः—तिलानां तिलत्वं तावत् परं, यावत् न स्नेहाः गलन्ति ।।
स्नेहे प्रनष्टे ते एव तिलाः तिलाः भ्रष्ट्वा खलाः भवन्ति ।। २ ।।

हिन्दीः—तिलों का तिलपना तभी तक है, जब तक कि तेल नहीं निकलता है। तेल के निकल जाने पर वेही तिल तिलपने से भ्रष्ट होकर (पतित होकर) खल-रूप कहलाने लग जाते हैं। इस गाथा में 'यावत् और तावत्' के स्थान पर क्रम से 'जाउं और ताउं'-रूपों का प्रयोग समझाया गया है ।। २ ।।

संस्कृतः—यावद् विषमा कार्यगतिः, जीवानां मध्ये आयाति ।।
तावद् आस्तामितरः जनः सुजनोऽप्यन्तरं ददाति ।। ३ ।।

हिन्दी.—जब मानव-जीवों के सामने कठोर अथवा विपरीत कार्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है; तब साधारण आदमी की तो बात ही क्या है? सज्जन पुरुष भी बाधा देने लग जाता है। इस गाथा में 'यावत्' के स्थान पर 'जामहिं' लिखा है और 'तावत्' की जगह पर 'तामहिं' बतलाया है। यों क्रम से 'जाम, जाउ और जामहिं' तथा 'ताम, ताउ और तामहिं' अव्यय पदों की स्थिति समझाई है॥ ४-४०६॥

वा यत्तदोतोर्डेवडः ॥ ४-४०७॥

अपभ्रंशे यद् तद् इत्येतयोरत्वन्तयो र्यावत्तावतो र्वकारादेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशो वा भवति॥

जेवडु अन्तरू रावण-रामहं, तेवडु अन्तरू पट्टण-गामहं॥ पक्षे। जेत्तुलो। तेत्तुलो॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में उपलब्ध 'यद्' और 'तद्' सर्वनामों में जब परिमाण-वाचक प्रत्यय 'अतु=अत्' की प्राप्ति होकर 'जितना' अर्थ में 'यावत्' शब्द बनता है तथा 'इतना' अर्थ में 'तावत्' शब्द बनता है तब इन 'यावत्' और 'तावत्' शब्दों में रहे हुए अन्त्य अवयव 'वत' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'डित्' पूर्वक 'एवड' अवयव रूप की विकल्प से आदेश प्राप्ति होती है। 'डित् पूर्वक' ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि 'यावत् और तावत्' शब्दों में 'वत्' अवयव के लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए शब्द-भाग 'या' और 'ता' में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' का भी लोप होकर इन हलन्त भाग 'य् तथा त्' में आदेश प्राप्त 'एवड' भाग की संधि होकर क्रम से इनका रूप 'जेवड और तेवड' बन जाता है। जैसे'—यावत्=जेवड=जितना। तावत्=तेवड=उतना॥ वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ४-४३५ से 'यावत् और तावत्' में डेत्तुल=एत्तुल प्रत्यय की प्राप्ति होकर इसी अर्थ में द्वितीय रूप 'जेत्तुल और तेत्तुल' भी सिद्ध हो जाते हैं। जैसे—यावत्=जेत्तुलो=जितना और तावत्=तेत्तुलो=उतना॥ वृत्ति में दिया गया उदाहरण इस प्रकार से है.—यावद् अन्तर रावण रामयोः तावद् अन्तर पट्टण ग्रामयोः = जेवडु अन्तरू रावण रामहं, तेवडु अन्तरू पट्टण-गामहं=जितना अन्तर रावण और राम में है उतना अन्तर ग्राम और नगर में है॥ ४-४०७॥

वेदं-किमोर्यादेः॥ ४-४०८॥

अपभ्रंशे इदम् किम् इत्येतयोरत्वन्तयोरियत्-कियतो र्यकारादेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशो वा भवति॥

एवडु अन्तरु। केवडु अन्तरू॥ पक्षे। एत्तुलो। केत्तुलो॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'इदम् और किम्' सर्वनामों में परिमाण-वाचक प्रत्यय 'अतु= अत्' की प्राप्ति होकर 'इतना और कितना' अर्थ में क्रम से 'इयत् और कियत्' पदों का निर्माण होता है; इन बने हुए 'इयत् और कियत्' पदों के अन्त्य अवयव रूप 'यत्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में विकल्प से 'डित्' पूर्वक 'एवड' अवयव रूप की आदेश प्राप्ति होता है। 'डित् पूर्वक' कहने का रहस्य यह है कि 'इयत् और कियत्' पदों में से अन्त्य अवयव रूप 'यत्' का लोप हो जाने के पश्चात् शेष रहे हुए शब्दांश 'इ और कि' में स्थित 'इ' स्वर का भी लोप होकर आदेश प्राप्त 'एवड' शब्दांश को संधि होकर क्रम से ('इयत्' के स्थान पर) 'एवड' की और (कियत्' के स्थान पर) 'केवड' की आदेश-प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—इयत् अन्तरं=एवडु अन्तरु = इतना फर्क = इतना भेद। कियत् अन्तरं= केवडु अन्तरु = कितना फर्क ? कितना भेद ? वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में सूत्र-संख्या ४-४३५ से 'इयत्' के स्थान पर 'एत्तुल' की प्राप्ति होगी और 'कियत्' के स्थान पर 'केत्तुल' रूप भी होगा। इयत् कियत् सुखं = एत्तुलु केत्तुलु सुहं = इतना कितना सुख ॥ ४-४०८ ॥

परस्परस्यादिरः ॥ ४-४०९ ॥

अपभ्रंशे परस्परस्यादिरकारो भवति ॥

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं ॥
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहं ॥ १ ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में पाये जाने वाले विशेषण रूप 'परस्पर' में स्थित आदि 'पकार' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'अकार' की आदेश प्राप्ति हो जाती है। जैसे:—परस्परस्य = अवरोप्परहु = आपस का ॥ गाथा का रूपान्तर संस्कृत भाषा में और हिन्दी भाषा में क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—ते मोगलाः हारिताः, ये परिविष्टाः तेषाम् ॥
परस्परं युध्यमानानां स्वामी पीडितः येषाम् ॥१॥

हिन्दीः—परस्पर में युद्ध करने वाले जिन मुगलों का स्वामी पीड़ित था-दुःखी था; और इसलिये उनमें से जो बच गये थे, वे मुगल (म्लेच्छ जाति के सैनिक) हरा दिये गये-उन्हें पराजित कर दिया गया। इस गाथा में 'परस्परं' के स्थान पर 'अवरोप्परु' पद का उपयोग करते हुए आदि पकार के स्थान पर अकार की प्राप्ति प्रदर्शित की गई है ॥ ४-४०९ ॥

कादि-स्थैदोतोरुच्चार-लाघवम् ॥४-४१०॥

अपभ्रंशे कादिषु व्यञ्जनेषु स्थितयोः ए ओ इत्येतयोरुच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति ॥
सुधेँ चिन्तिज्जइ माणु ॥ (४-३९६) ॥ तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लह होँ (४-३३८) ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा के पदों में 'क-ख-ग' आदि सभी व्यञ्जनों में अवस्थित 'एकार' स्वर के स्थान पर और 'ओकार' स्वर के स्थान पर ह्रस्व 'एकार' के रूप में और ह्रस्व 'ओकार' के रूप में प्रायः उच्चारण किया जाता है। जैसेः—सुखेन चिन्त्यते मानः = सुघें चिन्तिज्जइ माणु = सुख से सन्मान विचारा जाता है। इस उदाहरण में 'सुघें' पद के रूप में अवस्थित एकार' स्वर की स्थिति ह्रस्व रूप से प्रदर्शित की गई है। ह्रस्व 'ओ' का उदाहरण यों हैः—

तस्य अहं कलियुगे दुर्लभस्य = तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लह हों = कलियुग में उस दुर्लभ को मैं। यहाँ पर 'दुल्लह हों' पद में रहे हुए 'ओकार' स्वर की स्थिति ह्रस्व रूप से समझाई गई है। (२) गुरू-जनाय = गुरु जणहों = गुरू जन के लिये ॥ ४-४१० ॥

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥४-४११॥

अपभ्रंशे पदान्ते वर्तमानानां उं हुं हिं हं इत्येतेषां उच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति ॥
अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे ॥ वलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥ दइउ घडावइ वणि तरुहुं ॥
तरुहुँ वि वक्कलु ॥ खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं ॥ तणहें तइज्जी भङ्गि नवि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा के पदों के अन्त में यदि 'उं, हुं, हिं, हं' इन चारों अक्षरों में से कोई भी अक्षर आ जाय तो इनका उच्चारण प्रायः ह्रस्व रूप से होता है। उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैः—

(१) अन्यद् यत्तुच्छं तस्याः धन्यायाः = अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे = उस सौभाग्यशालिनी नायिका के दूसरे भी जो (अङ्ग) छोटे हैं। इस चरण में 'तुच्छउ' को 'तुच्छउँ' लिख कर इस 'उ' को ह्रस्व रूप से 'उँ' ऐसा प्रदर्शित किया है।

(२) बलिं करोमि सुजनस्य = वलि किज्जउँ सुअणस्सु = सज्जन पुरुष के लिये मैं बलिदान करता हूँ। इस गाथांश में 'किज्जउ' के स्थान पर 'किज्जउँ' लिख कर 'उँ' की स्थिति ह्रस्व रूप से समझाई है।

(३) देवः घटयति वने तरूणां = दइउ घडावइ वणि तरुहु = विधाता-(ब्रह्मा) जगल में वृक्षों पर बनाता है। इस गाथा भाग में 'तरुहु' पद में 'हु' की स्थिति को 'प्रायः' इस उल्लेख के अनुसार ह्रस्व के रूप से प्रदर्शित नहीं की गई है।

(४) तरुभ्य. अपि वल्कलं = तरुहुँ वि वक्कलु = वृक्षों से भी छाल (रूप वस्त्र) इन पदों में रहे हुए 'तरुहुँ' में 'हु' को 'हुँ' लिख कर उच्चारण की लघुता दिखलाई है।

(५) खड्ग-विसाधितं यत्र लभामहे = खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहु = तलवार (के बल) से प्राप्त होने वाला (लाभ) जहाँ पर हम प्राप्त करें। गाथा के इस भाग में 'लहहु' क्रियापद में अन्त्य अक्षर 'हु' को 'हुँ' नहीं लिख कर लघु उच्चारण की वैकल्पिक स्थिति को सिद्ध की है।

(६) तृणानां तृतीया भङ्गी नापि=तणहँ तइज्जी भङ्गि नवि=तिनकों की तीसरी स्थिति नहीं भी (होती है)। गाथा के इस चरण में 'तणहं' के स्थान पर 'तणहँ' लिख कर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि पदान्त 'हं' का उच्चारण लघु रूप से होने पर 'हँ' ऐसा होता है। इन सब उदाहरणों से और इस सूत्र से यही संविधान किया गया है कि पदान्त में रहे हुए 'उं, हुं, हिं और हं' के स्थान पर उच्चारण-लघुता की दृष्टि से 'उँ, हुँ, हिँ और हँ' ऐसा स्वरूप भी होगा ॥ ४-४११ ॥

म्हो म्भो वा ॥४-४१२॥

अपभ्रंशे म्ह इत्यस्य स्थाने म्भ इति मकाराक्रान्तो भकारो वा भवति ॥ म्ह इति पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः (२-७४) इति प्राकृत-लक्षण-विहितोऽत्र गृह्यते।

संस्कृते तदसंभवात्। गिम्भो। सिम्भो ॥

बम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वङ्ग-छइल्ल ॥
जे वङ्का ते वञ्चयर, जे उज्जुअ ते वइल्ल ॥१॥

अर्थः—सूत्र-संख्या २-७४ में ऐसा विधान आया है कि:—'पक्ष्म' में स्थित 'क्ष्म' के स्थान पर और 'श्म, ष्म, स्म तथा ह्म' के स्थान पर प्राकृत-रूपान्तर में 'म्ह' की आदेश प्राप्ति होती है; तदनुसार आदेश प्राप्त 'म्ह' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में हलन्त मकार सलग्न भकार की अर्थात् 'म्भ' की आदेश प्राप्ति विकल्प से होती है। 'म्ह' का प्राप्ति प्राकृत-भाषा में ही होती है; संस्कृत-भाषा में इसका अभाव है, इसलिये इस सूत्र में जो 'म्ह' के स्थान पर 'म्भ' प्राप्ति का संविधान किया गया है, उसका मूल स्थान प्राकृत-भाषा में रहा हुआ है ऐसा जानना चाहिये। जैसे:—ग्रीष्मः = गिम्हो और गिम्भो=उष्णता की ऋतु। यों अपभ्रंश भाषा मे 'ग्रीष्मः' शब्द के अर्थ में 'गिम्हो और गिम्भो' दोनों प्रकार के पदों का अस्तित्व है। (२) श्लेश्मा = सिम्हो और सिम्भो=कफ-खेंखार। इस उदाहरण में भी 'श्लेश्मा' के दो पद 'सिम्हो और सिम्भो' इस सूत्र के अनुसार बतलाये गये हैं। गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—ब्रह्मन्! ते विरलाः केऽपि नराः, ये सर्वाङ्गच्छेकाः ॥
ये वक्राः ते वञ्च (क) तराः, ये ऋजवः ते बलीवर्दाः ॥

हिन्दीः—ओ ब्राह्मण! ऐसे पुरुष अत्यन्त ही कम है विरल है; जोकि सभी प्रसंगों में अच्छे और चतुर प्रमाणित हों। जो वक्र (टेढ़ी) प्रकृति वाले हैं, वे ठग हैं और जो सीधे अर्थात् चतुराई रहित और विवेक रहित होते हुए स्पष्ट वक्ता हैं वे बैल के समान हैं। इस गाथा में 'ब्रह्मन्' के स्थान पर 'बम्भ' का प्रयोग करके यह प्रमाणित किया है कि अपभ्रंश भाषा में 'म्ह' के स्थान पर विकल्प से 'म्भ' की प्राप्ति देखी जाती है ॥ ४-४१२ ॥

अन्यादृशोन्नाइसावराइसौ ॥ ४-४१३ ॥

अपभ्रंशे अन्यादृश शब्दस्य अन्नाइस अवराइस इत्यादेशौ भवतः ॥ अन्नाइसो । अवराइसो ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध विशेषण शब्द 'अन्यादृश' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'अन्नाइस और अवराइस' ऐसे दो रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—अन्यादृश = अन्नाइसो और अवराइसो = अन्य के समान=दूसरे के जैसा ॥ ४-४१३ ॥

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः ॥ ४-४१४ ॥

अपभ्रंशे प्रायस् इत्येतस्य प्राउ, प्राइव, प्राइम्व, पग्गिम्व इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥

अन्ने ते दीहर लोअण, अन्नु तं भुअ-जुअलु ॥
अन्नु सुघण-थण-हारू, तं अन्नु जि मुह-कमलु ॥
अन्नु जि केस-कलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि ॥
जेण णिअम्बिणि घडिअ, स गुण-लायण्ण-णिहि ॥१॥

प्राइव मुणिहं वि भन्तडी, तें मणिअडा गणन्ति ॥
अखइ निरामइ परमपइ अज्ज वि लउ न लहन्ति ॥२॥

अंसु-जलें प्राइम्व गोरि अहे सहि ! उव्वत्ता नयण-सर ॥
तें सम्मुह सम्पेसिया देन्ति, तिरिच्छी घत्त पर ॥३॥

एसी पिउ रूसेसु हउं रूट्ठी मइं अणुणेइ ॥
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥४॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में पाये जाने वाले अव्यय रूप 'प्रायस्' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में चार रूपों की आदेश प्राप्ति होती है, जो कि क्रम से इस प्रकार हैः—(१) प्राउ, (२) प्राइव, (३) प्राइम्व और (४) पग्गिम्व ॥ आदेश-प्राप्त चारों ही रूपों का अर्थ है—'बहुत करके'। इन एकार्थक चारों ही रूपों का प्रयोग उपरोक्त गाथाओं में किया गया है, जिनका अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैः—

संस्कृतः—अन्ये ते दीर्घे लोचने, अन्यद् तद् भुज युगलम् ॥
अन्यः सघन स्तन भारः, तदन्यदेव मुख कमलम् ॥
अन्य एव केश कलापः, सः अन्य एव प्रायो विधिः ॥
येन नितम्बिनी घटिता, सा गुण लावण्य निधिः ॥१॥

हिन्दी:—(नायिका विशेष का एक कवि वर्णन करता है कि):—उसकी दोनों बड़ी बड़ी आँखें कुछ और ही प्रकार की है-याने तुलना में अनिर्वचनीय है। उसकी दोनों भुजाएँ (भी) असाधारण है। उसका सघन और कठोर एवं उन्नत स्तन-भार है। उसके मुख-कमल की शोभा भी अद्वितीय है। उसके केशों के समूह की तुलना अन्य से नहीं की जा सकती है। वह विधाता ही (ब्रह्मा ही) प्रायः कोई दूसरा ही मालूम पड़ता ; जिसने कि ऐसी विशाल नितम्बों वाली तथा गुण एवं सौन्दर्य के भंडार रूप रमणी-रत्न का निर्माण किया है। इस छंद में 'प्रायः' के आदेश-प्राप्त रूप 'प्राउ' का उपयोग किया गया है ॥१॥

संस्कृतः—प्रायो मुनीनामपि भ्रान्तिः ते मणीन् गणयन्ति ॥
अक्षये निरामये परम पदे अद्यापि लयं न लभन्ते ॥२॥

हिन्दीः—अक्सर करके-बहुत करके मुनियों में भी (ज्ञान-दर्शन चारित्र के प्रति) भ्रांति है विपरीतता है; (इस विपरीतता के कारण से माला फेरते हुए भी केवल) वे मणकों को ही गिनते हैं और इसी कारण से अभी तक 'अक्षय-शाश्वत और दुःख रहित-निरामय मोक्ष पद को नहीं प्राप्त कर सके हैं। इस गाथा में 'प्रायः' की जगह पर 'प्राइव' रूप को स्थान दिया गया है ॥२॥

संस्कृतः—अश्रु जलेन प्रायः गौर्याः सखि ! उद्वृत्ते नयन सरसी ॥
ते सम्मुखे संप्रेषिते दत्तः तिर्यग् घातं परम् ॥३॥

हिन्दीः—हे सखि ! उस गौरा (नायिका विशेष) के दोनों आँखों रूपी तालाब आँसु रूपी जल से प्रायः लबालब भरे हुए है। वे (आँखे) जब किसी को देखने के लिये इधर उधर घुमाई जाती है तो वे (आँखे) बड़ा तेज आघात पहुँचाती है। इस छंद में 'प्रायः' के स्थान पर 'प्राइम्व' आदेश प्राप्त अव्यय का प्रयोग किया गया है ॥३।

संस्कृतः—एष्यति प्रियः, रोषिष्यामि अहं, रुष्टां मामनुनयति ॥
प्रायः एतान् मनोरथान् दुष्करः दयितः कारयति ॥४॥

हिन्दी:—(कोई एक नायिका अपनी सखी से कहती है कि) मेरा प्रियतम पति आवेगा; मैं (उसके प्रति कृत्रिम) रोष करूँगी और जब मुझे क्रोधित हुई देखेगा तो मुझे मनावेगा—खुश करने का

प्रयत्न करेगा। यों मेरे इन मनोरथों को वह कठिनाई से वश में आनेवाला प्रेमी पति प्रायः पूर्ण करेगा अथवा करता है। इस गाथा में 'प्राय' के स्थान पर आदेश-प्राप्ति के रूप में होने वाले चौथे शब्द 'पग्गिम्व' को प्रदर्शित किया गया है ॥४॥ ॥४-४१४॥

वान्यथोनुः ॥ ४-४१५ ॥

अपभ्रंशे अन्यथा शब्दस्य अनु इत्यादेशो वा भवति ॥ पक्षे । अन्नह ॥

विरहाणल-जाल-करालिअउ, पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअओ ॥
अनु सिसिर-कालि सीअल-जलहु धूमु कहन्ति हु उट्ठिअओ ॥१॥

अर्थः—'अन्य प्रकार से-दूसरी तरह से' इस अर्थ में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत अव्यय शब्द 'अन्यथा' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में विकल्प से 'अनु' शब्द रूप की आदेश प्राप्ति होती है। वैकल्पिक पक्ष होने से पक्षान्तर में 'अन्नह' रूप का भी प्राप्ति होगी। जैसेः—अन्यथा=अनु अथवा अन्नह=अन्य प्रकार से अथवा दूसरी तरह से। गाथा का अनुवाद यों है.—

संस्कृतः—विरहानल ज्वाला करालितः पथिकः कोऽपि मङ्क्त्वा स्थितः ॥
अन्यथा शिशिर-काले शीतल जलात् धूमः कुतः उत्थितः ॥१॥

हिन्दी—अपनी प्रियतमा पत्नी के वियोग रूपी अग्नि की ज्वालाओं से पीड़ित होता हुआ कोई यात्री-पथिक विशेष जल में डुबकी लगाकर ठहरा हुआ है; यदि वह (अग्नि ज्वाला से ज्वलित) नहीं होता तो ठंड की ऋतु में ठंडे जल में से धूँआ (वाष्प रूप) कहाँ से उठता ? इस सुन्दर कल्पनामयी गाथा में 'अन्यथा' के स्थान पर 'अनु अव्यय रूप का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है । ४-४१५ ॥

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥ ४-४१६ ॥

अपभ्रंशे कुतस् शब्दस्य कउ, कहन्तिहु इत्यादेशौ भवतः ॥

महु कन्तहो गुट्ठ-ट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ॥
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ॥१॥

धूमु कहन्तिहु उट्ठिअउ ॥

अर्थः—'कहाँ से' इस अर्थ में प्रयुक्त किये जाने वाले संस्कृत अव्यय शब्द 'कुत' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'कउ और कहन्तिहु' ऐसे दो अव्यय शब्द रूपों की आदेश प्राप्ति होती है। जैसेः—कुतः=कउ और कहन्तिहु=कहाँ से ? गाथा में क्रम से इन दोनों का प्रयोग किया गया है, इसका अनुवाद यों है·—

संस्कृतः—मम कान्तस्य गोष्ठ स्थितस्य, कुतः कुटीरकाणि ज्वलन्ति ॥
अथ रिपुरुधिरेण आर्द्रयति अथ आत्मना, न भ्रान्तिः ॥१॥

हिन्दीः—अपने भवन में रहते हुए मेरे प्रियतम पति देव की उपस्थिति में झोंपड़ियाँ कैसे—(कहाँ से-किस कारण से) अग्नि द्वारा जल सकती हैं? (क्योंकि ऐसा होने पर) उन झोंपड़ियों को यातो वह (पति देव) शत्रुओं के रक्त से उनको बुझा देगा अथवा अपने खुद के (लड़ते हुए शरीर में से निकले हुए) खून से उन्हें बुझा देगा, इनमें सन्देह करने जैसी कोई बात नहीं है। इस गाथा में 'कुतः' के स्थान पर आदेश-प्राप्त रूप 'कउ' का प्रयोग किया गया है ॥१।

(२) धूमः कुतः उत्थितः=धूमु कहन्तिहु उट्ठियउ=धूआँ कहाँ से-(किस कारण से) उठा हुआ है? इस गाथा चरण में 'कुतः' के स्थान पर आदेश प्राप्त द्वितीय रूप 'कहन्तिहु' का उपयोग किया गया है ॥ ४४१६ ॥

ततस्तदोस्तोः ॥ ४–४१७ ॥

अपभ्रंशे ततस् तदा इत्येतयोस्तो इत्यादेशो भवति ॥

जइ भग्गा पारकडा, तो सहि! मज्झु पिएण ॥
अह भग्गा अम्हहं, तणा तो तें मारिअडेण ॥१॥

अर्थः—'यदि वैसा है तो-अथवा उस कारण से है तो' इस अर्थ में संस्कृत-भाषा में 'ततः' अव्यय का प्रयोग किया जाता है; इसी 'ततः' अव्यय के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'तो' अव्यय रूप की आदेश प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से 'तबतो' अर्थ में संस्कृत-भाषा में 'तदा' अव्यय प्रयुक्त किया जाता है; इस तदा' अव्यय के स्थान पर भी अपभ्रंश भाषा में 'तो' अव्यय रूप की ही आदेश प्राप्ति समझनी चाहिये। यों 'ततः' और 'तदा' दोनों ही अव्ययों के स्थान पर एक जैसे ही 'तो' रूप की आदेश प्राप्ति होती हुई देखी जाती है। जैसेः—ततस्तदा वा जिनागमान् द्योतय=तो जिण-आगम जोइ=यदि वैसा है तो अथवा तबतो जैन-शास्त्रों को देख। इस उदाहरण मे 'ततः और तदा' के स्थान पर एक ही अव्यय रूप 'तो' की प्ररूपणा की गई है। गाथा का भाषान्तर इस प्रकार है:—

संस्कृतः—यदि भग्नाः परकीयाः, ततः सखि! मम प्रियेण ॥
अथ भग्नाः अस्मदीयाः; तदा तेन मारितेन ॥१॥

हिन्दीः—हे सखि! यदि शत्रु-गण मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं; अथवा (रण-क्षेत्र को छोड़कर के) भाग गये हैं तो (यह सब विजय) मेरे प्रियतम के कारण से (ही है)। अथवा यदि अपने पक्ष के वीर पुरुष रण-क्षेत्र को छोड़ करके भाग खड़े हुए हैं तो (भी समझो कि) मेरे प्रियतम के वीर गति प्राप्त करने

के कारण से (ही ये निराश होकर रण-क्षेत्र को छोड़ आये हैं)। इस गाथा में 'ततः और तदा' अव्ययों के स्थान पर एक जैसे ही रूप वाले 'तो' अव्यय रूप का प्रयोग किया गया है ॥ ४-४१७ ॥

एवं-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाक-एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं ॥४-४१८॥

अपभ्रंशे एवमादीनाम् एम्वादय आदेशा भवन्ति ॥

एवम्=एम्व ।

पिय-संगमि कउ निद्दडी, पिअहो परोक्खहो केम्व ?
मइं बिन्नि वि विन्नासिआ, निद् न एम्व न तेम्व ॥१॥

परमः परः । गुणहिं न संपइ, कित्ति पर ॥

समम: समाणुः ॥

कन्तुजु सीहहो उवमिअइ, तं महु खण्डिउ माणु ॥
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥२॥

ध्रुवमो ध्रुवुः ।

चञ्चलु जीविउ, ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं ॥
होसहिँ दिअहा, रूसणा दिव्वइँ वरिस-सयाइं ॥३॥

मो मं । मं धणि करहि विसाउ ॥ प्रायो ग्रहणात् ॥

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ॥
मा दुज्जण-कर-पल्लवेहिं देसिज्जन्तु भमिज्ज ॥४॥
लोणु विलिज्जइ पाणिएण, अरिखल मेह ! म गज्जु ॥
बालिउ गलइ सुझुंपडा, गोरी तिम्मइ अज्जु ॥५॥

मनाको मणाउं ॥

विहवि पणट्ठई वङ्कुडउ रिद्धिहिं जण-सामन्नु ॥
किं पि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥६॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में पाये जाने वाले अव्ययों का अपभ्रंश भाषा में भाषान्तर करने पर उनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है; उसी परिवर्तन का सविधान इस सूत्र में किया गया है। इस परिवर्तन को यहां पर 'आदेश-प्राप्ति' के नाम से लिखा गया है। अव्ययों की क्रम से सूची इस प्रकार है.—

(१) एवं=एम्व=इस प्रकार से अथवा इस तरह से। (२) परं=पर=किन्तु=परन्तु। (३) समं=समाणु=साथ। (४) ध्रुवं=ध्रुवु=निश्चय ही। (५) मा=मं=मत, नहीं। (६) मनाक्=मणाउं=थोड़ा सा भी-अल्प भी। इन्हीं अव्ययों का प्रयोग क्रम से गाथाओं में समझाया गया है; तदनुसार इन गाथाओं का संस्कृत में तथा हिन्दी में भाषान्तर क्रम से इस प्रकार से है:—

संस्कृत:—प्रिय संगमे कथं निद्रा ? प्रियस्य परोक्षे कथम् ?
मया द्वे अपि विनाशिते, निद्रा नैवं न तथा ॥

हिन्दी:—प्रियतम पतिदेव के सम्मेलन होने पर (सुख के कारण से) निद्रा कैसे आ सकती है ? और प्रियतम पति देव के वियोग में भी (वियोग-जनित-दुःख होने के कारण से भी) निद्रा कैसे आ सकती है ? मेरी निद्रा दोनों ही प्रकार से नष्ट हो गई है; न इस प्रकार से और न उस प्रकार से। इस गाथा में संस्कृत अव्यय 'एवं' के स्थान पर 'एम्व' का प्रयोग समझाया गया है। 'कथं' के स्थान पर 'केम्व' और 'तथा' के स्थान पर 'तेम्व' की स्थिति की भी कल्पना स्वयमेव कर लेना चाहिए॥१॥

(२) गुणैः न संपत् कीर्तिः परं=गुणहि न संपइ कित्ति पर=गुणों से लक्ष्मी नहीं (प्राप्त होती है) किन्तु कीर्ति (ही प्राप्त होती है)। इस चरण मे 'परं' अव्यय के स्थान पर आदेश प्राप्त अव्यय रूप 'पर' का उपयोग किया गया है।

संस्कृत:—कान्तः यत् सिंहेन उपमीयते, तन्मम खण्डितः मानः॥
सिंहः नीरक्षकान् गजान् हन्ति; प्रियः पदरक्षैः समम् ॥

हिन्दी:—यदि मेरे पति की तुलना सिंह से की जाती है तो इससे मेरा मान-मेरा गौरव-खण्डित हो जाता है; क्योंकि सिंह तो ऐसे हाथियों को मारता है; जिनका कि कोई रक्षक नहीं है; (अर्थात् रक्षक-हीन को मारने में कोई वीरता नहीं है); जबकि मेरा प्रियतम पतिदेव तो रक्षा करने वाले सैनिकों के साथ शत्रु-राजा को मारता है। यों तुलना में मेरा पति सिंह से भी बढ़ चढ़ कर है। इस गाथा में 'समं' अव्यय के स्थान पर 'समाणु' अव्यय का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है॥२॥

संस्कृतः—चञ्चलं जीवितं, ध्रुवं मरणं, प्रिय! रुष्यते कथं ?
भविष्यन्ति दिवसा रोषयुक्ताः (रूसणा) दिव्यानि वर्ष-शतानि ॥३॥

हिन्दी:—जीवन चंचल है अर्थात् किसी भी क्षण में नष्ट हो सकता है और मृत्यु ध्रुव याने निश्चित है तो ऐसी स्थिति में हे प्रियतम पतिदेव! रोष याने क्रोध क्यों किया जाय ? यदि रोष युक्त दिन व्यतीत होंगे तो हमारा प्रत्येक दिन 'देवलोक में गिने जाने वाले सौ सौ वर्षों के समान' लम्बा और नहीं काटा जा सकने जैसा प्रतीत होगा। इस गाथा में 'ध्रुवं' के स्थान पर आदेश प्राप्त रूप 'ध्रुवु' का प्रयोग किया गया है॥३॥

'मत नहीं' अर्थक 'मा' अव्यय के स्थान पर 'मं' के प्रयोग का उदाहरण यों है:—मा धन्ये ! कुरु विषादम्=मं धणि ! करहि विसाउ=हे धन्यशील नायिके ! तू खेद को मत कर-खिन्न मत हो। 'प्रायः' के साथ आदेश-प्राप्ति का विधान होने से अनेक स्थानों पर 'मा' के स्थान पर 'मा' का ही और 'म' का भी प्रयोग देखा जाता है। 'मा' और 'म' के उदाहरण गाथा संख्या चार में और पाँचमें क्रम से बतलाये गये हैं; उनका अनुवाद यों है.—

संस्कृतः—माने प्रनष्टे यदि न तनुः तत् देशं त्यजेः ॥
मा दुर्जन-कर-पल्लवैः दर्श्यमानः भ्रमेः ॥४॥

हिन्दी —यदि आपका मान-सन्मान नष्ट हो जाय तो शरीर का ही परित्याग कर देना चाहिये और यदि शरीर नहीं छोड़ा जा सके तो उस देशका ही (अपने निवास-स्थान का ही) परित्याग कर देना चाहिये; जिससे कि दुष्ट पुरुषों के हाथ की अंगुली अपनी ओर नहीं उठ सके अर्थात् वे हाथ द्वारा अपनी ओर इशारा नहीं कर सकें और यों हम उनके आगे नहीं घूम सकें ॥४॥

संस्कृतः—लवणं विलीयते पानीयेन, अरे खल मेघ ! मा गर्ज ॥
ज्वालितं गलति तत्कुटीरकं, गोरी तिम्यति अद्य ॥५॥

हिन्दीः—नमक (अथवा लावण्य-सौन्दर्य) पानी से गल जाता है-याने पिगल जाता है। अरे दुष्ट बादल ! तू गर्जना मत कर। जली हुई वह झोंपड़ी गल जायगी और उसमें (बैठी हुई) गौरी-(नायिका-विशेष) आज गीली हो जायगी भीग जायगी ॥५॥ चौथी गाथा में 'मा' के स्थान पर 'मा' ही लिखा है और पाँचवीं में 'मा' की जगह पर केवल 'म' ही लिख दिया है ॥

संस्कृतः—विभवे प्रनष्टे वक्रः ऋद्धौ जन-सामान्यः ॥
किमपि मनाक् मम प्रियस्य शशी अनुहरति, नान्यः ॥६॥

हिन्दी.—संपत्ति के नष्ट होने पर मेरा प्रियतम पतिदेव टेढ़ा हो जाता है अर्थात् अपने मान-सन्मान-गौरव को नष्ट नहीं होने देता है और ऋद्धि की प्राप्ति में याने संपन्नता प्राप्त होने पर सरल-सीधा हो जाता है। मुझे चन्द्रमा की प्रवृत्ति भी ऐसी ही प्रतीत होती है; वह भी कलाओं के घटने पर टेढ़ा-चक्राकार हो जाता है और कलाओं की संपूर्णता में सरल याने पूर्ण दिखाई देता है। यों कुछ अनिर्वचनीय रूप में चन्द्रमा मेरे पतिदेव की थोड़ी सी नकल करता है; अन्य कोई भी ऐसा नहीं करता है। इस गाथा में 'मनाक्' अव्यय के स्थान पर 'मणाउ' रूप का प्रयोग किया गया है ॥६॥ ४-४१८ ॥

किलाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवेसहुं नाहिं ॥ ४-४१९ ॥

अपभ्रंशे किलादीनां किरादय आदेशा भवन्ति ॥

किलस्य किरः ॥

किर खाइ न पिअइ,न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ ॥
इह किवणु न जाणइ, जइ जमहो खणेण पहुच्चइ दूअडउ ॥१॥

अथवो हवइ ॥ अह वइ न सुवंसहं एह खोडि ॥ प्रायोधिकारात् ॥

जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु ॥
जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि निवाणु ॥२॥

दिवो दिवे । दिवि दिवि गङ्गा-ण्हाणु ॥ सहस्य सहुं ॥

जउ पवसन्तें सहुं न गयअ न मुअ विओएं तस्सु ॥
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिं सुहय-जणस्सु ॥३॥

नहे नाहिं ।

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु, एत्तहे वडवानल आवट्टइ ॥
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ ॥४॥

अर्थः—इस सूत्र में भी अव्ययों का ही वर्णन है। तदनुसार संस्कृत भाषा में उपलब्ध अव्ययों के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में जिस रूप में आदेश प्राप्ति होती है; वह स्थिति इस प्रकार से है:—(१) किल = किर = निश्चय ही। (२) अथवा = अहवइ = अथवा = विकल्प से इसके बराबर यह। (३) दिवा = दिवे = दिन-दिवस। (४) सह = सहुं = साथ में। (५) नहि = नाहिं = नहीं। यों अपभ्रंश भाषा में 'किल' आदि अव्ययों के स्थान पर 'किर' आदि रूप में आदेश प्राप्ति होती है। इन अव्ययों का उपयोग वृत्ति में दी गई गाथाओं में किया गया है। उनका अनुवाद क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—किल न खादति, न पिबति न विद्रवति, धर्मे न व्ययति रूपकम् ।
इह कृपणो न जानाति, यथा यमस्य क्षणेन प्रभवति दूतः ॥

हिन्दीः—निश्चय ही कंजूस न (अच्छा) खाता है और न (अच्छा) पीता है। न सदुपयोग ही करता है और न धर्म-कार्यों में ही अपने धन को व्यय करता है। किन्तु कृपण इस बात को नहीं जानता है कि अचानक ही यमराज का दूत आकर क्षण भर में ही उसको उठा लेगा। उस पर मृत्यु का प्रभाव डाल देगा। इस गाथा में 'किल' अव्यय के स्थान पर आदेश प्राप्त 'किर' अव्यय का उपयोग समझाया गया है ॥१॥

संस्कृत.—अथवा न सुवंशानामेष दोषः=अहवइ न सुवंसह एह खोडि = अथवा श्रेष्ठ वंश वालों का–उत्तम खानदान वालों का–यह अपराध नहीं है। इस गाथा चरण में 'अथवा' के स्थान पर 'अहवइ' रूप की आदेश-प्राप्ति बतलाई है। 'प्राय' रूप से विधान का अधिकार होने के कारण से 'अथवा' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में अनेक स्थानों पर 'अहवा' रूप भी देखा जाता है। इस सम्बन्धी उदाहरण गाथा-संख्या दो में यों है —

संस्कृतः—यायते (गम्यते) तस्मिन् देशे, लभ्यते प्रियस्य प्रमाणम् ॥
यदि आगच्छति तदा आनीयते, अथवा तत्रैव निर्वाणम् ॥२॥

हिन्दीः—मैं उस देश में जाती हूँ; जहाँ पर कि प्रियतम पतिदेव की प्राप्ति के चिह्न पाये जाते हों। यदि वह आता है तो उसको यहाँ पर लाया जायगा अथवा नहीं आवेगा तो मैं वहीं पर ही अपने प्राण दे दूँगी। इस गाथा में 'अथवा' की जगह पर 'अहवा' रूप लिखा हुआ है ॥२॥

संस्कृत.—दिवसे दिवसे (दिवा दिवा) गङ्गा-स्नानम्=दिवि-दिवि-गंगा-ण्हाणु=प्रत्येक दिन गंगा स्नान (करने जितना पुण्य प्राप्त होता है) इस गाथा-पद में 'दिवा' के स्थान पर 'दिवे=दिवि' रूप का उल्लेख किया गया है।

संस्कृतः—यत् प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य ॥
लज्ज्यते संदेशान् ददतीभिः (अस्माभिः) सुभग जनस्य ॥३॥

हिन्दी.—जब मेरे पतिदेव विदेश-यात्रा पर गये तब मैं उनके साथ में भी नहीं गई और उनके वियोग में भी (विरह-जनित-दुख से) मृत्यु को भी नहीं प्राप्त हुई-मृत्यु भी नहीं आई; ऐसी स्थिति में उनको संदेश भेजने में मुझे लज्जा आती है। इस गाथा में 'सह' अव्यय के स्थान पर आदेश-प्राप्त 'सहु' अव्यय का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है ॥३॥

संस्कृतः—इतः मेघाः पिबन्ति जलं, इतः वडवानलः आवर्तते ॥
प्रेक्षस्व गभीरिमाणं सागरस्य एकापि कणिका नहि अपभ्रश्यते ॥४॥

हिन्दीः—समुद्र के जल को एक ओर तो ऊपर से मेघ-बादल-पीते हैं और दूसरी ओर अन्दर से समुद्राग्नि उसको अपने उदरस्थ करती जाती है। यों समुद्र की गंभीरता को देखो कि इसकी एक बूंद भी व्यय में नहीं जाती है। इस गाथा में 'नहि' अव्यय के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'नाहिं' अव्यय रूप की प्ररूपणा की गई है ॥४॥ ४-४१९ ॥

पश्चादेवमेवैवेदानीं–प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि
एम्वहि पच्चलिउ एत्तहे ॥४–४२०॥

अपभ्रंशे पश्चादादीनां पच्छइ इत्यादय आदेशा भवन्ति ॥ पश्चातः पच्छइ । पच्छइ होइ विहाणु ॥ एवमेवस्य एम्वइ । एम्वइ सुरउ समत्तु ॥ एवस्य जिः ॥

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउं कइ पय देइ ॥
हिअइ तिरिच्छी हउं जि पर पिउ डम्बरइं करेइ ॥१॥

इदानीम एम्वहिं ।

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ॥
एम्वहिं राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ ॥२॥

प्रत्युतस्य पच्चलिउ ॥

साव-सलोणी गोरडी नवखी कवि विस-गण्ठि ॥
भडु पच्चलिउ सो मरइ, जासु न लग्गइ कण्ठि ।३।

इतस एत्तहे ॥ एत्तहे मेह पिअन्ति जलु ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में पाये जाने वाले अव्ययों के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में जैसी आदेश-प्राप्ति होती है; उसीका वर्णन चालू है । तदनुसार इस सूत्र में छह अव्ययों को आदेश-प्राप्ति समझाई गई है । वे छह अव्यय अर्थ पूर्वक क्रम से इस प्रकार से हैं:—

(१) पश्चात = पच्छइ = पीछे-बाद में ।

(२) एवमेव = एम्वइ = ऐसा ही-इस प्रकार का हो ।

(३) एव = जि = ही-निश्चय ही ।

(४) इदानीम् = एम्वहिं=इसी समय मे-अभी ।

(५) प्रत्युत = पच्चलिउ=वैपरीत्य--उल्टापना ।

(६) इतः = एत्तहे=इस तरफ-इधर-एक ओर । यों संस्कृतीय अव्यय 'पश्चात' आदि के स्थान पर 'पच्छइ' आदि रूप से आदेश-प्राप्ति होती है । उपरोक्त छह अव्ययों के उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं:—

(१) पश्चाद् भवति विभातम्=पच्छइ होइ विहाणु=पीछे (तत्काल ही) प्रभात-प्रातःकाल हो जाता है ।

(२) एवमेव सुरतं समाप्तम्=एम्वइ सुरउ समत्तु=इस प्रकार से ही-(हमारा) सुरत (रति-कार्य) समाप्त हो गया ॥

(३) संस्कृतः—यातु, मा यान्तं पल्लवत, द्रक्ष्यामि कति पदानि ददाति ॥
हृदये तिरश्चीना अहमेव परं प्रियः आडम्बराणि करोति ॥१॥

हिन्दीः—यदि (मेरा पति) जाता है तो जाने दो; जाते हुए उसको मत बुलाओ ! मैं (भी) देखती हूँ कि वह कितने डग भरता है ? कितनी दूर जाता है ? क्योंकि मैं उसके हृदय में (आगे बढ़ने के लिये) बाधा रूप ही हूँ। (अर्थात मेरा वह परित्याग नहीं कर सकता है) । इसलिये मेरा प्रियतम (जाने का) आडम्बर मात्र ही (केवल ढोंग ही) करता है। इस गाथा में 'अहमेव' पद के स्थान पर 'हउ जि' पद का प्रयोग करके यही समझाया है कि 'एव' अव्यय के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में 'जि' अव्यय रूप की आदेश-प्राप्ति होती है ॥१॥

(४) संस्कृतः—हरिः नर्तितः प्राङ्गणे, विस्मये पातितः लोकः ॥
इदानीम् राधा-पयोधरयोः यत् (प्रति) भाति, तद् भवतु ॥२॥

हिन्दीः—हरि (कृष्ण) आंगन में नाचा अथवा नचाया गया और इससे जन-साधारण (दर्शक-वर्ग) आश्चर्य (सागर) में डूब गया (अथवा डुबाया गया) (सत्य है कि इस समय में राधा-रानी के दोनों स्तनों को जो कुछ भी अच्छा लगता हो, वह होवे । (उसके अनुसार कार्य किया जावे) ॥ इस गाथा में 'इदानीं' अव्यय के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'एम्वहिं' आदेश-प्राप्त-अव्यय-रूप का प्रयोग प्रस्तुत किया गया है ॥२॥

(५) संस्कृतः—सर्वसलावण्या गौरी नवा कापि विष-ग्रन्थिः ॥
भटः प्रत्युत स म्रियते यस्य न लगति कण्ठे ॥३॥

हिन्दीः—वह सर्व-लावण्य-सौन्दर्य-संपन्न रमणी कुछ नवीन ही प्रकार की (आश्चर्य जनक) विष की (जहर की) गाठ है जिसके कंठ का आलिंगन यदि (अमुक) नवयुवक पुरुष नहीं करता है तो उल्टा मृत्यु को प्राप्त होता है । (जहर के आस्वादन से मृत्यु प्राप्त होती है परन्तु यह जहर कुछ अनोखा ही है कि जिसका यदि आस्वादन नहीं किया जाय तो उल्टी मृत्यु प्राप्त हो जाती है)। इस अपभ्रंश छंद में 'प्रत्युत' अव्यय के स्थान पर 'पच्चलिउ' आदेश प्राप्त अव्यय रूप का प्रचलन प्रमाणित किया है ॥३॥

(६) इत मेघाः पिबन्ति जल=एत्तहे मेह पिअन्ति जलु=इस तरफ (इधर एक ओर तो) मेघ-बादल-जल को पीते हैं। इस चरण में 'इत-' के स्थान पर 'एत्तहे' रूप की आदेश प्राप्ति समझाई है ॥४-४२०॥

विषण्णोक्त-वर्त्मनो-वुन्न-वुत्त-विच्चं ॥४-४२१॥

अपभ्रंशे विषण्णादीनां वुन्नादय आदेशा भवन्ति ॥ विषण्णस्य वुन्नः ।

मइं वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेहिं विगुत्ताइं ॥
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं ॥१॥

उक्तस्य वुत्तः। मइं वुत्तउं ॥ वर्त्मनो विच्चः। जं मणु विच्चि न माइ ॥

अर्थः—संस्कृत भाषा में पाये जाने वाले दो कृदन्त शब्दों के स्थान पर और एक संज्ञा वाचक शब्द के स्थान पर जो आदेश प्राप्ति अपभ्रंश भाषा में पाई जाती है, उसका संविधान इस सूत्र में किया गया है। वे इस प्रकार से हैं:—(१) विषण्ण=वुन्न=खेद पाया हुआ, दुखी हुआ डरा हुआ। (२) उक्त=वुत्त=कहा हुआ; बोला हुआ। (३) वर्त्मन्=विच्च=मार्ग रास्ता ॥ इन आदेश प्राप्त शब्दों के उदाहरण वृत्ति में दिये गये हैं; तदनुसार उनका अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैं:—

संस्कृतः—मया उक्तं, त्वं धुरं धर, गलि वृषभैः (कसर) विनाटिताः ॥
त्वया विना धवल नारोहति भरः, इदानीं विषण्णः किम् ॥१॥

हिन्दीः—मुझ से कहा गया था कि-'ओ श्वेत बैल! तुम ही धुरा को धारण करो। हम इन कमजोर बैठ जाने वाले बैलों से हैरान हो चुके हैं। यह भार तेरे विना नहीं उठाया जा सकता है। अब तू दुःखी अथवा डरा हुआ अथवा उदास क्यों है? इस गाथा में कृदन्त शब्द 'विषण्णः' के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में आदेश-प्राप्त 'वुन्नउ' शब्द का प्रयोग समझाया है ॥१॥

(२) मया उक्तम्=मइं वुत्तउं=मेरे से कहा गया अथवा कहा हुआ। इस चरण में 'उक्तम्' के स्थान पर 'वुत्तउं' की आदेश-प्राप्ति बतलाई है।

(३) येन मनो वर्त्मनि न माति=जं मणु विच्चि न माइ=जिस (कारण) से मन मार्ग में नहीं समाता है। इस गाथा चरण में 'वर्त्मनि' पद के स्थान पर 'विच्चि' पद की आदेश प्राप्ति हुई है। यों तीनों आदेश-प्राप्त शब्दों की स्थिति को समझ लेना चाहिये। ॥ ४-४२१ ॥

शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ॥ ४–४२२ ॥

अपभ्रंशे शीघ्रादीनां वहिल्लादय आदेशा भवन्ति ॥

एक्कु कइअ ह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ॥
मइं मित्तडा प्रमाणिअउ पइं जेहउ खलु नाहिं ॥१॥

झकटस्य घङ्घलः ॥

जिवँ सुपुरिस तिवँ घङ्घलइं, जिवँ नइ तिवँ वलणाइं ॥
जिवँ डोङ्गर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं ॥२॥

अस्पृश्य संसर्गस्य विट्टालः ॥

जे छड्डेविणु रयण निहि अप्पउं तडि घल्लन्ति ॥
तहं सङ्खहं विट्टालु पर फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥ ३ ॥

भयस्य द्रवक्कः ॥

दिवेहिं विढत्तउं खाहि, वढ संचि म एक्कु वि द्रम्मु ॥
को वि द्रवक्कउ सो पडइ, जेण समप्पइ जम्मु ॥ ४ ॥

आत्मीयस्य अप्पण ॥ फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं ॥ दृष्टे द्रेहिः ॥

एक्कमेक्कउं जइ वि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण ॥
तो वि द्रेहि जहिं कहिं वि राही ॥ को सक्कइ संवरेवि दड्ढ-
नयणा नेहिं पलुट्टा ॥५॥

गाढस्य निच्चट्टः ॥

विहवे कस्सु थिरत्तणउं, जोव्वणि कस्सु मरट्टु ॥
सो लेखडउ पठाविअइ, जो लग्गइ निच्चट्टु ॥ ६॥

असाधारणस्य सड्ढलः ॥

कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं वरिहिणु कहिं मेहु ॥
दूर-ठिआहं वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥७॥

कौतुकस्य कोड्डः ॥

कुञ्जरु अन्नहं तरु-अरहं कोड्डेण घल्लइ हत्थु ॥
मणु पुणु एक्कहिं सल्लइहिं जइ पुच्छह परमत्थु ॥८॥

क्रीडायाः खेड्डः ॥

खेड्डयं कय मम्हेहिं निच्छयं किं पयम्पह ॥
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥९॥

रम्यस्य रवण्णः ॥

सरिहिं न सरेहिं, न सरवरेहिं नवि उज्जाण-वणेहिं ॥
देस रवण्णा होन्ति, वढ ! निवसन्तेहि सु-अणेहि ॥१०॥

अद्भुतस्य ढक्करिः ॥

हिअडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सय-वार ॥
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउं भण्डय ढक्करि-सार ॥११॥

हे सखीत्यस्य हेल्लिः ॥ हेल्लि ! म झङ्खहि आलु ॥ पृथक्-पृथगित्यस्य जुअं जुअः ॥

एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रुद्धी तहं पञ्चहं वि जुअं जुअ बुद्धी ॥
बहिणुए तं घरु कहि किवँ नन्दउ जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण-छंदउं ॥१२॥

मूढस्य नालिअ-वढौ ॥

जो पुणु मणि जि खस फसिहूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रूअउ ॥
रइ वस-भमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ ॥१३॥

दिवेहिं विढत्तउं खाहि वढ ॥ नवस्य नवखः नवखी कवि विस-गण्ठि ॥ अवस्कन्दस्य दडवडः ॥

चलेहिं चलन्तेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा बालि ॥
तहिं मयर-द्धय-दडवडउ, पडइ अपूरइ कालि ॥१४॥

यदेश्छुडुः ॥ छुडु अग्घइ ववसाउ ॥ सम्बन्धिनः केर-तणौ ॥

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं ॥
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥१५॥

अह भग्गा अम्हहं तणा ॥ मा भैषीरित्यस्य मब्भीसेति स्त्रीलिंगम् ॥

सत्थावत्थहं आलवणु साहु वि लोउ करेइ ॥
आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥१६॥

यद्-यद्-दृष्टं तत्तदित्यस्य जाइट्ठिआ ॥

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्ध-सहाव ॥
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेवइ ताव ॥१७॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में पाये जाने वाले अनेक शब्दों के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में ऐसे ऐसे शब्दों की आदेश प्राप्ति देखी जाती है जो कि मूलतः देशज भाषाओं के और प्रान्तीय बोलियों के शब्द हैं। तदनुसार इस सूत्र में ऐसे इक्कीस शब्दों की आदेश-प्राप्ति बतलाई है जो कि मूलतः देशज होते हुए भी अपभ्रंश-भाषा में प्रयुक्त होते हुए पाये जाते हैं। हिन्दी-अर्थ बतलाते हुए संस्कृत भाषान्तर पूर्वक इनकी स्थिति क्रम से इस प्रकार है:—

(१) शीघ्रम् = वहिल्ल = जल्दी,

(२) झकट = घघल = झगड़ा, कलह।

(३) अस्पृश्य-संसर्ग = विट्टाल = नहीं छूने लायक वस्तु के साथ अथवा पुरुष के साथ की संगति हो जाना, अपवित्रता होना।

(४) भय = द्रवक्क = भय, डर, भीति।

(५) आत्मीय = अप्पण = खुद का।

(६) दृष्टि = द्रेहि = नजर, दृष्टि।

(७) गाढ = निच्चट्ट = गाढ़, मजबूत, निविड, सघन।

(८) साधारण = सड्ढल = साधारण, मामूली, सर्व सामान्य।

(९) कौतुक = कोड्ड = आश्चर्य, कौतुक, कुतूहल, आश्चर्यमय खेल।

(१०) क्रीडा = खेड्ड = खेल।

(११) रम्य = रवण्ण = सुन्दर, मन को मोहित करने वाला।

(१२) अद्भुत = ढक्करि = अनोखा, आश्चर्य-जनक।

(१३) हे सखि = हे हेल्लि = हे दारिका हे सहेली।

(१४) पृथक्-पृथक = जुअ जुअ = अलग अलग।

(१५) मूढ = नालिअ तथा वढ = मूर्ख, बेवकूफ अज्ञानी।

(१६) नव = नवख = नया ही, अनोखा ही।

(१७) अवस्कन्द = दडवड = शीघ्र, जल्दी, शीघ्रता पूर्वक दबाव का पड़ना।

(१८) यदि = छुडु = यदि, जो, शीघ्र, तुरन्त।

(१९) सम्बन्धी = केर और तण = सम्बन्ध वाला, सम्बन्धी चीज, जिसके कारण से।

(२०) मा भैषीः = मब्भीसा = मत डर, अभय वचन।

(२१) यद्-यद्-दृष्टं = जाइ ट्ठिआ = जिस जिस को देखते हुए, जिस जिस को देख कर के, देखे हुए जिस जिस के साथ। वृत्ति में इन इक्कीस ही शब्दों का प्रयोग गाथाओं द्वारा तथा गाथा चरणों द्वारा समझाया गया है; तदनुसार उन गाथाओं का और उन गाथा-चरणों का संस्कृत-भाषान्तर पूर्वक हिन्दी अर्थ क्रम से यों हैः—

संस्कृत—(१) एकं कदापि नागच्छसि, अन्यत् शीघ्रं यासि ॥
मया मित्र प्रमाणितः, त्वया यादृशः (त्वं यथा) खलः न हि ॥१॥

हिन्दी—तुम कभी भी एक बार भी मेरे पास नहीं आते हो और दूसरी जगह पर तुम शीघ्रता पूर्वक जाते हो; इससे हे मित्र ! मैंने समझ लिया है कि तुम्हारे समान दुष्ट कोई नहीं है। इस गाथा में "शीघ्रं" के स्थान पर "वहिल्लउ" पद का प्रयोग समझाया है। १ ॥

संस्कृत- (२) यथा सत्पुरुषाः तथा कलहाः, यथा नद्यः तथा वलनानि ॥
यथा पर्वताः तथा कोटराणि, हृदय ! खिद्यसे किम् ? ॥ २ ॥

हिन्दी—जितने सज्जन पुरुष होते हैं, उतने ही झगड़े भी होते हैं। जितनी नदियां होती हैं, उतनेही प्रवाह भी होते हैं; जितने पहाड़ होते हैं उतनी ही गुफाएँ भी होती हैं; इसलिये हे हृदय ! तू खिन्न क्यों होता है ? इस विश्व में अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ तो अनादि-अनन्त काल से उत्पन्न होती ही आई है। इस छंद में "कलह" के स्थान पर "घघल" पद प्रयुक्त हुआ है ॥ २ ॥

संस्कृत—(३) ये मुक्त्वा रत्न-निधिं, आत्मानं तटे क्षिपन्ति ॥
तेषां शंखानां संसर्गः केवलं फूत्क्रियमाणाः भ्रमन्ति ॥ ३ ॥

हिन्दी:—जो शंख रत्नों के भंडार रूप समुद्र को छोड़ करके अपने आपको समुद्र के किनारे पर फेंक देते है; उन शंखों की स्थिति अस्पृश्य जैसी हो जाती है; और वे सिर्फ दूसरों की फूंक से आवाज करते हुए अनिश्चित स्थानो पर भटकते रहते हैं। इस गाथा में "अस्पृश्य संसर्ग" के स्थान पर "विट्टालु" पद का प्रयोग हुआ है ॥ ३ ॥

संस्कृत (४)—दिवसै अर्जितं खाद मूर्ख ! संचिनु मा एकमपि द्रम्मम् ॥
किमपि भयं तत् पतति, येन समाप्यते जन्म ॥ ४ ॥

हिन्दी—अरे मूर्ख ! जो कुछ भी प्रति दिन तेरे से कमाया जाता है उसको खा, उसका उपभोग कर और एक पैसे का भी संचय मत कर; क्योंकि अचानक ही कुछ भी भय (मृत्यु आदि) आ सकती है। इस छन्द में "भयं" पद की जगह पर अपभ्रंश भाषा मे "द्रवक्कउ" पद का प्रयोग किया गया है ॥ ४ ॥

संस्कृत (५)–स्फोटयतः यौ हृदयं आत्मीयं = फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं =

जो (दोमों स्तन) अपने खुद के हृदय को ही) फोड़ते है—विस्फोटित होकर उभर आते हैं। इस गाथा-चरण में संस्कृत-पद "आत्मीयं" के बदले में "अप्पणउं" पद प्रदान किया गया है।

(६) एकैकं यद्यपि पश्यति हरिः सुष्ठु सर्वादरेण।
तथापि दृष्टि· यत्र क्वापि राधा, कः शक्नोति संवरीतुं
नयने स्नेहेन पर्यस्ते ॥५॥

हिन्दी —यद्यपि हरि (भगवान् श्री कृष्ण) प्रत्येक को अच्छी तरह से और पूर्ण आदर के साथ देखते हैं, तो भी उनकी दृष्टि (नजर) जहाँ कहीं पर भी राधा-रानी है, वहाँ पर जाकर जम जाती है। यह सत्य ही है कि प्रेम से परिपूर्ण नेत्रों को (अपनी प्रियतमा से) दूर करने के लिये-(हटाने के लिये) कौन समर्थ हो सकता है ? इस अपभ्रंश-काव्य में 'दृष्टि' के स्थान में 'द्रेहि' शब्द लिखा गया है ॥५॥

संस्कृतः—(७) विभवे कस्य स्थिरत्वं ? यौवने कस्य गर्वः ?
स लेखः प्रस्थाप्यते, यः लगति गाढम् । ६॥

हिन्दी —धन-सम्पत्ति के होने पर भी किसका (प्रेमाकर्षण) स्थिर रहा है ? और यौवन के होने पर भी प्रेमाकर्षण का गर्व किसका स्थाई रहा है ? इसलिये वैसा प्रेम-पत्र भेजा जाय, जो कि तत्काल ही प्रगाढ़ रूप से—निश्चित रूप से—हृदय को हिला सके—हृदय को आकर्षित कर सके, (ऐसा होने पर वह प्रियतम शीघ्र ही लौट आवेगा) । यहाँ पर "गाढम्" के अर्थ में "निच्चट्ट" शब्द लिखा गया है ॥ ६ ॥

संस्कृत(८)—कुत्र शशधरः कुत्र मकरधरः ? कुत्र बर्ही कुत्र मेघः ?
दूर स्थितानामपि सज्जनानां भवति असाधारणः स्नेहः । ७॥

हिन्दी:—कहाँ पर (कितनी दूरी पर) चन्द्रमा रहा हुआ है और समुद्र कहाँ पर अवस्थित है ? (तो भी समुद्र चन्द्रमा के प्रति ज्वार-भाटा के रूप में अपना प्रेम प्रदर्शित करता रहता है। इसी प्रकार से मयूर पक्षी धरती पर रहता हुआ भी मेघ को (बादल को)—देखकर के अपनी मधुर वाणी अलापने लगता है। इन घटनाओं को देख करके यह कहा जा सकता है कि अति दूर रहते हुए भी सज्जन पुरुषों का प्रेम परस्पर में असाधारण अर्थात् अलौकिक होता है। इस गाथा में "असाधारण" शब्द के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'असड्ढलु" शब्द को व्यक्त किया गया है ॥ ७ ॥

संस्कृत (६)-कुञ्जरः अन्येषु तरुवरेषु कौतुकेन घर्षति हस्तम् ॥
मनः पुनः एकस्यां सल्लक्यां यदि पृच्छथ परमार्थम् ॥ ८ ॥

हिन्दी:—हाथी अपनी सूंड को केवल क्रीड़ा वश हा कर ही अन्य वृक्षों पर रगड़ता है। यदि तुम सत्य बात ही पूछते हो तो यही है कि उस हाथी का मन तो वास्तव में सिर्फ एक 'सल्लकी' नामक वृक्ष पर ही आकर्षित होता है। इस छंद में संस्कृत-पद 'कौतुकेन' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'कोड्डेण' लिखा गया है ॥८॥

(१०) क्रीडा कृता अस्माभिः निश्चयं किं प्रजल्पत ॥
अनुरक्ताः भक्ताः अस्मान् मा त्यज स्वामिन् ॥९॥

हिन्दी:- हे नाथ ! हमने तो सिर्फ खेल किया था; इसलिये आप ऐसा क्यों कहते हैं ? हे स्वामिन् ! हम आप से अनुराग रखते है और आप के भक्त हैं; इसलिये हे दीन दयाल ! हमारा परित्याग नहीं करें। यहाँ पर 'क्रीडा' के स्थान पर 'खेड्ड=खेड्डयं' शब्द व्यक्त किया गया है ॥९॥

संस्कृतः—(११) सरिद्भिः न सरोभिः, न सरोवरैः, नापि उद्यानवनैः ॥
देशाः रम्याः भवन्ति, मूर्ख ! निवसद्भिः सुजनैः ॥१०॥

हिन्दीः- अरे बेवकूफ ! न तो नदियों से, न झीलों से, न तालाबों से और न सुन्दर सुन्दर वनों से अथवा बगीचो से ही देश रमणीय होते हैं; वे (देश) तो केवल सज्जन पुरुषों के निवास करने से ही सुन्दर और रमणीय होते हैं। इस गाथा में 'रम्य' शब्द के स्थान पर 'रवण्ण' शब्द को प्रस्थापित किया गया है ॥१०॥

संस्कृतः—(१२) हृदय ! त्वया एतद् उक्तं मम अग्रतः शतवारम् ॥
स्फुटिष्यामि प्रियेण प्रवसता (सह) अहं भण्ड ! अद्भुतसार ॥११॥

हिन्दीः—हे हृदय ! तू निर्लज्ज है और आश्चर्य मय ढंग से तेरी बनावट हुई है; क्योंकि तूने मेरे आगे सैंकड़ों बार यह बात कही है कि जब प्रियतम विदेश में जाने लगेंगे तब मैं अपने आपको विदीर्ण कर दूँगा अर्थात् फट जाऊगा। (प्रियतम के वियोग में हृदय टुकड़े-टुकड़े के रूप में फट जायगा। ऐसी कल्पनाएँ सैंकड़ों बार नायिका के हृदय में उत्पन्न हुई है; परन्तु फिर भी समय आने पर हृदय विदीर्ण नहीं हुआ है; इस पर हृदय को 'भण्ड और अद्भुतसार' विशेषणों से अलंकृत किया गया है)। इस गाथा में 'अद्भुत' की जगह पर 'ढक्करि' शब्द को तद्-अर्थक स्थान दिया गया है ॥११॥

(१३) संस्कृतः- हे सखि ! मा विधेहि अलीकम्=हे हेल्लि ! म भङ्खहि आलु=हे सहेली ! तू झूठ मत बोल= अथवा अपराध को मत ढांक। यहाँ पर 'सखी' अर्थ में 'हेल्लि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(१४) संस्कृतः—एका कुटी पञ्चभिः रुद्धा, तेषां पञ्चानामपि पृथक्-पृथक्-बुद्धिः ॥
भगिनि ! तद् गृहं कथय, कथं नन्दतु यत्र कुटुम्बं आत्मच्छन्दकम् ॥१२॥

हिन्दीः—एक छोटी सी झोंपड़ी हो और जिसमें पाँच (प्राणी) रहते हों तथा उन पाँचों की ही बुद्धि अलग अलग ढग से विचरती हो तो हे बहिन ! बोलो; वह घर आनन्दमय कैसे हो सकता है, जब कि सम्पूर्ण कुटुम्ब ही (जहाँ पर) स्वछन्द रीति से विचरण करता हो। (यह कथानक शरीर और

शरीर से सम्बन्धित पाँचों इन्द्रियों पर भी घटाया जा सकता है।) इस गाथा में 'पृथक्-पृथक्' अव्यय के स्थान पर अपभ्रंश भाषा की दृष्टि से 'जुअ जुअ' अव्यय की प्रस्थापना की गई है ॥१२॥

(१५) संस्कृत:—यः पुनः मनस्येव व्याकुलीभूतः चिन्तयति ददाति न द्रम्मं न रूपकम् ॥
रति वश भ्रमण शीलः कराग्रोल्लालितं गृहे एव कुन्तं गणयति स मूढः। १३॥

हिन्दी:—वह महा मूर्ख है, जो कि मन में ही घबराता हुआ सोचता रहता है और न दमड़ी देता है और न रुपया ही। दूसरे प्रकार का महा मूर्ख वह है जो कि राग अथवा मोह के वश में होकर घूमता रहता है और घर में ही भाले को लेकर हाथ के अग्र भाग में ही घूमाता हुआ केवल गणना करता रहता है (कि मैंने इतनी वार भाला चलाया है और इसलिये मैं वीर हूँ तथा कजूस सोचता है कि मैं इतना-इतना द न कर दू परन्तु करता कुछ भी नहीं है)। इस विशिष्ट गाथा में 'मूढ' शब्द के स्थान पर अप-भ्रंश भाषा में 'नालिअ = नालिउ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

संस्कृत:—दिवसैः अर्जितं खाद मूर्ख ! = दिवेहिं विढत्तउ खाहि वढ ! हे मूर्ख ! प्रति दिन कमाये हुए (खाद्य-पदार्थों) को खा। (कंजूसी मत कर)। इस चरण में 'मूर्ख' शब्द वाचक द्वितीय शब्द 'वढ' का अनुयोग है।

संस्कृत (१६)—नवा कापि विष-ग्रन्थिः = नवखी क वि विसगण्ठि = (यह नायिका) कुछ नई ही (अनोखी ही) विषमय गाठ है : इस गाथा-पाद में नूतनता वाचक पद " नवा " के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में " नवखी " पद का व्यवहार किया गया है। पुल्लिंग में " नवख " होता है और स्त्रीलिंग में " नवखी " लिखा है।

संस्कृत (१७)-चलाभ्यां वलमानाभ्यां लोचनाभ्यां ये त्वया दृष्टाः बाले !
तेषु मकर-ध्वजावस्कन्दं पतति अपूर्णे काले ॥ १४ ॥

हिन्दी -ओ यौवन संपन्न मद माती बालिका ! तेरे द्वारा चचल और फिरते हुए (वल खाते हुए) दोनों नेत्रों से जो (पुरुष) देखे गये हैं; उन पर (उनकी) यौवन-अवस्था नहीं प्राप्त होने पर भी (यौवन-काल नहीं पकने पर भी।) काम का वेग (काम-भावना) हठात्-शीघ्र ही (बल पूर्वक) आक्रमण करता है। यहां पर " शीघ्रता-वाचक = हठात्-वाचक " संस्कृत-शब्द " अवस्कन्द " के स्थान पर आदेश प्राप्त शब्द " दडवड " को प्रयुक्त किया गया है।

संस्कृत(१८):-यदि अर्घति व्यवसायः = छुडु अग्घइ ववसाउ =

यदि व्यौपार सफल हो जाता है। इस गाथा-चरण में " यदि" अव्यय के स्थान पर " छुडु " अव्यय को स्थान दिया गया है।

संस्कृत (१९)-गतःस केसरी, पिबत जलं निश्चिन्तं हरिणाः ! ॥
यस्य संबन्धिना हुंकारेण, मुखेभ्यः पतन्ति तृणानि ॥१५॥

हिन्दीः—अरे हिरणों ! वह सिंह (तो अब) चला गया है; (इसलिये) तुम निश्चिन्त होकर जल को पीओ। जिस (सिंह से) सम्बन्ध रखने वाली (भयंकर) गर्जना से-हुँकार से-(खाने के लिये मुंह में ग्रहण किये हुए) घास के तिनके (भी) मुखों से गिर जाते हैं; (ऐसी हुंकार वाला सिंह तो अब चला गया है)। इस गाथा में " सम्बन्धिना " पद के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में " केर = केरए " पद की अनुरूपता समझाई है ॥ १५ ॥

संस्कृतः-अथ भग्ना अस्मदीया = अह भग्गा अम्हं तणा = यदि हमारे से सम्बन्ध रखने वाले भाग गये हैं अथवा मर गये हैं। इस गाथा-पाद में " संबंध " वाचक अर्थ मे " तणा " पद का प्रयोग किया गया है। यों अपभ्रंश भाषा में " संबंध-वाचक " अर्थ में " केर और तण " दोनों प्रकार के शब्दों का व्यवहार देखा जाता है।

संस्कृत (२०)-स्वस्थावस्थानामालपनं सर्वोऽपि लोक : करोति ॥
आर्तानां मा भैषीः इति यः सुजनः स ददाति ॥१६ ॥

हिन्दीः-आनन्द पूर्वक स्वस्थ अवस्था में रहे हुए मनुष्यों के साथ तो प्रत्येक आदमी बातचीत करता ही है (और ऐसी ही रीति इस स्वार्थमय संसार की है); परन्तु दुखियों को जो ऐसी बात कहता है कि " तुम मत डरो "!; वही सज्जन है। " अभय वचन " कहने वाला पुरुष ही इस लोक में सज्जन कहलाता है। इस गाथा में " मा भैषीः " के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में " मब्भीसडी " की आदेश-प्राप्ति का विधान समझाया गया है ॥ १६ ॥

संस्कृत (२१): यदि रज्यसे यद् यद्-दृष्टं तस्मिन् हृदय ! मुग्ध स्वभाव !
लोहेन स्फुटता यथा घनः (= तापः) सहिष्यते तावत् ॥ १७ ॥

हिन्दीः—अरे मूर्ख-स्वभाव वाले हृदय ! यदि तू जिस जिस को देखता है, उस उसमें आपत्ति अथवा मोह करने लग जाता है तो तुझे उसी प्रकार से कष्ट और चोट सहन करनी पडेगी, जिस प्रकार कि दरार पडे हुए-लोहे को " अग्नि का ताप और घन की चोटें " सहन करनी पडती है। इस गाथा में संस्कृत-वाक्यांश-- " यद्-यद्-दृष्टं, तत्-तत् " के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा मे "जाइट्ठिआ = जाइट्ठिअए" ऐसे पद--रूप की आदेश प्राप्ति का उल्लेख किया गया है ॥ १७ ॥

इस सूत्र में इक्कीस देशज शब्दों का प्रयोग समझाया गया है; इनमें सतरह शब्दों का उल्लेख तो गाथाओं द्वारा किया गया है और शेष चार शब्दों का स्वरूप गाथा-चरणों द्वारा प्रदर्शित है। ॥ ४-४२२ ॥

हुहुरु-घुग्घादय शब्द-चेष्टानुकरणयोः ॥ ४-४२३ ॥

अपभ्रंशे हुहुर्वादयः शब्दानुकरणे घुग्घादयश्चेष्टानुकरणे यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः ॥

मइं जाणिउं बुड्डीसु हउं पेम्म-द्रहि हुहुरुत्ति ॥
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय नाव झडत्ति ॥१॥

आदि ग्रहणात्।

खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुण्टेहिं ॥
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएं दिट्ठें नयणेहिं ॥२॥

इत्यादि ॥

अज्जवि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ॥
ताउजि विरहु गवक्खेहिं मक्कडु-घुग्घिउ देइ ॥३॥

आदि ग्रहणात् ॥

सिरि जर-खण्डी लोअडी गलि मणियडा न वीस ॥
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस ।४॥

इत्यादि ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में शब्दों के अनुकरण करने में अर्थात् ध्वनि अथवा आवाज की नकल करने में 'हुहुरु' इत्यादि ऐसे शब्द विशेष बोले जाते हैं और चेष्टा के अनुकरण करने में अर्थात् प्रवृत्ति अथवा कार्य की नकल करने में 'घुग्घ' इत्यादि ऐसे शब्द विशेष का उच्चारण किया जाता है। उदाहरण के रूप में दी गई गाथाओं का अनुवाद क्रम से यों है.—

संस्कृतः—मया ज्ञातं मंक्ष्यामि अहं प्रेम-हृदे हुहुरु शब्दं कृत्वा ॥
केवलं अचिन्तिता संपतिता विप्रिय-नौः झटिति ॥१॥

हिन्दीः—मैंने सोचा था अथवा मैंने समझा था कि 'हुहुरु-हुहुरु' शब्द करके मैं प्रेम रूपी (प्रियतम-संयोग रूपी) तालाब में खूब गहरी डुबकी लगाऊंगी, परन्तु (दुर्भाग्य से-) बिना विचारे ही अचानक ही (पति के) वियोग रूपी नौका झट से (जल्दी से) आ समुपस्थित हुई।

'वृत्ति में आदि' शब्द ग्रहण किया गया है, इससे अन्य शब्दों की अनुकरण करने रूप अनुवृत्ति की परिपाटी भी समझ लेना चाहिये, जैसे कि गाथा-संख्या द्वितीय में 'कसरक्क' शब्द एवं 'घुट्' शब्द को ग्रहण करके इस बात की पुष्टि की गई है। उक्त गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—खाद्यते न कसरत्क शब्दं कृत्वा, पीयते न घुट् शब्दं कृत्वा ॥
एवमपि भवति सुखासिका, प्रिये दृष्टे नयनाभ्याम् ॥२॥

हिन्दीः—प्रियतम को दोनों आँखों से देखने पर भी (पूर्ण तृप्ति का अनुभव नहीं होता है क्योंकि वह तृप्ति प्राप्त करने के लिये अन्य खाद्य पदार्थों के समान) न तो 'कसरक-कसरक' शब्द करके खाया हो जा सकता है और न 'घुट्-घुट्' शब्द करके पीया ही जा सकता है। फिर भी परम आनन्द और अत्यधिक सुख का यों अनुभव किया जा सकता है ॥२॥

चेष्टानुकरण के उदाहरण गाथा-संख्या तृतीय और चतुर्थ में दिये गये हैं; जिनका संस्कृत-अनुवाद सहित हिन्दी भाषान्तर क्रम से इस प्रकार है:—

संस्कृतः—अद्यापि नाथः ममैव गृहे सिद्धार्थान् वन्दते ॥
तावदेव विरहः गवाक्षेषु मर्कट-चेष्टां ददाति ॥ ३ ॥

हिन्दीः—(मेरे प्राण-नाथ प्रियतम विदेश जाने की तैयारी कर रहे हैं और अभी वे स्वामीनाथ-मेरे घर में ही (मंगलार्थ) सिद्ध-प्रभु को वंदना कर रहे हैं; फिर भी विरह (जनित दुःख की हुँकार) (मन रूपी) खिड़कियों में बन्दर-चेष्टाओं को (घुग्घ-घुग्घ जैसी पोड़ा-सूचक ध्वनियों को) प्रदर्शित कर रहा है ॥ ३ ॥ 'आदि' शब्द के ग्रहण करने से अन्य चेष्टा-सूचक शब्दोंका संग्रहण भी समझ लेना चाहिये; जैसा कि गाथा-संख्या चतुर्थ में 'उट्ठ-बईस' शब्द का संग्रह किया हुआ हैं। उक्त गाथा का अनुवाद यों है.—

संस्कृतः—शिरसि जरा खण्डिता लोम पुटी; गले मणयः न विंशतिः ॥
तथापि गोष्ठस्थाः कारिताः मुग्धया उत्थानोपवेशनम् ॥ ४ ॥

हिन्दीः—इस सुन्दरी के सिर पर जीर्ण-शीर्ण-(फटी-टूटी) कंबली मात्र पड़ी हुई है और गले में मुश्किल से बीस काँच की मणिया वाली कंठी होगी; फिर भी (देखो ! इसके आकर्षक सौन्दर्य के कारण से) इस मुग्धा द्वारा (आकर्षित होकर) कमरे में ठहरे हुए इन पुरुषों ने (कितनी बार) उठ-बैठ (इस मुग्धा को देखने के लिये) की है ? इस गाथा में ' चेष्टा-अनुकरण ' के अर्थ में ' उट्ठ-बईस ' जैसे देशज शब्द का प्रयोग किया गया है। यों अपभ्रंश-भाषा में 'ध्वनि के अनुकरण करने में और चेष्टा के अनुकरण करने में ' अनेक देशज शब्दों का व्यवहार किया जाता हुआ देखा जाता है ॥ ४-४२३ ॥

घइमादयोऽनर्थकाः ॥ ४-४२४ ॥

अपभ्रंशे घइमित्यादयो निपाता अनर्थकाः प्रयुज्यन्ते ॥

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ॥
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥ १ ॥

आदि-ग्रहणात् खाइं इत्यादयः ॥

अर्थः—अपभ्रंश भाषा में ऐसे अनेक अव्यय प्रयुक्त होते हुए देखे जाते हैं; जिनका कोई अर्थ नहीं होता है। ऐसे अर्थ-हीन दो अव्यय यहाँ पर लिखे गये हैं; जो कि इस प्रकार से हैं:—(१) घइं और (२) खाइं। यों अर्थ हीन अन्य अव्ययों की स्थिति को भी समझ लेना चाहिये। उदाहरण के रूप में 'घइ' अव्यय का प्रयोग वृत्ति में दी गई गाथा में किया गया है। जिसका अनुवाद इस प्रकार से है:-

संस्कृतः—अम्ब ! पश्चात्तापः प्रियः कलहायितः विकाले ॥
(नूनं) विपरीता बुद्धिः भवति विनाशस्य काले ॥१॥

हिन्दीः—हे माता ! मुझे अत्यन्त पश्चात्ताप है कि मैंने समय और प्रसग का बिना विचार किये ही (रति-समय का खयाल किये बिना ही) अपने पति से झगड़ा कर डाला। सच है कि विनाश के समय में (विपत्ति आने के मौके पर) बुद्धि भी विपरीत हो जाती है, उल्टी हो जाती है ॥१॥ इस गाथा में अर्थ-हीन अव्यय-शब्द 'घइं' का प्रयोग किया गया है। 'आदि' शब्द के कथन से अन्य अर्थ हीन अव्यय शब्द 'खाइं' इत्यादि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। ऐसे शब्दों का प्रयोग पाद-पूर्त्ति के रूप में भी देखा जा सकता है ॥४-४२४॥

तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः ॥ ४-४२५ ॥

अपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये केहिं तेहिं रेसि रेसिं तणेण इत्यते पञ्च निपाताः प्रयोक्तव्याः ॥

ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण कवणहिँ देसि ॥
हउँ झिज्जउँ तउ केहिं पिअ ! तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥

एवं तेहिं रेसि मावुदाहार्यो ॥ वड्डत्तणहो तणेण ॥

अर्थः—'तादर्थ्य' अर्थात् 'के लिये' इस अर्थ को प्रकट करने के लिये अपभ्रंश-भाषा में निम्नोक्त पाच अव्यय-शब्दों में से किसी भी एक अव्यय शब्द का प्रयोग किया जाता है। (१) केहिं=के लिये, (२) तेहिं=के लिये, (३) रेसि=के लिये, (४) रेसिं=के लिये, और (५) तणेण—के लिये। उदाहरण क्रम से इस प्रकार है:—

(१ स्वर्गस्यार्थे त्वं जीव-दयां कुरु = सग्गहो केहिं करि जीव-दय = देवलोक के लिये जीव-दया को करो।

(२) कस्यार्थे परिग्रहः = कसु तेहिं परिगहु = किसके लिये परिग्रह (किया जाता है) ।

(३) मोक्षस्यार्थे दमम् कुरु = मोक्खहो रेसि दमु करि = मोक्ष के लिये इन्द्रियों का दमन करो।

(४) कस्यार्थे त्वं अपरान् कर्मारम्भान् करोषि=कसु रेसिं तुहुँ अवर कम्मारम्भ करेसि = किसके लिये तू दूसरे कार्यारंभ करता है ?

(५) कस्यार्थे अलीक = कासु तणेण अलिउ=किसके लिये झूठ (बोलता है) ।

वृत्ति में आई हुई गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—विट ! एष परिहासः अयि ! भण, कस्मिन् देशे ?
अहं क्षीणा तव कृते, प्रिय ! त्वं पुनः अन्यस्याः कृते ॥१॥

हिन्दीः—हे नायक ! (हे प्रियतम !) इस प्रकार का मज़ाक (परिहास = विनोद) किस देश में किया जाता है; यह मुझे कहो । मैं तो तुम्हारे लिये क्षीण (दुःखी) होती जा रही हूँ और तुम पुनः किसी अन्य (स्त्री) के लिये (दुःखी होते जा रहे हो) ॥ इस गाथा में 'के लिये' ऐसे अर्थ में क्रम से 'केहिं' और 'रेसि' ऐसे दो अव्यय शब्दों का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है ।

(२) महत्त्वस्य कृते = वड्डत्तणहो तणेण = बड़प्पन (महानता) के लिये । यों शेष दो अव्यय शब्द 'तेहिं और रेसिं' के उदाहरणों की कल्पना भी स्वयमेव कर लेना चाहिये । ये अव्यय हैं, इसलिये इनमें विभक्ति-वाचक प्रत्ययों की संयोजना नहीं की जाती है ॥ ४-४२५ ॥

पुनर्विनः स्वार्थे डुः ॥ ४–४२६ ॥

अपभ्रंशे पुनर्विना इत्येताभ्यां परः स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवति ॥

सुमरिज्जइ तं वल्लहउं जं वीसरइ मणाउं ॥
जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउं तहो नेहहो कइं नाउं ॥१॥
विणु जुज्झें न वलाहुं ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ४-४२६ से प्रारम्भ करके सूत्र-संख्या ४-४३० तक में स्वार्थिक प्रत्ययों का वर्णन किया गया है । शब्द में नियमानुसार स्वार्थिक प्रत्यय की संयोजना होने पर भी मूल अर्थ में किसी भी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं हुआ करती है । मूल अर्थ ज्यों का त्यों ही रहता है । इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'पुनर् और विना' अव्यय शब्दों मे अपभ्रंश भाषा के रूप में रूपान्तर होने पर 'डु' प्रत्यय की स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में अनुप्राप्ति हुआ करती है । स्वार्थिक प्रत्यय

'डु' में स्थित 'डकार' वर्ण इत्-संज्ञक है; तदनुसार 'पुनर्=पुण' में स्थित अन्त्य 'अकार' का लोप होने पर तत्पश्चात् स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में 'उकार' वर्ण की प्राप्ति होकर 'पुणु' रूप बन जाता है। इसी प्रकार से 'विना' अव्यय शब्द में भी अन्त्य वर्ण 'आकार' का लोप होकर तथा स्वार्थिक प्रत्यय रूप 'उकार' वर्ण की संयोजना होने पर इसका रूप 'विणु' बन जाता है। उदाहरण क्रम से यों हैं:—

(१) य विना पुनः अवश्यं मुक्तिः न भवति=जसु विणु पुणु सिवु अवसें न होइ=जिसके विना फिर से अवश्य ही मुक्ति नहीं होती है।

इस उदाहरण में 'पुनः' के स्थान पर 'पुणु' लिखा हुआ है और 'विना' के स्थान पर 'विणु' को जगह दी गई है। यों स्वार्थिक प्रत्यय 'डु=उ' की प्राप्ति होने पर भी इनके अर्थ में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। यों सर्वत्र समझ लेना चाहिये। गाथा का अनुवाद यों है:—

(१) संस्कृतः—स्मर्यते तद् वल्लभं, यद् विस्मर्यते मनाक्॥
यस्य पुनः स्मरणं जातं, गतं, तस्य स्नेहस्य किं नाम ? ॥१॥

हिन्दीः—जिसका थोड़ा सा विस्मरण हो जाने पर भी पुनः स्मरण कर लिया जाता है; तो ऐसा स्नेह भी प्रिय होता है, परन्तु जिसका पुनः स्मरण करने पर भी यदि उसे भूला दिया जाय तो वह 'स्नेह' नाम से कैसे पुकारा जा सकता है ? इस गाथा में 'पुनः' के स्थान पर स्वार्थिक प्रत्यय के साथ 'पुणु' अव्यय का प्रयोग समझाया है।

(२) विना युद्धेन न वलामहे=विणु जुज्झें न वलाहुं=हम विना युद्ध के (सुख पूर्वक) नहीं रह सकते हैं। इस गाथा-चरण में 'विना' की जगह पर 'विणु' अव्यय-रूप का प्रयोग किया गया है। ॥ ४-४२६ ॥

अवश्यमो डें-डौ ॥ ४-४२७ ॥

अपभ्रंशेऽवश्यमः स्वार्थे डें ड इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः।

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं ॥
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कइं पण्णइं ॥१॥

अवस न सुअहिं सुहच्छिअहिं ॥

अर्थ—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध 'अवश्यम्' अव्यय का अपभ्रंश भाषा में रूपान्तर करने पर इसमें 'स्वार्थिक' प्रत्यय के रूप में 'डें और ड' ऐसे दो प्रत्ययों की संयोजना हुआ करती है। स्वार्थिक प्रत्यय 'डें और ड' में स्थित 'डकार' वर्ण इत्संज्ञक होने से 'अवश्यम्=अवस' में स्थित अन्त्य 'अकार' वर्ण का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् अवस्थित हलन्त 'अवस्' अव्यय में 'एं और अ' की क्रम से प्राप्ति होती

है। जैसे:—अवश्यम् = अवसें और अवस = अवश्य-अकरणनिश्चय। उदाहरण के रूप में प्रदत्त गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृत:—जिह्वेन्द्रियं नायकं वशे कुरुत, यस्य अधीनानि अन्यानि ॥
मूले विनष्टे तुम्बिन्याः अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥१॥

हिन्दी:—जिसके अधीन अन्य सभी इन्द्रियाँ रही हुई हैं ऐसी नायक-नेता-रूप-जिह्वा-इन्द्रिय को अपने वश में करो; (क्योंकि इस को वश में करने पर अन्य सभी इन्द्रियाँ निश्चय ही वश में हो जाती है)। जैसे कि 'तुम्बिनी' नामक वनस्पति रूप पौधे की जड़ नष्ट हो जाने पर उसके पत्ते तो अवश्य ही सूख जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं। इस गाथा में 'अवश्य' अव्यय के स्थान पर 'अवसें' रूप का प्रयोग करके इसमें 'डें = एं' अव्यय की स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में सिद्धि की गई है। 'अवस' का उदाहरण यों हैं:—

संस्कृत:—अवश्यं न स्वपन्ति सुखासिकायां = अवस न सुअहिं सुहच्छिअहिं = अवश्य ही (निश्चय ही) वे सुख-शैय्या पर नहीं सोते हैं। इस गाथा-चरण में 'अवश्यम्' के स्थान पर 'अवस' रूप का प्रयोग करते हुए यह प्रमाणित किया है कि 'अवश्यम्' अव्यय के रूपान्तर में स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में 'डं = य' प्रत्यय की संयोजना होती है ॥ ४-४२७ ॥

एकशसो डि ॥ ४-४२८ ॥

अपभ्रंशे एकशश्शब्दात् स्वार्थे डि भवति ॥

एक्कसि सील-कलंकिअहं देज्जहिँ पच्छित्ताइं ॥
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु, तसु पच्छित्तें काइं ॥१॥

अर्थ:—'एक बार' इस अर्थ में कहा जाने वाला संस्कृत-अव्यय 'एकशः' है। इसका रूपान्तर अपभ्रंश-भाषा में करने पर इसमें स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में 'डि' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डि' में 'डकार' इत्संज्ञक होने से 'एकशः = एकस अथवा इकस' में स्थित अन्त्य स्वर 'अकार' का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् प्राप्त हलन्त रूप 'एकस् अथवा इकस्' में 'डि = इ' प्रत्यय की प्राप्ति होकर व्यवहार-योग्य रूप 'एकसि अथवा इक्कसि' की सिद्धि हो जाती है। जैसे:—एकशः = एक्कसि और इक्कसि = एक बार। गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृत:—एकशः शीलकलङ्कितानां दीयन्ते प्रायश्चित्तानि ॥
यः पुनः खण्डयति अनुदिवसं, तस्य प्रायश्चित्तेन किम् ॥

हिन्दी.—जिन व्यक्तियों द्वारा एक बार शील-व्रत का खंडन किया गया है, उनके लिये प्रायश्चित रूप दंड का दिया जाना ठीक है, परन्तु जो व्यक्ति प्रतिदिन शील-व्रत का खण्डन करता है; उसके लिये प्रायश्चित रूप दंड का विधान करने से क्या लाभ है ? वह तो पूर्ण पापी ही है। यहाँ पर 'एकशः' के स्थान पर 'एक्कसि' शब्द रूप का प्रयोग किया गया है ॥ ४-४२८ ॥

अ-डड-डुल्लाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४-४२९ ॥

अपभ्रंशे नाम्नः परतः स्वार्थे अ, डड डुल्ल, इत्येते त्रयः प्रत्ययाः भवन्ति; तत्सन्नि-योगे स्वार्थे क प्रत्ययस्य लोपश्च ॥

विरहानल-जाल-करालिअउ, पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ ॥
तं मेलवि सव्वहिं पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥
डड । महु कन्तहो बे दोसडा ॥ डुल्ल । एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रूद्धी ॥

अर्थ.—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध संज्ञा-शब्दों का रूपान्तर अपभ्रंश भाषा में करने पर उनमें स्वार्थिक प्रत्ययों के रूप में तीन प्रत्ययों की प्राप्ति हुआ करती है। जोकि क्रम से इस प्रकार हैं.—(१) अ, (२) डड और (३) डुल्ल। इन प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर संस्कृत-शब्दों में रहे हुए स्वार्थिक प्रत्यय 'क' का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् ही इन 'अ अथवा डड अथवा डुल्ल' प्रत्ययों की सं-प्राप्ति संज्ञा-शब्दों में हो सकती है। 'डड और डुल्ल' प्रत्ययों में अवस्थित आदि 'डकार' इत्संज्ञक है, तदनुसार संज्ञा-शब्दों में इनकी संयोजना करने के पूर्व संज्ञा-शब्दों में अवस्थित अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और बाद में रहे हुए हलन्त संज्ञा-शब्दों में इन 'डड = अड' और 'डुल्ल = उल्ल' प्रत्ययों का संयोग किया जाता है। यों स्वार्थिक प्रत्ययों में से किसी भी एक प्रत्यय को जोड़ देने के अनन्तर प्राप्त संज्ञा-शब्द के रूप में विभक्ति-वाचक प्रत्ययों की संघटना की जाती है। जैसे:—

(१) भव-दोषौ = भव-दोसडा = जन्म-मरण रूप संसार-दोषों को। यहाँ पर 'दोष' शब्द में 'अड' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है।

(२) जीवितकं = जीवियअउ = जिन्दा रहना-प्राण धारण करना। यहाँ पर संस्कृतीय स्वार्थिक प्रत्यय 'क' का लोप होकर अपभ्रंश भाषा में स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है।

(३) काय-कुटी = काय-कुडुल्ली = शरीर रूपी झोंपडी। इसमें 'डुल्ल = उल्ल' प्रत्यय की प्राप्ति हुई है। यह 'कुटी' शब्द स्त्रीलिंग वाचक होने से प्राप्त प्रत्यय 'डुल्ल = उल्ल में स्त्रीलिंग वाचक प्रत्यय 'ई' की प्राप्ति सूत्र-संख्या ४-४३१ से हुई है। वृत्ति में दिये गये उदाहरणों का अनुवाद क्रम से इस प्रकार हैं.—

(१) संस्कृतः—विरहानल-ज्वाला-करालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ॥
तद् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव कृतः अग्निष्ठः १॥

हिन्दीः—जब किसी एक यात्री को मार्ग में विरह रूपी अग्नि की ज्वालाओं से प्रज्वलित होता हुआ अन्य यात्रियों ने देखा तो सभी यात्रियों ने मिल करके उसको (मृत अवस्था को प्राप्त हुआ जान कर के) अग्नि के समर्पण कर दिया।

(२) मम कान्तस्य द्वौ दोषौ = महु कन्तहो बे दोसडा = मेरे प्रियतम के दो दोष (त्रुटियाँ) हैं। इस गाथा-चरण में 'दोसडा' पद में 'डड = अड' इस स्वार्थिक प्रत्यय की प्राप्ति हुई है।

(३) एका कुटी पञ्चभिः रुद्धा = एक्क कुडुल्ली पञ्चेहिं रुद्धी = एक (छोटी सी) झोंपड़ी पाँच से रुंधी (रोकी) गई है। इस गाथा-पाद में 'कुडुल्ली' पद में 'डुल्ल = उल्ल' ऐसे स्वार्थिक प्रत्यय की संयोजना हुई है ॥ ४-४२९ ॥

योग जाश्चैषाम् ॥ ४-४३० ॥

अपभ्रंशे अडडडुल्लानां योगभेदेभ्यो ये जायन्ते डडअ इत्यादयः प्रत्ययाः ते पि स्वार्थे प्रायो भवन्ति ॥

डडअ। फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं। अत्र 'किसलय' (१-२६९) इत्यादिना-यलुक् ॥ डुल्लअ। चूडुल्लउ चुन्नी होइ सइ ॥ डुल्लडड।

सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा-संधिहिं वासु ॥
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१॥

अत्रामि। "स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ" (४-४३०) इति दीर्घः। एवं बाहुबलुल्लडउ। अत्र त्रयाणां योगः ॥

अर्थः—सूत्र-संख्या ४-४२९ में 'अ, डड, डुल्ल' ऐसे तीन स्वार्थिक प्रत्यय कहे गये हैं; तदनुसार अपभ्रंश भाषा में संज्ञाओं में कभी कभी इन प्रत्ययों में से कोई भी दो अथवा कभी कभी तीनों भी एक साथ संज्ञाओं में जुड़े हुए पाये जाते हैं। यों किन्हीं दो के अथवा तीनों के एक साथ जुड़ने पर भी संज्ञाओं के अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है। इस प्रकार से तीनों स्वार्थिक प्रत्ययों के योग से, समस्त रूप से तथा व्यस्त रूप से विचार करने पर कुल स्वार्थिक प्रत्ययों की संख्या सात हो जाती है; जोकि क्रम से इस प्रकार लिखे जा सकते हैं:— (१) अ, (२) डड, (३) डुल्ल, (४) डडअ, (५) डुल्लअ, (६) डुल्लडड, (७) डुल्लडडअ। इनके उदाहरण इस प्रकार से हैं:—

(१) ते कर्णकाः धन्या.=ते घन्ना कन्नुल्लडा=वे कान धन्य हैं। इस उदाहरण में 'डुल्लडड' प्रत्ययों की सम्प्राप्ति हैं।

(२) तानि हृदयकानि कृतार्थानि=हियडल्ला ति कयत्थ=वे हृदय कृतार्थ (सफल) हैं। इसमें 'अडुल्ल' प्रत्यय है।

(३) नवान् श्रुतार्थान् धरन्ति=नवुल्लडअ सुअत्थ धरहिं=नूतन श्रुत-अर्थ (शास्त्र-तात्पर्य) को धारण करते हैं। इस में तीनों स्वार्थिक प्रत्यय आये हैं, जोकि इस प्रकार से हैं:—डुल्लडडअ=उल्लडअ॥ वृत्ति में आये हुए उदाहरणों का स्वरूप क्रम से इस प्रकार हैं:—

(१) स्फोटयतः यौ हृदय आत्मीय=फोडेन्ति जे हिअडउ अप्पणउ=जो (दोनों स्तन) अपने खुद के हृदय को ही विदारण करते हैं। इस चरण में 'हिअडउ' पद में 'डअ' ऐसे दो स्वार्थिक प्रत्ययों की एक साथ प्राप्ति हुई हैं। 'हृदय' शब्द में अवस्थित 'यकार' का सूत्र-संख्या १-२६६ से लोप हुआ है।

(२) कङ्कणं चूर्णी भवति स्वयं=चूडुल्लउ चुन्नी होइ सइ=(हाथ में पहिना हुआ) कंकण अपने आप ही टुकड़े टुकड़े होकर चूर्ण रूप हुआ जाता है। इस गाथा-पाद में 'चुडुल्लउ' पद में 'डुल्लअ=उल्लअ' ऐसे दो प्रत्ययों की प्राप्ति स्वार्थिक-प्रत्ययों के रूप में एक साथ हुई है।

(३) संस्कृतः—स्वामि–प्रसादं सलज्जं प्रियं सीमासंधौ वासम् ॥
प्रेक्ष्य बाहुबलं धन्या मुञ्चति निश्वासम् ॥१॥

हिन्दी.—कोई एक नायिका विशेष अपने प्राण पति की इस प्रकार की स्थिति को देख करके अपने आपको धन्य-स्वरूप समझती हुई परम शांति के गम्भीर निश्वास लेती है कि उसके पति के प्रति सेनापति की कृपा-दृष्टि है, उसका पति लज्जावान् है, वह (रणक्षेत्र के मोर्चे पर) देश के सीमान्त-भाग पर रहा हुआ है; और अपने प्रचंड बाहु बल का प्रदर्शन कर रहा है।

इस गाथा में 'बाहु-बलुल्लडा' पद में 'डुल्लडड=उल्लड' ऐसे दो स्वार्थिक-प्रत्ययों की सम्प्राप्ति एक साथ प्रदर्शित की गई हैं। 'डुल्ल+डड'–इन दोनों प्रत्ययों में आदि में अवस्थित प्रत्येक 'डकार' वर्ण इत्संज्ञक है इसलिये इनका लोप हो जाता है और शेष रूप में 'उल्ल+अड' रहता है; तत्पश्चात् पुन. सूत्र-संख्या १-१० से 'ल्ल' में स्थित अन्त्य 'अकार' का भी लोप होकर तथा दोनों की संधि होकर 'उल्लड' प्रत्यय के रूप में इनकी स्थिति बनी रह जाती है। 'बाहु-बलुल्लडा' पद में स्थित अन्त्य स्वर 'आ' की प्राप्ति सूत्र-संख्या ४-३३० के कारण से हुई है। जैसा कि उसमें उल्लेख है कि अपभ्रंश भाषा में संज्ञाओं में विभक्ति-वाचक प्रत्ययों की संयोजना होने पर प्रत्ययान्त-स्थित स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ हो जाते हैं और कभी दीर्घ से ह्रस्व भी हो जाते हैं।

(४) बाहु बलं = बाहु-बलुल्लडउ = भुजा के बल को। इस पद में 'डुल्ल + डड + अ' = उल्ल + अड + अ = उल्लडअ' यों तीनों स्वार्थिक प्रत्ययों की एक साथ आगम-स्थिति स्पष्ट की गई है। अन्तिम स्वार्थिक प्रत्यय 'अ' में विभक्ति-वाचक प्रत्यय 'उ' की संयोजना होने से उसका लोप हो गया है ॥४-४३०॥

स्त्रियां तदन्ताड्डीः ॥ ४-४३१ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानेभ्यः प्राक्तन-सूत्र-द्वयोक्त-प्रत्ययान्तेभ्यो डीः प्रत्ययो भवति ॥

पहिआ दिट्ठी गोरडी, दिट्ठी मग्गु निअन्त ॥
अंसूसासेहिं कञ्चुआ तिंतुव्वाणं करन्त ॥ १ ॥

एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रुद्धी ॥

अर्थः—ऊपर उल्लिखित सूत्र-संख्या ४-४२९ और ४-४३० में जिन प्रत्ययों की प्राप्ति का संविधान किया गया है; उन प्रत्ययों को यदि स्त्रीलिंग वाचक संज्ञाओं मे जोड़ा जाय तो ऐसी स्थिति में उन प्रत्ययों के अन्त में अपभ्रंश-भाषा में 'डी = ई' प्रत्यय की विशेष-प्राप्ति (स्त्रीलिंग-अवस्था में) हुआ करती है। उपरोक्त रीति से प्राप्त प्रत्यय 'डी' में 'डकार' वर्ण इत्संज्ञक है, तदनुसार उन स्त्रीलिंग-वाचक संज्ञाओं में जुड़े हुए स्वार्थिक प्रत्ययों में अवस्थित अन्तिम स्वर का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् हलन्त रूप से रहे हुए उन स्वार्थिक प्रत्ययों वाले संज्ञा शब्दों में इस 'ई' प्रत्यय की संधि योजना होकर वे संज्ञा-शब्द ईकारान्त स्त्रीलिंग वाले हो जाते हैं।

(१) जैसेः—गौरी = गोर + डड = (अड) + ई = गोरडी = पत्नी।

(२) कुटी = कुडी + डुल्ल + ई = कुडुल्ली = झोंपड़ी।

पूरी गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—पथिक ! दृष्टा गौरी ? दृष्टा, मार्गमवलोकयन्ती ॥
अश्रूच्छ्वासैः कञ्चुकं तिमितोद्वानं (आर्द्रं शुष्कं) कुर्वती ॥

हिन्दीः—विदेश में अवस्थित कोई विरही यात्री अन्य यात्री से पूछता है कि—'अरे मुसाफिर ! क्या तुमने मेरी पत्नी को देखा था ?' इस पर वह उत्तर देता है कि—'हाँ; देखी थी। वह उस मार्ग को टकटकी लगा कर देख रही थी, जिस (मार्ग) से कि तुम्हारे आगमन की सम्भावना थी। तुम्हारे वियोग में वह अपने अश्रु-जल से अपनी कंचुकी को भीगो रही थी तथा पुनः वह भीगी हुई कंचुकी उसके ऊंचे-ऊंचे और गरम श्वासोच्छ्वास से सूखती भी जाती थी। ऐसी अवस्था में मैंने तुम्हारी गोरडी = पत्नी को देखा था ॥१॥

(२) एका कुटी पञ्चभिः रुद्धा = एक्क कुडुल्ली पञ्चहिँ रुद्धी = एक छोटी सी झोंपड़ी और वह भी पाँच के द्वारा रुंधी हुई है॥ ४-४३१ ॥

आन्तान्ताड्डाः ॥ ४-४३२ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानादप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्तात् डा प्रत्ययो भवति ॥ अपवादः ॥

पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ॥
तहो विरहहो नासन्त अहो धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥१॥

अर्थः—अपभ्रंश-भाषा में स्त्रीलिंग में रहे हुए संज्ञा शब्दों में स्वार्थिक प्रत्यय लगने के पश्चात् (स्त्रीलिंग-बोधक प्रत्यय) डा = आ' प्रत्यय की प्राप्ति (भी) होती है। 'डा' प्रत्यय में अवस्थित 'डकार' वर्ण इत्संज्ञक होने से स्वार्थिक प्रत्यय से संयोजित स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त्य स्वर का लोप होकर तत्पश्चात् ही 'आ' प्रत्यय जुड़ता है। यह 'डा = आ' प्रत्यय उपरोक्त सूत्र-संख्या ४-४३१ के प्रति अपवाद-सूचक स्थिति वाला है। जैसेः—

(१) वार्तिका = वत्तडिआ = बात।

(२) धूलिः = धूलडिआ = धूलि-रजकण। इन उदाहरणों में 'डा = आ' प्रत्यय की संप्राप्ति देखी जाती है। गाथा का पूरा अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—प्रियः आयातः, श्रुता वार्ता, ध्वनिः कर्णे प्रविष्टः ॥
तस्य विरहस्य नश्यतः, धूलिरपि न दृष्टा ॥१॥

हिन्दीः—प्रियतम प्राणपति लौट आये हैं, (ऐसे) समाचार मैंने सुने हैं। उनकी आवाज भी मेरे कानों में पहुँची है। (इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर) उनके विरह से उत्पन्न हुए दुःख के नाश हो जाने से (अब उस दुःख की) धूलि भी (अर्थात् सामान्य अंश भी) दृष्टि-गोचर नहीं हो रहा है। (अब वह दुःख पूर्णतया शान्त हो गया है) ॥ ४-४३२ ॥

अस्येदे ॥ ४-४३३ ॥

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानस्य नाम्नो योकारस्तस्य आकारे प्रत्यये परे इकारो भवति ॥

धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥ स्त्रियामित्येव। झुणि कन्नडइ पइट्ठ ॥

अर्थ.—अपभ्रंश-भाषा में स्त्रीलिंग वाले संज्ञा शब्दों के अन्त में अवस्थित 'अकार' को 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति होने के पूर्व 'इकार' वर्ण की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् अन्त्य अकार 'आ' के पहिले

'इकार' में बदल जाता है। जैसे:—धूलिः=धूलि+डड=धूलड; धूलड+आ=धूलडिआ। यहाँ पर 'धुलड' शब्द में अन्त्य 'अकार' को 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'इकार' वर्ण की प्राप्ति हो गई है। पूरे गाथा-चरण के लिये सूत्र-संख्या ४-४३२ देखें।

प्रश्नः—वृत्ति में ऐसा क्यों लिखा गया है कि-स्त्रीलिंग वाले शब्दों में ही 'अकार' को 'आ' प्रत्यय की प्राप्ति के पूर्व 'इकार' वर्ण की प्राप्ति होती है ?

उत्तरः—यदि स्त्रीलिंगवाले शब्दों के अतिरिक्त पुल्लिग अथवा नपुंसकलिंग वाले शब्द होंगे तो उनमें अवस्थित अन्त्य 'अकार' को 'इकार' की प्राप्ति नहीं होगी।

जैसेः—ध्वनिः कर्णे प्रविष्टः=झुणि कन्नडइ पइट्ठ=आवाज कान में प्रविष्ट हुई। यहाँ पर 'कन्नड' शब्द में अन्त्य 'अकार' को इकार की प्राप्ति नहीं हुई है ॥ ४-४३३ ॥

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥ ४-४३४ ॥

अपभ्रंशे युष्मदादिभ्यः परस्य ईय प्रत्ययस्य डार इत्यादेशो भवति ॥

संदेसें काइं तुहारेण, जं सङ्गहो न मिलिज्जइ ॥
सुइणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ ! पिआस किं छिज्जइ ॥ १॥

दिक्खि अम्हारा कन्तु । बहिणि महारा कन्तु ॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में 'वाला' अर्थ में 'ईय' प्रत्यय की प्राप्ति हुआ करती है; यह 'ईय' प्रत्यय हम, तुम, मैं, तू, वह और वे इन पुरुष-बोधक सर्वनामों के साथ में जुड़ा करता है और ऐसा होने पर 'हमारा, तुम्हारा, मेरा, तेरा, उसका और उनका' ऐसा अर्थ-बोध प्रतिध्वनित होता है। यों इस अर्थ में अपभ्रंश भाषा में इस 'ईय' प्रत्यय के स्थान पर उपरोक्त पुरुष-बोधक सर्वनामों के साथ में 'डार' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डार' में अवस्थित आदि 'डकार' वर्ण इत्संज्ञक होने से उन पुरुष-बोधक सर्वनामो में स्थित अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् ही शेष रहे हुए उन हलन्त सर्वनामों में 'डार=आर' प्रत्यय की संयोजना हुआ करता है। जैसेः—अस्मदीयम्=अम्हारउँ=हमारा। युष्मदीयम्=तुम्हारउँ=तुम्हारा। त्वदीयम्=तुहारउँ=तेरा। मदीयम्=अम्हारउँ=मेरा। गाथा का अनुवाद यों हैः—

संस्कृतः—संदेशेन किं युष्मदीयेन, यत्संगाय न मिल्यते ॥
स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन, प्रिय ! पिपासा किं छिद्यते ॥१॥

हिन्दीः—तुम्हारे संदेशे से क्या (लाभ) है ? जबकि (संदेशा मात्र से तो) तुम्हारे समागम की प्राप्ति (परस्पर में मिलने से होने वाले लाभ की प्राप्ति तो) नहीं होती है। जैसे कि हे प्राणपति प्रियतम ! स्वप्न में जल-पान करने से क्या प्यास मिट सकती है ? इस गाथा में 'युष्मदीयेन' पद के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में 'तुहारेण' पद का प्रयोग करके 'डार = आर' प्रत्यय की साधना की गई है ॥१॥

(२) पश्य अस्मदीयम् कान्तम् = दिक्खि अम्हारा कन्तु = हमारे पति को देखो। यहाँ पर भी 'अस्मदीयम्' के स्थान पर 'अम्हारा' पद को प्रस्थापित करके 'डार = आर' प्रत्यय की सिद्धि की गई है।

(३) भगिनि ! अस्मदीयः कान्तः = बहिणि ! महारा कन्तु = हे बहिन ! मेरे पति। इस उदाहरण में 'महारा' पद में 'आर' प्रत्यय आया हुआ है। यों सर्वत्र 'डार = आर' प्रत्यय की स्थिति को समझ लेना चाहिये ॥ ४-४३४ ॥

अतोर्डेत्तुलः ॥ ४-४३५ ॥

अपभ्रंशे इदं-किं-यत्-तद्-एतद्भ्यः परस्य अतोः प्रत्ययस्य डेत्तुल इत्यादेशो भवति ॥

एत्तुलो। केत्तुलो। जेत्तुलो। तेत्तुलो। एत्तुलो ॥

अर्थः—संस्कृत-सर्वनाम शब्द 'इदम्, किम्, यत्, तत् और एतत्' में जुड़ने वाले परिमाण-वाचक प्रत्यय 'अतु = अत्' के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में 'डेत्तुल' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'डेत्तुल' में 'डकार वर्ण' इत्संज्ञक है; तदनुसार इस 'डेत्तुल = एत्तुल' प्रत्यय की प्राप्ति होने के पूर्व उक्त सर्वनामों में रहे हुए अन्त्यय हलन्त व्यञ्जन का तथा उपान्त्य स्वर का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् ही शेष रूप से रहे हुए हलन्त शब्दों में इस 'एत्तुल' प्रत्यय की संप्राप्ति होती है। जैसे कि—(१) इयत् = एत्तुलो = इतना। (२) कियत् = केत्तुलो = कितना। (३) यावत् = जेत्तुलो = जितना। (४) तावत् = तेत्तुलो = उतना और (५) एतावत् = एत्तुलो = इतना ॥ ४-४३५ ॥

त्रस्य डेत्तहे ॥ ४-४३६ ॥

अपभ्रंशे सर्वादेः सप्तम्यन्तात् परस्य त्र प्रत्ययस्य डेत्तहे इत्यादेशो भवति ॥

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ ॥
पिअ-पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिं वि न ठाइ ॥१॥

अर्थः—संस्कृत-भाषा में उपलब्ध सर्वनाम शब्दों में सप्तमी-बोधक जो 'त्रप्' प्रत्यय लगता है; उस 'त्रप्' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'डेत्तहे' प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति होती है। प्राप्त प्रत्यय 'डेत्तहे' में अवस्थित 'डकारवर्ण' इत्संज्ञावाला है; तदनुसार इस 'डेत्तहे' प्रत्यय की संप्राप्ति होने के पूर्व सर्वनाम शब्दों में स्थित अन्त्य व्यञ्जन का और उपान्त्य स्वर का लोप हो जाता है और तत्पश्चात् ही इस 'डेत्तहे=एत्तहे' प्रत्यय का संयोग होता है। जैसे:—

(१) सर्वत्र=सव्वेत्तहे=सब स्थानों पर।

(२) कुत्र=केत्तहे=कहाँ पर।

(३) यत्र=जेत्तहे=जहाँ पर।

(४) तत्र=तेत्तहे=वहाँ पर।

(५) अत्र=एत्तहे=यहाँ पर।

गाथा का अनुवाद यों है:—

संस्कृतः—अत्र तत्र द्वारे गृहे लक्ष्मीः विसंष्ठुला भवति ॥
प्रिय-प्रभ्रष्टे गौरी निश्चला क्वापि न तिष्ठति। १॥

हिन्दीः—जैसे पति से भ्रष्ट हुई स्त्री कहीं पर भी स्थिर होकर निश्चल रूप से नहीं ठहरती है; वैसे ही अस्थिर प्रकृतिवाली लक्ष्मी भी घर-घर में और द्वार-द्वार पर यहाँ वहाँ घूमती रहती है। इस गाथा में 'अत्र, तत्र' शब्दों के स्थान पर 'एत्तहे और तेत्तहे' शब्दों का प्रयोग करते हुए 'त्रप्' प्रत्यय के स्थान पर आदेश-प्राप्त प्रत्यय 'डेत्तहे=एत्तहे' की साधना की गई है। इस 'डेत्तहे=एत्तहे' प्रत्यय की सर्व-नाम-शब्दों में संप्राप्ति होने के पश्चात् ये शब्द अव्यय रूप हो जाते हैं; यह बात ध्यान में रहनी चाहिये। ॥ ४-४३६ ॥

त्व-तलोः प्पणः ॥ ४-४३७ ॥

अपभ्रंशे त्व तलोः प्रत्यययोः प्पण इत्यादेशो भवति ॥

वड्डप्पणु परि पाविअइ ॥ प्रायोधिकारात् । वड्डत्तणहो तणेण ॥

अर्थः—ग्रंथकार ने अपने संस्कृत-व्याकरण में (हेम० ७-१ मे) भाव-वाचक अर्थ में 'त्व और तल्' प्रत्ययों की प्राप्ति का संविधान किया है; उन्हीं 'त्व और तल्' प्रत्ययों के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'प्पण' प्रत्यय की आदेश प्राप्ति होती है। जैसे:—भद्रत्वं=भल्लप्पणु=भद्रता-सज्जनता। (२) महत्त्वं पुनः प्राप्यते=वड्डप्पणु परि पाविअइ=बड़प्पन तभी प्राप्त किया जा सकता है। इन उदाहरणों में 'त्व'

के स्थान पर 'प्पण' प्रत्यय को प्रस्थापित किया है। अपभ्रंश भाषा में अनेक नियम ऐसे हैं, जोकि 'प्रायः' करके लागू हुआ करते हैं; तदनुसार 'प्पण' प्रत्यय के स्थान पर प्रायः करके 'त्तण' प्रत्यय (२-१५४ के अनुसार) भी आया करता है। जैसे:—(१) भद्रत्वम् = भल्लत्तणु = भद्रता-सज्जनता। (२) महत्त्वस्य कृते = वड्डत्तणहो तणेण = बड़प्पन प्राप्त करने के लिये। यों 'प्पण' और 'त्तण' दोनों प्रत्ययों की प्राप्ति 'त्व तथा तल्' प्रत्ययों के स्थान पर देखी जाती है॥ ४-४३७॥

तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवा॥ ४-४३८॥

अपभ्रंशे तव्य प्रत्ययस्य इएव्वउं एव्वउं एवा इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति॥

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रु मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ॥
महु करिएव्वउं किं पि णवि मरिएव्वउं पर देज्जइ॥१॥

देसुच्चाडणु सिहि-कढणु घण-कुट्टणु जं लोइ॥
मञ्जिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउँ होइ॥२॥

सोएवा पर वारिआ, पुप्फवईहिं समाणु॥
जग्गेवा पुणु को धरइ, जइ सो वेउ पमाणु॥३॥

अर्थ—'चाहिये' इस अर्थ में संस्कृत-भाषा में 'तव्य' प्रत्यय की प्राप्ति होती है, इस अर्थ में प्राप्त होने वाले 'तव्य' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में तीन प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति हुआ करती है; जोकि क्रम से इस प्रकार हैं:—

(१) इएव्वउ, (२) एव्वउं और (३) एवा। जैसे:—कर्त्तव्यम्=करिएव्वउं, करेव्वउं और करेवा=करना चाहिये। तीनों प्रत्ययों को समझाने के लिये वृत्ति में जो गाथाऐं दी गई हैं, उनका अनुवाद क्रम से यों हैं:—

(१) संस्कृतः—एतद् गृहीत्वा यन्मया यदि प्रियः उद्वार्यते॥
मम कर्तव्यं किमपि नापि मर्तव्यं परं दीयते॥१॥

हिन्दी—(कोई सिद्ध पुरुष-विशेष अपनी विद्या की सिद्धि के लिये किसी नायिका-विशेष को धन आदि देकर उसके बदले में बलिदान के लिये उसके पति को लेना चाहता है; इस पर वह नायिका कहती है कि.—) यदि यह (धन-सपत्ति) ग्रहण करके मैं अपने पति का परित्याग कर देती हूँ तो फिर मेरा कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है, सिवाय इसके कि मैं मृत्यु का आलिंगन कर लूँ। अर्थात् तत्पश्चात् मुझे मर जाना ही चाहिये। इस गाथा में 'कर्त्तव्य और मर्तव्य' पदों में आये हुए 'तव्य' प्रत्यय के स्थान

र अपभ्रंश-भाषा में 'इएव्वउं' आदेश-प्राप्त प्रत्यय का प्रयोग किया गया है और ऐसा करते हुए 'करि-व्वउं और मरिएव्वउं' पदों का निर्माण किया गया है ॥१॥

संस्कृतः—देशोच्चाटनं, शिखि-कथनं, घन-कुट्टनं यद् लोके ॥
मञ्जिष्ठया अतिरक्तया, सर्वं सोढव्यं भवति ॥२॥

हिन्दीः—मंजिष्ठा नाम वाला एक पौधा होता है, जोकि अत्यधिक लाल वर्ण वाला होता है और स लालिमा के कारण से ही वह जन साधारण द्वारा आकर्षित किया जाकर सर्व प्रथम तो जड़-मूल से ो उखाड़ा जाता है और तत्पश्चात् अग्नि पर क्वाथ के रूप में खूब ही पकाया जाता है; एवं इसके बाद ंग-प्राप्ति के लिये' लोहे के भारी घन से कूटा जाता है; यों अपनी रक्त-वर्णता के कारण से उसे सब-कुछ हन-करने योग्य स्थिति वाला बनना पड़ता है।

इस गाथा में संस्कृत-पद 'सोढव्यं' के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में 'सहेव्वउं' पद का प्रयोग करते ए यह समझाया गया है कि 'तव्यं' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में द्वितीय प्रत्यय 'एव्वउं' की ादेश-प्राप्ति हुई है ॥२॥

संस्कृतः—स्वपितव्यं परं वारितं पुष्पवतीभिः समानम् ॥
जागरितव्यं पुनः कः धरति? यदि स वेदः प्रमाणम् ॥३॥

हिन्दीः—ऋतुमती स्त्रियों के साथ 'सोना चाहिये' इसका निषेध किया गया है। तो फिर ऐसा ौन है? जिसको जागता हुआ रहना चाहिये। इसके लिये वेद ही प्रमाण-स्वरूप है। इस गाथा में स्वपितव्यं और जागरितव्य' पदों में आये हुए 'तव्यं' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में तृतीय प्रत्यय एवा' का प्रयोग करते हुए 'सोएवा और जग्गेवा' पद-रूपों का निर्माण किया गया है ॥३॥

यों संस्कृत-प्रत्यय 'तव्य के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में उक्त प्रकार से तीन प्रत्ययों की आदेश-प्राप्ति की स्थिति को समझ लेना चाहिये। 'चाहिये' अर्थक इस कृदन्त का संस्कृत-व्याकरण में 'विधि-कृदन्त' के नाम से उल्लेख किया जाता है। अंग्रेजी में इसको (Potential Passive Participles) कहते हैं ॥ ४-४३८ ॥

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥ ४-४३९ ॥

अपभ्रंशे क्त्वा प्रत्ययस्य इ इउ इवि अवि इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥ इ।

हिअडा जइ वेरिअ, घणा तो किं अब्भि चडाहुं ॥
अम्हाहिं वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥ १ ॥

इउ। गय-घड भज्जिउ जन्ति ॥

इवि ॥ रक्खइ सा विस-हारिणी, वे कर चुम्बिवि जीउ ॥
पडिबिम्बिअ-मुंजालु जलु जेहिं अडोहिअ पीउ । २॥

अवि ॥ बाह विछोडवि जाहि तुहुं, हउं तेवंइ को दोसु ॥
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउं मुञ्ज सरोसु ॥ ३ ॥

अर्थः—'करके' इस अर्थ में सम्बन्ध कृदन्त का विधान होता है। यह कृदन्त विश्व की सभी अर्वाचीन और प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध है। संस्कृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी नियमानुसार इसका अस्तित्व है। तदनुसार संस्कृत-भाषा में इस अर्थ में 'क्त्वा' प्रत्यय का सन्विधान होता है और अपभ्रंश भाषा में इस 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर आठ प्रत्ययों की आदेश प्राप्ति होती है; इन आठ प्रत्ययों में से चार प्रत्ययों की व्यवस्था तो इसी सूत्र में की गई है और शेष चार प्रत्ययों का सविधान सूत्र-सख्या ४-४४० में पृथक्-रूप से किया गया है, इसमें यह कारण है कि वे शेष चार प्रत्यय सबंध-कृदन्त में भी प्रयुक्त होते हैं और हेत्वर्थ-कृदन्त में भी काम में आते हैं; यों उनकी स्थिति उभय रूप वाली है इसलिये उनका विधान पृथक् सूत्र की रचना करके किया गया है। इस सूत्र में सबंध-कृदन्त के अर्थ में जिन चार प्रत्ययों की रचना की गई है; वे क्रम से इस प्रकार हैं:—

(१) इ, (२) इउ, (३) इवि और (४) अवि ॥ जैसे:— कृत्वा=(१) करि, (२) करिउ, (३) करिवि और (४) करवि=करके। (२) लब्ध्वा=(१) लहि, (२) लहिउ, (३) लहिवि और (४) लहवि=प्राप्त करके-पा करके। वृत्ति में चारों प्रत्ययों को समझाने के लिये चार गाथाएँ उद्धृत की गई हैं; उनका अनुवाद क्रम से यों हैं:—

(१) संस्कृतः—हृदय ! यदि वैरिणो घनाः, तत् किं अभ्रे आरोहामः ॥
अस्माकं द्वौ हस्तौ यदि पुनः मारयित्वा म्रियामहे ॥१॥

हिन्दीः—हे हृदय ! यदि ये मेघ (बादल-समूह) (विरह-दुःख उत्पादक होने से) शत्रु रूप हैं तो क्या इन्हें नष्ट करने के लिये आकाश में ऊपर चढ़ें ? अरे ! हमारे भी दो हाथ हैं, यदि मरना ही है तो प्रथम शत्रु को मार करके पीछे हम मरेंगे ॥१॥ इस गाथा में 'मारयित्वा' पद के स्थान पर 'मारि' पद का उपयोग करते हुए 'क्त्वा' प्रत्यय के अर्थ में अपभ्रंश में 'इ' प्रत्यय का प्रयोग समझाया गया है।

(२) संस्कृतः—गज-घटान् भित्त्वा गच्छन्ति=गय-घड भज्जिउ जन्ति=हाथियों के समूह को भेद कर के जाते हैं। यहाँ पर 'भित्त्वा' के स्थान पर 'भज्जिउ' लिख करके द्वितीय प्रत्यय 'इउ' का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

(३) संस्कृतः—रक्षति सा विषहारिणी, द्वौ करौ चुम्बित्वा जीवम् ॥
प्रतिबिम्बित मुञ्जालं जलं, याभ्यामनवगाहितं पीतम् ३॥

हिन्दीः—(जिसके आलिंगन करने से काम-विकार रूप विष दूर होता है ऐसी) विष को हरण करने वाली वह नायिका-विशेष अपने दोनों हाथों का चुम्बन करके अपने जीवन की रक्षा कर रही है; क्योंकि इन दोनों हाथों ने जल के अन्दर डुबकी लगाये बिना ही उस जल का पान किया है; जिसमें कि मुञ्ज राजा का (अथवा मुञ्ज नामक घास विशेष का) प्रतिबिम्ब पड़ा है। इस छंद में 'चुम्बित्वा' पद में रहे हुए संबंध-कृदन्त वाचक प्रत्यय 'क्त्वा' के स्थान पर अपभ्रंश भाषा में 'चुम्बिवि' पद का निर्माण करके तदर्थक 'इवि' प्रत्यय का संयोग सूचित किया गया है ॥३॥

(४) संस्कृतः—बाहू विच्छोटय याहि त्वं, भवतु तथा को दोषः ?
हृदय स्थितः यदि निः सरसि, जानामि मुञ्जः सरोषः ॥४॥

हिन्दीः—अरे मुञ्ज ! यदि तुम भुजाओं को छुड़ा करके जाते हो तो इसमें कौन सा दोष है ? अथवा कौनसी हानि है ? क्योंकि तुम मेरे हृदय में बसे हुए हो और ऐसा होने पर यदि तुम मेरे हृदय में से निकल कर भागो तो मैं जानूँ कि मुञ्ज मुझ से रूष्ट है। यहाँ पर संबंध कृदन्त-अर्थ में 'विच्छोट्य' पद आया हुआ है; जिसका भाषान्तर अपभ्रंश भाषा में 'विछोडवि' पद के रूप में किया है और ऐसा करते हुए संबंध-कृदन्त-अर्थ-वाचक-प्रत्यय 'अवि' का प्रयोग किया गया है ॥४॥ यों चारों प्रकार के प्रत्ययों की स्थिति को समझ लेना चाहिये ॥ ४-४३९ ॥

एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ॥ ४-४४० ॥

अपभ्रंशे क्त्वा प्रत्ययस्य एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥

जेप्पि असेसु कसाय-बलु देप्पिणु अभउ जयस्सु ॥
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ॥ १ ॥

पृथग्योग उत्तरार्थः ॥

अर्थः—इस सूत्र में भी संबंध-कृदन्त-वाचक प्रत्ययों का ही वर्णन है। ये प्रत्यय हेत्वर्थ-कृदन्त के अर्थ में भी प्रयुक्त होते है; इसलिये इन प्रत्ययों को एक साथ पूर्व-सूत्र में नहीं लिखते हुए पृथक्-सूत्र के रूप में इनका विचार किया गया है। इस अर्थ को प्रदर्शित करने के लिये वृत्ति में 'पृथक्-योग' और 'उत्तरार्थः' ऐसे दो पद खास तौर पर दिये गये हैं। 'पृथक्-योग' का तात्पर्य यही है कि इन प्रत्ययों का सम्बन्ध अन्य कृदन्त (अर्थात् हेत्वर्थ-कृदन्त) के लिये भी है। 'उत्तरार्थः' पद का यह अर्थ है कि इन प्रत्ययों का वर्णन और सम्बन्ध आगे के सूत्र से भी जानना। यों संबंध कृदन्त के अर्थ में (और हेत्वर्थ-

कृदन्त के अर्थ में भी) जो चार प्रत्यय (विशेष) होते हैं, वे क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) एप्पि, (२) एप्पिणु, (३) एवि और (४) एविणु। जैसे.—कृत्वा = करेप्पि, करेप्पिणु, करेविणु और करेवि=करके। (हेत्वर्थ-कृदन्त के अर्थ में 'करने के लिये' ऐसा तात्पर्य उद्भूत होगा)। वृत्ति में जो गाथा उद्धृत की गई है, उसमें उक्त प्रत्ययों को क्रम से इस प्रकार से व्यक्त किया है:—

(१) जित्वा = जेप्पि = जीत करके।

(२) दत्त्वा = देप्पिणु = दे करके।

(३) लात्वा = लेवि=ले करके अथवा ग्रहण करके।

(४) ध्यात्वा = झाएविणु= ध्यान करके-चिंतन करके।

पूरी गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृतः—जित्वा अशेष कषाय-बल, दत्त्वा अभयं जगतः॥
लात्वा महाव्रतं शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम्॥१॥

हिन्दी:— भव्य प्राणी अथवा मुमुक्षु प्राणी सर्व प्रथम सम्पूर्ण कषाय-समूह को जीत कर के, तत्पश्चात् विश्व-प्राणियों को अभयदान देकर के एवं महाव्रतों को ग्रहण करके अन्त में वास्तविक द्रव्य रूप तत्त्वों का ध्यान करके मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेते हैं॥ ४-४४०॥

तुम एवमणाणहमणहिं च ॥ ४-४४१ ॥

अपभ्रंशे तुमः प्रत्ययस्य एवं, अण, अणहं, अणहि इत्येते चत्वारः, चकारात् एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्येते, एवं चाष्टावादेशा भवन्ति॥

देवं दुक्करु निअय-धणु करण न तउ पडिहाइ॥
एम्वइ सुहु भुञ्जणह, मणु पर भुञ्जणहिं न जाइ॥१॥
जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि॥
विणु सन्तें तित्थेसरेण, को सक्कइ भुवणे वि॥२॥

अर्थ.—'के लिये' इस अर्थ में हेत्वर्थ-कृदन्त का प्रयोग होता है और यह कृदन्त भी विश्व की सभी भाषाओं में पाया जाता है, तदनुसार संस्कृत-भाषा में इस कृदन्त के निर्माण के लिये 'तुम्' प्रत्यय का विधान किया गया है और इस प्राप्त प्रत्यय 'तुम्' के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में आठ प्रत्ययों का सविधान किया गया है। जोकि आदेश-प्राप्ति के रूप में कहे जाते हैं, वे आदेश-प्राप्त आठों ही प्रत्यय क्रम

से इस प्रकार हैं:—(१) एवं, (२) अण, (३) अणहं, (४) अणहिं, (५) एप्पि, (६) एप्पिणु, (७) एवि और (८) एविणु। इन आठ प्रत्ययों मे से किसी भी एक प्रत्यय को धातु में जोड़ देने पर उसका 'के लिये' ऐसा अर्थ प्रतिध्वनित हो जाता है। जैसे:—(१) त्यक्तुं = चएवं = छोड़ने के लिये। (२) भोक्तुं = भुञ्जण = भोगने के लिये। (३) सेवितुं = सेवणहं = सेवा करने के लिये। (४) मोक्तुं = मुञ्चणहिं = छोड़ने के लिये। (५) कर्त्तुम् = करेप्पि = करने के लिये। (६) कर्तुं = करेविणु = करने के लिये। (७) कर्तुं = करेप्पि और (८) करेप्पिणु = करने के लिये। वृत्ति में प्रदत्त गाथाओं में उपरोक्त आठों प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग क्रम से यो किया गया हैं:—

(१) 'एवं' प्रत्यय; दातुं = देवं = देने के लिये।

(२) 'अण' प्रत्यय; कर्तुं = करण = करने के लिये।

(३) 'अणहं' प्रत्यय; भोक्तुं = भुञ्जणहं = भोगने के लिये।

(४) 'अणहिं' प्रत्यय; भोक्तुं = भुञ्जणहिं = भोगने के लिये।

(५) 'एप्पि' प्रत्यय; जेतुं = जेप्पि = जीतने के लिये।

(६) 'एप्पिणु' प्रत्यय; त्यक्तुं = चएप्पिणु = छोड़ने के लिये।

(७) 'एवि' प्रत्यय; पालयितुम् = पालेवि = पालन करने के लिये।

(८) 'एविणु' प्रत्यय; लातुं = लेविणु = लेने के लिये।

उक्त दोनो गाथाओं का पूरा अनुवाद क्रम से यों है:—

संस्कृतः—दातुं दुष्करं निजकं धनं, कर्तुं न तपः प्रतिभाति॥
एवं सुखं भोक्तुं मनः, परं भोक्तुं न याति॥१॥

हिन्दीः—अपने धन को दान में देने के लिये दुष्करता अनुभव होती है; तप करने के लिये भावनाएँ नहीं उत्पन्न होती हैं और मन सुख को भोगने के लिये व्याकुल सा रहता है; परन्तु सुख भोगने के लिये संयोग नहीं प्राप्त होते हैं॥१॥ इस गाथा में हेत्वर्थ-कृदन्त के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले चार प्रत्यय व्यक्त किये गये हैं; जोकि दृष्टान्त रूप से ऊपर लिख दिये गये हैं॥१॥

संस्कृतः—जेतुं त्यक्तुं सकलां धरां, लातुं तपः पालयितुम्॥
विना शान्तिना तीर्थेश्वरेण, कः शक्नोति भुवनेऽपि॥२॥

हिन्दीः—सर्व प्रथम सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने के लिये और तत्पश्चात् पुनः उसका (वैराग्य पूर्ण रीति से) परित्याग करने के लिये एवं व्रतों को ग्रहण करने के लिये तथा तप को पालने के लिये (यों

क्रम से असाधारण कार्यों को करने के लिये) भगवान् शान्तिनाथ प्रभु के सिवाय दूसरा कौन इस विश्व में समर्थ हो सकता है। इस गाथा में हेत्वर्थ-कृदन्त के अर्थ में प्रयुक्त किये जाने वाले शेष चार प्रत्ययों की उपयोगिता बतलाई है; जो दृष्टान्त रूप से ऊपर लिखे जा चुके हैं॥ ४-४४१॥

गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ॥ ४-४४२ ॥

अपभ्रंशे गमेर्धातोः परयोरेप्पिणु एप्पि इत्यादेशयो रेकारस्य लुग् भवन्ति वा ।

गम्प्पिणु वाणारसिहिं, नर अह उज्जेणिहिं गम्प्पि ॥
मुआ परावहिं परम-पउ, दिव्वन्तरइं म जम्पि ॥१॥

पक्षे ।

गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिव-तित्थ गमेप्पि ॥
कीलदि तिदसावास-गउ, सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥२॥

अर्थः—अपभ्रंश-भाषा में 'जाना, गमन करना' अर्थक धातु 'गम्' में सबंध-कृदन्त अर्थक प्रत्यय 'एप्पिणु और एप्पि' का संयोजना होने पर इन प्रत्ययों में अवस्थित आदि स्वर 'एकार' का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसेः—गत्वा = गम्प्पिणु अथवा गमेप्पिणु और गम्प्पि अथवा गमेप्पि = जाकर के। इन्हीं चारों पदों का प्रयोग वृत्ति में दी गई गाथाओं में किया गया है; जिनका अनुवाद इस प्रकार से हैः—

संस्कृतः—गत्वा वाराणसीं नराः अथ उज्जयिनीं गत्वा ॥
मृताः प्राप्नुवन्ति परमं पदं, दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥१॥

हिन्दीः—मनुष्य सर्व-प्रथम बनारस तीर्थ को जाकर के और तत्पश्चात् उज्जयिनी तीर्थ को जाकर के मृत्यु प्राप्त करने पर सर्वोत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं; इसलिये अन्य पवित्र तीर्थों की बात मत कर। इस गाथा में 'एप्पिणु और एप्पि' प्रत्ययों में अवस्थित आदि स्वर 'एकार' का लोप-स्वरूप प्रदर्शित किया गया है ॥१॥

संस्कृतः—गङ्गां गत्वा यः म्रियते, यः शिवतीर्थं गत्वा ॥
क्रीडति त्रिदशावासगतः, स यमलोकं जित्वा ॥२॥

हिन्दीः—जो पवित्र गंगा नदी के स्थान पर जाकर मृत्यु प्राप्त करता है अथवा जो शिवतीर्थ-बनारस में जाकर मृत्यु प्राप्त करता है, वह यमलोक को जीतकर इन्द्रादि देवताओं के रहने के स्थान को प्राप्त करता हुआ परम सुख का अनुभव करता है। इस गाथा में 'गमेप्पिणु और गमेप्पि' पदों में रहे हुए 'एप्पिणु तथा एप्पि' प्रत्ययों में आदि 'एकार' स्वर का अस्तित्व ज्यों का त्यों व्यक्त किया गया है। या वैकल्पिक-स्थिति को समझ लेना चाहिये ॥ ४-४४२ ॥

तृनोणअः ॥ ४-४४३ ॥

अपभ्रंशे तृनः प्रत्ययस्य अणअ इत्यादेशो भवति ॥ हत्थि मारणउ, लोउ बोल्लणउ, पडहु वज्जणउ, सुणउ भसणउ ॥

अर्थः—'के स्वभाववाला' अथवा 'वाला' अर्थ में एवं 'कर्तृ' अर्थ में संस्कृत-भाषा में 'तृच् = तृ' प्रत्यय की प्राप्ति होती है; तदनुसार इस 'तृच्' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में 'अणअ' ऐसे प्रत्यय की आदेश-प्राप्ति का संविधान है। जैसेः—कर्तृ = करणअ = करनेवाला अथवा करने के स्वभाव वाला। मारयितृ = मारणअ = मारनेवाला अथवा मारने के स्वभाव वाला। अज्ञातृ = अजाणअ = नहीं जानने वाला। यह 'अणअ' प्रत्यय धातुओं में जुड़ता है और धातुओं में जुड़ने के पश्चात् वे शब्द संज्ञा-स्वरूप वाले बन जाते हैं; एवं उनके रूप आठों विभक्तियों में नियमानुसार चलाये जा सकते हैं। वृत्ति में प्रदत्त उदाहरणों का स्पष्टीकरण यों हैं:—

(१) हस्ती मारयिता = हत्थि मारणउ = हाथी मारने के स्वभाव वाला है।

(२) लोकः कथयिता = लोउ बोल्लणउ = जन-साधारण बोलने के स्वभाव वाला है।

(३) पटहः वादयिता = पडहु वज्जणउ = ढोल आवाज अथवा प्रतिध्वनि करने के स्वभाव वाला है।

(४) शुनकः भषिता = सुणउ भसणउ = कुत्ता भौंकने के स्वभाव वाला है ॥ ४-४४३ ॥

इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥ ४-४४४ ॥

अपभ्रंशे इव शब्दस्यार्थे नं, नउ, नाइ, नावइ, जणि, जणु इत्येते षट् भवन्ति ॥

नं ॥ नं मल्ल-जुज्झु ससि राहु करहिं ॥

नउ ॥ रवि-अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ॥
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१॥

नाइ ॥ वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ॥
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥ २ ॥

नावइ ॥ पेक्खेविणु मुहु जिण-वरहो दीहर-नयण सलोणु ॥
नावइ गुरु-मच्छर-भरिउ, जलणि पवीसइ लोणु ॥३॥

जणि ॥ चम्पय-कुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ ॥
सोहइ इन्द नीलु जणि कणइ बइट्ठउ ॥ ४ ॥

जणु ॥ निरुवम-रसु पिएं पिएवि जणु ॥

अर्थ—'के समान' अथवा 'के जैसा' अर्थ में संस्कृत-भाषा में 'इव' अव्यय-शब्द का प्रयोग होता है; तदनुसार इस 'इव' अव्यय शब्द के स्थान पर अपभ्रंश-भाषा में छह शब्दों की आदेश प्राप्ति होती है। जाकि क्रम से इस प्रकार है:—(१) नं, (२) नउ, (३) नाइ, (४) नावइ, (५) जणि और (६) जणु। इनके उदाहरण यों हैं:—(१) पशुरिव = नं पसु = पशु के समान, पशु के जैसा। (२) निवेशितः इव = नउ निवेसिउ = स्थापित किये हुए के समान। (३) विलिखितः इव = नाइ लिहिउ = (पत्थर पर) खुदे हुए के समान। (४) प्रतिबिम्बितः इव = नावइ पडिबिम्बिउ = प्रतिछाया के समान। (५) स्वभावः इव = जणि सहजु = स्वभाव के समान, और (६) लिखितः इव = जणु लिहिउ = लिखे हुए के समान। वृत्ति में आये हुए उदाहरणों का अनुवाद क्रम से यों हैं:—

(१) संस्कृतः—मल्ल-युद्ध इव शशि राहू कुरुतः = नं मल्ल-जुज्झु ससि-राहु करहिं = पहलवानों की लड़ाई के समान चन्द्रमा और राहू दोनों ही युद्ध करते हैं। यहाँ पर 'इव' अर्थ में आदेश-प्राप्त शब्द 'नं' का प्रयोग किया गया है।

(२) संस्कृतः—रव्यस्तमने समाकुलेन कण्ठे वितीर्णः न छिन्नः ॥
चक्रेण खण्डः मृणालिकायाः ननु जीवार्गलः दत्तः ॥१॥

हिन्दीः—सूर्य-देव के अस्त हो जाने पर घबड़ाये हुए चकवा नामक पक्षी के द्वारा कमलिनी का टुकड़ा यद्यपि मुख में ग्रहण कर लिया गया है, परन्तु उसको गले के अन्दर नहीं उतारा है; मानो इस बहाने उसने अपने जीवन की रक्षा के लिये 'अर्गला-भागल' के समान कमलिनी के टुकड़े को धारण किया हो। इस गाथा में 'इव' अर्थक द्वितीय शब्द 'नउ' को प्रदर्शित किया है ॥१॥

(३) संस्कृतः—वलयावलीनिपतनभयेन, धन्या ऊर्ध्व-भुजा याति ॥
वल्लभ-विरह-महाह्रदस्य स्ताघं गवेषयतीव ॥ २ ॥

हिन्दीः—वह धन्य-स्वरूपा सुन्दर नायिका 'अपनी चूड़ियाँ कहीं नीचे नहीं गिर जाय' इस आशंका से अपनी भुजा को ऊपर उठाये हुए ही चलती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह अपने प्रियतम के वियोग रूपी महाकुंड के तलिये की स्थिति का अनुसंधान कर रही हो। यहाँ पर 'इव' के स्थान पर आदेश-प्राप्त तृतीय शब्द 'नाइ' को प्रयुक्त किया गया है ॥२॥

(४) संस्कृतः—प्रेक्ष्य मुखं जिनवरस्य दीर्घ-नयनं सलावण्यम् ॥
ननु गुरु मत्सर भरितं, ज्वलने प्रविशति लवणम् ॥३॥

हिन्दीः—भगवान् जिनेन्द्रदेव के सुदीर्घ आँखों वाले सुन्दरतम मुख को देख करके मानों महान् ईर्ष्या से भरा हुआ लवण-समुद्र बड़वानल नामक अग्नि में प्रवेश करता है। लवण-समुद्र अपनी सौम्यता पर एवं सुन्दरता पर अभिमान करता था, परन्तु जब उसे जिनेन्द्रदेव के मुख कमल की सुन्दरता का अनुभव हुआ तब वह मानों लज्जा-ग्रस्त होकर अग्नि-स्नान कर रहा हो; यों प्रतीत होता है। इस छन्द में 'इव' अव्यय के स्थान पर प्राप्त चौथे शब्द 'नावइ' के प्रयोग को समझाया गया है ॥४॥

(५) संस्कृतः—चम्पक–कुसुमस्य मध्ये सखि ! भ्रमरः प्रविष्टः ॥
शोभते इन्द्रनीलः ननु कनके उपवेशितः ॥ ५ ॥

हिन्दीः—हे सखि ! (देखो यह) भँवरा चम्पक-पुष्प में प्रविष्ट हुआ है; यह इस प्रकार से शोभायमान हो रहा है कि मानों इन्द्रनील नामक मणि सोने में जड़ दी गई है। यहाँ पर पाँचवें शब्द 'जणि' के प्रयोग को प्रदर्शित किया गया है ॥५॥

(६) संस्कृतः—निरुपम-रसं प्रियेण पीत्वा इव=निरुवम-रसु पिएं पिएवि जणु=प्रियतम पति के द्वारा अद्वितीय रस का पान करके 'इसके समान। यहाँ पर 'इव' अर्थ में छट्ठा शब्द 'जणु' लिखा गया है ॥ ॥ ४-४४४ ॥

लिंगमतन्त्रम् ॥ ४–४४५ ॥

अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रम् व्यभिचारि प्रायो भवति ॥ गयकुम्भइं दारन्तु । अत्र पुल्लिंगस्य नपुंसकत्वम् ॥

अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं पहिउ रडन्तउ जाइ ॥
जो एहा गिरि–गिलण–मणु सो किं धणहे धणाइ ॥१॥

अत्र अब्भा इति नपुंसकस्य पुंस्त्वम् ॥

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ॥
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कन्तस्सु ॥ २ ॥

अत्र अन्त्रडी इति नपुंसकस्य स्त्रीत्वम् ॥

सिरि चडिआ खन्ति, प्फलइं पुणु डालइं मोडन्ति ॥
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ॥ ३ ॥

अत्र डालइं इत्यत्र स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् ॥

अर्थ.—अपभ्रंश-भाषा में शब्दों के लिंग के सम्बन्ध में दोष-युक्त व्यवस्था पाई जाती है; तद्-नुसार पुल्लिंग शब्द को कभी कभी नपुंसकलिंग के रूप में व्यक्त कर दिया जाता है और कभी कभी नपुंसकलिंगवाले शब्द को पुल्लिंग के रूप में लिख दिया जाता है; इसी प्रकार से स्त्रीलिंगवाले शब्द को भी प्रायः नपुंसकलिंग के रूप में प्रदर्शित कर दिया जाता है और नपुंसकलिंगवाले शब्द को भी स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त किया जाता हुआ देखा जाता है; यों प्रायः होने वाली इस व्यवस्था को ग्रंथकार ने वृत्ति में 'व्यभिचारी' व्यवस्था के नाम से कहा है। इस दोष-युक्त परिपाटी को समझाने के लिये वृत्ति में जो उदाहरण दिये गये हैं; उनका अनुवाद क्रमशः इस प्रकार से हैं:—

(१) संस्कृतः—गजानां कुम्भान् दारयन्तम्=गय-कुम्भइं दारन्तु=हाथियों के गण्ड-स्थलों को चीरते हुए को। यहाँ पर 'कुम्भ' शब्द को नपुंसकलिंग के रूप में व्यक्त कर दिया है; जबकि यह शब्द पुल्लिंग है।

(२) संस्कृतः—अभ्राणि लग्नानि पर्वतेषु, पथिकः आरटन् याति ॥
यः एषः गिरिग्रसनमनाः स किं धन्यायाः घृणायते ॥१॥

हिन्दीः—पर्वतों के शिखरों पर लगे हुए अथवा झुके हुए बादलों को (लक्ष्य करके) यात्री यह कहता हुआ जा रहा है कि—'यह मेघ (क्या) पर्वतों का निगल जाने की कामना कर रहा है अथवा (क्या) यह उस सौभाग्य-शालिनी नायिका से घृणा करता है। (क्योंकि इस घन-श्याम मेघ-माला को देखने से उस नायिका के चित्त में काम-वासना तीव्र रूप से पीड़ा पहुँचाने लगेगी) इस छन्द में मेघ-वाचक शब्द 'अब्भ' को पुल्लिंग के रूप में लिखा है, जबकि वह नपुंसकलिंगवाला है ॥१॥

(३) संस्कृतः—पादे विलग्नं अन्त्रं, शिरः स्रस्तं स्कन्धात् ॥
तथापि कटारिकायां हस्तः बलिः क्रियते कान्तस्य ॥२॥

हिन्दीः—कोई एक नायिका अपनी सखि से अपने प्रियतम पति को रण-क्षेत्र में प्रदर्शित वीरता के सम्बन्ध में चर्चा करती हुई कहती है कि—'देखो ! युद्ध करते करते उसके शरीर की आन्तड़ियाँ बाहिर निकल कर पैरों तक जा लटकी हैं और शिर धड़ से लटक सा गया है, फिर भी उसका हाथ कटारी पर (छोटी सी तलवार पर) शत्रु को मारने के लिये लगा हुआ है; ऐसे वीर पति के लिये मैं बलिदान होती हूँ।' इस गाथा में 'अन्त्रडी' शब्द को स्त्रीलिंग के रूप में बतलाया है, जबकि यह नपुंसकलिंगवाला है ॥२॥

(४) संस्कृतः—शिरसि आरूढाः खादन्ति फलानि; पुनः शाखाः मोटयंति ॥
तथापि महाद्रुमाः शकुनीनां अपराधितं न कुर्वन्ति ॥ ३ ॥

हिन्दीः—देखो ! पक्षीगण महावृक्षों की सर्वोच्च शाखाओं पर बैठते हैं, उनके फलों को रुचि-पूर्वक खाते हैं तथा उनकी डालियों को तोड़ते हैं-मरोड़ते हैं, फिर भी उन महावृक्षों की कितनी ऊँची उदारता है कि वे न तो उन पक्षियों को अपराधी ही मानते हैं और न उन पक्षियों के प्रति कुछ भी हानि

पहुँचाने की कामना ही करते हैं। (यही वृत्ति सज्जन-पुरुषों की भी दुर्जन पुरुषों के प्रति होती है)। इस गाथा में 'डालइं' शब्द आया है, जोकि मूल रूप से स्त्रीलिंगवाला है फिर भी उसका प्रयोग यहाँ पर नपुंसकलिंग के रूप में कर दिया गया है। यों अपभ्रंश-भाषा में अनेक स्थानों पर पाई जाने वाली लिंग सम्बन्धी दुर्व्यवस्था की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिये ॥ ४-४४५ ॥

शौरसेनीवत् ॥ ४-४४६ ॥

अपभ्रंशे प्रायः शौर-सेनीवत् कार्यं भवति ॥

सीसि सेहरु खणु विणिम्मविदु;
खणु कण्ठि पालम्बु किदु रदिए ॥
विहिदु खणु मुण्ड-मालिए जं पणएण;
तं नमहु कुसुम-दाम-कोदण्डु कामहो ॥१॥

अर्थः—शौरसेनी भाषा में व्याकरण-संबंधित जो नियम-उपनियम एवं संविधान हैं; वे सब प्रायः अपभ्रंश-भाषा में भी लागू पड़ते हैं। यों शौरसेनी-भाषा के अनुसार प्रायः अनेक कार्य अपभ्रंश-भाषा में भी देखे जाते हैं। जैसेः—

(१) निर्वृतिं = निव्वुदि = आरम्भ-परिग्रह से रहित वृत्ति को।

(२) विनिर्मापितम् = विणिम्मविदु = स्थापित किया हुआ है, उसको।

(३) कृतम् = किदु = किया हुआ है।

(४) रत्याः = रदिए = कामदेव की स्त्री रति के।

(५) विहितं = विहिदु = किया गया है।

इन उदाहरणों मे शौरसेनी-भाषा से संबंधित नियमों के अनुसार कार्य हुआ है। पूरी गाथा का अनुवाद यों हैं:—

संस्कृतः—शीर्षे शेखरः क्षणं विनिर्मापितम् ॥
क्षणं कण्ठे प्रालम्बं कृतं रत्याः ॥
विहितं क्षणं मुण्ड-मालिकायां ॥
तन्नमत कुसुम-दाम-कोदण्डं कामस्य ॥१॥

हिन्दीः—कामदेवने नीलकण्ठ भगवान् शंकर को अपनी तपस्या से डिगाने के लिये पुष्पों से

निर्मित धनुष को उठाया। सर्व प्रथम उसने क्षण भर के लिये उसको अपने शिर पर आभूषण के रूप में प्रस्थापित किया, तत्पश्चात् रति के कण्ठ में क्षण भर के लिये उसको लटकाये रक्खा और अन्त में शंकर के गले में पड़ी हुई मुण्ड-माला पर क्षण भर के लिये उसकी स्थापना की, ऐसे कामदेव के पुष्पों से बने हुए धनुष को तुम नमस्कार करो ॥१॥ ४-४४६ ॥

व्यत्ययश्च ॥ ४—४४७ ॥

प्राकृतादिभाषालक्षणानां व्यत्ययश्च भवति ॥ यथा मागध्यां 'तिष्ठश्चिष्ठ' इत्युक्तं तथा प्राकृत-पैशाची-शौरसेनाष्वपि भवति। चिष्ठदि । अपभ्रंशे रेफस्याधो वा लुगुक्तो मागध्यामपि भवति। शद माणुश-मंश-भालके कुम्भ शहश्र-वशाहे शंचिदे इत्याद्यन्यदपि दृष्टव्यम् ॥ न केवलं भाषालक्षणानां त्याद्यादेशानामपि व्यत्ययो भवति। ये वर्तमाने काले प्रसिद्धास्ते भूतेपि भवन्ति। अह पेच्छइ रहु-तणओ ॥ अथ प्रेक्षांचक्रे इत्यर्थः ॥ आभासइ रयणीअरे। आबभाषे रजनीचरा-नित्यर्थः ॥ भूते प्रसिद्धा वर्तमानेपि। सोहीअ एस वण्ठो। शृणोत्येष वण्ठ इत्यर्थः ॥

अर्थः—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं में व्याकरण सम्बन्धी जो नियम उपनियम आदि विधि-विधान हैं, उनका परस्पर में व्यत्यय अर्थात् उलट-पुलट पना भी पाया जाता है। जैसे मागधी-भाषा में 'तिष्ठ' के स्थान पर सूत्र-संख्या ४-२९८ के अनुसार 'चिष्ठ' रूप की आदेश-प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ही 'प्राकृत, पैशाची और शौरसेनी' भाषाओं में भी होता है। जैसेः—तिष्ठति=चिष्ठदि=वह बैठता है। अपभ्रंश-भाषा में सूत्र-संख्या ४-३९८ में ऐसा विधान किया गया है कि—'अधो रूप में रहे हुए रेफ रूप 'रकार' वर्ण का विकल्प से लोप हो जाता है'; यही नियम मागधी भाषा में भी देखा जाता है। भाषाओं से सम्बन्धित यह व्यत्यय केवल नियमोपनियमों में ही नहीं होता है किन्तु काल बोधक प्रत्ययों में भी यह व्यत्यय देखा जाता है; तदनुसार वर्तमानकाल-वाचक प्रत्ययों के सद्भाव में भूतकाल-वाचक अर्थ भी निकाल लिया जाता है और इसी प्रकार से भूत-काल-बोधक प्रत्ययों के सद्भाव में वर्तमानकाल-वाचक अर्थ भी समझ लिया जाता है। जैसेः—

(१) अथ प्रेक्षांचक्रे रघु-तनयः=अह पेच्छइ रहु-तणओ=इसके बाद में रघु के लड़के ने देखा।

(२) आबभाषे रजनीचरान्=आभासइ रयणीअरे=राक्षसों को कहा। इन उदाहरणों में वर्त-मानकाल-वाचक 'इ' प्रत्यय का अस्तित्व है; परन्तु 'अर्थ' भूतकाल-वाचक कहा गया है; यों काल-वाचक व्यत्यय इन भाषाओं में देखा जाता है। भूतकाल का सद्भाव होते हुए भी अर्थ वर्तमानकाल का निकाला जाता है; इस सम्बन्धी उदाहरण यों हैं:—शृणोति एष वण्ठः=सोहीअ एस वण्ठो=यह बौना (वामन) सुनता है। इस उदाहरण में 'सोहीअ' क्रियापद में भूतकालीन प्रत्यय 'हीअ' की प्राप्ति हुई है; परन्तु अर्थ वर्तमानकालीन ही लिया गया है। यों काल-बोधक प्रत्ययों में भी व्यत्यय-स्थिति इन भाषाओं में देखी जाती है ॥ ४-४४७ ॥

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४-४४८ ॥

शेषं यदत्र प्राकृतादि भाषासु अष्टमे नोक्तं तत्सप्ताध्यायी निबद्ध संस्कृतवदेव सिद्धम् ॥

हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय, छत्तं अहो इव वहन्ती ॥
जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी ॥ १ ॥

अत्र चतुर्थ्या आदेशो नोक्तः स च संस्कृतवदेव सिद्धः । उक्तमपि क्वचित् संस्कृतवदेव भवति । यथा प्राकृते उरस् शब्दस्य सप्तम्येक वचनान्तस्य उरे उरम्मि इति प्रयोगौ भवतस्तथा क्वचिदुरसीत्यपि भवति ॥ एवं सिरे । सिरम्मि । सिरसि ॥ सरे । सरम्मि । सरसि ॥ सिद्ध-ग्रहणं मङ्गलार्थम् । ततो ह्यायुष्मच्छ्रोतृकताभ्युदयश्चेति ॥

अर्थः—इस आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी आदि छह भाषाओं का व्याकरण लिखा गया है और इन भाषाओं की विशेषताओं के साथ-साथ अनेक नियम तथा उपनियम समझाये गये हैं; इनके अतिरिक्त यदि इन भाषाओं में संस्कृत-भाषा के समान पदों की, प्रत्ययों को, अव्ययों की आदि बातों की समानता दिखलाई पड़े तो उनकी सिद्धि संस्कृत-भाषा में उपलब्ध नियमोपनियमों के अनुसार समझ लेनी चाहिये । तदनुसार संस्कृत-भाषा सम्बन्धी सम्पूर्ण व्याकरण की रचना इस आठवें अध्याय के पूर्व रचित सातों अध्यायों में की गई है । ऐसी भलामण ग्रन्थकार इस सूत्र की वृत्ति में कर रहे हैं; सो ध्यान में रखी जानी चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि-'प्राकृत आदि छह भाषाओं से सम्बन्धित जिस विधि-विधान का उल्लेख इस आठवें अध्याय में नहीं किया गया है; उस सम्पूर्ण विधि-विधान का कार्य संस्कृत-व्याकरण के अनुसार ही सिद्ध हुआ जान लेना चाहिये ।' जैसेः—अधः स्थित-सूर्य-निवारणाय=हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय=नीचे रहे हुए सूर्य की गरमी को अथवा धूप को रोकने के लिये । इस उदाहरण में 'निवारणाय' पद में संस्कृत-भाषा के अनुसार चतुर्थी विभक्ति के एक वचनार्थक प्रत्यय 'आय' की प्राप्ति हुई है । इस प्राप्त प्रत्यय 'आय' का सविधान प्राकृत-भाषा में कहीं पर भी नहीं है; फिर भी प्राकृत-भाषा में इसे अशुद्ध नहीं माना जाता है इसलिये इसकी सिद्धि संस्कृत-भाषा के अनुसार कर लेनी चाहिये । प्राकृत-भाषा मे छाती-अर्थक 'उर' शब्द है; जिसके दो रूप तो सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्राकृत-भाषा के अनुसार होते हैं और एक तृतीय रूप संस्कृत-भाषा के अनुसार भी होता है । जैसेः—उरसि=उरे और उरम्मि अथवा उरसि=छाती पर-छाती में । दूसरा उदाहरण यो है.—शिरसि=सिरे और सिरम्मि अथवा सिरसि=मस्तक में अथवा मस्तक पर । तीसरा उदाहरण वृत्ति के अनुसार इस प्रकार से है:—सरसि=सरे और सरम्मि अथवा सरसि=तालाब में अथवा तालाब पर । यों संस्कृत भाषा के अनुसार प्राकृत आदि भाषाओं में उपलब्ध पदों की सिद्धि संस्कृत के समान ही समझ कर इन्हें शुद्ध ही मानना चाहिये ।

सूत्र के अन्त में 'सिद्धम्' ऐसे मंगल वाचक पद की रचना 'मंगलाचरण' की दृष्टि से की गई है। इससे यही प्रतिध्वनित होता है कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन करनेवालों का जीवन दीर्घायुवाला और स्वस्थ रहनेवाला हो तथा वे अपने जीवन में अभ्युदय अर्थात् सफलता तथा यश प्राप्त करें। आचार्य हेमचन्द्र ऐसी पवित्र-कामना के साथ इस अत्युत्तम ग्रन्थ को समाप्ति करते हैं।

वृत्ति में दी हुई गाथा का पूरा अनुवाद क्रम से यों हैं:—

संस्कृतः—अधः स्थित-सूर्य-निवारणाय; छत्रं अधः इव वहन्ति ॥
जयति सशेषा वराह-श्वास-दूरोत्क्षिप्ता पृथिवी ॥१॥

हिन्दीः—वराह-अवतार के तीक्ष्ण श्वास से दूर फेंकी हुई पृथ्वी शेष-नाग के फणों के साथ जयशील होती है। नीचे रहे हुए सूर्य के कारण से उत्पन्न होने वाले ताप को रोकने के लिये मानों शेष-नाग के फणों को ही छत्र रूप में परिणत करती हुई एवं इन्हें नीचे वहन करती हुई जय-विजयशील होती है। ॥ ४-४४८ ॥

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र बिरचितायां सिद्ध हेम-
चन्द्राभिधान-स्वोपज्ञ-शब्दानुशासन-
वृत्तावष्टमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः
समाप्तः ॥

इति श्री हेमचन्द्र आचार्य द्वारा बनाई गई "सिद्ध हेमचन्द्र"
नामक प्राकृत-व्याकरण समाप्त हुई। इसमें आठवें अध्याय
का चौथा पाद भी समाप्त हुआ। इसकी वृत्ति भी मूल
ग्रंथकार द्वारा ही बनाई गई है।

समाप्ता चेयं सिद्ध हेमचन्द्रशब्दानुशासनवृत्तिः
"प्रकाशिका" नामेति।

मूल ग्रन्थकार द्वारा ही इस अष्टाध्यायी "सिद्ध हेमचन्द्र"
नामक व्याकरण पर जो वृत्ति अर्थात् टीका
बनाई गई हैं; उसका नाम "प्रकाशिका" टीका
है; वह भी यहाँ पर समाप्त हो रही है।

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४-४४८ ॥

शेषं यदत्र प्राकृतादि भाषासु अष्टमे नोक्तं तत्सप्ताध्यायी निबद्ध संस्कृतवदेव सिद्धम् ॥

हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय, छत्तं अहो इव वहन्ती ॥
जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी ॥ १ ॥

अत्र चतुर्थ्या आदेशो नोक्तः स च संस्कृतवदेव सिद्धः । उक्तमपि क्वचित् संस्कृतवदेव भवति । यथा प्राकृते उरस् शब्दस्य सप्तम्येक वचनान्तस्य उरे उरम्मि इति प्रयोगौ भवतस्तथा क्वचिदुरसीत्यपि भवति ॥ एवं सिरे । सिरम्मि । सिरसि ॥ सरे । सरम्मि । सरसि ॥ सिद्ध-ग्रहणं मङ्गलार्थम् । ततो ह्यायुष्मच्छ्रोतृकताभ्युदयश्चेति ॥

अर्थः—इस आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी आदि छह भाषाओं का व्याकरण लिखा गया है और इन भाषाओ की विशेषताओं के साथ-साथ अनेक नियम तथा उपनियम समझाये गये हैं; इनके अतिरिक्त यदि इन भाषाओं में संस्कृत-भाषा के समान पदों की, प्रत्ययों को, अव्ययों की आदि बातों की समानता दिखलाई पड़े तो उनकी सिद्धि संस्कृत-भाषा में उपलब्ध नियमोपनियमों के अनुसार समझ लेनी चाहिये । तदनुसार संस्कृत-भाषा सम्बन्धी सम्पूर्ण व्याकरण की रचना इस आठवें अध्याय के पूर्व रचित सातों अध्यायों में की गई है । ऐसी भलामण ग्रन्थकार इस सूत्र की वृत्ति में कर रहे हैं; सो ध्यान में रखी जानी चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि-'प्राकृत आदि छह भाषाओं से सम्बन्धित जिस विधि-विधान का उल्लेख इस आठवे अध्याय में नहीं किया गया है; उस सम्पूर्ण विधि-विधान का कार्य संस्कृत-व्याकरण के अनुसार ही सिद्ध हुआ जान लेना चाहिये ।' जैसेः—अधः स्थित-सूर्य-निवारणाय=हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय=नीचे रहे हुए सूर्य की गरमी को अथवा धूप को रोकने के लिये । इस उदाहरण में 'निवारणाय' पद में संस्कृत-भाषा के अनुसार चतुर्थी विभक्ति के एक वचनार्थक प्रत्यय 'आय' की प्राप्ति हुई हैं । इस प्राप्त प्रत्यय 'आय' का सविधान प्राकृत-भाषा में कहीं पर भी नहीं है; फिर भी प्राकृत-भाषा मे इसे अशुद्ध नहीं माना जाता है इसलिये इसकी सिद्धि संस्कृत-भाषा के अनुसार कर लेनो चाहिये । प्राकृत-भाषा मे छाती-अर्थक 'उर' शब्द है; जिसके दो रूप तो सप्तमी विभक्ति के एकवचन में प्राकृत-भाषा के अनुसार होते हैं और एक तृतीय रूप संस्कृत-भाषा के अनुसार भी होता है । जैसेः—उरसि=उरे और उरम्मि अथवा उरसि=छाती पर-छाती में । दूसरा उदाहरण यों है.—शिरसि=सिरे और सिरम्मि अथवा सिरसि=मस्तक में अथवा मस्तक पर । तीसरा उदाहरण वृत्ति के अनुसार इस प्रकार से है:—सरसि=सरे और सरम्मि अथवा सरसि=तालाब में अथवा तालाब पर । यों संस्कृत भाषा के अनुसार प्राकृत आदि भाषाओं में उपलब्ध पदों की सिद्धि संस्कृत के समान ही समझ कर इन्हें शुद्ध ही मानना चाहिये ।

अति विस्तृत, दुर्बोध और विप्रकीर्ण व्याकरण-ग्रन्थों के समूह से दु खी हुए श्री सिद्धराज जयसिंह ने सर्वांग पूर्ण एक नूतन शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण की रचना करने के लिये आचार्य श्री हेमचन्द्र से प्रार्थना की और तदनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने इस सिद्ध हेम शब्दानुशासन' नामक सुन्दर, सरल, प्रसाद-गुण-सम्पन्न नई व्याकरण की रचना विधि पूर्वक सम्पन्न की।

[प्राकृत-व्याकरण-ग्रंथ का परिमाण २१८५ श्लोको जितना है]

हिन्दी-व्याख्याता का मंगलाचरण

(प्राकृत)—चत्तारि अट्ठ-दस-दोय, वंदिया जिणवरा चउव्वीसा ॥

परमट्ठ-निट्ठि-अट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ १ ॥

(संस्कृत)—सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ॥

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख-भाग् भवेत् ॥२॥

भूयात् कल्याणं-भवतु च मंगलम्

—— × × × × ——

परिशिष्ट-भाग



—: अनुक्रमणिका :—

卐

प्रत्यय-बोध



संस्कृत-भाषा के संज्ञा-शब्दों मे तथा सर्वनाम-वाचक-शब्दों मे एव धातुओं मे जो विभक्ति-बोधक प्रत्यय जोड़े जाते है; उन विभक्ति-बोधक प्रत्ययो के स्थान पर प्राकृत-भाषा मे आदेश-प्राप्ति होती है; तदनुसार उन मूल प्रत्ययों की क्रमिक-सूची इस प्रकार से है:—

(१) संज्ञा-सर्वनाम-संबंधित-प्रत्यय:—

विभक्ति	एक वचन	बहुवचन
प्रथमा	सि	जस् (अस्)
द्वितीया	अम्	शस् (अस्)
तृतीया	टा (आ)	(भिस्)
चतुर्थी	ङे (ए)	भ्यस्
पंचमी	ङसि (अस्)	भ्यस्
षष्ठी	ङस् (अस्)	आम्
सप्तमी	ङि (इ)	सु

(२) धातु-प्रत्यय-वर्तमान-कालिक: —

परस्मैपदी

पुरुष	एक वचन	बहु वचन
उत्तम	मि	मस्
मध्यम	सि	थ
अन्य	ति	अन्ति

आत्मनेपदी

पुरुष	एक वचन	बहु वचन
उत्तम	इ	महे
मध्यम	से	ध्वे
अन्य	ते	अन्ते

नोट:—(१) प्राकृत-भाषा मे द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का ही प्रयोग किया जाता है, अत: यहाँ पर द्विवचन संबंधी मूल संस्कृत-प्रत्ययो को लिखने की आवश्यकता नही है; यह ध्यान मे रहे ।

(२) वर्तमान-काल के अतिरिक्त शेष काल-बोधक तथा विभिन्न लकार-बोधक-संस्कृत-प्रत्ययो के स्थान पर जनरल रूप से और समुच्चय-रूप से प्राकृत भाषा मे विशिष्ट प्रत्ययो की संप्राप्ति प्रदर्शित की गई है; अत: उन विशिष्ट और अवशिष्ट लकारो के संस्कृत प्रत्ययो की सूची भी यहाँ पर नही लिखी है ।

(३) "युष्मद् और अस्मद्" सर्वनामो के तथा अन्य सर्वनामो के सिद्ध हुए विभक्ति-प्रत्यय सहित अखंड पदों के स्थान पर प्राकृत-भाषा मे विशिष्ट आदेश-प्राप्ति होने का संविधान है, तदनुसार उन मूल संस्कृत-सर्वनाम-संबंधी पदो का स्वरूप संस्कृत-व्याकरण ग्रन्थो से जान लेना चाहिये ।

संकेत-बोध

अ.	=	अव्यय
अक	=	अकर्मक-धातु
अप.	=	अप-भ्रंश भाषा
उप	=	उपसर्ग
उभ	=	सकर्मक तथा अकर्मक धातु अथवा दो लिंग वाला
कर्म	=	कर्मणि-वाच्य ।
क वकृ	=	कर्मणि वर्तमान-कृदन्त
कृ	=	कृत्य-प्रत्ययान्त ।
कृद	=	कृदन्त
क्रि	=	क्रियापद
क्रि वि	=	क्रिया-विशेषण ।
चु पै	=	चुलिका पैशाची भाषा ।
त्रि	=	त्रिलिंग ।
दे	=	देशज
न	=	नपुंसकलिंग ।
पु	=	पुंलिंग ।
पु न	=	पुंलिंग नपुंसकलिंग ।
पु स्त्री	=	पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग ।
पै	=	पैशाची भाषा ।
प्रयो	=	प्रेरणार्थक णिजन्त ।
ब	=	बहुवचन ।
भ कृ.	=	भविष्यत् कृदन्त ।
भवि	=	भविष्यत्-काल ।
भू का	=	भूतकाल ।
भू कृ	=	भूत-कृदन्त ।
मा.	=	मागधी भाषा ।
व कृ	=	वर्तमान कृदन्त ।
वि.	=	विशेषण ।
शौ	=	शौरसेनी-भाषा ।
सर्व	=	सर्वनाम ।
स कृ	=	सबन्धक कृदन्त ।
सक	=	सकर्मक धातु ।
स्त्री	=	स्त्रीलिंग
स्त्री न	=	स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग ।
हे कृ	=	हेत्वर्थ-कृदन्त ।

॥ श्री ॥

प्राकृत-व्याकरण के तृतीय पाद में सिद्ध किये गये शब्दों की

कोष-सूची

(पद्धति परिचय–कोष मे प्रथम शब्द प्राकृत-भाषा का है, द्वितीय अक्षरात्मक लघु संकेत प्राकृत शब्द की व्याकरण गत विशेषता का सूचक है, तृतीय कोष्ठान्तर्गत शब्द मूल प्राकृत शब्द के संस्कृत-रूपान्तर का अवबोधक है और चतुर्थ स्थानीय शब्द हिन्दी-तात्पर्य बोधक है। इसी प्रकार से प्रथम अंक पाद संख्या को तथा दूसरा अंक सूत्रों की क्रम संख्या को प्रदर्शित करते है। यों व्याकरण गत शब्दों का यह शब्द कोष ज्ञातव्य है।

[अ]

अ अ. (च) और, पुन,, फिर, अवधारण, निश्चय इत्यादि, ३ ७०।

अइ अ (अति) अतिशय, उत्कर्ष, महत्व पूजा आदि अर्थक, ३-१७७।

अक्खराइँ न (अक्षराणि) अक्षर, वर्ण, ज्ञान, अविनश्वर, ३-१३४।

अग्गी पु. [(अग्नि आग, ३-२०, १२५।

अंग संगम्मि न. (अङ्गे अगे) प्रत्येक अग मे, ३-१।

अच्छीअ अक (आसिष्ट) बैठा, ३-१६३।

अच्छेज्ज, अच्छेज्जेज्ज, अच्छीअइ (स्थीयते) बैठ जाता है, ३-१६०।

अज्ज अ (अद्य) आज, ३-१०५।

(हे) अज्ज !, (हे) अज्जो ! पु (हे आर्य !) हे श्रेष्ठ ! हे मुनिराज ! ३-३८।

अज्जिए स्त्री (हे आर्ये !, हे साध्वीजी महा ! ३-४१

अट्ठण्हं वि (अष्टानाम्) आठो का, ३ १२३

अट्ठण्ह (अष्टानाम्) आठों का, ३-१२३।

अट्ठारसण्ह वि (अष्टादशानाम् अठारहो का, ३-१२३।

अणाइण्णं वि. (अनाचीर्णम्) अनाचरित, ३-१३४।

अद्धा पु (अध्वन्) मार्ग, रास्ता, ३-५६।

अद्धाणो पु (अध्वान्) मार्ग, रास्ता, ३,५६।

अन्ने वि (अन्या) दूसरे, ३-५८।

अन्नस्सिं (अन्यस्मिन्) अन्य मे, अन्य पर, ३-५९

अन्नम्मि (अन्यस्मिन्) अन्य मे, ३-५९।

अन्नत्थ (अन्यस्मिन् अन्य मे, ३-५९।

अन्नेसिं (अन्येषाम्, अन्यो का, ३-६१।

अन्नेसिं (अन्यासाम्) अन्य (स्त्रियो का, ३-६१।

अप्पा पु (आत्मा) चेतन तत्व, जीव, आत्मा, ३-५६।

(हे) अप्पं. (हे आत्मन्) हे आत्मा, ३ ४९

अप्पणइआ (आत्मना) आत्मा द्वारा, ३ १४, ५७।

अप्पणा (आत्मना आत्मा द्वारा, ३-१४।

अप्पणिआ (आत्मना) आत्मा द्वारा, ३-१४, ५७,

अप्पाणो पु (आत्मा) आत्मा, जीव, ३ ५६।

अप्पाणेण (आत्मना) आत्मा द्वारा, ३-५७।

अमू सर्व (असौ) यह अथवा वह, ३-८८।

अमू स्त्री सर्व (असौ) यह (स्त्री), ३-८७।

अमुं नपु सर्व अद) यह, ३-८७।

अमुम्मि (अमुष्मिन्) इसमें, इस पर, ३ ८९, ८९।

अम्मि सर्व अहम्। मैं ३-१०५।

अम्मि सर्व (माम्) मुझको, ३-१०७।

अम्मो अ (आश्चर्य-अर्थे) आश्चर्य-अर्थक अव्यय, ३-४१।

अम्ह सर्व (वयम्) हम; ३-१०६ ।
अम्ह (माम्) मुझको; ३-१०७ ।
अम्ह (अस्मान्) हमको; ३-१०८ ।
अम्ह (अस्माभिः) हमारे से; ३-११० ।
अम्हं (मम) मेरा; ३-११३ ।
अम्हं (अस्माकम्) हमारा, ३-११४ ।
अम्हत्तो (अस्मत्) हमारे से, ३-११२ ।
अम्हम्मि (मयि) मुझ पर; ३-११६ ।
अम्हसु (अस्मासु) हमारे पर; ३-११७ ।
अम्हाण (अस्माकम्) हमारा, ३-११४ ।
अम्हाणं (अस्माकम्) हमारा, ३-११४ ।
अम्हासु (अस्मासु) हमारे पर, ३-११७ ।
अम्हा सुन्तो (अस्मत्) हमारे से, ३-११२ ।
अम्हाहि (अस्माभिः) हमारे द्वारा, ३-११० ।
अम्हाहिंतो (अस्मत्) हमारे से; ३-११२ ।
अम्हि (अहम्) मैं; ३-१०५ ।
अम्हे (वयम्) हम; ३-१०६, १४७, १४८ ।
अम्हे (अस्माकम्) हमारे; ३-२६, ११४ ।
अम्हे (अस्मान्) हमको, ३-१०८ ।
अम्हे (अस्माभिः हमारे द्वारा, ३-११० ।
अम्हेहि (अस्माभिः) हमारे द्वारा, ३-११० ।
अम्हेसु (अस्मासु) हमारे मे, हमारे पर, ३-११७ ।
अम्हे सुन्तो (अस्मत्) हमारे से, ३-११२ ।
अम्हो (वयम्) हम, ३-१०६, १४७ ।
अम्हो अस्मान्) हमको, ३-१०८ ।
अम्हो (अस्माकम्) हमारा; ३-११४ ।
अयं सर्व (अयम्) यह; ३-७३ ।
अयम्मि (अस्मिन्) इसमे, इस पर; ३-८४, ८९ ।
अया स्त्री (अजा) बकरी; ३-३२ ।
अवराण सर्व (अपरेषाम्) दूसरों का ३-६१ ।
अवरेसिं सर्व (अपरेषाम्) दूसरों का ३-६१ ।
अस् अक. (अस्) होना; ३-१४६ ।
म्हि (अस्मि) मैं हूँ, ३-१४६ ।
सि (असि) तू है; ३-१४६, १८० ।
अत्थि (अस्ति) वह है ३-१४६, १४७, १४८ ।
म्हो, म्ह (स्मः) हम है ३-१४७ ।
आसि (आसीत्) वह था ३- ६४ ।
आसि (आसी, आसन्) तू था, मैं था, ३-१६४ ।
अहेसि (असीत्, आसीः, आसन्) वह, तू, मैं था ३-१६४
अस्स सर्व (अस्य) इसका; ३-७४ ।
अस्सि सर्व (अस्मिन् इसमे; ३-७४ ।
अह सर्व (पु. असौ; स्त्री असौ, नपु. अदः) यह; ३-८७ ।
अहं सर्व (अहम्) मैं; ३-१०५, १४७, १४८, १६४ ।
अहं (माम्) मुझको; ३-१०७ ।
अहयं सर्व (अहं) मैं; ३-१०५ ।
अहवा अ. (अथवा) अथवा, वा; ३-७३ ।
अहियं न. (अहितम्) अहित; ३-८१ ।

[आ]

आगओ वि. (आगतः) आया हुआ; ३-१६, २९, ३० ५०, ५२ ।
आगओ वि. (आगतः) आया हुआ; ३-५५, १२४, १२६ १२९ ।

[इ]

इ सर्व (तव) तेरा; ३-९९ ।
इअराइं वि. (इतराणि) अन्य, दूसरें, हीन, जघन्य; ३-१३४ ।
इअरे वि. (इतराः) अन्य; ३-५८ ।
इणमो सर्व (इदम्) (एतत्) यह, इसको; ४-७९, ८५ ।
इदं सर्व (इदम्) यह; ३-७९ ।
इमं सर्व (इदम्) यह; ३-७२, ७७, ७८ ।
इमो (अयम्) यह; ३-७२, ७३ ।
इमा स्त्री. (इयम्) यह; ३-७२, ७३ ।
इमिआ स्त्री. (इयम्) यह; ३-७३ ।
इमे पु. (इमें, इमान्) ये, इनको; ३-७२, ७७ ।
इमिणा (अनेन) इससे; ३-६९ ।
इमेण (अनेन) इससे; ३-६९, ७२, ७७ ।
इमेहि (एभिः) इनसे; ३-७७ ।
इमस्स अस्य) इसका; ३-७४, ८१
इमीए, इमाए अनया) इससे (स्त्री); ३-३२
इमाण (आसाम्) इनकी स्त्री, ३-६१, ८१
इमोणं, इमाणं (आसाम्) इनका स्त्री,) ३-३२ ।
इमेसिं (अस्मिन्) इसमें, ३-६१, ८१ ।
इमस्सि (अस्मिन्) इसमें, ३-६०, ७४, ७५, ७६ ।
इमम्मि (अस्मिन्) इसमें, ३-७५, ७६ ।
इह अ. (इह) यहां पर, इस जगह पर, ३-७५, ७६ ।

[ई]

ईअम्मि सर्व (अस्मिन्) इसमे, ३-८४।

[उ]

उच्छा पु (उक्षा) बैल, साड, ३-५६।
उच्छाहो पु. (उत्साह उत्साह दृढ़ उद्यम, सामर्थ्य ३-८१।
उज्जोअ पु. (उद्योतम्) प्रकाश को, ३-१३७।
उज्झ सर्व (तव) तुम्हारा, ३-९९।
उब्भ सर्व तव) तुम्हारा, ३-९९।
उब्भेहिं सर्व (युष्माभि) आप द्वारा ३-९५।
उम्ह सर्व (युष्मद्) तुम, ३-९९।
उम्हत्तो युष्मत्) आप से ३-९८।
उम्हेहिं (युष्माभि) आप द्वारा, ३-९५।
उय्ह सर्व (युष्मद्) तुम, ३-९९।
उय्हत्तो (युष्मत्) तुम से, ३-९८।
उय्हे (युष्मान्) आप को, ३-९१, ९३।
उय्हेहि (युष्माभि) आप द्वारा, ३-९५।
उल्लिआई वि. (आर्द्रितानि) भीजोये हुए, ३-१६।
उवकुंभस्य पु (उपकुभस्य) उपकुभ का, ३-१०।
उवगयम्मि वि. (उपगते) व्यतीत हो जाने पर, ३-५७।

[ऊ]

[ए]

ए सर्व (तव) तेरा, ३-९९।
एअं (एतद्) यह, ३-८५, ८६, १३४।
एए (एते) ये, ३-४,५८,८६।
एअस्स (एतस्य) इसका, ३ ८१।
एआए स्त्री. (एतस्या) इसका, ३-३२।
एईए स्त्री. (एतस्या) इसका, ३-३२।
एआण स्त्री (एतासाम्) इनका, ३-३२।
एआण स्त्री (एतासाम् इनका, ३-६१ ८१।
एईणं स्त्री. (एतासाम्) इनका, ३-३२।
एएसिं पु. (एतस्मिन्) इसमे, ३-६१,८१।
एआ पुं (एतस्मात्) इससे, ३-८२।
एआउ पु. (एतस्मात्) इससे, ३-८२।
एआहिंतो, एआहि, पु एतस्मात्) इससे, ३-८२।
एआओ पु. (एतस्मात्) इससे, ३-८२ ८६।
एअम्मि पु. (एतस्मिन्) इसमे, ३-८४।
एअस्सि पु (एतस्मिन्) इसमे, ३-६०।
एक्के सर्व पु (एका) कोई कोई एक, ३-५८।
एक्कमेक्क वि (एकैकम्) प्रत्येक कोई कोई, ३-१।
एक्कमेक्केण वि. (एकैकेन) प्रत्येक से, ३-१।
एकेक्क वि (एकैकम्) प्रत्येक, हर एक, ३-१।
एत्ताहे अ. (इदानीम्) इस समय में, अधुना, ३-८२, ८३।
एत्तो अ. (अत्र) यहाँ पर, ३-८२,८३।
एत्थ अ. (अत्र, यहाँ पर, ३-८३।
एएण, एदिणा सर्व (एतेन) इससे, ३-६९।
एलया स्त्री. (अजा मादा भेड, ३-३२।
एस सर्व (एष, यह, ३-३,८५,१४७।
एसा सर्व स्त्री एषा) यह, ३-२८,८५ ८६।
एसु सर्व पु (एषु) इन पर, ३-७४।
एसो सर्व पु एष) यह, ३-३,८५,८६।
एहि सर्व पु (एभि.) इनके द्वारा, ३-७४।

[ओ]

[क]

कइ पुं. (कवि) कविता करने वाला विद्वान् पुरुष, ३-१४२।
कइआ अ. (कदा) कब, किस समय, ३-६५।
कइण्हं सर्व (कतीनाम्) कितनो का, ३-१२३।
कत्ता पु. (कर्ता) कार्य का करने वाला, ३-४८।
कत्तार पु (हे कर्त) हे करने वाले, ३-४०।
कत्तारो पु. (कर्ता) कार्य का करने वाला, ३-४८।
कत्थ अ. (कुत्र) कहाँ पर, ३-६५,७१।
कमलस्य न. (कमलस्य) कमल का, ३-२३।
कमलाओ स्त्री. (कमलाया) लक्ष्मी का, ३-२३।
कमलेण न (कमलेन कमल से, ३-२४।
कमलमुही स्त्री. कमलमुखी) कमल जैसे मुख वाली, ३-८७।
कम्हा सर्व (कस्मात्) किससे, ३-६६, ६८।

कयं कृद. (कृतम्) किया हुआ, ३-१६, २३, २४, २७, २९, ३०, ५१, ५५, ५६, ७०, ७७, १०९, ११०, ११८, ११९, १२४, १२९ ।

कयकज्जो वि. पुं. (कृतकार्यः) जिसने कार्य संपूर्ण कर लिया हो ऐसा व्यक्ति, ३-७३ ।

कयप्पणामो वि. (कृत-प्रणाम.) नमस्कार किया हुआ, ३-१०५ ।

कर-क्रिया. (कृ) करना

करेमि सक. (करोमि) मैं करता हूं, ३-१०५ ।

करसे सक. (करोषि) तू करता है, ३-१४५ ।

करए सक. (करोति वह करता है, ३-१४५ ।

काहं सक- (करिष्यामि) मैं करूंगा, ३-१७० ।

काहिमि सक. (करिष्यामि मैं करूंगा, ३-१७० ।

काहिइ सक. करिष्यति) वह करेगा, ३-१६६ ।

काही सक. (करिष्यति से करिष्यामः, वह करेगा से प्रारंभ करके हम करेंगे, ३-१६२ ।

कासी. सक. (करिष्यति से करिष्यामः) वह करेगा से प्रारभ करके हम करेंगे, -१६२ ।

काहीअ सक. (करिष्यति से करिष्यामः वह करेगा से प्रारभ करके हम करेंगे, ३-१६२ ।

कारेइ प्रेर. (कारयति) वह कराता है ,३-१४९, १५३

करावइ, करावेइ, प्रेर (कारयति) वह कराता है. ३-१४९ ।

कारावेइ प्रेर कारयति) वह कराता है. ३-१५३ ।

कारावीअइ, कराविज्जइ कारिज्जइ प्रेर कर्मणि उससे कराया जाता है. ३-१५२, १५३ ।

काऊण. कृद. (कृत्वा) करके, ३-१५७ ।

कय वि. (कृत) किया हुआ, ३-७३, १०५ ।

कया वि. (कृता) की हुई, ३७ ।

कारिअ वि. कारितम्) कराया हुआ, ३-१५२, १५३

कराविअं वि. (कारितम्) कराया हुआ, ३-१५२, १५३

किआ, वि अल के साथ) (अलंकिआ = अलकृता) सुशोभित की हुई, ३-१३५ ।

करयल पुं. (करतल) हाथ, हथेली, ३-७० ।

करिणी स्त्री. (करिणी) हस्तिनी, हथिनी, ३-३२ ।

कव्व, कव्वं न. (काव्यम्) कविता, काव्य, ३-१४२ ।

कह अ. (कथम्) कैसे, किस तरह, ३-५६ ।

कहिं अ. (कुत्र) कहा पर, ३-६०, ६५ ।

काला अ. (कदा) किस समय मे, कब, ३-६५ ।

काला वि. स्त्री (काला) श्याम वर्ण वाली, तिरस्कार करने वाली, ३-३२ ।

काली वि. (काली) श्याम वर्ण वाली, ३-३२ ।

कालेणं पुं. (कालेन काल से, समय से, ३-१३७ ।

कासवा, कासव पुं. (हे काश्यप) हे नापित, हे हजाम ३-३८ ।

काहं सक. (करिष्यामि) में करूंगा, ३-१७० ।

काहिइ सक. (करिष्यति) वह करेगा, ३-१६६ ।

काहे अ. (कदा) किस समय में, ३-६५ ।

किणो सर्व. (कस्मात्) किससे, ३-६८ ।

कित्तइस्सं, कित्तहिमि क्रिया. (कीर्तयिष्यामि) मैं स्तुति करूंगा, ३-१६९ ।

किस्सा सर्व. (कस्याः) किस (स्त्रि.) का, ३-६४ ।

कीअ, कीआ, कीइ, कीए. सर्व. (कस्याः) किस (स्त्री.) का, ३-६४ ।

कीस सर्व. (कस्य) किसका, ३-६८ ।

कुच्छीए स्त्री. (कुक्ष्याः) कोख से, पेट से, ३-४६ ।

कुणन्ति सर्व. (कुर्वन्ति) वे करते है, ३-१३० ।

कुमारी स्त्री. (कुमारी) अविवाहिता लड़की, ३-३२ ।

कुरुचरा, कुरुचरी. वि. (कुरुचरी) कुरुदेश की रहने वाली ३-३१ ।

कुलं न. (कुलम्) वंश, जाति, ३-८० ।

कुविआ. वि. (कुपिता) क्रुद्ध स्त्री. ३-१०५ ।

केस भारो पुं. (केशभारः) केशो का भार, ३-१३४ ।

को सर्व. (कः) कौन, ३-७१ ।

का, सर्व. (का) कौन (स्त्री.), ३-३३ ।

किं सर्व. (किम्) क्या, ३-८०, १०५ ।

के सर्व. (के) कौन (बहु वचन पुं.) ३-५८,७१,१४७ ।

काओ सर्व. (कस्मात्) किससे; ३-६६ ।

काउ, कीउ सर्व. (कस्याः) किस (स्त्री) का; ३-३३ ।

कं सर्व. (कम्) किसको; ३-३३-७१ ।

केण पुं. (केन) किसके द्वारा, ३-६९, ७१ ।

किणा पुं. (केन) किसके द्वारा; ३-६९ ।

कस्स सर्व. (कस्य अथवा कस्मै) किसका, किस के लिये; ३-६३ ।

कास स्त्री. (कस्याः अथवा कस्यै) किसकी, किसके लिये; ३-६३ ।

काए स्त्री (कस्या,, कस्यै) किसकी, किसके लिए;

किस्सा, काम, कीसे, काइ, कीआ, कोइ कोए, (कस्या, कस्यै, किसकी, किस स्त्री के लिये, ३-६३, ६४।

काण स्त्री. (कासाम्) किन स्त्रियों का, ३-३३, ६१।

केसिं पु. (केभ्य अथवा केषाम्) किन के लिये किनका, ३-६१, ६२।

कओ अ, (कुत) कहा से, किस तरफ से, ८-७१।

कत्तो, कदो अ (कुत) कहा से, किस तरफ से, ३-७१।

कम्हा सर्व (कस्मात्) किससे, ३-६६, ६८।

कीस, किणो सर्व (कस्मात्) किससे, ३-६८।

कम्मि, कस्सि सर्व (कस्मिन्) किसमे, किस पर, ३-६५।

काए, कीए, काहि स्त्री (कस्याम्) किस (स्त्री) मे, ३-६०।

कासु-कीसु स्त्री (कासु) किन स्त्रियो मे, ३-३३।

[ख]

खमाविअं वि (क्षमितम्) माफ किया हुआ, ३-१५२।

खमासमणो पु (क्षमाश्रमण) क्षमा गुण वाला साधु, ३-३८।

खलपु वि (हे खलपू) हे खलिहान को साफ करने वाले, ३-४२, ४३।

खलपुणा वि (खलप्वा, खलिहान को साफ करने वाले के द्वारा ३-४२, ४३।

खलपुणो वि. (खलप्व खलिहान को साफ करने वाले का, ३-४३।

खणिआ वि (खनिता) खुदवाई हुई, ३-५७।

खामिअ वि (क्षमितम्) खमाये हुए को, ३-१५२, १५३।

खामिज्जइ, खामीअइ स क्रि (क्षम्यते) उससे खमाया जाता है, ३-१५३।

खामेइ स क्रिया (क्षामयति) वह क्षमा कराता है ३-१५३।

खे न. (खे) आकाश में, ३-१४२।

[ग]

गई स्त्री. (गति) गति, गमन, चाल, ३ ८५।

गऊआ स्त्री. (गवया) मादारोझ, रोझड़ी, पशु विशेष, ३-३५।

गज्जन्ते अक. (गर्जन्ति) वे गर्जना करते हैं; ३-१४२।

गच्छं सक. (गमिष्यामि) मैं जाऊगा, ३-१७१, १७२।

गय वि. (गत) गया हुआ, समझा हुआ, ३-१४७।

गयं वि. (गतम्) " " -, " ३-१५६।

आगओ वि (आगत.) आया हुआ, ३-१६, २३ २९, ३०, ५०, ५२, ५५, ९७, १११, ११८, ११९, १२४, १२६, १३६।

उवगयम्मि वि. (उपगते) प्राप्त होने पर, ३-५७।

समगच्छं सक (सगस्ये) मैं स्वीकार करूगा, ३-१७१।

संगामेई अक. (संग्रामयति) वह युद्ध कराता है; ३-१५६।

गय वि. (गत.) गया हुआ, बिता हुआ, ३-१५६।

गरुआअइ अक. (गुरुरिवाचरति) बड़े की तरह आचरण करता है; ३-१३८।

गरुआइ अक. (अगुरु गुरु भवति) बड़ा नहीं होने पर भी बड़ा जैसा बनता है, ३-१३८।

गाम पुं. (ग्राम) बसति, गांव, ३-१४२।

गामे पु. (ग्रामे) ग्राम मे, ३-१३५।

गामणि पु. (हे ग्रामणी) हे ग्राम नायक, हे गाव मुखिया ३-४२।

गामणिं पुं. (ग्रामण्यम्) ग्राम नायक को, मुखिया को, ३-१२४।

गामणिणा पुं. (ग्रामण्या) ग्राम नायक से, मुखिया से, ३-२४, ४३।

गामणिणो पु. (ग्रामण्य) ग्राम-नायक का मुखिया का, ३-४३।

गावा पु. (ग्रावा) पत्थर, पाषाण, ३-५६।

गावाणो पु (ग्रावा) पत्थर, पाषाण, ३-५६।

गिरी पु. (गिरि) पर्वत, (रुपावलि) ३-१६, १८, १९, २२ २३, २४, १२४।

गुण पु न. (गुण) गुण, पर्याय, स्वभाव, धर्म, ३ ८७

गुणा पु न. (गुणा.) „ „ „ ३-६५, ८१।

गुरू पु (गुरू) गुरु, पूज्य, बड़ा, ३-३८, १२४।

„ गुरु, (रूपावलि) ३-३८, १२४।

गोअम, गोअमा, पु. (हे गौतम!) हे गौतम, ३-३८।

गोरी स्त्री. (गौरी) स्त्री, शुक्ल-सुन्दर वर्ण वाली, पार्वती; ३-३२।

गोरीआ, गोरीओ स्त्री. (गौर्य: अथवा गौरी:) सुन्दर स्त्रियो को; ३-२८।

ग्रह ....

गेण्हीअ सक. (अगृह्णात्) उसने ग्रहण किया; ३-१६३।

घेप्पन्ति सक. (गृह्यन्ते, ग्रहण कर लिये जाते है, ३-६५।

[घ]

[च]

च अ. (च, और; ३ ७०, ४२।

चउ ....

चऊओ, चउओ, वि. (चतुर्भ्यः) चार से; ३-१७।

चऊहि, चउहि वि. (चतुर्भिः चार द्वारा; ३-१७।

चऊसु, चउसु वि. (चतुर्षु) चार में, चार पर; ३-१७।

चउण्ह वि. (चतुर्णाम्) चार का; ३-१२३।

चउरो वि. (चत्वारः) चार का समूह; ३-१२२।

चउवीसं वि. (चतुर्विंशतिः चौवीस, ३-१३७।

चत्तारो, चत्तारि वि. (चत्वारः) चार; ३-१२२।

चप्फलया वि. (देशज) हे झूठ बोलने वाली, ३-३८।

चिक्खल्लो पु. (देशज) कीचड़, कर्दम-पंक, ३-१४२।

चिरस्स न. (चिरेण) चिरकाल से, लम्बे समय से, ३-१ ४

चोरस्स पु. (चोरस्य) (चोरात्, चोर का, चोर से, ३ १३४।

चोरेण पु (चोरेण) (चोरात्) चोर द्वारा, चोर से, ३-१३६।

च्चिअ अ. (एव) ही; ३-८५,८०।

[छ]

छण्ह वि. (षण्णाम्) छह का, ३-१२३।

छाया स्त्री. (छाया) छाया, कान्ति, प्रतिबिम्ब, परछाईं, ३-३४।

छाही स्त्री (छाया) ,, ,, ,, ३-७,३४।

छिद्—छेच्छं सक. (छेत्स्यामि) मैं छेदूंगा; ३-१७१।

[ज]

जइ अ. (यदि) यदि, अगर, ३-१७९,१८०।

जइआ अ (यदा) जिस समय, जब, ३-६५।

जणो पु. (जनः) मनुष्य, ३-१५३।

जं, सर्व. नं. (यत्) जो, ३-१४३,१४६।

,, ,, पु. (यम्) जिसको, ३-३३।

जम्पिअं वि. (जल्पितम्) कथित, कहा हुआ, उक्त, ३-९४।

जम्हा सर्व (यस्मात्) जिससे; ३-६६।

जयइ अक. (जयति, जयते) वह विजय प्राप्त करता है; ३-१५८।

जल न. (जल) पानी; ३-१६।

जलोल्लिआइ वि. (जलार्द्रितानि) जल से भीगे हुए; ३-१६।

जहिं सर्व. (यस्मिन् जिसमे; ३-६०।

जा सर्व. (या) जो; ३-३३।

जाअन्ति अक. (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं; ३-६५।

जाइ स्त्री (जाति) उत्पत्ति, कुल; ३ ३८।

जाइं सर्व (यानि) जो; ३-२६।

जाओ सर्व. (यस्मात्) जिससे; ३-६६।

जाण सर्व. (यासाम्) जिन स्त्रियो) का; ३-३३, १३४।

जाणय वि. ज्ञायक) जानने वाला; ३-१४१।

जाणं सर्व. येषाम्) जिन पुरुषो) का; ३-६१।

जाणमि, जाणामि सक. (जानामि मैं जानता हूं; ३-१५४।

जामाउणो पु. (जामातरः जामातॄन्। अनेक जामाता, जामाताओं को, ३-४४।

जामाया पु. (जामाता) जमाई, पुत्री का पति, ३-४८।

जामाया पु. (रुपावली ; ३-४४, ४७, ४८,।

जाला अ. (यदा) जिस समय मे, जब, ३-६५।

जास. सर्व. (यस्य) जिसका, ३-६ ।

जाहिं सर्व. (यस्याम्) जिस (स्त्री) में, ३-६०।

जाहे अ. (यस्मिन्) जिस समय मे, ३-६५।

जि ....

जयइ क्रिया. (जयते) वह विजयी होता है, ३-१५८।

जिअ वि. (जित जीत लिया है, ३-३८।

जिणवराः पु (जिनवरा) तीर्थंकर, वीतरागी ३-१३७।

जिणा सर्व. (येन, जिससे, जिसके द्वारा, ३-६९।

[झ]

[ट]

(ठ)

(ड)

[ण]

[त]

तस्स सर्व. पुं. (तस्य) उसका; ३-६३,८१,१८६।
तास सर्व. पुं. (तस्य) उसका; ३-६३।
ताए, तिस्सा, तीसे, सर्व स्त्री. (तस्याः) उसका; ३-६३, ६४, ३४।
तीअ, तीआ, तीइ, तीए, सर्व. स्त्री. (तस्याः) उसका; ३-६४।
तम्हा सर्व. (तस्मात्) उससे; ३-६६,६७।
ताओ सर्व. (तस्मात्) उससे; ३-६६
तो सर्व. तस्मात्) उससे; ३-६७।
तीउ, ताउ, सर्व. (ताः) वे (स्त्रियां); ३ ३३।
तं, सर्व. तम्) उसको; ३-११।
तम्मि सर्व. (तस्मिन्) उसमें; ३-११।
तहिं सर्व. (तस्मिन्) उसमें; ३-६०।
तीए, ताए, ताहिं, सर्व स्त्री. (तासाम्) उसमे; ३-६०।
ते, सर्व. पुं. (ते) वे; ३-५८,६५,८६,१४७, ४८।
ताओ सर्व. स्त्री. (ताः) वे; ३-८६।
ताण सर्व. पुं. (तेषाम्) उनका, ३-६१।
ताण सर्व. स्त्री, (तासाम्) उनकी, ३ ३३,८१।
तेसिं सर्व पुं. (तेषाम् उनका; ३-६१,६२,८१,१ ४।
तास सर्व स्त्री. (तासाम्) उनका; ३-६२।
तेसु सर्व. पुं. (तेषु) उनमें; ३-१३५।
तीसु सर्व. स्त्री. (तासु) उनमे; ३-११८।
तइआ अ. (तदा) उस समय मे, तब. ३-६५।
तक्खा पुं. (तक्षा) लकड़ी काटने वाला बढ़ई; ३-५६।
तक्खाणो पुं. (तक्षा) लकड़ी काटने वाला बढई, ३-५६।
तण न. (तृणम्) तिनका, घास; ३-३७।
तत्तो सर्व. (त्वत्तः) तुझसे. ३-६६।
तम्मि सर्व. (तस्मिन्) उसमे; ३-११।
तरू ...... (रूपावलि)-३-१६,१८,१९,२२,२३,२४।
ताए सर्व. (तस्याः) उसका; ३-६३।
ताला अ. (तदा) उस समय, तब, ३-६५।
तास सर्व (तस्य) उसका. ३-६२।
ताहे अव. (तदा) तब, ३-६५।
तिअडा स्त्री, (त्रिजटा) त्रिजटा नाम की राक्षसिनी, ३-७०।
तिण्णि संख्या वाचक वि. (त्रीणि) तीन, ३-१२१।
तिण्ह संख्या वि. (त्रयाणाम्) तीन का, ३-१२३,।
तिण्हं संख्या वि. (त्रयाणाम्) तीन का,३-११८,१२३।
तिसु संख्या वि (त्रिषु) तीन में, ३-१३५।
तीहिं संख्या वि. (त्रिभिः) तीन से, ३-११८
तीहिंतो संख्या वि. [त्रिभिः] तीन से, ३-११८।
तिस्सा सर्व. स्त्री. [तस्याः] उसका, ३-६४, १६४।
तिसु संख्या वि. [त्रिषु] तीन में, ३-१३५।
तीए सर्व स्त्री. [तस्याः] उसका, ३-६४।
तीसु संख्या वि [त्रिषु] तीन में, ३-११८।
तीहि, तीहितो संख्या वि. [त्रिभिः, त्रिभ्यः] तीन से, ३-११८।
तु. सर्व. [तव, युष्माकम्] तेरा, तुम्हारा, ३-९९, १००।
तुमं सर्व. [त्वम्, त्वाम्] तू, तुझको, ३-९०, ९२, १४६, १४८, १६४, १७०।
तुमं सर्व. [त्वया] तुझसे, ३-९४।
ते सर्व. [त्वया] [तुभ्यम] [तव] पेझसे, तेरे लिये, तेरा, ३-८०, ९१, ९९, १४२।
तुह सर्व [त्वम्, त्वाम्, त्वत्, तव, त्वयि] तू, तुझको तुझसे, तेरा, तुझमे, ३-८०. ९०, ९२, ९६, ९९, १०२।
तुइं सर्व [तव, तुभ्यम्[तुम्हारा, तेरे लिए, ३-९९।
तुमे सर्व. [त्वाम्, त्वया, तव, त्वयि] तुझको, तुझसे तेरा, तुझमें, ३-८०, ९०, ९२ ९६,९९,१०२।
तुम्हे सर्व (यूयम्, त्वयि, युष्मान्) तुम, तेरे पर, तुम ३-९१, ९३।
तुम्ह सर्व (यूयम्, युष्मान्) तुम, तुमको, ३-९१।
तुज्झ सर्व. यूयम्, युष्मान्, युष्माकम्) तुम, तुमको, ३-९१, ९३।
तुब्भ सर्व. (तुभ्यम्, तव, त्वत्) तेरे लिए तेरा. तुझसे ३-९६, ९९, १००।
तुम्ह सर्व. (यूयम्, तव, तुभ्यम्, त्वत्, युष्माकम् तुम, तेरा तेरे लिये तुझसे, तुम्हारा; ३-९१।
ते. (त, तु) सर्व. (त्वया, तुभ्यम्, तव) तुझसे, तेरे लिये तेरा, ३-८०, ९४, ९९।
तेण सर्व. (तेन) उससे, ३-६९, १०५. १६०।
तो अ. (तदा, तस्मात्) तब, उस समय, ३-७०-१८०।
तोसविअ वि. (तोषितम्) खुश किया हुआ.३-१५०
तोसिअं वि. (तोषितम्) " " " ३-१५०।
त्वर-अक. (त्वर) शीघ्रता करना,
तुवरामो-मु-म. अक (त्वरयामः) हम शीघ्रता करते हैं, ३-१४४, १७६।

तुवरए अक, (त्वरयति वह शीघ्रता करता है, ३-१४५
तुवरसे अक. (त्वरयसि) तू शीघ्रता करता है, ३-१४५।
तुवरह अक. (त्वयत) तुम शीघ्रता करो, ३-१७६।
तुवरन्तु अक (त्वरन्तु) वे शीघ्रता करें, ३-१७६।
तुवरेज्ज, तुवरेज्जा अक. (त्वरयन्ति) वे शीघ्रता करते हैं, ३-१७८।

[थ]

थणया पु. (स्तनौ) दोकुच, दो पयोधर, ३-१३०।

[द]

दच्छं सक. (द्रक्ष्यामि) मैं देखूं गा, ३-१७१।
दमदमाअइ, दमदमाइ अक. (दमदमायते) दम् दम् शब्द करता है, ३-१३८।
दर्श ... ...
दच्छं सक. (द्रक्ष्यामि) मैं देखूंगा, ३-१७१।
दीसइ सक. (दृश्यते) दिखलाई देता है, ३-१६१।
दिट्ठो वि. (दृष्ट) देखा हुआ, ३-९०।
दिट्ठा वि. दृष्टाः) देखे हुए, ३-१०५।
दरिसइ सक (दर्शयति) वह दिखलाता है, ३-१४९।
दसण्ह संख्या वि (दशानाम्) दशों का, ३-१२३।
दहि ... (रूपावलि) ३-१६, १९, २०, २२, २३ २४, २५, २६, २७, १२४, १२८।
दा ... ...
देहि सक. (ददस्व) तू दे, ३-१७४।
देसु. सक. (ददस्व) तू दे, ३-१७४।
दाहं, दाहिमि, सक (ददिष्ये) मैं देऊंगा, ३-१७०।
दाण, पु. न, (दान) दान उत्सर्ग त्याग, ३-१६।
दाय, दायार, पु. (दातृ) दान देने वाला, ३-३९।
दि सर्व (त्वया) तुझसे, ३-९४।
दि ,, (तव) तेरा, ३-९९।
दिअ पु. (द्विज) ब्राह्मण, ३-१६।
दिवसाण पु. (दिवसानाम्) दिनो का।
दुण्णि वि (द्वे) दो, ३-१२०।
दुद्ध न (दुग्धम्) दूध, क्षीर, ३-२९।
दुवे वि. (द्वे) दो, ३-१२०, १३०।
दुहिआ स्त्री (दुहिता) लड़की की लडकी, ३-३५।
दुहिआहि स्त्री. (दुहिताभि) लडकी की पुत्रियो द्वारा, ३-३५।
दुहिआसु स्त्री, (दुहितापु) लड़की की पुत्रियो मे ३-३५।
दूसेइ सक (दोपयति) वह दोप युक्त कराता है, ३-१५३
दे सर्व (त्वया) तुझसे, ३-९४।
दे सर्व (तव) तेरा, ३-९९।
देव पु. (देव) देव, परमेश्वर, ३-३८।
देवस्स पुं (देवस्य) देव का, परमेश्वर का, ३-१३१ १३२
देवाय पु. (देवाय) देव के लिए, ३-१३२।
देवाण पु (देवानाम) देवताओ का, ३-१३१, १३२।
देवो पुं. (देव) देवता, ३-३८।
देव पुं. (देवम्) देवता को, ३-११।
देवम्मि पु (देवम्मि) देव में, ३-११।
देविन्दो पु. (देवेन्द्रः) देवताओ का स्वामी, इन्द्र, ३-१६२।
दो संख्या वि (द्वि) दो, ३-११९,१२०।
दोण्णि वि. (द्वे) दो, ३-३८,१२०,१३०,१४२।
दोण्ह वि. (द्वयो.) दो का, ३-११९,१२३।
दोण्ह वि (द्वयो) दो का, ३-१२३।
दोसुन्तो वि. (द्वाभ्याम्) दो से, ३-१३०।
दोसु वि. (द्वयो.) दो में, ३-११९,१३०।
दोहिंतो वि. (द्वाभ्याम्) दो से, ३-११९,१३०।
दोहि वि (द्वाभ्याम्) दो से, ३-११९।
दोहिं वि (द्वाभ्याम्) दो से, ३-१३०।

[ध]

धण, न (धनम्) धन-सम्पत्ति, ३-५०,५२,५३,५५,५६,६३ ७९,८६,९९,१००,११३,११४,११८,११९,१२४।
धणस्स, न. (धनस्य) धन-सम्पत्ति का, ३-१३४।
धन्ना स्त्री, (धन्या) एक स्त्री का नाम, धन्य स्त्री, ३-८६।
धूआ स्त्री. (दुहिता) लड़की की लडकी, ३-७३।
धेणु स्त्री. (धेनु) नव-प्रसूता गाय, दुधारु-वछडेवाली गाय, (रूपावलि) ३-१६,१८,१९,२०,२१,२३, २४,२७ २९,१२४।

[न]

न अ. (न) नहीं, ३-१०५,१३५,१४१,१४२,१६०,१७७, १८०।

नइ स्त्री. (नदी), हे नइ ! (हे नदि, हे नदी, ३-४२ ।
नईं स्त्री. (नदीम्) नदी को, ३-३६ ।
नणन्दा स्त्री. (ननान्द) पति की बहिन, ३-३५ ।
नम अक. (नम्) भार के कारण से झुकना, सक. (नम्) नमस्कार करना ।
नवेज्ज प्रे. (नम्यते) नमस्कार किया जाता है, ३-१६० ।
नविज्जे, नविज्ज, प्रे. (नम्यते) नमस्कार किया जाता है, ३-१६० ।
नविअं वि. (नमितम्) नमाया हुआ, ३-१५६ ।
नयं वि. (नतम्) नमा हुआ, प्रणत, नम्र, जिसको नमस्कार किया गया हो वह, ३-१५६ ।
उन्नम वि. (देशज (?) समुन्नत, ऊंचा, ३-१०५ ।
उन्नामिअ वि. (उन्नमित) ऊंचा किया हुआ, ३-७० ।
नमो अ. (नमः) नमस्कार, ३-४६,१३१ ।
नयणा पुं. न. (नयनानि) आँखें, ३-१२० ।
नयरे न. (नगरे) शहर मे, ३-१३५ ।
नवण्हं संख्या वि. (नवानाम्) नव (९) का, ३-१२३ ।
निएइ सक. (पश्यति) वह देखता है, ३-५६ ।
निग्घिणया वि. (निर्घृणित निर्दय, करुणा रहित, ३-३८ ।
निट्ठुलो वि. (निष्ठुर) कठोर आदमी, ३-१४६ ।
निवेसन्तो सक. (न्यवेशयिष्यः) धारण करने वाला होता, ३-१०० ।
निहिं स्त्री. (निधिम्) खजाने को, ३-१९ ।
नीला-नीलो स्त्री. (नीला) लेश्या विशेष, नीलवर्ण वाली ३-३२ ।

[प]

पङ्कयाइं, पङ्कयाणि न. दङ्कजानि) कमलो को, ३-२६ ।
पज्जिए स्त्री. दे० (प्रार्यिका) माता की दादी, ३-४१ ।
पन्चण्हं संख्या वि. (पन्चानाम्) पाँच का ३-१२१ ।
पढ सक. (पढ) पढ़ना ।
पढइ सक. (पठति, वह पढ़ता है, ३-१७७ ।
पढेज्ज, पढेज्जा, पढिहिइ सक. (पठिष्यति) वह पढ़ेगा, ३-१७७ ।
पढीअइ प्रेर. (पठ्यते, उससे पढा जाता है, ३-१६० ।
पढिज्जइ प्रेर (पठ्यते, उससे पढ़ा जाता है, ३-१६० ।
पढिअं वि. (पठितम्) पढ़ा हुआ, ३-१५६ ।
पाढिअं वि (पाठितम्) पढाया हुआ, ३-१५६ ।
पडिहाइ अक. (प्रतिभाति (मालूम होता है । ३-८० ।
पण्णरपण्हं सख्या वि. (पन्च दशानाम्) पन्द्रहो का, ३-१३३ ।
पत् ....
पाडइ प्रेर (पातयति) वह गिराता है, ३-१५३ ।
पत्थिवाण पुं. (पार्थिवानाम्) राजाओं का, ३-८५ ।
पद् ....
पाएइ प्रेर (पादयति) वह चलाता है, ३-१४९ ।
उप्पज्जन्ते अक. (उत्पद्यन्ते) उत्पन्न होते है, ।
पम्हुट्ठ वि. (प्रमृष्ट) भूला हुआ, ३-१०५ ।
परिहवं पुं, (परिभवं) तिरस्कार को, ३-१८० ।
(हे) पहु ! पुं. (हे प्रभो) हे ईश्वर, ३-३८ ।
पहुप्पिरे अक. (प्रभवतः) दो प्रभावशील होते है, ३-१४२
पहू पुं. (प्रभुः) ईश्वर, ३-३८ ।
पाउसे पुं. (प्रावृषि) वर्षा, ऋतु में, ३-५७ ।
पायन्तिमिल्ल न. (पदान्तेन) पाव के अन्तिम भाग द्वारा, ३-१२४ ।
पाया पुं. (पादौ) दो पैर, ३-१३० ।
पि अ. (अपि) भी, ३-१३७ ।
(हे) पिअ पुं. (हे पितः) हे पिता, ३-३९, ४० ।
पिओ पुं. वि. (प्रियः) प्यारा, ३-८६ ।
पिअस्स वि. प्रियस्य) प्रिय का ३-१० ।
(हे) पिअरं पुं (हे पितः) हे पिता, ३-३९, ४० ।
पिअरं पुं. (पितरम् पिता को, ३-४४ ।
पिआ (पितृ) रूपावले ...... ३-३९ ४० ४४,४७, ४८ ।
पिउच्छा स्त्री. (पितृष्वसा) पिता की वहिन, बुआ, ३-४१ ।
पिउणो पुं. (पितृन्) पिताओ को, ३-४४ ।
पिट्ठीए स्त्री. (पृष्ठे) पीठ पर, ३-१३४ ।
पुरिसो पुं. (पुरुषः) व्यक्ति, आदमी, ३-८६ ८७,८८ ।
पुरिसा पुं. (पुरुषाः) अनेक आदमी, ३-८८ ।
पुहवी स्त्री. (पृथिवी) धरती, भूमि, ३-१३५ ।
पूसाणो, पूसा. पुं. (पूषा) सूर्यः ३-५६ ।
पेच्छ—
पेच्छइ सक. (प्रेक्षते) वह देखता है, ३-२० ।

पेच्छ, सक. (प्रेक्षस्व) देख, देखो, ३-४,५,१८,१९, १८,२१,२२,२६,२८,३६,५०,५२ ५३, ५५,५६,७०,७९,९३,१०७, ०८,१२०, १२१,१२२,१२८,१२९ ।

पेच्छसु सक. (प्रेक्षस्व) तू देख ! ३-१७३ ।
पेच्छउ सक (प्रेक्षस्व) तू देख ! ३-१७३ ।
पेच्छामि सक (प्रेक्षे) मैं देखता हूं, ३-९३ ।
पेच्छामु सक. (प्रेक्षे) मैं देखूं, ३-१७३ ।
पेम्मं न. (प्रेम) स्नेह, ३-२५ ।

पेम्मस्स न. (प्रेम्ण) स्नेह का, ३-१० ।
प्पणामो पुं. (प्रणाम) नमस्कार, ३-१०५ ।

[फ]

फुल्लन्ति अक. (फुल्लन्ति) फूलते हैं, खिलते हैं, ३-२६ ।

[ब]

बम्हा पु. (ब्रह्मा) ब्रह्मा, विधाता, ३-५६ ।
बम्हाणो पु. (ब्रह्मा) ,, ,, ३-५६ ।
बहु वि. (बहु) बहुत, ३-१४१ ।
बालो, बाला, पुं. (बाल, बालाः) बालक, अनेक बालक, ३-२५ ।
बिण्णि संख्या वि. (द्वौ) दो, ३-१२० ।
बे संख्या वि. (द्वौ) दो, ३-११९,१२० ।
बीहइ अक (बिभेति) वह डरता है ३-१३४,१३६ ।
बीहन्ते अक. (बिभ्यति) वे डरते हैं, ३-१४२ ।
बुद्धी स्त्री. (बुद्धि) बुद्धि, मति, प्रज्ञा, ३-१९,२७ ।
(रूपावलि) .... ३-१६,१८,१९,२०,२३,२४, २७,२९,४८,१२४ ।
बे संख्या. वि (द्वौ) दो; ३-१२० ।
बेण्णि संख्या वि (द्वौ) दो, अथवा दो को; ३-१२० ।
बेहि, बेहिन्तो, संख्या. वि (द्वाभ्याम्) दो से, ३-११९ ।

बेण्ह संख्या. वि (द्वयोः) दो के, ३-११९ ।
बिण्ह संख्या वि (द्वयोः) दो का, ३-११९ ।
[illegible] सक (वक्तुम्) बोलना, ३-१६२ ।

[भ]

भण् सक (भण्) बोलना, कहना ।
भणामि सक. (भणामि) मैं कहता हूं, मैं बोलता हूं, ३-१४१ ।
भणामो सक (भणामः) हम कहते हैं, हम बोलते हैं, ३-१०६, १५५ ।
भणमो, भणिमो सक. (भणामः) हम कहते हैं, हम बोलते हैं, ३-१५५ ।
भणिअं वि (भणितम्) कहा हुआ, बोला हुआ, ३-७०
भणिए वि (हे भणिते) हे कहने वाली, हे बोलने वाली, ३-४१ ।
भत्ता पुं. (भर्ता) पति, (रूपावली), ३-४४, ४५ ।
भत्तुणो पु. (भर्तॄन्) पतियों को, (भर्तुः) पति से, पति का, ३-४४ ।
भमाडइ प्रेर. क्रि. (भ्रामयति) वह घुमाता है, ३-१५१ ।
भरइ सक. (स्मरति) वह स्मरण करता है, याद करता है, ३-१३७ ।

भरिमो सक. (स्मरामः) हम स्मरण करते हैं ३-१३४ ।
भवणं न. (भवन) भवन, मकान, ३-२९ ।
भामेइ प्रेर. (भ्रामयति) वह घुमाता है, ३-१५१ ।
भाया पुं. (भ्राता) भाई, (रूपावली) ३-४७, ४८ ।
भावेइ प्रेर. (भावयति) वह चिन्तन करता है, ३-१४९ ।
भुत्तं वि (भुक्तम्) खाया हुआ, ३-२५ ।
भोच्छं सक भवि (भोक्ष्ये) मैं खाऊंगा, ३-१७१ ।
भू अक होना ....

हवसि अक. (भवसि) तू होता है, ३-१४५ ।
हवइ अक (भवति) वह होता है, ३-१४५, १७८ ।
होमो अक. (भवामः) हम होते हैं, ३-१५५ ।
होमि अक. (भवामि) मैं होता हूं, ३-१४१ ।
हुन्ति अक. (भवन्ति) वे होते हैं ३-२६ ।
होसु आज्ञार्थ अक. (भव) तू हो, ३-१७४ ।
होउ विधि (भवतु) वह हो, ३-१७८ ।
होज्जइ, होज्जाइ, होज्ज, होज्जा अक. (भवति) वह होता है, ३-१७८ ।
होहिइ भवि. (भविष्यति) वह होगा, ३-१७८ ।
होज्जउ विधि (भवतु) वह हो, ३-१७८ ।

होज्ज विधि. (भवतु) वह होवे, ३-१५९ १६५, १७७, १७९।
होज्जा विधि (भवतु) वह होवे,३-१५९,१७८,१७९।
हुज्ज विधि (भव. भवतात्) तू हो, ३-१८०।
होज्जइ वर्त. (भवति) वह होता है, ३-१६५।
होस्सं,हो हिमि, होस्सामि, होहामि, भवि (भविष्यामि) मैं होऊंगा, ३-१६६, १६७ १६९।
होज्जस्सामि, होज्जस्सं, होज्जहामि, भवि (भविष्यामि) मैं होऊंगा, ३-१७८।
हुवीअ भूत. (अभवत्) वह हुआ ३-१६३।
होइअइ भाव. कर्म (भूयते) उससे हुआ जाता है, ३-१६०।
होइज्जइ भाव. कर्म. (भूयते) उससे हुआ जाता है, ३-१६०।
भावेइ प्रेर. (भावयति) वह चिंतन कराता है ३-१४९।
होन्तो हेतु. (अभविष्यत्) होता हुआ, होता, ३-१८०।
होमाणो हेतु. (अभविष्यत्) होता हुआ, होता,
पहुप्पिरे अक. (प्रभवतः) दो प्रभावशील होते है, ३-१४२।
भूमिसु स्त्री. (भूमिपु) पृथ्वियो में, ३-१६।
भे सर्व. (यूयम्, युष्मान्, त्वया, युष्माभिः, युष्माकम्, तुम, तुमको, तुझसे, तुम्हारा, ३-९१,९३,९४,९५, १००,१०६।
भेच्छं, भवि. (भेत्स्यामि) मैं भेद दूंगा, ३-१७१।
भमाडइ, भमाडेइ, भमावइ, भमावेइ, भामेइ, प्रेर. (भ्रामयति) वह घुमाता है, ३-१५१।

[म]

म ....

म्मि सर्व. (अहम्) मैं; ३-१०५।
मो सर्व. (वयम्) हम, ३-१०६।
मं, ममं, मि, मिमं, मम्ह, सर्व. (माम्) मुझको; ३-१०७।
मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ मयाइ, सर्व. (मया) मुझसे, ३-१०९।
मए, सर्व (मया) मुझसे, ३-१०९,१६०।

मइत्तो, ममत्तो, महत्तो, मज्झत्तो, सर्व. (मत्) मुझसे, ३-१११।
ममत्तो, ममाहिंतो, ममासुन्तो, ममेसुंत्तो, सर्व. (अस्मत्) हमारे से, ३-११२।
मइ, मम, मह, महं, मज्झ, मज्झं, सर्व (मम) मेरा, ३-११३।
मज्झ, मज्झाण, मज्झाणं, ममाण, ममाणं, महाण महाणं सर्व. (अस्माकम्) हमारा, हमारे, हमारी, ३-११४।
मि, मइ, ममाइ, मए, मे, सर्व. (मयि) मुझ पर, ३-११५। (मइ, ३-१३५)
ममम्मि, महम्मि, मज्झम्मि, सर्व (मयि) मुझ पर, ३-११६।
ममेसु, महेसु, मज्झेसु, ममसु, महसु, मज्झसु सर्व (अस्मासु) हमारे पर, हम पर, हमारे मे, ३-११७।
मर्-मारइ सक. (मारयति) वह मारताहै, ३-१५३।
मर अक. क्रि. (म्रिये) मैं मरता हूँ, ३-१४१।
मलिआइं वि. (मृदितानि) मसले हुए, ३-१३५।
महिला स्त्री. (महिला) स्त्री. नारी, ३-८६,८७।
महिले स्त्री (हे महिले !) हे नारि ! ३-४१।
महिलाओ स्त्री. (महिला) नारी गण, ३-८६।
मही स्त्री. (मही) पृथ्वी. भूमि. एक नदी, छन्द विशेष, ३-८५।
महु न. मधु) शहद, ३-२५।
हे महु ! न. (हे मधु !) हे शहद, ३-३७।
(रूपावलि)-३-१६,१९,२०,२१,२२,२३,२४, २५,२६,१२४,१२८।
माआ स्त्री. (मातृ=माता) जननी, माता, ३-४६।
माइगणो पुं. (मातृ-गणः) माताओ का समूह; ३-४६।
माइ-देवो पुं. (मातृ-देव) माता रुप ईश्वर, ३-४६।
माइण स्त्री. (मातृणाम्) माताओ का, की, के, ३-४६।
माउच्छा स्त्री. (मातृष्वसा) माता की बहन,मोसी,३-४१।
माऊए स्त्री. (मात्रे, माता के लिये, ३-४६।
मामि अ. (सखी-आमन्त्रण-अर्थक) सहेली को बुलाने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने वाला अव्यय विशेप, ३-१०५।
मारुअ-तणओ पुं. (मारुत-तनयः) मारुत का पुत्र हनुमान ३-८७।

माला स्त्री (माला, माला; ३-३६, ८८, १२४।
रूपावलि ३-२७, ३०, ३६, ४१, ८८, १२४, १२६, १२७, १२९।
मि. सर्व. (माम्) मुझको, ३, १०७।
मील्—
उम्मीलन्ति सक. (उन्मीलन्ति) वे खोलते है, ३-२६।
मुक्का वि (मुक्ता) मोक्ष मे गये हुए छुटे हुए, ३-१३४।
मुच्—
मुन्च आज्ञा (मुन्च) छोड ३-२६।
मोच्छं सक भवि, (मोक्ष्यामि, मैं छोडूंगा, ३-१७१।
मुणिस्स पु (मुनये) मुनि के लिये, ३-१३१।
मुणीण पुं (मुनिभ्य) मुनियो के लिये, ३-१३१।
मुद्धा स्त्री. (मुग्धा) मोहित हुई स्त्री, नायिका का एक भेद, ३-२९, ८९।
रूपावली —३–२९
मुद्धा पु (मूर्धा मस्तक, सिर, ३-५६।
मुद्धाणो पु. (मूर्धा मस्तक, सिर ३-५६।
मुद्धिआअ, मुद्धिआए, मुद्धिआइ स्त्री. (मुग्धिकायाः) मुग्धा से, मुग्धा का, ३-२९।
मुह न (मुखम्) मुंह, वदन, मुख, ३-२९।
मुहस्स न. (मुखस्य) मुख का, ३-१२४, १३४।
मुही स्त्री वि (मुखी) मुखवाली, ३-७०।
मे सर्व (मया, मम, मयि) मुझसे, मेरा, मेरे पर, ३-१०९ ११३, ११५।
मेहा पु (मेघा.) बादल, ३-१४२।
मो सर्व (वयम्) हम, ३-१०६।
मोहो पु. (मोह) मूढ़ता, अज्ञान राग, चित की व्याकुता ३-८७।
म्मि सर्व (अहम्) मैं ३-१०५।
म्ह, म्हि, म्हो, अक क्रि (अस्मि स्म) मैं हूं, हम हैं, ३-१४७।

[य]

या—जामि अक. (यामि मैं जाता हूं, ३-१४७।

[र]

रईओ रईउ रईहिन्तो स्त्री. (रत्या, रत्या, रत्याम्) रति से, रति मे, ३-२९।

रक्खसाणं पु (राक्षसानाम्) राक्षसो का, की, के, ३-१४२।
रण्णा पुं. (राज्ञा) राजा से, राजा द्वारा, ३-५१।
रत्तिं स्त्री. (रात्रिम्) रात्रि को, ३-१३७।
रम् ....
रमिउं सम्बन्ध कृ. (रन्त्वा) रमण करके, क्रीडा करके, ३-१३६।
रमिज्जन्ति अक (रमन्ते) क्रीडा करते हैं, ३-१४२।
रयणाइ न. (रत्नानि) अनेक रत्न, मणि, ३-१४२।
रहुवई पुं. (रघुपति) रामचन्द्र, ३-७०।
राइणा पु (राज्ञा) राजा द्वारा, ३-५१।
राया पुं. (राजा) राजा, नृप, ३-१३६।
रूपावलि—३-४९, ५०, ५१, ५२, ५३ ५४ ५५,५६।
रायाणो पु. (राजा) नृप, ३-४९, ५६,।
राहु पुं. (राहुः) ग्रह, विशेष, ३-१८०।
रिद्धीओ स्त्री. ऋद्धय) विविध सपत्तिया, ३-५८।
रुद्—रोच्छं अक. भवि (रोदिष्यामि) मैं रोऊंगा, ३-१७१।
रुसिउ कृ. (रोषयितुम्) क्रोध करने के लिये, ३-१४१।
रे, रे अ (रे रे) अरे, अरे, तिरस्कार, सूचक अव्यय, ३-३८।
रेहन्ति अक (राजन्ते) शोभित होते हैं, ३-२२, १२४।
रोइत्था सक (रोचध्वे) तुम चाहते हो, ३-१४३।
रोच्छं अक. भवि. (रोदिष्यामि) मैं रोऊंगा, ३-१७१।

[ल]

लभ् ....
लहेज्ज, लहिज्जेज्जः सक (लभ्यते) प्राप्त किया जाता है, ३-१६०।
लद्धो वि. (लब्ध) प्राप्त किया हुआ, ३-१३४।
लद्धं न वि. (लब्ध प्राप्त किया हुआ, प्राप्त,३-२३।
लहु पु. (लघु) छोटा, हल्का, एक मात्रा वाला अक्षर, ३-१२४।
लहुआइ सक (लघुकरोति) वह छोटा करता है, ३-८७।
लिख् ....
लिहामि, लिहमि सक. (लिखामि) मैं लिखता हूं, मैं रेखा करता हू, ३-१५४।

लुअं वि. (लूनम्) काटा हुआ, छिन्न, ३-१५६ ।
(जिअ) लोए पुं. (हे जित-लोक !) हे संसार-विजेता, ३-३८ ।
लोहिआइ, लोहिआअइ अक. (लोहितायते) वह लाल होता है, ३-१३८ ।

[व]

वच् ....
वोच्छं सक. भवि. (वक्ष्यामि) मैं कहूंगा, ३-१७१ ।
वुच्चइ भावे प्रयोग वर्त. (उच्यते) कहा जाता है, ३-१६१ ।
वच्छो पुं. (वृक्षः) वृक्ष, तरु, ३-२, २१ ।
वच्छा पुं. (वृक्षान्) अनेक वृक्षों को, ३-२०,२६ । (वृक्षाः वृक्ष, ३-४ ।
वच्छे पुं. (वृक्षान्) अनेक वृक्षों की, ३-४, १४,१८,२६ ।
वच्छं पुं. (वृक्षम्) वृक्ष को, ३-५ ।
वच्छस्स पुं. (वृक्षस्य) वृक्ष का, ३-२९ ।
वच्छे पुं. (वृक्षान्) वृक्ष को, ३-४, १४, १८, २६ ।
वच्छाओ पुं. (वृक्षात्) वृक्ष से, ३-८ ।
वच्छेणं, वच्छेण पुं. (वृक्षेन) वृक्ष द्वारा, वृक्षो से, १-२७ ।
वच्छेसु, वच्छसु पुं. (वृक्षेषु) वृक्ष में, ३-१५,१६ ।
रूपावलि—३-२, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १८, २०, २१ २२, २६, २७, २९, १४७ ।
वणं न. (वनम्) जंगल, ३-२५, ८७, ८८ ।
वणाइ, वणाणि न. (वनानि) अनेक जंगल,३-८८,
वण्णणिज्जो वि. (वर्णनीयः) वर्णन के योग्य, ३-१७९ ।
वन्द् ....
वन्दामि सक. (वन्दे) मैं वन्दना करता हूं, ३-९२ ।
वन्दे सक. (वन्दे) " " " ३-४६,१३४ ।
वयणं न. (वचनं) उक्ति कथन, वचन, ३-२९ ।
वयणाइं न. (वचनानि) उक्तियां विविध कथन, ३-२६ ।
वयं सर्व. (वयम् हम, ३-१०६ ।
वस्-वसामि अक. (वसामि, मैं वास करता हूँ, ३-१३५ ।
वसुआइ अक. (उद्वति) वह शुष्क होता है, वह सूखता है ३-१४५ ।
वसुआसि अक (उद्वासि) तू सूखता है, ३-१४५ ।
वहस्स,वहाउ,वहाय न.(वधाय) मारने के लिये,३-१३३ ।
वहु स्त्री. (वधू) वहू, ३-४२ ।
वहुं स्त्री. (वधूम्) वहु को, ३-१२४ ।
रूपावलि— ३-२७, २९; ३६, ४२, १२४ ।
वाउणो पुं. (वायव; विविध हवाएँ, (वायून्) हवाओं को, ३-२० ।
वाऊ पुं. (वायवः) विविध हवाऐ, ३-२० ।
रूपावलि—३-१९, २०, १२५ १२९ ।
वाएज्जा प्रेर. सक. (पातयति) वह गिराता है, ३-१७७ ।
वाणिअ पुं. (वाणिज) वनिया, व्योपारी, ३-७३ ।
वायउ पुं. (वायवः) विविध हवाएँ, ३-२० ।
वाअओ पुं. (वायवः) विविध हवाऐं, ३-२० ।
वायावेज्जा प्रेर. सक. (पातयेत) गिरावे, ३-१७७ ।
वि. अ. (अपि) भी, ३-८५, १४२ ।
विअड्डि स्त्री. (वितर्दि) वेदिका, हवन-स्यान, चौतरा, ३-५७ ।
विआरो पुं. (विकारः) विकृति, प्रकृति का विपरीत परिणाम, ३-२३ ।
विच्छुहिरे अक. (विक्षुभ्यन्ते) विक्षोभ करते हैं, चंचल हो उठते है, ३-१४२ ।
विज्जुज्जोय न. (विद्युत्-द्योतम्) विजली का प्रकाश, ३-१३७ ।
विज्जेज्ज प्रेर. (विद्येत) पाया जाता है, ३-१६० ।
विद्धा वि. (विद्धा) मैं बींधी गई, ३-१०५ ।
विण्णि, वेण्णि, संख्या वि. (द्वि) दो; ३ १२० ।
विसुद्धेण वि (विशुद्धेन) निर्दोष से, निर्मल से; ३-३८ ।
विहिअं वि. (विहितम्) जिसका विधान किया गया हो वह, शास्त्रोक्त; ३-४६ ।
विहु पुं (विधुः) चाँद, वायु, कपूर; ३-१९ ।
वे संख्या वि. द्वि, दो; ३-१२० ।
(नि) वेसन्तो क्रियाति० (न्यवेशयिष्यः) (निवेसन्तो; धारण करनेवाला होता, ३-१८० ।
वेच्छ, भवि. सक. (वेदिष्यामि) मैं जातूंगा, ३-१७१ ।
वेव (कांपना) रूपावलि ३-१३९,१४३,१४५, १८१,१८२ ।
वेविरीए स्त्री. (वेपनशीलायाः) काँपने वाली की; ३-१३५ ।

वेसु सख्या वि. (द्वयो.) दो मे, ३-११९।
वेहि, (वेहिन्तो,) सख्या वि (द्वाभ्याम्) दो से, दो द्वारा, ३ ११९।
वा सर्व (युष्माकम्) तुम्हारा, ३-१००।
वोच्छं भवि सक (वक्ष्यामि) मैं कहूंगा; ३-१७१।

[श]

शम् . . . .

उवसामेइ, उवसमावइ, उवसमावेइ, प्रेर व (उपशामयति)-वह शान्त कराता है, ३-१४९।

शुप्—

सूसइरे अक. (शुष्यति) सूखता है, ३-१४२।
सोसिअ वि (शोषितम् सुखाया हुआ, ३-१५०।
सोसविअ वि. (शोषितम्) सुखाया हुआ, ३-१५०।

श्रु—

सुणउ, सुणेउ सुणाउ, विधि (शृणोतु) वह सुने,
सोच्छं भवि सक (श्रोष्यामि) मैं सुनूंगा, ३-१७१।
रूपावलि . . ३- ७२।

[स]

स. सर्व. (स) वह, ३-३।
सक्क अक. (शक्नोमि) मैं समर्थ होता हूं; ३-१४१।
सगच्छं भवि (सगस्ये) मैं साथ-साथ जाऊंगा, ३-१७१।
सतण्ह वि (सतृष्ण) तृष्णावाला, ३-१२३।
सत्तण्ह, सत्तण्हं सख्या वि (सप्तानाम्) सात का; ३-१२३।
समए, पु (समये) समय मे, ३-१३७।
समण पु. श्रमण) साधु, भिक्षु, ३-१२३।
समणि स्त्री (हे श्रमणि !) हे साध्वी ! ३-४२।
समणुजाणामि, समणुजाणेज्जा, सक (समनुजानामि) मैं अच्छी तरह से जानता हूँ, ३-१७७।
समन्निअ वि. (समन्वितम्) युक्त, सहित, ३-४६।
समिद्धि स्त्री (समृद्धि) समृद्धि, धन, सम्पत्ति ३-२३।
सम्मं न (शर्मन्-शर्म) सुख, ३-५६।
सव्व वि —रूपावलि ३-५८, ५९, ६०, ६१।
सव्वस्स वि (सर्वस्य) सब के, ३-८५।
सव्वे वि (सर्वे) सब, ३-१४७।
सव्वाण वि (सर्वेषाम्) सभी के, ३-८५।
सव्वहिं वि (सर्वस्मिन्) सब में, सब पर ३-६०।
सव्वत्थ वि (सर्वस्मिन्) सब मे, सब पर, ३, ५९, ६०।
सव्वाण वि. (सर्वेषाम्) सब का, सभी का; ३-६१।
ससहरस्स पु. (शशधरस्य) चन्द्रमा का, ३-८५।
ससा स्त्री (स्वसा) बहिन, भगिनी, ३-३५।
सहन्तो क्रियातिपत्ति अक. (असहिष्यया) सहन करने वाला होता, ३-१००।
सहाओ पु (स्वभाव) स्वभाव प्रकृति, निसर्ग, ३-८५।
सहि स्त्री. (सखी) सहेली, सगिनी, (रूपावलि) ३-२७,२९ ३६, १२४।
सहिअएहिं वि (सहृदयै.) सुन्दर विचार वाले पुरुषो द्वारा ३-६९।
सहिआण वि. (सहितेभ्य) सहितो से, साथ वालो से, ३-१३४।
सा स्त्री सर्व. सा) वह (स्त्री,), ३, ३३, ८६, १७३।
सा पु (श्वान) कुत्ता, अथवा कुतिया, ३-५६।
साणो पु श्वान) कुत्ता, ३-५६।
सामलीए स्त्री. (श्यामलया) श्यामा स्त्री से, ३-१५३।
सायरे पु (सागरे) समुद्र मे, ३-१४२।
साहउ, साहओ पु (साधव) अनेक साधु, ३-२१।
साहणा, साहणी स्त्री. (साधनी) उपायवाली, हेतुवाली, ३-३१।
साहस्सीण स्त्री (साहस्त्रीणाम्) हजारो की, ३-१२३।
साहू पु. (साधु) साधु, महाव्रती, ३-२१।
रूपावलि—३-२१।
सि अक. (असि) तू है, ३-१४६।
सिं सर्व. (एतेषाम्) इनका, इनकी, ३-८१।
सिरं न (शिरस्) मस्तक, सिर, ३-८५।
सीअलत्तण न (शीतलत्वम्) ठडकपना, ३-१०।
सीमाधरस्स पु. (सीमाधराय) मर्यादा धारक के लिये ३-१३४।
सील न (शीलम्) ब्रह्मचर्य, प्रकृति, स्वभाव, सदाचार, ३-८१।
सुओ पु. (सुतः) पुत्र, लडका, ३-३५।
सुकम्माणे, सुकम्माणो पु. (सुकमण) अच्छे कामो को, ३-५६।

णहा, सुप्पणही स्त्री. (शूर्पणखा) एक स्त्री का नाम, ३-३२ ।
न. (सुखम्) सुख, आराम, चैन, ३ २६, ३० ।
इरे अक. (शुष्यति) सूखता है, ३-१४२ ।
सर्व. (अस्य इसका; ३-८१, १८० ।
सर्व (सः) वह; ३-३, ५६, ८६, १४८, १६४ ।
अइ अक. (शोचति) वह शोक करता है, ३-७० ।
च्छं भवि० सक. (श्रोष्यामि) मैं सुनूँगा, ३-१७, १७२ ।

ा—

चिट्ठइ अक. (तिष्ठति) वह ठहरता है, ३-७१ ।
ठासि अक (तिष्ठसि) तू ठहरता है, ३-१४५ ।
ठाइ अक. (तिष्ठति) वह ठहरता है, ३-१४५ ।
ठामो अक. (तिष्ठामः) हम ठहरते हैं, ३-१५५ ।
चिट्ठह अक. (तिष्ठथः अथवा तिष्ठत) तुम ठहरते हो, तुम ठहरो, ३-९ ।
चिट्ठन्ति अक. (तिष्ठन्ति) वे ठहरते हैं, ३-२०, २६, २८; ५०, ५२ ५५, ५६, १२२, १२४ ।
ठासी, ठाही, ठाहीअ, अक. (अस्थात्, अतिष्ठत् तस्थौ) वह ठहरा था, वह ठहरा, वह ठहर चुका था, ३-१६२ ।
ठाही, अक. (तिष्ठ, तिष्ठेः, तिष्ठ्याः) तू ठहर, ३-१७५ ।
ट्ठिआ, वि. (स्थिता) ठहरी हुई, ३-७० ।
ठिअं वि. स्थितम् रहा हुआ, ३-२९, ३०, १०१, ११५, ११६, ११८, ११९ १२९ ।
ठिआ वि. (स्थिताः) रहे हुए, ३-१२८, १२९ ।

[ह]

हं सर्व. (अहम्) मैं, ३-१०५ ।
हत्था पुं. हस्तौ) दो हाथ, ३-१३० ।
हत्थुण्णामिअ वि. (हस्तोन्नामित) जिसने हाथ पर झुका रक्खा हो वह, ३-७० ।
हरिण पुं. (हरिण) हरिण, मृग, ३-१८० ।
हरि, हरी, पुं. (हे हरे !) हे हरि ! हे महादेव ३-३८ ।
हरिणङ्क ! पुं. (हे हरिणाङ्क !) हे चन्द्र. ३ १८० ।
हरिणाहिवं पुं. (हरिणाधिपम्) सिंह को. मृगराज को. ३-१८० ।
हलद्दा स्त्री. (हरिद्रा, हल्दी. औषधि-विशेष ३-३४ ।
हलद्दी स्त्री. (हरिद्रा) हल्दी. औषधि-विशेष. ३-३४ ।
हस्-(धातु-हँसना) रूपावलि-३-२८. ३७. ३६. १३९. १४५. १४९, १५०. १५२. १५४. १५६. १५७. १५८. १५९. १६०. १६६. १६९. १७३. १७५. १७७. १७८. १८१. १८२ ।
हसइ अक. (हसति) वह हँसता है; ३-८७ ।
हासिआ प्रेर. (हासिता) हँसाई गई है. हँसाई हुई; ३-१०५ ।
हाहाण पुं. (हाहानाम्) (हाहाभ्यः) गन्धर्व जाति के देवों का. गन्धर्व जाति के देवो के लिये. ३-१२४ १२९ ।
हिअय न. (हृदय) हृदय, ३-१४१ ।
हिअएण न. (हृदयेन) हृदय से, ३-८७ ।
हुन्ति अक. (भवन्ति) वे होते है, ३-२६ ।
हूअं वि. (हूतम्) होमा हुआ, हवन किया हुआ, ३-१५६ ।
होइ अक. (भवति) वह होता है, ३-१४५ ।
होज्ज विधि. अक. भवतु) वह होवे, ३-१५९, १६५, १७७, १७९ ।

चतुर्थ-पाद की शब्द-सूची

(अ)

असू— २६६।
" शि (असि) तू है, ३०२।
" त्थु (अस्तु) होवे, २८३।
" सन्ता वि. (सतः) होते हुए को, ३८९।
असइहिं स्त्री (असतीभिः) खराब स्त्रियों से, ३९६।
असड्ढलु वि. (असाधारणः) जो सामान्य न हो, ४२२।
असणु न. (अशनम्) खाद्य, खाना, ३४१।
असारु वि. (असारः) सार रहित, ३९५।
असुलहु वि. (असुलभः) जो कठिन हो, ३५३।
असेसु वि. (अशेषम्) निःशेष, सब; ४४०।
अस्तवदी पुं. (अर्थपति) धन का स्वामी, २९१।
अह अ. (अथ) अब, बाद, ३३९, ३४१, ३६५, ३६७, ३७९, ३८०, ३९०, ४१६, ४१७, ४२२, ४४२, ४४७।
अहं सर्व. (अहम्) मैं, ३०२।
अहरु पुं. (अधरः) होठ, ३३२।
अहवइ अ. (अथवा) या, अथवा, ४१९।
अहवा अ. (अथवा) या, अथवा, ४१९।
अहिऊलइ सक. (दहति) वह जलाता है २०८।
अहिपच्चुअइ अक. (आगच्छति) वह आता है, १६३, २०९।
अहिमञ्जू पुं. (अभिमन्युः) अर्जुन-पुत्र, २९३।
अहिरेमइ सक. (पूरयति) वह भरता है, पूरता है, १६९।
अहिलंखइ सक. (काक्षति) वह चाहता है, १९२।
अहिलंघइ सक. (काक्षति) वह चाहता है, १९२।
अहो अ० (अधः) नीचे, ४६७।

[आ]

आअड्डइ अक. (व्याप्रियते) वह काम मे लगता है, ८१।
आइउ कर्मणिभूत. (आयातः) आया हुआ, ४३२।
आइग्घइ सक. (आजिघ्रति) वह सूँघता है, १९३।
आइञ्छइ सक. (कर्षति) म्यान से तलवार खीचता है, १८७।
आउड्डइ अक. (मज्जति) डूबता है, १०१।
आउत्ते भूत. कृ. (आवृत्तः) बुलाया हुआ, ३०२।
आएण सर्व (एतेन) इससे, ३६५।
आगमु पुं. (आगमः) आगम, आना ३०२।
आचक्खदि सक. (आचष्टे) कहता है, २९७।
आढप्पइ सक. (आरभ्यते) शुरु किया जाता है, २५४।
आढवइ सक. (आरभते) शुरु करता है २५५।
आढवीअइ सक. (आरभ्यते) शुरु किया जाता है, २५४।
आणन्दु पुं. (आनन्दः) खुशी, प्रसन्नता, ४०१।
आणहि सक. (आनय) लाओ, ३४३।
आदन्नहं विशे. (व्याकुलानाम्) घबराये हुओं का, ४२२।
आदरइ सक. (आद्रियते) आदर किया जाता है; ८४।
आप्
" परि-पज्जत्त वि. (पर्याप्तम्) काफी ३६५।
" प्र-पाविमि सक. (प्राप्नोमि) मैं प्राप्त करता हूँ। ३०२।
" पावइ सक. (प्राप्नोति) वह पाता है; २३९।
" पावीसु सक. (प्राप्स्यामि) प्राप्त करूंगी; ३९६, ३९८।
" पाविअइ सक. (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है;
" पत्तु वि. (प्राप्तम्) पाया हुआ हुआ; ३३२।
" पाविअ वि. (प्रापित) पाया हुआ; ३८७।
" स-संपत्ता वि. (संप्राप्ताः) पाये हुए; ३०१।
" वि-वावेइ अक. (व्याप्नोति) वह व्याप्त होता है; १४१।
" सं-समावेइ सक. (समाप्नोति) वह पूरा करता है। १४२
" समप्पइ सक. (समाप्नोति) वह पूरा करता है; ४२२।
" समप्पउ सक. (समाप्यताम्) पूरा करे ४०१।
" समत्तु वि. (समाप्तम्) पूरा हो गया; ३२२, ४२०।
आभसइ सक. (आभाषते) वह कहता है; ४४७।
आयइं सर्व. (इमानि) ये; ३६५।
आयहो सर्व. (अस्य) इसका; ३६५।
आएण सर्व. (एतेन) इससे; ३६५।
आयहिं सर्व. (अस्मिन्) इसमें; ३८३।
आयज्झइ अक. (वेपते) कापता है; १४७।

उट्ठ वईस अक. (उत्तिष्ठोपविश) उठ और वैठ, ४२३ ।
उड्डावन्तिअए वि. (उड्डापयन्त्या) उड़ाती हुई के ३५२ ।
उड्डीणो वि. (उड्डीनः) आकाश मे उडा हुआ, २३७ ।
उड्डेइ अक. (उड्डयते) आकाश मे उड़ता है, २३७ ।
उड्डेइ उड्डेन्ति अक. (उड्डयन्ते) आकाश मे उड़ते हैं, २३७ ।
उण्हउ वि. (उष्णम्) गरम, तप्त, ३४३ ।
उण्हत्तणु न. (उष्णत्वम्) गर्मी, ३४३ ।
उत्तघइ सक. (रुणद्धि) वह रोकता है, १३३ ।
उत्थंघइ सक. (उत्क्षिपति) ऊचा फेंकता है, ३६ १४४ ।
उत्थल्लइ अक. (उच्छलति) उछलता है १७४ ।
उत्थारइ सक. (आक्रमते) वह आक्रमण करता है. १६० ।
उद्दालइ सक. (उद्दालयति) वह खीच लेता है, १२५ ।
उद्धब्भुअ वि. (ऊर्ध्वभुजा) ऊची भुजा किये हुई ४४४ ।
उद्धमाइ सक (उद्धमति) वह पूरती है, पूरा करती है, १६९ ।
उद्धूलेइ सक. (उद्धूलयति) व्याप्त करता है, धूलि लगाता है, २९ ।
उप्पत्तिं स्त्री (उत्पत्तिम्) उत्पत्ति, प्रादुर्भाव, ३७२ ।
उप्परि अ (उपरि) ऊपर ३२४ ।
उप्पालइ सक. (कथयति) कहता है २ ।
उप्पेलइ सक. (उन्नामयति) वह ऊचा रख कर घुमाता है, ३६ ।
उब्बुक्कइ सक, (उद्वुकति) बोलता है, कहता है, २ ।
उब्भावइ अक (रमते) खेलता है १६८ ।
उब्भुअइ अक. (उद्भवति) उत्पन्न होता है, ६० ।
उब्भुत्तइ सक. (उत्क्षिपति) ऊचा फेंकता है; १४४ ।
उमच्छइ सक. (वञ्चयति) वह ठगता है, ९३ ।
उम्मत्थइ अक. (अभ्यागच्छति) वह सामने आता है, १६५ ।
उम्मिल्लइ अक. (उन्मीलयति) चमकती है, ३५४ ।
उरे, उरम्मि, उरसि न. (उरसि) छाती में ४४८
उल्लसइ अक. (उल्लसति) तेजयुक्त होता है; २०२ ।
उल्लालइ सक. (उन्नामयति) ऊपर घुमाता है; ३६ ।
उल्लालिउ वि. (उल्लालित.) ऊपर घुमाया हुआ, ४२२ ।
उल्लुक्कइ सक. (तुडति, तोड़ता है; भांगता है; ११६ ।
उल्लुण्डइ अक. (विरिणवति, झरता है, टपकता है; २६ ।
उल्लुट्टइ अक. (नि.सरति) वह वाहिर निकलता है: २५९ ।
उल्लूरइ सक. (तुडति) वह तोडता है, ११६
उल्हवइ सक. (विध्यापयते, वह ठडाकरता है; वह बुझाता है; } ४१६ ।
उवमिअइ सक. (उपमीयते) उपमा दी जाती है; ४१८ ।
उवालम्भइ सक. (उपालभते, वह उलाहना देता है १५६ ।
उवेल्लइ अक. (प्रसरति) वह फैलता है, ७७ ।
उव्वरिअ वि. (उवरिता) छोड़ दी गई हूँ, ३७९ ।
उव्वाअइ अक. (उद्वाति) वह सूखता है, २४० ।
उव्वाइ अक. (उद्वाति) वह सूखता है ११, २४० ।
उव्वारिज्जइ सक. (उद्वार्यते) छोड़ दिया जाता है ४ ८ ।
उव्विवइ अक. (उद्विजति) वह उद्वेग करता है २२७ ।
उव्वेढइ सक. (उद्वेष्टयति) वह वन्धन मुक्त करता है, २२३ ।
उव्वेवो पुं. (उद्वेगः) शोक, रज, २२७ ।
उश्चलदि अक. (उच्चलति) उछलता है, २९५ ।
उस्मा स्त्री. (उष्मा) सताप, गर्मी, २८९ ।
उस्सिक्कइ सक. (मुञ्चति, उत्क्षिपति) छोड़ता है, ऊपर फेंकता है, २१ १४४ ।

[ऊ]

ऊमलइ अक. (उल्लसति) वह खुश होता है; २०२ ।
ऊसासेहिं पुं. (उच्छ्वासैः) ऊचे श्वासो से, ४३१ ।
ऊसुम्भइ अक. (उल्लसति) वह खुश होता है, २०२ ।

[ए]

ऍउ सर्व. (एतत्) इसको, ४३८ ।
"एइ सर्व. (एतान् इनको, ३३०, ३४४, ३६३ ४१४ ।
"एआए सर्व. (एतया) इसस; २८४, ३०२ ।
एक्कारस वि. (एकादश) ग्यारह; ४२६ ।
एक्क वि. (एक) एक, ३७१, ३८३, ४१९, ४२२, ४२९, ४३१ ।
एक्कु वि. (एकः) एक; ४२२ ।
" एक्कहिं वि. (एकैः, किन्ही एक से, ३३१ ३५७, ३९६ । ४२२ ।
एक्क मेक्कउ वि. (एकैकम्) प्रत्येक को ४२२ ।
एक्कसि अ. (एकदा) एक वार, ४२८ ।

एच्छण वि. (एष्टुम्) इष्ट को, लक्ष्य को, ३५३।
एतिस वि. (ईदृशम्) ऐसा, ३२३।
एत्तहे अ (अत्र) यहाँ पर, ४१९, ४२०, ४३६।
एत्तिउ वि. (इयत्) इतना, ३४१।
एत्तुलो वि (इयान्) इतना ही, ४०८, ४३५।
एत्थ अ. (अत्र) यहाँ पर, १२३, २६५।
एत्थु अ (अत्र) यहाँ पर, ३३०,३८७ ४०४ ४०५।
एदं सर्व. (एतत्) यह, २६९।
एदेण सर्व. (एतेन इस से, २८२, ३०२।
"एदिणा सर्व (एतेन) इस से, २७८।
"एदाहि सर्व (एतस्मात्) इस से, २६०।
एम्व अ. (एवम्) इस प्रकार, ३७६, ४१८।
एम्वइ अ (एवम्) इस प्रकार ही, ३२२,४२०,४४१।
एम्वइ अ (एवम्) इस प्रकार ही, ४२१, ४२३।
एम्वहिं अ (इदानीम्) अब, इस समय में, ३८७,४२०।
एवडु वि. (इयत्) इतना, ४०८।
एव अ (एवम्) इस प्रकार ही २७९, ४२२।
एव विधाए स्त्री (एव विधया) इस विधि से, ३२३।
एशे सर्व (एप यह, २८७, ३०२।
एस सर्व (एप यह, ३२०, ३८०, ४४७।
एह सर्व (एप.) यह, ३३०, ३४४ ३६२, ३६३, ४१९, ४२५।
एहु सर्व. (एप) यह ३६२, ३९५, ४०२ ४२२।
एहो सर्व (एप) यह, ३६२, ३९०।
"एहा सर्व. (एप) यह, ४४५।
एहउ सर्व. (एतद्) यह, ३६२।

[ओ]

ओ अ (उत) अथवा, ४०१।
ओअक्खइ सक (पश्यति) देखता है, १८१।
ओअग्गइ सक (व्याप्नोति) व्याप्त करता है, १४१।
ओअन्दइ सक.(आच्छिनत्ति) काटता है, १२५।
ओअरइ अक (अवतरति) नीचे उतरता है, ८५।
ओइ सर्व.(अमूनि) ये, ३६४।
ओगाहइ अ. (अवगाहयति) स्नान करता है, २०५।
ओग्गालइ सक. (रोमन्थयति) जुगाली करता है, ४३।
ओम्वालइ सक (छादयति) ढाकता है, २ , ४१।
ओरसइ अक. (अवतरति) वह नीचे उतरता है, ८५।
ओरुम्माइ अक (उद्वाति) वह सूखता है, ११।
ओलुण्डइ सक (विरेचयति)वह झरता है टपकता है २६।
ओवासइ अक (अवकाशति) वह शोभा पाता है, १७९।
ओवाहइ सक (अवगाहयति)वह अच्छी तरह से ग्रहण करता है, २०५।
ओशलध अक (अपसरत) हट जा, ३०२।
ओसुक्कइ सक (तिजति)वह तीक्ष्ण-तेज करता है, १०४।
ओहइ अक (अवतरति। वह नीचे उतरता है, ८५।
ओहट्टइ सक (अवभ्रश्यते भ्रष्ट की जाती है, ४१९।
ओहामइ सक (तुलयति) तोलाता है, २५।
ओहावइ सक (आक्रमते वह आक्रमण करता है १६०।
ओहीरइ अक (निद्राति) वह नींद लेता है, १२।

[क]

क अ (किम्) (कथम्), क्यों, कैसे, ३५०,४२२, ४४५।
" कवि सर्व (कोऽपि) कोई भी, ३७७, ४०१, ४२०, ४२२।
" को सर्व (क) कौन, ३७०, ३९६, ४२२, ४३८, ४३९, ४४१।
" कोइ सर्व (कोवि) कोई भी, ३८४।
" कोवि सर्व. (कोऽपि) कोई भी, ४१४, ४२२।
" का सर्व. (का) कौन स्त्री ? ३२०।
" कावि सर्व. (कापि) कोई भी, ३९५।
" कि न अ (किम् न) क्यो नही, ३४०।
" किं सर्व. (किम्) कौन, क्या, क्यो, २६५, २७९, ३०२,३६५,३६७ ४२२,४३४, ४३९,४४५।
" किपि सर्व. (किमपि) कुछ भी, ३१०, ३९१, ४१८, ४३८।
" कइँ सर्व. (किम्) क्या, ४२६।
" के सर्व. (कति) कितने, ३७६।
" केवि अ (कतिचित्) कुछ, ३८७, ४१२।
" कस्सु सर्व. (कस्य) किस का, ४४२।
" कासु सर्व (कस्य) किस का, ३५८।
" कहे सर्व. (कृते) के लिये, ३५९।
कइ सर्व (कति) कितने, ४२०।
कइभो वि. (कीदृश) किसके समान, ४०३

कउ अ. (कुतः) कहाँ से ? ४१६, ४१८।

कंखइ सक. (काङ्क्षति) इच्छा करता है, ९२।

कङ्गुहे स्त्री. न. (कङ्गोः) कंगु नामक पौधे का ३६७।

कच्चु सर्व. (कच्चित्) कोई ३२९।

कज्ज न. (कार्यं) काम, २६६, ४०६।

कज्जु न. (कार्यं) काम, ३४३।

कज्जें न. (कार्येण) काम से, ३६७।

कञ्चण न. (काञ्चन) सोना, स्वर्ण, ३९६।

कञ्चुइआ पुं. (कञ्चुकिन्) अन्तःपुर का चपरासी, २६३, ३०२।

कञ्चुआ पुं. (कञ्चुक) चोली, स्त्री की कुर्ती, ४३१।

कञ्चका स्त्री. (कन्यका) लड़की, कुमारी, २९३ ३०५।

कटरि अ. (आश्चर्यम्) आश्चर्य की बात है कि, ३५०।

कटारइ स्त्री. (कटारिकायाम्) कटारी, शस्त्रविशेष, ४४५।

कडु वि. (कटु) कडुआ, ३३६।

कढइ सक. (क्वथ्यते) क्वाथ करना, उबालना, ११९, २२०।

कड्ढइ सक. (कर्षति) म्यान मे से तलवार खीचना, १८७।

कड्ढउ सक. (कर्षामि) खींच लाता हूँ ३८५।

कणइ न. (कनके) स्वर्ण में, ४१४।

कणइ सक. (कणति) वह आवाज करता है, २३९।

कणिअ स्त्री. (कणिका, एक कण भी ४१९।

कणिआरो पुं. (कर्णिकारः) कनेर, वृक्ष विशेष, ३९६।

कण्ठि पुं. (कण्ठे) गले में, ४२०, ४४४, ४४६।

कण्णडइ पुं. नं. (कर्णे) कान मे ४३२, ४३३।

कण्णहिं पुं. नं. (कर्णेषु) कानो में, ३५०।

कतसिनानेन वि. (कृतस्नानेन, जिसने स्नान कर लिया है उसके द्वारा, } ३२२।

कथ्—

" कहइ सक. (कथयति) कहता है, २।

" कधेदि-कहेदि सक, (कथयति) कहता है २६७।

" कधेहि सक. (कथयति) तू कहता है, ३०२।

" कधिदु वि. (कथितम्) कहा गया. ३९६।

" कधितून स. कृ. (कथयित्वा) कहकर के, ३१२।

" कत्थइ क भा. प्र. (कथ्यते कहा जाता है, २४९।

" कहिज्जइ " (कथ्यते कहा जाता है, २४९।

कधं अ. (कथम्) किस प्रकार से, २६७, ३ ३।

कन्दप्पो पुं. (कन्दर्पः) कामदेव, ३२५।

कन्ति स्त्री. (कान्ति) लावण्य, कान्ति, ३३६।

" कन्तिए स्त्री. (कान्त्या) कांति से, लावण्य से, ३४९।

कन्तु वि. (कान्तः) सुन्दर, कांतिवाला, ३४५, ३५१।

" पु. कान्तः) पति, ३५७, ३५८, ३६४, ३८३, ४१८, ४२४।

" कन्तस्य पुं. (कान्तस्य) पति के लिये, ४४५।

" कन्तहो पुं. (कान्तस्य) पतिका, ३७९, ३८९, ३९५, ४१६, ४२९।

कप्पिज्जइ सक. (कल्प्यते) कल्पना की जाती है, ३५७।

कमल न. (कमलं) कमल, ३०८, ३३२, ३९७, ४१४।

कमलइं न. (कमलानि), कमल, कमलो को, ३४३।

कमवसइ अक. (स्वपिति) सोता है, १४६।

कम्प्—

" कम्पेइ अक. (कम्पते) कापता है. ४६।

" कम्पिता वि, (कम्पिता) कापी हुई, ३०६।

" अणुकम्पणीआ वि. (अनुकम्पनीया) दया के योग्य, २६०।

कम्मइ सक. (क्षुरंकरोति) हजामत करता है, ७२।

कम्मवइ सक. (उपभुनक्ति) वह उपभोग करता है, १११।

कम्माह पुं. न. (कर्मणाम्) कर्मों का, २९९।

" कम्माहँ पुं. (कर्मणाम्) कर्मों का, ३००।

कम्मेइ सक. (भुनक्ति) वह खाता है, ११०।

कयन्ते पुं. (कृतान्तः) यमराज ३०२।

कयम्बो पुं. (कदम्बः) वृक्ष-विशेष, ३८७।

" कयम्बु पुं. (कदम्ब,'' " ३८७।

कयरो सर्व (कतरः) कौन ? २८७

कर्—

" करेमि — सक. (करोमि) मैं करता हूं, २६५।

" कलेमि — सक. (करोमि) " " " २८७।

" करेइ सक- (करोति) वह करता है ३३७, ४१४, ४२०, ४२२।

" करइ सक. (करोति) वह करता है, ६५, २३४, २३९ ३३८।

" करदि सक. (करोति वह करता है' ३३०

" करन्ति सक. (कुर्वन्ति) वे करते है, ३७६, ४४५।

" करहिं सक. (कुर्वन्ति) वे करते है, ३८२, ४१४।

" करु सक (कुरु) कर, ३३० ।
" करहि सक (कुरु) कर, ३८५, ४ ८ ।
" करे पु (करे) हाथ में, ३८७,
" करहु सक (कुरुत) तुम करो, ३४६, ४०७ ।
" करेध सक कुरुत) तुम करो, २६० ।
" करिस्सिदि सक. (करिस्यते) करेगा, २७८ ।
" करीसु सक (करिष्यामि) मैं करूंगी, ३९६ ।
" कीसु सक (क्रिये) मैं की जाती हूं, ३८९ ।
" कड्ढउँ सक (कर्षामि) मैं खींच लाऊंगा, ३८५ ।
" काइं सक करिष्यामि) मैं करूंगा, २६५ ।
" काहेइ सक. (करिष्यति) वह करेगा, २ ४ ।
" काहीअ सक. (अकार्षीत्) किया, २१४ ।
" किज्जदि, किज्जइ सक (करोति वह करता है, २७४ ।
" कीरज्जइ सक (क्रियते) किया जाता है, २५० ।
" कीरइ सक, (क्रियते) किया जाता है, २५० ।
" कीरते सक (क्रियते) किया जाता है ३१६ ।
" किज्जउ सक (करोमि) मैं करता हू, ३३८, ३८५, ३८९, ४११, ४४५ ।
" काउं हे कृ (कर्तुम्) करने के लिये, २१४ ।
" करउँ सक. (कुर्याम्) मैं करूं अथवा करतीहू, ३७० ।
" करि स कृ (कृत्वा) करके, ३८७, ३५७ ।
" करिअ स कृ (कृत्वा) करके २७२ ।
" कडुअ स. कृ (कृत्वा) करके, २७२, ३०२ ।
" करिदूण स कृ, (कृत्वा) करके, २७२ ।
" काऊण स कृ (कृत्वा) करके, २१४ ।
" कलिअ स कृ कृत्वा) करके, ३०२ ।
" करेवि स कृ (कृत्वा) करके, ३४० ।
" करेप्पिणु स कृ. (कृत्वा) करके, ३९६ ।
" कयव वि. (कृतवान्) मैं करनेवाला हूं, २६५ ।
" कियउ भू. कृ (कृत) किया गया है, ४२९ ।
" कय भू कृ (कृता) की गई, ४२२ ।
" कत्त भू कृ (कृतम्) किया गया ३२१ ।
" कदं भू कृ (कृतम्) किया गया है, २९० ।
" किदु भू. कृ (कृतम्) किया गया, ४४६ ।
" किअउं (भू कृ (कृतम्) किया गया, ३७१, ३७८ ।
" अकिआ भू कृ (अकृतम्) नही किये हुए को, ३९६ ।
" करणीअ वि. (करणीयम्) करने योग्यको, २७७ ।

" कायव्वं वि (कर्तव्यम्) करना चाहिय, २१४ ।
" करिएव्वउ वि. (कर्तव्यम्) करने के योग्य, ४३८ ।
" करन्त व. कृ (कुर्वती) करती हुई, ४३१ ।
" करतु व, कृ (कुर्वन्) करता हुआ, ३८८ ।
" करन्तहो व. कृ (कुर्वंत,) करते हुए का, ४०० ।
" करविआ वि. (कारिता) कराये गये, ४२३ ।
कर पु. (कर) हाथ, ४१८, ४२९ ।
" करि पु. (करे) हाथ मे, ३५४ ।
" करहिं (करैः) किरणों स, ३४९ ।
करग्ग न (कराग्र) हाथ के आगे का भाग, ४२२ ।
करञ्जइ सक (भनक्ति) वह तोडता है, १०६ ।
करवालु पुं. (करवाल) तलवार, ३५४, ३७९, ३८७ ।
करालिअउ वि (करालित) प्रज्वलित, ४१५, ४२९ ।
करि पु (करि) हाथी, ३५३ ।
करिसइ सक. (कृषति) म्यान मे से तलवार खींचता है ८७, २३५ ।
कलइ सक॰ (जानाति) वह जानता है, २, ५९ ।
कलङ्किअह वि. (कलङ्कितानाम्) कलक वालो के, ४२८ ।
कलयलो पु. (कलकल) कोलाहल, आवाज, २२० ।
" कलयले पु. (कलकल) कोलाहल, ३०२ ।
कलहिअउ वि (कलहायित) झगड़ किया गया, ४२४ ।
कलिजुगि न. (कलियुगे) कलियुग में, ३३८, ३७५, ४१० ।
कलिहि न. (कलौ) कलियुग में, ३४१ ।
कली पु. (कलि) झगड़ा, २८७ ।
कले पु (कर) हाथ, २८८ ।
कलेवरहो न (कलेवरस्य) मृत शरीर का, ३६५ ।
कवइ सक. (कवति) वह शब्द करता है, आवाज करता हे, २३३ ।
कवण वि (किम्) कौन ? क्या ? ३५७, ३६७ ।
" कवणु वि (कः) कौनसा, ३९५ ।
" कवणेण वि. (केन) किससे, ३६७ ।
" कवणहे वि. (कस्मिन्) किस मे, ४२५ ।
कवरि स्त्री (कवरी) केश-पाश, चोटी, ३८२ ।
कवल पुं. (कवला) कवल ग्रास, ३८७ ।
कवले पु. (कवलान्) कवलो को, ग्रासो को, २८९ ।
कवँलु न. (कमलम्) कमल, ३९७ ।
कवोलि पु (कपोले) गाल पर, ३९५ ।
कवालु न. (कपालानि) खोपड़ियों को, ३८७ ।

[ख]

गोरीअहि स्त्री. (गौर्याः) गोरी के, महिला के, ४१४।
गोली स्त्री. (गौरी) गोरी महिला पत्नि, पार्वती; ३२६।

ग्रह्——
" गेण्हइ सक. (ग्रहणाति) वह ग्रहण करता है, २०९।
" गृण्हइ सक. (ग्रहणाति) वह ग्रहण करता है, ३३६।
" गृह्णन्ति सक. (ग्रहणन्ति) वे लेते है, ३४१।
" घेप्पइ कर्मणि. (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है, २५६, ३४१।
" घेप्पन्ति कर्मणि. (गृह्यन्ते) ग्रहण किये जाते हैं, ३३५।
"गेण्हिज्जइ कर्मणि. (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है, २१६।
" गेण्हिअ सं. कृ. (गृहीत्वा) ग्रहण करके, २१०।
" घेत्तूण सं. कृ. (गृहीत्वा) ग्रहण करके, २१०।
" गृण्हेप्पिणु सं. कृ. (गृहीत्वा) ग्रहण करके, ३९४,४३८।
" घेत्तुं, घेत्तूण, घेत्तव्व–(ग्रहीतुम्, गृहीत्वा, ग्रहीतव्यम्) =ग्रहण करने के लिये, ग्रहण करके, ग्रहण करना चाहिये, २१०।

[घ]

घइं अ. (अनर्थकोनिपातः) अर्थहीन अव्यय, ४२४।
घंघलइं न. (झकट) (कलहाः) झगड़े, ४२२।
घट्——
" घडइ सक. (घटयति) वह बनाता है; रचता है, १२।
" घडदि सक. (घटयति) वह बनाता है, जोड़ता है, ४०४।
" घडेह सक. (घटयति) वह मिलाता है निर्माण करता है; ५०।
" घडावइ सक. (घटयति) वह निर्माण करता है, ३४० ४११।
" घडिअ वि. (घटितः) निर्माण किया हुआ, ४१४।
" घडिअउ वि. (घटित.) निर्माण किया गया है, ३३१।
" उग्घाडइ सक. (उद्घाटयति) वह खोलता है, ३३।
" संघडइ अक. (संघटति) वह प्रयत्न करता है, ११३।
" घड पुं. (घटः) घडा, कुम्भ, ३५७, ३९५,४३९।
" घडुक्कय पुं. (घटोत्कच) भीम पाडव का पुत्र, २९९।
" घण स्त्री. (घृणा) घृणा नफरत ३५०, ३६७।
घण वि, पुं. (घन) सघन, बहुत, बडे-बड़े, हथौड़ा, ३८७, ४ ४, ४३८।
" घणा स्त्री. वि. (घृणा) नफरत, बहुत, ४२२, ४३९।
घत्त न. (घातम्) चोट; आघातः ४१४।

घत्तइ सक. (क्षिपति) वह फेंकता है, १४३।
" घत्तइ सक (गवेशयति) वह ढूंढता है, १८९।
घम्मो पुं. (घर्मः) गरमी, धूप, ३२८।
घर न. (गृहम्) घर, ३६४।
" घरु न. (गृहम्) घर ३४१, ३४३, ३५१, ३६७, ४२२।
" घरि न. (गृहे) घर मे, ४२३, ४३६।
" घरहिं न. (गृहे) घर मे ही, ४२२।
घरिणी स्त्री. (गृहिणी) पत्नि घर की स्वामिनी, ३७०।
घल्लइ सक. (क्षिपति) वह फेंकता है, वह रगड़ता है, ३३४, ४२२।
" घल्लन्ति सक. (क्षिपन्ति) फेंकते हैं. ४२२।
घाउ पुं. (घातः) चोट, आघात ३४६।
घुग्घिउ स्त्री. (चेष्टाम्) बंदर की चेष्टा को, ४२३।
घुडुक्कइ अक. (शल्यायते) खटकती है, ३९५।
घुण्टेहिं सं. कृ. (घुट् शब्द कृत्वा) घुट् घुट् शब्द करके, ४२३।
घुम्मइ अक.(घूर्णते) वह घूमता है. चक्राकार फिरता है, ११७
घुसलइ सक. (मथ्नाति) वह मथता है, मर्दन करता है, १२१।
घोट्टइ सक. (पिबति) पीता है, १०।
घोड़ा पुं. (अश्वा) घोडे, ३३०, ३४४. ३६३।
घोलइ अक. (घूर्णते) वह घूमता है. चक्राकार फिरता है, ११७।

[च]

च अ. (च) और, २६५, ३२१, ३२२, ३२३।
च अ. (एव) ही, ३८६।
चउ वि. (चतुर्) चार ३३१।
चउमुहु वि. पुं. (चतुर्मुखः) चार मुख वाला, ब्रह्मा, ३३१।
चक्कें पुं. (चक्रेण) चक्रवाक पक्षी से, ४४४।
चक्खिअं वि. (आस्वादितम्) चखा हुआ, २५८।
चच्चरं वि. (जर्जरम्) (चूलिका पैशाची मे) जीर्ण हुआ, ३२५।
चच्चिक्क. वि. दे. (स्थासकम्) मडित, विभूषित, १।
चच्चुप्पइ सक. (अर्पयति) वह अर्पण करता है, ३९।
चच्छइ सक. (तक्ष्णोति) वह छीलता है, काटता है, १९४।

चञ्चलु वि (चञ्चलम्) चाल, चचल ५१८।
चडइ सक (आरोहति) चढ़ता है, २०६, ४१०।
चडिअउ वि. क भू (आरूढ़) चढ़ा हुआ, ३३१।
चडिआ वि. (आरूढ़ा) चढे हुए, ४४५।
चडक्क पु. न दे (चटात्कार) चटत्कार,चटका,थप्पड का शब्द, ४०६।
चडाहुं सक (आरोहाम) हम चढते हैं, ४३९।
चडुइ सक (भुक्ते) वह खाता है, ११०।
" सक मृद्‌नाति वह मर्दन करता है, ममलता है, १२६।
" सक (पिंशति) वह पीसता है, १८५।
चदुरिके स्त्री (चतुरिके) हे चतुरिके ! दासी, २८१।
चदुलिके स्त्री (चतुरिके) हे (दासी) चतुरिके, ३०२।
चन्दिमएँ स्त्री (चन्द्रिकया) चाँदनी से, ३४९।
चमढइ सक (भुक्ते) खाता है, ११०
चम्पय पु (चम्पक)वृक्ष विशेष, चम्पा का पेड ४५४।
चम्पावण्णी स्त्री वि. (चम्पकवर्णी) चम्पा के फूल के रग-वाली, ३३०।
चम्पिज्जइ सक (आक्रम्यते दवा ली जाती है ३९५।
चयइ सक त्यजति) छोडता है, ८६।
" चय सक (त्यज) छोड, त्याग, ४२२।
" चएव्वं सक (त्यजे) छोड़ दे, छोड़ देना चाहिये,४१८।
" चएप्पिणु हे कृ (त्यक्तु) छोड़ने के लिये, ४४१।
" चत्त क भू कृ (त्यक्त)छोड दिया है ३८३,३४५।
" चयइ सक. (शक्नोति) वह समर्थ होता है, ८६।
चरि सक (चर) खा, खाओ, ३८७।
चलइ अक (चलति) चलता है, ३३१।
चलण न (चरण) पैर, पाव, ३९९।
चलदि अक (चलति) चलता है, २८३।
चलन न (चरण) पाँव पैर, ३२६।
चलेहिं वि (चलाभ्याम्) चचलों से ४२२।
चल्लइ अक (चलति) चलता है २३१।
चवइ सक (कथयति) वह कहता है, २।
चवइ अक (च्यवति) वह मरता है, २३३।
चवेड स्त्री (चपेटा) तमाचा, थप्पड, ४०६।
चाँउ पु. (त्याग) त्याग, प्रत्याख्यान, ३९६।
चारहडी स्त्री (च आरभटी) शौर्य-वृत्ति, सैनिक वृत्ति, ३९६।

चि—
" चिणइ सक. (चिनोति) इकट्ठा करता है, २३८, २४१।
" चुणइ सक (चिनोति) इकट्ठा करता है, २३८।
" चिणिज्जइ सक (चीयते) इकट्ठा किया जाता है, २४२, २४३।
" चिम्मइ सक (चीयते) इकट्ठा किया जाता है, २४३।
" चिणिहिइ सक, (चिणिष्यति) इकट्ठा करेगा, २४३।
" चिम्मिहिइ सक (चियिष्यते) इकट्ठा किया जावेगा, २४३।
" चिव्वइ सक (चीयते) इकट्ठा किया जाता है, २४२, २४३।
" चिव्विहिइ सक. (चीयिष्यते) इकट्ठा किया जायगा २४२, २४३।
" उच्चिणइ सक (उच्चिनोति) वह (तोड कर) इकट्ठा करता है, २४१।
" उच्चेइ सक (उच्चिनोति) वह तोडकर इकट्ठा करता है, २४१।
चिइच्छइ सक. (चिकित्सति) वह दवा करता है,२४०।
चिञ्चअइ, चिञ्चइ चिञ्चिल्लइ सक. (मण्डयति) वह विभूषित करता हैं, ११५।

चिन्त्—
" चिन्तइ सक (चिन्तयति) सोचता है, ४२२।
" चिन्तेदि सक (चिन्तयति) सोचता २६५।
" चिन्तयन्तो सक (चिन्तयत् सोचता हुआ, ३२२।
" चिन्तयमाणी सक (चिन्तयती) सोचती हुई, ३१०।
" चिन्तन्ताह व कृ (चिन्तमानानां) सोचते हुओ का, ३६२।
" चिन्तिज्जइ सक (चिन्त्यते) सोचा जाता है, ३९१, ४१०।
" चिन्तितं क कृ (चिन्तित) सोचा हुआ, ३२०।
चीमूतो पु. (जीमूत.) मेघ, वर्षा, वादल, ३२५।
चुक्कइ अक (भ्रश्यते भ्रष्ट हुआ जाता है चुकता है, १७७।
चुणइ सक. (चिनोति) इकट्ठा करता है, २३८।
चुण्णीहोइ अक. (चूर्णी भवति। वह चूर-चूर टुकडे होता है, ३९५, ४३०।
चुम्बइ सक (चुम्बति) वह चुम्बन करता है २३९।

" सगच्छइ सक. (सगच्छति) वह स्वीकार करता है, १६४ ।
गमेसइ सक (गवेषयति) वह ढूंढता है, १८९ ।
गय पु (गज) हाथी, ३३५, ३४५, ३८३ । ३९५, ४१८, ४३९, ४४५ ।
गयणि न. (गगने) आकाश मे, ३९५ ।
गयणयलु न (गगनतलम्) आकाश-प्रदेश ७६ ।
गज्जदि अक. (गर्जति) गर्जना करता है, २९२ ।
गरुआ वि (गुरु) बडे, (गुरुका) बडी, ३४० ।
गल् ४१८ ।
" गलन्ति अक (गलन्ति) वे अलग होते हैं, सडते हैं ४०६ ।
" अगलिअ वि (अगलित) समाप्त नहीं हुआ, ३३२ ।
" विगलइ अक. (विगलति) वह गल जाता है, १७५ ।
गलत्थइ सक. (क्षिपति) वह फेंकता है, १४३ ।
गलि पु. (गले) गले में, ४२३ ।
गवक्खेहिं पु. (गवाक्षेपु) खिडकियों मे, ४२३ ।
गवेसइ सक. (गवेषयति) ढूंढता है, १८९, ४४४ ।
गसइ सक (ग्रसति) गलताहै-खाता है निगलता है, २०४ ।
गह पु. (ग्रहा) सूर्य शनि आदि ग्रह, ३८५ ।
" गहो पु. (ग्रह) सूर्य शनि आदि ग्रह, ७९ ।
गहनं वि (गहनम्) कठोर, कठिन, गभीर, ३२३ ।
गहिरिम पु स्त्री (गभीरिमाणम्) गभीरता को, महानता को, ४१९
गा-गाइ-गाअइ सक (गायति) गाता है, ६ ।
" गिय्यते कर्मणि (गीयते) गाया जाता है, ३१५ ।
गाणं नं. (गानम्) गायन, गीत, ६ ।
गामहं पु. (ग्रामानाम्) गांवों का, (ग्रामयो) दो गावो का ४०७ ।
गिज्झइ अक (गृध्यति) वह आसक्त होता है, २१७ ।
गिम्भो पु. (ग्रीष्म) गरमी की ऋतु, ४१२ ।
गिम्हु पु. (ग्रीष्म) गरमी की ऋतु, २८९ ।
" गिम्हु पु (ग्रीष्म) गरमी की ऋतु, ३५७ ।
गिय्यते कर्मणि (गीयते) गाया जाता है, ३१५ ।
गिरी पुं. (गिरिः) पहाड, ३३७, ४४५ ।
गिरिहे पु. (गिरे) पहाड से, ३३१ ।
गिलणमणु वि. (ग्रसनमना) निगल जाने की इच्छावाला, ४४५ ।
गिलिगिलि सक. (गिलगिल) निगल जा, निगल जा, ३९६ ।
गिलिज्जइ सक. (गिल्यते) निगला जाता है, ३७० ।
गिलो पु. (गिरिः) पहाड, २८७ ।
गुञ्जइ अक (हसति) वह हँसता है १९६ ।
गुञ्जल्लइ अक (उल्लसति) वह विकसित होता हैं, २०२ ।
गुञ्जोल्लइ अक. (उल्लसति) वह विकसित होता है, २०२ ।
गुट्ठ पु (गोष्ठ) गवाडा, वाडा विशेष, ४१६ ।
गुण पु. न. (गुण) गुण, अच्छी वातें, २९२, ३३८, ३७२, ४१४ ।
" गुणु पु न. (गुण) गुण, अच्छी वातें, ३९५ ।
" गुणहिं पु न. (गुणैं, गुणेषु) गुणों से-मे, ३३५, ३४७, ४००, ४१८ ।
गुणइ सक. (गुणयति) वह गिनता है, ४२२ ।
गुण्ठइ सक (उद्धूलयति) वह धूल वाला करता है, २९ ।
गुन पु. (गुण) गुण, अच्छी वातें, ३०६ ।
" गुनेन पु. (गुणेन) गुण से, ३०६ ।
गुप्——
" गोवइ सक. (गोपयति) ढाकता है, प्रकट नहीं करता है, ३३८ ।
" गुप्पइ अक. (गुप्यति) वह व्याकुल होता है, १५० ।
" जुगुच्छइ सक. (जुगुप्सते) वह घृणा करता है, ४ ।
" जुउच्छइ सक (जुगुप्सते) वह निंदा करता है, ४ ।
" विगुत्ताइं वि (विनाटिता) दुःखी हो गये हैं, ४२१ ।
गुम्मइ अक. (मुह्यति) वह मुग्ध होता है, २०७ ।
गुम्मडइ अक (मुह्यति) वह घवड़ाता है, मुग्ध होता है, २०७ ।
गुरू वि (गुरू) बड़ा, ४४४ ।
गुलगुञ्छइ सक (उन्नामयति) वह ऊचा करता है-फेंकता है, ३६, १४४ ।
गुललइ सक (चाटु करोति) वह खुशामद करता है, ७३ ।
गोट्ठडा वि. (गोष्ठस्था) वाडे में वैठे हुए, ४२३ ।
गोरडी स्त्री. (गौरी) महिला, पत्नि, ३९५, ४२०, ४३१, ४३६ ।
गोरि स्त्री (गौरी) महिला, पत्नि, ३२९, ३८३ ।
गोरी स्त्री (गौरी) महिला, पत्नि, ३९६, ४०१, ४१८ ।
गोरिहे स्त्री (गौर्या) गोरी के महिला के, ३९ ।

चुम्बिवि सं. कृ. (चुम्बित्वा, चुम्बन करके, ४३९।
चुलुचुलइ अक. (स्पन्दति) वह फरकता है १२७।
चूडुल्लउ न. (कङ्कणम्) चूड़ला. कङ्कन, हाथ का आभूषण, चुडिया ३९५, ४३०।
चूरु करेइ सक. (चूर्णी करोति) वह बारीक पीसता है, ३३७।
चेअइ अक. (चेतयति) वह सावधान होता है,३९६।
चोप्पडइ सक. (म्रक्षति) वह घी-तैल आदि लगाता है, १९१।
च्चिअ अ. (एव) ही, ६३, ३६५।

[छ]

छइल्ल वि (विदग्ध) अपने आपको बुद्धिमान् समझने वाला, ४१२।
छच्छरो पुं. (झर्झरः) झरना, जल-स्रोत, ३२५।
छज्जइ अ. (राजते) शोभा पाता है, १००।
छड्डइ सक. (मुञ्चति) छोडता है, ९१।
" छड्डुहि सक. (त्यज) छोड दे, ३८७।
" छड्डेविणु स. कृ. (मुक्त्वा) छोड़कर के, ४२२।
छन्दउ वि. (छन्दक) मनमानी करने वाला, ४२२।
छम्मुहु पुं. (षण्मुखः) छह मुख वाला शिव-पुत्र कार्तिकेय, ३३१।
छायइ सक. (छादयति ढांकता है, २१।
छाया स्त्री. (छाया) छाया, २७०, ३८७।
छारू पुं. (क्षार) राख, क्षार, ३६५।
छाले पु. (छागः) बकरा, २९५।
छित्तं वि. (सृष्टम्) बनाया हुआ, २५८।
छिद———
" छिन्दइ सक. (छिनत्ति) काटता है, छेदता है, १२४, २१६।
" छिज्जइ सक (छिद्यते) दूर कर दी जाती है, ३५७, ४३४।
" छिण्णु वि. (छिन्न.) दूर कर दिया है, ४४४।
" अच्छिन्दइ सक. (आच्छिनति) वह खीच लेता है, १५१।
छिप्पइ सक. (स्पृशति) वह छूता है, २५७।
छिवइ सक. (स्पृशति) वह छूता है, १८२।
[illegible]ज्जइ सक. (स्पृश्यते) छूआ जाता है, २५७।
[illegible] सक. (स्पृशति, वह छूता है, १८२।
छुडु अ. (यदि) यदि, अगर, ३८५, ४०१, ४२२।
छुन्दइ सक. (आक्रमते वह हमला-आक्रमण करता है, ६०।
छुप्पइ सक. (स्पृश्यते) छूआ जाता है, २४६।
छुविज्जइ सक. (स्पृश्यते) छूआ जाता है, २४९।
छुहइ सक. (क्षिपति) वह फेकता है, वह डालता है, १४३।
छेअउ पुं (छेदकः) हानि, ३९०।
छोल्लिज्जन्तु सक. (अतक्षिष्यत) छाला हुआ होगा,३९५।

[ज]

जअडइ अक. (त्वरयते) शीघ्रता करता है. १७०।
" जअडन्तो व. कृ. (त्वरन्) शीघ्रता करता हुआ,१७०।
जइ अ. (यदि) यदि, अगर, ३४३, ३५१, ३५६, ३६४, ३६५, ३६७, ३७०, ३७१, ३७९, ३८४, ३९०, ३९१, ३९५, ३९६, ३९८, ३९९, ४०१, ४१७, ४१८, ४१९, ४२२, ४३८, ४३९।
जइसो वि. (यादृशः) जैसा, जिस तरह का, ४०३।
जओ अ. (यत.) क्योंकि, कारण कि, ४१९।
जगु न. (जगत्) ससार, दुनिया, ३४३।
जगि न. (जगति) संसार मे, ४०४, ४०५।
जग्गइ अक. (जागर्ति) जागता है, ८०।
जग्गेवा अक. (जागरितव्य) जागना चाहिये, ४३८।
जज्जरिआउ वि. (जर्जरिताः) खोखली शक्ति-हीन, ३३३, ३४८।
जढं वि. (त्यक्तम्) छोड़ा हुआ, २५८।
जण पुं. (जनः) पुरुष, ३६४, ३७६।
जणु पुं. (जनः) पुरुप, ३३६, ३३७, ३३९,४०६, ४१८।
" जणा पुं (जनाः) पुरुप; ३७२।
" जणेण पुं. (जनेन) पुरुष से, ३७१।
" जणस्सु पुं. (जनस्य) पुरुप की; ३७१।
जणणी स्त्री. (जननी) माता, २८२, ३०२।
जणि अ. (इव) समान; ४४४।
जणु अ. (इव) समान; ४०१, ४४४।

जत्तु अ (यत्र) जहाँ पर, ४०४।
जधा अ. (यथा) जैसे, जिस प्रकार, २६०।
जन्तउ व. क (यात) जाते हुए को, ४१०।
जम पु (यम) यमराज, ३७०, ४४२।
" जमहो पु (यमस्य) यमराज के, ४४१।
जम्पइ सक. (कथयति) कहता है, २।
" जम्पि सक (जल्प) बोलो, कहो, ४४२।
जम्पिरहे वि. (जल्पनशीलाया) बोलती हुई के, ३५०।
जम्भाग्रइ, जम्भाइ अक (जृम्भति) वह जँभाई, उबासी लेता है २४०।
जम्मइ अक (जायते) वह उत्पन्न होता है, १३६।
जम्मु न. पु (जन्म) उत्पत्ति, पैदा होना, ३९६,३९७, ४२२।
जय पु. (जय) जीत, विजय, ३७०।
जयस्सु न (जगत) जगत का, विश्व का, ४४०।
जया अ. (यदा) जब २८३।
जर स्त्री (जरा) बुढ़ापा ४२३।
जरइ अक. (जरति) वह पुराना होता है, बूढ़ा होता है, ४ ४।
जरिज्जइ, जीरइ अक. (जीर्यते) जीर्ण हुआ जाता है. बूढ़ा हुआ जाता है, २५०।
जल न. (जल) पानी, २८७।
जल न (जल) पानी, ३०८।
" जलु न. (जल) पानी, ४२२ ३९५, ४१९. ४२०।
" जलि न. (जले) पानी मे, ३८३, ४१४।
" जले न. (जले) जल मे, पानी में, ३६५।
" जलहु न. (जलात्) जल मे से ४१५।
जलइ अक (ज्वलति) जलता है, ३६५।
जलणो पु. (ज्वलन) अग्नि, ३६५।
" जलणि पु. (ज्वलने) आग में, ४४४।
जवइ सक (यापयति) गमन करवाना भेजना ,४०।
जइ अ. (यथा) जैसे, जिस प्रकार, ४१६।
जहा सर्व (यस्मात्) जिससे, ३५५।
जहिं अ (यत्र) जहाँ पर, ३४९, ३५७, ४२२।
जाग्रइ अक (जायते) वह उत्पन्न होता है, १३६।
जाइ अक. (याति) वह जाता है, ४४४, ३५०, ४४१।
जाइट्ठिअए सर्व (यद् यद् दृष्ट तद् तद् जो जो देखा गया है, वह वह, ४२२।
जाई स्त्री. (जातिम्) जाति को, अपने स्वधर्मी समुदाय को, ३६५।
जाउ अक. वि. (जायताम्) (यातु) जावे, (जात)हुआ, ३३२, ४२०, ४२६।
जाउँ अक. (यावत्) जब तक, ४०६।
जागरइ अक (जागर्ति) जागता है, ८०।
जाणणं न (ज्ञान) जानना, ज्ञान, ७।
जाणिग्रइ सक. (ज्ञायते) जाना जाता है, ३३०।
जाम अ (यावत्) जब तक, ३८७, ४०६।
जामहि अ (यावत्) जब तक, ४०६।
जाया वि. (जातौ) उत्पन्न हो गये हैं, ३५०, ३६७।
जाल पु. (ज्वाला) अग्नि, ४२९, ३९५, ४१५।
जाव अ (यावत्) जब तक, २७८।
जावँ अ. (यावत्) जब तक; ३९५।
जावेइ सक (यापयति) वह गुजारता है, वह बरतता है, ४०।
जि अ (एव) ही, ३४१, ३८७, ४०६, ४१४ ४१९, ४२०, ४२२, ४२३, ४२९।
जि——
" जयइ सक. (जयति) जीतता है, २४१।
" जिणइ सक. (जयति) वह जीतता है, २४१।
" जिणिज्जइ कर्मणि (जीयते) उससे जीता जाता है, २४२।
" जिव्वइ कर्मणि. (जीयते)उससे जीता जाता है,२४२।
" जेप्पि स. कृ (जित्वा) जीत करके, ४४०, ४४१।
" जिणेप्पि स कृ (जित्वा) जीत करके ४४२।
" जेऊण स. कृ (जित्वा) जीत करके, २३७, २४१।
जिणिऊण स कृ (जित्वा) जीत करके, २४१।
" निज्जिअउ वि. (निर्जितक) जो जीत लिया गया है, ४०१।
" विणिज्जिअउ वि (विनिर्जितक) जो पूरी तरह से जीत लिया गया है, ३९६।
जिइन्दिए वि (जितेन्द्रिय) जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, २८७।
जिण पु वि. (जिन) तीर्थंकर, अरिहंत, ४४४।
जिब्भिन्दिउ न. (जिह्वेन्द्रियम्) जिह्वा इन्द्रिय को ४२७।

ढुमइ सक. (भ्रमति वह घूमता है, १६१।
ढुण्ढुल्लइ सक. (गवेषयति) ढूढता है, १८९।
ढुसइ सक. (भ्रमति) वह भ्रमण करता है, १६१।
ढोल्ल पु. (विट) नायक; ४२५।
ढोल्ला पुं. (विट) नायक; ३३०।

[ण]

ण अ. (न) नही, २९९।
णडइ अक. (गुप्यते) वह व्याकुल होता है; ५०।
" सक. (गुप्यति वह खिन्न होता है, १५०।
णं अ, (इव, समान, जैसा, २८।
ण अ (ननु) निश्चय अर्थक शका अर्थक.३०२।
णवइ अक. (भाराक्रान्तो नमति) बोझ के कारण से नमता है; १५८, २२६।
णवि अ. (वैपरीत्ये) उल्टे अर्थ मे कहा जाने वाला अव्यय, ३४०, ३५३, ४३८।
णाण न. ज्ञानं, ज्ञान, ७।
णाधो पुं. वि. (नाथः) स्वामी, मालिक २६७।
णाहो वि. (नाथः) स्वामी, मालिक, २६७।
णिआरइ सक. (काणेक्षित करोति) एक आँख से देखता है, ६६।
णिउड्डुइ अक. (मज्जति) वह डूबता है, १०१।
णिच्चलइ सक. (क्षरति) भरता हैं, टपकता है १७३।
णिच्छल्लइ सक. (छिनत्ति) वह छेदता है, काटता है १२४।
णिज्झरइ सक. (क्षयति) वह क्षीण होता है, २०।
णिज्झाइ सक. (ध्यायति) वह देखताहै, निरीक्षण करता है, ६।
णिज्झोडइ सक. (छिनत्ति) वह छेदता है, काटता है, १२४।
णिट्टुअइ अक. (क्षरति) वह टपकता है, चूता है, १७३।
णिट्टुहइ अक. (विगलति) वह गल जाता है, १७५।
" अक. (अवष्टम्भ करोति) वह निश्चेष्ट होता है, ६७।
णिमइ सक. (न्यस्यति) वह स्थापना करता है, १९९।
णिमं सर्व. (नु + इदम्) यह, २७९, ३०२।
णिम्मइइ सक. गच्छति) जाता है, अक.=फैलता है; १६२।
णिरणासइ अक. (नश्यति, नष्ट होता है, भागता है, १७८।
णिरिग्घइ अक. (निलीयते) छिपता है, ५५।
णिरिणज्जइ सक. (पिनष्टि) पीसता है चूर्ण करता है, १८५।
णिरिणासइ सक. (गच्छति) जाता है, १६२।
णिरु अ (नितराम्) निश्चित, नक्की, ३४४।
णिलज्जइ सक. (निलीयते) भेटा जाता है, आलिंगन किया जाता है, ५५।
णिलीअइ सक. (निलीयते छिपा जाता है ५५।
णिलुक्कइ सक (निलीयते) छिपा जाता है, ५५।
णिलुक्कइ सक. तुडति) तोड़ता है ११६।
णिल्लसइ अक (उल्लसति) वह उल्लसित होता है. २०२।
णिल्लुञ्छइ सक. (मुञ्चति)) वह छोड़ताहै, ९१।
णिल्लूरइ सक (छिनत्ति) वह काटता है, १२४।
णिवहइ सक. (गच्छति) वह जाता है, १६२।
णिवइइ अक. (नश्यति) वह नष्ट होता है, १७८।
णिवहइ सक. (पिनष्टि) वह पीसता है, १८५।
णिवासी वि. (निवासी) रहनेवाला, ३०१।
णिव्वडइ अक. (पृथग्भवति, स्पष्ट भवति) वह अलग होता है, वह स्पष्ट होता है ६२।
णिव्वरइ सक. (दुःख कथयति) वह दुःख कहता है, ३।
णिव्वरइ सक. (छिनत्ति) वह काटता है, १२४।
णिव्वलेइ सक. (दुःख मुञ्चति) वह दुख को छोडता है, ९२।
णिव्वाइ अक. (विश्राम्यति) वह विश्राम करता है, १५९।
णिव्वोलइ सक (मन्युना ओष्ठ मालिन्यं करोति। वह क्रोध से होठ को मलिन करता है, ६९।
णिसुढइ अक. (भाराक्रान्तो नमति) भार से दबकर नमता है, १५८।
णिहम्मइ सक. (गच्छति) वह गमन करता है, १६२।
णिहालहि सक. (निभालय) देख, देखो ३७६।
णिही, णिहि त्रि. लिंग (निधिः) खजाना,४१४, २८७।
णिहुवइ सक. (कामयते) सभोग की इच्छा करता है ४४।
णिहोडइ सक. (निवारयति, निपतति) वह गिराता है, नाश करता है, २२।

तडवइ सक॰ (तनति, वह विस्तार करता है १३७।
तणु न. (तृण) घास, ३२९ ३३४।
तणहं न. (तृणानाम्) तिनकों का, ३३९, ४११।
तणइ सक. (तनति) वह फैलाता है, १३७।
तणउ पुं. (तनयः पुत्र बेटा, ४४७।
तणउ सर्व. वि (तस्येदम्) उसका यह ३६१।
तणा अ. (तस्मिन्काले) उस समय में, ३७९. ३८०, ४१७, ४२२।
तणेण अ. (कृते) के लिये, ३६६, ४२५, ४३७।
तणु न. (तनु) शरीर, ४०१, ४२८।
तणु न. (तनु=लघु) पतला, दुर्बल, थोडा, ४०१।
तत्तस्सु न. (तत्त्वस्य) तत्त्वका, ४४०।
तन्तु अ. (तत्र) वहाँ पर, ४०४।
तत्थ अ. (तत्र) वहाँ पर, ३२२।
तदो अ. (ततः) उससे, २६०।
तधा अ. (तथा) उसी प्रकार से, २६०।
तनु वि. (तनु) थोड़ा, ३२६।
तव्—
" तवइ अ. (तपति) वह तपता है गरम होता है, ३७७।
" संतप्पइ अ. (संतपति) वह सताप करता है १४०।
तप्पनेसु पुं. (दर्पणेपु शीशो मे ३२६।
तमाडइ सघ (भ्रमति) वह घुमाता है, ३०।
तर् तरइ अक. (शक्नोति) वह समर्थ होता है, ८६ २३४।
" तीरइ, तरिज्जइ सक. (नीयते) तैरा जाता है, पार किया जाता है, २५०।
" उत्तरइ सक. (उत्तरति) वह उतरता है, पार जाता है, ३३९।
तरू पुं. (तरु) झाड, पेड़, वृक्ष। ३७०।
" तरुहें पुं. (तरोः) वृक्ष से, ३४१।
" तरुहं पुं. (तरुणाम्) वृक्षों का, ४११।
" तरुहुं पुं. (तरुभ्यः) वृक्षों से, ३४०, ३४१, ४११।
तरुअरहिं पुं. (तरुवरैः वृक्षो से, ४२२।
तरुणहो पुं. (हे तरुणाः) हे ३४६, ३५०, ३६७।
" तरुणिहो पुं. (हे तरुण्यः) हे जवान पुरुषो ! ३४६।
तलअएटइ सक. (भ्रमति) वह भ्रमण करता है, १६१।
ताल तले न. (तले) तले मे, ठेठ नीचे में ३३४।

तवस्सि पुं. (तपस्विन्) हे तपस्वी ! २६३।
तव पु. न. (तपस्, तपस्या। ४४१।
तसइ अक. (त्रस्यति वह डरता है, १३८।
तमसु त्रि. दशसु) दशों में, ३२६।
तहां सर्व. (तस्मात् उससे, उस कारण से, ३५५।
तहि अ (तत्र) वहाँ पर, ३५७।
ता अ. (तदा) तब, २७८, ३०२, ३७०।
ताउं अ. (तावत्) तब तक, ४०६ ४२३।
ताठा स्त्री. (दंष्ट्रा) बडा दाँत, दाढ़, ३२५।
ताडेइ सक. (ताडयति) वह पीटता है, ताडन करता है, २७।
तातिसो वि. (तादृशः) उसके जैसे ३१७।
तापसवेप पुं. (तापसवेष) तपस्वी का वेष, ३२३।
ताम अ. तावत्। तब तक, ४०६।
तामहिं अ. (तावत्) तब तक, ४०६।
तामोतरो पुं. दामोदरः) नाम विशेष ३०७, ३२५।
तारिसे वि (तादृशः) उसके जैसा, २८७।
तालिअएटइ सक. (भ्रमति वह भ्रमण करता है ३०।
ताव पुं. (ताप) ताप, गरमी ४२२।
ताव अ. (तावत्) तब तक, २६२, ३२१, ३२३।
ताँव अ. (तावत्। तब तक; ३९५।
तिक्खा वि. (तीक्ष्णान्) तीखों को, पैनों को, ३९५।
तिक्खेइ सक. (तीक्ष्णयति) वह तीखा करता है, ३४४।
तिट्ठो वि. (दृष्टः) देखा हुआ, ३१४, ३२१, ३२३।
तिण न. तृण) घास, तृण, ३५८।
" तिणु न तृण) घास तृण ३२९।
तिहिं वि. (त्रिभिः) तीन से, (त्रिपु तीन मे, ३४७।
तित्थं न (तीर्थम्) पवित्र स्थान, चारों संघ, २६४, ४४१।
तिदस वि (त्रिदश) तेरह, ४४२।
तिन्तुव्वाणु वि. (निमितोद्वानम्) गीला, और सूखा, ४११।
तिमिर न. (तिमिर) अन्धकार ३८२।
तिम्मइ अक. (आर्द्रो भवति) वह गीला होता है, ४१८।
तिरिच्छि वि. (तिर्यक्) तिरछा, २९५, ४२०।
तिरिच्छी वि. (तिर्यक् तिरछी तेज, वक्र, ४१४।
तिरिश्चि वि. (तिर्यंक) तिरछा, कुटिल, २९५।
तिल पुं. तिल) एक तिलहन, तिल–तिल्ली, ४०६।

" तिलइ पु. (तिलानाम्) तिलो का ४०६।
" तिलवणि न (तिलवने) तिलो के खेतो मे ३५७।
" तिलतारु पु (तिलतार ?) तिलो मे तेल के समान, ३५६।
तिलत्तणु न. (तिलत्व) तिलो का तिलपना, ४०६।
तिवँ अ (तथा) उसी प्रकार से, ३७६, ३९५, ३९७, ४२२।
तिवँ तिवँ अ. (तथा तथा) उसी उसी प्रकार से, ३४४, ३६७, ४०१।
तिसइे वि (तृष) प्यास के, ३९५।
तीरइ अक (शक्नोति) वह समर्थ होता है, ८६।
तु—तुँहु सर्व. (त्वम्) तू, ३३०, ३६८, ३७०। ३८७, ४०२, ४२१, ४२५, ४३९।
" तइँ सर्व. (त्वया) तुझसे, (त्वाम्) तुझको, (त्वयि) तुझ पर, ३७०, ४२२।
" तुम सर्व. (त्वत्) तुझसे, (तव) तेरा, ३८८।
" ते सर्व (तव) तेरा, ४३९।
" तुह सर्व (त्वम्, त्वाम्, तव) तू, तुझको, तेरा, ३६१, ३७० ३८३।
" तुज्झु सर्व. (त्वत्, तव] तुझसे, तेरा, ३६७, ३७०, ३७२, ३७७।
" तउ सर्व (त्वत्) तुझसे, (तव) तेरा, ३६७, ३७२ ४२५, ४४१।
" तुध्र सर्व. (त्वत्) (तव) तुझसे, तेरा, ३७२।
" तुमात्तो, तुमातु सर्व (त्वत्) तुझसे, ३०७, ३२१।
" तुम्हे सर्व (यूयम्) तुम, (युष्मान्) तुमको, ३६९।
" तुम्हइ सर्व. (युष्मान्) तुमको, ३६९।
" तुम्हेहिं सर्व. (युष्माभिः) तुझसे, ३७१, ३७८।
" तुम्हह सर्व. (युष्माकम्) तुम्हारा, ३७३।
" तुम्हाहँ सर्व (युष्माकम्) तुम्हारा, ३००।
" तुम्हासु सर्व. (युष्मासु) तुम्हारे मे, ३७४।
तुच्छ वि (तुच्छ) तुच्छ, हलका, नगण्य, ३५०।
" तुच्छउँ वि. (तुच्छ हलका, नगण्य, ३५०, ३५४, ४११।
" तुच्छयर वि (तुच्छतर) ज्यादा हलका, ३५०।
तुट्टइ अक. (त्रुट्यति) वह टूटता है, ११६, २३०।
" तुट्टउ अक (त्रुटयतु, (यदि) टूटे, ३५६।
तुट्टि स्त्री (त्रुटि) न्यूनता, कमी, दोष, ३९०।
त्रुडइ अक (त्रुट्यति) वह टूटता है, ११६।
तुम्बिणिहे स्त्री (तुम्बिन्या) फल विशेष के, ४२७।
तुलइ सक. (तुलयति) तौलता है, ठीक २ निश्चय करता है, २५।
तुलिअ वि (तुलित तुला हुआ, २८७।
तुहारेण सर्व (त्वदीयेन) तुम्हारे से ४३४।
तूगात्, तूगातो न (दूरात्) दूर से, ३२१, ३२३।
तूसइ अक (तुष्यति) वह सतुष्ट होता है, २३६।
तृणु न. (तृणम्) घास, तिनका, ३२९।
" तृणाइ न (तृणानि) तिनके, ४२२।
तेअण न पु (तेजनम्) कान्ति को, प्रकाश को, १०४।
तेअवइ अक (प्रदीपयति) वह दीपता है, १०४।
तेत्तइ अ (तत्र) वहाँ पर, ४३६।
तेत्तिओ वि (तावान् उतना, ३९५।
तेत्तुलो वि. (तावत्) उतना, ४०७।
तेत्थु अ (तत्र) वहाँ पर, ४०४, ४०५।
तेम्व अ (तथा) उस प्रकार से, ४१८।
तेवँ अ (तथा) उस प्रकार से, ३४३, ३९७, ४०१।
तेवँए अ (तथा) उस प्रकार से ३९७, ४३९।
तेवडु वि (तावान्) उतना, ३९५, ४०७।
तेवरो पु (देवर) पति का छोटा भाई ३२४।
तेहइ वि (तथा) उस प्रकार से, ३५७।
तेहिं अ (तादर्थ्य प्रत्यय उसके लिए, ४२५।
तेहु वि (तादृश) उसके जैसा, ४०२।
ता अ (तदा, तस्मात्) तब, उस कारण से, ३३६, ३४१ ३४३, ३६५, ३६७, ३७९, ३९१, ३९५, ३९८, ४०४, ४१७ ४१८, ४१९, ४२२, ४२३, ४३९, ४४५।
तोडइ सक अक (तुडति) वह तोड़ता है, भांगता है, वह टूटता है, ११६।
तोसिअ वि (तोषित) जिसने सतोष कराया है, ३३१।
त्ति अ (इति) ऐसा, इस प्रकार, ४२३, ३०२, ३५२, ३५७।
त्र सर्व (तद्, तम्) वह, उसको, ३६०।
त्वर्, तुवरइ अक. (त्वरयति) वह शीघ्रता करता है, १७०।
" तूरइ अक (त्वरति) वह शीघ्रता करता है, १७१।
" तुवरन्तो व. कृ. (त्वरन्) शीघ्रता करता हुआ, १७०।

" तूरन्तो व कृ. (त्वरन्) शीघ्रता करता हुआ १७१ ।
" तरन्तो व. कृ (त्वरन्) शीघ्रता करता हुआ, १७२ ।
" तुरिओ वि. (त्वरितः) शीघ्रता किया हुआ; १७२ ।

[थ]

थक्कइ अक. (तिष्ठति) वह ठहरता है, १६, ८७ ।
" " अक. (फक्कति) नीचा गतिं करोति) वह नीचे जाता है, २५९ ।
थक्केइ अक. (तिष्टति) वह ठहरता है. ३७० ।
थण पुं. (स्तन) कुच, पयोधर,स्तन, ३५० ३६७ ।
थणहं पुं. (स्तनानाम्) स्तनों का; ३९० ।
थणहारु पुं. (स्तनभारः) स्तनों का बोझ ४१४ ।
थल वि. (धरम्) धारण करने वाले को, ३२६ ।
थलि स्त्री (स्थली) जगह, स्थान, ३३० ३४४,३६३ ।
थाण न. (स्थानम्) जगह, स्थान, १६ ।
थामं न. (स्थाम्) बल, वीर्य पराक्रम; २६७ ।
थाह पुं. (स्ताघ) थाह. तला, गहराई का अन्त;
थिप्पइ अक (तृप्यति) वह तृप्त होता है, १३८, १७५ ।
थिरत्तणउं न. (स्थिरत्वम्) अचचलता, स्थिरता, ४२२ ।
थुव्वइ सक. (स्तूयते) स्तुति किया जाता है, २४२ ।
थूली स्त्री. (धूली) धूल, रजकण, ३२५ ।
थेओ पुं. (स्थेय) न्यायाधीश, फैसला करने वाला, २६७ ।
थोवा वि (स्तोकाः) अल्प, थोड़े, ३७६ ।

[द]

दइउ वि. (दयितः) प्रिय प्रेम-पात्र, पति; ३५०, ४११, ४१४ ।
" दइएं वि. (दयितेन) पति से, ३३३, २४२ ।
" दइवं न. (दैवम्) भाग्य;
" दइवेण न. (दैवेन) भाग्य से, ३८९ ।
" दइवें पुं. न. (दैवेन) भाग्य से, ३३१ ।
दंसण न. पुं. (दर्शन) अवलोकन निरीक्षण, ४०१ ।
दडवड अ. (अवष्कन्द) शीघ्रता पूर्वक, ३३० ।
दडवडउ अ. (शीघ्रमेव) जल्दी ही, ४२२ ।
दड्ढु वि. (दग्ध) जला हुआ, ४२२ ।
दम्मु पुं. (द्रम्मम्) सोने का सिक्का, ४२२ ।
दिट्ठ वि. (दृष्टा) देखी गई, ४३२, ४३३ ।
दिट्ठउ वि. (दृष्टः) देखा गया, ३५२, ३९६, ४२९ ।
" दिट्ठ वि. (दृष्टम्) नीचे को, (दृष्टः) देखा गया, ४०१ ।
" दिट्ठा स्त्री (दृष्टिः) नजर, ४११ ।
" दिट्ठउं वि. (दृष्टम्) देख लिया गया है, ३७१ ।
" दिट्ठें वि (दृष्टे) देख लेने पर देखा हुआ होने पर, ४२३ ।
" दिट्ठइ वि. (दृष्टे) देखने पर, ३५१ ।
" दिट्ठ वि. (दृष्टे) देखा जाने पर, ३९६ ।
" दिट्ठा वि. (दृष्टाः) देखे गये है, ४२२ ।
" तिट्ठा वि. (दृष्टः, देखा गया, ३१८, ३२३ ।
" अतट्ठ वि (अदृष्ट) नहीं देखा हुआ; ३२३ ।
" तट्ठुं हे. कृ. (द्रष्टुम्) देखने के लिये, ३१० ।
" तट्ठूण स. कृ. (दृष्ट्वा) देख करके, ३१३ ।
" तद्धून स. कृ. (दृष्ट्वा) देख करके, ३१३, ३२० ।
" तत्थून स. कृ. (दृष्ट्वा) देख करके, ३१३, ३२३ ।
" दट्ठव्व अ. (दृष्टव्यम्) देखना चाहिये, देखने योग्य, ३१३ ।
" दरिसइ सक. (दर्शयति) दिखलाता है, बतलाता है, ३२ ।
" दक्खवइ सक. (दर्शयति) दिखलाता है ३२ ।
" दमइ सक. (दर्शयति) दिखलाता है, ३२ ।
" दंसिज्जन्तु व. कृ. (दर्श्यमानः) दिखलाया जाता हुआ; ४१८ ।
" दावइ सक. (दर्शयति) बतलाता है; ३२ ।
दलइ सक. ददाति) देता है. १७६ ।
दह्-डहिज्जइ सक. (दह्यते) जलाया जाता है. २४६ ।
" दड्ढ वि. (दग्ध) जलाया हुआ; ३६५ ।
" दड्ढा वि. (दग्धा) जलाई हुई; ३४३ ।
दहमुहु पुं. (दशमुखः) रावण, ३३१ ।
" देसि पुं. (देशे) देश में, ४२५ ।
" देइ सक. (ददाति देता है, २३८, ४०६ ४२०, ४२२ ४२३ ।
" देदि सक. (ददाति) देता है, २७३ ।
" तेति सक. (ददाति) देता है, ३१८ ।
" देन्ति सक. (दत्तः दो देते हैं; ४१४ ।
" देहु सक. (दत्त) देओ,प्रदान करो, ३८४ ।
" देन्तहो वि. (दपतः) देते हुए का; ३७९ ।
" देन्तिहि (दिन्तेहिं) वि. (ददतीभिः) देते हुओ से; ४१९ ।

" देप्पिणु स. कृ (दत्वा) देकर के, प्रदान करके, ४४० ।
" देज्जहि स क (दद्या) देओ, प्रदान करो, ३८३ ।
" देज्जहिं स. क (दीयन्ते) दिये जाते हैं, ४२८ ।
" दिय्यते स क (दीयते) दिया जाता है, ३१५ ।
" दिज्जइ स क. (दीयते) दिया जाता है, ४३८ ।
" दिण्णी वि. (दत्ता) दी गई है, ३३०, ४०१ ।
" दिण्णे वि (दत्त) दिया हुआ ३०२ ।
" दिण्णा वि (दत्ता दिये गये थे, ३३३ ।
दाणि अ (इदानीम्) इस समय मे, २७७, ३०२ ।
दामोतरा पु (दामोदर नाम विशेष, ३२७ ।
दारन्त वि (दारयन्) फाडते हुए को, ३४५, ४४५ ।
दालु न (दारु) लकड़ी, काष्ट, २८९ ।
दाव अ (तावत् तब तक, २६२ ३०२ ३२३ ।
दावइ सक (दर्शयति) बतलाता है, २ ।
दिअहडा पु (दिवसा) दिन, ३३३, ३८७ ।
दिअहा पु (दिवसा) दिन ३८८ ४१८ ।
दिग्घा वि दीर्घ) बड़ा, ऊंचा लम्बा, ९१ ।
दिट्ठि स्त्री. (दृष्टिम्) नजर, ३३० ।
दिट्ठी स्त्री. (दृष्टि) नजर, ४३१ ।
दिणयरु पु (दिनकर) सूर्य, ३७७ ४०१ ।
दिणु पु. (दिन) दिन, दिवस, ४०१ ।
दिवि दिवि पु. (दिवसे दिवसे) प्रत्येक दिन में, ३९९, ४१९ ।
" दिवेहिं पु. (दिवसै) दिनो से, ४२२ ।
दिव्वइ वि (दिव्यानि) दिव्य, देवता सम्बन्धी ४१८ ।
दिव्वन्तरइ न. (दिव्यान्तराणि) दूसरे देवलोको को, ४४२ ।
दिसि स्त्री (दिश) दिशा को, ३६८ ।
दिसिहि स्त्री (दिशो) दोनो दिशाओ मे ३४० ।
दीप्— सक (पलीवइ) जलाती है, प्रकाशित होती है, १५२ ।
दीहर वि (दीघ) बड़ा, लम्बा, ४१४, ४४८ ।
दीहा वि (दीर्घ) बडा, लम्बा, ३३० ।
दुउच्छइ सक (जुगुप्सति) वह निन्दा करता है, ४ ।
दुउच्छइ सक (जुगुप्सति) वह घृणा करता है, ४ ।
दुक्करु वि (दुष्कर) कठिन, कठोर, ४१४, ४४१ ।
दुक्ख पु न (दुख) कष्ट पीडा, ३५७ ।
दुक्खसहे वि (दुखसह.) दु'ख को सहन करने वाला, २८७ ।
दुगुच्छइ सक (जुगुप्सति) वह निन्दा करता है, २४० ।
दुगुञ्छइ सक. (जुगुप्सति) वह घृणा करता है, ४ ।
दुज्जण वि. (दुर्जन) दुष्ट पुरुष, ४१८ ।
दुट्ठु वि (दुष्टम्) दुष्ट को, ४०१ ।
दुब्भिक्खें पु न. (दुर्भिक्षेण) अकाल मे, ३८६ ।
दुमइ सक धवलयति) वह सफेद करता है, २४ ।
दुय्यणे पु. (दुजनः) दुष्ट आदमी, २९२ ।
दुल्लहहो वि (दुर्लभस्य दुर्लभ का, ३८, ३७५, ४१० ।
दुव्ववशिदेण वि (दुर्व्यवसितेन) खराब स्वभाव वाले से, ३०२ ।
दुव्ववसिदेण वि (दुर्व्यवसितेन वाले से, २८२ ।
दुह— सक
" दुहिज्जइ, दुब्भइ, दुहिहिइ, (दुह्यते) दुहा जाता है,
" दुब्भिहिइ दुहा जावेगा, २४५ ।
दुहु न (दुखम्) दु'ख, पीडा, ३४० ।
दूअडउ पु (दूतक.) सदेश ले जाने वाला, ४१९ ।
दूइ स्त्री (दूति) सदेश लाने ले जाने वाली, ३६७ ।
दूमइ सक (दुनोति) दु ख देता है, २३ ।
दूमिए वि (धवलितम) सफेद किया हुआ, २४ ।
दूर न (दूरम्) दूर, ४२२ ।
दूरु न (दूरम्) दूर ३५३ ।
दूरादो, दूरादु न (दूरात्) दूर से, २७६ ।
दूरे न (दूरे) दूर पर, ३४९, ३६७ ।
दूरुड्डाणें वि (दूरोड्डानेन) दूर से गिरने से, ३३७ ।
दूसइ सक (दुष्यति) वह दोप देता है, २३६ ।
दूसासणु पु (दुश्शासन) नाम विशेष, ३९१ ।
देक्ख—
" देक्खउं सक (पश्यामि) मैं देखता हूँ, ३५७ ।
" देक्खि स कृ. (दृष्ट्वा) देख करके, ४३४ ।
" देक्खु सक (पश्य) देख, देखो, ३४५, ३६१ ।
" देक्खेवि स कृ (दृष्ट्वा देख करके, ३५४ ।
देवं पु (देवम्) देवता को, ४४१ ।
देस पु (देश) देश जनपद, ४२२ ।
" देसहिं पु (देशे) देश में, जनपद मे, ३८६ ।
" देसडइ पु (देशे) देश मे, जनपद मे, ४१९ ।
" देसडा पु (देश) देश को, ४१८ ।
देसन्तरिअ वि (देशान्तरिता, दूसरे देश को चली गई हैं, ३६८ ।
देसुच्चाडणु न (देशोच्चाटनम्) अपने स्थान से उखाडा जाना, ४३८ ।

" नवहिं सक. (नमन्ति) नमते हैं, ३६७ ।

" नमहु सक. (नमन) तुम नमस्कार करो, ४४६ ।

" नमथ सक. (नमत) तुम नमस्कार करो, ३२६ ।

" नवन्ताहं वि (नमताम्) नमस्कार करते हुओं का, ३९९ ।

" उन्नामइ सक (उन्नामति) ऊँचा उठाता है, २६ ।

" पनमथ सक (प्रणमत) तुम नमस्कार करो ३२६ ।

नमिल वि, (नमनशील) नम्रता के स्वभाव वाला, २८८ ।

नमो अ (नम) नमस्कार, २८३ ।

नयण पु. न. स्त्री (नयन) आँख, ४१४, ४४४ ।

नयणा पु. (नयनानि) आँखें, ४२२ ।

नयणेहिं पुं. (नयने) आँखों से, ४२३ ।

नर पु. (नर) आदमी, ४१२ ४४२ ।

" नरु पुं. (नरः) मनुष्य, ३६२ ।

नत्—

" नच्चइ अक. (नृत्यति) वह नाचता है, २२५ ।

" नच्चन्तस्स व. कृ नृत्यत) नाचते हुए के, ३२६ ।

" नच्चाविउ वि. (नर्तित) नचाया हुआ, ४२० ।

नलिन्दाण पु. (नरेन्द्राणाम्) राजाओं के, ३०० ।

नले पुं. (नर) मनुष्य, २८८ ।

नव वि. (नव) नूतन, नई, नया, ४०१ ।

" नवइ अक. (नमति) नमस्कार करता है, ३९६ ।

नवखी वि (नवा) नई, अनोखी, ४२०, ४२२ ।

नवरि अ (केवलम् सिर्फ, ३७७, ४०१, ४२३ ।

नवि अ. (न + अपि) नहीं भी, ३३०, ३३९, ३५६, ३९५, ४०४, ४११, ४२२ ।

नश्—

" नस्सइ अक. (नश्यति) वह नष्ट होता है, १७८ ।

" नत्थून, नद्धून व कृ (नष्ट्वा) नष्ट होकर, ३१३ ।

" नासइ प्रेर. (नाशयति) वह नष्ट कराता है, ३१, २३८ ।

" नासन्तअहो व कृ (नश्यत) नष्ट होते हुए का, ४३२ ।

" नासवइ प्रेर (नाशयति) वह नष्ट कराता है, ३१ ।

" पणट्ठइ वि (प्रनष्टे) नाश होने पर, ४१८, ४०६ ।

" विणट्ठइ वि. विनष्टे) नाश होने पर, ४२७ ।

" विन्नासिआ वि (विनाशिते) नष्ट हो जाने पर, ४०८ ।

नह नहेण-पुं. (नखेन) नख से ३३३, ३४८ ।

नाइ अ (नूनम्-उत्प्रेक्षार्थे) निश्चय ही, ३३०, ४४४ ।

नाइं अ. (नूनम् = " ") " " ४२६ ।

नाए सर्व (तया) उस (स्त्री) से, ३२२ ।

नाडयं न (नाटकम्) नाटक, खेल, २७० ।

नायगु पु (नायक) मुख्य पात्र, ४२७ ।

नारायणु पु (नारायण.) ईश्वर, विष्णु ४०० ।

नालिउ वि. (मूढ) मूर्ख, मोह–ग्रसित, ४२२ ।

नाव स्त्री. (नौ) नौका, जल, वाहन, ४२३ ।

नावइ अ. (उत्प्रेक्षार्थे) कल्पना अर्थ मे, ३३१, ४४४ ।

नाहिं अ (न) नही, ४१९, ४२२ ।

नाहु पु (नाथ) स्वामी, मालिक, ३६०, ३९०, ४२३ ।

निअइ सक. (पश्यति देखता है, १८१ ।

" निअन्त व कृ (अवलोकयन्ती) देखती हुई, ४३१ ।

निअम्बिणि स्त्री (नितम्बिनी) स्त्री, विशाल पुट्ठे वाली ४१४

निअय वि. (निजक) अपना, ३४४, ३५४, ४०१, ४४१ ।

निग्गउ वि. (निर्गत) निकल गया, चला गया, ३३१ ।

निग्घिण वि (निर्घृण) दया हीन, ३८० ।

निच्चट्टु वि (गाढम्) प्रगाढ़, मजबूत, ४२२ ।

निच्चल वि. (निश्चल) अटल दृढ़, ४३६ ।

निच्चिन्तइ वि. (निश्चितम्) पक्का ४२२ ।

निच्चिन्दो वि. (निश्चिन्त) चिन्ता रहित, २६१ ।

निच्चु अ (नित्यम्) सदा, हमेशा, २९१ ।

निच्छइ न. (निश्चयन) निश्चय से, ३५७ ।

निच्छय अ, (निश्चयम्) पक्का, ४२२ ।

निच्छरो पुं (निर्झर) झरना, पानी का वहाव ३२५ ।

निच्छूढ वि (क्षिप्तम्) फेंका हुआ, २५८ ।

निज्जिउ वि. (निर्जित) जीता हुआ, ३७१ ।

निज्झाअइ सक (पश्यति) देखता है, १८१ ।

निण्हवइ सक. निन्हुते) अपलाप करता है, २३३ ।

निद्द स्त्री. (निद्रा, नीद, ४१८ ।

निद्दए स्त्री. (निद्रया) नीद से, ३३० ।

निद्दडी स्त्री (निद्रा) नींद, ४१८ ।

निद्दाइ अक (निद्राति) वह नीद लेता है, १२ ।

निन्नेह वि. (नि स्नेहा) प्रेम रहित, ३६७ ।

निमिअ वि (स्थापितम्) रखा हुआ, २५८ ।

निम्मवइ सक (निर्मिमीते) वह बनाता है, १९ ।

निम्माणइ सक. (निर्मिमीते) वह रचना करता है, १९।
निय (निज) खुद, २८२, ३०२, ३४९।
नियोचित वि (नियोजितम्) योजना किया हुआ, ३२५।
नियोजित वि. (नियोजितम्) " " " ३६७।
निरक्खय वि (नीरक्षकान्) देखने वालों को, ४१८।
निरामइ वि (निरामये) रोग रहित मे, ४१४।
निरुवम वि (निरुपम) अद्वितीय, ४०१ ४४४।
निवट्टाहं वि. (निवृत्तानाम्) लौटे हुओं का, ३३२।
निवडणु न. (निपतन) गिरावट, ४४४।
निवाणु न. (निर्वाणम् मोक्ष, छुटकारा, ४१९।
निवारणु न. (निवारणम्) रोकना, रुकावट, ३९५।
निवारणाय न. (निवारणाय) रोकने के लिये, ४४८।
निवाशी वि. (निवासी) रहने वाला, ३०२।
निवासहे वि. (निवासाया.) रहती हुई का, ३५०।
निव्वलइ अक. (निष्पद्यते) वह सिद्ध होता है. १२८।
निसंकु वि. (नि.शङ्कम्) शंका रहित, ३९६, ४०१।
निसिआ वि. (निशिताः) तेज तीखे, ३३०।
निसिरइ सक. (निसृजति) बाहिर निकालता है २२९।
निसुट्टो वि. (निपातितः)भ्रष्ट हुआ, गिरा हुआ,२५८।
निसेहइ सक. (निषेधति) निवारण करता है, १३४।
निस्फलं वि. (निष्फलं) फल रहित, २८९।
निहवइ सक. (कामयतेवह) मैथुन की इच्छा करता है, २३३।
निहि पुं. (निधिः) खजाना, ४२२।
निहुअउं वि. (निभृतकम्)गुप्त, प्रच्छन्न, ४०१।
नी-नेई सक.(नयति) ले जाता है, २३७।
नेदि सक.(नयति) ले जाता है; २७३, २७४।
नेति सक (नयति) " " " ३१८, ३१९।
नेन्ति सक. (नयन्ति) ले जाते हैं, २३७।
नेऊण, नीओ सं. कृ. (नीत्वा, नीतः) ले जाकर, ले जाया हुआ, २३७।
" अणुणेइ सक. (अनुनयति) तदनुसार ले जाता है, ४१४।
" आणहि सक. (आनय) लाओ, ३४३।
" आणिअइ सक. (आनीयते) लाया जाता है, ४१९।
नीरञ्जइ सक. (भनक्ति) तोडता है. १०६।
नीलइ अक. (निस्सरति) वह बाहिर निकलता है,७९।
नीसरहि अक. (निःसरसि) तू बाहिर निकलता है,४३९।
नीसावँन्नु वि. (निः सामान्यम्) साधारण रूप से, ३४१।
नीसासु पुं. (निश्वासम्) निश्वास को, ४३०।
नु अ. (नु) वक्रोक्ति, प्रश्न आदि अर्थों में,३०२।
नूमइ सक. (छादयति) वह ढकता है, छिपाता है २१।
नेन सर्व. (अनेन. तेन) उससे, इससे, ३२२।
नेह पुं. (स्नेह) प्रेम, राग, ३३२, ४०६।
" नेहु पुं. (स्नेह) " " ४२६।
" नेहहां पुं. (स्नेहस्य) प्रेम का, राग का, ४२६।
" नेहिं पुं. (स्नेहेन) प्रेम से, राग से, ४२२।
" नेहि पुं. (स्नेहे) प्रेम में, राग मे, ४०६।
" नेहडा पु. (स्नेहः) प्रेम, राग, ३५६।

[प]

पइँ सर्व. (त्वया) तुझ से, ३५७, ३७०,३७७, ४२१, ४२२।
पइ पुं. न. (पदे) पद पर, स्थान में, ४१४।
पइ-पइ पुं. न. (पदे पदे) पग पग पर, पद पद में, ४०६।
पइट्ठि वि. (प्रतिष्ठिता) स्थापित की हुई, ३३०।
पउ पुं. न (पदम्) पद को, ४४२।
पउलइ सक. (पचति) पकाता है, ९०।
पओहर पुं. (पयोधर) स्तन, ३९५।
" पओहरइ पुं. (पयोधराणाम्) स्तनों के, ४२०।
पकुप्पित वि. (प्रकुपित) क्रोधित हुआ, ३२६।
पक्क वि. (पक्व)-पका हुआ, कच्चा नहीं, ३४०।
पक्खं पुं. (पक्षम्) पक्ष को, पार्श्व को, ३०२।
पक्खालदु सक (प्रक्षालयतु) धोवे, साफ करे, २८८।
पक्खावडिउं वि (पक्षापतितम्) पक्षपात में पड़े हुए को,४४१
पङ्कइ न. (पङ्कजे) कमल मे कमल पर, ३५७।
पंका पुं. (पङ्क.) कीचड़, ४१४।
पग्गिवँ अ. (प्रायः) अक्सर करके, प्राय, ४१४।
पङ्गइ सक. (गृह्णाति) ग्रहन करता है, २०९।
पच्चडइ अक. (क्षरति) झरता है, गिर पड़ता है,१७३।
पच्चड्डइ अक. (गच्छति) जाता है, १६२।
पच्चलिउ अ. (प्रत्युत) उल्टा, विपरीत, ४२०।
पच्चारइ सक. (उपालभते) वह उलाहना देता,है, १५६।
पच्छइ अ. (पश्चात्) पीछे, बाद में, ३६२, ४२०।
पच्छायावडा पुं. (पश्चात्तापः) पछतावा, ४२४।

पच्छि अ पश्चात्) पीछे ३८८।
पच्छित्ताइ न (प्रायश्चित्तानि) प्रायश्चित्तों को ४२८।
पच्छित्तें न (प्रायश्चित्तेन) प्रायश्चित्त से, ४२८।
पज्जरइ सक (कथयति) वह कहता है, २।
पज्जलिआ वि. (प्रज्वलित) जलाया हुआ चमकने वाला, २६५।
पज्जाउलो वि. (पर्याकुल) विशेष आकुल, २६६।
पज्झरइ अक (क्षरति) झरता है, गिर पड़ता है १७३।
पञ्चहं वि (पञ्चानाम्) पाँच का ४२२।
पञ्चहि वि (पञ्चै.) पाँच से, ४२२ ४२९, ४३१।
पञ्जले पु स्त्री. (प्राञ्जलि, नमस्कार के लिए जोड़े हुए दोनों हाथ, २९३।
पञ्ञा स्त्री (प्रज्ञा) विशिष्ट बुद्धि ३०३।
पञ्ञा विशाले वि. (प्रज्ञा विशाल) विशिष्ट विशाल बुद्धि वाला, ९३।
पटिमा स्त्री (प्रतिमा) मूर्ति, प्रतिबिम्ब ३२५।
पट्टइ सक पिबति) पीता है, १०।
पट्टण न. (पत्तन, नगर, ४०७।
पट्ठवइ, पट्ठावइ सक (प्रस्थापयति) स्थापना करता है, ३७
पट्ठि स्त्री (पृष्ठम्) पीठ, पीछे का भाग, ३२९।
पढिय्यते सक (पठ्यते) पढ़ा जाता है. ३१५।
" पढिदूण, पढित्ता स कृ. (पठित्वा) पढ़ करके, २७१।
" पढितून स कृ. (पठित्वा) पढ़ करके, ३१२।
पडह पु (पटह.) ढोल, ४४३।
पडिअग्गइ अक. (अनुव्रजति) पीछे पीछे जाना है, १०७।
पडिण्णेण वि (प्रतिज्ञेन) प्रतिज्ञा किये हुए से, ४६०।
पडिबिम्बिअ वि (प्रतिबिम्बित) परछाई पड़ा हुआ, ४२९।
पडिवालइ सक (प्रतिपालयति) रक्षा करता है, २५९।
पडिसाइ अक (शाम्यति) शान्त होता है, १६७।
" अक (नश्यति) नष्ट होता है, भागता है, १७८।
पडिहाइ अक (प्रतिभाति) मालूम होता है, ४४१।
पढ सक (पठ) पढ़ो, पढ़ना, ३९४।
पणएण पु (प्रणयेन) प्रेम से, ४४६।
पणामइ सक (अर्पयति) अर्पण करता है, ३९।
पण्णइं न (पर्णानि) पत्ते, पत्तों को, ४२७।
पत्-पडइ अक. (पतति) गिरता है, २१९, ४२२।
" पडन्ति अक. (पतन्ति) गिरते हैं, ४२२।
" पडहिं अक. (पतन्ति) गिरते हैं, ३८८।
" पडिअ वि (पतिता) गिरी हुई, ३३७।
" पडिउ वि (पतित) गिरा हुआ ३३७।
" पडिआइं वि (पतितानि, गिरे हुओं को ३५८।
" पाडेइ सक (पातयति) गिराता है, २२।
" पाडिउ वि (पातित) गिराया गया, ४२०।
" निवडइ अक. (निपतति) (भ्रष्ट होता है) गिरता है, ४०६।
" निपतन्ति अक (निपतन्ति) गिरते हैं, ३२६।
" सपडिअ वि (सपतित.) आ पड़ा, गिर गया, ४२३।
पताका स्त्री (पताका) ध्वजा, ३०७।
पतिबिम्ब न (प्रतिबिम्बम्) परछाई, छाया, ३२६।
पतेसो पु (प्रदेश) स्थान, देश का भाग, ३०७।
पत्तत्तण न (पत्रत्वम्) पत्ते पने को, ३७०।
पत्तेहिं न (पत्रै) पत्तों से, ३७०।
" पत्ताण न (पत्राणाम्) पत्तों का, ३७०।
" पत्तलु वि. (पत्रवान्) पत्तों वाला, ३८७।
पत्थरि पु. (प्रस्तरे) पत्थर पर, ३४४।
पद्—
" आवन्न वि (आपन्न) समीप मे आया हुआ, २९५।
" निप्पज्जइ अक (निष्पद्यते) सिद्ध होता है, १२८।
" सपज्जइ अक (सपद्यते) सम्पन्न होता है, २२४।
" सपन्ना वि. (सपन्ना) सिद्ध हुई, प्राप्त हुई, २८५, ३०२।
पदअइ अक (गच्छति) जाता है, १६२।
पदं न (पदम् पद, डग, २७०।
पनय पु. (प्रणय) प्रेम, राग, ३२६।
पन्थि पु. (पथि) मार्ग में, ४२९।
पन्थवो पु (बान्धव) बन्धु, सगा भाई, ३२५।
पन्थिअहिं पु. (पथिकै) मुसाफिरो से, पथिको से, ४२९।
पन्नाडइ सक (मृद्नाति) मसलता है, १२६।
पप्फुल्लिअउ वि (प्रफुल्लित) खिला हुआ, प्रसन्न, ३९६।
पव्वालइ सक. छादयति) ढकता है, २१।
" सक (प्लावयति) खूब भिजाता है, ४१।
पमाणु न (प्रमाणम्)यथार्थ ज्ञान, ३९९, ४१९, ४३८।
पमाणी कलेशि सक (प्रमाणीकरोपि) तू प्रमाणित करता है, ३०२।
पम्हट्ठउ वि (प्रमृष्ट) भूलाया है, ३९६।
पम्हुट्ठो वि. दे. (नष्ट ?) नष्ट, नाश प्राप्त, २५८।
पम्हुसइ सक. (विस्मरति) भूलता है, ७५।

पम्हुत्थइ अक (पर्यस्यति) पलटता है, २०० ।
पल्हत्थ वि (पर्यस्तम्) फैंका हुआ, हत, विक्षिप्त, २५८ ।
पवय पुं. (प्लवग) वानर, कपि, २२० ।
पवासुअह वि. (प्रवासिनाम् विदेश मे रहे हुओं का, ३९५ ।
पविरज्जइ सक. (भनक्ति) भागता है तोडता है, १०६ ।
पव्वती स्त्री. (पार्वती) पर्वत की पुत्री, सज्ञा-विशेष, ३०७ ।
पव्वायइ अक. (म्लायति) सूखता है १८ ।
पशादाय पु (प्रसादाय) प्रसन्नता के लिये, ३०२ ।
पश्चादो अ. (पश्चात्) पीछे, २९६ ।
पसरो पु. (प्रसर) फैलाव, १५७ ।
पसाउ पु (प्रसाद) प्रसन्नता, ४३० ।
पस्टे पु -(पट्ट) पहिनने का कपडा, पाट-पाटिया, २९० ।
पह पुं. (पन्था) मार्ग, रास्ता, ४२२ ।
पहम्मइ सक (गच्छति, प्रकप से गति करता है, १६२ ।
पहल्लइ अक. (घूर्णति) घूमता है, कांपता है; डोलता है. ११७ ।
पहाउ पु (प्रभाव) शक्ति, सामर्थ्य, ३४१ ।
पहिउ पु (पथिक) मुसाफिर, ४१५, ४२९, ४४५
पहिआ पु (हे पथिक!) हे यात्री! ३७६, ४३१ ।
पहुच्चइ अक. (प्रभवति) पहुंचता है, ३९०, ४१९ ।
पहुप्पइ अक (प्रभवति) समर्थ होता है, ६३ ।
पिअइ सक (पिबति) पीता है, १०, ४१९ ।
" पिअन्ति सक (पिबन्ति) पीते हैं ४१९, ४२० ।
" पिअहु सक. (पिबत) तुम पीओ, ४२२ ।
" पिज्जइ सक (पीयते) पीया जाता है, १०, ४२१ ।
" पिअवि स कृ. (पीत्वा) पान करके, ४०१, ४४८ ।
" पीउ वि (पीतम्, पीया गया है ४३९
" पिए वि. (पीतेन) पीये हुए से, ४३४ ।
" पाइ, पाअइ सक (पाति) रक्षण करता है, २४० ।
पाइ पु (पादे) पैर मे, ४४५ ।
पागसासणे पु. (पाकशासन) इन्द्र २६५ ।
पाणिउ न (पानीय) जल, ३९६ ।
" पाणिएण न. (पानीयेन) जल से, ४३४ ।
" पाणिएं न. (पानीयेन) जल से, ४१८ ।

पातग्ग वि (प्रयग्र सामने, आगे, ३२२ ।
पातुक्खेवेन न. (पादोत्क्षेपेण) पैरो के पटकने से, ३२६ ।
पारइ सक (पारयति) पार पहुंचता है, ८६ ।
पारकेरं वि. (परकीयम् दूसरो से सम्बन्धित, ४४ ।
पारक्कडा वि (परकीया) दूसरों की, १७९, ३९८, ४१७ ।
पालको पु (बालकः) बच्चा, शिशु, ३२५ ।
पालम्बु पु (प्रालम्बम्) अवलम्बन सहारा, ४४६ ।
पालेविहि कृ (पालयितुम्) पालने के लिये, ४४१ ।
पावेइ सक (प्लावयति) खूब भिगोता है, ४१ ।
पासइ सक (पश्यति) देखता है, १८१ ।
पि अ (अपि) भी, ३०२ ।
पिअ वि (प्रिय) प्यारा, ३३२, ३५० इत्यादि ।
" पिउ पु (प्रिय) पति, प्यारा, ३४३ ३५२, ३८३, ३९६ इत्यादि ।
पिए पु (प्रियेण) पति से, ४०१, ४२३, ४४४ ।
पिअस्सु पु (प्रियस्य) प्रिय के, पति के, ३५४ ।
पिअहो पु. (प्रियस्य) पति के, ४१८, ४१९ ।
पिए पु. प्रिये) प्रिय के होने पर, ३९५, ३९६, ४२२ ।
पिअवयस्सस्स पु (प्रियवयस्यस्य) प्रिय मित्र के, २८५, ३०२ ।
पिआस स्त्री (पिपासा) प्यास, तृषा ४३४ ।
पिच्छइ सक (प्रेक्षते) देखता है, २९५ ।
पिट्ठि स्त्री (पृष्ठम्) पीछे का, पीठ, ३२९ ।
पिच्छिल्ले वि (पिच्छिल) स्नेह-युक्त, स्निग्ध, २९५ ।
पिसुणइ सक (कथयति) कहता है, २ ।
पीडन्तु सक (पीडयन्तु) दबावें, हैरान करें, ३८५ ।
पीसइ सक (पिनष्टि) पीसता है, चूर्ण करता है १८५
पुंसइ सक (मार्ष्टि) पोंछता है, १०५ ।
पुच्छइ सक (पृच्छति) पूछता है, ९७ ।
" पुच्छह सक (पृच्छत, पूछो, पूछते हो, ३६४ ।
" पुच्छहु सक (पृच्छथ) तुम पूछते हो, ४२२ ।
पुञ्छइ सक (मार्ष्टि) पोंछता है, १०५ ।
पुञ्जइ सक. (पुञ्जयति) इकट्ठा करता है, १०२ ।
पुञ्ञकम्मो वि (पुण्यकर्मा) पवित्र कर्मों वाला, ३०५ ।
पुञ्ञ न (पुण्यम्) पवित्र काम, २९३ ।
पुञ्ञवन्ते वि (पुण्यवान्) पवित्र कर्मों वाला, २९३ ।
पुञ्ञाह वि (पुण्यानाम्) पवित्रो का २९३ ३०५ ।

पुट्ठि स्त्री. (पृष्ठम्) पीठ, पीछे, ३२९।
पुढुमं वि. (प्रथमम्) पहिला, २८३।
पुणु अ. (पुनः) फिर, ३४३, ३४९, ३५८, ३७०, ३८३ इत्यादि।
पुत्ति स्त्री. (पुत्रि) हे बेटी! ३३०।
पुत्तें पुं. (पुत्रेण) लड़के से, ३९५।
पुधुम वि (प्रथम) पहिला, ३१६।
पुप्फवईहिं वि. (पुष्पवतीभिः) फूलो वालियो से, ४३८।
पुरओ अ. (पुरतः) अग्रतः, आगे. २२८।
पुरवं वि. (पूर्वम्) पहिले, ३२३।
पुरिसहो पुं. (पुरुषस्य) पुरुष का, ४००।
पुलआअइ अक. (उल्लसति) उल्लसित होता है. २०२।
पुलएइ सक. (पश्यति) देखता है, १८१।
पुलिशे पुं. (पुरुषः) आदमी. २८७, २८८।
पुलोएइ सक. (पश्यति) देखता है. १८१।
पुसइ सक (मार्ष्टि) साफ करता है, १०५।
पुणइ सक. (पुनाति) पवित्र करता है, २४१।
" पुणिज्जइ, पुव्वइ (पूयते) पवित्र किया जाता है २४२।
पूजितो वि. (पूजितः) पूजा किया हुआ, ३२२।
पुसइ अक. (पुष्यति) पुष्ट होता है, २३६।
पेस्कदि सक. (प्रेक्षते) देखता है, २९५, २९७।
पेस्किदुं हे. कृ. (प्रेक्षितुम्) देखने के लिये, ३०२।
" पेक्खु सक. (प्रेक्षस्व) तू देख, ४१९।
" पेक्खेवि स. कृ. (प्रेक्ष्य) देख करके, ३४०।
" पेक्खेविणु सं. कृ. (प्रेक्ष्य) देख करके, ४४४।
" पेक्खवि स. कृ. (प्रेक्ष्य) देख करके, ४३०।
" पाडिपेक्खइ सक (प्रतिप्रेक्षते) (अन्य कारणों से) देखती है, ३४९।
पेच्छइ सक. (प्रेक्षते) देखता है १८१, ३६९, ४३७।
" पेच्छ सक. (प्रेक्षस्व) तू देख, ३६३।
" पेच्छन्ताण व. कृ. (प्रेक्षमाणानाम्) देखते हुओं का, ३४८।
पट्टवइ सक. (प्रस्थापयति) रखता है; ३७।
पेम्म पुं. न. (प्रेमन्) स्नेह, राग ४२३।
पेम्मु पुं न. (प्रेम) स्नेह, राग, ३९५।
पेल्लइ सक. (क्षिपति) फेंकता है १४३।
पोक्कइ सक. (व्याहरति) पुकारता है, ७६।
पोराणं वि. (पुराण) पुराना, २८७।
प्पदानेन न. (प्रदानेन) देने से, ३२२।
प्फलइं न. (फलानि) फलों को, ४४५।
प्रङ्गणइ न. (प्राङ्गणे) आंगन में, ४२०।
प्रङ्गणि न. (प्राङ्गणे) आंगन में, ३६०।
प्रमाणिअउ वि. (प्रमाणितः) सच्चा साबित, ४२२।
प्रयावदी पुं. (प्रजापतिः) ब्रह्मा, ४०४।
प्रस्सदि सक. (पश्यति) देखता है, ३९३।
प्राइव, प्राइँव अ. (प्राय) अक्सर, ४१४।
प्राउ अ. (प्रायः) अक्सर, ४१४।
प्रिअ वि (प्रिय) प्यारा, ३७०, ३७७, ४०१।
प्रिएण वि. (प्रियेण) प्यारे से, ३७९, ३९८, ४१७।

[फ]

फंसइ सक. (स्पृशति) छूता है, १२९, १८२।
फकवती स्त्री. (भगवती) देवी, ३२५।
फन्दइ अक. (स्पन्दते) फरकता है. थोड़ा हिलता है, १२७।
फरिसइ सक. (स्पृशति) छूता है १८२।
फल पुं. न. (फल) फल, ३३५।
फलु पुं. न. (फल) फल, ३४१।
फलइं पुं न. (फलानि) फल, ३३६।
फलाइं पुं. न. (फलानि) फल, फलो को ३४०।
फासइ सक. (स्पृशति) छूता है, १८२।
फिट्टइ अक. (भ्रश्यते) नीचे गिरता है, १७७, ३७०।
फिट्ट वि. (भ्रष्ट) विनष्ट, पतित, ४०६।
फिडइ अक. (भ्रश्यते) नीचे गिरता है, १७७।
फुक्किज्जन्त व कृ. (फूत्क्रियमाणाः) फूँ फूँ आवाज किये जाते हुए, ४२२।
फुडइ अक. (भ्रश्यते) नीचे गिरता है १७७।
फुडं वि. (स्फुटम्) स्पष्ट, व्यक्त. २५८।
फुमइ सक. (भ्रमति) भ्रमण करता है, १६१।
फुल्लइ अक. (फुल्लति) फूलता है ३८७।
फुसइ सक. (मार्ष्टि) पोछता है, १०५।
" सक. (भ्रमति) भ्रमण करता है. १६१।
फेडइ सक. (स्फेटयति) उद्घाटन करता है, ३५८।

[ब]

बइट्ठउ वि (उपविष्टः) बैठा हुआ, ४४४।
बइल्ल पुं. (बलीवर्द) बैल, ४१२।

वन्धिज्जइ, वज्झइ सक. (वध्यते) बाधा जाता है, २४७ ।
वन्धिहिइ सक (वन्धिष्यते) बांधा जायगा, २४७ ।
वद्ध वि (वद्ध) बांधा हुआ ३९९ ।
वन्ध पु. (वन्ध वन्धन, (दे) नौकर, ३८२ ।
वप्पीकी वि (पैतृकी) वाप दादा सम्बन्धी, ३९५ ।
वप्पीहा पु. (चातक) पपीहा, चातक, ३८३ ।
वप्पुडा वि (दे) (वराका) विचारा, दीन, ३८७ ।
वम्भ पु (ब्रह्मन्) ब्रह्मा, विधाता, ४ २ ।
वम्भणस्स पु. (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का, २८० ।
ब्रह्मणे पु (ब्राह्मणे) ब्राह्मण मे, ३०२ ।
वरिहिण् पु (वर्ही) मयूर, मोर-पक्षी, ४२२ ।
वलइ सक. (खादति) खाता है, २५९ ।
" सक (प्राणन करोति) वह प्राण धारण करता है, २५९ ।
वलि पु (वलि) वलि नामक राजा, ८४ ४०२ ।
वलि वि (वलि) वलवान्, वलिष्ठ, ३३८, ३८५, ३८९, ४११, ४४५ ।
वलु न (वलम् सामर्थ्य, पराक्रम ३५४, ४४० ।
वलुल्लडा न (वल) सामर्थ्य को, ४३० ।
वहि अ (वहिस्) वाहिर ३५७ ।
वहिणी स्त्री. (भगिनी) वहिन, ३५१, ४१४ ।
वहिणुए स्त्री (भगिनी) वहिन, ४२२ ।
वहुअ वि (वहुक) अनेक, वहुत ३७१, ३७६, ।
वहुलु वि (वहुल:) प्रचुर, अनेक ३८७ ।
वालको पु (वालक) वच्चा, किशोर, ३२७ ।
वालहे स्त्री (वालाया) लड़की के, ३५० ३६७
वालि स्त्री (हे वाले!) हे यौवन-सम्पन्न वालिका, ४२२ ।
वाह पु (वाष्प) अश्रु, आंसू, ३९५, ४३९ ।
वाह पु (वाहु) हाथ, भुजा, ३२९, ४३० ।
वाहा स्त्री. (वाहु) हाथ, भुजा, ३२९ ।
वाहु पु स्त्री (वाहु) हाथ, भुजा, ३२९, ४३० ।
विट्टाए स्त्री (पुत्रि) हे वेटी, ३३० ।
विन्नि स. वि (द्वि) दो, ४१८ ।
विम्वाहरि पु. (विम्वाधरे) होठो के मण्डल पर ४०१ ।
विहिं वि स. (द्वाभ्याम्) दो से, दो के लिये, ३६७ ।
विहु वि स (द्वयो) दो का, दो में, ३८३ ।
वीहइ अक (विभेति) डरता है ५३ ।
वीहिअ वि (भीत) डरा हुआ, ५३ ।
वुक्कइ अक (गर्जति) गर्जन करता है, ९८ ।
वुज्झइ सक (वुध्यते) समझा जाता है, २५७ ।
वुड्डइ अक मज्जति) डूबता है, १०१ ।
" वुड्डीसु अक. (मक्ष्यामि) डूबा हुई होऊंगी, ४२३ ।
" वुड्डवि स. कृ (मङ्क्त्वा) डूब करके, ४१५ ।
वुद्धडी स्त्री वुद्धि:) वुद्धि, ४२४ ।
वुद्धी स्त्री. (वुद्धि) वुद्धि, ४२२ ।
वुहस्पदी पु. (वृहस्पति) देवताओं का गुरु, २८९ ।
वुहुक्खइ सक (वुभुक्षति) खाने की इच्छा करता है, ५ ।
वे स वि (द्वे) दो, ४३९, ३७९, ३९५, ४२९ ।
" वेहि स. वि (द्वाभ्याम दो से, ३७०, ३७७ ।
वेमि (आर्ष) (ब्रवीमि) मैं कहता हूं, २३८ ।
वोज्जइ अक (त्रस्यते) डरता है, १९८ ।
वोड्डिअ स्त्री (कपर्दिकाम्) कोडी को ३३५ ।
वोल्लइ सक (कथयति) कहता है, २ ।
" वोल्लिअइ सक (कथ्यते) कहा जाता है, ३६० ।
" वोल्लिज्जउ सक (कथय) कहो, ३८३ ।
" वोल्लिएण न (कथनेन) कहने से, वोलने से, ३८३ ।
वोल्लणउ पु (कथयिता) कहने वाला, ४४३ ।
वोहिं स्त्री. (वोधिम्) ज्ञान को, शुद्ध धर्म का लाभ, २७७ ।

ब्र—

" ब्रवह सक. (ब्रूथ) तुम वोलो, ३९१ ।
" ब्रोप्पि स कृ (उक्त्वा) वोल करके, कह करके, ३९१ ।
" ब्रोप्पिणु स कृ (उक्त्वा) वोल करके, कह करके, ३९१ ।

[भ]

भएण न (भयेन) डर मे, ४४४ ।
भकवती स्त्री. (भगवती) देवी, ३२७ ।
भगदत्त पु (भगदत्त) नाम विशेष, २९९ ।
भगवतो स्त्री (भगवती) देवी, ३०७ ।
भगवतीए स्त्री (भगवत्या) देवी से, ३२३ ।
भगव पु (भगवान्) ईश्वर, समृद्धि वाला, ३२३ ।
भङ्गि (भगी) विकल्प, प्रकार, कल्पना, भेद, ३३९, ४११ ।
भञ्ज् भञ्जइ सक (भनक्ति) तोड़ता है, १०६ ।
भग्गा वि (भग्ना) भाग गये, बिखर गये, ३५१, ३७९, ३८०, ३९८, ४१७, ४२२ ।

भग्गउं वि. (भग्नक) भागते हुए को, बिखरते हुए को, ३५४।
भग्गाइं वि. (भग्नानि)(भग्नाः) निराश हुए, ३८६।
भड पुं. (भट) वीर, रण-वीर, ३५७।
भडु पुं. (भटः) लड़वैया, रण-वीर, ४२०।
भण—
" भणइ सक. (भणति) पढ़ता है, कहता है, २३९, ३६९
" भणन्ति सक. (भणन्ति) पढ़ते है कहते है. ३७६।
" भण सक. (भण) पढ, कह, ४२५, ३६७, ३७०, ४०४।
" भणु सक. (भण) पढ़, कह, बोल, ४०१।
" भणवि सं. कृ. (भणित्वा) पढ करके, बोल करके, ३८३।
" भण्णए-भणिज्जइ-सक (भण्यते) पढा जाता है, २४९
" भणिअ वि. भू. (भणितम्) कहा गया था, ३३०।
" भणिअउ भू. कृ. (भणितः) कहा गया था, ४०२।
भण्डय पुं. (भण्डः) बहुरुपिया, सखा, विदूषक, ४२२।
भत्तं पुं. न. (भूत) (भक्तम्) आहार, भोजन, उत्पन्न, ६०।
भत्ताउ पुं. (भक्ताः) सेवक, ४२२।
भद्दवउ पुं. (भाद्रपदः) भाद्रपद नामक महीना, ३५७।
भन्तडी स्त्री. (भ्रान्तिः) भ्रम, विपरीत समझ ४१४।
भन्ति स्त्री. (भ्रान्तिः) भ्रम, विपरीत समझ, ३६५ ४१६
भन्ते वि. (भदन्त) पूज्य, कल्याण कारक, २८७।
भमरु पुं. (भ्रमरः) भँवरा ३६८, ३९७।
भमरा पुं. (भ्रमराः) भवरे, ३८७।
भमरउल न. (भ्रमरकुल) भवरो का समूह, ३८२।
भमरु पुं. (भ्रमरः) भँवरा, ४२।
भयंकरु वि. (भयंकरः) भय उत्पन्न करने वाला ३३१।
भयव वि. (भगवन्)हे पूज्य !हे कल्याणकारक, २६४।
भयव वि. (") " " " २६४, २६५, ३०२।
भरइ सक. (स्मरति) स्मरण करता है, ७४।
भरिउ वि. (भरितम्) भरा हुआ, संयुक्त, ४४४।
भरिअइ वि. (भृते) भरा हुआ होने पर, ३८३।
भरु पुं. न. (भारम्) भार, बोझा ३४०, ३७१, ४२१।
भलइ सक. (स्मरति) याद करता है, ७४।
भलि पुं. स्त्री. (निर्बन्धः) (दे.) कदाग्रह, हठ; ३५३।
भल्ला वि. (भद्रम् भला, उत्तम, श्रेष्ठ, ३५१।
भल्लि स्त्री. (भल्ली) भाला, बरछी, ३३०।
भवं सर्व. (भवान्) आप, ३०२, २६५ २८३, २८४।
भवँरु पुं. (भ्रमरः) भँवरा ३९७।
भसइ सक. (भषति) भूँकता है, कुत्ता बोलता है, १८६।
भसणउ वि. [भषिता] भौंकने के स्वभाव वाला, ४४३।
भसलु पुं. (भ्रमरः भँवरा; ४४४।
भस्टालिका स्त्री.(भट्टारिका) स्त्री विशेष, स्वामिनी, २९०।
भाइ अक. (बिभेति) डरता है, ५३।
भाइअं वि. (भीत) डरा हुआ, ५३।
भाईरहि स्त्री. (भागीरथी) गंगा नदी, ३४७।
भागुलायणादो पुं. (भागुरायणात् नाम-विशेष से ३०२।
भारइ न. (भारते) भारत वर्ष में ३४७।
भारह न. (भारत) देश विशेष, ९९।
भारिया स्त्री. (भार्या) पत्नी ३१४।
भालके न. [भाले] मस्तक पर, ललाट पर, ४४७।
भावइ सक. (भावयति) वासित करता है, सोचता है, ४२०।
भासइ अक. [भासते] चमकता है. मालूम होता है, २०३।
भिच्चु पुं. [भृत्य] नौकर, दास, ३४१।
भिन्दइ सक. [भिनत्ति] काटता है, भेदता है, २१६।
भिसइ अक. [भासते] चमकता है, शोभता है, २०३।
भीआ वि. [भीत.] डरा हुआ, ५३।
भीमशेणश्श पुं. [भीमसेनस्य] भीमसेन का, २९९।
भुअ पुं. स्त्री. [भुज] हाथ, कर, ४१४।
भुक्कइ अक. (भषति) कुत्ता भौंकता है, १८६।
भुज्—
" भुञ्जइ सक. (भुनक्ति) भोजन करता है, पालन करता है, अनुभव करता है, ११०।
" भुञ्जन्ति सक. (भुञ्जन्ति) भोजन करते हैं, भोगते हैं, ३३५।
" भुञ्जइ-भुञ्जिज्जइ (भुज्यते) भोजन किया जाता है, २४९।

" मुहु न. (मुख) मुँह, वदन, ३६७, ४४४।
" मुह् न. (मुख) मुँह, वदन, ३००।
" मुहहु न (मुखेभ्यः) मुँहो से, मुखों से, ४२२।
मूरइ सक (भनक्ति) भागता है, तोड़ता है, १०६।
मूलि न (मूले) जड में, ४२७।
मेहो पु (मेघ) वादल, ३२५।
मेलवइ सक (मिश्रयति) मिलाता है, २८।
मेल्लइ सक. (मुञ्चति) छोडता है, ९१, ४३०।
" मेल्लि सक. (मुञ्च) छोड, त्याग, ३८७।
" मेल्लवि स कृ (मुक्त्वा) छोड़ करके, ३५३।
" मेल्लेप्पिणु स कृ (मुक्त्वा) छोड़ करके, ३४१।
" मेल्लन्तिहे वि (मुञ्चन्त्या) छोडती हुई का, ३७०।
" मेल्लन्तहो वि (मुञ्चत) छोडते हुए का, ३७०,३७७।
मेशे पु. (मेष) मेड, ऊनवाला, जानवर, २८७।
मेहे पु (मेघ) बादल, ३६७ ४१८, इत्यादि।
मेहु पु (मेघ) बादल, ३९५, ४२२।
मोक्कलडेण वि (मुक्तेन) छोड़े हुए से, ३९६।
मोट्टायइ अक. (रमते) क्रीड़ा करता है, १६८।
मोडन्ति सक (मोटयन्ति) मोडते हैं, टेढ़ा करते हैं ४४५।

[य]

य अ (च) और, ३२६, ३९६।
यणवदे पु. (जनपद) प्रान्त-देश का भाग, २९२।
यति अ. (यदि) अगरचे, ३२३।
यदि अ. (यदि) अगरचे, २९२।
यधाशलूवं वि (यथास्वरूपम्) जैसा स्वरूप वाला, २९२।
यम् यच्छइ सक अक (यच्छति) वह विराम करता है, देता है, २१५।
" निअयं वि (नियत) निश्चित किया हुआ, २८७।
" पयच्छसि सक (प्रयच्छसि) प्रदान करता है, ३२३।
यम्वाल न (दे.) (जम्बालम्) सेवाल घास, जलमल, २०८।
यलहला पु. (जलधराः) मेघ, बादल, २९६।
यक्खे पु. (यक्ष) वाण-व्यन्तर ज़ाति का देव, २९६।
या— सक. (या) जाना, गमन करना
" यादि सक. (याति) जाता है २९२।
" जाइ सक. (याति) जाता है, २४०, ३५०, ४४५।
" जाअइ सक (याति) जाता है, २४०।
" जन्ति सक (यान्ति) वे जाते हैं, ३८८, ३९५ ४३९।
" जाहि सक (याहि) तू जाता है, ४२२, ४३९।
" जाहुं सक (याम) हम जाते है, ३८६।
" जाइज्जइ सक. (यायते) जाया जाता है, ४१९।
" जावेइ प्रेर. (यापयति) गमन कराता है, ४०।
याणदि सक (जानाति) जानता है, २९२।
याणवत्त न. (यानपात्रम्) जहाज, नाव, २९२।
यातिसो वि (यादृश) जैसा, ३१७।
याव अ (यावत्) जब तक, ३०२।
युत्त वि (युक्तम्) सहित, ३०२।
युम्हातिसो वि (युष्मादृश) आप के जैसा, ३१७।
ये सर्व (ये) जो, ३०२।
य्येव अ (एव) ही, निश्चय पूर्वक, २७६, २८०, २८३, ३०२।
" अ. (एव) ही, ३१६ ३२१, ३२३।

[र]

रइ स्त्री (रति) काम-क्रीडा, मैथुन-प्रवृत्ति, ४२२।
रक्ष्—
" रक्खइ सक (रक्षति) बचाता है, रक्षा करता है, ४३९।
" रक्खेज्जहु सक (रक्षत) रक्षा करो, बचाओ, ३५०, ३६७।
रंखोलइ अक. (दोलायते) झुलाता है, ४८।
रच्—
" रअइ सक (रचयति) रचना करता है, ९४।
" समारवइ सक (समारचयति) अच्छी तरह से रचता है, ९५।
रच्चसि अक (रज्यसे) तू अनुरक्त होता है, ४२२।
रञ्जेइ सक (रञ्जयति) प्रसन्न करता है, ४९।
रञ्ञा पु (राज्ञा) राजा से, ३०४, ३२०।
रञ्ञो पु. (राज्ञः) राजा का, ३०४।
रडन्तउ व कृ. (रटन्) बोलता हुआ, ४४५।
रण पु. न (रण) युद्ध, ३७०, ३७७, ३८६।
रणि पु न. (रणे) युद्ध में, ३६०।
रणडइ सक. (शब्दकुरु) शब्द को कर, ३६८।
रत्तडी स्त्री. (रात्रिः) रात, रात्रि, ३३।

" लहिमु सक. (लभामहे) हम प्राप्त करते है, ३८६।
" लहन्ति सक. (लभन्ते) वे प्राप्त करते हैं, ३४१, ४१४।
" लहहिं सक. (लभन्ते) वे प्राप्त करते हैं; ३६७, ४४०।
" लहन्तु सक. (अलप्स्यत) प्राप्त किये हुए होते, ३९५।
" अलहन्तिअहे वि. (अलभमानायाः) नही प्राप्त किये हुए की, ३५०।
" लब्भइ कर्म. प्र. (लभ्यते) प्राप्त किया जाता है, ४१९, २४९।
" लहिज्जइ कर्म. प्र. (लभ्यते) प्राप्त किया जाता है, ४१९।
लहश पुं. (रभस) उत्सुकता, उत्कंठा, २८८।
लहुई वि. (लघ्वी) छोटी, ३४८।
लक्कशे पुं. (राक्षसः) राक्षस, २९६।
लक्कशं पुं. (राक्षसं) राक्षस को, ३०२।
लाइवि सं. कृ. (लागयित्वा) लगा करके, ३३१; ३७६।
लायण्ण न. (लावण्य) सौन्दर्य, शरीर-कान्ति, ४४।
" लायण्णं न. (लावण्यं सौन्दर्य, शरीर-कान्ति, २२०।
लायं पुं. (राजन्) हे राजा! ३०२।
लायाणो पुं. (राजा) राजा, नृपति, ३०२।
लायिद वि. (राजित) शोभायमान, २८८।
लालसउ वि. (लालसकः) उत्कंठा वाला, ४०१।
लाहु पुं. (लाभः) प्राप्ति, फायदा, ३९०।
लिक्कइ अक. (निलीयते) छिपता है, ५५।
लिब्भइ सक. (लिह्यते) चाटा जाता है, २४५।
लिप्पइ सक. (लिम्पति) लीपता है, लेप करता है, १४९।
लिम्बडइ पुं. (निम्बके) नीम के पेड़ पर, ३८७।
लिसइ अक. (स्वपिति) सोता है, १४६।
लिह स्त्री. (रेखा) लकीर, ३२९।
लिहिआ वि. (लिखितम्) लिखा हुआ ३३५।
लिहिज्जइ कर्म. प्र. (लिख्यते) लिखा जाता है २४५।
लीला स्त्री. (लीला) खेल, क्रीड़ा, ३२६।
लीह स्त्री. (रेखा) लकीर, ३२९।
लुअ वि. (लूनम्) काटा हुआ २५८।
लुक्कइ अक. (निलीयते) छिपता है, ५५, ११६।
लुक्कु वि. (लीनः) लगा हुआ, छिपा हुआ, ४०१।
लुग्गो वि. (रुग्णः) बीमार; २२८।
लुञ्छइ सक. (मार्ष्टि) पोंछता है, १०५।

लुद्दं पुं. (रुद्रम्) शिव को, ३२६।
लुब्भइ सक. (लुभ्यति) लोभ करता है, १५३।
लुहइ सक. (मार्ष्टि) पोछता है, १०५।
लुहिलप्पिए वि. (रुधिरप्रियः) जिसको रक्त प्रिय है, ३०२।

लू—

" लुणइ सक. (लुनाति) काटता है, लूणता है, २४१।
" लुणिज्जइ सक. (लूयते) काटा जाता है, २४२।
" लुव्वइ सक. (लूयते) काटा जाता है, २४२।
लूरइ सक. (छिनत्ति) काटता है, १२५।
लेइ सक. (लाति) लेता है, ग्रहण करता है, २३८।
लेखडउ पुं. (लेखः) लिखावट, अंकित; ४२२।
लेप्पिणु सं कृ. (लात्वा) ग्रहण करके; ३७०, ४०४, ४०५।
लेवि सं. कृ. (लात्वा) ग्रहण करके, ३९५, ४४०।
लेविणु स. कृ. (लात्वा) ग्रहण करके, ४४१।
लेह स्त्री. (रेखा) लकीर, ३२९।
लेहिं सक. (लान्ति) वे ग्रहण करते है, ३८७।
लोअ पुं. (लोक) ससार, २६४।
" लोउ पुं. (लोक) ससार, वस्ती, ३६६ ४२०, ४२२, ४४२, ४४३।
" लोइ पुं. (लोके) संसार में, ४३८।
" लोअहो पुं. (लोकस्य) ससार के, ३६५।
लोअडी स्त्री. (लोमपुटी = कम्बलम्) कंबल, ४२२।
लोअण पुं. न. (लोचन) आँख, ४१४।
" लोअणइं न. पुं. (लोचनानि) आँखें, आँखों को, ३६५।
" लोअणेहिं न. पुं. (लोचनैः) आँखों से; ४२२।
" लोअणहिं न. पुं. (लोचनैः) आँखो से, ३५६।
" लोअणहं न. पु. (लोचनयो.) दोनों आंखो का, ३४८, ४०१!
लोक वि. (?) जन साधारण, ३२३।
लोणु न. (लवण, नमक, (लावण्य) सुन्दरता, ४१८, ४४४।
लोट्टइ अक. (स्वपिति) सोता है, लेटता है, १४६।
लोहें पुं. न. (लोहेन) लोह नामक धातु से, ४२२।
ल्हसइ अक. (स्रंसते) खिसकता है, सरकता है, १९७।
ल्हसिउं वि. (स्रस्त) खिसका हुआ, ४४५।
लिहक्कइ अक. (निलीयते) छिपता है, ५५।

रदिए स्त्री (रत्याः) रति नामक स्त्री के, ४४६।
रन्नु न. (अरण्यम्) जगल ३४१।
रफसो पुं. (रभसः) औत्सुक्य, उत्कठा; ३२५।
रभ्—
" आरभइ सक. (आरभते) प्रारम्भ करता है, १५५।

रम्—
" रमइ अक. (रमते) क्रीड़ा करता है; १६८।
" रमदि अक. (रमते) " " " ३१६।
" रमदे अक. (रमते) " " " २७४।
" रमते अक. (रमते) " " " ३१९।
" रमतु अक. (रमताम्) वह क्रीड़ा करे; ३०७।
" रमिअ स. कृ. (रन्त्वा) क्रीडा करके; २७१।
" रन्तूण स. कृ. (रन्त्वा) क्रीडा करके; २१२।
" रन्दूण स कृ. (रन्त्वा) क्रीडा करके; २७१।
" रन्ता स. कृ. (रन्त्वा) क्रीडा करके; २७१।
" रमिय्यते अक. (रम्यते) रमण किया जाता है, ३१५।
रम्पइ सक. (तक्ष्णोति) वह छीलता है, १९४।
रम्फइ सक. (तक्ष्णोति) वह काटता है, पतला करता है, १९४।
रम्फा स्त्री. (रम्भा) अप्सरा विशेष; ३२५।
रम्भइ सक. (गच्छति) जाता है; १६२।
रयण पुं. न. (रत्न) रत्न, जवाहर; ४०१, ४२२।
" रयणाइं पुं. न. (रत्नानि) रत्न, जवाहर, ३३४।
रयणिअरे पुं. (रजनीचरान्) राक्षसो को, ४४७।
रयणी स्त्री. (रजनी) रात्रि, ४०१।
रवइ सक. (रौति) बोलता है, रोता है, २३३।
रवण्णा वि. (रम्याः) सुन्दर, ४२२।
रवि पुं. (रवि) सूर्य, ४४४।
रसु पुं. न. (रस) मीठा, खट्टा आदि रस, मन का आनन्द, ४०१, ४४४।
रहवरि अ. (रथोपरि) रथ के ऊपर, ३३१।
रहु पुं. (रघु) नाम विशेष, ४४७।
राचा पुं. (राजा) राजा, ३०५।
राचिञा पुं. (राज्ञा) राजा से, ३०४।
राचिञो पुं. (राज्ञः) राजा का, ३०४।
राजपधो-राजपहो पुं. (राजपथः) राजमार्ग, २६७।
राजा पुं. (राजा) राजा, ३०४।
" राजं न. (राज्य) राज्य को, ३२३।
रामहं पुं. (रामयोः) (दो) राम का, ४०७।
राय वि. (रागायाः) प्रेम वाली का, ३५०।
रायइ अक. (राजते) चमकता है, शोभता है, १००।
राया पुं. (राजा) ३०४, ३२०, ३२३, ३२५।
राय पुं. (राजन्) हे राजा! ४०२।
रायं पुं. (राजानाम्) राजा को, (राजन्) हे राजा, २६४।
राइणो पुं. (राज्ञे, राज्ञः) राजा के लिये, राजा का, २६०।
रावण पु. (रावण) राक्षस का नाम विशेष ४०७।
रावेइ सक. (रञ्जयति) प्रसन्न करता है, रंग लगाता ४९।
राह स्त्री. (राधा) स्त्री का नाम विशेष, ४२०।
राही स्त्री. (राधा) स्त्री विशेष का नाम, ४२२।
राहु पुं. (राहु ग्रह विशेष, ३८२, ३९६, ४४४।
रि अ (रे सबोधने) अरे, ओ, ३९०।
रिअइ सक. (प्रविशति) घुसता है, प्रवेश करता है, १८३।
रिउ पुं. (रिपुः) दुश्मन, शत्रु, ३७६, ३९५, ४१६।
रिगइ अक. (प्रविशति, गच्छति) प्रवेश करता है, रेंगता है, २५९।
रिद्धिहिँ स्त्री (ऋद्धौ) संपत्ति में, ४१८।
रीडइ सक (मण्डयति) अलंकृत करता है, ११५।
रीरइ अक. (राजते) शोभता है, चमकता है, १००।
रुच्चइ अक. (रोचते) अच्छा लगता है, पसद पड़ता है, ३४१।
रुञ्जइ अक. (रौति) आवाज करता है, ५७।
रुणिझुणि न. (शब्दानुकरणे) शब्द विशेष बोलना, ३६८।
रुण्टइ अक. (रौति) आवाज करता है, ५७।
रुद्—
" रुअसि अक. (रोदिषि) तू रोता है, ३८३।
" रुअहि अक. (रोदिषि) तू रोता है, ३८३।
" रुवइ अक. (रोदिति) वह रोता है, २२६, २३८।
" रोवइ अक. (रोदिति) वह रोता है, २२६, २३८।
" रोइ अक. (रुदिहि) रोओ, ३६८।
" रोत्तुं हे कृ (रोदितुम्) रोने के लिये, २१२।
" रोत्तूण सं. कृ (रुदित्वा) रो करके, २१२।
" रोत्तव्वं विधि कृ. (रुदितव्यम्) रोना चाहिये, २१२।

" रुव्वइ कर्म प्र (रुद्यते) रोया जाता है, २४९।
" रुविज्जइ कर्म प्र (रुद्यते) रोया जाता है, २४९।

रुध्—
" रुन्धइ सक (रुणद्धि) रोकता है, अटकाता है, १३३, १२८, २३९।
" रुम्भइ सक (रुणद्धि) रोकता है, २१८।
" रुज्झइ सक (रुणद्धि) रोकता है, २१८।
" रुज्झइ कर्म प्र (रुध्यते) रोका जाता है, २४५।
" रुन्धिज्जइ कर्म प्र. (रुध्यते) रोका जाता है, २४५।
" रुद्धो वि (रुद्धा) रोकी हुई है, ४२२, ४२९, ४३१।
" अणुरुज्झइ कर्म प्र (अनुरुध्यते) अनुरोध किया जाता है, २४८।
" अणुरुन्धिज्जइ कर्म प्र अनुरुध्यते अनुरोध किया जाता है, २४८।
" उवरुज्झइ कर्म प्र. (उपरुध्यते) रोका जाता है, २४८।
" उवरुन्धिज्जइ कर्म प्र (उपरुध्यते) " " " २४८।
" संरुज्झइ कर्म. प्र (सरुध्यते) रोका जाता है, २४८।
" सरुज्झिहिइ कर्म. प्र (सरुन्धिष्यते) रोका जायगा, २४८।
" सरुन्धिज्जइ कर्म प्र. (सरुध्यते) रोका जाता है, २४८।
" संरुन्धिहिइ कर्म प्र (सरुन्धिष्यते) रोका जायगा, २४८।

रुवइ अक (रौति) शब्द करता है, ५७।

रुष्
" रूसइ अक. (रुष्यति) क्रोध करता है २३६, २५८।
" रूसेसु अक (रोषिष्यामि) क्रोध करुंगी, ४१४।
" रूसिज्जइ कर्म प्र. (रुष्यते) क्रोध किया जाता है, ४१८।
" रुट्ठी वि (रुष्टाम्) क्रोधित को, ४१४।

रुहिरें न (रुधिरेण) खून से, रक्त से, ४१६।
रूअडउ पु न (रूपक) धन को रुपया, ४१९।
रूसणा वि (रोषयुक्ता.) क्रोध सहित, ४१८।
रेअवइ सक (मुञ्चति) छोडता है, ९१।
रेसि, रेसिं अ (तादर्थ्ये निपात.) उसके लिये, ४२५।
रेहइ अक. (राजते) शोभा पाता है, दीपता है, १००।
रोञ्चइ सक (पिनष्टि) पीसता है, १८५।
रोमन्थइ अक. (रोमन्थयति) वागोलता है, चबाता है, ४४।
रोमावलिहे वि (रोमावल्या) केशवाली का, ३५०।
रोस पु. (रोष) गुस्सा क्रोध, ४३९।
रोसाणइ सक (मार्ष्टि) शुद्ध करता है, १०५।

[ल]

लउ पु. (लयम्) विलीनता को, ४१४।
लक्खु वि (लक्ष्यम्) लक्ष्य, उद्देश्य, ३२२।
लक्खेहिं पु न. (लक्षैः) लाखो (रुपयो) से, ३३५।

लग्—
" लग्गइ सक. (लगति) लगता है, सम्बन्ध करता है, २३०, ४२०, ४२२।
" लग्गिवि स कृ (लगित्वा) लग करके, सम्बन्ध करके, ३३९।
" लग्ग वि (लग्न) लगा हुआ, सबध किया हुआ, ३२६।
" लग्गा वि. (लग्नानि) लगे हुए, सबध किये हुए, ४४५।
" विलग्गी वि (विलग्न) लगी हुई, सबध की हुई, ४४५।

लच्छि स्त्री. (लक्ष्मी) धन–सपत्ति, द्रव्य ४३६।

लज्ज्
" लज्जइ अक (लज्जते) शरमाता है, १३०।
" लज्जिज्जइ कर्म प्र (लज्ज्यते) लज्जा की जाती है, ४१९।
" लज्जिज्जन्तु अक. (अलज्जिष्यत्) लज्जित होती, ३५१।

लब्भा पु (राज्ञा) राजा से, ३०२।
लढइ सक (स्मरति) याद करता है, ७४।

लप्—
" लपत्ति सक (लपति) बोलता है, ३१९।
" लपते सक (लपति) बोलता है, ३१९।
" लपित वि (लपितं) बोला हुआ, ३०४, ३२४।
" विलवइ सक. (विलपति) विलाप करता है, १४८।

लभ्—
" लहहि सक. (लभसे) तू प्राप्त करता है, ३८३।
" लहइ सक. (लभते) वह प्राप्त करता है, ३३५।
लहहुं सक (लभामहे) हम प्राप्त करते हैं, ३८६, ४११।

वयण न. (वदन) मुख, ३६६।
" वयणु न (वदनं) मुख, ३५०।
" वयणु न. (वचन) वचन, ३६७।
" वयणाइं न. (वचनानि) वचन शब्द, ३४०।
वज्जियदे वि. (वर्जितः) मना किया हुआ, २३२।
वर्=वरइ सक. (वृणोति) पसन्द करता है, २३४।
" वारिआ वि. (वारितः) रोका गया था, ३३० ४३८।
" निवारेइ सक. (निवारयति) निषेध करता है २२।
" संवरइ सक. (सवरति) समेटता है, रोकता है, ८२।
" संवरेवि, हे. कृ. (सवरीतुम) समेटने के लिये, ४२२।
" वर वि (वर) श्रेष्ठ, भार्या पति, ३६०।
" वरं म.(वर) वरदान को, ३२३।
" वरहो वि. (वरस्य) श्रेष्ठ के ४४४।
" वरेहिं वि. (वरैः) श्रेष्ठो से, ४८२।
वरहाडइ अक. (निःसरति) बाहिर निकालता है, ७९।
वरि अ. (वरं) श्रेष्ठ, ४०।
वरिस पुं. न. (वर्ष) बारह महीनो का समय, ३३२, ४१८।

वत्—
" निअत्तइ अक. (निवर्तते) लौटता है, ३९५।
" निवट्टाइ वि. (निवृत्तानाम्) पीछे आये हुओ का, ३३२।
" पयट्टइ अक. (प्रवर्तते) आगे बढ़ती है, ३४७।
" पवत्तेह सक. (प्रवर्तस्व, प्रवृति करो २६४।
" विवट्टइ अक. (विवर्तते, धसता है, गिर पड़ता है, ११८।

वध्—
" वड्डइ (वर्धते) बढ़ता है, २२०।
" परिअड्डइ अक. (परिवर्धते) बढता है, २२०।

वष्—
" वरिसइ सक. (वर्षति) वरसता है, २३५।
वलइ अक. (वलति) लौटता है, १७६।
" वलाहु अक. (वलामहे) हम सुख पूर्वक रहते हैं; ३८६, ४२६।
" वलन्तेहिं व. कृ. (वलन्तै सुख पूर्वक रहते हुओ से, ४२२।
वलइ सक (गृह्णाति, ग्रहण करता है, २०६।
लइ सक. (आरोपयति) ऊपर चढ़ाता है, ४७।

वलग्गइ अक. (आरोहति) चढ़ता है, २०६।
वलणं न. (वरणम्) पसन्द करना, रहना, २९३।
वलणाइं न (वलनानि) आडा टेढा पना, ४२२।
वलन्ति अक. (ज्वलन्ति) जलते हैं, ४१६।
" वालिउ वि. (ज्वालित) जलाई हुई, प्रज्वालित, ४१८।
वलय पुं. न (वलय) चूडी, कंकण, ४४४।
वलया पु. न. (वलयानि चूडियां, ३५२।
वल्लह वि. (वल्लभ) प्रिय पति, ४४४।
" वल्लहउं वि. (वल्लभक) प्यारा, ३५८, ४२६।
" वल्लहइ वि (वल्लभे) प्रिय में, प्रिय के लिये, ३८३।
ववसाउ पुं. (व्यवसायः) धंधा, व्योपार, ३८५, ४२२।
वश पुं. न. (वश) काबू में, कारण से, २८८।
वशाहे वि. (वसायाः) रहने वाली का; ४४७।
वश्चल वि. (वत्सलः) प्रिय, स्नेही; २९५।
वश्चा वि. (वत्सा) प्रिय; लड़की ३०२।

वस्—
" वसन्ति अक. (वसन्ति) रहते है, ३०९।
" निवसन्तेहिं वि (निवसद्भिः) रहते हुओं से, ४२२।
" पवसइ सक. (प्रवसति) अन्य देश को जाता है, २५९।
" पवसन्तेण वि. (प्रवसन्तेन) परदेश में रहते हुए से, ३३३, ३४२, ४१९।
" पवसन्ति वि. (प्रवसता) प्रवास मे रहने वाले के साथ, ४२२।
वस पुं. न. (वश) कारण से, बल से, ४४२।
" वसिण पुं. न. (वशेन) वश से, कारण से, ३८७, ३९०।
" वसि पुं. न. (वशे) वश मे, काबू मे, नियन्त्रण मे, ४२७।
वसुआइ अक. (उद्वाति) सूखता है, ११।
" वसुआति अक. (उद्वाति) सूखता है, ३१८।
" वसुआदि अक. उद्वाति) सूखता है, २७४।
वसुधा स्त्री. (वसुधा) पृथ्वी, ३२६।

वह्—
" वहइ स्त्री. (वहति, वहते) धारण करता है, ढोता है, ४०१।
" वहिज्जइ कर्म. प्र. (उह्यते) धारण किया जाता है, ले जाया जाता है, २४५।
" वुब्भइ कर्म. प्र. (उह्यते) धारण किया जाता है, ले जाया जाता है, २४५।

" वाहिइ वि (वाहित) प्राप्त हुआ है, ३६५।
" उव्वहइ सक (उद्वहति) धारण करता है उठाता है, ३६०।
" निव्वहइ अक (निर्वहति) निर्वाह करता है, पार पडता है, ३६०।
वहिल्लउ अ (शीघ्रम्) जल्दी, ४२२।
वहु स्त्री (वधू) वहू, पुत्र की पत्नी, ४०१।
वा अ (वा) अथवा, ३०२।
वाइ अक. (म्लायति) सूखता है, १८।
वाएं पु (वातेन) हवा से, ३४३।
वाणारसिहि स्त्री (वाराणसी) वनारस नामक नगरी को, ४४२।
वायसु पु (वायस) कौआ, ३५२।
वार अ (वारम्) वार वार, पुन. पुन ३८३, ४२२।
वारि न. द्वारे) दरवाजे पर, ४३६।
वालइ सक (वालयति) मोडता है, वापिस लौटाता है, ३३०।
वावम्फइ अक (श्रमकरोति) परिश्रम करता है, ६८।
वावरेइ अक (व्याप्रियते) काम में लगाता है ८१।
वावेइ सक (व्याप्नोति) व्याप्त करता है, १४१।
वासारत्ति स्त्री.(वर्षारात्रि) वर्षा ऋतु की रात मे, ९५।
वासु न (वासम्) निवास, रहना ४०१।
वासेण पु (व्यासेन) व्यास ऋषि से, ३९९।
वाहरइ सक (व्याहरति) बोलता है, कहता है, ७६।
वाहिप्पइ कर्म प्र (व्याह्रियते) बोला जाता है, २५३।
वि अ (अपि) भी, ३३२, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३४१, इत्यादि।
विअट्टइ सक (विसवदति) अप्रामाणित करता है, १२९।
विअम्भइ अक (विजृम्भति) विकसित होता है, १५७।
विअयवम्म पु (विजयवर्मन्) हे विजयवर्मन् ! २६४।
विअलिद वि (विगलित) नीचे गिरे हुए, २८८।
विआलि पु (विकाले) समय से पूर्व मे ही, ३७७ ४०१,४२४।
विइण्णु वि वितीर्ण) विखरा हुआ; अर्पित, ४४४।
विउडइ सक. (नश्यति) नष्ट करता है ३१।
विओए पु (वियोगेन) जुदाई से, ४१९।
विओइ पु (वियोगे) जुदाई मे, ३६८।
विकिणइ सक. (विक्रीणाति) वेचता है, ५२।
विकोसइ अक. (विकोशयति) कोश रहित होता है, फैलता है; ४२।
विक्केइ सक (विक्रीणाति) वेचता है, ५२, २४०।
" विक्कि अइ सक. (विक्रीणाति) वेचता है, २४०।
विच्चि न. दे) (वर्त्मनि) मार्ग में, ३५०, ४२१।
विच्छोलइ सक (कम्पयति) कपाता है ४६।
विच्छोहगरु वि विक्षोभकरम्) घवराहट करने वाली को, ३९६।
विच्छोडवि स कृ (विच्छोट्य) छुडा करके, ४३९।
विजयसेनेन पु . विजयसेनेन) नाम विशेष, विजयसेन से, ३२४।
विञ्ञाणं पु (विज्ञानम्) विशिष्ट प्रकार का विशेष ज्ञान; ३०३।
विट्टालु पु (दे) (अस्पृश्य ससर्ग) अपवित्र सगति, ४२२।
विडविड्डुई सक. (रचयति वनाता है, ९४।
विढत्तउ वि (अर्जितम्) कमाया हुआ; पैदा किया हुआ, ४२२।
विढत्तं वि. (अर्जितम् कमाया हुआ, पैदा किया हुआ, २५८।
विढप्पइ कर्म. प्र (अर्ज्यते) पैदा किया जाता है, २५१।
विढवइ सक (अर्जयति) उपार्जन करता है, १०८।
विढविज्जइ कर्म प्र. (अर्ज्यते) पैदा किया जाता है, २५१।
विणासहों पु (विनाशस्य) नाश का, ४२४।
विणु अ. (विना)रहित, ३५७, ३८६, ४२१, ४२६, ४४०, ४४१।
वित्थारु पु (विस्तार) फैलाव, ३९५।
विद्दवइ सक (विद्रवति विनाश करता है, खर्च करता है; ४१९।
विधिणा पु स्त्री (शौ.) (विधे) भाग्य का, भेद का, २८२, ३०२।
विन्नासिआ वि (विनाशिते) नष्ट हो गये, ४१८।
विप्पगालइ प्रेर (नाशयति) नष्ट करता है, ३१।
विप्पिअआरउ वि (विप्रियकारक)बुरा करने वाला ३४३
विप्पिय वि (विप्रिय) जो प्यारा न हो, ४२३।
विमल वि (विमल) स्वच्छ, निर्मल, ३८३।
विम्हओ पु. (विस्मय) आश्चर्य, ७४।
विम्हइइ पु (विस्मये) आश्चर्य मे, ४२०।

विय्याहले पुं. (विद्याधर) एक जाति का देव; २९२
विरइ अक. (गुप्यति) (भनक्ति) व्याकुल होता है तोड़ता है; १०६, १५० ।
विरमालइ सक. (प्रतीक्षते) राह देखता है; ९२ ।
विरल वि. (विरल) कोई कोई; कुछ एक; ३४१ ।
विरला वि. (विरलाः ,, ,, ,, ,, ४१२ ।
विरल्लई सक. (तनति) विस्तार करता है; फैलाता है; १३७
विरह पु. (विरह) वियोग जुदाई; ४१५, ४२९, ४४८ ।
विरहु पु (विरहः) ,, ,, ४२३ ।
विरहहो पुं. (विरहस्य) वियोग की, जुदाई की ४३२ ।
विरहिअह वि. (विरहितानाम् वियोग वालों के रहित वालों के, ३७७, ४०१ ।
विराइ अक. (विलीयते) नष्ट होता है, पिघलता है ५६ ।
विरेअइ सक. (विरेचयति) मल को बाहिर निकालता है, २६ ।
विरोलइ सक. (मथ्नाति) विलोडन करता है, १२१ ।
विलम्बु अक. (विलम्बस्व) तू देरी कर, ३८७ ।
विलासिणीउ स्त्री. (विलासिनीः) आनन्द देने वाली, ३४८ ।
विलिज्जइ प्रेर. (विलीयते) लज्जा की जाती है नष्ट होता है, ५६, ४१८ ।
विलुम्पइ सक. (कांक्षति) इच्छा करता है १९२ ।
विलोट्टइ अक. (विसवदति) वह असत्य साबित होता है, १२९ ।
विवइ स्त्री. (विपद्) विपत्ति, दुःख, ४०० ।
विवट्टइ अक. (विवर्तते) वह बसता है गिर पड़ता है, ११८ ।
विवरीरी वि. (विपरीता) उल्टी, अनुकूल नही ४२४ ।
विश्—
" परिविट्ठा वि. (परिविष्टाः) (युद्ध में) सम्मिलित हुए ४०९ ।
" पविसामि सक. (प्रविशामि) मैं प्रवेश करता हूँ, २७८ ।
" पविशामि सक. (प्रविशामि) मैं प्रवेश करता हूँ,
" पविसइ सक. (प्रविशति) वह प्रवेश करता है, १८३ ।
" पविशदु सक. (प्रविशतु) वह प्रवेश करे, ३०२ ।
" पवीसइ सक. (प्रविशति) वह प्रवेश करता है, ४४४ ।
" पइसीमु सक. (प्रवेक्ष्यामि) प्रविष्ट हो जाऊंगी, ३९६ ।
" पइट्ठ वि. (प्रविष्ट) घुसा हुआ, ३४०, ४३२, ४३३ ।
" पइट्ठउ वि. (उपवेशितः) जमा हुआ, बैठा हुआ ४४४ ।
" पइट्ठि वि. (प्रविष्ठा) प्रवेश पाई हुई, ३३० ।
विसंवयइ अक (विसंवदति) वह असत्य साबित होता है, १२९ ।
विसगण्ठि स्त्री. (विष-ग्रन्थि) विष की गाठ, ४२०, ४२२ ।
विसट्टइ अक. (दलति) फटता है, टूटता है, १७६ ।
विसण्ठुल वि. (विसण्ठुला) अव्यवस्थित, पथ-भ्रष्ट, ४३६ ।
विसम वि. (विषम) जो सम न हो, कठोर, ३५०, ३६७ ।
' विसमो वि. (विषमः) दारुण, कठोर, असमान, ३०९ ।
" विसमी वि. (विषमा) समान नहीं, ४०६ ।
" विसमा वि. (विषमा) " " ३९५ ।
विसहारिणी वि. (विष-हारिणी = जलहारिणी) जहर दूर करने वाली, ४३९ ।
विसाओ पुं. (विषादः, खेद, दुःख; १५५ ।
" विसाउ पुं. (विषादः) मानसिक-ताप, ३८५, ४१८ ।
विसाणो न. (विषाणः) सींग, हाथी-दान, ३०६ ।
विसाहिउं वि. (विसाधितम्) सिद्ध किया हुआ, ३८६, ४११
विसूरइ अक. (खिद्यति) खेद अनुभव करता है, १३२, ३४०
विसूरहि अक. (खिद्यस) तू खेद अनुभव करता है ४२२ ।
विस्नु पुं. (विष्णुम्) भगवान् विष्णु को, २८९ ।
विस्मये पुं. (विस्मये) आश्चर्य मे, २८९ ।
विहलिअ वि. (विह्वलित) घबराया हुआ, ३६४ ।
विहवो पुं. (विभवः) धन-सम्पत्ति, ६० ।
,, विहवे पु. (विभवे) धन-सम्पत्ति मे, ४२२ ।
,, विहवि पुं. (विभवे) ,, ,, ४१८ ।
विहसन्ति अक. (विकसन्ति) खिलते हैं, फूलते हैं, ३५५ ।
विहाणु पुं. (दे.) (विभातम्) प्रभात, प्रातःकाल, ३३०, ३६२, ४२० ।
विहि पुं. (विधि) भाग्य, ब्रह्मा, ३८५ ३८७, ४१४ ।
विहीरइ अक. (प्रतीक्षते) राह देखता है, १९३ ।
विहेइ अक. (बिभेति) डरता है, २३८ ।
विहोडइ सक. (ताडयति) मारता है । २७ ।
वीजइ सक. (वीजयति) हवा करता है, पङ्खा करता है, ५ ।
वीण स्त्री. (वीणा) बाजा विशेष, ३२९ ।
वीलयिणे पुं. (वीरजिनः) महावीर स्वामी, २८८ ।

शुल पुं. (सुर) देवता; २८८।
शुष्—
" सूसइ अक. (शुष्यति) सूखता है; २३६।
" सोसउ अक. (शुष्यतु) सूखे, ३६५।
शुष्क वि. (शुष्क) सूखा, रस रहित; २८९।
शुस्तिदे वि. (सुस्थितः) अच्छी तरह से जमा हुआ; २६१।
शुस्टु वि. (सुष्ठु) सुन्दर, श्रेष्ठ; २९०।
शे सर्व. (सः) वह ३०२।
शोके पु. (शोकः) रंज, उदासीनता; २९९।
शोणिदाह न. (शोणितस्य) रक्त का, खून का; २९९।
शोभणं न. (शोभनम्) सुन्दर; २८८।
" शोभणे न. (शोभने) सुन्दर में; ३०२।
श्रम्—
" पलिस्सन्ता वि. (परिश्रान्ता.) दुःखी हो गये हैं, २८२।
" पलिश्शन्ता वि. परिश्रान्ताः) थक गये हैं; ३०२।
" विसमइ अक. (विश्राम्यति) विश्राम करता है, १५९।
श्रु—
" सुणइ सक. (शृणोति) सुनता है; ५८, २४१।
" शुणादु सक. (शृणोतु) सुने, ३०२।
" सोहीअ अक. (अशोभत) शोभा पाया, ४४७।
" सुव्वइ कर्म. प्र. (श्रूयते) सुना जाता है, २४२।
" सुणिज्जइ कर्म. प्र (श्रूयते) सुना जाता है, २४२।
" शुणिअदे कर्म. प्र. (श्रूयते) सुना जाता है, ३०२।
" सुणिऊण स. कृ. (श्रुत्वा) सुन करके, २४१।
" सोऊण सं. कृ. (श्रुत्वा) सुन करके, २३७, २४१।
" शुदं वि. (श्रुतम्) सुना हुआ, २८८।
" सुअ वि. (श्रुता) सुनी, ४३२।
श्लिष्—
" सिलेसइ सक. (श्लिष्यति) आलिंगन करता है १९०।
श्वस्—
" नीससइ अक. (निःश्वसिति) वह निःश्वास लेता है,

[स]

स सर्व. (सः) वह, ३७०, ४०६, ४१४, ४२९।
सइ अ. (स्वयम्) खुद, ३९५, ४३०।
सइं अ. (स्वयम्) खुद, ३३९, ४०२।
सइला पुं. (शैलाः) पर्वत, ३२६।
सउणि पुं. (शकुनिः) व्यक्ति विशेष का नाम, ३९१।
सउणिहं पुं. (शकुनीनाम्) पक्षियों के लिये, ३४०।
सउणाह पुं. (शकुनीनाम्) पक्षियो के, ४४५।
सउन्तले स्त्री. (शकुन्तले) हे शकुन्तला, २६०।
सएण वि. (शतेन) सौ से, ३३२।
सएहिं वि. (शतेषु) सैंकड़ो मे, ३४५।
संवलिअ वि. (संवलितम्) व्याप्त, मिलित, ४३९।
सवेल्लइ सक. (सवेष्टते) अच्छी तरह से लपेटता है, २२२।
संसइ अक. (स्रंसते) खिसकता है, गिरता है, १९७।
सकण्णी वि (सकर्णा) नोकदार, तेज और तीखी अणी वाली ३३०।
सक्कारं न. (सत्कारं) सन्मान, २६०।
सक्को वि. (शक्तः) ताकत वाला, ३०९।
सगरपुत्त पुं. (सगरपुत्र) सगर राजा का लडका, ३२४।
सकडु न. (संकटम्) विषम-स्थिति, कठिनाई, ३९५।
संकरु पुं. (शंकर) महादेव, शान्ति करने वाला, ३३१।
संखुड्डइ अक. (रमते) क्रीड़ा करता है खेलता है, १३८।
संखो पुं. (शङ्खः) शंख, समुद्रीय जीव-शरीर, ३०९।
संखहं पुं. (शखानाम्) शखों का, ४२२।
संगमि पुं. (सगमे) मिलाप में, सम्मेलन होने पर, ४१८।
संगर न. (सगर) युद्ध, लडाई, ३४५।
संगलइ सक. (संघटते) मिलता है, संघटित करता है, ११३।
संगहो पुं. न. (सगाय) संगति के लिये, ४३४।
सघइ सक. (कथयति) कहता है, २।
सच्चवइ सक. (पश्यति) देखता है, १८१।
सज्जणु पुं (सज्जनः) अच्छा आदमी, ४२२।
सज्जणहं पुं. (सज्जनानाम्) अच्छे आदमियों का, ४२२।
सज्झु पुं. (सह्यः) सह्य नामक पर्वत विशेष, ३७०।
संचि सक. (संचिनु) इकट्ठे कर, सग्रह कर, ४२२।
सञ्ञा स्त्री. (संज्ञा) नाम, ३०३।
सण्ढो वि. पुं. (षण्ढः) नपुंसक, ३२५।
सतनं न. (सदनम्) घर, भवन, मकान, ३०७।
सत्थ वि. (स्वस्थ) निरोग, तन्दुरुस्त, ३९६ ४२२।
सत्थरि पुं. न. (स्रस्तरे) बिस्तरे पर, बिछौने पर,
सत्थहिं न. (शस्त्रैः) हथियारों से, ३५८।

सरेहिं पुं. न. (सरोभिः) तालावो से, ४२२।
सप्—
" उवसप्पइ सक. (उपसर्पति) पास मे सरकता है ३९।
" उवसप्पणीआ वि. (उपसर्पनीया) पास मे सरकने योग्य ३०२।
सलज्ज वि. (सलज्जम्) लज्जा सहित को ४३०।
सलहइ सक. (श्लाघते) प्रशंसा करता है, ८८।
सलिल पुं. न. (सलिल) जल, पानी ३९५।
" सलिळं पुं. न. (सलिल) जल, पानी, ३०८।
सलिल वसणं न. (सलिल वसनम्, पानी वाला कपडा. ११७।
सलोणी वि. (सलावण्या) सौन्दर्य वाली, ४२०।
सलोणु वि. (सलावण्यम्) सुन्दरता से युक्त. ४४५।
सल्लइउ स्त्री. (सल्लकी) वृक्ष-विशेष को, ३८७।
" सल्लइहिं स्त्री. (सल्लकीभिः) सल्लकी नामक वृक्षो मे, ४२०।
" सव्व वि. (सर्व) सब, ४२२।
" सव्वु वि. (सर्व) सब, ३६६, ४३८।
" सव्वस्स वि. (सर्वस्य, सर्वस्मै) सबका सबके लिये ३१६।
" सव्वहिं वि. (सर्वैः) सभी मे, ४२९।
सव्वंग वि. (सर्वाङ्ग) सपूर्ण, सर्व-शरीर-व्यापी, २२६, ४१२।
सव्वंगें वि. (सर्वाङ्गेण सपूर्ण, रूप से, सपूर्ण शरीर से ३९६।
सव्वंगाउ वि. (सर्वाङ्गी) सभी अंगो वाली, ३४८।
सव्वज्ञो पुं. (सर्वज्ञः) सब कुछ जानने वाला, ३०३।
सव्वासणु पुं. स्त्री. (सर्वाशन) सब कुछ खा जाने वाला, अग्नि, ३९५।
ससणेहो वि. (सस्नेहा) प्रेम सहित, ३६७।
ससरीरो वि. (सशरीरः) शरीर सहित, ३२३।
ससहरु पु. (शशधर.) चन्द्रमा, ४२२।
ससि पुं. (शशि) चन्द्रमा, ३८२, ३९५, ४१८, ४४४
ससी पुं. (शशी) चन्द्रमा, ३०९।
ससिरेह स्त्री. (शशिलेखा) चन्द्रमा की लकीर, ३५४।
सह्—
" सहेसइ अक. (सहिष्यते) सहन करेगा, ४२२।
" सहेव्वउं विधि. कृ (सोढव्य) सहन करने के योग्य. ४३८।
सह अ. (सह) साथ, ३३३।
सहइ अक. (राजते) शोभा पाता है, १००।
सहहिं अक. (शोभन्ते) शोभा पाते है, ३८२।
सहसत्ति अ. (सहसा इति) अचानक ऐसा, ३५२।
सहाव पु. (स्वभाव) प्रकृति, निसर्ग, ४२२।
सहि स्त्री. (सखि सहेली, ३३२, ३७९, ३९०, ३९८, ४०१, ४१४, ४१७, ४४४।
सहिए स्त्री (सखिके) हे सखि! ३५८, ३६७।
सहुँ अ. (सह) साथ ४१९।
सा स्त्री. सर्व (सा) वह, ३६८, ४३९।
साअड्डइ सक. (कर्षति) खींचता है, खेती करता है. १८७।
सामग्गइ सक, (श्लिष्यति) आलिङ्गन करता है; १९०।
सामन्नु वि. (सामान्यः) साधारण ४०८।
सामयइ सक. (प्रतीक्षते) राह देखता है. १९३।
सामला वि. (श्यामलः) काला वर्ण वाला, ३३०।
सामलो वि. (श्यामला) काला वर्ण वाली, ३४४।
सामि वि. (स्वामी) मालिक, ३३४, ४३०।
सामिउ वि. (स्वामी) मालिक, अधिपति, ४०६।
सामिअ वि. (हे स्वामिन्) हे मालिक! ४२२।
सामिअहो वि. (स्वामिनः) मालिक के, ३४०।
सामिहुं वि. (स्वामिभ्यः) मालिको से, ३४१।
सायरु पुं. (सागर.) समुद्र, ३३४।
सायरहो पुं. (सागरस्य) समुद्र के ३९५, ४१९।
सायरि पुं. (सागरे) समुद्र में, ३८३।
सार पुं. न. (सार) धन, न्याय, बल, परमार्थ, फल, ४२२।
सारइ सक. (प्रहरति) चोट करता है, ८४।
सारवइ सक. (समारचयति) साफ करता है, ठीक ठाक करता है, ९५।
सारस पुं. (सारस) पक्षी विशेष, पशु विशेष, ३७०।
सारिक्खु न. (सादृक्ष्य) समानता, सरीखाई, ४०४।
सारु पुं. न. सारम्) न्याय, सार, बल, ३६५।
साव वि. (सर्व) सब, ४२०।
सावणु पुं. (श्रावणः) सावन का महीना; ३५७, ३९६।
सास पुं (श्वासान्) सांसो को, ३८७, ३९५।
साहइ सक. (कथयति) कहता है, २।
साहट्टइ सक. (संवृणोति) समेटता है; ८२।

साहरइ सक. (संवृणोति) संवरण करता है, ८२।
साहु वि [सर्व.] सभी, सब, ३६६, ४२२।
सिंगहु न (शृंगेभ्य) चोटियों से, ३३७।
सिच्—
"-सिंचइ सक (सिञ्चति) सींचता है, छिटकता है ९६, २३९।
" सेअइ सक (सिचति) सींचता है, ९६।
" ससित्तउ वि. (ससिक्तम्) भीगे हुए, गीले हुए, ३९५।
सिज्जिरीए वि (स्वेदन शीलाया) पसीने वाली का, २२४।
सिद्धत्था वि पु (सिद्धार्थान्) सिद्ध पुरुषों को, ४२३।
सिध्—
" सिज्झइ अक (सिध्यति) सिद्ध होता है, २१७।
" निसेहइ सक (निषेधति) निवारण करता है १३४।
सिनातं वि (स्नातम्) स्नान किये हुए को, ३१४।
सिप्पइ कर्म प्र (सिच्यते) सींचा जाता है २५५।
सिम्पइ सक (सिञ्चति) सींचता है, ९६।
सिम्भो पुं (श्लेष्मा) कफ, शरीर की धातु विशेष, ४१२
" सिरु न (शिर) माथा, मस्तिष्क ४४५।
" सिरेण न (शिरसा) माथे से, ३६७।
" सिरे, सिरम्मि, सिरंमि न (शिरसि) माथे पर, माथे में, ४४८।
सिरि न (शिरसि) माथे पर, ४२३, ४४९।
सिरि स्त्री (श्री) लक्ष्मी, ३७०, ४०१।
सिल स्त्री (शिला) बड़ा पत्थर विशेष, ३३७।
सिलायलु न (शिलातलम्) पत्थर का ऊपरी भाग, ४४१।
सिलेसइ सक (श्लिष्यति) आलिङ्गन करता है १९०।
सिवतित्थ न (शिवतीर्थम्) शिवजीवाला तीर्थस्थान ४४२
सिवु पु न (शिवम्) मोक्ष को, ४४०।
सिव्वइ सक (सीव्यति) सीता है सांधता है, २३०।
सिशिर पु (शिशिर) ऋतु विशेष, माघ फागुन की ऋतु, ४१५
सिसिरु पु (शिशिर) " " " " ३५७।
सिहइ सक (स्पृहयति) इच्छा करता है, ३४ १९२।
सिहिकढणु न (शिखिक्वथनम्) आग पर पकाना, ४३८।
सीअल वि (शीतल) ठंडा, शान्त, ४१५।
सीअलु वि (शीतल) ठंडा, शान्त, ३४३।
सीअला वि (शीतला) ठंडी, शान्त, ३४३।
सीमा स्त्री (सीमा) हद, मर्यादा, सीमा, ४३०।
सील न (शील) धर्म, व्रत, ब्रह्मचर्य, ४२८।
सीळं न (शीलम्) " " " ३०८।
सीसइ सक (कथयति) कहता है, २।
सीसु पु न (शीर्षम्) माथा, (शीर्षे) माथे पर, ३८९, ४४६।
सीसो पु (शिष्य) चेला, २६५।
सीह पु (सिंह) नाहर, सिंह, ४०६।
सीहु पु (सिंह) नाहर, सिंह ४१८।
सीहहो पु (सिंहेन) सिंह से, नाहर से, ४१८।
सु सर्व (स) वह, ३६७, ३८३, ४१४, ४१८, ४२२
सुअइ अक [स्वपिति] सोता है, १४६।
सुअंहि अक [स्वपन्ति] सोते हैं, ३७६, ४२७।
सुअणु वि पु [सुजन] सज्जन पुरुष, ३३६, ४०६।
सुअणस्सु वि. पु (सुजनस्य) अच्छे आदमी का, ३३८ ३७५, ३८९, ४११।
सुइणेहिं वि. पु (सुजनैः) अच्छे आदमियों से, ४२२।
सुइणन्तरि न. (स्वप्नान्तरे) स्वप्न-अवस्था में, ४३४।
सुइसत्थु न (श्रुतिशास्त्रम्) वेद-शास्त्र, ३९९।
सुकम्म न. (सुकर्म) अच्छा काम, २६४।
सुकिउ न (सुकृतम्) पुण्य, पवित्र काम, ३२९।
सुकिदु न (सुकृतम्) " " " ३२९।
सुकृद न. (सुकृतम्) " " " ३२९।
सुक्कहिं अक. (शुष्यन्ति) सूखते हैं, ४२७।
सुक्खु न (सौख्यम्) सुख, ३४०।
सुघें न (सुखेन) सुख से, ३९६, ४१०।
सुज्जो पु. (सूर्य) रवि, आदित्य, ३१४।
सुट्ठु वि. (सुष्ठु) अच्छा श्रेष्ठ, ४२२।
सुणउ पु. (शुनक) कुत्ता, ४४३।
सुत्त न. (सूत्रम्) सूत्र शास्त्र, २८७।
सुनुसा स्त्री (स्नुषा) पुत्र-वधू, ३१४।
सुन्दर वि (सुन्दर) रूपवान्, ३४८।
सुपलिगढदी वि (सुपरिगृहीत) अच्छी तरह से ग्रहण किया हुआ, २८४।
सुपुरिस वि (सुपुरुष) अच्छा पुरुष, ३६७, ४२२।
सुभिच्चु पु. (सुभृत्य) अच्छा नौकर, ३३४।
सुमरणु न (स्मरणम्) याद, स्मृति, ४२६।
सुम्मिलाए स्त्री. (सूर्मिलया) स्त्री विशेष से, २८४।
सुय्यो पु. (सूर्य) रवि, सूरज, २६६।
सुरउ न (सुरतम्) मैथुन क्रिया, ३३२, ४२०।
सुवंसहं पु (सुवंशानाम्) अच्छे वंश वालों का, ४१९।
सुवण्णरेह स्त्री. (सुवर्ण रेखा) सोने की लकीर, ३३०।

" फोडन्ति सक (स्फोटयन्ति) फोडते हैं, विदारण करते हैं, ४२२, ४३० ।
" फोडेन्ति सक (स्फोटयत) दो फोडते हैं ३५० ।
" फुट्टि सक. (स्फुट) फूट जा, फट जा, ४४२ ।
" फुट्ट सक (स्फुटितानि) फूट गये, टूट गये, ३५२ ।
" फुट्टि सक (स्फुट) फूट जा, ३५७ ।

स्मर्—

" सरइ सक (स्मरति) याद करता है, ७४ ।
" सुमरइ सक (स्मरति) याद करता है, ७४ ।
" सुमरि सक (स्मर) याद कर, ३८७ ।
" सुमरहि सक. (स्मर) याद कर, ३८७ ।
" सुमरिज्जइ कर्म प्र (स्मर्यते) स्मरण किया जाता है, ४२६ ।
" विम्हरइ सक (स्मरति) याद करता है; ७४, ७५ ।

स्वप्—

" सुअइ अक. (स्वपिति) सोता है, नीद लेता है, १४६ ।
" सुअहिं अक. (स्वपन्ति) सोते हैं, ३७६, ४२७ ।
" सोएवा विधि कृ (स्वपितव्य) सोना चाहिये, ४३८ ।

[ह]

ह अ (पाद पूरणे) पाद-पूर्ति अर्थ मे आता है ६७ ।
हउं सर्व. (अहम्) मैं, ३३८, ३४०, ३७०, ३७१, ३७९, ३९१, ४१० ४११, ४२०, ४२२ इत्यादि
हंसो पु. (हंस) सफेद वर्ण वाला पक्षी विशेष, २८८ ।
हक्खुवइ सक (उत्क्षिपति) ऊंचा करता है, उठाता है, १४४ ।
हगे सर्व (अहम्) मैं, २८२, २९९, ३०१, ३०२ ।
हञ्जे अ (चेटी–आन्हाने) { दासी को बुलाने के समय मे बोला जाने वाला शब्द विशेष, २८१, ३०२ ।
हणइ सक (शृणोति) सुनता है, ५८ ।
हत्थउड पु न. (हस्त) हाथ, ४०५ ।
हत्थडा पु न (हस्तौ) दो हाथ, ४३९ ।
हत्थि पु (हस्ती) हाथी, गजेन्द्र, ४४३ ।
हत्थु पुं. (हस्त) हाथ, ४२२ ।
हत्थें पुं (हस्तेन) हाथ से, ३६६ ।
हत्थहिं पु. (हस्तै) हाथो से, ३५८ ।

हण्—

हणइ सक (हन्ति) मारता है, घात करता है, ४१८ ।
" हम्मइ सक. (हन्ति) " " " २४४ ।
" हणिज्जइ कर्म. प्र. (हन्यते) मारा जाता है, २४४ ।
" हणिहिइ सर्क. (हनिष्यति) वह मारेगा, २४४ ।
" हम्मइ कर्म प्र (हन्यते) मारा जाता है, २४४ ।
" हम्मिहिइ कर्म प्र (हनिष्यते) वह मारा जायगा, २४४ ।
" हन्तव्व विधि कृ. (हन्तव्यम्) मारना चाहिए, मारने योग्य है, २४४ ।
" हन्तूण स. कृ. (हत्वा) मार करके, २४४ ।
" हओ वि (हत) मारा हुआ २४४ ।
हन्ति सक. (घ्नन्ति) वे मारते हैं, ४०६ ।
हम्मइ सक. (गच्छति) जाता है, १६२ ।
हयविहि वि. (हतविधि.) फूटे तकदीर वाला, ३५७ ।
हयास वि. (हताश) जिसकी आशा नष्ट हो गई हो वह, ३८३ ।

हर्—

" हरइ सक. (हरति) ग्रहण करता है, लेता है, २०९, २३४, २३९ ।
" हरिज्जइ कर्म. प्र (ह्रियते) हरण किया जाता है, २५० ।
" हीरइ कर्म प्र (ह्रियते) " " " २५० ।
" हराविआ वि (हारिता·) हराये गये हैं, ४०९ ।
" अणुहरइ अक.(अनुहरति) नकल करता है २५९, ४१८
" अणुहरहिं अक (अनुहरन्ति) नकल करते हैं, ३६७ ।
" आहरइ सक.(आहरति) छीनता है खाता है, २५९ ।
" वाहरइ सक (व्याहरति) बुलाता है, ७६, २५६ ।
" वाहरिज्जइ कर्म प्र (व्याह्रियते) बुलाया जाता है, २५३
" उवहरइ सक (उपह्रियते) पूजा की जाती है, २५९ ।
" नीहरइ अक. (नीहरति) पाखाना जाता है, २५९ ।
" परिहरइ सक.(परिहरति) छोडता है; २५९, ३३४, ८९३
" पहरइ सक. (प्रहरति) युद्ध करता है, ८४, २५९ ।
" पडिहरइ सक.(पुन.पूरयति) फिर से पूरा करता है, २५९
" विहरइ अक. (विहरति) खेलता है, २५९ ।
" संहरइ सक. (संवृणोति) समेटता है, २५९ ।
हरि पु (हरि) विष्णु, कृष्ण, ३९१, ४२०, ४२२ ।
हरिणाइं पु. (हरिणा:) हरिण, मृग, ४२२ ।
हरिसइ अक. (हृष्यति) प्रसन्न होता है, २३५ ।

हरं पुं. (हरम्) महादेवजी को; ३२६।
हला अ. (सखी-आमंत्रणे) } सखी को बुलाने के
हलि अ. (सखी-आमंत्रणे) } अर्थ में बोला जाने वाला शब्द; २६०, ३३२, ३५८।
हल्लोहलेण न. (दे.) (विक्षोभेण) घबराहट से, हड़बड़ी से, ३९६।
हवइ अक. (भवति) होता है; २३८।
हस्—
" हसइ अक. (हसति) हँसता है; १९६, २३९।
" हसन्तु अक. (हसन्तु) हँसे; ३८३।
" हसितून सं. कृ. (हसित्वा) हँस करके, ३१२।
" हसइ कर्म. प्र. (हस्यते) हँसा जाता है; २४९।
" हसिज्जइ कर्म. प्र. (हस्यते) हँसा जाता है; २४९।
" हसिउँ वि. (हसितं) हँसा गया, मजाक की गई; ३९६।
हत्थी पुं. (हस्ती) हाथी, २८९।
हारवइ सक. (नाशयति) (हारयति) नाश करता है; ३१।
हि अ. (हि) निश्चय रूप; ४२२।
हिअयं न. (हृदयं) अन्तःकरण; हृदय, २३।
" हिअय न. (हृदय) अन्तःकरण, हृदय, ४२९।
" हिअउं न. (हृदय) " " ३७०।
" हिअइ न. (हृदये) हृदय में, अन्तःकरण में, ३३०, ३९५, ४२०।
" हिआ न. (हे हृदय !) हे हृदय ! हे अन्तःकरण ! ४२२।
हिअडउँ न. (हृदयम्) हृदय को, ३५०, ३६७, ४२२।
हिअडा न. (हे हृदय !) हे हृदय ! ३५७, ४२२, ४३९।
हिडिम्बाए स्त्री. (हिडिम्बायाः) हिडिम्बा नामक राक्षसिनी का, २९९।
हिण्डीअदि सक. (हिण्ड्यते) भ्रमण किया जाता है, २९९।
हित्तपकं न. (हृदयम्) हृदय, अन्तःकरण, ३१०।
हितपके न. (हृदयम्) " " ३१०।
हिदएण न. (हृदयेन) हृदय से, २६५।
हिवइ अक. (भवति) होता है, २३८।
ही अ. (आश्चर्ये दो निपातः) आश्चर्य आदि के समय में बोला जाने वाला शब्द, २८२, ३०२।
ही, ही, अ. विदूषक द्वारा हर्ष के समय मे बोला जाने वाला शब्द, २८५, ३०२।
हीसमणं न. (दे) (हेषितम्) खखारा हुआ, घोड़े का शब्द, २५८।
हु अ. (खलु) निश्चय, तर्क, संशय, आदि में बोला जाने वाला शब्द, ३९०।
हु—
" हुणइ सक. (जुहोति) होम करता है, २४१।
" हुणिज्जइ कर्म. प्र. (हूयते) हवन किया जाता है, २४२।
हुंकारडएं पुं. (हुंकारेण) स्वीकृति प्रकाशक शब्द से, 'हुँकार' ऐसे शब्द से, ४२२
हुदवह पुं. (हुतवह) अग्नि, २६४।
हुदासणो पुं. (हुताशनः) अग्नि, २६५।
हुलइ सक. (मार्ष्टि) साफ करता है, १०५।
" सक. (क्षिपति) फेंकता है, १४३।
हुव्वइ कर्म. प्र. (हूयते) हवन किया जाता है, २४२।
हुहुरु अ. (शब्दानुकरणे निपातः) शब्द विशेष की नकल करने के समय मे बोला जाने वाला शब्द, ४२३।
हूअउ वि. (भूतः) हुआ, ४१२।
हेट्ठ अ. (अधः) नीचे, ४४८।
हेल्लि अ. (हे आलि) हे सखि ! ३७९, ४२२।
होन्तओ अक. (अभविष्यत्) हुआ होता, हुआ होगा, ३५५, ३७२, ३७३।
होन्तओ व. कृ. (भवन्) (भवत्) होता हुआ, ३५५, ३७२, ३७३।
" होन्तउ व. कृ. (भवत्) होता हुआ, ३५५, ३७९, ३८०

श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
साधना भवन
बजाज नगर, जयपुर - ४